॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतराम् ॥

अक्षरातीत श्रीस्वामिनारायण भगवान के
श्रीमुख के

वचनामृत

प्रकाशक
स्वामिनारायण अक्षरपीठ
शाहीबाग, अहमदाबाद - ३८० ००४

VACHANĀMRITAM (Hindi Edition)
(Spiritual discourses of Lord Swaminārāyan)

Complied by: Muktānand Swāmi, Gopālānand Swāmi,
Nityānand Swāmi, Shukānand Swāmi

Publisher : SWĀMINĀRĀYAN AKSHARPITH
Shāhibaug, Amdāvād 380 004. (INDIA)

Inspirer : H.D.H. Pramukh Swāmi Mahārāj

2nd Edition : July 1997, Copies : 2,000

ISBN : 81-7526-012-2

प्रेरक :
प्रकट ब्रह्मस्वरूप प्रमुखस्वामी महाराज

द्वितीय आवृत्तिः
जुलै. १९९७

प्रति :
२,००० (कुल प्रति : ४,०००)

मूल्य :
रू. १४०-००

मुद्रक एवं प्रकाशक :
स्वामिनारायण अक्षरपीठ
शाहीबाग, अहमदाबाद-३८० ००४

अनुक्रमणिका

भूमिका

किसी भी राष्ट्र, देश अथवा जाति के सर्वांगीण विकास के मूल आधारस्तम्भ उसके महापुरुष, सन्त-महात्मादि होते हैं, जो समय-समयपर इस जगतीतलपर अवतीर्ण होकर सभी मनुष्यों को जीवन के शाश्वत मूल्यों का उपदेश देते हैं, जिनका उनके चरित्र पर अमिट प्रभाव पड़ता है तथा उनके व्यक्तिगत तथा सामाजिक आचरण में क्रान्तिकारी परिवर्तन दीख पड़ता है, जिसके फलस्वरूप उस राष्ट्र के दृष्टिकोण में भी महान परिवर्तन हो जाता है. ये ही महापुरुष वस्तुत युगप्रवर्तक होते हैं, जिनके उपदेश और चरित्र सम्पूर्ण राष्ट्र अथवा जाति पर अपनी गहरी छाप छोड़ जाते हैं. जीवन में शाश्वत तथा सापेक्ष दोनों ही प्रकार के मूल्यों (Eternal and Relative Values) का महत्त्व है. मानवजीवन आध्यात्मिक होने के साथ-साथ लौकिक भी है तथा मानव-व्यक्तित्व में नित्य, अविकारी आत्मतत्त्व के साथ-साथ पाँचभौतिक शरीर, मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियों आदि का भी संयोग है. अतएव सापेक्ष मूल्यों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती. यद्यपि यह निर्विवाद है कि इन सापेक्ष मूल्यों का भी दिशा-निर्धारण शाश्वत मूल्यों के द्वारा ही सम्भव है. कठोपनिषद में रथ तथा सारथी के रूपकों द्वारा इस तथ्य को अत्यन्त ही आकर्षक शैली द्वारा समझाने की कोशिश की गयी है.

आज की समस्या मनुष्य की समस्या है और इसीलिए भगवान स्वामिनारायण द्विशताब्दी महोत्सव के पुनीत अवसर पर हमें उन आदर्शों की

याद आती है, जिनके बिना सम्पूर्ण विश्व दिशाहीन हुआ सा प्रतीत होता है तथा हमारे राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में अस्तव्यस्तता, अराजकता, कदाचार, स्वार्थपरायणता, अवसरवादिता आदि विनाशकारी दुर्गुण दृष्टिगोचर हो रहे हैं, जिनके कारण राष्ट्र उत्तरोत्तर अधःपतन की ओर तीव्र गति से अग्रसर हो रहा है. निश्चय ही भगवान स्वामिनारायण ने आज से दो सौ वर्ष पूर्व हमें जो जीवनदृष्टि प्रदान की उसके आलोक में आचरण करना अत्यन्त ही अनिवार्य हो गया है, हम यह कदापि नहीं भूल सकते कि आज के समाज में आदर्शों के प्रति सामान्य लोगों की थोड़ी-बहुत जो कुछ भी निष्ठा अथवा आस्था पायी जाती है, वह भगवान स्वामिनारायण जैसे युगप्रवर्तक के आदर्श चरित्र के कारण ही है.

भगवान स्वामिनारायण ने जिस धर्म अथवा सम्प्रदाय की स्थापना की वह कोई नवीन मत, धर्म या सम्प्रदाय नहीं है. स्वामिनारायण सम्प्रदाय विशुद्ध भागवत अथवा एकान्तिक या वैष्णव धर्म है, जिसकी प्राचीनता के विषय में रंचमात्र भी सन्देह का अवकाश नहीं है, क्योंकि पाणिनि जैसे प्राचीन आचार्य भी इस मत से परिचित थे. दार्शनिक दृष्टि से यह मत भी रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित विशिष्टाद्वैत वेदान्त के अत्यन्त ही सन्निकट है. हमारे देश में ऐसे विद्वानों की कमी नहीं है, जिनकी सम्मति में भारतीय दर्शन तथा धर्म में तनिक भी मौलिकता नहीं है, क्योंकि उनमें कुछ ही आधारभूत सिद्धान्तों, प्रत्ययों, अवधारणाओं का बारबार पिष्टपेषण किया गया है. इन विद्वानों की राय में आधुनिक भारतीय दर्शन में तनिक भी नवीनता और मौलिकता नहीं है और इसीलिये भगवान स्वामिनारायण द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय के दार्शनिक मत को भी श्रीरामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत वेदान्त की ही पुनरावृत्ति मानने में वे तनिक भी नहीं हिचकिचाते.

वस्तुतः इस प्रकार की भ्रान्त धारणा भारतीय दर्शन के इतिहास के सांगोपांग अध्ययन के अभाव से ही उत्पन्न होती है. भारतीय दर्शनों को सामाजिक परिवेश में ही देखना चाहिये, क्योंकि उनकी उत्पत्ति विभिन्न समयों में तथा विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में जीवन की विभिन्न व्यावहारिक समस्याओं के समाधान के रूप में हुई है और इसलिये उन सभी सम्प्रदायों की अपनी विशिष्टता है. श्रीस्वामिनारायण सम्प्रदाय विशिष्टाद्वैत वेदान्त के अत्यन्त सन्निकट होने पर भी तत्त्वमीमांसा विषयक सिद्धान्तों में उससे भिन्न है. ये सिद्धान्त श्रीस्वामिनारायण सम्प्रदाय की अपनी विशिष्टता के द्योतक हैं. यहाँ इन दोनों मतों के सभी भेदों को स्पष्ट करने की न तो प्रासंगिकता ही है, और न इसके लिए अपेक्षित पर्याप्त

समय ही. अतएव यहाँ उन अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धांतों का संकेत मात्र कर देना आवश्यक है, जिनके दृष्टिकोण से भगवान स्वामिनारायण के धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों को निःसंदेह भारतीय धार्मिक तथा दार्शनिक विचारधारा को उनकी अभूतपूर्व देन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है.

सर्वप्रथम यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भगवान स्वामिनारायण ने परब्रह्म के मानवरूपधारी साकार स्वरूप पर श्रीरामानुजाचार्य की अपेक्षा बहुत अधिक बल दिया है. परब्रह्म पुरुषोत्तम, जो परतत्त्व हैं, निराकार और साकार, निर्गुण और सगुण दोनों हैं. आचार्य शंकर ने द्विविध ब्रह्म, परब्रह्म तथा अपरब्रह्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था. निर्गुण ब्रह्म परब्रह्म है तथा सगुण ब्रह्म अपरब्रह्म. निर्गुण अथवा परब्रह्म ज्ञानियों तथा उच्च अधिकारियों के ज्ञान का विषय है तथा सगुण साकार ब्रह्म अविद्याग्रस्त निम्न अधिकारियों की भक्ति अथवा उपासना का विषय. निर्गुण निराकार ब्रह्म ही परमार्थ तत्त्व है. अद्वैतमत में सगुण साकार ब्रह्म अविद्या-कल्पित है तथा ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् उसका निर्गुण ब्रह्म में लय हो जाता है. ज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् अन्तिम साधन है. भक्ति मोक्ष के प्रति परम्परया न कि साक्षात् साधन हो सकती है. अद्वैत वेदान्त में भक्ति, उपासना, कर्म आदि को गौण माना गया है, क्योंकि ये द्वैत वासना से, जो अविद्या का परिणाम है, सर्वथा मुक्त नहीं हैं. श्रीरामानुजाचार्य ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि प्रस्थानत्रयी को निर्गुण-सगुण का वह भेद मान्य नहीं है, जो अद्वैत वेदान्त के निर्गुण ब्रह्मवाद का आधार है. परन्तु, श्रीरामानुजाचार्य के सिद्धान्त में परब्रह्म पुरुषोत्तम के मानवरूपधारी स्वरूप को उतनी अधिक प्रधानता नहीं दी गयी है जितनी भगवान स्वामिनारायण द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय में.

भगवान स्वामिनारायण की यह मान्यता है कि मनुष्य के लिये अपनी मानवता का सर्वथा परित्याग करना नितान्त असम्भव है. सभी मानव-चिन्तन, विचार तथा व्यापार के मानव-दृष्टिकोण अनिवार्य हैं. मनुष्य तो मनुष्य की तरह ही सोच सकता है. अतएव यद्यपि परब्रह्म पुरुषोत्तम विश्वातीत हैं, तथा मनुष्य और परब्रह्म में किसी प्रकार की तुलना नहीं हो सकती, तथापि मनुष्य तथा परब्रह्म पुरुषोत्तम का स्वरूपगत सादृश्य तो मानना ही पड़ेगा, क्योंकि इसके बिना परब्रह्म पुरुषोत्तम और मनुष्य के बीच में ज्ञान, उपासना, सेवा, भक्ति आदि सम्बन्धों की स्थापना नहीं हो सकती.

भगवान स्वामिनारायण ने पुरुषोत्तम के मानवरूपधारी स्वरूप की उपासना या भक्ति को मोक्षप्राप्ति का साक्षात् साधन बतलाया है. श्रीमद्भगवद्गीता के उस

श्लोक को 'वचनामृत' में इस सिद्धान्त के समर्थन में उद्धृत किया गया है, जिसमें श्रीकृष्ण भगवान के मानव-स्वरूप का दर्शन कर अर्जुन ने अपना यह अभिप्राय व्यक्त किया कि भगवान के विश्वरूप की अपेक्षा उनका मानवरूप ही उसे अधिक इष्ट और कल्याणप्रद प्रतीत होता है, क्योंकि इससे उसकी बुद्धि में किसी प्रकार की अस्तव्यस्तता नहीं हो पाती तथा 'उसका मन अब ठिकाने आ गया', क्योंकि भगवान के विश्वातीत रूप को देखकर अर्जुन बहुत घबड़ा गया[१] था, किन्तु पुरुषोत्तम का वह मानवरूपधारी स्वरूप भी परमार्थ ही है, मिथ्या नहीं, क्योंकि यदि यह मिथ्या हो तो मिथ्या ज्ञान से मोक्षप्राप्ति कैसे हो सकती है ? रामानुज-मत में भी पुरुषोत्तम के मानवरूपधारी स्वरूप को मिथ्या नहीं माना गया है, परन्तु भगवान स्वामिनारायण ने अपनी तत्त्वमीमांसा और धर्ममीमांसा में परब्रह्म के मानवरूपधारी स्वरूप को जो अद्वितीय स्थान प्रदान किया है उसके फलस्वरूप साधना का क्रम अत्यन्त ही व्यापक, उदार, सुसाध्य तथा सरल हो जाता है.

स्वामिनारायण-वेदान्त की दूसरी विशेषता अक्षरब्रह्म की अवधारणा है, जो इस सम्प्रदाय में मात्र एक कल्पना या प्रत्यय नहीं है अपितु एक तत्त्व भी है तथा परम पुरुषार्थ की प्राप्ति के निमित्त साधक के लिये आध्यात्मिकता का चरम आदर्श है. शास्त्रों में जिस तत्त्व या इष्ट देव की प्राप्ति को साधना का लक्ष्य माना जाता है उसके फलस्वरूप तथा गुणों के अपने व्यक्तिगत जीवन में निरन्तर आचरण और अभ्यास पर बल दिया जाता है. 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्' अर्थात् शिवभाव को प्राप्त कर ही शिव की पूजा करनी चाहिये. श्रीशंकराचार्य ने भी बृहदारण्यक उपनिषद् के अपने भाष्य में 'देवो भूत्वा देवानप्येति' यह वचन उद्धृत किया[२] है, जिसका अभिप्राय यह है कि देवत्व अथवा देवसदृश गुणों को प्राप्त कर ही मनुष्य देवता को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है. देवता-प्राप्ति देवत्वोचित गुणों की प्राप्ति द्वारा ही सम्भव है तथा देवता की उपासना-भक्ति से भी देवत्व की प्राप्ति होती है.

'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति [३]ब्राह्मणम्, 'ब्रह्मवांस्तद्गुणो [४]भवति.' अक्षरब्रह्म से स्वामिनारायण मत में उस तत्त्व का बोध होता है, जो परब्रह्म पुरुषोत्तम का सान्निध्य प्राप्त करने का आदर्श है तथा जिसमें जीव के

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता ११-५१.

२. बृहदारण्यक उपनिषद्, शांकरभाष्य, १, ३, ९.

३. बृहदारण्यक उपनिषद्, शांकरभाष्य, १, ५, ६.

४. तैत्तिरीयोपनिषद्, शांकरभाष्य, ३, १०.

मोक्ष की स्थिति में उन समस्त ऐश्वर्यों एवं पूर्णताओं की सिद्धि होती है, जिनका मनुष्य निरन्तर अभ्यास करता रहता है.

भगवान स्वामिनारायण ने मनुष्य के चरम आदर्शों को मात्र अवधारणा या प्रत्यय के रूप में प्रस्तुत नहीं किया अपितु उन्हें उनके नित्य एवं शाश्वत आश्रय के रूप में इस तत्त्व की स्थापना की. इसीलिये अक्षर और पुरुषोत्तम ये दोनों ही तत्त्व इस सम्प्रदाय में एक ही साथ ग्राह्य हैं. स्पष्ट है कि इस तत्त्व की अवधारणा के आश्रय से परम पुरुषार्थ की सिद्धि सहज ही हो जाती है. हम यह नहीं कह सकते कि वेद, शास्त्र, स्मृति, पुराण इत्यादि में इस तत्त्व के पक्ष में कोई प्रमाण नहीं है. 'वचनामृत' में इस मत की पुष्टि के लिये शास्त्रों से अनेक प्रमाण उपन्यस्त किये गये हैं.

इस सम्प्रदाय की तीसरी विशेषता भगवत्प्राप्ति के हेतु वैराग्य की अनिवार्यता है. धर्म, ज्ञान, भक्ति और वैराग्य ये सभी समान रूप से तथा एक साथ ही सम्मिलित होकर भगवत्प्राप्ति के लिये साधन माने गये हैं. परब्रह्म पुरुषोत्तम चरम तत्त्व है और वह आनन्द स्वरूप है. सभी मानव-व्यापारों का एकमात्र लक्ष्य परब्रह्म की प्राप्ति द्वारा अनन्त आनन्द का अनुभव प्राप्त करना है, जिसके निमित्त परमात्मा का ज्ञान तथा उनकी भक्ति और उपासना अपेक्षित हैं. भगवान स्वामिनारायण के मतानुसार परमात्मा की भक्ति तभी हो सकती है यदि विषय-वासनाओं के प्रति वैराग्य की भावना जाग्रत हो. चूँकि परमात्मा के सिवा अन्य किसी भी विषय या पदार्थ से मनुष्य अनन्त सुख प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिये पंच-विषयों के प्रति जब तक वैराग्य की भावना बलवती नहीं होती तब तक भगवान के प्रति अनन्य भक्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती. गोपियों का भगवान के प्रति प्रेम ही भक्ति का उत्कृष्ट आदर्श है. विषयोपभोग और भगवान के प्रति अनन्य भक्ति, ये दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते. आत्मनिष्ठा तथा भगवद्भक्ति दोनों ही वैराग्य द्वारा ही साध्य [१] हैं. मनुष्य की चित्तवृत्ति भगवान में तभी अनुरक्त हो सकती है यदि मनुष्य की बुद्धि में यह भावना बद्धमूल हो जाय कि विषयासक्ति भगवत्प्राप्ति में बाधक है.

छान्दोग्य उपनिषद् में भी कहा गया है कि '**भूमैव सुखम् नाल्पे सुखमस्ति, यदल्पं तन्मर्त्यम्**' इत्यादि इत्यादि. लेकिन, वैराग्य की इस अवधारणा का यह अभिप्राय नहीं है कि मनुष्य संसार के कर्तव्यों एवं दायित्वों के प्रति

---

१. नहि बाह्यविषया लोचनपरत्वं प्रत्यगात्मेक्षणं चैकस्य सम्भवति । केनोपनिषद् शांकरभाष्य । ४, १.

सर्वथा उदासीन हो जाय अथवा संन्यास धारण कर ले. रामानुज मत में वैराग्य को ज्ञान तथा भक्ति का उतना अधिक अन्तरंग साधन नहीं माना गया है जितना स्वामिनारायण वेदान्त में. लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना भी उचित नहीं है कि मनुष्य अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियों का दमन करे. भगवान स्वामिनारायण ने इन्द्रियों तथा चित्त की वृत्तियों को परमात्माभिमुखी बनाने के अभ्यास पर बल दिया है, जिससे मनुष्य के हृदय और मन में पूर्णतया भगवद्भावना का उदय हो जाता है और इसके फलस्वरूप सारा संसार परमात्मा की विभूति के रूप में ही भक्त को प्रतीत होने लगता है.

श्रीरामानुज की तरह भगवान स्वामिनारायण ने कर्मयोग को चित्तशुद्धि का साधन माना है. ज्ञान-प्राप्ति के पूर्व तथा पश्चात् दोनों ही स्थितियों में कर्मयोग अनुष्ठेय है, जिससे आत्मज्ञान होता है और आत्मज्ञान के पश्चात् ही भगवान का ज्ञान होता है तथा भगवान में अनन्य भक्ति की भावना की उत्पत्ति होती है. परन्तु, आत्मज्ञान या आत्मनिष्ठा अपने आप में पर्याप्त नहीं है. भगवत्प्राप्ति के लिये आत्मज्ञान अनिवार्य है और इसीलिये आत्मज्ञान की सार्थकता की परिणति भगवत्प्राप्ति में ही होती है. इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मज्ञान अथवा आत्मनिष्ठा को भगवत्प्राप्ति के बिना परम पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता. श्रीमद्भागवत में भी यह बतलाया गया है कि भगवद्भक्ति के अभाव में मात्र आत्मनिष्ठा शुष्क और नीरस ही है.

'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं [१]निरञ्जनम् ।'

इसलिये मानवमात्र को परमात्मा की विभूति समझकर उसकी सेवा करना भक्त का परम कर्तव्य है. भगवत्सेवा से ही मानवसेवा की प्रवृत्ति को प्रेरणा मिलती है. श्रीमद्भागवत में आत्मलाभ अथवा मुक्ति को परम पुरुषार्थ नहीं माना गया है. भगवान स्वामिनारायण ने भी सेवावृत्ति को ही आत्मलाभ या मुक्ति की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण बतलाया है.

किसी भी धर्म में श्रेष्ठता का मानदंड उसके अनुयायियों का आचरण है. श्रीस्वामिनारायण सम्प्रदाय के अनुयायी न केवल अपने जीवन में तप, स्वाध्याय, संयम आदि सद्गुणों के सतत आचरण का ज्वलन्त दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं बल्कि वे इन आदर्शों के आधार पर एक नवीन मानव समाज के निर्माण के लिये प्रयत्नशील हैं. सर मोनियर विलियम्स ने भगवान स्वामिनारायण की

---

१. भाग.प्र.अ. ५ श्लो. १२ और लो. ७.

तत्कालीन समाजसुधार के प्रति उनकी देन की प्रशंसा की [१]है.

श्रीरामानुज मत से इस सम्प्रदाय की तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में और भी कई भेद हैं, जिनकी अभी यहाँ व्याख्या करना असम्भव है. यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भागवत धर्म के उन सभी पक्षों पर श्रीजी ने प्रचुर प्रकाश डाला है, जो श्रीसम्प्रदाय में गौण थे.

भगवान स्वामिनारायण ने धर्म, ज्ञान, नीति, आचार एवं वैराग्य के जिन तत्त्वों का विशद रूप से प्रतिपादन तथा विवेचन किया और जिनके आधार पर तत्कालीन समाज में क्रान्तिकारी सुधार सन्निविष्ट कर समाज के सभी सदस्यों में जीवन के आदर्शों के प्रति निष्ठा उत्पन्न की तथा जिनके निमित्त उन्होंने घोर तप किया तथा अपार कष्ट सहन किया, उनका 'वचनामृत' में विशद वर्णन किया गया है. 'वचनामृत' धर्म, ज्ञान, वैराग्य, उपासना, अध्यात्म का अनुपम ग्रन्थ है, जिसमें वेद, शास्त्रादि के सारे सिद्धान्त भरे हैं तथा जिन्हें श्रीजी ने अपनी सरल सुबोध भाषा में समझाया है. पारस्परिक वार्तालाप, सम्भाषण की प्रक्रिया या विधि का आश्रय लिया गया है, जिससे अति गम्भीर तथा सूक्ष्म तत्त्वों का भी सहजतापूर्वक ज्ञान हो जाता है.

भगवान स्वामिनारायण की शैली प्राचीन ऋषियों, उपनिषदों की ही शैली है, जिसके द्वारा पारस्परिक सम्भाषण एवं प्रश्नप्रतिवचन के माध्यम से अध्यात्म के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्यों को सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया गया [२]है. अंग्रेजी भाषा में भगवान स्वामिनारायण के उपदेशों का संकलन परम आदरणीय श्री एच.टी. दवे के द्वारा रचित 'वचनामृत' में किया गया है. प्रस्तुत पुस्तक गुजराती ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर है. इसके हिन्दी भाषान्तरकार श्री रामवल्लभ शास्त्रीजी हैं. मुझे अंग्रेजी में लिखित 'वचनामृत' के अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और

---

१. Swami-Narayan, who to a natural leaning towards Udasa and asceticism, joined all the energy of a great reformer, made chastity and purity of life the keynote of all his teaching, and ended by boldly asserting that he himself, and not Vallabhacharya, was the true incarnation of Krishna, and that the god, in order to restore the Vaishnava faith to its former purity, had descended in his person as a Brahmacari, or Brahman under a vow of continence.

- Monier Williams, Hinduism, p. 146, Rare Books, Delhi 1971.

२. (शिष्याचार्यप्रश्नप्रतिवचनरूपेण कथनं तु सूक्ष्मवस्तु विषयत्वात्सुखप्रतिपत्तिकारणं भवति) केनोपनिषद् शांकर भाष्य – १, १.

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती कि जैसे अध्यात्म तथा धर्म एवं आचार के गूढ़ तत्त्वों की व्याख्या श्री एच.टी. दवेजी ने अत्यन्त ही सहज तथा सुबोध भाषा में की है, वैसे ही श्री रामवल्लभ शास्त्रीजी ने भी हिन्दी भाषा में उन सभी सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है. हमारी समझ में स्वतंत्र पुस्तक प्रणयन की अपेक्षा अनुवाद का कार्य अत्यन्त ही कठिन एवं दुस्साध्य है. परन्तु, अनुवादक ने गुजराती संस्करण के 'वचनामृत' के सभी विषयों तथा सिद्धान्तों को सरल हिन्दी भाषा में जनसाधारण तक पहुँचाने का स्तुत्य प्रयास किया है और इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि उन्होंने इसमें अभूतपूर्व सफलता पायी है.

भारतीय दार्शनिक और धार्मिक साहित्य के इतिहास में भगवान स्वामिनारायण का स्थान सदा स्मरणीय बना रहेगा, क्योंकि उन्होंने न केवल चिन्तन-मनन के स्तर पर ही बल्कि मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में भी चमत्कारी सुधार और परिवर्तन किये, जिनके दृष्टान्त और ज्वलन्त प्रमाण उनके करोड़ों अनुयायियों में उपलब्ध होते हैं, जो संसार के सभी विख्यात देशों में विद्यमान हैं. मुझे दृढ़ विश्वास है कि विद्वत्समाज में इस ग्रन्थ को सुप्रतिष्ठित स्थान तथा गौरव प्राप्त होगा.

न्यु नग्रटोली कॉलोनी,
रांची-८३४००१
ता. १७-३-१९८०

डा. पाण्डेय ब्रह्मेश्वर विद्यार्थी
स्नातकोत्तर दर्शन विभाग,
रांची विश्वविद्यालय,
रांची (बिहार)
पिन : ८३४००८

आत्मनिवेदन

भगवान स्वामिनारायण के वचनामृत से विभूषित यह महान आध्यात्मिक ग्रन्थ विश्वविश्रुत भारतीय संस्कृति, सभ्यता, उच्च आदर्शों तथा संस्कारों को उजागर करके जीवों को ब्रह्मस्वरूप होकर परब्रह्म से तादात्म्य स्थापित करने की दिव्य प्रेरणा प्रदान करता है. भगवान स्वामिनारायण ने जीवों के आत्यन्तिक कल्याण के लिये भिन्न-भिन्न स्थानों में परमहंसों तथा हरिभक्तों की सभाओं में जो उपदेशात्मक वचन व्यक्त किये उन्हीं को क्रमानुसार संकलित करके इस ग्रन्थ की रचना की गयी. यह पुरुषोत्तम भगवान की परावाणी का अमृतसिन्धु तथा जन्म-जन्मान्तर के दुष्कर्मजन्य पापों से मुक्ति दिलाकर भगवान के दुर्लभ अक्षरधाम में पहुँचाने का दिव्य ज्योतिमार्ग है.

इस ग्रन्थ की एक अद्वितीय विशिष्टता यह भी है कि इसमें श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, भागवत एवं अन्य पुराणों, उपनिषदों, योग और वेदान्तशास्त्र तथा रामायण आदि के सारगर्भित सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों का रोचक शैली में तुलनात्मक विश्लेषण-विवेचन करते हुए समावेश किया गया है.

पंचव्रतों - निष्काम, निर्लोभ, निःस्वाद, निर्मान, निःस्नेह के पालन, इन्द्रियनिग्रह, सन्तसमागम, माहात्म्यज्ञानयुक्त एकान्तिक भक्ति, वैराग्यभाव, स्वर्गलोक तथा अन्य देवलोकों के सुखों की अपेक्षा परमेश्वर के परमधाम अक्षरधामप्राप्ति की महान महिमा, अक्षरपुरुषोत्तम की सेवा की मीमांसा, आत्मसत्तारूप रहकर इष्टदेव की उपासना, सविकल्प-निर्विकल्प समाधि,

ब्रह्मपरब्रह्म की विस्तृत व्याख्या, भगवान की अक्षरधामस्थ मूर्ति तथा भूलोक-स्थित मनुष्याकृतिवाले स्वरूप में समानता, भगवान के एक-एक रोम में असंख्य ब्रह्मांडों की स्थिति, भगवान ही समस्त कारणों के कारण, सबकी उत्पत्ति, नियति आदि के कर्ता, हर्ता, नियन्ता, कोटि-कोटि ब्रह्मांडों के अधिपति, समस्त अवतारों के अवतारी, प्राणीमात्र के परमहितैषी, भगवान की प्राप्ति के बिना जीवों के चौरासी लाख योनियों में भटकते रहने और संसृति के चक्र से छुटकारा न मिलने तथा भरतखंड में ही मनुष्य-शरीर धारण कर मोक्ष का साधन प्राप्त होने आदि विषयों के सम्बन्ध में श्रीजीमहाराज ने आत्मीयतापूर्ण वार्तालाप के माध्यम से अनेक बोधगम्य उत्कृष्ट उदाहरणों द्वारा जो दिव्य ज्ञान प्रदान किया है वह 'गागर में सागर' भरने की सूक्ति का द्योतक है.

श्रीजीमहाराज के प्रमुख परमहंसों मुक्तानन्द स्वामी, गोपालानन्द स्वामी, नित्यानन्द स्वामी तथा शुकानन्द स्वामी द्वारा संकलित इस ग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धान्तों को अपनाकर देश-विदेश के असंख्य व्यक्ति लाभान्वित हुए हैं, जिसे मनुष्य-जीवन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि कहा जा सकता है.

अधर्म का मूलोच्छेद कर विशुद्ध भागवत धर्म की स्थापना करने, युग-युग से प्रपीडित मानवता की रक्षा करने तथा विविध नरकयातनाएँ भोगनेवाले जीवों के प्रति करुणा एवं दयाभाव रखनेवाले श्रीसहजानन्द स्वामी महाराज का जिस समय इस धरा पर अयोध्यापुरी-स्थित छपैया ग्राम में महाभागवत दम्पति धर्म-भक्ति के पुत्र (हरिकृष्ण) के रूप में आविर्भाव हुआ था, उन दिनों भारत की मुख्यतः गुजरात की राजकीय, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ अत्यन्त अन्धकारमय तथा निराशाजनक थीं. उन दिनों गुजरात कई रियासतों में विभाजित था और इनमें से अधिकांश रियासतों के शासक नरेश अपने ऐश-आराम में पड़े हुए थे और अपने प्रजाजनों के हितो के प्रति उदासीन बने हुए थे. कानून तथा व्यवस्था की स्थिति भयावह बनी हुई थी और प्रजाजनों पर भीषण अत्याचार हो रहे थे. सर्वत्र भय का वातावरण व्याप्त था. स्त्रियाँ घर से बाहर जाने में डरती थीं और लड़कियों का विवाह छोटी उम्र में ही कर दिया जाता था. इस कारण बाल-विधवाओं की संख्या बढ़ रही थी. उस समय सती-प्रथा, दूधपीती-प्रथा, निरक्षरता, अन्ध विश्वास तथा दुर्व्यसनों का बोलबोला था. इस स्थिति का लाभ भ्रष्ट धर्मगुरुओं ने उठाया. धर्म के नामपर हिंसा, हिंसक यज्ञों, मद्यपान, मांसभक्षण तथा पाखंड का वातावरण पनप उठा.

इन परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए भगवान स्वामिनारायण ने सर्वप्रथम

गुजरात को अपना कार्यस्थल बनाया. उन्होंने अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए धार्मिक एवं सामाजिक सुधार करके एक नये समाज की रचना के लिये पूर्ण वैचारिक क्रान्ति कर दिखायी. इससे पहले और बाद में उन्होंने कठोर तपश्चर्या करते हुए समस्त तीर्थों तथा देश के अन्य विभिन्न भागों की यात्रा भी की.

श्रीजीमहाराज ने नीति, धर्म तथा सदाचार का प्रचलन करके स्वच्छ समाज का निर्माण किया और अपने सन्तों के सहयोग से गुजरात और काठियावाड़ में अनेक सहायताकार्य प्रारम्भ किये. इन दिनों राजपूतों, गरासियों और काठियों मे पुत्रियों के विवाह में भारी धनराशि व्यय करनी पड़ती थी. इन जातियों के लोग इतनी भारी रकम खर्च करने में असमर्थ थे, इस कारण वे अपने यहाँ पुत्रियों का जन्म होने पर उन्हें दूध के बर्तनों में डुबा कर मार डालते थे. श्रीजीमहाराज ने इस प्रथा, सतीप्रथा तथा यज्ञों में पशुओं की बलि देने की प्रथा तथा लोगों के दुर्व्यसनों को बन्द करा कर उन्हें विशुद्ध धार्मिक जीवन बिताने का उपदेश दिया, जिसका उन पर अनुकूल प्रभाव पड़ा. तब अनेक गण्यमान्य पुरुषों के अलावा कुछ तत्कालीन अंग्रेज लेखकों ने भी श्रीजीमहाराज के इन सामाजिक, धार्मिक सुधारों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की थी.

स्वामिनारायण-सम्प्रदाय के सन्तों ने सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बाद पंचव्रतों का कठोरतापूर्वक पालन करते हुए लोगों को धर्माभिमुख करने में अब तक जो योगदान किया है वह अनुपम है और अन्य सम्प्रदायों के पुरुषों के लिये सर्वथा अनुकरणीय है. इन त्यागी सन्तों की महिमा का जितना गुणगान किया जाय, वह थोड़ा ही रहेगा. वस्तुतः सम्प्रदाय के ये सन्त ही उच्च साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के मूर्तरूप हैं.

भगवान स्वामिनारायण ने मुझ जैसे अकिंचन व्यक्ति से वचनामृत का हिन्दी भाषान्तर कराने के रूप में जो सेवा स्वीकार की है उसके लिये मुझे अपार आनन्द की अनुभूति हो रही है. मैं भगवान के श्रीचरणकमलों में गहन श्रद्धा-भक्ति सहित हिन्दी भाषान्तररूपी यह सुमनांजलि अर्पित करता हूँ. उनकी कृपा तथा दया से ही यह कार्य सम्पन्न हुआ है. इसके लिये उनके श्रीचरणों में पुनः पुनः विनयावनत होकर वन्दना करता हूँ –

'मूकं करोति वाचालं, पंगुं लंघयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे, परमानन्दमाधवम् ॥'

स्वामिनारायण भगवान के वचनामृत का मूल गुजराती ग्रन्थ से हिन्दी में अनुवाद करने के लिये मुझे ब्रह्मस्वरूप परमपूज्य योगीजी महाराज ने पीठ

ठोंककर अपना शुभाशीर्वाद प्रदान किया था तथा प्रकट ब्रह्मस्वरूप परमपूज्य प्रमुखस्वामी महाराज ने भी इस कार्य के लिये मुझे अपने आशीर्वाद के साथ जो दिव्य प्रेरणा प्रदान की उसके लिये मैं स्वयं को उनका परम कृपापात्र तथा सौभाग्यशाली समझता हूँ तथा उनके श्रीचरणों में साष्टांग दंडवत् प्रणामपूर्वक अपनी विनयाजलि समर्पित करता हूँ.

अनेक जटिल काठियावाड़ी शब्दों तथा लम्बे वाक्योंवाले मूल गुजराती ग्रन्थ से हिन्दी भाषान्तर के लिये मुझे जब-जब शब्द एवं वाक्यविन्यास करते समय कठिनाई अनुभव होती थी तब-तब मैं पुस्तक के समीप रखे हुए योगीजी महाराज के चित्र को प्रणाम करके यथेष्ट प्रार्थना करता. प्रार्थना करते ही मेरी लेखनी गतिशील हो जाती थी. तब ऐसा आभास होता था कि कोई दिव्य शक्ति ही इस लेखनी को चला रही है.

इस कार्य में मार्गदर्शन के लिये मैं परम आदरणीय श्री हर्षदभाई दवे, परम पूज्य श्री कोठारी स्वामी श्री भक्तिप्रियदासजी तथा परम पूज्य श्री हरिभूषण स्वामी का अत्यन्त आभारी हूँ इस कार्य के सन्दर्भ में परम पूज्य श्री हरिभूषण स्वामी के साथ मेरा अनेक प्रकार से सतत सम्पर्क बना रहा, जिसके लिये मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ इनके अतिरिक्त मन्दिर के अन्य समस्त सन्तों का भी कृतज्ञ हूँ, जो मुझे प्रोत्साहित करते रहे.

इस ग्रन्थ के भूमिका-लेखक श्रद्धेय श्री विद्यार्थीजी को भी मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने तुलनात्मक विश्लेषण करके इस कृति की श्रीवृद्धि की है.

– रामवल्लभ शास्त्री
(भूतपूर्व मुख्य उपसम्पादक 'नवभारत टाइम्स')
ता. ११-४-१९८०

प्रगट ब्रह्मस्वरूप प्रमुखस्वामी महाराज के आशीर्वाद

स्वामीश्रीजी दिनांक ९-६-'९६
ओरलान्डो

पूर्ण पुरुषोत्तमनारायण भगवान श्रीस्वामिनारायण के श्रीमुख से प्रगटे हुए वचनों का अमूल्य ग्रंथ 'वचनामृत' अद्भुत आध्यात्मिक ग्रंथ है. सब शास्त्रों का उसमें दोहन है. वचनामृत में आध्यात्मिक मार्ग के पथिक मुमुक्षु के जीवन में अवरोधक बननेवाले सब प्रश्नों का भगवान स्वामिनारायण ने अद्भुत निराकरण किया है. उसमें से भगवान का साक्षात्कार पाने के इच्छुक किसी भी मुमुक्षु को जीवन जीने का सच्चा मार्गदर्शन सरल भाषा में मिलता है.

भगवान स्वामिनारायण स्वयं अपने धाम, अक्षरमुक्तों और अपने संपूर्ण ऐश्वर्य को लेकर इस ब्रह्मांड में पधारे हैं, इस बात का वर्णन वचनामृत गढडा प्रथम के इकहत्तर (७१) में किया है. तदुपरान्त श्रीजीमहाराज अपना सिद्धान्त समझाते हुए कहते हैं : 'जो ब्रह्मरूप हुआ है उसे ही केवल पुरुषोत्तम की भक्ति का अधिकार है.' (लोया ७). जीवों को ब्रह्मरूप करने के लिए श्रीजीमहाराज अपने साथ अक्षरब्रह्म गुणातीतानंद स्वामी को ले आये. श्रीजीमहाराज ने एकान्तिक धर्म का प्रवर्तन किया और उस कार्य को अपने अक्षरधामस्वरूप एकान्तिक संत द्वारा गतिशील रखा. वचनामृत में श्रीजीमहाराज के शब्दों का अभिप्राय जहाँ रहस्यमय है उसको श्रीगुणातीतानंद स्वामी ने स्पष्ट समझाया है, उन्होंने शुद्ध उपासना को एवं श्रीजीमहाराज के स्वरूप को यथातथ समझाया है.

श्रीजीमहाराज के महान परमहंस-सद्गुरु गोपालानंद स्वामी, सद्गुरु मुक्तानंद स्वामी, सद्गुरु नित्यानंद स्वामी, सद्गुरु शुकानंद स्वामी इत्यादि ने इस 'वचनामृत' का संपादन करके महान सेवा की है. उन्होंने संपादन-कार्य में अत्यंत चौकसी एवं प्रामाण्य पर ध्यान देकर श्रीजीमहाराज के शब्द जैसे हैं वैसे सुरक्षित रखने का अनहद पुरुषार्थ किया है. इतना करने पर भी दो-तीन स्थान पर जहाँ गुणातीतानंद स्वामी उपस्थित थे और उन्होंने अपने कानों सुने थे ऐसे वचनामृतों में कहीं-कहीं पाठ में परिवर्तन रह जाने पाया है. स्वामी के मुख से निकलकर यह बात परंपरागत ढंग से शास्त्रीजी महाराज को मिली थी. वे नीचे उल्लिखित तीन वचनामृतों का उल्लेख बहुत बार करते थे.

गुणातीतानंद स्वामी कई बार कहते थे कि गढडा मध्य के तेरह (१३) वें

वचनामृत में महाराज के मूल शब्द निम्नानुसार थे :

'जब **हमारा** ऐसा स्वरूप है, तो उसे दृढ़तापूर्वक ममझ लेने पर आपको किसी भी प्रकार का विघ्न कल्याण के मार्ग में नहीं आने पायगा. **हमारे** ऐसे स्वरूप की दृढ़ता रखे बिना भले ही कितनी ही त्याग-भावनाएँ रखें और चाहे कितने ही उपवास क्यों न करें, फिर भी रहनेवाली खामी किसी भी प्रकार से पूरी नहीं हो पायगी ' इन शब्दों में जहाँ '**हमारा**' एवं '**हमारे**' शब्द हैं उनके स्थान पर अब '**भगवान का**' तथा '**उन भगवान के**' शब्द पाठान्तर हो गये हैं

तदुपरान्त, स्वामी अनेक बार कहते थे कि वडताल प्रकरण के अठारह (१८) वें वचनामृत में अंतिम परिच्छेद में मूल शब्द निम्नानुसार थे : 'वैसे ही आप सबका आचार्य, गुरु तथा उपदेष्टा **और आप सबका भगवान** ऐसा जो मैं हूँ वैसे मेरे दैहिक आचरण के अनुसार भी आप लोगों को आचरण नहीं करना चाहिए.' इसमें '**और आप सबका भगवान**' शब्दसमूह है वह इस समय के वचनामृत में दिखाई नहीं पडता

इसके मिवा भी स्वामी गढडा के अंत्य प्रकरण में ३१ वें वचनामृत में भी निम्नानुसार शब्दो को बताते थे :

'ऐमे अनन्तकोटि अक्षररूप मुक्तों के द्वारा सेवित चरणकमल वाले भगवान ही स्वयं दया करके जीवों का परम कल्याण करने के लिए अभी प्रगट-प्रमाण रूप में आप सबके सामने दृष्टिगोचर होकर साक्षात् विराजते हैं. इसलिए, उस धाम में स्थित मूर्ति तथा **हमारी इस** प्रगट मूर्ति में अधिकतर सादृश्य है. **हमारी ऐसी** मनुष्यकार मूर्ति का ध्यान करनेवाले भक्तों की दृष्टि भगवान के स्वरूप के सिवा अन्य रूप विषयमात्र में अतिशय वैराग्य रखकर जब भगवान के स्वरूप में ही लुब्ध हो जाती है.. ' इसमें जहाँ '**हमारी इस**' और '**हमारी ऐसी**' शब्द आये हैं वहाँ इस समय के वचनामृत में '**श्रीकृष्ण की**' शब्द प्राप्त होते हैं.

श्रीजीमहाराज वचनामृत में कहते हैं कि ऐसी बात शास्त्रों में लिखी हो फिर भी अपने आप वह समझ में नहीं आती, एकान्तिक सत्पुरुष से ही वह समझ में आती है पूज्य शास्त्रीजी महाराज तथा पूज्य योगीजी महाराज जैसे सत्पुरुष से मुख के यह बात सुन-समझकर अनेक सुखी हुए और आज भी अनेक सुखी हो रहे हैं.

इस सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ का पाठ करनेवालों को अंतर में शांति होगी और बारबार पाठ करनेवालों को आत्मा-परमात्मा की लगन लगेगी एवं अक्षरधाम की प्राप्ति होगी ऐसे हमारे आशीर्वाद हैं.

शास्त्री नारायणस्वरूपदास (प्रमुखस्वामी महाराज) के
आशीर्वाद के साथ जय स्वामिनारायण

विषय	वचनामृत संख्या
१. स्वधर्म	ग.प्र. ३४, ६९, ७७; ग.म. ११, ५१; ग.अं. ३४ विषय खण्डन : ग.प्र. १८; लो. १०, पं. ३, ग.म. ४७.
२. आत्मज्ञान	ग.प्र. २०, २५, ४४; सा. ४, १२; ग.म. ३२, ५५, ५७; ग.अं. २१.
३. वैराग्य	ग.प्र. २, १२, ३६, ३७, ६०; सा. ५; का. ७, १२; ग.म. १०, २५, ३२; ग.अं. १८, १९, २०.
४. निश्चय	ग.प्र. ९, ३३, ५१, ६२, ६३, ७२; सा. १३; का. ६; लो. ३, ७, १२, १८; पं. ४, ७; ग.म. ९, १०, १३, १४; वर. १, १०, १२; ग.अं. २, ३१, ३८.
५. माहात्म्यज्ञान	ग.प्र. २७, ६३; सा. १, १७; का. ९; लो. १०, १४, १७; पं. १; ग.म. ४, १७, ६७; वर. १३, १४: ग.अं. ४, ३७, ३९.
६. उपासना	ग.प्र. ३७, ४०, ४५, ५६, ६६; का. १०; लो. ११, १२, १४; पं. ६, ७; ग.म. ९, १३, ३१; ग.अं. ७, ३६, ३८.
७. अक्षर ब्रह्म का प्रतिपादन	ग.प्र. २१, ६३, ६४, ७१; लो. १३, १७; ग.म. ४२.
८. माहात्म्ययुक्त भक्ति	ग.प्र. २५, २७, ४७, ५६, ५९; सा. १५; लो. १, ३, ७, १७; ग.म. ४, १०; वर. ३, ५; ग.अं. ५, २१.
९. ध्यान	ग.प्र. ५, १५; वर. ४; अम. १; ग.अं. ३१.
१०. प्रीति	ग.प्र. २६, ३३, ५७; सा. २, १५; का. ११; पं. ३; ग.म. ४३, ५०, ५६, ५७; वर. ११; ग.अं. १४, ३९.
११. अखण्ड वृत्ति	ग.प्र. १, २३, २४, २५, ३२, ४९; का. ७; ग.म. ३६, ४८, ४९, ५०; वर. ४, ८; ग.अं. १७.
१२. प्रतिलोम	ग.प्र. ७३; ग.म. ८, २२; वर. २०; अम. ३.

श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ।

श्रीजीमहाराज के वचनामृत

उपोद्घातप्रकरणम् ।

पातुं धर्ममधर्ममुत्खनयितुं श्रीभक्तिधर्माङ्गतो
जातायोत्तरकोसलेषु दयया सर्वेश्वरेशाय च ।
तृप्तिं वाक्यसुधारसैर्विदधते नैजैर्निजानां मुहु-
स्तस्मै श्रीहरये नमोऽस्तु सहजानन्दाय सद्वर्णिने ॥१॥

ज्ञानेन धर्मेण युतां विरक्त्या माहात्म्यबोधेन च यो निजस्य ।
प्रवर्तयामास भुवि स्वभक्तिं स श्रीहरिर्नोऽस्तु मतिप्रदाता ॥२॥

अज्ञानसंज्ञं गहनान्धकारं निजाश्रितस्वान्तगुहागतं यः ।
अपाहरज्ज्ञानदिवाकरः श्रीधर्माङ्गजन्मा जयति प्रभुः सः ॥३॥

प्रोक्तानि यानीह वचोऽमृतानि श्रीस्वामिना तेन निजाश्रितेभ्यः ।
तेषां लिखामः कतिचित्तदीयतुष्टयै यथाबुद्धि यथाश्रुतं च ॥४॥

तत्रादौ श्रीहरेस्तस्य जन्मादिचरितं शुभम् ।
कथयामः समासेन तदीयानन्ददायकम् ॥५॥

श्रीगोलोक के मध्यभाग में भगवान का अक्षरधाम है. वह कोटि-कोटि सूर्यों, चन्द्रों तथा अग्नि के समान प्रकाशमान और दिव्य है. वह अत्यन्त श्वेत तथा सच्चिदानन्दरूप है, जिसे ब्रह्मपुर, अमृतधाम, परमपद, अनन्त, अपार, ब्रह्म और चिदाकाश कहते हैं. ऐसे अक्षरधाम में श्रीकृष्ण भगवान सदैव विराजमान रहते हैं. उन्हें पुरुषोत्तम, वासुदेव, नारायण, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म, ईश्वर, परमेश्वर तथा विष्णु कहा जाता है. ऐसे भगवान क्षर-अक्षर से परे हैं. वे सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, सर्वनियन्ता, सबके अन्तर्यामी, समस्त कारणों के कारण, निर्गुण, स्वप्रकाश और स्वतंत्र हैं. वे अनन्तकोटि ब्रह्मरूप जो

मुक्त हैं, उनकी उपास्य मूर्ति हैं. वे अनन्तकोटि ब्रह्मांडों की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयस्वरूपिणी लीला करनेवाले हैं. प्रकृति, पुरुष, काल, प्रधानपुरुष तथा महत्तत्वादि शक्तियाँ उनकी प्रेरक हैं (अर्थात् सभी शक्तियाँ इनकी प्रेरणा से कार्यान्वित हैं). वे अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के राजाधिराज हैं. उनकी किशोरमूर्ति सदैव रहती है. वे करोड़ों कन्दर्पों के समान सुन्दर हैं और नवीन मेघ के समान उनका श्याम वर्ण है. वे नाना प्रकार के वस्त्र तथा आभूषण धारण किये हुए हैं और कानों में मकराकृतिवाले कुंडल पहने हुए हैं. उनके मस्तक पर नाना प्रकार के रत्नों से जड़ा हुआ मुकुट है. शरद ऋतु में उत्पन्न होनेवाले कमल की पंखुड़ियों जैसे आकारवाले उनके नेत्रकमल हैं. उनके शरीर में सुगन्धमय चन्दन लगा हुआ है. वे मधुर स्वरों में वंशी बजाते हैं तथा राधिकाजी एवं लक्ष्मीजी उनकी सेवा में तन्मय रहती हैं. मूर्तिमान सुदर्शन आदि आयुध, नन्द, सुनन्द और श्रीदामा आदि असंख्य पार्षद उनकी सेवा करते हैं. उनका करोड़ों सूर्यों और चन्द्रों जैसा प्रकाशवाला स्वरूप है. उनमें अनन्तकोटि कल्याणकारी गुण हैं. धर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि ऐश्वर्य और अणिमादि सिद्धियाँ उनके चरणकमलों की सेवा में तत्पर रहती हैं. मूर्तिमान चारों वेद उनकी स्तुति करते रहते हैं. उनको वासुदेव आदि चतुर्व्यूह और केशवादि चौबीस मूर्तियाँ हैं और उनके वराहादि सभी अवतार हुए हैं.

समग्र ऐश्वर्ययुक्त श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम भगवान पृथ्वी पर एकान्तिक धर्म के प्रवर्तन तथा धर्म, भक्ति एवं मरीच्यादि ऋषियों जैसे एकान्तिक भक्तों की रक्षा करने, उन्हें सुख देने, अनेक जीवों का कल्याण करने और अधर्म का नाश करने के लिये कोशल प्रदेश में प्रकट हुए.

भगवान जिस प्रकार प्रकट हुए उसी कथा का अब संक्षेप में वर्णन करते हैं. एक समय मरीच्यादि ऋषि बदरिकाश्रम में श्रीनरनारायण भगवान के दर्शन करने के लिये आये. यह बात सुनकर धर्मदेव भी अपनी पत्नी मूर्ति के साथ श्रीनरनारायण के दर्शन करने के लिये आये. ऋषियों की सभा में उद्धव सहित बैठे हुए श्रीनरनारायण ऋषि के दर्शन करने के पश्चात् धर्मदेव श्रीनरनारायण की आज्ञा से सभा में बैठ गये. मरीच्यादि ऋषियों ने श्रीनारायण ऋषि के समक्ष भरतखंड के वृत्तांत की जो कथा पहले कही थी उसे धर्मदेव, ऋषि तथा उद्धव भी श्रीनारायण ऋषि के मुखारविन्द से

एकाग्रचित्त होकर सुन रहे थे.

उस समय कैलास पर्वत से दुर्वासा ऋषि श्रीनारायण ऋषि के दर्शन करने के लिये आये. तब किसी से भी उनका स्वागत-सत्कार नहीं बन पड़ा. इस कारण दुर्वासा ऋषि ने सभी धर्मादि ऋषियों को शाप दिया कि 'तुम लोगों ने मेरा अनादर किया है, इसलिये तुम सबको भरतखंड में मनुष्ययोनि प्राप्त हो और वहाँ असुरों द्वारा किये जानेवाले अपमान से तुम्हें कष्ट मिले.' इस प्रकार के शाप को सुनने के बाद धर्मदेव ने अनेक प्रकार से अनुनय-विनय करके दुर्वासा ऋषि को शान्त किया. दुर्वासा ऋषि बोले कि 'तुम सब श्रीनारायण ऋषि की कथा सुनने में तल्लीन थे, इसलिये तुमने मुझे नहीं देखा और मेरा सम्मान भी नहीं किया. इस बात की मुझे खबर नहीं थी, इस कारण मैंने तुम्हें शाप दे दिया. परन्तु, मेरे शाप को टाला नहीं जा सकता. फिर भी, मैं इस शाप के साथ हां तुम पर अनुग्रह (दया) करता हूँ कि हे धर्मदेव ! तुम्हें और तुम्हारी पत्नी मूर्ति को ब्राह्मणकुल में मनुष्यदेह मिलेगी और वहाँ ये नारायण ऋषि तुम्हारे पुत्र होंगे, जो तुम्हें तथा इन ऋषियों को मेरे शाप से मुक्त करेंगे और असुरों द्वारा दिये जानेवाले कष्टों से तुम सबकी रक्षा भी करेंगे.' ऐसा कहकर दुर्वासा ऋषि पुन· कैलास पर्वत पर चले गये.

श्रीनारायण ऋषि सभी धर्मादि ऋषियों से बोले कि 'अपराध के बिना ही तुम्हें जो शाप दिया गया है उसे यदि मैं टालना चाहूँ तो टाल सकता हूँ, परन्तु अभी भरतखंड में कलियुग का बल प्राप्त करके अधर्म और असुरों की अधिक वृद्धि हुई है. उनका विनाश करने के लिये मेरी इच्छा अनुसार जो शाप दिया गया है, उसे मैंने स्वीकार कर लिया है. इसलिये हे धर्म ! मैं तुम्हारा पुत्र होकर इन असुरों और अधर्म का नाश करूँगा तथा तुम सबकी रक्षा करूँगा, और पृथ्वी पर एकान्तिक धर्म का प्रवर्तन करूँगा. तुम्हें किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिये. तुम सब पृथ्वी पर मनुष्यदेह धारण करो.' ऐसे वचन सुनकर और श्रीनारायण ऋषि को नमस्कार करके सभी धर्मादि ऋषि मनुष्यदेह धारण करने के लिये पृथ्वी पर चले गये.

धर्म और मूर्ति का जिस प्रकार आविर्भाव हुआ, अब वही कथा कहते हैं. कोशल प्रदेश में इट्टार नामक नगर है, वहाँ सामवेदी सरवरिया ब्राह्मण पांडे बालशर्मा रहते थे. उनकी भाग्यवती नामक पत्नी की कोख से संवत्

१७९३ में कार्तिक शुक्ल एकादशी को मध्याह्नकाल के पश्चात् धर्मदेव का जन्म हुआ. पिता ने विधिवत् उनके जातकर्मादि संस्कार किये और बारहवें दिन उनका नाम देवशर्मा रखा. कोशल प्रदेश में ही छपैया नाम के गाँव में त्रवाड़ी कृष्ण शर्मा नामक ब्राह्मण थे. उनकी भवानी नामक पत्नी ने संवत् १७९८ में कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा को सायंकाल मूर्ति को जन्म दिया. जैसे-जैसे कन्या की उम्र बढ़ी वैसे-वैसे श्रीकृष्ण भगवान के प्रति उसकी भक्ति बढ़ती गयी. इसलिये उसका नाम **भक्ति** पड़ गया.

भक्ति के पिता कृष्णशर्मा ने अपनी पुत्री (भक्ति) का विवाह धर्म के अवतार देवशर्मा के साथ विधिपूर्वक कर दिया. उन्होंने अपने जामाता को गाँव में अपने घर रखा. इसके बाद देवशर्मा अपनी पत्नी भक्ति के साथ गृहस्थाश्रम धर्म का पालन करते हुए श्रीकृष्ण भगवान की भक्ति करने लगे. देवशर्मा ने स्वयं धर्म के सम्बन्ध में अत्यन्त दृढ़तापूर्वक आचरण किया. यह देखकर सब लोग उन्हें **धर्म** के नाम से संबोधित करने लगे.

बाद में धर्म और भक्ति को असुरों के कारण अत्यन्त कष्ट उठाने पड़े, जिनके निवारण के लिये धर्म और भक्ति दोनों वृन्दावन गये और मरीच्यादि ऋषियों के साथ श्रीकृष्ण भगवान की आराधना करने लगे. इसके फलस्वरूप भगवान उनपर प्रसन्न हो गये और उन्हें अक्षरधाम में विराजमान अपने स्वरूप का दर्शन देकर धर्म और भक्ति से बोले कि 'हे धर्म ! तुम्हें कष्ट देनेवाले जो असुर हैं उन्हें मैंने कृष्णावतार के समय मार डाला था, इसलिये वे मुझ से वैरभाव रखते हैं और मेरा भक्त जानकर तुम्हें त्रस्त करते हैं. इन असुरों का नाश करने के लिये मैं नारायण ऋषि के रूप में तुम्हारे यहाँ प्रकट होकर **हरिकृष्ण** नाम से विख्यात होगा तथा तुम्हारी और ऋषियों की असुरों द्वारा दिये जानेवाले त्रास से रक्षा करूँगा. मैं दुर्वासा के शाप से तुम्हें मुक्त करूँगा और असुरों एवं अधर्म का मूलोच्छेद करके पृथ्वी पर एकान्तिक धर्म का प्रवर्तन करूँगा.' ऐसा कहकर श्रीकृष्ण भगवान अन्तर्धान हो गये और धर्म के हृदयकमल में विराजमान हो गये. इसके पश्चात् धर्म और भक्ति अतिशय आनन्द प्राप्त करके वहाँ से पुनः अपने गाँव में वापस आ गये, और श्रीकृष्ण भगवान की भक्ति में तल्लीन हो गये. इस प्रकार धर्म पर भगवान जिस तरह प्रसन्न हुए उसके लिये सभी लोग उनका नाम **हरिप्रसाद** बोलने लगे.

कुछ मास बीत जाने के बाद हरिप्रसादजी की धर्मपत्नी भक्तिदेवी से श्रीकृष्ण भगवान संवत् १८३७ में चैत्र शुक्ल नवमी[1] को रात में दस घड़ी के उपरान्त प्रकट हुए. उस समय हरिप्रसादजी के घर में महोत्सव हुआ. इस अवसर पर इन्द्रादि देवों ने जयजयकार किया, दुंदुभियाँ बजायीं, पुष्पवर्षा की, अप्सराओ ने नृत्य किया, गन्धर्व स्तोत्रगान करने लगे और मुनियों ने आशीर्वाद दिया. देवताओं और साधुओं के मन में अत्यन्त प्रसन्नता हुई, किन्तु असुरों मे तत्काल भय छा गया. उस गाँव में रहनेवाली स्त्रियों ने मंगल-गान करते हुए बालरूप हरि को आशीर्वाद दिये. उस समय शीतल मन्द सुगन्ध वायु चल रही थी और तारागणसहित आकाश अतिशय निर्मल हो गया था ऐसी स्वर्णिम बेला में हरिप्रसादजी ने ब्राह्मणों द्वारा अपने पुत्र का जातककर्म सम्पन्न कराया और उन्हें (ब्राह्मणों को) अनेक प्रकार के दान दिये.

जन्म से छठे दिन कोटरा आदि बालरूप भगवान को मारने आये, जिन्हें भगवान ने मात्र अपने दृष्टिक्षेप से ही जलाकर भगा दिया जब भगवान तीन महीने और ग्यारह दिन के हो गये तब मार्कण्डेय ऋषि ब्राह्मण के वेष मे हरिप्रसादजी के घर आये. उस समय हरिप्रसादजी ने ऋषि का भव्य स्वागत-सत्कार किया तथा उन्हें ज्योतिषी समझकर वे कहने लगे कि 'आप हमारे पुत्र का नामकरण करिये.' ऋषि राजी हो गये और नामकरण करते हुए बोले कि 'हे हरिप्रसादजी । आपका यह पुत्र आपकी समस्त आपदाओं (विपत्तियो) को दूर करेगा और जो लोग इसके आश्रित रहेंगे उन सबके कष्टों को भी यह मिटा देगा इस बालक का जन्म कर्क राशि में हुआ है, इसलिये इसका नाम हरि होगा. आपके इस प्रतिभाशाली पुत्र का शरीर श्याम वर्ण का है तथा यह अपने आश्रितजनों के मन को अपनी ओर आकृष्ट कर लेगा. बालक का जन्म चैत्र मास में हुआ है, इसलिये यह कृष्ण नाम से विख्यात होगा. यद्यपि इसके दोनों नाम बहुत छोटे हैं तथापि इन दोनों के सम्मिश्रण से इसका तीसरा नाम हरिकृष्ण भी रहेगा. आपके इस पुत्र में त्याग, ज्ञान, तप, धर्म और योग नामक पाँच गुण रहेंगे. इन गुणों के बल पर यह बालक शिवजी जैसा होगा, इसलिये यह नीलकंठ नाम से

---

१ मगलवार, ३ अप्रैल, १७८१

संसार में प्रसिद्ध होगा. आपके पुत्र के हाथों में पद्म का चिह्न है तथा पैरों में वज्र, ऊर्ध्वरेखा और कमल के चिह्न हैं, इसलिये आपका यह पुत्र लाखों मनुष्यों का नियन्ता होगा और समस्त कष्टों से आपकी रक्षा करेगा.' इतना कहकर मार्कण्डेय ऋषि चुप हो गये. हरिप्रसादजी ने मार्कण्डेय ऋषि को अधिक से अधिक दक्षिणा दी और अनेक नवीन वस्त्र तथा आभूषण अर्पित किये. ऋषि एक दिन वहाँ रहकर प्रयाग तीर्थ की यात्रा के लिये पैदल रवाना हुए. हरिप्रसादजी तथा भक्ति माता दोनों ही अपने पुत्र के गुणों का वर्णन सुनकर बहुत प्रसन्न हुए. उधर श्रीहरि अपनी बाललीलाओं द्वारा अपने माता-पिता और संबंधीजनों को प्रफुल्लित करते हुए बालचंद्र के समान बढ़ने लगे. हरिप्रसादजी ने अपने पुत्र को पाँचवें महीने पृथ्वी पर पहली बार बैठाया, छठे महीने सर्वप्रथम अन्न खिलाया, सातवें महीने कान छिदाये, तीसरा वर्ष प्रारम्भ होने पर गर्भ के बाल कटाने के लिये उसका चौल संस्कार कराया. इसी दिन कालिदत्त नामक मायावी असुर भगवान को मारने के लिये आया, जिसे भगवान ने अपनी दृष्टिमात्र से मोहित कर दिया और वह वृक्ष से टकरा-टकराकर मर गया.

हरिप्रसादजी ने असुरों के उपद्रव के कारण छपैया गाँव छोड़ दिया और वे अपने परिवार के साथ अयोध्यापुरी में रहने लगे. हरिप्रसादजी ने अपने पुत्र को पाँचवें वर्ष में विद्या पढ़ ने के लिये बैठाया. आठवें वर्ष में उन्होंने कीमती सामग्रियाँ इकट्ठी करके अपने पुत्र का यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न किया. श्रीहरि अपने पिता से यज्ञोपवीत प्राप्त करके नैष्ठिक ब्रह्मचारी के धर्माचरण के सम्बन्ध में वेदों का अध्ययन करने लगे. श्रीहरि ने अपने पिता से वेदों, शास्त्रों, पुराणों, इतिहास और धर्मशास्त्र के सभी ग्रन्थों का स्वयं अध्ययन और श्रवण करके सबका रहस्य यथार्थ रूप से समझा. श्रीहरि ने इन सबमें से चार सारांश निकाले. श्रीहरि ने श्रीमद्भागवत पुराण मे से '**पंचम स्कन्ध**' तथा '**दशम स्कन्ध**', स्कन्द पुराण में से '**वासुदेवमाहात्म्य**' तथा इतिहास (महाभारत) में से '**भगवद्गीता**', '**विदुरनीति**' तथा '**विष्णुसहस्रनाम**' को सारपूर्ण बताया तथा धर्मशास्त्र में से '**याज्ञवल्क्यस्मृति**' को ग्रहण किया. इस प्रकार वे चारों के सारांशों का गुटका लिखकर अपने पास रखते थे. जब श्रीहरि ग्यारह वर्ष के हो गये तब उन्होंने अपनी माता भक्ति को धर्म, ज्ञान और वैराग्ययुक्त भक्ति का

उपदेश देकर दिव्यगति प्रदान की और दुर्वासा के शाप से मुक्त कर दिया. कुछ मास बाद श्रीहरि ने अपने पिता को अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराकर दिव्यगति प्रदान की और दुर्वासा के शाप को दूर कर दिया.

इस प्रकार भक्ति और धर्म ने दिव्यगति प्राप्त करने के बाद दिव्यदेह ग्रहण की और वे श्रीहरि के पास निरन्तर रहने लगे. इसके पश्चात् श्रीहरि ने अपने सम्बन्धियों से पूछे बिना ही नित्य स्नान के बहाने तीव्र वैराग्य के वेग से अपने घर का परित्याग कर दिया और वे तपस्या करने के लिये अकेले ही उत्तर दिशा की ओर पैदल चल पड़े. श्रीहरि ने बहिर्वास सहित कौपीन और मृगचर्म धारण कर रखा है. उनके हाथ में पलाश का दंड है और वे श्वेत यज्ञोपवीत धारण किये हुए है. उन्होंने कंठ में तुलसी की दोहरी माला पहनी हुई है. उनके मस्तक पर चादला (टीका) सहित ऊर्ध्वपुंड्र तिलक लगा हुआ है. उनके सिरपर जटा है और कमर में मूंज की मेखला पड़ी हुई है. श्रीहरि के पास जपमाला, कमंडल, भिक्षापात्र तथा जल छानने का वस्त्र है. वे अपने गले में शालिग्राम तथा बालमुकुन्द का बटु धारण किये हुए हैं और उनके कधे पर चार साराशोंवाला गुटका पड़ा हुआ है. ऐसे वेष वाले श्रीनीलकंठ ब्रह्मचारी ने तैरकर सरयू नदी को पार किया और वे उत्तर दिशा की ओर चले गये. चलते-चलते वे कुछ दिन बाद हिमालय पर्वत की तलहटी मे स्थित बहुत बड़े वन में जा पहुँचे. वहाँ से चलकर वे कुछ दिन के भीतर हिमालय पर्वत पर पहुँचे. वहाँ से चलते-चलते वे कुछ दिन बाद मुक्तनाथ आये. वहाँ उन्होंने उग्र तप द्वारा सूर्यनारायण को प्रसन्न किया. वहाँ वे कुछ मास तक रहे और इसके बाद दक्षिण दिशा में चले गये. हिमालय पर्वत की तलहटी में एक बड़ा भीषण वन आया. वहाँ श्रीनीलकंठ ब्रह्मचारी बारह मास तक विचरण करते रहे. श्रीनीलकंठ ब्रह्मचारी ने इस वन में बड़ के वृक्ष के नीचे बैठकर तप करनेवाले गोपाल योगी को देखा. योगी के पास रहकर अष्टांग योग सीखने के लिये वे एक वर्ष तक वहाँ ठहरे और उन्होंने योगी को अपने स्वरूप का रहस्य बताकर सिद्धगति प्रदान की.

वहाँ से उत्तर दिशा की ओर चलते-चलते श्रीनीलकंठ ब्रह्मचारी आदिवाराह नामक तीर्थ में पहुँचे. वहाँ से रवाना होकर वे बंगाल प्रदेश के सीरपुर नामक शहर में आये. इस शहर का राजा सिद्धवल्लभ बड़ा धार्मिक

था. उसकी प्रार्थना को स्वीकार करके श्रीनीलकंठ ब्रह्मचारी ने वहाँ चौमासे के चार महीने तक निवास किया. उन्होंने इस शहर में काली और भैरव के उपासक असुरों के सिद्ध होने के घमंड को दूर कर दिया. उन्होंने अपने सेवक गोपालदास नामक साधु की असुरों के अत्याचार से अपनी सामर्थ्य द्वारा रक्षा की इस शहर में तैलंग देश का वेदशास्त्रपुराणवेत्ता एक ब्राह्मण था. इस ब्राह्मण ने राजा से हाथियों आदि का महादान लिया, जिसके परिणामस्वरूप ब्राह्मण का गौरवर्ण श्यामवर्ण हो गया. यह ब्राह्मण अपने पाप को दूर करने के लिये श्रीनीलकंठ ब्रह्मचारी की शरण में आया. उन्होंने अपनी शक्ति एवं ऐश्वर्य से ब्राह्मण को पापमुक्त कर दिया. तब ब्राह्मण का श्यामवर्ण मिट गया और पहले जैसा गौरवर्ण हो गया.

वहाँ से चलकर श्रीहरि कामाक्षी देवी के निकट के एक गाँव में पहुँचे. इस गाँव में महाकाली का उपासक एक बड़ा अभिमानी ब्राह्मण था, जो अपने गाँव में आनेवाले किसी भी साधु तथा तीर्थवासी विप्र पर अभिचार करके उसे जीत लेता और अपना शिष्य बना लेता था. यह ब्राह्मण आया और उसने श्रीहरि पर अपनी सामर्थ्य के अनुसार यंत्र-मंत्र का उपयोग किया, परन्तु श्रीहरि उससे बिल्कुल अप्रभावित रहे तथा उन्होंने अपनी शक्ति एवं ऐश्वर्य से ब्राह्मण का घमड पूरी तरह तोड़ दिया और उसे अपना आश्रित कर लिया. वहाँ से चलकर श्रीहरि नवलखा पर्वत पर पहुँचे, जहाँ नव लाख सिद्धों के स्थान हैं और नव लाख स्थानों पर अग्निज्वाला निकलती है तथा पानी का कुंड है. श्रीहरि ने इस पर्वत पर रहनेवाले सिद्धों को अपने दर्शन दिये.

इस पर्वत से उतरकर श्रीहरि बालवाकुंड नामक तीर्थ में आये. वहाँ से चलकर श्रीहरि गंगासागर संगमपर पहुँचे और वहाँ स्नान करने के बाद जहाज़ में बैठकर समुद की खाड़ी में से कपिलाश्रम पहुँचे. वहाँ एक मास तक ठहरे और नित्य कपिलजी के दर्शन करते रहे. वहाँ से चलकर श्रीहरि जगन्नाथपुरी गये. वहाँ उन्होंने कई मास तक निवास किया, तथा पृथ्वी के लिये भाररूप बने हुए बहुत से असुरों के बीच परस्पर वैर कराकर उनमें युद्ध करवा दिया और इस प्रकार उनका विनाश कर दिया. इसके बाद श्रीनीलकंठ ब्रह्मचारी वहाँ से दक्षिण दिशा की ओर गये और आदिकूर्म नामक तीर्थक्षेत्र में पहुँचे. वहाँ से महावन में चलते हुए मानसपुर आये.

मानसपुर का राजा सत्रधर्मा था. वहाँ वह उनके आश्रित हो गया. उन्होंने राजा द्वारा असुरों को पराजित कराया.

वहाँ से चलकर श्रीनीलकंठ ब्रह्मचारी वेकंटादि, शिवकांची और विष्णुकांची आये. वहाँ से वे श्रीरंगक्षेत्र में आये, जहाँ वे दो मास तक रहे. उन्होंने श्रीरंगक्षेत्र में वैष्णवसंघों के साथ वार्तालाप किया और उनमें फैले हुए दुराचार को अपने प्रताप से दूर कराया. वहाँ से चलकर श्रीहरि सेतुबंध नामक तीर्थ में पहुँचे और समुद्र स्नान कर नित्य रामेश्वर महादेव के दर्शन करते रहे. वहाँ श्रीहरि ने दो मास तक निवास किया.

वहाँ से प्रस्थान कर उन्होंने सुंदरराज नामक विष्णु के दर्शन किये. वहाँ से जब वे आगे बढ़े तब मार्ग में एक भीषण वन आया. इस वन में वे पाँच दिन तक चले, किन्तु अन्न-जल नहीं मिला. छठे दिन दोपहर के समय एक कुआँ मिला. कुएँ में उन्होंने कमंडल डालकर जल निकाला और स्नान किया. इसके उपरांत वे वटवृक्ष के नीचे बैठकर अपनी नित्यविधि तथा शालिग्राम की सेवा करने लगे. जब वे शालिग्राम को पात्र में रखकर कमंडल की धार से स्नान कराने लगे तब चढाया हुआ पूरा पानी शालिग्राम पी गये. बाद में श्रीहरि ने शालिग्राम पर पाँच-सात कमंडल जल चढ़ाया, जिसे वे पी गये. बाद में श्रीहरि शालिग्राम को जल पीकर तृप्त हुआ जानकर उनका चंदन आदि से पूजन करने लगे. इसी समय श्रीहरि यह विचार करने लगे कि 'शालिग्राम को जब इतनी प्यास लगी तो भूख भी जरूर लगी होगी, परन्तु मेरे पास नैवेद्य नहीं रहा, इसलिये विष्णु को क्या खिलाया जाय ?' वे ऐसा विचार कर ही रहे थे कि उसी समय शिवजी और पार्वती अपने वाहन नन्दीपर सवार होकर भिक्षुक के वेष में वहाँ आकर पहले से ही खड़े हुए थे. उन्होंने श्रीनीलकंठ ब्रह्मचारी को शालिग्राम की इस प्रकार पूजा करते हुए देखकर उन्हें सत्तू और नमक दिया. श्रीनीलकंठ ब्रह्मचारी ने यह सत्तू जल में घोलकर विष्णु के लिये नैवेद्य अर्पित किया और इसके बाद स्वयं प्रसाद खाया.

वहाँ से चलकर श्रीनीलकंठ ब्रह्मचारी भूतपुरी आये और वहाँ रहकर उन्होंने रामानुजाचार्य की प्रतिमा का दर्शन और पूजन किया. भूतपुरी से वे कुमारिका क्षेत्र, पद्मनाभ तथा जनार्दन क्षेत्र में पहुँचे तथा वहाँ आदिकेशव नामक विष्णु के दर्शन किये. वहाँ से वे मलयाचल नामक कुलगिरि आये.

उन्होंने साक्षिगोपाल नामक विष्णु के दर्शन किये और वहाँ वे पाँच दिन तक ठहरे. बाद में श्रीनीलकंठ ब्रह्मचारी पंढरपुर पहुँचे और विट्ठलनाथ नामक विष्णु के दर्शन किये. वहाँ उन्होंने दो मास तक निवास किया. विट्ठलनाथ के दर्शन करके वे दंडकारण्य आये और उसकी प्रदक्षिणा करके नासिक नगर में पहुँचे और वहाँ उन्होंने त्र्यंबकेश्वर महादेव के दर्शन किये और वहाँ से तापी नदी की ओर आये.

वहाँ से नर्मदा नदी पार करके मही नदी और साबरमती नदी तट पर पहुँचे और वहाँ से भालदेश को पार करके भीमनाथ आये. वहाँ से चलकर श्रीनीलकंठ ब्रह्मचारी ने गोपनाथ नामक शिवजी के दर्शन किये और पंचतीर्थी करते-करते वे मांगरोल बंदरगाह में पहुँचे. इस पकार तीर्थयात्रा करते हुए श्रीहरिकृष्ण भगवान जिस-जिस तीर्थ में स्वयं गये वहाँ व्याप्त अधर्म का उन्होंने मूलोच्छेद किया और एकान्तिक धर्म की स्थापना की. ऐसे प्रत्येक तीर्थ में रहनेवाले लोगों को उन्होंने अपने दर्शन दिये और उनका अन्नजलादि ग्रहण करके उन्हें संसार के बंधनों से मुक्त कर दिया.

वहाँ से चलकर श्रीनीलकंठ ब्रह्मचारी संवत् १८५६ में श्रावण कृष्ण[१] षष्ठी को लोजपुर में पहुँचे. लोजपुर में उद्धव के अवतार श्रीरामानन्द स्वामी के शिष्य मुक्तानन्द स्वामी आदि साधुओं ने श्रीनीलकंठ ब्रह्मचारी को देखा और उन्हें साधु के लक्षणों से युक्त पाया तथा श्रीकृष्ण भगवान का भक्त जानकर वे उनके साथ स्वयं रहने लगे. वहाँ कई मास रहने के बाद ये साधु सामूहिक रूप से चले और उन्होंने गिरनार पर्वत की छाया में स्थित पीपलाणा गाँव में रहनेवाले नरसी मेहता नामक ब्राह्मण के घर में विराजमान श्रीरामानन्द स्वामी के दर्शन संवत् १८५६ में ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशी को किये. स्वामीजी का वर्ण गौर और शरीर पुष्ट है. उन्होंने श्वेत वस्त्र पहने हैं और नैष्ठिक ब्रह्मचारी-जैसा उनका वेष है. श्रीनीलकंठ ब्रह्मचारी ने ऐसे वेषवाले स्वामीजी को साष्टांग नमस्कार किया और उनसे मिलने के बाद वे उनके पास बैठ गये. श्रीनीलकंठ ब्रह्मचारी को देखकर स्वामीजी को बहुत आनन्द हुआ.

स्वामीजी ने उनका समस्त वृत्तांत पूछा. श्रीनीलकंठ ब्रह्मचारी ने उन्हें

---

१. गुरुवार, २१ अगस्त, १७९९.

अपने जन्मस्थान, कुल, माता-पिता, गोत्र, वेद, प्रवर, गुरु तथा इष्टदेव के सम्बन्ध में सब सही बातें बतायीं और जिस तरह उन्हें वैराग्य हुआ, जिस प्रकार उन्होंने स्वजनों का परित्याग किया, वन में निवास किया, तपश्चर्या की, अष्टागयोग की साधना की, तीर्थयात्रा की तथा तीर्थों में रहनेवाले पाखडी गुरुओं को जिस तरह पराजित किया, वह समस्त वृत्तांत उन्होंने आदि से अन्त तक विस्तारपूर्वक कह सुनाया. इन सब बातों को सुनकर स्वामीजी अत्यन्त प्रसन्न हुए और श्रीनीलकण्ठ ब्रह्मचारी को संबोधित करते हुए बोले कि 'हे ब्रह्मचारी ! आप तो हमारे हैं, क्योंकि आपके पिता धर्म ने सर्वप्रथम प्रयाग क्षेत्र में हमसे ही भागवती दीक्षा ली थी और हमारी आज्ञा लेकर ही वे मुमुक्षुजनों को धर्मसहित श्रीकृष्ण भगवान की भक्ति का उपदेश देते हुए कोशल प्रदेश में रहे थे. आप उन्हीं धर्म के पुत्र हो और आपमे आपके पिता की अपेक्षा अधिक गुण हैं.'

स्वामीजी के इन वचनों को सुनकर श्रीनीलकठ ब्रह्मचारी अत्यन्त प्रसन्न हुए, और उनके पास रहने लगे. श्रीनीलकंठ ब्रह्मचारी ने संवत् १८५७ मे कार्तिक शुक्ल [१]एकादशी को स्वामीजी से भागवती दीक्षा ग्रहण की. तब स्वामीजी ने उनका नाम '**सहजानन्द**' तथा दूसरा नाम '**नारायणमुनि**' भी रखा. इसके पश्चात् वे अत्यन्त श्रद्धापूर्वक स्वामीजी की सेवा करने लगे.

स्वामीजी ने साधुओं के समस्त गुणों से सम्पन्न तथा अतिसमर्थ नारायणमुनि को अपनी धर्मधुरा का प्रसारण करने की जिम्मेदारी सौंप दी और स्वयं संवत् १८५८ मे मार्गशीर्ष शुक्ल त्रयोदशी को देहत्याग करके पुन बदरिकाश्रम के लिये प्रयाण किया और दुर्वासा के शाप से मुक्त हो गये.

श्रीसहजानन्द स्वामी ने अपने गुरु की अन्त्येष्टि विधिपूर्वक सम्पन्न की और धर्मधुरा को ग्रहण किया. श्रीरामानन्द स्वामी के आश्रित जो साधु, ब्रह्मचारी और गृहस्थ थे उन्हें उन्होंने सत् शास्त्रों का उपदेश दिया और अपना अलौकिक प्रताप दिखाकर उनका चित्त अपनी ओर आकृष्ट कर लिया. स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज ने अपने शिष्य त्यागी साधुओं, ब्रह्मचारियों और कुछ सत्संगी गृहस्थों के साथ सोरठ, हालार, कच्छ,

---

१ बुधवार, २८ अक्तूबर, १८००.

झालावाड़, माल, गुजरात आदि समस्त प्रदेशों में उनके द्वारा अपने प्रताप का विस्तार किया और धर्म, ज्ञान एवं वैराग्ययुक्त भक्ति का प्रवर्तन किया. वे अधर्म का मूलोच्छेद तथा अधर्मी, पाखंडी एवं असुरांशवाले गुरुओं को पराजित कर विचरण करते रहे.

श्रीजीमहाराज ने जिन-जिन स्थानों में विचरण किया वहाँ के लोगों ने उनके (श्रीजीमहाराज के) अलौकिक ऐश्वर्य को देखा और भारी संख्या में लोग उनके आश्रित हो गये तथा श्रीजीमहाराज का प्रकटप्रमाण भजन करने लगे. श्रीजीमहाराज ने इन लोगों का उत्साह बढ़ाने और उनकी बुद्धि को सुदृढ़ बनाने के लिये अपना विभिन्न प्रकार का ऐश्वर्य समाधि द्वारा दिखाया. इनमें से कुछ मनुष्यों को तो उन्होंने गोलोक के मध्य स्थित अक्षरधाम में लक्ष्मी, राधिका और श्रीदामा आदि पार्षदों सहित श्रीकृष्ण स्वरूप में स्वयं के दर्शन दिये. कुछ व्यक्तियों को तो उन्होंने वैकुंठलोक में लक्ष्मी, नन्द तथा सुनन्दादि पार्षदों के साथ विष्णुरूप में स्वयं के दर्शन कराये. कितने ही लोगों को उन्होंने श्वेतद्वीप में निरन्नमुक्त सहित महापुरुषरूप में अपने दर्शन दिये. कितने ही पुरुषों को उन्होंने अव्याकृत धाम में लक्ष्मी आदि शक्तियों और पार्षदों सहित भूमापुरुषरूप में अपने दर्शन कराये. वे कुछ व्यक्तियों को बदरिकाश्रम में मुनियों सहित नरनारायण के रूप में, कितने ही लोगों को क्षीरसमुद्र में लक्ष्मी और शेषनाग- सहित योगेश्वररूप में, कुछ मनुष्यों को सूर्यमंडल में हिरण्यमयपुरुष के रूप में तथा कुछ व्यक्तियों को अग्निमंडल में यज्ञपुरुष के रूप में अपने दर्शन देते थे. कई आश्रितजनों को तो वे तत्काल प्रणव-नाद सुनवाते थे. कितने ही लोगों को वे कोटि-कोटि सूर्यों जैसा अपना तेज़ दिखाते थे.

कई व्यक्तियों को वे जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति से परे रहकर सच्चिदानन्द लक्षणवाले और द्रष्टा नाम वाले ब्रह्म के रूप में अपने दर्शन देते थे. कुछ मनुष्यों को उन्होंने ब्रह्मांड के आधार तथा पुरुषसूक्त में वर्णित विराट पुरुष के रूप में अपने दर्शन दिये. कितने ही लोगों को वे भूगोल एवं खगोल में रहनेवाले देवताओं के स्थानों तथा ऐश्वर्य को और कई आश्रितों को उन्होंने षट्चक्र में स्थित गणेश आदि देवताओं को पृथक् रूप से दिखाया. कभी-कभी तो वे सौ-सौ गाँवों के अंतर से रहनेवाले अपने कुछ भक्तों को प्रत्यक्षप्रमाण के रूप में अपने दर्शन देते थे. दूरवर्ती स्थानों

में रहनेवाले भक्तसमुदाय अपने घरों में जब अपनी प्रतिमा के आगे नैवेद्य को रखते थे तब भक्तों को विस्मित करते हुए वह नैवेद्य श्रीजीमहाराज खाते थे. देहत्याग करनेवाले अपने कई भक्तों को वे अपने धाम में ले जाने की इच्छा करते थे और वे ऐसे गाँवों में रहनेवाले भक्तों तथा अभक्तों तक को अपने साक्षात् दर्शन देते थे. इस प्रकार मुमुक्षु तथा अमुमुक्षुजनों को अपना अलौकिक ऐश्वर्य दिखानेवाले श्रीसहजानन्दजी महाराज को देखकर अत्यन्त आश्चर्यचकित होनेवाले हज़ारों लोगों ने अपनी निजी धार्मिक विचारधारा और गुरुओं का परित्याग कर दिया और वे श्रीजीमहाराज का आश्रय ग्रहण कर प्रकटप्रमाण भजन करने लगे.

इसके बाद, अपने मतों पर अटल रहनेवाले कट्टरपंथी बहुत से लोग श्रीजीमहाराज से वादविवाद करने के लिये आये, परन्तु इनमें से कोई भी पुरुष श्रीजीमहाराज पर विजय प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सका. ये सभी कट्टरपंथी लोग श्रीजीमहाराज के अलौकिक ऐश्वर्य तथा प्रताप को देखकर नमस्कार करते हुए बोले कि 'हे महाराज ! आप तो परमेश्वर हैं, इसलिये आप कृपया हमें हमारे इष्टदेवों के दर्शन कराइये.' श्रीजीमहाराज ने इन लोगों की इस प्रार्थना को सुनकर सबको बैठाया और अपने प्रताप से उन्हें तत्काल समाधिस्थ कर दिया. श्रीजीमहाराज के दर्शनमात्र से इन सबकी नाड़ियाँ और प्राण खिंच गये और उन्होंने अपने-अपने हृदय में अपने-अपने इष्टदेवों के रूप में श्रीजीमहाराज के दर्शन किये.

इन लोगों में वल्लभकुलाश्रित वैष्णव, निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी तथा माध्व सम्प्रदाय के मतावलंबी थे. इन तीनों सम्प्रदायों के अनुयायियों ने गोपियों से घिरे हुए और वृन्दावन में रहकर बाललीलाएँ करनेवाले, मनोहरमूर्तिस्वरूप श्रीकृष्ण भगवान को देखा. रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायियों ने नन्द, सुनन्द, विष्वक्सेन तथा गरुड़ आदि पार्षदों सहित लक्ष्मीनारायण के रूप में उन्हें देखा. रामानन्दियों ने उन्हें सीता, लक्ष्मण और हनुमान सहित दिव्य सिंहासन पर विराजमान श्रीरामचन्द्रजी के रूप में देखा. शंकराचार्यजी के मतावलंबियों ने उन्हें ब्रह्मज्योति के रूप में निहारा. शैवों ने उन्हें पार्वती और प्रमथगणों सहित बैठे हुए शिवजी के रूप में देखा.

सूर्यनारायण के उपासकों ने सूर्यमंडल में रहनेवाले हिरण्यमयपुरुष के रूप में, गणपति के उपासकों ने महागणपति के रूप में, देवी के उपासकों

ने देवी के रूप में, जैनमतावलंयों ने तीर्थंकर के रूप में और यवनों ने पैगम्बर के रूप में उन्हें देखा. इस प्रकार समाधि की दशा में इन लोगों ने अपने-अपने इष्टदेवों के रूप में श्रीजीमहाराज को देखकर तथा सबका कारण जानकर अपने-अपने सम्प्रदायों का परित्याग कर दिया और वे श्रीजीमहाराज का दृढ़ आश्रय ग्रहण करके प्रकटप्रमाण भजन करने लगे. इस प्रकार श्रीसहजानन्दजी महाराज ने अपने प्रताप द्वारा जीवों के मूल अज्ञान का नाश किया तथा पृथ्वी पर नष्ट हुए एकान्तिक धर्म की व्यवस्थित रूप से स्थापना की.

उन्होंने अपने धनी भक्त गृहस्थों तथा सत्संगियों द्वारा अनेक अन्नसत्रों का आयोजन कराया तथा हिंसारहित विष्णुयाग, महारुद्र तथा अतिरुद्र आदि यज्ञ कराये. उन्होंने यज्ञों में हज़ारों ब्राह्मणों को मिष्टान्न भोजन करवाकर तृप्त किया तथा उनके लिये अनेक प्रकार के दान दिलवाये. उन्होंने साधुओं, ब्राह्मणों तथा देवताओं को पूजन और भोजन द्वारा बार-बार तृप्त कराया तथा अधर्म और पाखंड के समक्ष वर्णाश्रमधर्म, आत्मज्ञान, वैराग्य, अपने स्वरूप के ज्ञान तथा माहात्म्यसहित अपनी भक्ति के अनेक प्रकार के भेदों का विस्तारपूर्वक और यथार्थ रूप से वर्णन किया. इस प्रकार नित्यप्रति अपने भक्तजनों को आनन्द देनेवाले श्रीजीमहाराज ने श्रीगढडा नगर में अपने भक्त अभय नामक राजा और उनके पुत्रों एवं पुत्रियों की भक्ति के वशीभूत होकर उनके प्रासाद में स्वयं निवास किया. वहाँ रहकर वे जन्माष्टमी रामनवमी, प्रबोधिनी एकादशी, होली तथा अन्नकूट आदि उत्सवों के अवसर पर प्रचुर मात्रा में सामग्रियाँ मँगवाकर विशाल समारोहों का आयोजन करवाते थे. इन उत्सवों में परमहंस, ब्रह्मचारी तथा देश-विदेश के हरिभक्त, सत्संगी श्रीजीमहाराज के दर्शन करने के लिये बार-बार आते थे और वे नाना प्रकार के वस्त्र, आभूषण, चंदन तथा पुष्प आदि पूजा-सामग्रियों द्वारा श्रीजीमहाराज का पूजन करते थे. इन उत्सवों में श्रीजीमहाराज ने विभिन्न भोजन-सामग्रियों द्वारा हज़ारों साधुओं और ब्राह्मणों को अनेक प्रकार से बार-बार तृप्त किया.

अब सर्वप्रथम श्रीसहजानन्द स्वामी महाराज की मूर्ति के चिह्नों को लिखते हैं. श्रीजीमहाराज के दोनों चरणारविन्दों के दोनों तलवों में ऊर्ध्व रेखा अँगूठों के पास की उँगलियों के दोनों ओर निकली हुई है. दायें पैर के

अँगूठे के निचले भाग में ऊर्ध्व रेखा से मिलता-जुलता यव-चिह्न (जौ का निशान) है, दाहिने पैर के तलवे में ऊर्ध्व रेखा के दोनों ओर कमल, अंकुश, ध्वज, अष्टकोण, वज्र, स्वस्तिक एवं जंबूफल के चिह्न हैं. दायें पैर के अँगूठे के नख में एक खड़ी हुई लाल रेखा का निशान है. इसी अँगूठे के बाहर के भाग में एक तिल है. इस अँगूठे के पास की जो उँगली है उसके ऊपरी हिस्से में एक तिल है. दायें पैर की अन्तिम उँगली के बाहर के भाग में नख के पास एक तिल है. बायें पैर की ऊर्ध्व रेखा की बायीं ओर दो श्याम चिह्न पास-पास में हैं और इस ऊर्ध्व रेखा से मिलता हुआ एक व्योमचिह्न है. बायें पैर के तलवे में ऊर्ध्व रेखा की दोनों ओर धनुष, कलश, मत्स्य, त्रिकोण, गोपद तथा ऊर्ध्व चंद्र के चिह्न हैं. दोनों पैरों के तलवे लाल हैं. दोनों पैरों के अँगूठों और उँगलियों के नाखून लाल, उठे हुए और तेजस्वी हैं.

दोनों पैरों के अँगूठों और उँगलियों के ऊपर बारीक और कोमल रोम (रोंये) हैं. दोनों पैरों के अँगूठों के पासकी दोनों उँगलियों के ऊपर खड़ाऊँ के घिसने के निशान हैं तथा दोनों पैरों के बाहर के टखनों पर आसन पर बैठने के कारण बने हुए दाग के चिह्न हैं. दायें पैर के टखने से पाँच अगुल ऊपर नली पर बाहर की ओर एक छोटा तिल है. इस पैर की जाँघ के बाहर की ओर एक बड़ा चिह्न है और बाँयें पैर के टखने से पाँच अंगुल ऊपर नली पर एक बड़ा तिल है. उसके ऊपर पास में ही एक दूसरा छोटा तिल है. उसी पैर के घुटने के बाहर की ओर एक चिह्न है. कटिभाग (कमर) में धोती पहनने के कारण पड़नेवाली लकीर का श्याम चिह्न है. सदा शीतल रहनेवाले उदर के ऊपर तीन सलें (रेखाएँ) पड़ जाती हैं. गहरी और गोल नाभि के दोनों ओर तिल हैं. यह तिल दायीं ओर तो नाभि के किनारे पर है और बायीं ओर यह नाभि से थोड़ी दूर है. दायीं कोखपर एक बड़ा तिल है तथा उसके पास एक दूसरा छोटा तिल है.

नाभि के किनारे की दायीं ओर ऊपर दोनों तरफ तिल हैं. इनमें से दायीं ओर दो तिल नाभि के किनारे पर हैं और नली की बायीं ओर नाभि से थोड़ी दूर दायीं कोखपर एक बड़ा तिल है और नाभि के ऊपर दो अंगुल ऊपर तीन तिल हैं. अन्ननली के दोनों ओर एक-एक तिल है और एक बीच में है तथा बीच के तिल से दो अंगुल ऊपर एक तिल है और

बाँयीं ओर कोख से ऊपर तथा बगल के नीचे चार बड़े तिलों का एक खड़ा हार है और उसके पास बाहर की तरफ दूसरे चार छोटे तिलों का एक बड़ा हार है. हृदय में रोमों (रोंयों) का श्रीवत्स चिह्न है. छाती के बीच अर्धचन्द्र के आकारवाला तथा पाँच अंगुल चौड़ा और थोड़ा लाल एक बड़ा चिह्न है तथा दायीं ओर कुछ ज्यादा चढ़ा हुआ चिह्न है. इस चिह्न के बीच थोड़ी बायीं ओर एक बड़ा तिल है. इस तिल से बायीं ओर दो अंगुल दूर एक तिल है और उससे बायीं ओर दो अंगुल के अंतर से बायें स्तन से ऊपर एक तिल है. दोनों स्तनों से ऊपर दो छाप के चिह्न हैं. दायीं भुजा के पास में भीतरी की ओर सीधे चार तिल हैं. दायीं भुजा के अग्रिम भाग से तीन अंगुल नीचे एक छाप का चिह्न है तथा इस छाप के चिह्न के पास बाहर की ओर छोटे चार तिल हैं और दाहिनी कोनी से नीचे तथा कलाई से दो अंगुल ऊपर दो तिल हैं. दाहिने हाथ की अनामिका के अग्रिम भाग से ऊपर आधा अंगुल दूर एक छोटा तिल है और बाँयीं भुजा के आगे के भाग से तीन अंगुल नीचे एक छाप का चिह्न है. बायीं कोनी से दो अंगुल नीचे साथ के ऊपरी भाग में एक तिल है. बायें हाथ के अँगूठे के पास की उँगली और बीच की उंगली के बीच एक तिल है. इस अँगूठे के पास की उँगली के नख के पास भीतर की ओर एक छोटा सा तिल है. बायें हाथ के पोंचे के ऊपर एक तिल है. दोनों हाथों के नाखून लाल हैं और ऊपर उठे हुए हैं तथा तेजस्वी हैं. इन नाखूनों के अग्रभाग अत्यन्त तीक्ष्ण हैं. दोनों हाथों के तलवे लाल है. इन तलवों में जो रेखाएँ हैं वे कुछ श्याम दिखायी पड़ती हैं. दोनों हथेलियों के अग्रिम भागों से ऊपर आठ अंगुल ऊँचे दो छाप चिह्न हैं और दोनों कोहनियाँ श्याम हैं. कंठ के खड्डे के बीच एक तिल है. इस तिल से थोड़ी दूर एक छोटा तिल है और दाढ़ी के नीचे एक तिल है. बायें कंधे से दो अंगुल नीचे पीठ पर रोमसहित एक बड़ा तिल है. इस तिल से नीचे एक तिल और उससे नीचे एक तिल है तथा मेरुदंड (रीढ़) की बायीं ओर गर्दन से दो अंगुल नीचे एक तिल है. दायें पखौड़े (भुजा और स्कंध के सन्धिभाग) पर एक छोटा तिल है और रीढ़ से दायीं ओर पीठ के बीच चार तिल हैं. नासिका (नाक) के पास दाहिनी ओर एक बड़ा तिल है. इस तिल से ऊँचे और आँख के कोने से नीचे पास में ही एक छोटा तिल है ओर दोनों नेत्रों के ऊपर और नीचे की

ओर बरौनियों के ऊपर और नीचे बारीक-बारीक झुरियाँ हैं और नासिका के ऊपर चेचक के छोटे-छोटे चिह्न हैं. मुख में दायीं ओर नीचे की डाढ़ में श्याम चिह्न है. जिह्वा कमलपत्र के समान लाल है. बायें कान के भीतर श्याम बिंदु का चिह्न है. विशाल और उठे हुए ललाट में तिलक के आकारवाली दो खड़ी रेखाएँ हैं. ललाट में दाहिनी ओर केश (बालों) से नीचे एक चिह्न है. दाहिने कानकी 'बूटी' (कर्णाभूषण पहनने के निचले भाग) पर एक छोटा तिल है तथा तालु के अंदर एक बड़ा तिल है. शिखा (चोटी) से आगे समीप में एक तिल है. शिखा के पीछे दाहिनी ओर तीन तिल हैं. इनके अलावा दूसरे कितने ही बारीक-बारीक तिल शरीर में हैं. श्रीजीमहाराज की मूर्ति अत्यन्त रूपवाली, सुन्दर और माधुर्यमय है. यह मूर्ति पुष्ट और अतिशय शोभायमान है. जो भक्तजन इस मूर्ति का दर्शन करते हैं उनके मन और नेत्रों को यह मूर्ति मोहित कर लेती है. यह मूर्ति घनश्याम है और उसका शान्त स्वभाव है. यह मूर्ति दुर्गपत्तन स्थित श्रीगोपीनाथजी की प्रतिमा जितनी ऊँची है. श्रीजीमहाराज की मूर्ति के कर-चरण आदि अंग सामुद्रिक शास्त्र में वर्णित अंगों के समान हैं. इस प्रकार श्रीजीमहाराज की मूर्ति के जो चिह्न हैं उन्हें अपनी स्मृति के अनुसार लिखा गया है.

अब श्रीजीमहाराज की स्वाभाविक चेष्टा को लिखते हैं. श्रीजीमहाराज नित्यप्रति (प्रतिदिन) चार घड़ी अथवा तीन घड़ी रात्रि के शेष रहने पर उठते हैं और दातुन करते हैं, ऐसा उनका स्वभाव है. इसके बाद स्नान करके और धोये हुए कोरे सूक्ष्म वस्त्र से शरीर पोंछते हैं तथा खड़े होकर पहनने के वस्त्र को दो जाँघों के बीच इकट्ठा करके और उसे दोनों हाथों से निचोड़ने के पश्चात् जाँघों और पैरों को पोंछकर धोये हुये सूक्ष्म तथा मोटे श्वेत वस्त्र को अच्छी तरह कसकर पहनते हैं. श्वेत वस्त्र पहनने की रुचि रखनेवाले श्रीजीमहाराज इसके पश्चात् धोये हुए दूसरे सूक्ष्म श्वेत वस्त्र को ओढ़कर और खड़ाऊँ पहनकर नित्यविधि सम्पन्न करने के बाद भोजन करने के लिये पधारते हैं.

वे भोजन करने के पवित्र स्थान में जाकर आसन पर बैठते हैं. भोजन के लिये बैठने के समय वे ओढ़ने के वस्त्र को कान के पीछे हटाकर और दोनों कानों को खुला रखकर भोजन करने के लिये बैठते हैं. भोजन के लिये बैठते समय श्रीजीमहाराज पूर्व अथवा उत्तर की ओर मुख रखकर और बायें

पैर से पालथी मारकर तथा दाहिने पैर को खड़ा रखकर और उसके ऊपर दायें हाथ की कोहनी रखकर भोजन करते हैं.

भोजन करते-करते श्रीजीमहाराज को जो खाद्यपदार्थ स्वादिष्ट प्रतीत होता है उसे वे अपने परमप्रिय किसी अन्य श्रेष्ठ हरिभक्त को देते हैं. भोजन करते-करते डकार लेकर पेट पर हाथ फेरने का उनका स्वभाव है. कभी-कभी तो वे किसी भक्तजन पर प्रसन्न होते ही अपनी प्रसादी का थाल देते या दिलवाते हैं. यदि साधुओं को भोजन परोसना हो तो बायें कंधेपर दुपट्टा डालकर और उसके दोनों किनारों को कमरपर कसकर बॉध के परोसते हैं. श्रीजीमहाराज जब परोसते हैं तब लड्डू-जलेबी आदि खाद्य पदार्थों का बार-बार नाम लेते हुए पंक्ति में बराबर चक्कर लगाते हैं. उन्हें साधु हरिभक्तों को भोजन कराने और परोसने में अतिशय श्रद्धा एवं आदर है तथा अत्यन्त प्रसन्नता होती है.

श्रीजीमहाराज कभी-कभी वर्षा-ऋतु तथा शरद-ऋतु में दुर्गपत्तन के समीप घेला नदी के जल को निर्मल जानकर साधुओं तथा सत्संगियो के साथ स्नान करने के लिये पधारते हैं और नदी के जल की प्रशंसा करते हुए अपने भक्तजनों को आनन्द प्रदान करते है. वे भक्तजनों सहित अनेक प्रकार की जलक्रीडा करते हैं और जल में जब डुबकी मारते हैं तब अपने कान, नेत्र तथा नाक को अपने हाथों के अंगूठों और उँगलियों से दबाये रखते हैं तथा काफी समय तक डुबकी मारकर जब निकलते हैं तब अपने मुखारविन्द पर दाहिना हाथ फेरकर कुल्ला करने का उनका स्वभाव है कभी-कभी तो वे नदी के प्रवाह के बीच खड़े होकर साधुओं से तालियाँ बजवाकर कीर्तन करवाते हैं और स्वयं भी उनके साथ ताली बजाते हुए उत्साहपूर्वक कीर्तन करते हैं और जल में स्नान करने के लिये बैठते है. स्नान करने के बाद जब वे निकलते हैं तब अपने किसी प्रिय एवं बलवान भक्त का हाथ अपने हाथ से पकड़ लेते हैं और अपने दर्शनों से प्रफुल्लित होनेवाले भक्तजनों सहित नदी के जल से बाहर निकलते हैं तथा नदी तट पर खड़े होकर पहले के पहने हुए वस्त्र को निचोड़कर और शरीर को पोंछकर सफेद दुपट्टे को अच्छी तरह कसकर पहनते हैं और इसके उपरांत माथे (मस्तक) पर सफेद फेंटा बाँधते हैं. श्रीजीमहाराज माथे पर जब फेंटा बाँधते हैं उस समय वे फेंटे के किनारेवाले हिस्से को निकालकर बाँधते है

तथा फेंटे का एक घुमावदार पेच भृकुटि को दबाकर बाँधते हैं. इसके बाद वे सफेद दुपट्टे को बायें कंधे पर डालकर और उसके (दुपट्टे के) छोर को कसकर बाँधकर और एक सुंदर तथा कीमती घोड़ी अथवा घोड़े पर सवार होकर अपने हज़ारों भक्तों से घिरे हुए निकलते हैं तथा दर्शन करते हुए अपने भक्तजनों के नेत्रों को आनन्दित करते हुए अपने स्थान पर आते हैं.

जिस समय श्रीजीमहाराज चलते हैं तब ओढ़ने के सफेद दुपट्टे को बायें कंधे पर आड़ा-टेढ़ा डालकर दाहिने हाथ को हिलाते हुए चलते हैं और कभी-कभी रूमाल लिये हुए दायें हाथ को हिलाते हुए चलते हैं. कभी-कभी तो वे बायें हाथ को कमरपर रखकर और दाहिने हाथ में रूमाल लेकर और उस हाथ को हिलाते-हिलाते चलते हैं. श्रीजीमहाराज का सहज ही जल्दी-जल्दी चलने का स्वभाव है. जब श्रीजीमहाराज चलते हैं तब उनके पीछे चलनेवाले भक्तजनों को उनका साथ देने के लिये दौड़ना पड़ता है. इतनी शीघ्रता के साथ श्रीजीमहाराज चलते हैं. जब वे खड़ाऊँ पहनकर चलते हैं तब खड़ाऊँ का चटचट शब्द होता है. कभी-कभी तो वे कोई कार्य करने के लिये तत्पर होकर खड़े होते हैं और धीरे-धीरे चलते हैं. उस समय अपने दाहिने हाथ की मुट्ठी बंद करके उसे अपने दायीं जाँघ पर धीरे-धीरे मारने का उनका स्वभाव है. कभी-कभी मनुष्यों की बड़ी भीड़ इकट्ठी होती है और धूल उड़ती है तब वे अपनी नासिका और मुखारविन्द पर रूमाल को टेढ़ा करके डाल लेते हैं. कभी-कभी वे खाट पर बैठते हैं और किसी समय चादर बिछे हुए गद्दे पर बैठते हैं. कभी-कभी गद्दी पर और कभी-कभी छोटी गद्दी पर बैठते हैं. किसी-किसी समय वे खाट पर पड़े हुए तकिये पर बैठते हैं. जब वे बैठते हैं तब कभी पालथी मारकर और कभी घुटना बाँधकर बैठते हैं. वे जब-जब बैठते हैं तब बहुधा तकिया को खड़ा रखकर बैठते हैं. कभी-कभी खाट अथवा आसन पर बैठते समय पालथी मारकर बैठते हैं और अपने पैरों को लंबा करके पैर के उपर पैर रखने का उनका स्वभाव है. कभी-कभी वे बैठते समय बायें चरणारविन्द की ऊर्ध्व रेखा के ऊपर अपने दाहिने हाथ की उँगली को खड़ा करके फिराते हैं. कभी-कभी अपनी जिह्वा (जीभ) एक तरफ के दाँतों के नीचे दबाकर बैठने का उनका स्वभाव है. और कभी बैठे हुए गर्दन को हिलाते समय हड्डी की आवाज़ होती है. कभी-कभी वे अपने भक्तजनों से अपनी पीठ दबवाते हैं

तब छाती के नीचे तकिया रखकर दबाते हैं.

श्रीजीमहाराज जहाँ-जहाँ सहज भाव से बैठे होते हैं वहाँ तुलसी की माला से जप करते रहते हैं. कभी-कभी तो वे विनोदपूर्वक उस माला को दोहरी करके दो-दो मणकों को एकसाथ फेरते हैं. कभी-कभी तो वार्तालाप करते समय वे माला को इकट्ठी करके दोनों हथेलियों के बीच रखकर घिसते हैं. कभी माला न हो तो अपने हाथों की उँगलियो के पोरुओं को गिनते हैं. वे कभी नेत्रकमलों को मींचकर ध्यान करते हुए बैठते हैं तो कभी आँखें खुली रखकर ध्यान करते हुए विराजमान होते हैं. कभी-कभी वे ध्यान करते समय चमककर जग जाते हैं. जब कभी साधुगण उनके सामने वाद्यवृंद द्वारा कीर्तन करते हैं तब श्रीजीमहाराज ध्यानमग्न होकर बैठ जाते हैं. कभी चुटकी बजाते समय वे साधुओं के साथ मिलकर गाने लगते हैं. जब कभी साधु तालियाँ बजाकर कीर्तन करते हैं उस समय श्रीजीमहाराज स्वयं ताली बजाकर कीर्तन करने लगते हैं. जब कभी उनके आगे साधु वाद्यवृंद बजाकर कीर्तन करते हों या उनके सामने कथा बांची जाती हो और स्वयं अपने भक्तजनों के समक्ष वार्ता करते हों तब श्रीजीमहाराज खिसककर उनके समीप पहुँच जाते हैं. जब कभी कथा होती है तब वे बारंबार 'हरे' शब्द का उच्चारण करते हैं. वे अपनी अल्प भावभंगिमाओं के समय भी इस कथा का ध्यान करके कभी-कभी अचानक 'हरे' शब्द का उच्चारण करने लगते हैं और उसकी स्मृति आते ही अपने पास बैठे हुए भक्तजनों को देखकर मद-मंद हँसने लगते हैं. जब कभी वे प्रसन्नमुद्रा में वार्ता करते हों अथवा कथा कराते हों या कीर्तन कराते हों अथवा किसी विचार में मग्न होकर बैठे हों तब यदि कोई बीच में ही भोजन की बात पूछने के लिये आये अथवा कोई पूजा करने के लिये आये या हार चढ़ाने के लिये आये तो वे उसपर अत्यन्त रुष्ट हो जाते हैं.

कभी वे अपने भक्तजनों की सभा में बैठकर उनके सामने धर्म, ज्ञान और वैराग्ययुक्त भक्तिपर चर्चा करते हैं तो कभी योग, सांख्य, पंचरात्र एवं वेदान्त आदि शास्त्रों का रहस्य समझाते हैं. जब कभी वे अपने भक्तजनों की सभा में बैठकर उनके समक्ष धर्मादि संबंधी वार्ता करते हैं तब वे सर्वप्रथम अपनी दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर और ताली बजाकर सबको मौन रखते हैं और इसके पश्चात् वार्ता करते हैं. किसी समय जब भक्तजनों के

समूह की बड़ी सभा हुई हो और उनके आगे धर्मादि संबंधी वार्ता करनी हो तब वे दूर बैठनेवालों को भी अच्छी तरह अपने वचनामृत का पान कराने के लिये स्वयं उठकर खड़े हो जाते हैं और ताली बजाकर सबको शान्त रखने के बाद वार्ता करते हैं. कभी-कभी तो वे वार्ता के लिये इतने अधिक एकाग्रचित्त हो जाते हैं कि उन्हें अपने ओढ़ने के वस्त्र के खिसक जाने तक की सुध नहीं रहती, ऐसा उनका स्वभाव है. कभी-कभी जब वे अपने भक्तजनों की सभा में बैठते हैं तब अपने मुखारविन्द के समीप बैठे हुए साधुओं और हरिभक्तों से परस्पर प्रश्न कराते और उनका उत्तर दिलवाते हैं. उनमें यदि कोई कठिन प्रश्न पूछ बैठे और उसका जवाब न आवे तो सबको आनन्दित करते हुए वे स्वयं उसका उत्तर देते हैं. कभी तो वे वार्ता करते-करते पुष्पगुच्छ अथवा किसी बड़े फूल को हाथ में लेकर उसे मसल ड़ालते हैं और कभी-कभी वे वार्ता करते समय अपने रूमाल के कोने को मरोड़ते रहते हैं, ऐसा उनका सहज स्वभाव है. जब कभी उत्सव के अवसर पर विभिन्न क्षेत्रों से आये हुए उनके भक्तजन प्रीतिपूर्वक उनका जो भव्य पूजन-अर्चन करते हैं उसे वे अंगीकार (स्वीकार) कर लेते हैं. कभी उत्सव के अवसर पर उनकी पूजा करने के लिये भारी संख्या में सामूहिक रूप से आये हुए भक्तजन जब उन्हें पुष्पहार अर्पित करते हैं तब वे इन पुष्पहारों को अपने दोनों करकमलों से चरणारविन्द में तथा छड़ी पर ग्रहण करते हैं.

कभी तो वे निजी भक्तजनों को अपने दर्शनमात्र से समाधिस्थ करा देते हैं, तो कभी उन्हें तुरन्त ही समाधि से उठा देते हैं. यदि वे कभी स्वयं सभा में बैठे हों और किसी भक्तजन को अपने पास बुलाना हो तो नेत्रकमलों से संकेत करके अथवा अँगूठे के पास की उँगली से इशारा करके उसे बुला लेते हैं. कभी-कभी वे मोगरा आदि पुष्पों के हार को तथा नींबू आदि फलों को शीतल जानकर अपनी आँखों पर बारबार लगाते हैं. कभी वे भगवत्कथा कराकर स्वयं सुनते हैं अथवा स्वयं कथा करते हैं अथवा स्वयमेव भगवद्वार्ता करते हैं अथवा कीर्तन कराकर भक्तों के साथ मिलकर स्वयं गाते हैं अथवा साधुओं तथा ब्राह्मणों को भोजन कराते हैं. इस प्रकार के सत्कर्म किये बिना कभी भी निष्क्रिय नहीं रहना चाहिये, ऐसा उनका स्वभाव है. वे स्वयं भक्ति-धर्म संबंधी जो कार्य आरम्भ करते हैं उन्हें वे अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक सम्पन्न करते हैं. उन्हें जब छींक आती है तब

वे पहले से ही अपने रूमाल को खोल लेते हैं और उसे मुखारविन्द के आगे रखकर ऐसे ऊँचे स्वर से छींकते हैं ताकि उसे कुछ अंतर से सुना जा सके. उन्हें जब-जब इस प्रकार की छींक आती है तब वे इस तरह एकसाथ तीन बार छींकते हैं. उन्हें जब जम्हाई आती है तब वे 'हरि', 'हरि', 'हरि', शब्द का उच्चारण करते हैं और अपने हाथ से नेत्रकमलों को दो-तीन बार मसलते हैं. निष्काम भक्त द्वारा की गयी अपनी सेवा में वे स्वभावतः रुचि रखते हैं. उन्हें मज़ाक की किसी बात पर जब बहुत जोरों की हँसी आती है तब वे अपने रूमाल को मुखारविन्द पर आड़ा डालकर हँसते हैं.

जब कभी देशान्तर से साधु और प्रिय भक्तजन उनके समीप आते हैं तब वे उन्हें देखते ही प्रसन्न हो जाते हैं और तत्काल उठकर उन्हें छाती से लगाकर उनसे मिलते हैं. वे उनसे उन-उन देशों के समाचार पूछते हैं. कभी-कभी होनेवाले उत्सवों में जो साधु श्रीजीमहाराज के समीप रहने के बाद उन्हीं की आज्ञा से परदेश में जाते हैं उनसे वे प्रसन्न होकर मिलते हैं. कभी-कभी तो वे अपने भक्तजनों पर प्रसन्न होकर उनके मस्तक पर अपने दोनों हाथ रख देते हैं. जब कभी वे किसी भक्तजन पर प्रसन्न हो जाते हैं तो उसके हृदय पर अपने चरणारविन्दों को धारण करते हैं. जब कोई भक्तजन तत्काल उनकी आज्ञा का पालन करने की इच्छा से तत्पर हो जाता है तथा जो भक्त उनकी आज्ञा का अच्छी तरह पालन करके आया हो उसे देखकर वे प्रसन्न हो जाते हैं और उसके हृदय पर अपने चरणारविन्द रख देते हैं. किसी भक्तजन पर प्रसन्न होने पर वे उसे अपनी प्रसादीवाला पुष्पहार, तोरा, बाजूबंद और अपने वस्त्र-आभूषण दे देते हैं. अतिशय उदार स्वभाववाले श्रीजीमहाराज को स्वयं जो पदार्थ अत्यन्त प्रिय है और वह कितने ही भारी मूल्य का क्यों न हो, उसे देने का संकल्प वे मन में कर लेते हैं और तत्काल सत्पात्र को दे देते हैं, किन्तु देर नहीं लगाते.

कभी-कभी वे अपने हाथों और पैरों की उँगलियों को मरोड़कर बजाते हैं, तो कभी अपने समीप बैठे हुए भक्तजनों से अपने हाथों और पैरों की उँगलियों को मरोड़वाकर बजवाते हैं, जब कभी वे किसी प्राणी को दुःखी देखते या सुनते हैं तो तुरन्त दयायुक्त होकर 'राम', 'राम', 'राम', कहते हैं. वे प्रत्येक मनुष्य को दुःखी देखकर दयार्द्र हो जाते हैं और उनका चित्त खिन्न हो जाता है. बाद में प्रसन्न होकर वे उस मनुष्य का दुःख टालने के

लिये अन्नवस्त्रादि पदार्थ देकर उसे उपकृत करते हैं. यदि कभी कोई मनुष्य किसी को मारता हो तो उसे देखकर उन्हें दया आ जाती है और उन्हें यह दृश्य देखना सह्य नहीं होता, इसलिये वे तुरन्त हुंकार मारकर उसका निवारण कर डालते हैं. यदि कोई उनके सामने किसी साधु अथवा किसी हरिभक्त के प्रति अपशब्द बोलता है तो उसे सुनकर वे उससे स्वयं रुष्ट हो जाते हैं और उसका अनादर करके उसे प्रताड़ित करते हैं. उनके शरीर में उन्हें जब किसी प्रकार की कसर दिखती हो तो वे अपने बायें हाथ की उँगलियों से दाहिने हाथ की नाड़ी को देखते हैं और स्वयं जब सभा में से उठते हैं तब 'जय सच्चिदानन्द' अथवा 'जय स्वामिनारायण' कहकर और साधुओं को नमस्कार करके उनका उठने का स्वभाव है. मार्ग में जब वे घोड़े पर सवार होकर जाते हैं तब लीला करके कभी तो वे घोड़े की गर्दन पर अपना एक पैर लंबा रखकर उसे (घोड़े को) चलाते हैं. शयन करने से पूर्व वे सबसे पहले हाथ की उँगलियों को खड़ी करके ललाट पर तिलक करने की चेष्टा करके फिराते हैं. सोते समय वे अपनी माला माँगते हैं तथा उसे दाहिने हाथ में लेकर जप करते करते सो जाते हैं. शयन करते समय वे अपने मुखारविन्द को खुला रखकर ही सोते हैं. वे भरपूर नींद में होने पर भी थोडा स्पर्श होते ही तत्काल जग जाते हैं और पूछते हैं कि कौन है ?

इस प्रकार श्रीजीमहाराज की जो चेष्टाएँ हैं, उन्हें अपनी स्मृति के अनुसार लिखा है. इस तरह की अन्य कितनी ही चेष्टाओंवाले श्रीजीमहाराज ने श्रीगढडा में रहते हुए अपने भक्तजनों के संशय को दूर करने के लिये स्वधर्म, आत्मज्ञान, वैराग्य, निजस्वरूप के ज्ञान और माहात्म्यसहित अपनी भक्ति के लिये इन पाँच वार्ताओं संबंधी जो वचनामृत कहा है तथा वहाँ से दूसरे गाँव में जाकर जिस वचनामृत का वर्णन किया है उसीमें से कुछ वचनामृत श्रीजीमहाराज के एकान्तिक भक्तों की प्रसन्नता के लिये अपनी स्मृति और बुद्धि के अनुसार लिखते हैं.

समासतः प्रोक्तमिदं चरित्रं श्रीधर्मसूनोरिह यो मनुष्यः ।
पठिष्यति श्रोष्यति वापि भक्त्या स लप्स्यते वै पुरुषार्थसिद्धिम् ॥१॥

इति उपोद्घातप्रकरणम् ।

विषयानुसार वचनामृत की नोंध

१. जीव का स्वरूप :

प्र.७, प्र.३८, प्र.७८, सा.५, का.१, का.४, का.१२, लो १५, म.६६, वर ६, अं.४, अं.१०, अं.२२, अं ३९, जे.२

२. ईश्वर का स्वरूप :

प्र.७, प्र १२, सा.५, का.१, म १०, म.३१, अम २, अं.१०.

३. माया :

- **माया का स्वरूप :** प्र.१, प्र.७, प्र.१२, प्र.३४, सा.१४, सा.१९, का १२, लो १०, पं.३, म ३६, म.४५, म.६५, अं.१०, अं.३९.
- **माया से मुक्ति पाने का उपाय :** प्र.३७, प्र.६३, का.८, का.१२, लो ४, लो.१०, पं.७, म.३२, वर.५, जे.१.

४. पूर्व संस्कार - पूर्वकर्म (शुभ-अशुभ) :

प्र.११, प्र.१३, प्र.२४, प्र.२९, प्र.५५, प्र.५८, सा.९, लो.८, म.२७, म.२९, म ३५, म.३६, म.४४, म.४५, म.५९, वर.६, अं.२, अं.१३, अं.१८, अं.२०.

५. देश-कालादि आठ (शुभ-अशुभ) :

प्र.२, प्र.२९, प्र.५५, प्र.५९, प्र.७७, प्र.७८, लो.६, लो.१०, लो.१२, लो.१३, लो.१७, म.९, म.२१, म २७, म.३२, म.३९, म.४४, म.४५, म.५१, म.५६, वर २०, अं.११, अं.१४, अं.२०, अं.२४, अं.३७.

६. इन्द्रियाँ-अंतःकरण :

- **उत्पत्ति और स्वरूप :** प्र.१२, प्र.१८, प्र.३२, का.१२, लो.१५, पं.३, म.२,

म ४७, वर ५

- **मन :** प्र १२, प्र ३८, सा १, सा ७, लो १४, म २३, वर १, अं ६
- **बुद्धि :** प्र १२, प्र ३५, प्र ५०, प्र ७०, का १, का २ का ४, पं १, प ३, म ९, म ११ म १४, म २६, म ४४, म ५२, अम ३, अ १४, अं ३४
- **चित्त :** प्र १२, प्र २५, म ६
- **इन्द्रियों-अंत:करण पर विजय पाने का उपाय :** प्र ८, प्र १८, प्र ३८, प्र ७०, प्र ७३, सा १, सा ७, का ३, लो ५, लो ८, पं ३, म २, म ८, म १६, म ३३, अं ८, अ ११ अ ३२

७. **वासना-पंचविषय में आसक्ति :**

- **वासना क्या है ? :** प्र ११, अ १८, अ २०
- **वासना-त्याग की जरूर :** प्र २१, प्र २६, प्र ३८, प्र ६०, सा ८, सा ११, म ४५, म ५०, अम ३, अ १८, जे ३
- **वासना रहित होने का उपाय :** प्र २१, प्र २४, प्र ३८, प्र ५८ प्र ६०, प्र ७३, सा १, सा ५, लो १०, लो १६, लो १७, पं १, म १, म २, म १३, म १६, म २२, म २५, म ३३, म ४७, अम ३, अ १४, अ १८, अ २०, अं ३४, अ ३९, जे ३

८. **अंत-शत्रु :**

प्र २४, प्र ३५, प्र ४८, प्र ५८ प्र ६१, प्र ६८, प्र ७६, प्र ७८, लो १४, म १३, म ६०, अ २१, अ २७, अं २८

- **मलिन स्वभाव-प्रकृति :** प्र १, प्र ५७, सा १८, लो ८, म ७, म १५, म ३७, अं २०, अ २४, अ २७, अं ३५
- **काम :** प्र ७३, प्र ७६, का ३, लो १, लो ६, लो ८, लो १०, म ३३, म ३८, म ३९, म ४७, अं १९, अं ३८, जे २
- **क्रोध :** प्र ६९, लो १, लो १४, म १, म २७, अं.१, अं.१४, अं ३४, अम ८
- **लोभ :** प्र २७, प्र ३६, लो १७, म ४, अं २८, अं ३८
- **मोह :** सा १४, पं ७, म १, म ५३, वर २०.
- **मद-मान-देहाभिमान-अहंकार :** प्र ६, प्र ३५, प्र ४४, प्र ५६, प्र ६२, प्र ७२, सा ८, लो ६, लो १४, लो १६, लो १७, पं ३, पं ५, म २५, म ३२, म ४१, वर ११. अम ३, अं १२, अं २५, अं २६, अं २७, अं.२८, अं ३८, अम ७, जे ३
- **मत्सर-ईर्ष्या-असूया :** प्र ४, प्र.७१, प्र ७२, सा ८, का.६, म २८, म.४७, म ५२, अं १, अं ६
- **कपट-दंभ :** प्र ७६, का ३, लो ५, लो १६, म ३९, वर ५, अं २४, अं २५,

अं.२६, अं.३०.

- **जगत संबंधी स्नेह :** प्र.२१, प्र.२६, प्र.३४, प्र.३७, प्र.४४, सा.१, सा.१५, पं.३, म.३२, म.३६, वर.१९, अं.२, अं.३, अं.९, अं.१२, अं.१७, अं.१९, अं.३८.

९. भगवान का अवतार लेने का प्रयोजन :

का.५, म.१९, म.४६, अं.२१, जे.५.

- **जीवों के कल्याण के वास्ते मनुष्य जैसे :** प्र.५१, प्र.६३, प्र.६४, प्र.७१, प्र.७२, प्र.७८, का.१, का.७, पं.४, पं.७, म.६५, अं.३७, अं.३८.

१०. निश्चय-निष्ठा-आसरा-उपासना :

- **निश्चय आदि की महत्ता :** प्र.३१, प्र.३३, प्र.३७, प्र.५६, प्र.५७, प्र.६१, प्र.६२, प्र.६३, प्र.७२, का.७, लो.६, लो.७, लो.१०, लो.१८, पं.७, म.९, म.१०, म.१३, म.१४, म.१६, म.१७, म.३५, म.६१, म.६६, वर.१, वर.१०, वर.१२, वर.१४, अं.७, अं.१३, अं.३६, अं ३७, अश्लाली, जे.१
- **निश्चय-अनिश्चय के लक्षण :** प्र.६३, प्र.६८, प्र.७२, प्र.७५, प्र.७८, सा.१३, का.१, लो.१, लो.३, लो.१२, पं.४, म.५९, म.६६, वर.५, वर.१२, अं.३५
- **निश्चयादि दृढ़ होने के हेतु :** प्र.५१, प्र.७०, सा.१३, का.१२, लो.६, लो.१२, पं.७, म.१३, वर.१०, अं.२७, अं २८, अम ६, अम.७, अश्लाली.

११. माहात्म्य ज्ञान :

- **माहात्म्य समझने की आवश्यकता :** प्र १, प्र.२४, प्र २५, प्र.५७, प्र ६०, प्र.७३, सा.५, सा.१५, सा.१७, का.९, लो.१, लो.५, लो ८, लो.१०, लो.१६, लो.१७, पं.१, म.४, म.१२, म.१६, वर.३, अम.३, अं.५, अं.११, अं.२७, अं २८, अं.३९.
- **महिमा का विचार :**
  - (अ) **असाधारण ऐश्वर्य-प्रताप :** प्र.५६, प्र.५९, प्र.६२, प्र.६४, प्र.७८, सा.९, लो.१३, पं.४, म.४, म.५३, म.६७, अं.३२, अं.३७, अं.३९.
  - (ब) **भगवान का सुख :** सा.१, लो.१७, लो.१८, पं.१, पं.३, म.१, म.१०, म.५७, वर.९, वर.१६, अं.२७, अं.२८, अं.३९.

१२. उपासना :

- **सर्वकर्ता-हर्ता :**
  - (अ) **कर्ता-नियंता :** प्र.२७, प्र.३७, प्र.४१, प्र.५६, प्र.५९, प्र.६२, प्र.६३, प्र.७४, प्र.७८, का.१०, लो.१, लो.२, पं.१, पं.७, म.२१, म.३१, वर.२, अं.१३, अं.३५, अं.३८, अं.३९, अम.७, जे.५.

(ब) **अंतर्यामी-सर्वज्ञ-कर्मफल प्रदाता :** प्र.१३, प्र.४५, प्र.६२, प्र.६५, प्र.७८, म.२१, म.२७, म.६२, वर.६, अं.३७.

- **साकार :** प्र.३७, प्र.४०, प्र.४५, प्र.६४, प्र.६६, प्र.७१, का.४, का.७, लो.१४, लो.१५, लो.१६, लो.१८, पं.१, पं.७, म.९, म.१०, म.१३, म.३९, म.६४, वर.२, वर.१३, अं.७, अं.३०, अं.३२, अं.३५, अं.३६, अं.३८.
- **दिव्यभाव :**

(अ) **दिव्यभाव क्या है ? :** प्र.६३, प्र.७१, प्र.७२, का.७, लो.१८, पं.४, पं.७, म.४, म.१०, म.१३, म.१७, म.६५, वर.७, अं.१, अं.२, अं.२१, अं.३१, अम.४.

(ब) **दिव्यभाव समझने से लाभ, न समझने से हानि :** प्र.२४, प्र.५८, प्र.६७, प्र.७३, सा.१८, लो.४, लो.१८, पं.७, म.३३, म.५३, वर.५.

- **सर्वोपरी :** प्र.३१, प्र.५९, सा.१, लो.७, लो.१४, पं.१, पं.६, म.९, म.१३, अं.३१, अं.३६, अं.३८, अम.६, अम.७.
- **अद्वितीय स्वामी-सेवकभाव :** प्र.६४, का.८, का.१०, लो.४, लो.१३, पं.२, म.३, म.६७, अं.३७, अं.३९.
- **प्रगट :**

(अ) **श्रीजीमहाराज प्रगट भगवान :** प्र.३, प्र.२७, प्र.३१, प्र.३७, प्र.३८, प्र.४९, प्र.५६, का.२, का.८, पं.६, पं.७, म.१३, म.३५, अं.२८, अं.३१, अं.३५, अं.३८, अम.६, अम.७.

(ब) **प्रगट भगवान के संत की आवश्यकता :** प्र.२७, लो.७, म.२१, म.३२, म.५९, वर.१०, वर.१९, अं.२, अं.७, अं.३६, जे.१.

- **श्रीजीमहाराज का व्यक्तित्व श्रीजीमहाराज के शब्दों में :** प्र.१०, प्र.१८, प्र.२६, प्र.२९, प्र.३७, प्र.४४, प्र.६८, प्र.७०, प्र.७३, सा.२, का.३, का.६, का.१०, लो.३, लो.१४, पं.१, म.१, म.१३, म.१९, म.२२, म.२७, म.२८, म.३०, म.३३, म.३५, म.३९, म.४०, म.४५, म.४७, म.४८, म.४९, म.५०, म.५५, म.५६, म.६०, म.६२, म.६३, वर.११, वर.१६, वर.१८, अं.२, अं.१३, अं.१४, अं.२१, अं.२४, अं.२५, अं.२७, अं.३०, अं.३९, जे.३, जे.५.
- **अक्षरब्रह्म :**

(अ) **अक्षरब्रह्म की आवश्यकता :**

- परब्रह्म को स-तत्त्व जानने के लिए : प्र.४१, प्र.६३, म ३, म.४२.
- ब्रह्मरूप होने के लिए : म.२०, म.३१
- ब्रह्मरूप क्यों होना चाहिए ? : लो.७, लो.१२, म.३०, अम.२, सा.१२, म.३, म.८, म.६२.

(ब) **अक्षरब्रह्म का स्वरूप और उनकी महिमा :** प्र.७, प्र.२१, प्र.४६, प्र.६३, प्र.७१, सा.५, लो.१३, लो.१७, पं.१, म.२०, म.४२, अम.६.

१३. आज्ञा :

प्र.१५, प्र.३१, प्र.६३, प्र.७३, प्र ७८, सा.१८, का.११, का.१२, लो.३, लो ४, लो.६, म.७, म.१९, म.५१, अं.१८, अं.२७.

- **श्रीजीमहाराज की स्पष्ट आज्ञाएँ :** प्र.१७, प्र.१८, प्र.४८, सा.४, लो.१८, पं.३, म ८, म.१३, म २१, म ३१, म.३५, म.४०, म.४५, म.४७, म.४९, म ६१, वर ११, अं १, अं १९, अं.३९, अम.४, जे.१, जे ३, जे ५.

१४. एकांतिक धर्म – एकांतिक भक्त :

- **धर्म, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति :** प्र.१९, प्र.२१, प्र.२७, प्र.२९, प्र ३६, प्र.४४, प्र.४७, प्र.५४, प्र ७५, सा १८, लो.१, लो.६, लो.९, लो.१६, लो.१७, पं.३, म १५, म.१९, म.२२, म.२६, म.३२, म.३८, म.४८, म ६५, म.६६, वर ३, अं.१३, अं.२१, अं.३३.
- **भगवान का निश्चय ही एकांतिकपना :** प्र.६६, पं.७, म ९, म १४, म.१७, वर.१, अश्लाली.
- **निर्वासनिक ही एकांतिक :** प्र.११, प्र.३८, प्र.४३, प्र.६०, सा ११, म १
- **भगवान में दृढ संलग्नता ही एकांतिकपना :** म.४८, म.५५

एकांतिक धर्म के अंग :

- **स्वधर्म-नियम :** प्र ८, प्र.१८, प्र.२५, प्र.३४, प्र ४२, प्र.५४, प्र.७७, प्र.७८, सा.९, का.७, लो.१, लो.५, लो.६, पं ३, म.२, म ४, म.६, म.९, म.१३, म.१६, म.३३, म.३५, म.३९, म.५१, म.६१, म.६२, वर.१०, वर.१७, वर.१८, अं.८, अं.११, अं.१४, अं.२८, अं.२६, अं.२७, अं.२९, अं.३२, अं.३३, अं.३४, अं ३८, जे ३, जे.४, जे.५.
- **तप-देहदमन :** प्र.३८, सा.२, का.३, का.१०, लो.१, लो.५, लो.८, लो.१४, म.८, म.३३, अं.११, अं.२४, अं.३२.
- **आत्मनिष्ठा :**

  (अ) **आत्मनिष्ठा का महत्व :** प्र.१९, प्र.२१, प्र २३, प्र.२५, प्र.३२, प्र ३७, प्र ४८, प्र.६०, प्र ६१, प्र.७३, सा.१, सा.४, सा.९, सा १४, सा.१५, का.३, लो १, लो.२, लो.५, लो.६, लो.८, लो.१०, लो.१७, म.१, म.२, म ६, म.३०, म.३२, म.३३, म.३५, म.४५, म.५१, म.५७, म.६०, म.६२, म.६३, वर.११, वर.२०, अम.२, अम.३, अं १, अं.३, अं.१९, अं २०, अं.२१, अं.२४, अं.२६, अं.३३, अं.३९.

  (ब) **आत्मनिष्ठा की गौणता :** प्र.६१, का.१, म.२६, म.६३, म.६५,

म.६६, अं.५, अश्लाली.

(क) **आत्मनिष्ठा दृढ होने में तीन प्रमुख हेतु :**

- १ उपासना-भक्ति : प्र.५६, सा.१५, म.३५, अं.२२, अं ३६.
- २. आत्मविचार : प्र.२०, सा.१, सा.४, सा.१२, लो १०, लो १७, पं.३, म.२, म.१२, म.६२, म.६३, अं.३९.
- ३. सत्पुरुष : प्र.१६, लो १०, म.५१, म.६६, वर.११, जे १

• **वैराग्य :**

(अ) **वैराग्य की महत्ता :** प्र.१९, प्र.३४, प्र.६०, सा.११, सा.१५, का.७, लो.१७, म.७, म ३०, म.६०, अं.१, अं ३, अं ८, अं.११, अं.२४, अं २९, अं.३३, अं ३४.

(ब) **वैराग्य के लक्षण :** प्र २, प्र.२६, प्र.४४, प्र.४७, लो.१, अं.३०.

(क) **वैराग्य दृढ होने के कारण :**

- विचार : प्र.१२, सा २, लो ९, लो १०, पं १, म १, म.१०, म.२४, म.४७, वर.१७, वर १९, अं.१४.
- आत्मा-परमात्मा का ज्ञान : प्र ५६, प्र ७३, सा.१, लो.१०, अं.२४, अं.३९.
- शास्त्र और सत्पुरुष : प्र ८, सा.७, सा ११, सा.१८, का.७, अं २९
- स्वानुभव : म १६, म.२५.

• **भक्ति :**

(अ) **भक्ति का महत्व :** प्र.१९, प्र.३७, प्र ५६, प्र ६१, सा ५, लो.७, लो.१६, म १०, म २६, म २७, म २८, म ३२, म ३३, म.६२, म.६५, म.६६, वर.३, अं.११, अं १५, अं २०, अं २२, अं २४, अं.३०, अं.३२, अं.३४, जे.५.

(ब) **भक्तिवाले के लक्षण :** प्र.५, प्र १५, प्र २६, प्र ३१, प्र.३७, प्र.४०, प्र.४७, प्र.७६, का १०, म.१०, म.११, म १९, वर.१७, जे.३.

- लीला चरित्र : प्र.३, प्र.३८, म.३५, म.५८.

(क) **निर्विघ्न भक्ति :** प्र.१९, प्र.२३, प्र ७८, सा.१, सा.५, सा १५, म.३, म.३२, म.४३, म.५२, म.५७, म.६५, अं.१, अं.५, अं.६, अं.८, अं.९, अं.१९, अं.२०, अं.२१, अं.२८, अं ३३, अं.३६.

!५. भगवान में प्रीति-हेत-प्रेम-स्नेह :

• **प्रीति की महत्ता :** प्र.३३, सा.११, सा.१५, लो.२, म.९, म.३६, म.५९, म.६३, वर.११, अं.८, अं.११, अं.२९, अं.३४, जे.१.

- **प्रीति एवं पतिव्रता की दृढ़ निष्ठा वाले के लक्षण :** प्र.२६, प्र.३६, प्र.४४, प्र.५७, का.११, लो.२, लो.४, लो.६, लो.११, लो.१४, पं.३, म.१, म.५, म.३८, म.४३, म.५०, म.५४, म.५६, म.५७, म.५९, म.६२, वर.१९, अं.१, अं.७, अं.१३, अं.१६.
- **भगवान एवं संत से प्रीति कैसे हो ? :** प्र.१, प्र.८, प्र.४४, प्र.५९, सा.२, लो.१०, म.१०, अं.३, अं.१४, अं.२३.

१६. अखंडवृत्ति - अखंड चिंतवन - अखंड स्मृति :

- **अखंडवृत्ति की महत्ता :** प्र.१, प्र.२२, प्र २३, प्र.२४, प्र.२५, सा.११, म.४८, म.४९, अम.३, जे.४.
- **अखंडवृत्ति कठिन है :** प्र.१, प्र.४९, का.७, म.४, म.३६.
- **अखंडवृत्ति दृढ़ होने के उपाय :** प्र.२१, प्र.२२, प्र.२३, प्र २५, प्र.२६, प्र.३२, प्र.३४, प्र.४९, प्र.७८, का.७, म.४, म.३६, म.४९.

१७. ध्यान :

प्र.५, प्र.१५, प्र.३२, सा.९, सा.१२, का.१, का.१२, लो.५, लो १०, लो.११, लो.१८, पं.२, म.१०, म.१२, म.१३, म.१९, म ३५, वर.४, वर.८, अम १, अं २३, अं.३१, अं.३६.

१८. प्रतिलोमवृत्ति-अंतःदृष्टि-सतत जागृति :

प्र.२०, प्र.२३, प्र.४९, प्र.५६, सा.१०, का.३, म.८, म.२२, म.५५, अं.९, अं ३०.

१९. श्रद्धा :

प्र.५, प्र.१५, सा.५, सा.९, सा.११, सा.१८, लो.८, लो.१२, म.४, म.१६, म.५२, अं.२४, अं.२५.

२०. कल्याण का स्वार्थ यानी कि गरज :

प्र.६, प्र.५७, सा.१०, लो.३, लो.६, लो.१७, म.१५, म.१७, म.३७, म.४७, अम.३, अं.१, अं.२४, अं.२७, अं.३४.

२१. कथावार्ता-सत्संग-संतसमागम :

प्र.१, प्र.२, प्र.८, प्र.१४, प्र.२१, प्र.२९, प्र.३०, प्र.५१, प्र.५९, प्र.७०, सा.७, सा.९, सा.१८, का.१, का.३, का.१२, लो.५, लो.८, म.२९, म.४९, म.५४, म.६६, अं.२, अं.२४, अं.३३.

२२. सेवा :

प्र.८, प्र.१०, प्र.३१, प्र.४३, प्र.४७, प्र.५५, प्र.७१, सा.९, लो.८, म.७, म.२५, म.२८, म.२९, म.४०, म.४१, म.४७, म.५२, म.५९, म.६२, म.६३, वर.३, वर.५,

अम.३, अं.५, अं.२६, अं.३४, अं.३५.

२३. पक्ष :

प्र.७८, लो.६, पं.५, म.५, म.२६, म.२८, म.६०, म.६१, म.६३, वर.११, अं.७, अं.२१.

२४. अभाव-अवगुण-द्रोह :

- **अभाव-अवगुण-द्रोह से हानि :** प्र.१, प्र.६, प्र.१६, प्र.२८, प्र.३१, प्र.३५, प्र.५३, प्र.६२, प्र.६७, प्र.७१, प्र.७२, प्र.७८, का.२, लो.१, लो.१६, लो.१८, पं.३, म.११, म.२६, म.२७, म.२८, म.४०, म.४४, म.४६, म.४७, म.५३, म.६३, म.६५, म.६६, वर.११, वर.१२, वर.१४, वर.१५, अं.१, अं.११, अं.१२, अं.२१, अं.२२, अं.३५, जे.३.
- **अभाव-अवगुण-द्रोह क्यों होते हैं ? :** प्र.६, प्र.३५, प्र.६२, का.२, लो.८, लो.१६, म.४०, म.४४, वर.११, वर.१२, वर.१५.
- **अभाव-अवगुण-द्रोह कैसे क्षम्य होते हैं ? - उनसे कैसे बच सकते हैं ? :** का.२, का.९, लो.१, लो.१६, लो.१७, म.१७, म.५९, वर.११, अं.१.
- **गुणग्राहक दृष्टि :** प्र.६, प्र.१६, प्र.२४, प्र.२८, प्र.५३, प्र.५८ प्र.६७, लो.५, म.२६, वर.१४.

२५. कुसंग :

प्र.८, प्र.९, प्र.१६, प्र.१७, प्र.१८, प्र.२९, प्र.४२, प्र.४८, प्र.५५, प्र.५८, प्र.६८, प्र.७०, प्र.७८, सा.१८, का.१०, लो.६, लो.१३, म.६, म.१८, म.१९, म.३२, म.३५, म.४४, वर.१२, वर.१५, वर.२०, अं.३, अं.३२, अं.३६, अं.३८.

२६. भगवद्विमुख :

प्र.३५, प्र.७२, प्र.७६, प्र.७७, प्र.७८, सा.९, का.९, लो.१, लो.१७, लो.१८, म.५, म.९, म.११, म.२६, म.३८, म.४७, म.५३, म.६०, वर.११, वर.१२, वर.१८, अं.१२, अं.३२, अं.३५.

२७. यथार्थ भक्त, पूरा भक्त, परिपक्व सत्संगी, प्रसन्नता प्राप्त भक्त, अनन्य भक्त :

प्र.१४, प्र.२६, प्र.३८, प्र.४९, प्र.५८, प्र.७२, प्र.७३, प्र.७६, सा.१५, का.६, का.९, का.११, लो.१, लो.७, म.१०, म.२५, म.३८, म.४१, म.४४, म.४८, म.५०, म.५२, म.६०, म.६१, म.६२, वर.१७, वर.१९, वर.२०, अम.२, अं.५, अं.१४, अं.२४, अं.२५, अं.२६, अं.२८, अं.३९, अश्लाली, जे.३.

२८. सच्चे संत और उनके लक्षण :

प्र.१४, प्र.२७, प्र.३६, प्र.३७, प्र.३८, प्र.४४, प्र.५६, प्र.६२, प्र.६७, प्र.६९, सा.१०,

का.३, का.६, का.१०, म.२२, म.२३, म.२५, म.२७, म.३३, म.४७, म.४८, म.५२, म.५३, म ६१, वर.३, वर.१०, वर.११, अं.२६, अं.२७, अं.३५, अं.३९.

२९. सत्पुरुष की आवश्यकता :

प्र.१९, प्र.२७, प्र.३७, प्र.४३, प्र.४४, प्र.५१, प्र.५४, प्र.५५, प्र.५८, प्र.५९, प्र.६०, प्र.६४, प्र.६६, सा.७, सा.१०, सा.१८, लो.११, लो.१२, पं.२, पं.७, म.७, म.१३, म.१४, म.२९, म.३७, म.४८, म.५१, वर.३, वर.४, वर.५, वर.१०, वर.११, वर.१२, वर.१४, अं.२, अं.५, अं १४, अं १८, अं.२७, अं.२९, अं.३८, अश्लाली, जे.१.

३०. श्रीजीमहाराज ने की हुई विशिष्ट बातें :

- **स्वमत :** प्र.३८, म ९
- **प्रत्यक्ष देखी हुई बात - आजमाई हुई बात :** प्र.६४, म.१३, अं.३९.
- **स्वनिश्चय व सिद्धांत की बात :** का.१०, लो.१३, पं.१, म.८, म.१३, म.२१, म.२७, म.३५, म.४३, वर.२०, अं.७, अं.१०, अं.१५, अं २१, अं.२६, अं.३२, अं.३३, अं.३६, अं.३८.
- **रुचि :** लो.१४, म.३३, म.४९, अं.२१.
- **रहस्य-अभिप्राय :** म.१, म.२१, म.२८, म.५०, वर.१६, अं.२, जे.१.
- **सर्वशास्त्र के साररूप वार्ता :** प्र ५२, पं.२, पं.४, म.१, म ८, म.१३, म.२१, म.२८, म.३९, म.५९, म.६४, वर २, वर.१८, अं.१०, अं.३६, अं.३८.

वचनामृत संक्षिप्ताक्षर बोध सूचि

प्र.	गढडा प्रथम प्रकरण	**म.**	गढडा मध्य प्रकरण
सा.	सारंगपुर प्रकरण	**वर.**	वरताल प्रकरण
का.	कारियाणी प्रकरण	**अम.**	अहमदाबाद प्रकरण
लो.	लोया प्रकरण	**अं.**	गढडा अंत्य प्रकरण
पं.	पंचाला प्रकरण	**जे.**	जेतलपुर प्रकरण (अवशिष्ट वचनामृत)

वचनामृतमाहात्म्यम्

वेदान्तेषु मितं निजस्य परमं रूपं च सांख्योदितं
तत्त्वानां निचयं यमादिसहितं योगं च योगेरितम् ।
एकान्ताभिधधर्मवर्यमपि च श्रीपांचरात्रोदितं
नैजान् श्रीवचनामृतेन गमयन् स्यान्मे गतिः श्रीहरिः ॥१॥

मुक्तराजान् योगिवर्यान् ज्ञानिनश्च मुनीश्वरान् ।
वाक्यामृतप्रबन्धृंस्तान् सद्गुरून् चतुरो नुमः ॥२॥

संसारसर्पदष्टानां पुनर्जीवनकांक्षिणाम् ।
भेषजं सन्मतं त्वेकं राजते वचनामृतम् ॥३॥

हरिकृष्णवदनचन्द्रादमृतनदीयं विनिःसृता सरसा ।
सद्गुरुभिः कृतबन्धा प्रवहति तापार्तजीवसस्यचये ॥४॥

मतिमन्थानमाविध्य सर्वशास्त्रपयोनिधेः ।
प्रादुष्कृत्य सुधा दत्ता सेयं श्रीहरिणा भुवि ॥५॥

सच्छास्त्राख्यपयोऽम्बुराशित इयं त्वाविष्कृता सारतः
संसाराग्निविदीपनव्यपगतप्राणात्मसंजीवनी ।
ब्रह्मानन्दफलप्रदा भवभयप्रध्वंसनी देहिनां
सेव्या श्रीहरिकृष्णवाङ्मयसुधा शान्त्यर्थिभिः सन्ततम् ॥६॥

सहजानन्दमुखेन्दोर्विनिःसृतं त्रिविधतापशोकघ्नम् ।
विबुधचकोराः पिबत श्रोत्रपुटाभ्यां सुधारसं त्वेनम् ॥७॥

मा मा भ्राम्यत तर्ककर्कशमहाशास्त्राटवीष्वन्वहं
दुर्गम्यासु भयंकरीषु पुरुधा वादीन्द्रसिंहारवैः ।
श्रेयोऽर्थं सदसद्विवेकमभिकांक्षन्तो हि यूयं सदा
सेवध्वं वचनामृतं भगवतः सर्वार्थसंसिद्धिदम् ॥८॥

असारमल्पसारं च सारं सारतरं तथा ।
त्यक्त्वा सारतमं शास्त्रं सेवध्वं वचनामृतम् ॥९॥

अधर्मसर्गनिर्जयस्य साधनानि कात्स्न्र्यतः
तथाऽऽर्जनस्य साधनानि धर्मसर्गसम्पदाम् ।
स्फुटानि सन्ति सज्जना भवाहिवीर्यभन्जना-
न्यनुत्तमे हरेर्वचः सुधामयेऽत्र चोत्तमे ॥१०॥

प्रश्नोत्तरैर्विशदयद्गहनं च तत्त्वम्
स्वान्तान्धकारविनिवर्तनबद्धदीक्षम् ।
सद्धर्मबोधहरिभक्तिविवृद्धिकारं
वन्दे सदा हरिवचोऽमृतदिव्यशास्त्रम् ॥११॥

हरिवचनामृतशास्त्रं त्वपरं रूपं हरेः परं साक्षात् ।
दर्शयतु भावमखिलं कृपया परया स्फुटं गभीरं स्वम् ॥१२॥

☆ ☆ ☆

वचनामृत की मूल संख्या

गढडा प्रथम प्रकरण	७८
सारंगपुर	१८
कारियाणी	१२
लोया	१८
पंचाला	७
गढडा मध्य प्रकरण	६७
वरताल	२०
अमदावाद	३
गढडा अंत्य प्रकरण	३९
	२६२

भक्तराज दादाखाचर का राजभवन, श्रीगढडा

यहाँ तीनों ओर स्थित बरामदे एवं सामने वासुदेवनारायण के बरामदे तथा बीच में नीमवृक्ष के नीचे विराजमान होकर श्रीजीमहाराज ने वचनामृत उद्बोधित किये थे ।

परमहंसों का निवासस्थान, श्रीगढडा
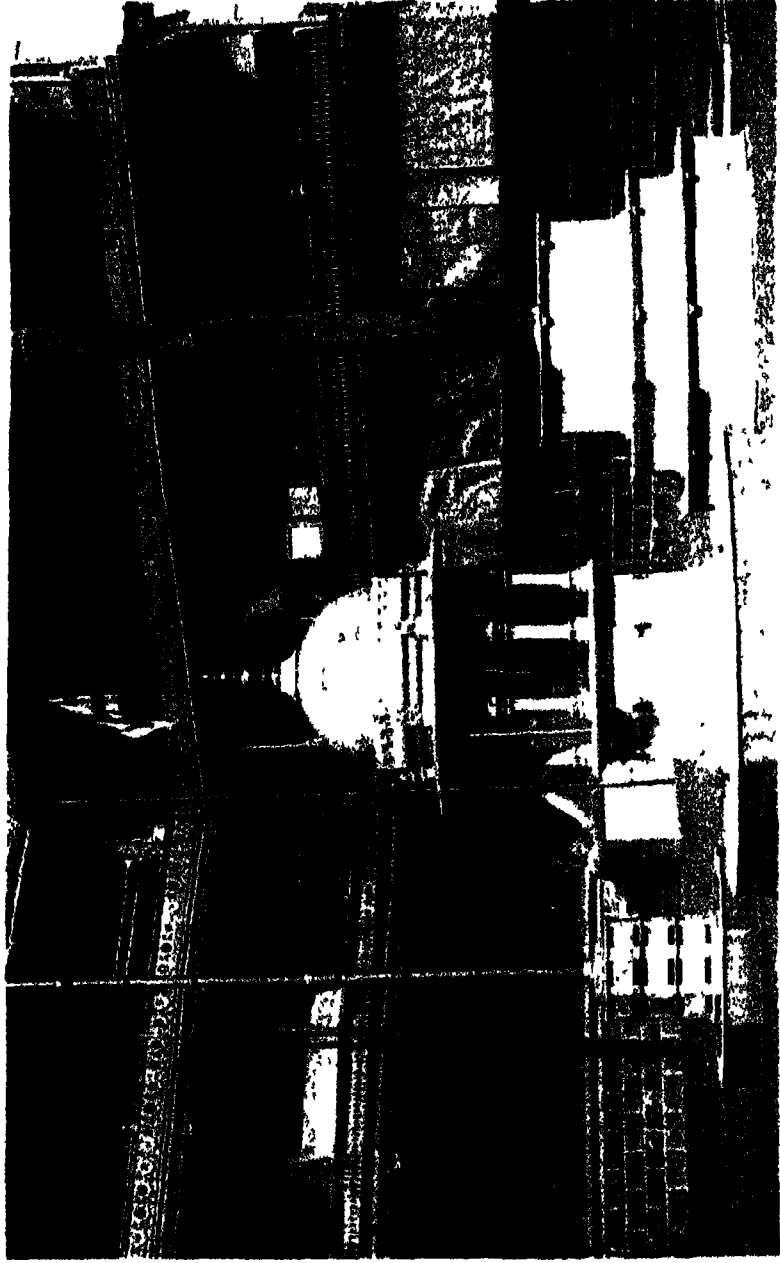
यहाँ पर विराजमान होकर श्रीजीमहागज ने वचनामृत उद्बोधित किये थे ।

।। श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ।।

श्रीगढडा प्रथम प्रकरण के वचनामृत

निजैर्वचोऽमृतैर्लोकेऽतर्पयद्यो निजाश्रितान् ।
प्रीतो नः सर्वदा सोऽस्तु श्रीहरिर्धर्मनन्दनः ।।१।।

वचनामृत १ : भगवान के स्वरूप में मन की अखंड वृत्ति

संवत् १८७६ में मार्गशीर्ष शुक्ल* चतुर्थी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में साधुओं के निवासस्थान पर रात्रि[१] के समय पधारे थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष साधुओं तथा देशदेशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'समस्त साधनाओं[२] में कौन-सी साधना कठिन है ?' तब सभी ब्रह्मचारियों, साधुओं तथा गृहस्थों ने अपनी समझ के अनुसार उत्तर दिया, परन्तु वह वास्तविक[३] नहीं था. इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि 'हम उत्तर देते हैं और वह यह है कि भगवान के स्वरूप में मन की अखंड[४] वृत्ति रखने की अपेक्षा अन्य कोई भी साधना कठिन नहीं है. जिस मनुष्य की मनोवृत्ति भगवान के स्वरूप में अखंड रहती है उससे अधिक कोई अन्य उपलब्धि शास्त्रों में नहीं बतायी गयी है, क्योंकि भगवान की मूर्ति तो चिंतामणि के समान है. जिस प्रकार किसी पुरुष के हाथ

---

* सोमवार, २१ नवम्बर, १८१९.

१ वासुदेवनारायण की सन्ध्या-आरती होने के बाद.

२. भगवान की प्रसन्नता का कारणभूत स्वधर्म, तप आदि उपाय

३. यथार्थ

४. तैलधारा के समान अविच्छिन्न.

में चिंतामणि रहने पर उसकी इच्छा के अनुसार उसे सभी पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं, उसी तरह भगवान की मूर्ति में जिसकी अखंड मनोवृत्ति रहा करती है वह यदि जीव, ईश्वर, माया और ब्रह्म के स्वरूप[१] को देखने का इच्छुक हो तो वह उसे तत्काल देख सकता है और उसे भगवान के वैकुंठ, गोलोक, ब्रह्मधाम आदि धाम भी दिखायी पड़ सकते हैं. इसलिये, भगवान के स्वरूप में अखंड वृत्ति रखने से बढ़कर कोई भी साधना कठिन नहीं है और उससे अधिक कोई महान उपलब्धि भी नहीं है.'

इसके बाद हरिभक्त सेठ गोवर्धनभाई ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'जिसे भगवान की माया कहते हैं उसका स्वरूप क्या है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवद्भक्त जब भगवान की मूर्ति का ध्यान करता हो उस समय जो पदार्थ[२] बाधा उपस्थित कर आवरण डाले उसे ही माया[३] कहते हैं.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान का भक्त जब पँचभौतिक देह को छोड़कर भगवान के धाम में जाता है तब वह किस प्रकार का शरीर प्राप्त करता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'धर्मकुलाश्रित भगवान का भक्त भगवान की इच्छा के अनुसार ब्रह्ममय[४] देहप्राप्त करता है और जब वह अपनी देह का त्याग करके भगवान के धाम में जाता है तब कोई गरुड़ पर, कोई रथ पर और कोई विमान में बैठकर वहाँ जाता है. इस प्रकार भगवद्भक्त भगवान के धाम में जाता है. योगसमाधिवाला पुरुष उसे प्रत्यक्ष रूप से देखता है.'

हरिभक्त ठक्कर हरजी ने श्रीजीमहाराज से पूछा कि 'कुछ लोग तो बहुत दिन तक सत्संग[५] करते हैं फिर भी उन्हें अपनी देह और उसके सम्बन्ध में जैसा अधिकाधिक ध्यान लगा रहता है वैसा अनुराग उन्हें

---

१. पृथक्-पृथक्.

२. स्त्रीपुत्रधनादि.

३. माया से देहादि में अहम्मन्यता होती है. उससे स्त्रियों आदि पदार्थों का संकल्प होता है. किन्तु, यह विघ्नरूप होता है, इस कारण अखंड ध्यान नहीं हो पाता.

४. दिव्य.

५. सत् शब्द से वर्णित भगवान, सत्पुरुष, सद्धर्म और सच्छास्त्र, इन चारों का यथायोग्य संग.

सत्संग में नहीं रहता, इसका क्या कारण है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'ऐसे पुरुषों को भगवान के माहात्म्य का सम्पूर्ण रूप से ज्ञान नहीं हो पाया है. जिन साधुओं के सत्संग द्वारा भगवान के माहात्म्य का पूर्ण रूप से ज्ञान हुआ है वे साधु जब अपने स्वभाव[1] के सम्बन्ध में बात करते हैं तब वे अपने स्वभाव का त्याग नहीं कर सकते और ऐसी बात करनेवाले जो साधु हैं, उनमें यह दोष[2] देखते हैं तब उस[3] पाप के कारण सत्संग में अच्छी तरह मन नहीं लगता, क्योंकि अन्य[4] स्थल पर किये गये पाप सन्त के संग से दूर हो जाते हैं और सन्त के विषय में जो पाप करता है वे तो सन्त[5] के अनुग्रह के बिना किसी भी तरह के अन्य साधनों[6] से नहीं टलते. यही बात शास्त्रों में कही गयी है कि '**अन्यक्षेत्रे कृतं पापं तीर्थक्षेत्रे विनश्यति । तीर्थक्षेत्रे[7] कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति ॥**'

इसलिये, जो पुरुष सन्त के प्रति इस अवगुण को ग्रहण नहीं करता उसकी सत्संग में दृढ़तापूर्वक अनुरक्ति हो जाती है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१॥

वचनामृत २ : तीन प्रकार का वैराग्य

संवत् १८७६ में मार्गशीर्ष शुक्ल *पंचमी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में रात्रि के समय विराजमान थे और उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष साधुओं तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज से मयाराम भट्ट ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! उत्तम,

---

* मंगलवार, २२ नवम्बर, १८१९.

१ माहात्म्य-ज्ञान में विरोधी कामलोभादि

२ यह तो अविवेकी है, एकदेशीय ज्ञानवाला है, दीर्घदर्शी नहीं, व्यवहार को नहीं जानता, केवल वार्ता करने में चतुर है, इत्यादि

३. अवगुणरूप.

४. 'अन्यक्षेत्रे', इस श्लोक का तात्पर्यार्थ

५. 'जिसका अपराध करता है उसे प्रसन्न करने से ही वह उस दोष से मुक्त होता है, अन्य प्रायश्चित्तादि उपायों से नहीं', ऐसा स्मृतियों में कहा गया है.

६. प्रायश्चित्तादि.

७. साधुरूप.

मध्यम तथा कनिष्ठ संज्ञक तीन प्रकार का जो वैराग्य है उसका क्या लक्षण है ? कृपया बताइये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसका उत्तम[१] वैराग्य होता है वह परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार अथवा अपने प्रारब्ध कर्मवश व्यावहारिक जीवन में बना रहता है, परन्तु व्यवहार में वह जनक राजा के समान निर्लिप्त रहता है. शब्द, रूप, रस और गंध नामक पाँच प्रकार के उत्तम विषय उसे अपने प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त होते हैं और वह उन्हें भोगता है. परन्तु, वह इनमें अनुरक्त रहे बिना ही उदासीनतापूर्वक इन्हें भोगता है. ये विषय उसका लोप नहीं कर सकते और उसका त्याग क्षीण नहीं पड़ता. वह विषयों में निरन्तर दोष ही देखता रहता है. ऐसा पुरुष इन विषयों को शत्रु के समान समझता है. वह सन्त, सत्शास्त्रों तथा भगवान की सेवा में निरन्तर मग्न रहता है. देश, काल एवं संग आदि कठिन आने पर भी उसका ज्ञान क्षीण नहीं होता. ऐसे पुरुष को उत्तम वैराग्यवाला कहते हैं. जिसे मध्यम वैराग्य होता है वह भी पाँचों प्रकार के उत्तम विषयों को भोगता है, परन्तु उनमें आसक्त नहीं होता. यदि देश, काल तथा संग कठिन आ जायें तो विषयों में आसक्ति हो जाती है और वैराग्य मंद पड़ जाता है. ऐसे पुरुष को मध्यम वैराग्यवाला कहते हैं. जो कनिष्ठ वैराग्यवाला होता है उसे सामान्य[२] एवं दोषयुक्त पाँच विषय प्राप्त होते हैं. इन विषयों को भोगने पर भी वह उनमें आसक्त नहीं होता. यदि उत्तम पाँच विषय प्राप्त हों और वह उन्हें भोगे तो उनसे आबद्ध हो जाता है. ऐसे पुरुष को मंद वैराग्यवाला कहते हैं.'

॥ इति वचनामृतम् ॥२॥

वचनामृत ३ : लीलाचरित्र-स्मरण

संवत् १८७६ में मार्गशीर्ष शुक्ल *षष्ठी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में रात्रि के समय विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर

---

* बुधवार, २३ नवम्बर, १८१९.

१. तीन प्रकार के वैराग्यवाले पुरुषों के लक्षणों के वर्णन का अर्थ तीन प्रकार के वैराग्य-लक्षण हैं.

२. साधारण, क्षुद्र.

के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस पुरुष को अंतस्तल में भगवान की मूर्ति अखंड[१] रूप से दिखायी पड़ती हो उसे भी भगवान के प्रत्येक अवतार तथा स्थान का, जहाँ उन्होंने लीला करी हो, स्मरण करते रहना चाहिये. उसे ब्रह्मचारियों, साधुओं एवं सत्संगियों के साथ प्रेम रखना चाहिये और इन सबका ध्यान (स्मृति) रखना चाहिये. वह इसलिये कि कभी देह-त्याग के समय यदि भगवान की मूर्ति विस्मृत हो जाय तो भी भगवान ने जिन स्थानों में लीलाएँ की हैं उनकी स्मृति हो जाय और सत्संगी हरिभक्तों, ब्रह्मचारी साधुओं की स्मृति हो जाय और उसके योग के फलस्वरूप उसे भगवान की मूर्ति का भी स्मरण हो जाता है, तथा उस जीव को उच्च पद प्राप्त होता है और उसका कल्याण हो जाता है. इसके लिये बड़े-बड़े विष्णुयागों और प्रतिवर्ष जन्माष्टमी तथा एकादशी आदि व्रतों का आयोजन करते हैं और उनमें ब्रह्मचारियों, साधुओं तथा सत्संगियों को एकत्र करते हैं. यदि कोई पापी जीव भी हो और उसे अपने एकान्तिक समय ऐसी स्मृति हो जाय तो उसे भी भगवान का धाम प्राप्त होता है.' ।। इति वचनामृतम् ।।३।।

वचनामृत ४ : नारदजी जैसी ईर्ष्या

संवत् १८७६ में मार्गशीर्ष शुक्ल *सप्तमी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्वेत वस्त्र धारण करके विराजमान थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष साधुओं तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान के भक्तों को परस्पर ईर्ष्या[२] नहीं करनी चाहिये.' तब आनन्दानन्द स्वामी बोले कि 'हे महाराज ! ईर्ष्या तो रहती है.' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि ईर्ष्या ही करनी है तो वह नारदजी जैसी होनी चाहिये. एक बार नारदजी और तुंबरु दोनों वैकुंठ में लक्ष्मीनारायण के दर्शन करने गये. उस समय तुंबरु ने लक्ष्मीनारायण के समक्ष स्तोत्र-गान किया, उससे लक्ष्मी और नारायण, दोनों प्रसन्न हो गये तथा उन्होंने तुंबरु को

---

* गुरुवार, २४ नवम्बर, १८१९.

१. निरन्तर तीनों अवस्थाओं में.

२. ईर्ष्या का अर्थ यह है कि अपने समान किसी दूसरे की उन्नति न होने पावे.

अपने वस्त्र और आभूषण दे दिये. तब तुंबरु के प्रति नारदजी को ईर्ष्या उत्पन्न हो गयी और उन्होंने कहा कि 'मुझे तुंबरु जैसी गानविद्या सीखकर भगवान को प्रसन्न करना चाहिए.' इसके बाद नारदजी ने गानविद्या सीखी और भगवान के सामने स्तुति-गान किया. तब भगवान ने कहा कि 'तुम्हें तुंबरु जैसा गाना नहीं आता' नारदजी ने शिवजी को प्रसन्न करने के लिये तपस्या की. उन्होंने उनसे वरदान प्राप्त कर गानविद्या सीखी और वे भगवान का गुणगान करते रहे. इस पर भी भगवान प्रसन्न नहीं हुए. इस प्रकार नारदजी ने सात मन्वन्तर तक गानविद्या सीखी तथा वे भगवान का गुणगान करते रहे. फिर भी, भगवान प्रसन्न नहीं हुए. तब उन्होंने तुंबरु से गानविद्या सीखी और द्वारिका में श्रीकृष्ण भगवान के सम्मुख स्तोत्र-गान किया. तब श्रीकृष्ण भगवान प्रसन्न हो गये और उन्होंने अपने वस्त्र एवं अलंकार नारदजी को दे दिये. तब नारदजी को तुंबरु से ईर्ष्या समाप्त हो गयी. इसलिये, यदि ईर्ष्या करनी हो तो इस प्रकार की करनी चाहिये. जिससे ईर्ष्या हो उसके गुणों को ग्रहण करना चाहिये और अपने अवगुणों का परित्याग कर देना चाहिये. यदि ऐसा न हो सके तो भगवान के भक्त को उस ईर्ष्या का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये, जो भगवद्भक्तों के प्रति द्रोह उत्पन्न करती हो.' ॥ इति वचनामृतम् ॥४॥

वचनामृत ५ : ध्यान का आग्रह

संवत् १८७६ में मार्गशीर्ष शुक्ल *अष्टमी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'राधिकासहित श्रीकृष्ण भगवान का ध्यान करना चाहिये. यदि ऐसा ध्यान करते समय मूर्ति हृदय में न दिखायी पड़े तो भी ध्यान करना चाहिये, परन्तु कायर बनकर ध्यान नहीं छोड़ना चाहिये. इस प्रकार के आग्रहवाले भक्तों पर भगवान की बड़ी कृपा[१] होती है तथा उनकी भक्ति से भगवान उनके वश में हो जाते हैं.' ॥ इति वचनामृतम् ॥५॥

---

* शुक्रवार, २५ नवम्बर, १८१९.

१. अपनी मूर्ति के दर्शन देने संबंधी कृपा.

वचनामृत ६ : विवेकी-अविवेकी

संवत् १८७६ में मार्गशीर्ष शुक्ल *नवमी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्वते वस्त्र धारण करके विराजमान थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों और देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस[१] सत्संग में जो मानव विवेकशील[२] होता है वह तो दिन-प्रतिदिन अपने में अवगुण देखता है तथा भगवान और उनके भक्तों में उसे गुण ही दिखायी पड़ते हैं. भगवान एवं साधु उसके हित के लिये जो कठोर वचन कहते हैं उन्हें अपने लिये हितकर समझता है और दुःखी नहीं होता. वह तो दिन-प्रतिदिन सत्संग में महत्व प्राप्त करता है और जो अविवेकी है वह तो जैसे-जैसे सत्संग करता और सत्संगी की बात सुनता है वैसे-वैसे अपने में गुण देखता है तथा जब भगवान एवं सन्त उसके दोष प्रकट करते हैं तब वह अभिमानवश उनमें अवगुण ही देखता है. उसकी भक्ति दिन-प्रतिदिन कम होती जाती है और सत्संग में वह प्रतिष्ठाहीन हो जाता है. इसलिये यदि वह अपने गुणों का अभिमान त्यागकर दृढ़ता के साथ भगवान एवं उनके सन्त में विश्वास रखे तो उसका अविवेक दूर हो जाता है और सत्संग में वह महत्व प्राप्त करता है.'　॥ इति वचनामृतम् ॥६॥

वचनामृत ७ : अन्वयव्यतिरेक

संवत् १८७६ में मार्गशीर्ष शुक्ल *दशमी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्वेत वस्त्र धारण करके विराजमान थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष साधुओं तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'शास्त्रों में जहाँ-जहाँ अध्यात्मवार्ता[३] आती है

---

* शनिवार, २६ नवम्बर, १८१९.

* शनिवार, २६ नवम्बर, १८१९.

१. उद्धव सम्प्रदाय में.

२. सत्-असत् का ज्ञानवाला.

३. आत्मा, परमात्मा आदि के स्वरूप की ज्ञानवाली.

उसे[१] कोई समझ नहीं पाता और भ्रान्ति हो जाती है. इसलिये हम अध्यात्मवार्ता के यथार्थ स्वरूप का वर्णन करते हैं, उसे सभी लोग सुनें. देह के सम्बन्ध में स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण विषयक तीन प्रकार की जिस[२] एकात्मता का व्यवहार किया जाता है वह जीव का अन्वय-भाव है और इन तीनों देहों से पृथक्[३] रहनेवाली सत्तामात्र[४] को जीव का व्यतिरेक भाव बताया गया है तथा विराट, सूत्रात्मा और अव्याकृत इन तीनों शरीरों सहित ईश्वर का जो वर्णन करना है, वह ईश्वर का अन्वय-भाव है और इन तीनों शरीरों से पृथक् सत्तामात्र के रूप में कहलानेवाला ईश्वर का व्यतिरेक-भाव है तथा माया और उसके (माया के) कार्य जो अनन्तकोटि ब्रह्मांड, उनमें व्यापकरूप से जो अक्षरब्रह्म को कहना, वह उनका अन्वय-भाव है और उन सबसे व्यतिरेक सच्चिदानन्द रूप से जो अक्षरब्रह्म को कहना, वह उनका व्यतिरेक-भाव है तथा अक्षरब्रह्म, ईश्वर, जीव, माया और उसके (माया के) कार्य जो ब्रह्मांड उनमें श्रीकृष्ण भगवान को जो अन्तर्यामीरूप तथा नियन्तारूप में कहना, यह भगवान का अन्वय-भाव है और इन सबसे पृथक् रूप से अपने गोलोकधाम में जो ब्रह्मज्योति में रहे हैं, ऐसा कथन भगवान का व्यतिरेक-भाव है तथा पुरुषोत्तम भगवान, अक्षरब्रह्म, [५]माया, ईश्वर, जीव-ये जो पाँच मन[६] हैं वे अनादि[७] हैं.' ॥ इति वचनामृतम् ॥७॥

वचनामृत ८ : भगवान एवं सन्त की सेवा

संवत् १८७६ में मार्गशीर्ष शुक्ल *एकादशी को श्रीजीमहाराज

---

* रविवार, २७ नवम्बर, १८१९.

१. विद्वानों को भी.

२. स्थूलादि देह-तेज मैं हूँ, इस प्रकार की अनादि अज्ञानजन्य अहम्मन्यता.

३. चिद्रूप, स्वयम्प्रकाश तथा अछेद्य, अभेद्य स्वरूप आदि.

४. ज्ञानसत्तामात्र अर्थात् ज्ञानत्व आकार से सत्तावान होकर छह विकारों से रहित होंने के कारण ज्ञानसत्तामात्र.

५. माया के भी कार्यकारण-रूप में अन्वय-व्यतिरेकभाव को जान लेना चाहिये. अन्वय-व्यतिरेक से पृथक्-पृथक् विभाग कर निर्णीत किये गये जीवादि पाँच भेदों में लक्षणों से अध्यात्मवार्ता जान लेनी चाहिये, इतना तात्पर्य है.

६. स्वरूप से परस्पर भिन्नता.

७. नित्य-औपाधिक नहीं.

श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्वेत वस्त्र धारण करके विराजमान थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष साधुओं तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इन्द्रियों की जो क्रियाएँ हैं उन्हें यदि श्रीकृष्ण भगवान तथा उनके भक्त की सेवा में लगाये रखें तो अन्तःकरण शुद्ध[1] हो जाता है तथा जीव के अनन्तकाल के पापों का नाश हो जाता है. जो इन्द्रियों की वृत्तियों को स्त्रियों आदि विषयों में लगाये रखता है तो उसका अंतःकरण भ्रष्ट[2] हो जाता है और कल्याण-मार्ग से उसका पतन हो जाता है. इसलिये शास्त्रों में जिस प्रकार विषयों को भोगने का निर्देश दिया गया है उसी प्रकार उनका उपभोग करना चाहिये, परन्तु शास्त्रों की मर्यादा का उल्लंघन करके उनका उपभोग न किया जाय. साधुओं का संग करना चाहिये और कुसंग का परित्याग कर देना चाहिये. साधुओं का सत्संग करने से देह में रहनेवाली अहंबुद्धि निवृत्त हो जाती है. इसी प्रकार देह के सम्बन्धियों के प्रति ममत्वबुद्धि का भी लोप हो जाता है तथा भगवान के प्रति असाधारण प्रीति हो जाती है और भगवान के सिवा अन्य विषयों में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥८॥

वचनामृत ९ : भगवान के प्रत्यक्षरूप की ही इच्छा

संवत् १८७६ में मार्गशीर्ष शुक्ल *द्वादशी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवनमें श्वेत वस्त्र धारण करके विराजमान थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों और देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसने श्रीकृष्ण भगवान का प्रत्यक्ष रूप से निश्चय[3] कर लिया हो तथा भगवान की भक्ति एवं दर्शन करने पर भी जो स्वयं को पूर्णकाम न मानते हुए अंतःकरण में न्यूनता का यह भाव रखता हो

---

* सोमवार, २८ नवम्बर, १८१९.

१. रागद्वेषादि दोषों से रहित.

२. रागादिदोषयुक्त.

३. भगवान जब मनुष्यरूप में हों तब उनके दिव्य स्वरूप का ज्ञान हो जाय, उसे निश्चय कहा जाता है.

कि 'गोलोक, वैकुंठादि धामों में विद्यमान रहनेवाले यही भगवान के तेजोमय रूप के दर्शन जब तक मुझे नहीं होते तब तक मेरा परिपूर्ण कल्याण नहीं हो सकता', तो ऐसे अज्ञानवाले जीव के मुख से भगवान की बात तक नहीं सुननी चाहिये. जो भक्त प्रत्यक्ष रूप से भगवान के प्रति दृढ़ निष्ठा रखता हो तथा उनके दर्शन करके ही स्वयं को परिपूर्ण मानता हो और किसी प्रकार की अन्य वस्तु की इच्छा नहीं रखता हो उसे तो भगवान स्वयमेव बलपूर्वक अपने धाम में अपना ऐश्वर्य और अपनी मूर्तियाँ दिखाते हैं. इसलिये भगवान में जिसकी अनन्य निष्ठा हो उसे भगवान के प्रत्यक्ष रूप के सिवा अन्य किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करना चाहिये.' ॥ इति वचनामृतम् ॥९॥

वचनामृत १० : कृतघ्नी सेवकराम

संवत् १८७६ में मार्गशीर्ष शुक्ल *त्रयोदशी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्वेत वस्त्र धारण करके विराजमान थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब हम वेंकटादि से सेतुबंध रामेश्वर जा रहे थे तब एक साधु मिला, जिसका नाम सेवकराम था. उसने श्रीमद्भागवत आदि पुराणों का अध्ययन किया था. वह मार्ग में चलते-चलते बीमार हो गया. उसके पास एक हज़ार रुपये की सोने की मोहरें थीं, किन्तु उसकी चाकरी करनेवाला कोई भी नहीं था. इसलिये वह रोने लगा. हमने उससे कहा कि 'किसी भी प्रकार की चिन्ता मत करना. हम तुम्हारी चाकरी करेंगे.' गाँव के बाहर केले का एक बगीचा था, जिसमें बड़ का एक वृक्ष था. बड़ के वृक्ष में एक हज़ार भूत रहते थे. परन्तु, साधु चल नहीं सकता था और अत्यन्त अस्वस्थ हो गया. उस पर हमें अतिशय दया आयी. इसके बाद उस जगह हमने केले के पत्ते लाकर साधु के लिये एक हाथ ऊँचा बिस्तर (बिछौना) तैयार कर दिया. वह साधु रक्तमय शौच की बीमारी से पीड़ित था, जिसे हम धोते और चाकरी करते थे. वह साधु अपनी आवश्यकता के अनुसार खांड, शक्कर, घी, अन्न हम से मंगाने के लिये हमें अपने पास से

---

* मंगलवार, २९ नवम्बर, १८१९.

रुपया देता और हम ये वस्तुएँ लाकर और उनसे रसोई तैयार कर उसे भोजन कराते तथा हम बस्ती में जाकर भोजन करके आते थे. किसी-किसी दिन तो हमें अन्न नहीं मिलता, जिससे हमें उपवास करना पड़ता था. फिर भी, साधुने किसी भी दिन हमसे यह नहीं कहा कि 'हमारे पास धन है, इसलिये तुम हम दोनों के लिये रसोई बना लो और तुम भी हमारे साथ भोजन करना.' इस प्रकार हम सेवा करते रहे.

वह साधु दो महीने में कुछ निरोग हुआ और उसके बाद सेतुबंध रामेश्वर के मार्ग पर चल पड़े. तब उसके पास एक मन सामान था, जिसे वह हमसे उठवाता था. स्वयं माला लेकर चलता था. यद्यपि साधु स्वस्थ था और उसमें एक सेर घी खाकर पचाने की शक्ति थी, तो भी वह बोझा हमसे उठवाता था और स्वयं खाली हाथ चलता था. हमारी प्रकृति तो ऐसी थी कि हम भार के रूप में एक रूमाल भी नहीं रखते थे. फिर भी, हम उसे साधु समझकर उसका एक मन का बोझा उठाकर चलते थे. इस प्रकार हमने इस साधु को चाकरी करके निरोग किया. लेकिन, साधु ने हमें एक पैसाभर भी अन्न नहीं दिया. बाद में हमने उसे कृतघ्न समझकर उसका साथ छोड़ दिया. इस प्रकार जो मनुष्य किये गये उपकार को नहीं माने उसे कृतघ्न समझना चाहिये. यदि किसी मनुष्यने कोई पाप किया और यथाशास्त्र उसका प्रायश्चित्त कर दिया हो, फिर भी जो कोई उसे पापयुक्त कहता है तो उसको भी कृतघ्न मनुष्य के समान पापी समझना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१०॥

वचनामृत ११ : वासना तथा एकान्तिक भक्त

संवत् १८७६ में मार्गशीर्ष *चतुर्दशी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्वेत वस्त्र धारण करके विराजमान थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि 'महाराज ! वासना का स्वरूप कैसा है ?' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'पूर्वजन्म में जिन विषयों को भोगा हो, देखा हो

---

* बुधवार, ३० नवम्बर, १८१९.

और उनके सम्बन्ध में सुना हो, उनकी इच्छा यदि अन्तःकरण में बनी रहे तो उसीको वासना कहा जाता है. जिन विषयों को नहीं भोगा गया हो उनकी अन्तःकरण में रहनेवाली इच्छा को भी वासना कहते हैं.'

इसके पश्चात् मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! भगवान का एकान्तिक भक्त कौन कहा जाता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसमें भगवान के सिवा दूसरी कोई भी वासना न हो और जो स्वयं को ब्रह्मस्वरूप समझकर भगवान की भक्ति करता हो वह एकान्तिक भक्त कहा जाता है.' ॥ **इति वचनामृतम्** ॥११॥

वचनामृत १२ : तत्त्वों के लक्षण तथा उत्पत्ति

संवत् १८७६ में मार्गशीर्ष शुक्ल *पूर्णिमा को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्वेत वस्त्र धारण करके विराजमान थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष साधुओं तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब जीव जगत के कारणीभूत पुरुष, प्रकृति, काल तथा महत्तत्त्वादि चौबीस तत्त्वों को जान लेता है तब स्वयं के सम्बन्ध में रहनेवाली अविद्या और उसके कार्यों से चौबीस तत्त्वों के बन्धनों से वह मुक्त हो जाता है.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! इसके स्वरूप का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'उसके स्वरूप का ज्ञान तो उसके लक्षणों से हो सकता है. उसके लक्षण ये हैं कि प्रकृति के नियन्ता और प्रकृति से विजातीय[१], अखंड[२], अनादि[३], अनन्त[४], सत्य[५], स्वयंज्योति[६], सर्वज्ञ,

---

* गुरुवार, १ दिसम्बर, १८१९.

१. स्वरूप-स्वभाव से अत्यन्त विलक्षण.

२. जिसका खंड या भाग नहीं होता.

३. जिसकी आदि उत्पत्ति नहीं है.

४. जिसका अन्त या नाश नहीं होता.

५. तीन कालों में भी जिसके स्वरूप में बाधा उत्पन्न नहीं होती.

६. स्वयंप्रकाश अर्थात् दूसरे के अधीन प्रकाशवाले नहीं.

दिव्यविग्रह[१], समग्र आकारमात्र की प्रवृत्ति का कारण और क्षेत्रज्ञ[२] पुरुष कहा जाता है. जो प्रकृति है वह त्रिगुणात्मक[३] जड़चिदात्मक[४], नित्य एवं निर्विशेष[५] तथा महदादि समग्र तत्त्व और जीवमात्र उसके क्षेत्र तथा भगवान की शक्ति है. गुणसाम्य[६] और निर्विशेष माया है, और उसका जो विक्षेप[७] करता है, उसे काल कहते हैं.

अब महत्तत्त्वादि तत्त्वों के लक्षण कहते हैं, उन्हें सुनिये. चित्त तथा महत्तत्त्व को अभेद रूप से जानना, महत्तत्त्वों के सम्बन्ध में सूक्ष्मरूप में व्याप्त समग्र जगत, स्वयं निर्विकार, प्रकाशमान, स्वच्छ, शुद्धत्वमय[८] एवं शान्तद्योतक स्थिति ही इन लक्षणों की सूचक है. अब अहंकार के लक्षण कहते हैं. अहंकार त्रिगुणात्मक[९] है. वह भूतमात्र, इन्द्रियों, अन्तःकरण, देवता तथा प्राण आदि की उत्पत्ति का कारण है और इनके सम्बन्ध में शान्त, घोर एवं विमूढ़ावस्था रहती है.

अब मन के लक्षण कहते हैं, मन स्त्री आदि वस्तुओं की समग्र कामनाओं की उत्पत्ति का क्षेत्र है. वह समस्त इन्द्रियों का नियन्ता[१०] भी है. अब बुद्धि का लक्षण कहते हैं. बुद्धि में पदार्थमात्र का ज्ञान रहता है और समस्त इन्द्रियों सम्बन्धी जो विशेष ज्ञान है वह बुद्धि द्वारा है तथा बुद्धि में संशय, निश्चय, निद्रा तथा स्मृति का समावेश रहता है. श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, पाणि, पद, पायु (गुदा) और उपस्थ, इन दस इन्द्रियों के लक्षण ये हैं कि अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त रहती हैं.

---

१ अमायिक शरीरवाले.
२. माया और उसके कार्य को जाननेवाले.
३ जिसके स्वरूप में सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण रहते हैं.
४. व्यक्त और अव्यक्त रूप-स्थूलसूक्ष्मरूप. 'प्रकृतिर्या मयाख्याता व्यक्ताव्यक्त-स्वरूपिणी', इस प्रकार विष्णुपुराण में कहा गया है, अथवा, चिद्गर्भ (अंदर रहनेवाले चेतनवर्ग) से चिदात्मक.
५ कारण अवस्था में पृथ्वी आदि विशेष तत्त्वों से रहित.
६. सत्त्वादि गुणों की विषमता (उद्भव एवं अभिभव) से रहित.
७. गुणों की विषमता.
८. जिसमें रजोगुण, तमोगुण से मुक्त शुद्धसत्त्वगुण की प्रधानता रहती है.
९. सात्त्विक, राजस और तामस.
१०. नियमन करनेवाला.

अब पंचमात्राओं के[1] लक्षण कहते हैं. इनमें शब्द का लक्षण तो यह है कि शब्द अर्थमात्र का आश्रय[2] तथा व्यवहारमात्र का कारण है. वह बोलनेवाले की जाति तथा स्वरूप का द्योतक, आकाश में रहनेवाला और आकाश की मात्रा[3] है तथा श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है. यही शब्द का लक्षण है. अब स्पर्श का लक्षण कहते हैं. स्पर्श वायु की तन्मात्रा है. वह कोमलता, कठोरता, शीतलता, उष्णता तथा त्वचा द्वारा ग्राह्य है. यही स्पर्श का लक्षण है. अब रूप का लक्षण कहते हैं. पदार्थमात्र के आकार का बोध कराना, पदार्थ के सम्बन्ध में गौण भाव से व्याप्त, पदार्थ की रचना के बाद के परिणाम की निष्पत्ति, तेजतत्त्व की तन्मात्रा तथा चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने की स्थिति को ही रूप का लक्षण कहा गया है. अब रस के लक्षण कहते हैं. मधुरता, तिक्तता, कषायता, कड़वापन, खट्टापन, खारापन, जल की तन्मात्रात्मकता तथा रसना इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य तत्त्व को ही रस कहा गया है. अब गन्ध के लक्षण कहते हैं. सुगन्ध, दुर्गन्ध, पृथ्वी की तन्मात्रात्मकता तथा घ्राण इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने के तत्त्व को ही गन्ध का लक्षण बताया गया है.

अब पृथ्वी के लक्षण कहते हैं. समस्त जीवमात्र को धारण करना, लोकरूप द्वारा स्थान, आकाशादि चार भूतों का विभागीकरण तथा समस्त भूतप्राणिमात्र के शरीर को प्रकट करना ही पृथ्वी का लक्षण है. अब जल के लक्षण कहते हैं. पृथ्वी आदि द्रव्यों का पिंडीकरण करना, पदार्थों को कोमल करना, आर्द्रता, तृप्ति प्रदान करना, प्राणिमात्र को जीवन-शक्ति, तृषा की निवृत्ति, उष्णता को दूर करना तथा विविधता जल-लक्षण है. अब तेज के लक्षण कहते हैं. प्रकाश, अन्नादि को पचाने की शक्ति, रस-ग्रहण, काष्ठ एवं हुतद्रव्यादि को ग्रहण करने की शक्ति, शीत को दूर करनेवाला, शोषणक्षमता तथा क्षुधा एवं तृषा को उद्दीप्त करना, यही तेज का लक्षण है. अब वायु के लक्षण कहते हैं. वृक्षादि में कम्पन उत्पन्न करना, तृणादि को एकत्र करना, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक पाँच विषयों को श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियों के प्रति उन्मुख करना तथा समस्त इन्द्रियों का

---

१. शब्द आदि पाँच गुणों का.

२. वाचक.

३. असाधारण गुण.

प्राणस्वरूप, यही वायु का लक्षण है. अब आकाश के लक्षण कहते हैं. समस्त जीवमात्र को अवकाश प्रदान करनेवाला, भूतप्राणिमात्र की देह का आन्तरिक और बाह्य व्यवहार का कारण तथा प्राण, इन्द्रियों एवं अन्तःकरण का स्थान आकाश-लक्षण कहा गया है. इस प्रकार चौबीस तत्त्वों, प्रकृति, पुरुष तथा काल के लक्षणों को जान लेने पर यह जीव अज्ञान से मुक्त हो जाता है.

इन सब तत्त्वों की उत्पत्ति भी जाननी चाहिये. इनकी उत्पत्ति का वर्णन करते हैं. अपने धाम में विराजमान श्रीकृष्ण भगवान ने अक्षरपुरुषरूप द्वारा माया के रूप में गर्भ-स्थापन किया. तब उस माया से अनन्तकोटि प्रधान तथा पुरुष हुए. वे प्रधान पुरुष अनन्तकोटि ब्रह्मांड की उत्पत्ति के कारण हैं. उनके मध्य एक ब्रह्मांड की उत्पत्ति के कारणीभूत प्रधानपुरुष का वर्णन करते हैं. प्रथम पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भगवान ने पुरुषरूप में प्रधान को गर्भ प्रदान किया. बाद में प्रधान से महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ और महत्तत्त्व से तीन प्रकार के अहंकार की उत्पत्ति हुई. उनमें सात्त्विक अहंकार से मन तथा इन्द्रियों के देवता, राजस अहंकार से दस इन्द्रियाँ, बुद्धि एवं प्राण तथा तामस अहंकार से पंचभूत और पंचतन्मात्राएँ[१] उत्पन्न हुए. इस प्रकार ये समस्त तत्त्व उत्पन्न हुए.

इसके पश्चात् उन्होंने परमेश्वर की इच्छा से प्रेरित होकर अपने-अपने अंशों में ईश्वर और जीव की देह का सृजन किया. ईश्वर की देह विराट, सूत्रात्मा तथा अव्याकृत हुई और जीव की देह, स्थूल, सूक्ष्म और कारण हुई. विराट नामक ईश्वर की देह का द्विपरार्ध काल पर्यन्त आयुष्य है. विराट पुरुष के एक दिवस में चौदह मन्वन्तर होते हैं. जितना उनका दिन है उतनी रात्रि है. जब तक उनका दिवस होता है तब त्रिलोक की स्थिति रहती है. जब उनकी रात्रि होती है तब त्रिलोक का नाश होता है, उसे निमित्त[२] प्रलय कहते हैं. जब विराट पुरुष का द्विपरार्ध[३] काल पूरा होता है तब विराट देह का सत्यादि लोकों सहित नाश हो जाता है. महदादि चौबीस तत्त्व, प्रधान,

---

१. जिन्हें सूक्ष्म भूत कहा जाता है, उनके द्वारा ही पाँच स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं.
२. दैनन्दिन शब्द से भी कहते हैं.
३. परार्ध – सबसे बड़ी संख्या है, जिसे एक शंख कहते हैं, जैसे – १००००००००,००,०००००००.

प्रकृति तथा पुरुष, ये सभी महामाया में विलीन हो जाते हैं. इस स्थिति को प्राकृत प्रलय कहते हैं. महामाया का अक्षरब्रह्म के प्रकाश में विलय हो जाता है. यह विलय दिवस में रात्रि के विलय के समान होता है. उसे आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं. देवों, दैत्यों और मनुष्यों आदि की देहों का प्रतिक्षण जो नाश होता है उसे नित्य प्रलय कहते हैं. जिसे इस प्रकार विश्व की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का ज्ञान हो जाता है, उसे जीवन में संसार के प्रति वैराग्य हो जाता है और भगवान की भक्ति उत्पन्न हो जाती है. जब समस्त ब्रह्मांड का प्रलय होता है तब सभी जीव माया में रहते हैं और भगवद्‌भक्त भगवान के धाम में जाते हैं.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान का धाम कैसा है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान का धाम सनातन, नित्य, अप्राकृत, सच्चिदानन्द, अनन्त तथा अखंड है. उसका दृष्टान्त[1] द्वारा वर्णन करते हैं. पर्वतवृक्षादि सहित तथा मनुष्यों, पशुओं और पक्षियों आदि की आकृतियों से युक्त समस्त पृथ्वी जिस प्रकार शीशे की हो और आकाश में व्याप्त समग्र तारागण सूर्य हों तथा उनके तेज से समस्त आकृतियों सहित शीशे की पृथ्वी जैसी शोभायमान रहे, उसी प्रकार भगवान का धाम दैदीप्यमान रहता है. भगवद्‌भक्त समाधि में भगवान के इस प्रकार के धाम के दर्शन करते हैं और देह छोड़ने के पश्चात् भगवान के तेजोमय धाम में जाते हैं.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१२॥

वचनामृत १३ : भगवान की शक्तियाँ

संवत् १८७६ में मार्गशीर्ष कृष्ण *प्रतिपदा को रात के समय श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के समीप नीम के वृक्ष के नीचे चबूतरे पर पलंग बिछाकर विराजमान थे. वे लाल चूड़ीदार पायजामा तथा बगलबंडी पहने हुए थे. उन्होंने मस्तक पर ज़रीदार शेला बाँधा था और इसी प्रकार कमर में सुनहरी शेला कसा था. कंठ में मोतियों की मालाएँ पहनी थीं और पाग में मोती की कलगी (तुर्रा) को लटकता हुआ रखा था. उनके मुखारविन्द के

---

* शुक्रवार, २ दिसम्बर, १८१९.

१. अभूत उपमापूर्वक.

समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज से नित्यानन्द स्वामी ने यह प्रश्न पूछा कि 'प्रतिदेह में जीव एक है या अनेक हैं ? यदि इसे एक कहेंगे तो बट, पीपल आदि जो वृक्ष हैं उनकी डालें काटकर उन्हें दूसरी जगह पर लगाते (रोपते) हैं, तब भी बिल्कुल उसी प्रकार का वृक्ष खड़ा हो जाता है. इस प्रकार एक जीव दो तरह से हुआ या दूसरे जीव ने प्रवेश किया ? यदि यह कहेंगे कि यह तो एक ही जीव है, किन्तु जीव तो अखंड तथा अच्युत है, फिर वह कैसे कट गया ?'

श्रीजीमहाराज बोले, 'सुनिये, इसका उत्तर देते हैं. श्रीकृष्ण भगवान की पुरुष तथा प्रकृति नामक दो शक्तियाँ हैं, जो जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कारण हैं. उन्होंने पुरुष-प्रकृति-स्वरूपिणी अपनी दोनों शक्तियों को ग्रहण करके स्वयं विराट रूप धारण किया. ऐसे विराट रूपवाले भगवान ने सब से पहले ब्राह्मकल्प में अपने अंगों से ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त जीवों, पाद्मकल्प में ब्रह्मा-रूप द्वारा मरीच्यादि तथा कश्यप एवं दक्ष-रूप द्वारा देवों, दैत्यों, मनुष्यों और पशुपक्षियों आदि समग्र स्थावर-जंगम जीवों का सृजन किया. ऐसे श्रीकृष्ण भगवान पुरुष-प्रकृति-रूपिणी अपनी शक्तियों के साथ प्रतिजीव में अन्तर्यामी स्वरूप में रहे हैं. जिस जीव ने जैसे कर्म किये हैं उसे वे उसी प्रकार की देह प्रदान करते हैं. इस जीव ने पूर्वजन्म में कितने ही सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुणप्रधान कर्म किये हैं, जिनके अनुसार भगवान उसे [1]उद्भिज, [2]जरायुज, [3]स्वेदज तथा [4]अंडज जातियों की देह प्रदान कर सुख-दुःखरूपी कर्मफल देते हैं और उस जीव के कर्मानुसार उसकी देह से अन्य देह का सृजन करते हैं. जिस प्रकार कश्यप आदि प्रजापतियों की देह से अनेक जातियों की देहों का सृजन किया गया, उसी प्रकार वही भगवान अन्तर्यामीरूप द्वारा प्रत्येक जीव में रहते हुए, जिस देह से जैसे शरीर की उत्पत्ति करने की विधि होती है, उसीके अनुसार वे दूसरी देह उत्पन्न करते हैं. परन्तु, वे जिस जीव से दूसरी देह उत्पन्न करते हैं, वह जीव ही अनेक रूपों में परिणत हो जाता है, ऐसी बात नहीं है. जिस जीव

---

१. वृक्ष-लता आदि.
२. मनुष्य, पशु आदि.
३. कीड़े, मकोड़े आदि.
४. पक्षी, सर्प आदि.

को जिस देह से उत्पन्न करने का कर्म-सम्बन्ध प्राप्त हुआ हो, उस जीव की उत्पत्ति तो वे उसी के द्वारा करते हैं. ।। इति वचनामृतम् ।।१३।।

वचनामृत १४ : 'अन्ते या मतिः सा गतिः'

संवत् १८७६ में मार्गशीर्ष कृष्ण *द्वितीया को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीम वृक्ष के नीचे पलंग पर दक्षिण की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उन्होंने मस्तक पर सफेद पाग पहनी थी, श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सफेद चादर ओढ़ी थी. उनकी पाग में पीले पुष्पों की कलगी लगी हुई थी. उनके दोनों कानों में पीले फूलों के गुच्छ लगे हुए थे और उनके ऊपर गुलाब के पुष्प थे. उनके कंठ में पुष्पों का हार था तथा वे अपने दायें हाथ में सफेद शेवन्ती पुष्प को घुमा रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने मुनियों से प्रश्न पूछा कि 'एक हरिभक्त है, वह संसार छोड़कर निकला है, यद्यपि वह तीव्र वैराग्यवाला तो नहीं है, किन्तु देह द्वारा [१]नियमों का यथार्थ पालन करता है. उसके मन में संसार की थोड़ी-सी वासना रही है, जिसे वह विचार द्वारा नष्ट कर देता है. ऐसा एक त्यागी भक्त है, परन्तु उसके मन में भगवान का दृढ़ निश्चय बना हुआ है. दूसरा गृहस्थ भक्त है, उसमें भी भगवान का निश्चय दृढ़ है. वह आज्ञापालन करके घर में रहता है और संसार से उदासीन हो चुका है. जगत में जितनी वासना पूर्वोक्त त्यागी में है उतनी वासना गृहस्थ में भी है. भगवान के इन दोनों भक्तों में कौन श्रेष्ठ है ?'

मुक्तानन्द स्वामी बोले कि 'त्यागी भक्त श्रेष्ठ है.' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'वह तो उद्विग्न रहने के कारण स्वयमेव वेष बनाकर निकला है. वह किस प्रकार श्रेष्ठ है ? गृहस्थ तो आज्ञापालन करके घर में रहता है, वह किस प्रकार न्यून है ?' श्रीजीमहाराज के प्रश्न का मुक्तानन्द स्वामी ने अनेक प्रकार से समाधान किया, परन्तु समाधान हुआ नहीं. मुक्तानन्द स्वामी बोले कि 'हे महाराज ! आप उत्तर दीजिये.'

---

* शनिवार, ३ दिसम्बर, १८१९.

१. निष्काम, निर्लोभ, निःस्वाद, निःस्नेह तथा निर्मान.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'त्यागी[१] हो और उसे अच्छी तरह से खाने को मिले, फिर भी उसमें यदि अपरिपक्व बुद्धि रहे तो संसार की वासना हृदय में पुन उत्पन्न हो जाती है अथवा अत्यन्त दु:ख पड़ने पर भी सांसारिक वासना फिर पैदा हो जाती है. ऐसी स्थिति में तो त्यागी की अपेक्षा गृहस्थ बहुत अच्छा है, क्योंकि गृहस्थ भक्त को जब दु:ख पड़ता है अथवा अधिक सुख मिलता है, तब वह इस प्रकार का विचार रखने लगता है कि शायद 'मुझे इससे बन्धन हो जायगा' ऐसा समझकर वह संसार से उदासीन रहता है. इसलिये, वास्तव में वही सच्चा त्यागी है, जिसमें संसार छोड़ने के बाद सांसारिक वासना रहती ही नहीं है. गृहस्थ तो वासनावाले त्यागी की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है, बशर्ते वह गृहस्थ-धर्म का पालन करे. फिर भी, गृहस्थ-धर्म तो बड़ा कठिन है. उसमें यह कठिनाई है कि अनेक प्रकार के सुखदु:ख आने पर भी वह सन्त की सेवा तथा धर्म से अपने मन को विचलित नहीं होने देता वह तो यह समझता है कि 'सन्त-समागम' के रूप में मुझे परमचिन्तामणि तथा कल्पवृक्ष प्राप्त हुआ है. धन, दौलत, लड़के, लड़कियाँ ये सभी स्वप्नतुल्य हैं सच्चा लाभ तो सन्त-समागम मिला वही है. चाहे कितना ही भारी दुःख आ पडे, फिर भी वह उससे विचलित नहीं होता. इस प्रकार का गृहस्थ अतिश्रेष्ठ है इस स्थिति में ऊपर उठकर भगवान का भक्त होना अत्यन्त कठिन है तथा भगवद्‌भक्तों का समागम तो और भी अधिक दुर्लभ है.' इतना कहने के पश्चात् श्रीजीमहाराज ने भगवान और सन्त की महिमा सम्बन्धी मुक्तानन्द स्वामी रचित कीर्तन कराया.[२]

मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'श्रुतियों में ऐसा कहा गया है कि 'अन्ते या मतिः सा गतिः' इस प्रकार यह बताया गया है कि अन्तकाल में यदि भगवान में मति रहे तो सद्‌गति होती है. यदि वह नहीं हो तो ऐसी गति भी नहीं मिलती. इस तरह, श्रुतियों के अर्थ की प्रतीति होती है. यदि भक्ति की हो तो उसकी कैसी विशेषता रहती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे साक्षात् भगवान की प्राप्ति हुई है, उसे अन्तकाल में स्मृति रहे या न रहे तो भी उसका अकल्याण नहीं होता.

---

१. मन्दवैराग्यवाला.

२ देखिये परिशिष्ट ३

भगवान उसकी रक्षा करते हैं. जो पुरुष भगवान से विमुख रहता है, वह यदि बोलते और चलते हुए भी देह-त्याग करता है तो भी उसका कल्याण नहीं होता और मरकर यमपुरी में जाता है. कितने ही पापी कसाई होते हैं, जो बोलते और चलते हुए देह-त्याग करते हैं. जो भगवान का भक्त हो, उसकी यदि अकाल मृत्यु हो जाय तो उससे क्या उसका अकल्याण होगा और क्या उस पापी का कल्याण होगा ? बिल्कुल नहीं होगा. तब श्रुतियों का अर्थ इस प्रकार करना चाहिये कि 'इस समय उसकी जैसी मति है, वैसी गति अन्तकाल में होती है.' इसलिये, भक्त की मति में ऐसा भाव रहता है कि 'मेरा कल्याण तो हो रहा है'. इस प्रकार उसका कल्याण अन्तकाल में हो ही रहा है. जिसे सन्त नहीं मिले और भगवान के स्वरूप की भी प्राप्ति नहीं हुई उसकी मति में ऐसी भावना रहती है कि 'मैं अज्ञानी हूँ, इसलिये मेरा कल्याण नहीं होगा.' उसकी ऐसी मति है, इसलिये अन्तकाल में उसकी गति भी वैसी ही होगी. जो पुरुष भगवान के दास हो गये हैं, उनके लिये कुछ करना शेष रहा ही नहीं है. उनके दर्शनों से तो अन्य जीवों का कल्याण ही हो जाता है. तब उनका कल्याण हो, इसके सम्बन्ध में कहना ही क्या है ? परन्तु, भगवान का दास बनना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि भगवान के जो दास होते हैं उनका लक्षण तो यह है कि वे 'देह को मिथ्या तथा अपनी आत्मा को सत्य जानते हैं और अपने स्वामी के भोग्य पदार्थों को स्वयं[१] भोगने की इच्छा ही नहीं करते.' वे तो अपने स्वामी की इच्छा के विपरीत दूसरा आचरण ही नहीं करते. ऐसा होने पर ही उन्हें हरि का दास कहा जा सकता है. जो हरि के दास होते हैं, वे यदि देहरूप से ऐसा आचरण करते हैं तो उन्हें प्राकृत भक्त कहा जाता है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥१४॥

वचनामृत १५ : 'ध्यान करने में कायर नहीं बनना'

संवत् १८७६ में मार्गशीर्ष कृष्ण *तृतीया को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके समक्ष समस्त साधुओं तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

---

* रविवार, ४ दिसम्बर, १८१९.

१. उनसे निवेदन किये बिना पहले से.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसके हृदय में भगवान की भक्ति होती है उसकी ऐसी मनोवृत्ति रहती है कि 'भगवान तथा सन्त मुझसे जो-जो वचन कहेंगे, उनका ही मुझे पालन करना है.' उसके हृदय में ऐसी ही मति रहती है. 'इतने वचनों का मैं पालन कर सकूँगा और अन्य वचनों का पालन मुझ से नहीं हो सकेगा', ऐसे वचन तो वह भूलकर भी नहीं कहता. भगवान की मूर्ति को हृदयस्थ करने में आध्यात्मिक बल दिखायी पड़ता है. यदि मूर्ति हृदयस्थ न हो सके, तो भी निर्बलता नहीं दिखानी चाहिये, यानी उत्साह नहीं छोड़ना चाहिये. उसे तो नित्य नवीन[१] श्रद्धा रखनी चाहिये और मूर्ति को हृदयस्थ करते समय यदि कोई अशुभ संकल्प उत्पन्न हो जाय और यदि वह हटाने पर भी नहीं हटे तो भगवान की महान महिमा समझकर स्वयं को कृतकृत्य मानना चाहिये और इस संकल्प को निष्फल करते रहना चाहिये तथा भगवान के स्वरूप को हृदय में धारण करना चाहिये. उसे धारण करने मे भले ही दस, बीस, पचीस अथवा सौ वर्ष हो जाय तो भी उत्साहहीन नहीं होना चाहिये तथा भगवान के स्वरूप को हृदयस्थ करने के कार्य को नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में कहा है कि 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।' इसलिये भगवान को इसी प्रकार हृदयस्थ करते रहना चाहिये. जिसका ऐसा आचरण रहता है, उसे एकान्तिक भक्त कहते हैं.' ।। इति वचनामृतम् ।।१५।।

वचनामृत १६ : विवेकशीलता

संवत् १८७६ में मार्गशीर्ष कृष्ण *चतुर्थी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष साधुओं तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान के जिस भक्त को सत्[२], [३]असत् का

* सोमवार, ५ दिसम्बर, १८१९

१ उत्तरोत्तर अधिक से अधिक

२ कालादि से अन्यथाभाव (परिणामादि) नहीं प्राप्त करनेवाली आत्मा और परमात्मा आदि.

३ कालादि से अन्यथाभाव को प्राप्त करनेवाली माया और उसके कार्य आदि

विवेक[१] हो उसे तो अपने में विद्यमान [२]दोषों को जान लेना चाहिये और विचार करके उनका परित्याग कर देना चाहिये. यदि सन्त अथवा किसी सत्संगी में स्वयं को कोई दोष दिखायी पड़ता हो तो उसका त्याग कर देना चाहिये और केवल उसके गुण को ही ग्रहण करना चाहिये. [३]परमेश्वर में तो उसे कोई दोष नहीं दिखायी पड़ सकता.

भगवान और सन्त जो कुछ भी कहें उसे परम सत्य के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिये, परन्तु उनके वचनों के विषय में संशय नहीं करना चाहिये. यदि सन्त यह कहें कि 'तुम देह, इन्द्रियों, मन और प्राण से भिन्न हो, सत्य हो और उसका ज्ञान रखनेवाले हो तथा देहादिक सब असत्य है', तो इन वचनों को सत्य समझकर उन सबसे अलग रहना चाहिये और आत्मरूप में व्यवहार करना चाहिये, परन्तु मन के चक्कर[४] में नही पड़ना चाहिये. जिनके कारण स्वयं को बन्धन हो और अपने को एकान्तिक धर्म में बाधा पड़ती हो, उन पदार्थों तथा [५]कुसंग को परख लेना चाहिये, उनसे दूर रहना चाहिये और उनके चक्कर में नहीं पड़ना चाहिये. यदि [६]उपयोगी विचार हो तो उसे ग्रहण कर लेना चाहिये तथा थोथे विचार का परित्याग कर देना चाहिये. जो कोई इस प्रकार का आचरण करता हो उसके सम्बन्ध में यह समझ लेना चाहिये कि उसमें विवेक है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥१६॥

वचनामृत १७ : सत्संग में कुसंग क्या है ?

संवत् १८७६ में मार्गशीर्ष कृष्ण *पंचमी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के बड़े कमरे में कथावाचन[७] करवा रहे थे. उन्होंने सफेद दुपट्टा धारण किया था, सफेद चादर ओढ़ी थी,

---

* मंगलवार, ६ दिसम्बर, १८१९.

१. पृथक् रूप से विवेचन करके उसके स्वरूप को जान लेना चाहिये.

२. लोभादि दोष.

३. नराकृतिवाले भी.

४. मन के संकल्प के अधीन नहीं होना चाहिये.

५. अशुभ देशादि आठ.

६. जिससे एकान्तिक धर्म में पुष्टि होती हो.

७. श्रीमद्भागवतकथा.

सफेद पाग पहनी थी, पीले पुष्पों की माला धारण की थी और पीले पुष्पों का तुर्रा पाग में खोंसा था. वे अतिप्रसन्न मुद्रा में विराजमान थे.

उस समय श्रीजीमहाराज ने मुक्तानन्द स्वामी तथा गोपालानन्द स्वामी आदि साधुओं को बुलाया और वे उन सबसे बोले कि 'अपने सत्संग में थोड़ा-सा कुसंग का भाग रह जाता है, उसे आज दूर करना है और यह प्रकरण इस प्रकार चलाना है कि समस्त परमहंसों, सांख्ययोगियों (भगवान की भक्त विधवा स्त्रियों), कर्मयोगियों (गृहस्थों) तथा सत्संगियों में यह व्याप्त हो जाय. सत्संग में कुसंग क्या है ? यदि बात करनेवाले निर्बलता के साथ बातचीत करते हैं तो वही सत्संग में कुसंग है. वे किस प्रकार बात करते हैं ? वे कहते हैं कि 'भगवान के [१]वचनों का यथार्थ रूप में कौन पालन कर सकता है, [२]व्रत-नियमों का भी यथार्थ पालन कौन कर सकता है ? इसलिये जितना बने उतना धर्म-पालन करना चाहिये, क्योंकि भगवान तो अधर्मों का उद्धार करनेवाले हैं, वे कल्याण करेंगे ही.' ऐसे लोग यह बात भी करते हैं कि 'भगवान के जिस स्वरूप को हृदय में धारण करना है, वह अपने विचारानुसार ग्रहण नहीं हो पाता. वास्तव में भगवान की दया जिन पर होती है, वे ही उनका स्वरूप हृदय में धारण कर पाते हैं.' इस प्रकार की थोथी बात करके वे भगवान की प्रसन्नता के साधनों, अर्थात् धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति आदि से दूसरों को विमुख कर डालते हैं. इसलिये, अब आज से अपने सत्संग में किसी को भी इस तरह की निर्बल बात नहीं करनी चाहिये. आप लोग सदैव दृढ़ता के साथ ही बात करियेगा. यदि कोई इस प्रकार निर्बलता से बात करे तो उसे नपुंसक ही समझना चाहिये. जिस दिन इस प्रकार की निर्बल बात हो जाय उस दिन उपवास करना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१७॥

वचनामृत १८ : कुपात्र मनुष्यों की संगति नहीं करनी

संवत् १८७६ में मार्गशीर्ष कृष्ण *षष्ठी को रात के पिछले पहर के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के

---

* बुधवार, ७ दिसम्बर, १८१९.

१. ज्ञानवैराग्यसहित नवधा भक्ति करने के रूप में.

२. भक्ति-पोषक.

राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे में बरामदे के आगे चौक में पलंग पर विराजमान थे और श्वेत वस्त्र धारण किये हुए थे.

उन्होंने परमहंसों तथा सत्संगियों को बुलाया. इसके बाद वे बहुत देर तक विचारमग्न बैठे रहे. इसके पश्चात् वे बोले कि 'एक बात कहता हूँ, उसे सुनिये.' श्रीजीमहाराज बोले कि 'मेरे मन में ऐसी धारणा होती है कि यह बात न कहूँ, किन्तु आप हमारे हैं, इसलिये मेरे मन में ऐसा होता है कि मैं आप से वह बात कहूँ. जो पुरुष इस बात को समझता है और उसके अनुसार आचरण करता है, वही [१]'मुक्त' हो जाता है. इसके बिना तो चार वेदों, ६ शास्त्रों, १८ पुराणों तथा भारतादि (महाभारत, रामायण आदि) इतिहासों का अध्ययन करने, उसका अर्थ जानने अथवा उनका श्रवण करने पर भी कोई मुक्त नहीं हो पाता. वही बात कहते हैं, उसे सुनिये. बाहर चाहे कितनी ही [२]व्याधि (झंझट) क्यों न हो, फिर भी अगर उसके मन में संकल्प[३] न हो तो उसके लिये हमें कोई सन्ताप नहीं है. फिर भी, अन्तःकरण में यदि पदार्थों का लेशमात्र भी संकल्प हो जाय, तो उसका त्याग करने पर ही शान्ति मिलती है, ऐसा हमारा स्वभाव है. इसलिये हमारे हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि भगवान के भक्त के हृदय में यदि विक्षेप[४] होता है तो उसका क्या कारण है ? मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार पर दृष्टिपात करने पर भी हमें ऐसा लगा कि यह अन्तःकरण उद्वेग का कारण नहीं है. अन्तःकरण में तो भगवान के स्वरूप के निश्चय का बल रहने अथवा आत्मज्ञान के बल के कारण हृदय में इस तरह की लापरवाही (गफलत) रहती है कि 'भगवान मिल गये हैं, इसलिये अब कोई कार्य करना शेष नहीं रहा.' इस तरह की गफलत रहती है, अन्तःकरण का इतना ही दोष है. अधिक दोष तो पाँच ज्ञानेन्द्रियों का है. उनका विस्तृत रूप से वर्णन करते हैं. यह जीव कई तरह का जो भोजन करता है, उसका भिन्न स्वाद तथा भिन्न गुण[५] होता है. इस प्रकार जीव जैसा भोजन करता है वैसा

---

१. अनादि अज्ञानरूप माया के बन्धन से.
२. सोने के गहनों आदि तथा अनेक रमणीय वस्तुओं का योग.
३. भोगने की इच्छा.
४. मोक्ष के साधनों का अनुसन्धान नहीं.
५. शुभाशुभ.

ही गुण अन्तःकरण तथा शरीर में बना रहता है. गहरी हरी भाँग पीनेवाला यदि प्रभु का भक्त हो तो भी इस तरह की भाँग के कारण न तो धर्मपालन का ही भान रहता है और न भगवान के भजन की ही सुध रहती है, वैसे ही अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थों (आहार) के गुण भी गहरी भाँग के नशे के समान इतनी ज्यादा तरह के होते हैं कि उनकी गणना करने पर भी उनका अन्त नहीं दिखायी पड़ता. उसी प्रकार यह जीव श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा जिन विभिन्न शब्दों को सुनता है, उनके गुण भी अलग-अलग होते हैं. वह जैसा शब्द सुनता है वैसा ही गुण अन्तःकरण में बना रहता है. जिस प्रकार किसी हत्यारे जीव अथवा किसी व्यभिचारी पुरुष या किसी व्यभिचारिणी स्त्री अथवा लोकाचार और वेदों में प्रतिपादित मर्यादा के विपरीत आचरण करनेवाले किसी भ्रष्ट जीव की जो बात सुनायी पड़ती है, वह तो गहरी भाँग पीनेवाले या शराबी की बकवास जैसी लगती है. यह बात उसे सुननेवाले के अन्तकरण को भ्रष्ट कर लेती है और भगवान के भजन, स्मरण तथा धर्म को लुप्त कर देती है.

इसी प्रकार त्वचा का स्पर्श भी अनेक प्रकार का होता है तथा उसके गुण अलग-अलग और कई तरह के होते हैं. उनमें पापी जीव का स्पर्श, वैसी ही भाँग और शराब के असर की तरह होता है. यदि कोई हरिभक्त भी उसका स्पर्श कर ले तो उसकी सुधबुध खो जाती है.

उसी तरह रूप तथा उसके गुण भी कई प्रकार के और भिन्न-भिन्न होते हैं. जिस प्रकार किसी भ्रष्ट जीव के दृष्टिगोचर होने से गहरी भाँग और शराब पीनेवाले पुरुषों - जैसा उन्माद छा जाता है, उसी तरह पापी को देखने से भी ऐसी हालत पैदा हो जाती है और बुद्धि का भी नाश हो जाता है.

उसी तरह गन्ध कई प्रकार के हैं और उनके गुण भी कई तरह के होते हैं. यदि पापी जीव के हाथ के पुष्प अथवा चन्दन को सूँघा जाय तो बुद्धि उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस तरह भाँग पीने से बुद्धि का नाश हो जाया करता है. एक ओर जहाँ पतित व्यक्ति का संसर्ग होने से जीव की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, वहाँ दूसरी ओर परमेश्वर अथवा उनके सन्त के सान्निध्य से उसे (जीव को) सद्‌बुद्धि प्राप्त हो जाती है. यदि जीव की बुद्धि भ्रष्ट हो गयी हो तो भी वह भगवान और सन्त के शब्दों को सुनने मात्र से उत्तम हो जाती है. इसी प्रकार उनके स्पर्श से भी सुबुद्धि प्राप्त

होती है. यदि धार्मिक मर्यादा के कारण महान सन्त का स्पर्श न हो सके तो उनकी चरणधूलि को ही अपने मस्तक पर लगा लेना चाहिये, क्योंकि उससे वह पवित्र हो जाता है.

उसी प्रकार महान सन्त के दर्शन करने से भी पवित्रता बनी रहती है, परन्तु उनके दर्शन धार्मिक मर्यादा के अनुरूप ही करने चाहिये. ऐसे महान सन्त का प्रसाद ग्रहण करने से भी जीव पवित्र हो जाता है, परन्तु उसके लिये भी परमेश्वर ने वर्णाश्रम की मर्यादा निर्धारित की है. इसलिये उसका पालन करके ही प्रसाद लेना चाहिये. यदि कोई वर्णाश्रमधर्म के अनुसार महान सन्त की खाद्य-प्रसादी न ले सके तो उसे मिसरी की प्रसादी कराकर ही उसका प्रसाद ले लेना चाहिये. महापुरुषों को समर्पित पुष्पों और चन्दन की सुगन्ध लेने से भी बुद्धि निर्मल हो जाती है. यदि इन पाँच विषयों को समझे बिना कोई पुरुष उनका उपभोग करेगा तथा सार-असार का विवेक नहीं रखेगा और अगर वह नारदसनकादिक - जैसा भी होगा तो भी उसकी बुद्धि नष्ट हो जायगी. ऐसी स्थिति में यदि देहाभिमानी की बुद्धि का नाश हो जाय तो उसके लिये क्या कहा जाय ? इसलिये, इन पाँच इन्द्रियों को योग्य-अयोग्य समझे बिना यदि उन्हें छूट दे दी गयी हो तो अन्तःकरण भ्रष्ट हो जायगा. पाँच इन्द्रियों द्वारा जीव जो आहार करता है, उसे यदि शुद्ध कर लिया गया तो अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा तथा अन्तःकरण के शुद्ध होने पर भगवान की स्मृति अखंड बनी रहेगी. इन पंचेन्द्रियों के आहार में यदि एक भी इन्द्रिय का आहार मलिन रहा तो अन्तःकरण भी मलिन हो जाता है. इसलिये, यदि भगवद्भक्त के भजन के मार्ग में अगर कोई बाधा उपस्थित हो जाती है तो उसका कारण अन्तःकरण नहीं, बल्कि पाँच इन्द्रियों के विषय ही रहते हैं.

यह जीव जैसी[१] सोबत[२] (संगति) करता है वैसा[३] ही उसका अन्तःकरण हो जाता है. यदि यह जीव विषयी जीवों के समाज में बैठा हो और उस जगह सुन्दर सात मंजिलवाली हवेली हो, उसमें सुन्दर शीशे (काँच) जड़े हुए हों, सुन्दर बिछौने बिछे हुए हों, नाना प्रकार के आभूषणों तथा वस्त्रों से

---

१. शुभाशुभ.
२. बाह्यदेशादि का संग.
३. शुद्धाशुद्ध.

सुसज्जित होकर विषयीजन बैठे हों और वे एक दूसरे को शराब के जाम (गिलास) पिला रहे हों, शराब से भरी कितनी ही बोतलें पड़ी हों, वेश्याएँ पाजेबें बाँधकर थेई-थेई कर रही हों, नाना प्रकार के बाजे बजते हों, तब ऐसी महफिल (वातावरण) में जो पुरुष[१] बैठे हों तो उनका अन्तःकरण[२] भी दूसरी तरह[३] का हो जाया करता है. घासफूस की झोंपड़ी हो और उसमें फटी गूदड़ीवाले परमहंसों की सभा हो रही हो तथा धर्म, ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के साथ भगवत्कथा होती हो और उस समय जो पुरुष[४] जाकर बैठें तो उस समय उनका अन्तःकरण[५] भी दूसरी तरह[६] का हो जाता है.

इसलिये, सत्संग और कुसंग के कारण जैसा अन्तःकरण हो जाता है उस पर यदि विचार किया जाय तो ज्ञान प्राप्त होता है, किन्तु गोबरगणेश (मूर्ख) को तो किसी प्रकार का ज्ञान ही नहीं रहता. यह कथा मूर्खता तथा पशुतापूर्वक आचरण करनेवाले व्यक्तियों की समझ में तो नहीं आती, परन्तु विवेकशील तथा भगवान के आश्रितजन इसे तुरन्त समझ जाते हैं. इस कारण परमहंस, सांख्ययोगी तथा कर्मयोगी हरिभक्तों को कुपात्र मनुष्यों की संगति नहीं करनी चाहिये. सत्संग से पूर्व कैसे भी कुपात्र जीव को, उससे नियमों का पालन कराकर सत्संग में ले लेना चाहिये, किन्तु सत्संग में आने के बाद भी यदि कोई स्त्री या पुरुष कुपात्रता रखता हो तो उसे सत्संग से अलग कर दिया जाना चाहिये. यदि उसे नहीं हटाया गया तो उसके परिणामस्वरूप और ज्यादा खराबी (गड़बड़ी) हो जाया करती है. 'सर्पदंश' अथवा [७]'किड़ियारा' रोग से ग्रस्त उँगली को यदि तुरन्त काट दिया जाय तो वह पुरुष स्वस्थ रहता है. परन्तु, ऐसा करने में यदि हिचकिचाहट की गयी तो और ज्यादा बिगाड़ हो जाता है. जो जीव कुपात्र प्रतीत होता हो तो

---

१. धर्मनिष्ठ भक्तजन.
२. निर्विकार भी.
३. अशुद्ध.
४. दुराचारी भी.
५. कामादिवासनादूषित भी.
६. शुद्ध.
७. जिस प्रकार चींटियाँ अपने रहने की जगह से हर समय मिट्टी निकालती रहती है, उसी तरह पाँव में हड्डी से सड़कर जो सड़ा माँस निकलता रहता है, उसे ही 'किड़ियारा' रोग कहा जाता है.

उसका तत्काल ही त्याग कर दिया जाना चाहिये. यह हमारा वचन है. सबको इसका परिपालन करना चाहिये. यदि ऐसा किया गया तो हम समझेंगे कि आप लोगों ने हमारी सभी तरह की सेवा की है. हम भी आप सबको आशीर्वाद देंगे तथा बहुत प्रसन्न होंगे, क्योंकि आपने हमारे परिश्रम को सफल बनाया है. हम सब मिलजुलकर भगवान के धाम में रहेंगे. यदि इस प्रकार[1] नहीं रहेंगे तो आपके और हमारे बीच की दूरी बहुत ज्यादा बढ़ जायगी तथा भूत या ब्रह्मराक्षस की देह मिलने पर आपको परेशान होना पड़ेगा. भगवान की जो कुछ भक्ति करी होगी, उसका फल तो घूमते-फिरते कभी भी मिल जायेगा. उस समय भी, हमने जो बात कही है उसके अनुसार यदि आपने आचरण किया तो इसके बाद मुक्त होकर आप भगवान के धाम में जायेंगे.

यदि किसी ने भी हमारा अनुकरण किया तो उसके लिये वह प्रतिकूल रहेगा, क्योंकि हमारे हृदय में तो नरनारायण प्रकटरूप में बिराजते हैं, और मैं तो अनादि मुक्त[2] ही हूँ, किन्तु किसी के उपदेशों के कारण मुक्त नहीं हुआ हूँ. मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार को तो मैं उस प्रकार पकड़ लेता हूँ, जिस तरह सिंह बकरे को अपने पंजों में जकड़ लेता है. उसी भाँति मैं अन्तःकरण को पकड़े रहता हूँ और दूसरों को तो यह अन्तःकरण दिखायी भी नहीं पड़ता. यदि ऐसा मान लिया जाय कि हमारा अनुकरण करके और [3]विषय का प्रसंग अलग रखकर शुद्ध भाव से रहेंगे, तो ऐसी विचारधारा गलत है, क्योंकि जब नारदसनकादिक जैसे मुनिजन भी इस प्रकार नहीं रह सके तो दूसरों के बारे में कोई भी बात कैसे कही जा सकती है ? असंख्य व्यक्ति मुक्त हो गये तथा असंख्य लोग मुक्त होते रहेंगे. अभी तक ऐसा कोई व्यक्ति न तो हुआ और न होगा ही, जो विषयों के प्रसंग में रहने के बावजूद उनसे निर्लिप्त रहा हो. इस समय भी ऐसा कोई पुरुष नहीं है तथा कोटि-कोटि कल्पों तक साधना करने पर भी कोई ऐसा स्वरूप प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकता. इसलिये, आप यदि हमारे कथनानुसार रहेंगे तो कल्याण होगा. यदि हम किसी को सकारण बुलाते हैं तो इसका मतलब यह

---

१. सत्समागम, इन्द्रियों का नियमन तथा दुर्जनों का परित्याग.

२. तीनों कालों में भी माया के सम्बन्ध से रहित.

३. उन-उन विषयों के प्रसंग में.

है कि हम उसकी भलाई करना चाहते हैं. यदि हम प्रयोजनवश किसी के सामने देखते हैं अथवा किसी के आग्रह पर स्वादिष्ट भोजन करते हैं या किसी के द्वारा पलंग बिछाये जाने पर उसके ऊपर बैठ जाते हैं या किसी का दिया हुआ वस्त्र, आभूषण तथा पुष्पमाला आदि सामान स्वीकार कर लेते हैं, तो उसका उद्देश्य हमारा सुखसाधन नहीं बल्कि उस जीव का कल्याण करना है. हम श्रीरामानन्द स्वामी की कसम खाकर कहते हैं कि हम अपने सुख के लिये ऐसा नहीं करते. इसलिये, ऐसा विचार करके कोई भी हमारा अनुकरण मत करना. पाँचों इन्द्रियों के आहार को अतिशय शुद्ध रूप में बनाये रखना. हमारे इस वचन का अवश्यमेव पालन करना. यह बात तो आसानी के साथ सबकी समझ में तुरन्त आ सकती है. इस प्रयोजन से हमारी इस बात का सत्संग में अतिशय प्रसार करना चाहिये, उससे हमें बहुत प्रसन्नता होती है.' ऐसी बात करने के बाद श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहते हुए अपने निवासस्थान पर पधार गये.

॥ इति वचनामृतम् ॥१८॥

वचनामृत १९ : आत्मनिष्ठा आदि गुणों की आवश्यकता

संवत् १८७६ में पौष शुक्ल *प्रतिपदा को श्रीजीमहाराज सन्ध्या के समय श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस सत्संग में अपने आत्यन्तिक कल्याण का इच्छुक जो भक्त उपस्थित हुआ है उसकी एकमात्र आत्मनिष्ठा, प्रीति, जो प्रेमपूर्वक नौ प्रकार की भक्ति के साथ की जाती है, वैराग्य तथा स्वधर्म द्वारा आत्यन्तिक कल्याण रूप कार्य सिद्ध नहीं होता. इसलिये, आत्मनिष्ठा आदि चार गुणों को सिद्ध करना आवश्यक है, क्योंकि इन चारों गुणों को एक-दूसरे की अपेक्षा रहती है. वही बात कहते हैं, सुनिये. आत्मनिष्ठा तो हो, किन्तु यदि श्रीहरि के प्रति प्रीति न हो, तो उससे (प्रीति से) होनेवाली श्रीहरि की प्रसन्नता के फलस्वरूप उपलब्ध होनेवाला महान ऐश्वर्य, अर्थात् 'माया के

---

* रविवार, १८ दिसम्बर, १८१९.

गुणों से अपराजित रहनेवाली महान सामर्थ्य' उस भक्त को नहीं मिल पाती. श्रीहरि में प्रीति तो रहे, किन्तु आत्मनिष्ठा न हो तो देहाभिमान के कारण उस प्रीति की सिद्धि नहीं हो पाती. श्रीहरि में प्रीति तथा आत्मनिष्ठा तो रहे, परन्तु दृढ़ वैराग्य न हो तो माया के पाँच विषयों में आसक्ति रहने के कारण प्रीति एवं आत्मनिष्ठा की सिद्धि नहीं होती. वैराग्य होने पर भी प्रीति तथा आत्मनिष्ठा न हो, तो श्रीहरि के स्वरूप से सम्बन्धित परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती. स्वधर्म के रहने पर भी यदि प्रीति, आत्मनिष्ठा और वैराग्य, ये तीनों न हों तो भूर्लोक, भुवर्लोक तथा ब्रह्माजी के लोक तक जो स्वर्गलोक है उससे आगे गति नहीं होती, अर्थात् ब्रह्मांड को बेधकर माया के तम से परे रहनेवाले श्रीहरि के अक्षरधाम की प्राप्ति नहीं हो पाती. इसी प्रकार आत्मनिष्ठा, प्रीति तथा वैराग्य के रहने पर भी यदि स्वधर्म न रहे, तो इन तीनों की सिद्धि नहीं होती. इस प्रकार आत्मनिष्ठा आदि जो चार गुण हैं उन्हें एक-दूसरे की अपेक्षा रहा करती है. इसलिये, एकान्तिक भक्त के समागम से जिस भक्त में इन चारों गुणों का अतिशय दृढ़ता के साथ समन्वय रहता हो, तो उसके (भक्त के) समस्त साधन सम्पूर्ण हो गये और उसीको एकान्तिक भक्त समझना चाहिये. इसलिये, जिस भक्त में इन चारों गुणों में से जिस गुण की न्यूनता हो, तो उसे दूर करने के लिये भगवान के एकान्तिक भक्त की सेवा तथा समागम करना चाहिये.' ॥ इति वचनामृतम् ॥१९॥

वचनामृत २० : 'अज्ञानियों में अतिशय अज्ञानी कौन ?'

संवत् १८७६ में पौष शुक्ल *द्वितीया को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे. उन्होंने अपने मस्तक पर सफेद पाग बाँधी थी, जिसमें पीले फूलों का तुर्रा लगा हुआ था. वे कंठ में पीले पुष्पों का हार तथा दोनों कानों में सफेद और पीले पुष्पों के गुच्छ धारण किये हुए थे. उन्होंने सफेद शाल ओढ़ रखी थी और काले पल्ले का दुपट्टा डाल रखा था. वे कथा करा रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

---

* सोमवार, १९ दिसम्बर, १८१९.

स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज बोले कि 'सुनिये, हम सबसे एक प्रश्न पूछते हैं.' तब समस्त हरिभक्तों ने हाथ जोड़कर निवेदन किया कि 'पूछिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अज्ञानियों में अतिशय अज्ञानी कौन है ?' सब विचार करने लगे, परन्तु कोई भी उत्तर नहीं दे सका. श्रीजीमहाराज बोले कि 'हम ही आपको उत्तर देते हैं.' तब सब लोगों ने सहमति प्रगट करते हुए कहा कि 'हे महाराज ! आपसे ही यथार्थ उत्तर प्राप्त हो सकेगा. कृपया कहिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस देह में रहनेवाला जीव रूप, कुरूप, बाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था को देखता है. इस प्रकार वह अनेक पदार्थों को देखता रहता है, परन्तु इन्हें देखनेवाला स्वयं अपने आपको नहीं देखता. वह स्वयं को ही नहीं, बल्कि बाह्यदृष्टि से पदार्थों को देखा करता है.' इस कारण वही अज्ञानियों में अतिशय अज्ञानी है. जिस तरह वह अपने नेत्रों से अनेक प्रकार के रूपों का रसास्वादन करता है, उसी तरह श्रोत्र, त्वक्, रसना तथा घ्राण इत्यादि समस्त इन्द्रियों द्वारा विषयसुख का उपभोग करता है और उसे इसकी जानकारी भी रहती है, परन्तु स्वयं न तो अपने सुख को ही भोगता है और न अपने स्वरूप को ही जान पाता है. इसलिये, वही समस्त अज्ञानियों में अतिशय अज्ञानी, पागलों में अतिशय पागल, मूर्खों में अतिशय मूर्ख तथा समस्त नीचों में अतिशय नीच है.'

तब शुकमुनि ने यह आशंका प्रकट की कि 'क्या अपना स्वरूप देखना अपने हाथ में है ? यदि यह अपने हाथ में हो, तो जीव क्यों अतिशय अज्ञानी रहता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसने सत्संग किया है, उसे तो स्वयं की जीवात्मा का दर्शन अपने हाथ में ही रहता है. उसने कौन-से दिन अपने स्वरूप को देखना प्रारंभ किया, जो न दीखा हो ? यह जीव माया के अधीन रहकर, परवश होकर स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्था में अन्तर्दृष्टि के जरिये जाता है, किन्तु स्वयं अपनी इच्छा से किसी भी दिन अपने स्वरूप को देखने के लिये अन्तर्दृष्टि नहीं करता. जो जीव भगवान के प्रताप का विचार करके अन्तर्दृष्टि करता है, तो वह अपने स्वरूप को अत्यन्त उज्जवल और प्रकाशमान देखता है, तथा इसी प्रकाश के मध्य वह प्रत्यक्ष रूप से पुरुषोत्तम भगवान की मूर्ति के दर्शन करता है और नारदसनकादिक जैसा

सुखी भी हो जाता है, इसलिये, हरिभक्त में जो कमी रहती है, वह तो उसके आलस्य के कारण ही रहा करती है.' ।। इति वचनामृतम् ।।२०।।

वचनामृत २१ : एकान्तिक धर्म-अक्षर के दो स्वरूप

संवत् १८७६ में पौष शुक्ल *तृतीया को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में सायंकाल पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने काले पल्ले का दुपट्टा डाल रखा था और सफेद शाल ओढ़ी थी. वे मस्तक पर सफेद पाग बाँधे हुए थे और पूर्व की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उनके सामने साधुजन झाँझ और पखावज बजाते हुए कीर्तन कर रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष साधुओं तथा देश-देशान्तर के सत्संगियों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने उन सबको मौन रहने का निर्देश देते हुए कहा कि 'सब सुनिये, एक वार्ता कहते हैं.' ऐसा कहकर उन्होंने अपने नेत्रकमलों को काफी देर तक मींचते हुए कुछ विचार किया, फिर बाद में वे बोले कि 'जिन हरिभक्तों को मन में भगवान को अतिप्रसन्न करने की इच्छा हो, तो एक उपाय यह है कि अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मों के सम्बन्ध में अचल निष्ठा, आत्मनिष्ठा की अतिशय दृढ़ता, एकमात्र भगवान के सिवा अन्य समस्त पदार्थों के प्रति अरुचि और भगवान में माहात्म्य सहित निष्काम भक्ति रखनी चाहिये. इन चारों साधनों द्वारा भगवान को अतिशय प्रसन्नता होती है. इन चारों साधनों को एकान्तिक धर्म कहा गया है. ऐसे एकान्तिक धर्मवाले भक्त इस समय अपने सत्संग में कितने ही है. भगवान के भक्तों को खाते-पीते, नहाते-धोते, चलते-बैठते, समस्त क्रियाओं में भगवान की मूर्ति का चिन्तन करते रहना चाहिये और अंतःकरण में जब कोई विक्षेप न हो तब तो भगवान का ध्यान करना ही चाहिए और भगवान की मूर्ति के समक्ष देखते रहना चाहिये. यदि हृदय में संकल्प-विकल्प का कोई विक्षेप हो जाय, तो देह, इन्द्रियों, अन्तःकरण, देवताओं तथा विषयों से अपने स्वरूप को भिन्न समझना चाहिये. जब संकल्पों का विराम हो जाय, तब भगवान की मूर्ति का चिन्तन करना चाहिये. इस देह को तो अपना स्वरूप नहीं

---

* सोमवार, १९ दिसम्बर, १८१९.

मानना चाहिये. इस देह के जो सम्बन्धी हैं, उन्हें भी अपने सम्बन्धी नहीं मानना चाहिये, क्योंकि जो यह जीव है वह चौरासी लाख तरह की देहों को पहले ही धारण करके आया है और जगत में जितनी स्त्रियाँ हैं, उन सबकी देहों से वह जन्म ले चुका है. संसार में जितनी कुतियाँ, बिल्लियाँ और बंदरियाँ आदि चौरासी लाख योनियों में जो जीव हैं, उन सबके उदरों से उसने कितनी ही बार जन्म लिया है. इस जगत में जितनी तरह की स्त्रियाँ हैं, उनमें इसने कौन-सी स्त्री नहीं की ? इसने सबको अपनी स्त्री बनाया है. उसी प्रकार इस जीव ने स्त्री-देह धारण करके संसार में जितनी तरह के पुरुष हैं उन सबको अपना पति बनाया है. जिस तरह लोग चौरासी लाख प्रकार के सम्बन्धों को नहीं मानते और चौरासी लाख तरह की देहों को अपना शरीर नहीं मानते, उसी प्रकार इस देह को अपना स्वरूप नहीं मानना चाहिये तथा इस देह के सम्बन्धियों को अपना सम्बन्धी नहीं समझना चाहिये, क्योंकि जब चौरासी लाख तरह की देहों का सम्बन्ध नहीं रहा तब इस देह का भी सम्बन्ध नहीं रहेगा. इसलिये, देहगृहादिक सब पदार्थों को असत्य मान कर देह, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से अपने स्वरूप को भिन्न जानकर, अपने धर्म के प्रति निष्ठावान रहते हुए भगवान की निष्काम भक्ति करनी चाहिये तथा दिन-प्रतिदिन भगवान के माहात्म्य की अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करते रहने के लिये निरन्तर साधु का संग करना चाहिये. जो इस प्रकार नहीं समझता और केवल देहाभिमानी तथा प्राकृत मतिवाला है, उसे सत्संग में रहते हुए भी पशुवत् समझना चाहिये. सत्संग में भगवान का महान प्रताप रहा करता है. उससे जब पशु तक का कल्याण हो जाता है, तब मनुष्य का कल्याण हो जाय तो उसमें आश्चर्य की क्या बात है ? परन्तु, उसे वस्तुतः भगवान का एकान्तिक भक्त नहीं कहा जा सकता. एकान्तिक भक्त तो वही हो सकता है, जिसमें पहले बतायी गयी समझ (बुद्धि) हो. ऐसा एकान्तिक भक्त देह त्यागकर तथा माया के समस्त भावों से मुक्त होकर अर्चिमार्ग[१] द्वारा भगवान के अक्षरधाम में जाता है. उस

---

१. भगवान के धाम की ओर जानेवाले मार्ग को अर्चिमार्ग कहा जाता है, उसे देवयान तथा ब्रह्मपथ भी कहते हैं. उस मार्ग के प्रथम 'पर्व' (पड़ाव) में अर्चि आता है, इसलिये उसका नाम 'अर्चिमार्ग' पड़ा है. प्रथम अर्चि (ज्योति) तथा उसके पश्चात् क्रमशः अहः (दिवस), शुक्लपक्ष, उत्तरायण, सम्वत्सर, महत्,

अक्षर के दो[१] स्वरूप हैं. इनमें से एक तो निराकार[२] एकरस चैतन्य है. उसे चिदाकाश और ब्रह्मधाम कहते हैं तथा वह अक्षर दूसरे[३] रूप से पुरुषोत्तमनारायण की सेवा में रहता है. उस[४] अक्षरधाम में जानेवाला भक्त भी अक्षरब्रह्म के[५] [६]साधर्म्य-भाव को प्राप्त होता है और भगवान की अखंड सेवा में रहता है. इस [७]अक्षरधाम में श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम नारायण सदैव विराजमान रहते हैं. इस अक्षरधाम में अक्षर के साधर्म्य-भाव को प्राप्त अनन्तकोटि मुक्तजीव पुरुषोत्तम के दास के रूप में आचरणशील रहते हैं. पुरुषोत्तमनारायण उन सबके स्वामी तथा अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के राजाधिराज हैं. इसलिये, हमारे समस्त सत्संगियों को तो केवल यही निश्चय करना चाहिये कि 'हमें भी इन अक्षररूप मुक्तों की पंक्ति में मिलना है और अक्षरधाम में जाकर भगवान की अखंड सेवा में उपस्थित रहना है, किन्तु नाशवान एवं तुच्छ मायिक सुख की इच्छा नहीं करनी है और इसमें किसी भी स्थान के प्रति आकर्षित नहीं होना है.' इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके भगवान की एकान्तिक भक्ति निरन्तर करते रहना चाहिये तथा भगवान के अतिशय माहात्म्य को यथार्थ रूप में समझकर, भगवान के सिवाय स्त्री, धन आदि अन्य समस्त पदार्थों की वासना का जीवित अवस्था में ही परित्याग

सूर्य, चन्द, विद्युत, वरुण, इन्द तथा प्रजापति आते हैं. इसके बाद अप्राकृत लोक में से अमानव (दिव्य मुक्तपुरुष) आते हैं. वे मुक्त जीवों को भगवान के धाम में पहुँचाते हैं. अर्चि आदि भगवान के धाम की ओर जानेवालों के लिये विश्रान्ति के स्थान हैं. अर्चि आदि शब्दों से उन-उन स्थानों में रहनेवाले उन-उन अभिमानी देवताओं को समझना चाहिये. उन्हें 'आतिवाहिक' कहते हैं, अर्थात् भगवान के धाम की ओर जानेवालों को एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचानेवाला कहा जाता है. वे मुक्तों की पूजा करते हैं. इस मार्ग पर गये हुए जीव पुनः संसारचक्र (संसारावर्त) में नहीं आते. इस मार्ग का वर्णन छांदोग्योपनिषत् तथा गीता में किया गया है.

१. मूर्तामूर्त (सावयव-निरवयव).
२. निरवयव.
३. सावयव रूप में.
४. निरवयव.
५. सावयव.
६. समानगुणयोग.
७. निरवयव.

कर देना चाहिये. यदि भगवान के सिवाय अन्य पदार्थों की वासना रह गयी हो और इसी दशा में उसका देहान्त हो जाय तथा भगवान के धाम में जाते समय यदि मार्ग में उसे सिद्धियाँ[१] दिखायी पड़ें और वह भगवान का त्याग कर उनमें (सिद्धियों में) लुब्ध हो गया तो उसके समक्ष बड़ा विघ्न उपस्थित हो जायगा. इसलिये, समस्त पदार्थों की वासना का परित्याग करके भगवान का भजन करना चाहिये.' ॥ इति वचनामृतम् ॥२१॥

वचनामृत २२ : भगवान की मूर्ति का स्मरण आवश्यक

संवत् १८७६ में पौष शुक्ल *चतुर्थी को मध्याह्न के समय श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे में बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. वे श्वेत वस्त्र पहने हुए थे और उन्होंने अपनी पाग में फूलों का तुर्रा खोंस रखा था और दोनों कानों के ऊपर पुष्पगुच्छ धारण किये हुए थे. उनके कंठ में गुलदावदी के फूलों का हार सुशोभित हो रहा था वे पूर्व की ओर मुखकमल किये हुए विराजमान थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. परमहंस कीर्तन कर रहे थे.

श्रीजीमहाराज बोले, 'सुनिये, एक बात कहते हैं.' तब समस्त परमहंसों ने अपना कीर्तन-गान बंद कर दिया और वे वार्ता सुनने के लिये तत्पर हो गये. श्रीजीमहाराज बोले कि 'मृदंग, सारंगी, सरोद तथा ताल आदि वाद्ययन्त्रों द्वारा किये जानेवाले कीर्तन के समय यदि भगवान की स्मृति न रहे तो गायन अनगाया जैसा रहता है. वैसे तो जगत में ऐसे कितने ही जीव हैं, जो भगवान का विस्मरण करके गाने-बजाने में लगे रहते हैं, तो भी उससे उनके मन को शान्ति नहीं मिल पाती. इसलिये, भगवान की मूर्ति का स्मरण करते हुए ही भगवान का कीर्तन, भगवन्नामरटन तथा नारायणधुन जैसे भक्ति-कार्यों में तन्मय रहना चाहिये. भजन करने के लिये बैठते समय अपनी चित्तवृत्ति भगवान में रखें और भजन में से उठने के बाद अन्य क्रियाओं को करते समय यदि भगवान की तरफ ध्यान नहीं लगा तो उसकी वृत्ति भजन में

---

* मंगलवार, २० दिसम्बर, १८१९.

१. अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, ईशिता, वशिता दि मूर्तिमती सिद्धियाँ.

बैठने पर भी भगवान के स्वरूप में स्थिर नहीं रह पाती. इसलिये, चलते-फिरते, खाते-पीते तथा समस्त क्रियाएँ करते समय भगवान के स्वरूप में वृत्ति रखने का अभ्यास करना चाहिये. ऐसा करते रहने पर यदि कोई जीव भगवद्भजन करेगा तो भगवान में उसकी वृत्ति स्थिर हो जायगी. भगवान की ओर जिसका मन इस तरह लग गया हो, वह तो कामकाज करते रहने पर भी भगवद्भक्ति में तन्मय बना रहता है. यदि गफलत में रहनेवाला जीव भजन करने बैठा, तो भी भगवान में उसका मन स्थिर नहीं रह पायगा. इसलिये, भगवान के भक्त को सावधान होकर भगवान के स्वरूप में ही अपना ध्यान लगाये रखने का अभ्यास करते रहना चाहिये.' इतनी बात करने के बाद श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब कीर्तन करिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥२२॥

वचनामृत २३ : भगवान का भजन करने की विधि

संवत् १८७६ में पौष शुक्ल *पंचमी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. श्रीजीमहाराज ने सिर पर सफेद फेंटा बाँधा था तथा श्वेत अंगरखा पहना था. वे सफेद चूड़ीदार पाजामा पहने हुए थे. उन्होंने कमर (कटि) पर कुसुंभी रंग का शेला कसकर बाँध रखा था. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज करुणा करके परमहंसों के सामने यह बात करने लगे कि 'वासुदेवमाहात्म्य नामक ग्रन्थ हमें अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि इसी ग्रन्थ में भगवद्भक्तों के लिये भगवान का भजन करने की विधि बतायी गयी है. भगवान के भक्त दो प्रकार के हैं. इनमें से एक प्रकार का वह भक्त है, जिसका भगवान सम्बन्धी निश्चय तो यथार्थ है, परन्तु वह देहात्मबुद्धि सहित भगवान का भजन करता है. दूसरी तरह का भक्त वह है, जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक तीनों देहों से परे रहनेवाले चैतन्य-रूप को ही अपना स्वरूप मानता है और अपने स्वरूप में भगवान की मूर्ति को धारण करके भगवद्भजन करता है

* बुधवार, २१ दिसम्बर, १८१९.

तथा तीनों अवस्थाओं और शरीरों से परे अपने स्वरूप को अतिशय प्रकाशमान देखता है और उसी प्रकाश में उसे प्रकट प्रमाण रूपी भगवान की मूर्ति अतिशय देदीप्यमान दिखायी पड़ती है. दूसरी तरह के भक्त की ऐसी स्थिति रहती है. जब तक ऐसी स्थिति न हो तब तक उसे भगवान का भक्त होने पर भी विघ्नग्रस्त रहना पड़ता है. कभी ऐसी स्थिति में न रहने पर शिवजी मोहिनी स्वरूप को देखकर मोहित हो गये थे और ब्रह्माजी सरस्वती पर मुग्ध हुए थे, नारदजी विवाह करने के लिये लालायित हो उठे थे तथा इन्द्र एवं चन्द्रादि तो ऐसी स्थिति में नहीं थे, इस कारण उन्हें कलंकित होना पड़ा था. भगवान का भक्त होने पर भी यदि वह इस स्थिति तक नहीं पहुँच सका, तो भगवान के स्वरूप में भी उस पर सहज मनुष्यभाव छाया रहता है. राजा परीक्षित ऐसे भक्त नहीं थे, इसी कारण उन्हें रास-क्रीड़ा की बात सुनकर श्रीकृष्ण भगवान पर संशय उत्पन्न हो गया था. शुकजी तो ऐसे भक्त थे, इसलिए उनके मन में किसी भी प्रकार का संदेह नहीं हुआ. जो ऐसा भक्त होता है, वह तो यह समझता है कि 'कोई भी दोष न तो मुझे छू ही सकता है और न वह मेरे मार्ग में बाधक ही बन सकता है, तब जिनका भजन करने से मैं ऐसा हुआ हूँ उन भगवान में कोई मायिक दोष होगा ही कैसे ?' ऐसा दृढ़ ज्ञान रखनेवाला भगवद्भक्त भगवान की मूर्ति में जब अपनी वृत्ति रखता है तब उसके (वृत्ति के) दो भाग हो जाते हैं. इनमें से एक वृत्ति तो भगवान के स्वरूप में रहती है तथा दूसरी वृत्ति भजन करनेवाले में बनी रहती है. भगवान के स्वरूप में रहनेवाली वृत्ति प्रेममय तथा भजन करनेवाले की वत्ति विचारयुक्त रहा करती है. यही वृत्ति भगवद्भजन के सिवा उसमें होनेवाले अन्य संकल्प-विकल्पों को मिथ्या कर डालती है तथा उस भजन करनेवाले के दोष को नष्ट कर डालती है. इस प्रकार भगवान में उसकी वृत्ति अखंड रहा करती है. जो जीव कभी तो एकाग्रचित्त होकर भगवान का भजन करता है और कभी अन्य क्रियाओं में उसका ध्यान लग जाता है, उसे ऐसी स्थिति प्राप्त नहीं होती. यदि पानी का घड़ा भरकर एक जगह डाल दिया जाय और दूसरे या तीसरे दिन भी इस तरह पानी बहाया जाय, तो भी वहाँ जलपूरित झील नहीं हो सकती, क्योंकि प्रथम दिन का पानी पहेले दिन और पिछले दिन का पानी पिछले दिन सूख जाया करता है. जिस प्रकार उँगली-जैसी 'छोटी-सी पानी' की धारा का

अखंड प्रवाह होने से बड़ी झील भर जाती है, उसी तरह खाते-पीते, चलते-फिरते तथा शुभ एवं अशुभ क्रिया में सदैव भगवान के प्रति अखंड वृत्ति रखनी चाहिये. बाद में इस प्रकार अखंड वृत्ति रखते-रखते ऐसी दृढ़ स्थिति हो जाती है.' ।। इति वचनामृतम् ।।२३।।

वचनामृत २४ : ज्ञान की स्थिति

संवत् १८७६ में पौष शुक्ल *षष्ठी को सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे.

उनके सिर पर सफेद फेंटा बंधा हुआ था और उन्होंने श्वेत दुपट्टा ड़ाल रखा था, गरम पोस की लाल बगलबंड़ी पहनी हुई थी और सफेद शाल ओढ़ी थी. उनके समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज परमहंसों से बोले कि 'ज्ञान[१] द्वारा जो स्थिति[२] होती है उसे कहते हैं. वह ज्ञान कैसा है ? वह तो प्रकृति-पुरुष से परे है. जब ज्ञान में स्थिति होती है तब प्रकृति-पुरुष और उनका कार्य, कुछ भी दिखायी नहीं पड़ता. उसे ज्ञान प्रलय[३] कहते हैं. जिसकी ऐसी स्थिति होती है, उसे एकरस चैतन्य का आभास होता है और उसमें केवल भगवान की मूर्ति ही रहती है, परन्तु कोई दूसरा आकार नहीं रहता. कभी तो उस प्रकाश में भगवान की मूर्ति भी नहीं दिखायी पड़ती. अकेला प्रकाश ही दिखायी पड़ता है. कभी-कभी तो प्रकाश भी दिखायी पड़ता है और भगवान की मूर्ति भी दिखायी पड़ती है. ज्ञान द्वारा इस स्थिति की अनुभूति होती है. भगवान की जैसी मूर्ति प्रत्यक्ष रूप में दिखायी पड़ती है, उसमें अखंड वृत्ति रहने पर ऐसी स्थिति होती है. जिसे भगवान की महिमा जैसी समझ में आयी हो, उसके हृदय में उतना ही प्रकाश होता है और उसे उतना ही प्रणव तथा नाद सुनायी पड़ता है. जिस में भगवान सम्बन्धी जितना निश्चय

---

* गुरुवार, २२ दिसम्बर, १८१९.

१. आत्मा-परमात्मा का साक्षात् यथार्थ अनुभव-रूप.

२. भगवान के स्वरूप में मन का रहनेवाला अटल रूप.

३. ज्ञान-स्थिति को 'ज्ञान-प्रलय' भी कहा जाता है.

होता है और उनकी (भगवान की) महिमा समझ में आती है, उसके उतने ही बुरे संकल्प समाप्त हो जाते हैं. जब भगवान के सम्बन्ध में यथार्थ निश्चय हो जाता है तथा यथार्थ रूप में उनकी महिमा समझ में आ जाती है, तब उससे बुरे संकल्प बिल्कुल मिट जाते हैं. जिस प्रकार नींबू की एक फांक चूसने पर दाँत थोड़े खट्टे पड़ जाते हैं, परन्तु चने धीरे धीरे चबाये जा सकते हैं, किन्तु मूँग का दाना बड़ी मुश्किल से चबाया जा सकता है. अगर बहुत नींबू चूस डाले हों, तो पकाया गया भात भी नहीं खाया जा सकता. उसी तरह भगवान सम्बन्धी निश्चय तथा माहात्म्यरूपी खटाई लगने पर उसके चार अन्तःकरण एवं दस इन्द्रियरूपी डाढ़ें खट्टी हो जाती हैं. तब वह जीव मनरूपी अपनी डाढ़ द्वारा विषयों के संकल्परूपी चने चबाने में समर्थ नहीं हो पाता और वह बुद्धिचित्तरूपी अपनी डाढ़ से विषय का चिन्तन करने में असमर्थ रहता है. वैसे ही वह बुद्धिरूपी अपनी डाढ़ से विषयों का निश्चय करने में समर्थ नहीं होता. वैसे ही वह अहंकाररूपी अपनी डाढ़ द्वारा विषय सम्बन्धी अभिमान करने में असमर्थ रहता है. पंचज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रियरूपी जो डाढ़े हैं, उनके द्वारा वह उन-उन इन्द्रियों के विषयरूपी चने चबाने में समर्थ नहीं होता. जिन्हें भगवान के सम्बन्ध में यथार्थ निश्चय न हुआ हो तथा भगवान की महिमा यथार्थ रूप में समझ में न आयी हो, उनकी इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण अपने-अपने विषयों से निवृत्त नहीं हो पाते. भगवान का स्वरूप तो माया और उसके गुणों से परे है, समस्त विकारों से रहित है, तो भी वे जीव के कल्याण के लिये मनुष्य जैसे दृष्टिगोचर होते हैं. ऐसे भगवान में मन्द मतिवाले जो लोग जिन-जिन दोषों की कल्पना करते हैं, उनमें से कोई भी दोष भगवान में नहीं है, किन्तु इस प्रकार की कल्पना करनेवालों की बुद्धि में से ये दोष किसी भी समय नष्ट नहीं हो सकते. जो लोग भगवान को कामी, क्रोधी, लोभी तथा ईर्ष्यालु समझते हैं, वे स्वयमेव अत्यन्त कामी, क्रोधी, लोभी तथा ईर्ष्यावान हो जाते हैं. जो व्यक्ति भगवान पर इस प्रकार का दोषारोपण करते हैं, वे तो 'सूर्य के सामने फेंकी हुई धूल अपनी आँखों में ही पड़ती है' की कहावत के अनुसार, इन दोषों से स्वयं को ही दुःखी बना लेते हैं. अपने आपमें काफी बुरा स्वभाव होने पर भी जो लोग भगवान को अतिशय निर्दोष (दिव्य विग्रह) समझते हैं वे स्वयमेव अत्यन्त निर्दोष हो

जाते हैं.'

ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि यदि 'किसी भी विषय में अपनी इन्द्रियाँ आकर्षित न होती हों, अन्तःकरण में भी असत्संकल्प न रहते हों तथा भगवान का निश्चय भी यथार्थ रूप से रहता हो, तो भी यदि अपूर्णता रहती है और अन्तःकरण सूना रहता है तो इसका क्या कारण है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह भी हरिभक्त में एक बड़ी खामी है कि उसका मन यद्यपि स्थिर हो चुका है तथा भगवान के प्रति निश्चय भी दृढ़ है, फिर भी हृदय में ऐसा अतिशय आनन्द नहीं आता कि 'मैं धन्य हूँ और कृतार्थ हुआ हूँ. संसार में जो जीव हैं वे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आशा तथा तृष्णा से परेशान होते फिरते हैं और त्रिविध तापों से रात-दिन जलते रहते हैं, किन्तु मुझे तो प्रकट पुरुषोत्तम ने करुणा करके अपना स्वरूप दिखाया है, कामक्रोधादि समस्त विकारों से मुक्त कर दिया है तथा नारदसनकादिक जैसे सन्तों के समागम में रखा है, इसलिये यह मेरा बड़ा सौभाग्य है.' वह इस प्रकार का विचार नहीं करता और आठों पहर अतिशय आनन्दमग्न नहीं रहता. यह एक बड़ी कमी है. जिस प्रकार बालक के हाथ में चिन्तामणि रत्न दे दिया हो, किन्तु उसे उसका महत्व प्रतीत नहीं होता, इसलिये उसे उसका आनन्द नहीं मिल पाता. उसी प्रकार वह यह नहीं समझ पाता कि मुझे भगवान पुरुषोत्तम मिले हैं और आठों पहर अन्तःकरण में कृतार्थता नहीं रहती कि 'मैं पूर्णकाम हुआ हूँ.' ऐसा नहीं समझता, यह हरिभक्त में बड़ी खामी है. जब कभी किसी हरिभक्त का दोष दिखायी पड़े, तब यही समझना चाहिये कि यद्यपि 'इसका स्वभाव सत्संग में सम्मिलित होने योग्य नहीं है, तथापि उसे जो सत्संग मिला है और यदि वह फिर भी जैसा का तैसा होने के बावजूद सत्संग में पड़ा है, तो उसके पूर्वजन्म या इस जन्म के संस्कार भारी हैं और उन्हीं के फलस्वरूप उसे ऐसा सत्संग मिला है.' ऐसा समझकर उसका भी अतिशय गुण ग्रहण करना चाहिये.' इतनी वार्ता करने के बाद श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपने ठहरने के स्थान पर पधार गये.

॥ इति वचनामृतम् ॥२४॥

वचनामृत २५ : 'तुम्हारा स्वरूप देह नहीं, आत्मा है'

संवत् १८७६ में पौष शुक्ल *सप्तमी को प्रातःकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में परमहंसों की जगह पर पधारे. उन्होंने सफेद दुपट्टा (उपरणा) धारण किया था. और श्वेत शाल ओढ़ी थी, सफेद फेंटा बाँधा था और वे पश्चिमी द्वार के बरामदे में पूर्वाभिमुख होकर विराजमान थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज कृपा करके बोले कि 'भगवान के स्वधर्मयुक्त भक्त के अन्तःकरण में पूर्णकाम-भावना तो आत्मनिष्ठा तथा भगवान के माहात्म्य का ज्ञान प्राप्त करके ही उत्पन्न होती है. इन दोनों में जितनी न्यूनता रहती है, वैसी ही कमी पूर्णकाम-भावना में रहा करती है. इसलिये, भगवान के भक्त को दृढ़ता के साथ इन दोनों को सिद्ध कर लेना चाहिये. इन दोनों में जितनी खामी रहती है, उतनी तो समाधि में भी बाधक बन जाती है. हाल में ही हमने एक हरिभक्त को समाधिस्थ किया था. उस स्थिति में उसे अतिशय तेज दिखायी पड़ा था. उस तेज को देखकर वह चीख-चिल्लाहट करने लगी और बोली कि 'मैं जल रही हूँ.' इसलिये समाधिवाले को भी आत्मज्ञान आवश्यक रहता है. यदि वह अपने स्वरूप को आत्मा न समझकर देह को मानता है तो उसमें बहुत अपरिपक्वता रह जाती है. हमने तो उस हरिभक्त को समझाया कि 'तुम्हारा स्वरूप देह नहीं बल्कि आत्मा है. इस लाडकीबाई नाम तथा भाट की देह में तुम्हारा वास्तविक रूप नहीं है. अछेद्य तथा अभेद्य आत्मा ही तुम्हारा स्वरूप है.' बाद में हमने उसे समाधि कराकर बताया कि 'गणपति के स्थान में चार पंखड़ीवाला जो कमल है वहाँ जाकर तुम अपने स्वरूप को देखो.' जब समाधिवाला गणपति के स्थान में जाता है तब उसे वहाँ नाद सुनायी पड़ता है तथा प्रकाश दीखता है. उससे परे ब्रह्मा के स्थान में जाने पर उससे भी अधिक नाद सुनायी पड़ता है तथा अतिशय प्रकाश भी दिखायी पड़ता है. जब वह विष्णु के स्थान में जाता है तब उसे उससे भी अधिक नाद और तेज क्रमशः सुनायी और दिखायी पड़ता है. इस प्रकार

---

* शुक्रवार, २३ दिसम्बर, १८१९.

ज्यों-ज्यों वह ऊँचे-ऊँचे स्थान में जाता है त्यों-त्यों उसे अधिक नाद सुनायी पड़ता है और अधिकाधिक प्रकाश दिखायी पड़ता है. इस तरह समाधि में अतिशय तेज दिखायी पड़ता है तथा अत्यधिक नाद होता है और बहुत ज्यादा कड़ाका होता है, जिससे बड़े से बड़े धीरजवाले में भी कायरता छा जाती है. यद्यपि अर्जुन भगवान के अंशधर तथा महाशूरवीर थे, तो भी वे भगवान के विश्वरूप को देखने में समर्थ नहीं हुए. वे बोले कि 'हे महाराज! मैं इस रूप को देखने में समर्थ नहीं हूँ. इसलिये, आप अपने पूर्व-रूप के दर्शन कराइये.' इस प्रकार समाधि में जब ऐसे समर्थ व्यक्ति को भी ब्रह्मांड फट जाने जैसे कड़ाके सुनायी पड़ें और जिस प्रकार समुद्र के अमर्यादित होने पर प्रचंड जलप्रवाह को देखकर डर लगता है उसी तरह प्रचंड तेज को भी देखकर धैर्य नहीं रहता. इसलिये, अपने स्वरूप को देह से भिन्न समझना चाहिये. ऐसी जो समाधि होती है उसके दो प्रकार हैं. इनमें से पहला तो यह है कि प्राणायाम करने से प्राण का निरोध होता है और उसके साथ-साथ चित्त का भी निरोध हो जाता है. दूसरा प्रकार यह है कि चित्त का निरोध होने से प्राण का निरोध होता है. सब स्थानों से वृत्ति हटकर जब भगवान में जुड़ जाती है तभी चित्त का निरोध होता है. यह वृत्ति भगवान में तभी जुड़ पाती है जब सभी स्थानों से वासना मिटकर भगवान के स्वरूप में ही समा जाय. तब किसी के भी द्वारा हटाये जाने पर यह वृत्ति भगवान में से उसी प्रकार नहीं हट सकती. जिस तरह किसी कुएँ पर बीस रहट चलते हों और उनके जलप्रवाह भिन्न-भिन्न हों, जिनमें जोर नहीं होता, परन्तु यदि इन बीसों रहटों के प्रवाह को मिला दिया जाय, तो उसमें नदी के समान इतना तीव्र प्रवाह होने लगता है कि वह हटाने पर भी नहीं हटता. उसी प्रकार, जिसकी वृत्ति जब निर्वासनिक होती है तब उसका चित्त भगवान के स्वरूप में लग जाता है. जिसके चित्त में संसार के सुखों की वासना हो उसे श्रोत्र-इन्द्रिय द्वारा अनन्त प्रकार के शब्दों में अलग-अलग वृत्ति फैल जाती है. उसी प्रकार, त्वचा-इन्द्रिय द्वारा हज़ारों प्रकार के शब्दों में अलग-अलग वृत्ति फैल जाती है. उसी प्रकार, त्वचा-इन्द्रिय द्वारा हजारों प्रकार के स्पर्शों में वृत्ति फैल जाती है. इसी तरह नेत्रेन्द्रिय की वृत्ति, रसनेन्द्रिय की वृत्ति, नासिका (घ्राण) इन्द्रिय-वृत्ति तथा कर्मेन्द्रिय वृत्तियाँ भी क्रमशः हज़ारों तरह के रूपों, रसों, अनेक प्रकार के गन्धों और अपने-अपने विषयों में हज़ारों प्रकार से फैल

जाती हैं. इस तरह दस इन्द्रियों द्वारा उसका अन्तःकरण हज़ारों प्रकार से फैला हुआ है. जब चित्त भगवान का ही चिन्तन करे, मन भगवान का ही संकल्प करे, बुद्धि भगवान के स्वरूप का ही निश्चय करे और अहंकार 'मैं आत्मा हूँ तथा भगवान का भक्त हूँ', ऐसा अभिमान करे तब उसकी एक ही वासना हुई समझनी चाहिये. प्राण से चित्त का निरोध अष्टांग योग द्वारा होता है. अष्टांग योग तो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि सम्बन्धी आठ अंगों से युक्त होता है. अष्टांग योग साधनरूप है और उसका फल भगवान में निर्विकल्प समाधि के रूप में होता है. जब ऐसी निर्विकल्प समाधि होती है, तब प्राण का निरोध होने से चित्त का निरोध होता है. यदि चित्त निर्वासनिक होकर भगवान में लग जाता है तब उसके (चित्त के) निरोध से प्राण का निरोध होता है. जिस प्रकार अष्टांग योग सिद्ध करने से चित्त का निरोध होता है, वैसे ही भगवान के स्वरूप में जोड़ देने से चित्त का निरोध होता है. इसलिए जिस भक्त की चित्तवृत्ति भगवान के स्वरूप में लग जाती है, उसे अष्टांग योग बिना साधना के ही सिद्ध हो जाता है. इसलिये, हमने आत्मनिष्ठा तथा भगवान के माहात्म्यज्ञानरूपी जो दो साधन बताये हैं उनमें दृढ़ता रखनी चाहिये; और जो धर्म-मर्यादा है, वह तो भगवान की आज्ञा है, इसलिये उसका जरूर पालन करना चाहिये. जिस प्रकार ब्राह्मण का धर्म नहाना-धोना और पवित्रतापूर्वक रहना है तथा वह शूद्र के घर का पानी कभी नहीं पीता, उसी तरह सत्संगी को भगवान की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये, क्योंकि इस आज्ञा का पालन करने से भगवान उस पर प्रसन्न हो जाते हैं. भगवान के माहात्म्य-ज्ञान तथा वैराग्यसहित आत्मज्ञान, इन दोनों नियमों में अतिशय दृढ़ता रखनी चाहिये तथा स्वयं में पूर्णकाम की भावना समझनी चाहिये कि 'अब मुझ में कोई न्यूनता नहीं रही.' इस प्रकार समझकर निरन्तर भगवान की भक्ति करनी चाहिये. ऐसी समझ के मद से उन्मत्त भी नहीं होना चाहिये तथा स्वयं में अकृतार्थता भी नहीं माननी चाहिये. यदि वह स्वयं में अकृतार्थता के भाव को मानता हो तो उसे यह समझ लेना चाहिये कि भगवान की कृपा तो हुई किन्तु क्षार भूमि में बोया गया बीज उगा ही नहीं और उन्मत्त होने पर ज़ैसा तैसा करने लगे तो यह समझना चाहिये कि अग्नि में जो बीज ड़ाला वह जल गया. इसलिये, हमारी बतायी हुई बात को जो

समझता है, उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं रहती.' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज अपने आसन पर पधारे. ॥ इति वचनामृतम् ॥२५॥

वचनामृत २६ : रसिक भक्त

संवत् १८७६ में पौष शुक्ल *एकादशी को दोपहर के समय श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने सिर पर सफेद पाग बाँधी थी, सफेद दुपट्टा धारण किया था, सफेद शाल ओढ़ी थी, दोनों कानों पर गुलदावदी के बड़े-बड़े दो पुष्प खोंसे थे और पाग में पुष्पों का तुर्रा लगाया था. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. ये परमहंस पखावज लेकर कीर्तन कर रहे थे.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब कीर्तन करना बन्द करिये और हम वार्तारूपी जो कीर्तन करते हैं उसे सुनिये.'

परमहंसों ने कहा कि 'महाराज ! बहुत अच्छा, आप बात करिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान का रसपूर्ण[१] कीर्तन करते-करते यदि एकमात्र भगवान के स्वरूप में ही [२]रस का आभास हो तो ठीक है, किन्तु यदि भगवान के स्वरूप को छोड़कर किसी [३]दूसरे ठिकाने पर रस प्रतीत होता हो तो उसमें बड़ा दोष[४] रहता है, क्योंकि इस भक्त को जिस प्रकार भगवान के शब्द के प्रति प्रेम होता है और उसमें (शब्द में) रस मालूम पड़ता है, उसी प्रकार गीतों और बाजों के शब्दों अथवा स्त्रियों आदि के शब्दों में रस का आभास होता है तथा उससे लगाव हो जाता है. इसलिये, ऐसे भक्त को अविवेकी समझना चाहिये.' यदि भगवान अथवा उनके सन्त के वचनों में प्रतीत होनेवाले रस के समान ऐसी रसानुभूति अन्य विषय के शब्दों में होती हो तो यह मूर्खता है और उसका परित्याग कर डालना चाहिये. ऐसी मूर्खता को छोड़कर एकमात्र भगवान के शब्द में ही सुख

---

* मंगलवार, २७ दिसम्बर, १८१९.

१. रसमय शृंगार

२ शृंगार-व्यतिरिक्त प्रेमादिरस.

३. स्त्रियों आदि

४. स्वयं के कल्याण में भ्रष्टतारूप.

मानना चाहिए. इस प्रकार का रसिक भक्त ही सच्चा है तथा शब्द के समान एकमात्र भगवान के स्पर्श का ही इच्छुक हो और अन्य स्पर्श को तो काला साँप तथा जलती अग्नि समझनेवाला, किन्तु अन्य रूप को नरक का ढेर और सड़ा हुआ कुत्ता माननेवाला, भगवान के महाप्रसाद के रस से ही परम आनन्द प्राप्त करनेवाला, परन्तु नाना प्रकार के अन्य रसों का आस्वादन करने से आनन्दित न होनेवाला, भगवान को समर्पित तुलसी, पुष्पहारों, नाना प्रकार की सुगंधवाले इत्रों और चन्दन आदि सुगंध को ग्रहण करने से अत्यंत आनंदित होनेवाला, किन्तु किसी अन्य विषयी जीव के इत्रचन्दनादि-चर्चित शरीर और उसके पहने हुए पुष्पहारों की सुगन्ध से प्रसन्न न होलेवाला रसिक भक्त सच्चा है. इस प्रकार भगवान सम्बन्धी पंचविषयों में अतिशय प्रीति करनेवाला तथा जगत सम्बन्धी पाँच विषयों में अत्यन्त अभाव की भावना रखकर आचरणरत रहनेवाला रसिक भक्त ही सच्चा है. रसिक भक्त होकर तथा भगवान सम्बन्धी विषय के योग से आनंद प्राप्त करने पर भी यदि वह अन्य विषय सम्बन्धी शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध के भोग से आनन्दित होता है तो ऐसा रसिक भक्त झूठा है, क्योंकि 'जिस प्रकार भगवान के विषय में उसने आनन्द प्राप्त किया है, उसी प्रकार उसे विषयों में भी आनन्द मिला है.' इसलिये, इस प्रकार की रसिकता तथा ऐसी उपासना को मिथ्या कर डालना चाहिये, क्योंकि भगवान का स्वरूप तो सत्य है, किन्तु उसका (ऐसे भक्त का) भाव झूठा है, क्योंकि उसने जिस तरह अन्य पदार्थों को समझा, उसी प्रकार भगवान को भी माना, इसलिये उसकी भक्ति तथा रसिकता को मिथ्या कहा गया है. जैसे स्थूल देह तथा जाग्रत अवस्था में पंचविषयों का विवेक बताया गया है वैसे ही सूक्ष्म देह और स्वप्नावस्था में सूक्ष्म पाँच विषय रहते हैं. स्वप्न में जब भगवान की मूर्ति को देखकर भगवान सम्बन्धी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से जैसा आनन्द प्राप्त होता है वैसा का वैसा ही आनन्द स्वप्न में यदि अन्य पंचविषयों को देखकर मिलता है तो उस भक्त की रसिकता मिथ्या है. यदि स्वप्न में केवल भगवान के सम्बन्ध से ही आनन्द प्राप्त होता है और अन्य विषयों में अगर वमन किये हुए अन्न की तरह अभाव रहता हो तो वह रसिक भक्त सच्चा है. यदि ऐसा न जानता हो तो जो भगवान स्वप्न में दिखायी पड़े हैं, उनका स्वरूप तो सच्चा है, परन्तु उस भक्त को तो भगवान

में रहनेवाले प्रेम के समान अन्य विषयों में भी प्रेम रहता है. इसलिये उसकी समझ दोषपूर्ण है. यदि एकमात्र भगवान के स्वरूप में ही अनुरक्ति रहे तथा अन्य विषयों में आसक्ति न रहे तो वही समझ सच्ची है. जब भक्त को केवल भगवान का ही चिन्तन रहता है तब ऐसा चिन्तन करते-करते वह शून्य-भाव को प्राप्त हो जाता है और उस समय उस भक्त को भगवान की मूर्ति के सिवा पिंड-ब्रह्मांड में से कुछ भी नहीं दिखायी पड़ता. इसके बाद, ऐसे शून्य में भगवान की मूर्ति को देखते-देखते प्रकाश हो जाता है और उस प्रकाश में भगवान की मूर्ति दिखायी पड़ती है. इसलिये, यदि इस प्रकार केवल भगवान के स्वरूप में प्रीति रहती हो उसे पतिव्रता की भक्ति कहा जाता है. जब आप लोग रसमय कीर्तन करते हैं तब आँखें मींचकर चिन्तन करते समय हम भी ऐसा ही विचार करते हैं. हमारा विचार थोड़ा ही है, किन्तु उस विचारधारा में भगवान के सिवा अन्य कोई भी नहीं ठहर सकता. यदि भगवान के स्वरूप में ही रसमय प्रीति रहे, किन्तु उसमें यदि कोई विषय रुकावट डालने के लिये उपस्थित हो जाय तो हम उस विषय को नष्ट कर डालते हैं, ऐसा हमारा दृढ़ विचार है. जिस प्रकार आप लोग कीर्तन की रचना करते हैं, उसी प्रकार हमने भी वार्तारूपी कीर्तन संजोकर रखा है और उसी का वर्णन आपके सामने किया है.' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने स्वयं के माध्यम से अपने भक्तों के लिये यह बात कर दिखायी.

॥ इति वचनामृतम् ॥२६॥

वचनामृत २७ : गुणी भक्त के हृदय में भगवान का निवास

संवत् १८७६ में पौष शुक्ल *द्वादशी को श्रीजीमहाराज सूर्योदय के पूर्व श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में परमहंसों की जगह पर पधारे थे. उन्होंने सिर पर सफेद फेंटा बाँधा था, श्वेत शाल ओढ़ी थी और दुपट्टा धारण किया था. वे चबूतरे पर पश्चिम की ओर मुखकमल करके विराजमान थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों की सभा हो रही थी.

उस समय श्रीजीमहाराज आधी घड़ी तक तो अपनी नासिका के अग्रभाग की ओर देखते रहे और इसके बाद बोले कि 'परमेश्वर का भजन

---

* बुधवार, २८ दिसम्बर, १८१९.

करने की तो सबको इच्छा होती है, किन्तु समझ (बुद्धि) में भेद रहता है. इसलिये, जिसकी इस प्रकार की बुद्धि हो कि उसके हृदय में भगवान समस्त प्रकार से निवास करते हैं, उसका विवरण यह है कि जो यह समझता हो कि 'जिनके रखने से यह पृथ्वी स्थिर रहती है और डुलाये जाने पर डोलती है, जिनके द्वारा रखे जाने पर तारामंडल अधर में बना रहता है, जिनके बरसाने पर मेघमंडल से वर्षा होती है, जिनकी आज्ञा से सूर्य और चन्द्र का उदय एवं अस्त होता है, जल के बिन्दु में से मनुष्य उत्पन्न होता है और उसके हाथ, पैर, नाक, कान आदि दस इन्द्रियाँ निर्मित हो जाती हैं, आकाश में अधर में ही जल रख छोड़ा है तथा उसमें गड़गड़ाहट होती है और बिजली चमकती है, ऐसे अनन्त आश्चर्य हैं और उन सबके कर्ता भगवान ही मुझे मिले हैं.' जो ऐसा समझता है, परन्तु प्रकट प्रमाण भगवान के सिवा अन्य कोई भी ऐसे आश्चर्यों का करनेवाला है, ऐसा नहीं मानता है तथा 'पूर्व में जो-जो आश्चर्य हुए हैं, अभी जो हो रहे हैं और भविष्य में जो होंगे, उन सभी के कर्ता भगवान मुझे प्रत्यक्ष रूप से मिले हैं,' ऐसा समझता है और जो स्वयं ऐसा मानता हो कि 'चाहे कोई मुझ पर धूल डाले, चाहे कोई कितना ही अपमान करे, चाहे कोई हाथी पर बैठावे और चाहे कोई नाक-कान काटकर गधे पर बैठावे, ऐसी क्रियाओं में भी मेरा समान भाव है.' जिसे रूपवती यौवनसम्पन्न स्त्री अथवा खराब सूरतवाली औरत या वृद्ध स्त्री में समभाव रहता है और जो स्वर्ण (सोने) के ढेर या पत्थरों के ढेर, दोनों को ही एक समान समझता है, इस प्रकार के ज्ञान, भक्ति, वैराग्य आदि अनेक शुभगुणों से सम्पन्न भक्त के हृदय में ही भगवान निवास करते हैं. ऐसा भक्त ही भगवान के प्रताप से अनन्त प्रकार के ऐश्वर्यों को प्राप्त करता है तथा असंख्य जीवों का उद्धार करता है. ऐसी सामर्थ्य रखने पर भी वह अन्य जीवों द्वारा किये गये मान एवं अपमान को सहन करता है. इतनी सहनशीलता रखता है, जो किसीसे नहीं हो पाता. इस प्रकार की सहिष्णुता रखनेवाले को अत्यन्त महान समझना चाहिये.

ऐसे समर्थ भक्त के नेत्रों द्वारा भगवान ही स्वयं देखते हैं. इसलिये, ब्रह्मांड में जितने प्राणी हैं, उन सबके नेत्रों को प्रकाशवान करने में वे समर्थ हो जाते हैं. उनके पैरों से भगवान चलते हैं. इसलिये, वे समस्त जीवों के पैरों को चलने की शक्ति का पोषण करने में समर्थ होते हैं. इसी प्रकार,

सन्त की समस्त इन्द्रियों में भगवान का निवास रहा है, इसलिये वे ब्रह्मांड में समस्त जीवों की इन्द्रियों को प्रकाश प्रदान करने में समर्थ होते हैं. अतएव, ये सन्त समस्त जगत के आधार-रूप हैं. वे तुच्छ जीवों द्वारा किये गये अपमान को सहन करते हैं. यह उनकी अतिशय महानता है. इस प्रकार की क्षमा-भावना रखनेवाला ही अत्यन्त महान है. जो आँखें दिखाकर अपने से गरीब व्यक्ति को डराता है और मन में यह समझता है कि 'मैं बड़ा आदमी हो गया हूँ', वह बड़ा नहीं है, अथवा जगत में अपनी सिद्धता (दक्षता) दिखाकर लोगों को डरानेवाले जो जीव हैं, वे भगवान के भक्त नहीं, बल्कि माया के जीव हैं और यमपुरी जाने के अधिकारी हैं. ऐसे लोगों का जो बड़प्पन है, वह संसार के मार्ग में है. जिस प्रकार, संसार में सवारी के लिये घोड़ा नहीं रखनेवाले की अपेक्षा पाँच घोड़े रखनेवाले को बड़ा माना जाता है, उसी तरह जिस व्यक्ति के पास ज्यों-ज्यों अधिक सम्पत्ति हो जाती है त्यों-त्यों सांसारिक व्यवहार में वह बहुत बड़ा आदमी कहलाता है, परन्तु भगवान के भजन में यह व्यक्ति बड़ा नहीं है. जिसकी मति ऐसी हो कि 'यह स्त्री तो अतिशय रूपवती है, यह वस्त्र तो बहुत बढ़िया है, यह महल तो बहुत अच्छा है, यह तुम्बा तो बहुत अच्छा है और यह पात्र तो बहुत अच्छा है, ऐसे गृहस्थ तथा नकली साधु सभी तुच्छबुद्धिवाले हैं.' तब आप कहेंगे कि उनका कल्याण होगा या नहीं ? वस्तुतः कल्याण तो सत्संग में रहनेवाले पामर जीव तक का हो जाता है, परन्तु पूर्वोक्त साधुता उसमें किसी भी तरह नहीं आ पाती और पहले बताये गये सन्त के गुण भी उसमें कभी भी नहीं आते, क्योंकि वह सुपात्र नहीं हुआ. इस प्रकार वार्ता करके तथा 'जय सच्चिदानन्द' कहकर श्रीजीमहाराज दादाखाचर के राजभवन में अपने ठहरने के स्थान पर पधारे. ।। इति वचनामृतम् ।।२७।।

वचनामृत २८ : असद् वासना से पतन

संवत् १८७६ में पौष शुक्ल *चतुर्दशी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे और

* शुक्रवार, ३० दिसम्बर, १८१९.

उनके मुखारविन्द के समक्ष साधुओं की भोजन की पंक्ति लगी हुई थी.

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि जिस सत्संगी का सत्संग में से पतन होनेवाला हो, उसमें असद् वासना की वृद्धि होती है. उसमें पहले तो दिन-प्रतिदिन सत्संगीमात्र के प्रति दोष-भावना उत्पन्न हो जाती है. तब वह अपने हृदय में ऐसा समझने लगता है कि 'समस्त सत्संगी तो समझदार नहीं हैं और मैं बुद्धिमान हूँ.' इस प्रकार वह स्वयं को सबसे अधिक महत्वशाली समझता है और रात-दिन अपने हृदय में घबराहट महसूस करता रहता है और दिन में किसी भी जगह चैन से नहीं बैठ पाता. यदि वह रात में सोवे तो उसे नींद नहीं आती तथा उसका क्रोध तो कभी भी मिटता ही नहीं और आधी जली हुई लकड़ी की तरह उसका हृदय सन्तापदग्ध रहता है. जिसकी दशा इस प्रकार की हो जाय, उसे ऐसा समझना चाहिये कि 'सत्संग में इसका पतन होनेवाले है.' ऐसी हालत में वह चाहे कितने ही दिन सत्संग में क्यों न रहे, उसे किसी भी दिन सुख नहीं मिलता और अन्त में उसका पतन हो जाता है.

सत्संग में जिसकी प्रगति होनेवाली हो, उसकी शुभवासना में वृद्धि हो जाती है तथा उसके हृदय में दिन-प्रतिदिन सत्संगीमात्र का गुण ही आता रहता है और वह समस्त हरिभक्तों को बड़ा समझने लगता है तथा स्वयं को न्यून समझता है. तब उसके हृदय में आठों प्रहर सत्संग का आनन्द छाया रहता है. जब ऐसे लक्षण उत्पन्न हो जाय तब यह समझना चाहिये कि 'शुभवासना में वृद्धि हो गयी है.' ज्यों-ज्यों वह अधिक से अधिक सत्संग करता है त्यों-त्यों उसकी प्रगति होती जाती है तथा अतिशय महत्ता को प्राप्त होता है.' श्रीजीमहाराज इस प्रकार बात करके और 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपने आसन पर पधारे. ॥ इति वचनामृतम् ॥२८॥

वचनामृत २९ : भक्ति का बल

संवत् १८७६ में पौष शुक्ल *पूर्णिमा को सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढडा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था,

* शनिवार, ३१ दिसम्बर, १८१९.

सफेद चादर ओढ़ी थी, माथे पर श्वेत पाग बाँधी थी, सफेद पुष्पों के हार पहने थे और पाग में श्वेत पुष्पों का तुर्रा लटकता था. उनके मुखारविन्द के समक्ष साधुओं तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'प्रश्न पूछिये.' तब गोपालानन्द स्वामी ने पूछा कि 'धर्म, ज्ञान, वैराग्य सहित भक्ति का बल वृद्धि को किस प्रकार प्राप्त होता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'उसके चार उपाय हैं, जिनमें से एक तो पवित्र देश, दूसरा पवित्र काल, तीसरी शुभ क्रिया और चौथा सत्पुरुष का संग[१] है. उनमें क्रिया की सामर्थ्य तो थोड़ी तथा देश, काल और संग का कारण विशेष रहता है, क्योंकि जहाँ पवित्र देश, पवित्र काल और आप जैसे सन्त का समागम रहता है, वहाँ क्रिया शुभ ही होती है. यदि सिन्ध जैसा अपवित्र देश तथा अशुभ काल हो और पतुरियों (वेश्याओं), भड़वों अथवा मद्यपान और मांसभक्षण करनेवालों का संग[२] हो जाय तो क्रिया भी अशुभ ही होती है. इसलिये, पवित्र देश में रहना, विद्यमान अशुभ काल से इधर-उधर खिसक कर निकल जाना और संग भी प्रभु के भक्तों एवं पंचव्रतयुक्त ब्रह्मवेत्ता साधु का ही करना चाहिये. तभी हरिभक्त को परमेश्वर की भक्ति का बल अतिशय वृद्धि को प्राप्त होता है. इस प्रश्न का यही उत्तर है.'

इसके बाद मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! किसी भी हरिभक्त का अन्तःकरण पहले तो मलिन-सा रहता है और बाद में अत्यन्त शुद्ध हो जाता है, यह क्या उसके [३]पूर्वसंस्कार के कारण ऐसा हुआ या भगवान की कृपा से ऐसा हुआ, अथवा इस हरिभक्त के पुरुषार्थ से हुआ ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'पूर्वजन्म के संस्कार के अनुसार, जो अच्छा या बुरा फल मिलता है, उसकी जानकारी तो समस्त जगत को होती है, जैसे भरतजी को मृग में आसक्ति हुई. ऐसे ठिकाने पर प्रारब्ध को महत्व दिया जाता है, जैसे कोई कंगाल हो और उसे बड़ा राज्य मिल जाय. यदि ऐसा हो तो उसे समस्त जगत जान जाता है. तब उसे तो प्रारब्ध ही मानना चाहिये.

---

१ सत्-ध्यान, सच्छास्त्र, सद्दीक्षा तथा सन्मन्त्र का भी उपलक्षण जान लेना चाहिये.

२. अशुभ ध्यानादि कर्म को भी उपलक्षण समझना चाहिये.

३. पूर्वजन्म में संग्रहित तथा इस देह की उत्पत्ति के कारणभूत प्रारब्धकर्म को इस प्रकरण में संस्कार शब्द से कहा हुआ समझना चाहिये.

इसके बाद श्रीजीमहाराज ने अपनी बात कही कि हमने जो-जो साधनाएँ की थीं, उनमें किसी भी तरह देह रहती ही नहीं है. यदि उनमें भी देह जीवित रह गयी तो वह प्रारब्ध[१] ही है. वह क्या है? जब हम श्रीपुरुषोत्तमपुरी (जगन्नाथपुरी) में निवास करते थे, तब कई मास तक वायुभक्षण करके ही रहे थे तथा एक बार तो हमने तीन-चार कोस की पाटवाली नदी में अपना शरीर बहता हुआ छोड़ दिया था और शीतकाल, ग्रीष्मकाल और चौमासे में हम बिना छाया के मात्र एक कौपीन धारण करके रहते थे तथा झाड़ी में बाघों, हाथियों और जंगली भैसों के साथ घूमते-फिरते थे. हमने ऐसे-ऐसे अनेक विकट ठिकानों में भ्रमण किया तो भी किसी तरह देह नहीं छूटी. ऐसे स्थान पर तो प्रारब्ध को ही महत्व देना चाहिये. सान्दीपनी नामक ब्राह्मण का पुत्र नरक से मुक्त हो गया और पाँच वर्ष के ध्रुवजी जब भगवान की स्तुति करने लगे, तब वेदादि के अर्थों की सहज ही अनुभूति (स्फूर्ति) हो गयी. इस प्रकार अतिशुद्ध भाव से प्रसन्न हुए भगवान की इच्छा तथा उनके वरदान से अथवा अतिशुद्ध भाव से प्रसन्न हुए भगवान के एकान्तिक साधु के वरदान से बुद्धि यदि पवित्र हो जाय, तो उसे भगवान की कृपा समझना चाहिये. यदि पवित्र साधु का संग हो जाये और स्वयं निजी विचार के अनुसार जो पवित्र हो जाय, उसे तो पुरुषार्थ कहना चाहिये.' इस प्रकार बात करके और 'जय सच्चिदानन्द' कहकर श्रीजीमहाराज हँसते-हँसते अपने आसन पर पधारे.　॥ इति वचनामृतम् ॥२९॥

वचनामृत ३० : संकल्पों से निवृत्त होने का उपाय

संवत् १८७६ में पौष कृष्ण *प्रतिपदा को सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के निकटवर्ती उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने सफेद दुपट्टा धारण किया था, श्वेत चादर ओढ़ी थी, सिर पर सफेद फेंटा बाँधा था तथा श्वेत पुष्पों के हार पहने थे. उनके दोनों कानों में श्वेत पुष्पों के तुर्रे लटक रहे थे. उन्होंने सफेद फूलों के बैरखे पहने थे. उनके

* रविवार, १ जनवरी, १८२०.

१. यद्यपि भगवान का प्रारब्धकर्म से कोई सम्बन्ध नहीं, तथापि मनुष्यनाट्य का अनुकरण करने से ऐसा कहते हैं.

मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी और मुनिमंडल कीर्तन कर रहा था.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब तो प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ करिये.' तब श्रीजीमहाराज से दीनानाथ भट्ट ने पूछा कि 'हे महाराज ! किसी समय तो हजारों संकल्प[१] होते हैं, किन्तु मन में उनकी आसक्ति[२] नहीं होती और किसी समय तो अल्प संकल्प होने पर भी उनकी इच्छा मन में टिक जाती है, उसका क्या कारण है ? भगवान के भक्त के लिये मन के इन संकल्पों से निवृत्त होने का कौन-सा उपाय है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका कारण तो गुण है. जब तमोगुण प्रधान होता है और मन में उस समय जो संकल्प होता है तब सुषुप्ति-जैसी अवस्था रहती है. इस कारण उसमें संकल्प की वासना जमती ही नहीं है. जब सत्त्वगुण रहता है तब प्रकाश-जैसा होता है. उस समय जो संकल्प हो जाय, उन्हें ज्ञान विचार से मिथ्या कर देता है, इसलिए उन संकल्पों की भी वासना नहीं जमती. जब रजोगुण का अस्तित्व रहता है, तब जो संकल्प हो जाये, उसकी वासना मन में जम जाती है. इसलिये, आसक्ति रहती है या नहीं, उसका कारण तो गुणों की वृत्ति है. यदि पुरुष बुद्धिमान है तो वह इस बात पर विचार करता है और जिस समय जो संकल्प होता है तो उस समय उसे (संकल्प को) देखने पर स्वयं में रहनेवाले प्रधान गुण को देख लेता है. घड़ी-घड़ी और पल-पल में जो सूक्ष्म संकल्प होते हैं, उनकी जानकारी तो किसी को नहीं मिल पाती. यदि आप जैसा कोई बुद्धिमान हुआ तो दिनभर में दो, तीन, चार स्थूल संकल्प होते हैं, वे उसे दिखायी पड़ते हैं. जिस गुण की प्रधानता के कारण स्वयं में जो संकल्प होते हैं, उनके सामने उसे दृष्टि रखनी चाहिये तथा सत्संग में भगवान की जो वार्ता होती हो उसका यदि धारण एवं चिन्तन करता रहे तो इस सत्संग के प्रताप से ऐसा होता है कि उसे जिस गुण से संकल्प होते हों उनसे उन संकल्पों की निवृत्ति हो जाती है और स्थिर बनकर परमेश्वर के अखंड स्वरूप का चिन्तन होता रहता है और सत्संग किये बिना कोटि साधन होने पर भी उसे संकल्प तथा रजोगुण आदि गुणों से छुटकारा नहीं मिल पाता. यदि कोई

१. मायिक विषयभोग को जुटाने का संकल्प.

२. इच्छा, आशा.

निष्कपट भाव से सत्संग करता है और परमेश्वर की बात को हृदयंगम करके उस पर विचार करता है तो उसका यह मलिन संकल्प नष्ट हो जाता है. इस प्रकार सत्संग का प्रताप तो अतिशय महिमामय है. जो अन्य साधन हैं वे सत्संग के तुल्य नहीं होते, क्योंकि किसी भी साधना से जिस संकल्प की निवृत्ति नहीं होती, उसकी निवृत्ति सत्संग में होती है. इस कारण को दृष्टिगत रखते हुए जिसे रजोगुण सम्बन्धी मलिन संकल्प नष्ट करने हों, उसे मन, कर्म तथा वचन द्वारा निष्कपट भाव से सत्संग[1] करना चाहिये. तभी सत्संग के प्रताप से उस संकल्प की निवृत्ति हो जायेगी.'

॥ इति वचनामृतम् ॥३०॥

वचनामृत ३१ : 'कौन-सा भक्त श्रेष्ठ है ?'

संवत् १८७६ में पौष कृष्ण *द्वितीया को सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवासस्थान के पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में गादी-तकिया रखवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे.

उस समय योगानन्द मुनि ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! भगवान के भक्त दो प्रकार के होते हैं. उनमें से एक तो निवृत्ति[2] मार्ग को अपनाता है और किसी को भी अपने वचन से दुःखी नहीं करता है. अन्य भक्त परमेश्वर और उनके भक्त की अन्न, वस्त्र एवं पुष्पादि से सेवा करता रहता है, किन्तु वचन से तो [3]किसी को दुःखी जरूर करता है. इस प्रकार के दोनों भक्तों में कौन-सा भक्त श्रेष्ठ है ?'

श्रीजीमहाराज ने इसका उत्तर नहीं दिया और मुक्तानन्द स्वामी तथा ब्रह्मानन्द स्वामी को बुलवाकर उन्हें यह प्रश्न सुनवाया. इसके पश्चात् उन्होंने उनसे कहा कि 'इसका उत्तर आप दीजिये.'

---

* सोमवार, २ जनवरी, १८२०.

१ सत्पुरुष का संग ही सत्संग है. यदि इस प्रकार के सत्संग में सत्पुरुष के समक्ष अपने अन्तःकरण में उत्पन्न होनेवाले कामादिक दोषों को निष्कपट भाव से प्रकट किया जाय तो उन दोषों की निवृत्ति हो जाती है.

२. अहिंसा, उपशमादि निवृत्ति-मार्ग में तत्पर होकर.

३. भगवान अथवा भक्तों की सेवा के लिये ही अन्य प्रत्येक भगवद्भक्त को.

तब इन दोनों ने उत्तर दिये कि 'एक ऐसा भक्त है, जो अपने वचन द्वारा किसी को दुःखी जरूर करता है, किन्तु भगवान अथवा सन्त की सेवा करता रहता है, इसलिये वह श्रेष्ठ है, परन्तु निवृत्तिमार्ग पर चलनेवाला भक्त यद्यपि किसी को दुःख नहीं देता, फिर भी वह भगवान तथा सन्त की कोई सेवा नहीं करता, इसलिये उसे असमर्थ जैसा जानना चाहिये तथा सेवा-चाकरी करनेवाले को तो भक्तिवाला कहा जाना चाहिये, इसलिये भक्तिवाला पुरुष ही श्रेष्ठ है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह उत्तर उचित है. जो ऐसी भक्तिवाला हो और भगवान के वचन में दृढ़ता रखता हो और उसमें थोड़ा-सा भी दोष[१] दिखायी पड़े, उसे देखकर यदि इसे उसका अवगुण माना जाय, तो यह एक बड़ा दोष रहेगा. अगर इस प्रकार दोष देखा गया तब तो जीवों के कल्याण के लिये परमेश्वर के देहधारण करने में भी दोष देखनेवाले को खामी[२] जरूर दिखायी पड़ेगी और भगवान के बहुत बड़े भक्तों में भी उसे दोष जरूर दीखेगा. यदि दोष देखनेवाले ने जो खामी दिखाई है उससे क्या परमेश्वर का अवतार अथवा सन्त कल्याणकारी नहीं हैं ? वस्तुतः, वे तो कल्याणकारी ही है, किन्तु जिसकी दुर्बुद्धि है उसे तो सब कुछ उल्टा ही दिखायी पड़ता है. जैसे शिशुपाल कहता था कि 'पांडव तो वर्णसंकर हैं और पाँच आदमियों की केवल एक ही स्त्री है, इसलिये वे अधार्मिक भी हैं तथा कृष्ण भी पाखंडी है, क्योंकि उसने जन्मकाल से ही पहले तो एक स्त्री को मार डाला, इसके बाद बगुले और बछड़े का भी वध कर डाला और मधु (शहद) का छत्ता उखाड़ने के कारण उसे मधुसूदन भी कहा जाता है, यद्यपि उसने मधु नामक किसी दैत्य को नहीं मारा, फिर भी वर्णसंकर पांडवों ने उसकी पूजा की, इससे वह भगवान हो गया ?' इस प्रकार आसुरी बुद्धिवाले शिशुपाल ने भगवान और उनके भक्तों पर दोषारोपण किया, परन्तु भगवान के भक्तों को तो ऐसा कोई भी दोष नहीं दिखायी पड़ा.

---

१. किसी को भगवान अथवा उनके भक्तों की सेवा में प्रेरणा देने के निमित्त कटुवचन-रूपी वाक्पारूष्य-रूपी दूषण.

२. अपने दृष्टान्त द्वारा भगवान की स्वेच्छा से हुए प्रादुर्भाव भी प्रारब्धकर्म से उत्पन्न हुआ कहे तथा भगवान के दिव्य चरित्रों में मायिक भाव की कल्पना करे.

इसलिये, जो ऐसा अवगुण बताता है, उसे तो आसुरी बुद्धिवाला समझना चाहिये.'

मुनियों ने पुनः यह प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! जो महान प्रभुभक्त होते हैं उनमें तो कोई अवगुण दिखायी नहीं देता, परन्तु अगर जैसा-वैसा (अज्ञानी) हरिभक्त हो, उसमें तो अवगुण जरूर दिखायी पड़े ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'आप[१] जैसा समझते हैं, वैसी लघुता और महानता नहीं होती. बड़प्पन तो प्रत्यक्ष भगवान के निश्चय से तथा उन भगवान की आज्ञा का पालन करने से होता है. जो पुरुष इन दोनों बातों पर ध्यान नहीं देता, वह व्यावहारिक दृष्टि से चाहे कितना ही बड़ा हो, तो भी वह छोटा (अज्ञानी) ही रहता है और पहले बतायी गयी महत्ता तो आजकल अपने सत्संग में सब हरिभक्तों में है, क्योंकि आजकल जो सब हरिभक्त हैं, वे ऐसा समझते हैं कि 'अक्षरातीत भगवान पुरुषोत्तम हमें प्रत्यक्ष रूप से मिले हैं और हम कृतार्थ हैं.' ऐसा समझकर वे प्रत्यक्ष भगवान की आज्ञा में रहते हुए भगवान की भक्ति करते हैं. इसलिये, ऐसे हरिभक्तों का कोई भी देह-स्वभाव[२] देखकर उनका अवगुण नहीं समझना चाहिये. जिसे अवगुण देखने का ही स्वभाव होता है, उसकी तो आसुरी बुद्धि हो जाती है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥३१॥

वचनामृत ३२ : विमुख जीव और भक्त

संवत् १८७६ में पौष कृष्ण *तृतीया को प्रातःकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढडा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, शिर पर श्वेत पाग बाँधी थी, सफेद चादर ओढ़ी थी, ललाट में केसरमिश्रित चन्दन लगाया था, सफेद फूलों का हार पहना था और पाग में सफेद फूलों का तुर्रा लटकता था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी और मुनि कीर्तन कर रहे थे.

---

* मंगलवार, ३ जनवरी, १८२०.

१. व्यवहार दृष्टि से लघुता और महत्ता.

२. कुछ आलस्यादि रूप देह से हुआ दोष और कुछ कटुभाषणादि रूपी स्वभाव-दोष.

श्रीजीमहाराज बोले, 'सुनिये, एक प्रश्न करते हैं.' तब मुनियों तथा हरिभक्तों ने कहा कि 'हे महाराज ! पूछिये.' श्रीजीमहाराज बहुत देर तक विचार करने के बाद बोले कि 'इस संसार में विषयी जीव पंचविषयों के बिना नहीं रह सकते. जिस प्रकार इन विमुख जीवों के लिये पाँच विषय हैं, उसी तरह भक्तों के लिये भी पाँच विषय हैं, परन्तु उनमें भेद[१] (अन्तर) है और वह यह है कि विषयी जीव तो बिना भगवान के लौकिक विषयों का उपभोग करते हैं, किन्तु भगवद्भक्तों के लिये तो भगवान की कथा सुनना श्रोत्र (कान) का विषय है, भगवान के चरणारविन्दों अथवा सन्त की चरणरज का स्पर्श करना त्वचा का विषय है, भगवान अथवा सन्त का दर्शन करना नेत्र का विषय है, भगवान का प्रसाद लेना और उनका गुणगान करना जिह्वा का विषय है तथा भगवान को अर्पित पुष्पादि की सुगन्ध लेना घ्राण (नासिका) का विषय है. इस प्रकार विमुख जीवों तथा हरिभक्तों के विषयों में इतना अन्तर रहता है. इस प्रकार के विषयों के बिना तो हरिभक्तों से भी नहीं रहा जाता. नारदसनकादिक अनादि मुक्तों से भी इन पंचविषयों के बिना नहीं रहा जाता. वे समाधि में अधिक समय तक रहते हैं तथा उसमें (समाधि में) जागृत होकर भगवान के कथाकीर्तनश्रवणादि विषयों को भोगते हैं. जिस प्रकार पक्षी अपना दाना-पानी जुटाने के लिये अपने घोंसलों से बाहर निकलते और पेट भरने के बाद रात्रि के समय अपने-अपने घोंसलों में आकर आराम करते हैं, परन्तु कभी भी अपने स्थानों को भूलकर दूसरों के ठिकाने पर नहीं जाते, उसी प्रकार भगवद्भक्त भगवान का कथाकीर्तन-श्रवणादिरूपी दाना-पानी ग्रहण करने के बाद अपने स्थान-भगवान के स्वरूप में जाकर विश्राम करते हैं. जैसे पशु-पक्षी सभी जीव अपना खाना खाने के बाद अपने-अपने स्थानों में आकर आराम करते हैं वैसे ही ये मनुष्य भी अपने कार्यों के लिये देश-विदेश जाते हैं, परन्तु जब अपने घर वापस आते हैं तब शान्तिपूर्वक बैठते हैं. जो ये सब दृष्टान्त-सिद्धान्त कहे गये हैं उन पर हम आप सब हरिभक्तों से प्रश्न पूछते हैं कि 'जिस प्रकार

---

१. सगुण-निर्गुण के रूप में भी, अर्थात् विमुख जीवों के विषय भगवत्सम्बन्ध रहित होने के कारण सगुण (बन्धनकर्ता) हैं तथा भक्तों के विषय भगवान से सम्बन्धित होने के कारण निर्गुण (बन्धनकर्ता नहीं) हैं. इसलिये, इतना बड़ा अन्तर है.

विमुख जीव लौकिक पंचविषयों के बन्धन में पड़े हुए हैं और उनके बिना उनसे पलमात्र भी नहीं रहा जाता, उसी प्रकार आप भगवान की कथा-वार्ता के श्रवणादिरूपी विषयों में दृढ़ता के साथ लिप्त होकर उनके विषयी हुए हो कि नहीं ?' और एक अन्य प्रश्न पूछते हैं कि 'जिस प्रकार पक्षी अपना दाना-पानी लेने के बाद अपने घोंसले में आ जाता है, उसी प्रकार क्या आप सब भगवान का कथाकीर्तनादिरूपी अन्न-जल ग्रहण करने के पश्चात् भगवान के स्वरूपरूपी अपने ठिकाने पर विश्राम करते हैं अथवा अन्य स्थानों पर जहाँ-तहाँ आराम करते हैं ? जैसे मालिक का पशु चरागाह में चरने के बाद शाम को अपने खूँटे पर आ जाता है, किन्तु जो निरंकुश ढोर होता है, वह खूँटे पर नहीं आता और जिस किसी का खेत खाकर जहाँ-तहाँ बैठा रहता है, फिर कोई उसे लाठी मारता है या बाघ आता है तो उसे मार डालता है, वैसे ही क्या आप उस निरंकुश पशु के समान किसी का खेत खाकर और जहाँ-तहाँ बैठकर विश्राम करते हैं या मालिक के पशु की तरह अपने खूँटे पर आ जाते हैं ?' जो बड़े-बड़े हों उन्हें अपने अन्तःकरण में विचार करके इन प्रश्नों के उत्तर देने चाहिये.'

बाद में मुनि तथा हरिभक्त सभी पृथक् रूप से बोले कि 'हे महाराज ! हम भगवान की कथा एवं कीर्तनादि के विषयी भी हुए हैं और भगवान के मूर्तिरूपी घोंसले तथा खूँटे को छोड़कर दूसरे ठिकाने पर रहते भी नहीं है.' इस बात को सुनकर श्रीजीमहाराज अत्यन्त प्रसन्न हुए.

उसी दिन दोपहर के ढलने पर श्रीजीमहाराज दादाखाचर के राजभवन के बीच नीमवृक्ष के नीचे पलंग पर विराजमान थे और उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. तब श्रीजीमहाराज श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के सम्मुख विराजमान थे तथा मुनि कीर्तन कर रहे थे.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ करिये.' तब दीनानाथ भट्ट तथा ब्रह्मानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'किसी समय तो भगवान के भक्त के हृदय में भगवान का भजन-स्मरण सानन्द हो जाता है और उनकी (भगवान की) मूर्ति का चिन्तन होता रहता है और किसी समय अन्तस्तल विचलित हो जाता है तथा भजन-स्मरण का सुख नहीं मिल पाता, इसका क्या कारण है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'उसे भगवान की मूर्ति को धारण करने की युक्ति नहीं आती.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'युक्ति की जानकारी किस प्रकार हो सकती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'युक्ति तो यह है कि अन्तःकरण में जब गुणों का प्रवेश होता है और सत्त्वगुण रहता है तब हृदय निर्मल हो जाता है तथा भगवान का भजन, स्मरण आनन्दपूर्वक होता है, किन्तु रजोगुण रहने पर अन्तःकरण डगमगा जाता है, अनेक संकल्प-विकल्प होते रहते हैं तथा भजन-स्मरण भी अच्छी तरह नहीं हो पाता. जब तमोगुण रहता है तब तो अन्तःकरण शून्य हो जाता है. इसलिये, भजन करनेवाले पुरुष को गुणों का ही अवलोकन करना चाहिये. जिस समय सत्त्वगुण रहता हो तब भगवान की मूर्ति का ध्यान करना चाहिये. तमोगुण के रहने पर कोई भी संकल्प-विकल्प नहीं होता और वातावरण शून्य-सा रहता है. उस समय भी भगवान का ध्यान नहीं करना चाहिये. जब रजोगुण रहता है तब अनेक संकल्प-विकल्प होते रहते हैं. इसलिये, भगवान का ध्यान तब नहीं करना चाहिये और उस समय तो ऐसा समझ लेना चाहिये कि 'मैं तो संकल्प से भिन्न हूँ और उसका (संकल्प का) जाननेवाला हूँ तथा मुझमें अन्तर्यामी रूप से पुरुषोत्तम भगवान सदैव विराजमान [१]रहते हैं.' जब रजोगुण का वेग मिट जाय तब भगवान की मूर्ति का ध्यान करना चाहिए. जब रजोगुण रहता है तब अनेक संकल्प-विकल्प होते हैं, किन्तु उन्हें देखकर उद्विग्न नहीं होना चाहिये, क्योंकि अन्तःकरण तो छोटे बालक, बन्दर, कुत्ते और बच्चे को खिलानेवाले के सदृश[२] होता है. इस अन्तःकरण का स्वभाव तो ऐसा है कि बिना प्रयोजन के ही कुचेष्टा करता रहता है. अतएव, जिसे भगवान का ध्यान करना हो, उसे अन्तःकरण के संकल्प-विकल्पों को देखकर व्यग्र नहीं होना चाहिये, अन्तःकरण के संकल्प को मानना भी नहीं चाहिये तथा स्वयं को और अपने अन्तःकरण को पृथक् समझना चाहिये और अपनी आत्मा को अलग मानकर भगवान का भजन करना चाहिये.' ॥ **इति वचनामृतम्** ॥३२॥

---

१. ऐसा समझकर उच्चस्वर से भगवान के नाम का उच्चारण करते रहना चाहिये.
२. चचल स्वभाववाला.

वचनामृत ३३ : भगवान का दृढ़ आश्रय

संवत् १८७६ में पौष कृष्ण *पंचमी को दिन का पिछला पहर था और तब श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के निकटवर्ती कमरे के बरामदे में पूर्व की ओर मुखारविन्द करके पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने सफेद दुपट्टा धारण किया था, श्वेत चादर ओढ़ी थी, शिर पर कुसुंभी रंग के पल्लेवाला फेंटा बाँधा था. तब उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस समय मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'भगवान को प्रसन्न करने के लिये अनेक प्रकार के साधन[१] शास्त्रों में बताये गये हैं, परन्तु उनमें ऐसा कौन-सा सुदृढ़ साधन है, जो अन्य समग्र साधनों के समान केवल उससे ही भगवान प्रसन्न हो जाय ?' कृपया ऐसा एक उपाय बताइये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान जिस एक ही साधन से प्रसन्न होते हैं, वही हम कहते हैं, सुनिये. वह यह है कि भगवान का दृढ़[२] आश्रय[३] ही समस्त साधनों में एक बड़ा साधन है, जिससे भगवान प्रसन्न होते हैं. उस आश्रय में अति दृढ़ता होनी चाहिये और उसमें किसी भी प्रकार की पोल[४] नहीं रहनी चाहिये. उस आश्रय के भी तीन प्रकार[५] हैं. उनमें से एक [६]मूढ़ता के साथ भगवान का आश्रय लेने से सम्बन्धित है. जैसे अतिमूढ़ को

---

* गुरुवार, ४ जनवरी, १८२०.

१. धर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि.

२. महाविश्वासपूर्वक.

३. शरण-उपाय में आश्रय करना, यानी 'मैं आपका अपराधमात्र का स्थानरूप, अकिंचन तथा अनन्यगति हूँ, इसलिये मेरे अभीष्ट में आप ही उपायभूत हो जाइये.' इस प्रकार भगवान से प्रार्थना करनी चाहिये. 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज,' इत्यादि वचन हैं.

४. भगवान को छोड़कर अन्य उपाय का अवलम्बन.

५. आश्रय तो एक ही है, परन्तु वह तीन प्रकार से होता है, इसलिये आश्रय में तीन भेद हैं, ऐसा कहा गया है.

६. सच्छास्त्र तथा सत्पुरुष के वचनों में प्रह्लाद आदि के सदृश केवल दृढ़ विश्वास से.

ब्रह्मासदृश शक्तिवाला कोई भी पुरुष आश्रय से विचलित करे तो भी वह नहीं डगमगाता. और दूसरा प्रकार यह है कि भगवान में प्रीति[१] रहने से उनका (भगवान का) आश्रय दृढ़ हो जाता है. जिसे ऐसी दृढ़ प्रीति होती है वह तो परमेश्वर के सिवा किसी भी प्रकार के अन्य पदार्थों से जबरन लगाव करे तो भी वैसी प्रीति नहीं हो पाती. यदि इस प्रकार की सुदृढ़ प्रीति हो जाय तो उसे ही भगवान का दृढ़ आश्रय कहा जाता है. तीसरा प्रकार यह है कि [२]जिसकी बुद्धि विशाल होती है, उसे भगवान के सगुण[३] निर्गुण[४] भाव तथा अन्वयव्यतिरेक-[५]भाव की जानकारी हो जाती है तथा भगवान की माया से जो सृजन हुआ है, उसे समझता हो और पृथ्वी पर भगवान के जो अवतार होते हैं उनकी [६]रीति को जानता हो, और जगत की उत्पत्ति के समय भगवान जिस प्रकार[७] अक्षररूप में विद्यमान रहते हैं तथा पुरुषप्रकृति के रूप, विराट पुरुष के रूप, ब्रह्मादि प्रजापतिरूप तथा जीवों के कल्याण के लिये नारदसनकादिक के जो रूप रहते हैं, उन सभी रीतियों (पद्धतियों) को समझ लेना चाहिये. इसी प्रकार पुरुषोत्तम भगवान को सबसे परे[८] और निर्विकार समझता हो, ऐसे ढंग से जिसकी दृष्टि पहुँचती हो, उसको बुद्धि द्वारा भगवान का दृढ़ आश्रय है और वह [९]अन्य जन द्वारा विचलित किये जाने पर भी बिल्कुल नहीं डगमगता और स्वयं भी टालने पर नहीं टलता.

---

१. व्रजवासियों के समान.
२. नारदसनकादिक के समान.
३. ज्ञान, आनन्द आदि दिव्य गुण.
४. सर्वदा मायिक गुणों से रहित.
५. सातवें वचनामृत में कहा गया है.
६. गीता में 'बहूनि मे व्यतीतानि', इस श्लोक से आरम्भ करके 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्', इस श्लोकपर्यन्त पाँच श्लोकों में कही गयी रीति.
७. जड़ चैतन्य समस्त जगत भगवान का शरीर है, उसमें स्वयं भगवान उसकी आत्मा (धारक, नियन्ता तथा स्वामी) के रूप में रहे हैं और उससे अक्षरादि रूप में स्वयं विद्यमान रहते हैं, ऐसा कहते हैं. 'यस्याऽक्षरं शरीरम्', 'यस्याऽऽत्मा शरीरम्', 'यस्य पृथिवी शरीरम्', 'तत्सर्वं वै हरेस्तनुः', 'इदं हि विश्वं भगवान्', इत्यादि श्रुतिस्मृतियों में कहा गया है.
८. स्वरूप, स्वभाव, गुण, विभूति आदि से श्रेष्ठ.
९. शुष्कवेदान्ती आदि किसी मतवादी से.

यदि भगवान मनुष्य देह को ग्रहण करके समर्थ अथवा असमर्थभाव से रहते हों, तो उन्हें देखकर उसकी बुद्धि में भ्रान्ति नहीं होती.'

ऐसा कहने के बाद श्रीजीमहाराज पुनः बोले कि 'यदि कहें तो आपसे एक प्रश्न पूछूँ.' तब मुक्तानन्द स्वामी बोले कि 'पूछिये महाराज!' श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'हमने जो तीन अंग बताये हैं, उनमें से आपका अंग कौन-सा है ? भगवान के भक्त में ये तीनों अंग मिश्रित रहते हैं, परन्तु उनमें भी जो अंग प्रधान होता है, वही उसका अंग कहलाता है. इस तरह मूढ़ता, प्रीति तथा ज्ञान, इन तीनों अंगों में से आपका अंग कौन-सा है ?' मुक्तानन्द स्वामी तथा ब्रह्मानन्द स्वामी बोले कि 'हमारा तो बुद्धि (ज्ञान) का अंग है.' इसी प्रकार अन्य साधुओं ने भी अपने-अपने अंग बताये.

॥ इति वचनामृतम् ॥३३॥

वचनामृत ३४ : मायिक पदार्थों में वैराग्य-भावना

संवत् १८७६ में पौष कृष्ण *एकादशी को प्रातःकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढडा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर दक्षिण की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उन्होंने सफेद दुपट्टा धारण किया था, श्वेत शाल ओढ़ी थी, शिर पर सफेद पाग बाँधी थी, फूलों का हार पहना था और पाग में पुष्पों तथा रेशम के तुर्रे लटकते रखे थे और दोनों कानों के ऊपर पुष्पगुच्छ खोंसे हुए थे. उस समय उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के सत्संगियों की सभा हो रही थी और मुनिगण बाजे बजाकर कीर्तन कर रहे थे.

श्रीजीमहाराज बोले कि अब कीर्तन समाप्त करके प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ करिये. ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि 'समस्त सुखों के धाम और सबसे परे रहनेवाले परमेश्वर में जीव की वृत्ति नहीं लगती, किन्तु मायिक एवं नाशवान तुच्छ पदार्थों में ही जीव की वृत्ति लिप्त रहती है, उसका क्या कारण है ?' मुक्तानन्द स्वामी उसका उत्तर देने लगे, परन्तु वह यथार्थ रूप में न दे सके.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'हम इस प्रश्न का उत्तर देते हैं, सुनिये.

---

* बुधवार, ११ जनवरी, १८२०.

परमेश्वर ने जबसे इस सृष्टि की रचना की है तबसे ऐसा यन्त्र[१] लगाया है कि उन्हें (परमेश्वर को) फिर से परिश्रम न करना पड़े तथा संसार की जो वृद्धि करनी है, वह अपने-आप होती रहे, ऐसा चक्र चला रखा है. इसलिये, पुरुष को स्त्री से और स्त्री को पुरुष से सहज प्रेम हो जाता है तथा स्त्री से उत्पन्न होनेवाली सन्तान से भी सहज भाव से स्नेह हो जाता है, वस्तुतः वह भगवान की स्नेहरूपी माया ही है. उस माया के प्रवाह में जो न बहे, उसकी वृत्ति ही भगवान के स्वरूप में रहा करती है. इसलिये, भगवान के भक्त को मायिक पदार्थों में दोषबुद्धि रखकर वैराग्य को प्राप्त करना चाहिए और भगवान को सर्वसुखमय[२] जानकर परमेश्वर में ही अपनी वृत्ति रखनी चाहिए. यदि मायिक पदार्थों में वैराग्य की भावना नहीं रखी गयी और भगवान के स्वरूप से विच्छिन्नता हो गयी तो शिव, ब्रह्मा तथा नारद आदि जैसे समर्थ मुक्त होने पर भी मायिक पदार्थों की ओर आकृष्ट हो जाते हैं. इस कारण भगवान को छोड़कर मायिक पदार्थों का संग करने से उनमें जीव की वृत्ति अवश्यमेव लिप्त हो जाती है. इसलिये, परमेश्वर के भक्त को भगवान के सिवा अन्य किसी भी वस्तु से लगाव नहीं रखना चाहिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब प्रश्न करने के लिये मुक्तानन्द स्वामी की बारी आयी है, इसलिये प्रश्न करिये.' मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जीव के लिये भगवान की प्राप्ति अतिदुर्लभ है. यदि भगवान[३] की प्राप्ति[४] हो गयी तब तो उससे बढ़कर और कोई भी लाभ नहीं हो सकता और उससे बड़ा अन्य आनन्द भी नहीं है. फिर ऐसे महान आनन्द को छोड़कर जीव तुच्छ पदार्थों के लिये कष्टों को क्यों सहन करता है ?' यह प्रश्न है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अच्छा, हम इसका उत्तर देते हैं और वह यह है कि जब जीव परमेश्वर के वचनों को छोड़कर इधर-उधर भटकता है तब वह क्लेश को प्राप्त करता है. यदि वह इन वचनों के अनुसार आचरणशील रहता है तब तो उसे भगवदीय आनन्द की प्राप्ति हो जाती है. वह भगवान के वचनों का जितना-लोप (उल्लंघन) करता है, उतना ही

---

१. घटीयन्त्र के समान.

२. आनन्दमय.

३. साक्षात्.

४. पञ्चतपदानादिक से भी.

क्लेश उसे रहता है. इसलिये, त्यागी के लिये जो-जो आज्ञा दी गयी है उसके अनुसार ही उसे (त्यागी को) रहना चाहिये. इसी प्रकार, गृहस्थ को भी आज्ञानुसार रहना चाहिये. उसमें जितना ही अन्तर रहता है उतना ही क्लेश रहता है. त्यागी को तो आठ प्रकार से स्त्री का त्याग करना चाहिये, तभी उसके ब्रह्मचर्य-व्रत को पूर्ण कहा जा सकता है. उसमें जितना अन्तर रहता है उतना ही क्लेश होता है. गृहस्थ के लिये भी ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने की बात कही गयी है और वह यह है कि परस्त्री के प्रति अनासक्ति की भावना रखनी चाहिये और व्रत के दिन भी अपनी स्त्री का संग नहीं करना चाहिये. ऋतुकाल में ही उसको अपनी स्त्री का संग करना चाहिये, इत्यादि जो-जो नियम त्यागी और गृहस्थ के लिये बताये गये हैं, उसमें जिसका जितना अन्तर रहता है उतना ही क्लेश उसे रहता है. जो जीव भगवान से विमुख रहता है और उसके समक्ष जो सुख-दुःख उपस्थित होते हैं, वे तो उसके निजी कर्मानुसार ही आते हैं. भगवान के भक्त को तो जितना दुःख मिलता है वह तो तुच्छ पदार्थों के लिये उसके द्वारा भगवान की आज्ञा का उल्लंघन किये जाने के कारण ही होता है और उसे जितना सुख मिलता है वह तो भगवान की आज्ञा का पालन करने के फलस्वरूप प्राप्त होता है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥३४॥

वचनामृत ३५ : आत्मकल्याण के लिये यत्न

संवत् १८७६ में पौष कृष्ण *द्वादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीम के वृक्ष के नीचे पलंग पर पूर्व की ओर मुखकमल करके विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज मुनियों से बोले कि 'आप प्रश्न पूछिये या हम पूछें.' तब मुनियों ने कहा कि 'हे महाराज ! आप पूछिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'कोई पुरुष है, उसमें अल्प बुद्धि[१] है तो भी वह अपने कल्याण के लिये जो प्रयत्न करता है उससे पीछे नहीं हटता,

---

* गुरुवार, १२ जनवरी, १८२०.

१. शास्त्रों तथा व्यवहार की.

और कोई दूसरा पुरुष है, जिसमें बुद्धि[१] तो अधिक है तथा बड़े-बड़े व्यक्तियों की भी गलती निकालने की क्षमता रखता है, फिर भी वह कल्याण के मार्ग पर नहीं चलता, इसका क्या कारण है ?'

मुनि उत्तर देने लगे, किन्तु श्रीजीमहाराज ने आशंका प्रकट की कि यह यथार्थ उत्तर नहीं है.

इसके पश्चात्, श्रीजीमहाराज बोले कि अच्छा, हम इसका उत्तर देते हैं. उसमें बुद्धि तो अधिक है, परन्तु वह (बुद्धि) [२]दूषित है, इसलिये वह कल्याण के मार्ग पर नहीं चल सकता. जैसे भैंस का बढ़िया दूध हो और उसमें शक्कर मिलायी गयी हो, किन्तु उसमें यदि सर्प की लार गिर पड़े तो वह शक्कर मिश्रित दूध जहर हो जाता है, उसे अगर कोई जीव पी ले तो उसका प्राणान्त हो जाता है, वैसे ही बुद्धि तो अधिक है, किन्तु उसने किसी बड़े सन्त या परमेश्वर के प्रति अवगुण-भाव रखा है, इसलिये यह अवगुणरूपी दोष उसकी बुद्धि में आ गया है, जो सर्प की लार के सदृश है, इसलिये वह कल्याण के मार्ग पर कैसे चल सकता है ? यदि कोई उसके मुख की बात सुने तो सुननेवाले की बुद्धि भी सत्संग में पिछड़ जाती है. इस प्रकार की दूषित बुद्धिवाला जहाँ-जहाँ जन्म लेता है, वहाँ-वहाँ वह भगवान अथवा उनके (भगवान के) भक्त से द्रोह ही करता है और जिसकी बुद्धि इस प्रकार दूषित न हो और वह यदि थोड़ी ही हो तो भी वह आत्मकल्याण के लिये यत्न करने से पीछे नहीं हटता.

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! वह कभी भगवान के सम्मुख होता है या नहीं ?'

श्रीजीमहाराज ने कहा कि वह तो कभी भी भगवान के सम्मुख होता ही नहीं है.

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! किसी भी प्रकार से ऐसी आसुरी बुद्धि न हो, उसका उपाय बताइये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि एक क्रोध, दूसरा मान, तीसरी ईर्ष्या और चौथा कपट, इन चारों को परमेश्वर तथा सन्त के प्रति नहीं रखना चाहिये, तो कभी भी उसकी आसुरी बुद्धि नहीं होती. यदि इन चारों में से एक को भी

---

१. शास्त्रीय तथा व्यावहारिक.

२. भगवान अथवा भक्त में किये गये छिद्रान्वेषण से.

रखा गया तो जय-विजय की तरह, जो अधिक बुद्धिमान थे तो भी सनकादिक के साथ अभिमान करने के कारण वैकुंठलोक में से उनका पतन हो गया और आसुरी बुद्धि हो गयी, उसकी भी आसुरी बुद्धि हो जाती है. जब आसुरी बुद्धि होती है, तब भगवान और भगवद्भक्त के गुण दोष जैसे दिखायी पड़ते हैं और वह जहाँ-जहाँ जन्म लेता है वहाँ-वहाँ या तो शिव का गण होता है अथवा दैत्यों का कोई राजा होता है और वैरभाव से परमेश्वर का भजन करता है.' ।। इति वचनामृतम् ।।३५।।

वचनामृत ३६ : सच्चा त्यागी

संवत् १८७६ में पौष कृष्ण *त्रयोदशी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे चबूतरे पर पलंग बिछवाकर विराजमान हुए थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कंठ में श्वेत तथा पीले पुष्पों का हार धारण किया था, दोनों कानों पर श्वेत पुष्पों के गुच्छे खोंसे थे, पाग में पीले पुष्पों का तुर्रा लटक रहा था. उन्होंने कर्णिकारके लाल पुष्पों का तुर्रा लगा रखा था और वे दाहिने हाथ में सफेद फूलों का गोला घुमा रहे थे. इस प्रकार शोभायमान होते हुए वे अपने भक्तजनों को आनन्दित करते हुए विराजमान थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसने संसार छोड़ दिया और त्यागी का वेश धारण किया है, उसे यदि परमेश्वर के स्वरूप को छोड़कर असत्पदार्थों में प्रीति रहती है तो उसे कैसा समझना चाहिये ? उसे तो 'बड़े धनी मनुष्य के सामने कंगाल आदमी' जैसा समझना चाहिये. जैसे कंगाल मनुष्य को पहनने के लिये वस्त्र न मिलते हों और वह कूड़ाखाने में से दाने बीनकर खाता हो तो स्वयं को पापी समझता है और अन्य धनी मनुष्य भी उसे पापी समझते हैं 'इसने पाप किये होंगे, जिससे इसे अन्न-वस्त्र नहीं मिलते', वैसे ही त्यागी होकर भी जो पुरुष अच्छे-अच्छे वस्त्रादि पदार्थों को एकत्र करके रखता है और उनमें तृष्णा भी अधिक रखता है तथा धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति में

* शुक्रवार, १३ जनवरी, १८२०.

प्रीति नहीं रखता, ऐसे त्यागी को तो बड़े एकान्तिक साधु कंगाल मनुष्य के समान पापी समझते हैं, क्योंकि पापी होने के कारण ही उसे धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति में प्रीति नहीं होती और परमेश्वर को छोड़कर अन्य पदार्थों से लगाव रहता है. जो त्यागी होता है उसे तो कचरा और कांचन दोनों में समान भाव रहता है. उसमें तो 'यह पदार्थ अच्छा है और वह पदार्थ खराब है', ऐसा विचार ही नहीं रहता तथा एकमात्र भगवान में ही उसकी प्रीति रहती है. वही सच्चा त्यागी है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥३६॥

वचनामृत ३७ : 'आत्मा की जन्मभूमि कैसी ?'

संवत् १८७६ में पौष कृष्ण *चतुर्दशी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे पलंग पर पश्चिम की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उनके शिर पर सफेद पाग थी, जिसमें पीले पुष्पों का तुर्रा लगा हुआ था, दोनों कानों पर सफेद पुष्पों के गुच्छे लगे हुए थे और कंठ में पीले तथा श्वेत पुष्पों का हार था. उन्होंने सफेद चादर ओढी हुई थी और श्वेत दुपट्टा धारण किया था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो अज्ञानी[१] हो और जिसने वेश धारण किया हो तो भी उसे उसकी जहाँ-जहाँ जन्मभूमि होती है, उसमें से उसका स्नेह टलता नहीं है. इतना कहने के बाद श्रीजीमहाराज ने सबको अपनी वह जाँघ दिखाई, जिसमें बाल्यावस्था में वृक्ष की ठूँढ लग गयी थी. वे बोले कि इस चिह्न को जब हम देखते हैं तब हमें उस वृक्ष और तालाब की याद आ जाती है. इसलिये, जन्मभूमि और अपने परिवार एवं सम्बन्धीजनों को हृदय से विस्मृत कर देने में बड़ी कठिनाई होती है. इसलिये, जिन-जिनको जन्मभूमि तथा देह के सम्बन्धीजनों की याद न आती हो, उन्हें बोलना चाहिये और जो लज्जावश न बोलें उन्हें श्रीनरनारायण की कसम है.'

बाद में सभी मुनि अपनी-अपनी समझ के अनुसार बोले. उनकी बातों

---

* शनिवार, १४ जनवरी, १८२०.

१. तीव्रवैराग्यपूर्ण आत्मज्ञान से रहित.

को सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब स्वयं को आत्मारूप[१] मानते हैं तब उस आत्मा की जन्मभूमि कैसी ? उस आत्मा का सम्बन्धी कौन ? उस आत्मा की जाति भी कैसी ? यदि सम्बन्ध ही बताना हो तो पूर्वजन्मों में चौरासी लाख तरह की जिन देहों को धारण किया था, उन सबका सम्बन्ध समान जानना चाहिये और यदि उन समस्त सम्बन्धियों के कल्याण की इच्छा हो तो सबकी कल्याण-कामना करनी चाहिये. जब इस मनुष्यदेह में आये तब चौरासी लाख तरह के माता-पिताओं को अज्ञानवश भूल गये हैं, उसी प्रकार इस मानव-शरीर के जो माँ-बाप हैं उन्हें ज्ञान द्वारा भुला देना चाहिये.

हमें तो किसी भी पारिवारिक सम्बन्धी के साथ स्नेह नहीं है. जो हमारी सेवा करते हों और उनके हृदय में यदि परमेश्वर की भक्ति न हो तो उनसे स्नेह करने पर भी वह नहीं हो पाता. जो नारदजी जैसा गुणवान हो, किन्तु उसमें भगवान की भक्ति न हो तो वह हमें बिल्कुल अच्छा नहीं लगता. जिसके हृदय में भगवान की भक्ति हो और जो यह समझता है कि जैसे[२] प्रकट भगवान पृथ्वी पर विराजते हैं और उन भगवान के जैसे[३] भक्त भगवान के समीप बैठते हैं वैसे के वैसे ही[४] आत्यन्तिक प्रलय होने पर भी रहते हैं और 'ये भगवान तथा भगवद्भक्त सदा साकार ही रहते हैं', ऐसा समझता है. उसने चाहे किसी भी [५]वेदान्ती के ग्रन्थ सुने हों, फिर भी वह भगवान और भगवद्भक्तों को निराकार समझता ही नहीं है और यह जानता है कि 'भगवान के सिवा दूसरा कोई भी जगत का कर्ता है ही नहीं' तथा यह जानता है कि 'भगवान की आज्ञा के बिना सूखा पत्ता भी हिलने में समर्थ नहीं हो पाता.' जिसे भगवान में साकार भाव की ऐसी दृढ़ प्रतीति हो और वह जैसा-तैसा हो, तो भी हम उसे पसन्द करते हैं. उस पर काल, कर्म तथा माया का हुक्म नहीं चलता. यदि उसे दंड देना हो तो भगवान स्वयं देते है, किन्तु उस पर अन्य किसी की आज्ञा नहीं चलती. यदि ऐसी निष्ठा न हो तो

---

१. जड़शरीरादि से विलक्षण सच्चिदानन्द-रूप में.

२. साकार.

३. आकारवान.

४. साकार ही.

५. शुष्कज्ञानीकृत.

उसके त्यागवैराग्ययुक्त होने पर भी उसका हमारे अन्तःकरण पर कोई असर नहीं पड़ता. जिसके हृदय में ऐसी अचल निष्ठा रहती हो, वह चाहे जितने शास्त्र सुने अथवा चाहे किसी का भी संग करे, तो भी भगवान में साकार-भाव की उसकी निष्ठा नहीं टलती और भगवान को तेज के बिम्ब जैसा निराकार कभी समझता ही नहीं है. ऐसी निष्ठावाले सन्त की चरणरज को तो हम भी सिर पर चढ़ाते हैं, और उसे दुखित करने से मन में डरते हैं तथा उसके दर्शन के भी इच्छुक रहते हैं. जो जीव ऐसी निष्ठा से रहित रहते हैं वे अपने साधनों के बल पर आत्मकल्याण की कामना करते हैं, परन्तु ऐसे परमेश्वर के प्रताप से अपने कल्याण की इच्छा नहीं करते. ऐसे जड़मतिवाले पुरुष तो बिना नौका के अपने बाहुबल से समुद्र को तैरने की इच्छा करनेवाले आदमियों जैसे मूर्ख हैं. जो भगवान के प्रताप से अपना कल्याण चाहते हैं वे तो नाव में बैठकर समुद्र पार करने की इच्छा रखनेवाले पुरुषों जैसे बुद्धिमान हैं. भगवान के स्वरूप में ऐसा ज्ञान रखनेवाले जो जीव हैं, वे सब देह-त्याग करने के बाद भगवान के धाम में चैतन्य की ही मूर्ति होकर भगवान की सेवा में रहते हैं. जिसकी ऐसी निष्ठा न हो और उसने अन्य साधन अपनाये हों तो वह अन्य देवों के लोक में रहता है. जो भगवान के यथार्थ भक्त हैं, उनका दर्शन तो भगवान के दर्शन के समान है. उनके दर्शन से तो अनेक पतित जीवों का उद्धार होता है. ऐसे ये बड़े हैं.' इस प्रकार की वार्ता करने के बाद श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब कीर्तन करिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥३७॥

वचनामृत ३८ : सत्संग का मूल्यांकन, आत्मनिरीक्षण

संवत् १८७६ में माघ शुक्ल *प्रतिपदा को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में सायंकाल घुड़साल के बरामदे में गद्दा बिछवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सिर पर लाल पल्ले का सफेद फेंटा बांधा था, डोरिया का अंगरखा पहना था और सफेद शाल ओढी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष साधुओं तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

---

* सोमवार, १६ जनवरी, १८२०.

उस समय श्रीजीमहाराज समस्त हरिभक्तों के सामने देखकर बहुत देर तक विचार करते रहे और बाद में इस प्रकार बोले कि 'सुनिये बात करते हैं कि जो सत्संगी हो उसे जब से स्वयं को सत्संग हुआ हो तब से अपने मन को टटोलना चाहिये कि सत्संग के 'प्रथम वर्ष में मेरा मन ऐसा था और बाद में इस प्रकार था तथा इतनी भगवान की और इतनी जगत की वासना थी.' इस प्रकार वर्ष-वर्ष के लेखा-जोखा पर विचार करते रहना चाहिये और अपने मन में जगत की जितनी वासना बाकी रह गयी हो, उसे थोड़ा-थोड़ा करके निरन्तर समाप्त कर देना चाहिये. यदि वह इस प्रकार विचार नहीं करता है और सबको इकट्ठा करता जाता है तो उसकी वह वासना नहीं मिटती. जैसे बनिये के घर कोई खाता खोला हो, उसका हिसाब यदि हर महीने लगातार चुका दिया जाय तो उसे देने में कठिनाई नहीं पड़ती, किन्तु एक वर्ष का हिसाब इकट्ठा होने पर उसे चुकता करना बहुत कठिन हो जाता है, वैसे ही निरन्तर विचार करते रहना चाहिये. और, मन तो जगत की वासनाओं से परिपूरित ही रहता है. जिस प्रकार तिल फूलों की सुगन्ध से सुगन्धित हो जाता है उसी प्रकार भगवान के चरित्र का महिमासहित नित्य स्मरणरूपी फूल में मन को बसाना चाहिये और भगवान के चरित्र रूपी जाल में मन को जकड़कर रखना चाहिए और मन में भगवान सम्बन्धी संकल्प करते रहना चाहिये. एक संकल्प के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा संकल्प करते रहना चाहिये. इस प्रकार, मन को बेकार नहीं रहने देना चाहिये.' इतना कहने के बाद श्रीजीमहाराज ने भूत[१] का दृष्टान्त भी विस्तृत रूप से सुनाया.

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस प्रकार भगवान के एक दिन के चरित्रों, वार्ता तथा दर्शन का यदि स्मरण करने लगें तो उसका पार ही नहीं आ सकता, तब सत्संग होने में तो दस-पन्द्रह वर्ष लगे होंगे, तो उनका पार नहीं लगता. इसलिये, उनका इस प्रकार स्मरण किया जाय कि 'इस गाँव में इस प्रकार महाराज तथा परमहंसों की सभा हुई, इस तरह महाराज की पूजा तथा इस प्रकार वार्ता हुई,' इत्यादि. भगवान के चरित्रों का बार-बार स्मरण करना चाहिये. जो अधिक न समझता हो उसके लिये तो ऐसा करना

---

१. किसी पुरुष ने भूत को वश में कर लिया था और जब वह भूत को कोई काम नहीं बताता है तब भूत उसे खाने को तैयार हो जाता. वैसे ही यह मन भी है.

ही श्रेष्ठ उपाय है. इसके समान दूसरा कोई उपाय नहीं है. तब, आप कहेंगे कि 'थोड़ा अन्न खायें तथा अनेक उपवास (व्रत) करें.' यह बात तो हम नहीं कहते. जिस प्रकार जिनके जो नियम बताये गये हैं, उन्हें उसी तरह सामान्य रूप से रहना चाहिये और कार्य करने के लिये तो हमने जो बात आपसे कही वही है. वस्तुतः, हम तो ऐसा मानते हैं कि मन निर्वासनिक होना चाहिये और देह से चाहे जितनी प्रवृत्ति होती रहे, किन्तु जिसका मन यदि शुद्ध रहता है तो उसका अति अनिष्ट नहीं होता तथा बाह्य जगत में तो उस प्रवृत्तिवाले का अनिष्ट जैसा प्रतीत हो.

जिसके मन में वासना हो और बाहर से वह अच्छी तरह निवृत्तिपरायण होकर आचरण करता हो तो बाह्य जगत में वह भले ही अच्छा दीखता हो, परन्तु उस जीव का अत्यन्त अनिष्ट हो जाता है, क्योंकि मरण के समय, मन में जैसे संकल्प होते हैं, वैसी ही उनकी स्मृति होती है. जैसे, भरतजी को अन्तकाल में मृगशावक की याद आ गयी, तब उनका स्वरूप मृग के आकार में बदल गया और उन्होंने प्रथम राज्य को छोड़ दिया था. ऋषभदेव भगवान तो उनके पिता थे तो भी ऐसा हुआ. इसलिये, मन से निर्वासनिक रहना चाहिये, ऐसा हमारा मत है. जो व्रत करना है उससे देह के दुर्बल होने पर मन कमजोर हो जाता है, परन्तु जब देह पुष्ट हो जाय तब मन भी पुष्ट हो जाता है, इसलिये देह और मन से त्याग, दोनों ही एकसाथ होने चाहिये. जिसके मन में भगवान के संकल्प होते हों और जगत के संकल्प नहीं हों, तब तो वह अपने सत्संग में बड़ा है और जो ऐसा न हो, वह छोटा है. गृहस्थ को भी देह द्वारा व्यवहार करना चाहिये तथा मन से भी उसे त्यागी की भाँति निर्वासनिक रहना चाहिये और भगवान का चिन्तन करना चाहिये. व्यवहार तो भगवान के वचनों के अनुसार ही करना चाहिये. यदि मन से त्याग वास्तविक न हो तो यह ठीक नहीं है. जनक जैसे राजा भी राजकाज चलाते रहे थे, फिर भी उनका मन तो महान योगेश्वर के समान रहा था. इसलिये, मानसिक रूप से त्याग करना ही उचित है.

यदि अपने मन में बुरे संकल्प होते हों तो उन्हें बता देना चाहिये, परन्तु जिस प्रकार 'कुत्ते का मुख कुत्ता चाटे', 'सर्प के घर मेहमान साँप स्वयं मुँह चाटकर लौटा' और विधवा के पास सौभाग्यवती स्त्री जाय तो उससे वह यह कहे कि 'आओ बाई मेरी जैसी तू भी हो जाय' जैसी कहावतें

हैं उसी तरह अपने समान जिसके बुरे संकल्प होते हों उसके सामने स्वयं के संकल्पों को प्रकट करना, बताये गये इन दृष्टान्तों के समान[१] है. इसलिये अपने संकल्प केवल उसी व्यक्ति के समक्ष प्रगट करने चाहिये, जिसके मन में कभी भी असत् लौकिक संकल्प न होता हो और जो अपनी बात पर अटल रहता हो. ऐसे व्यक्ति भी अनेक हैं, जिनके मन में ऐसा संकल्प न होता हो. इसलिए, ऐसे पुरुषों में से भी ऐसे पुरुष को संकल्प बताया जाय, जो उस संकल्प को सुनकर उस पर बात करे और जब तक उस कहनेवाले का संकल्प टल जाय तब तक बैठते-उठते, खाते-पीते, समस्त क्रियाओं में बात करता ही रहे तथा अपने संकल्पों को टालने की तीव्रता रखने वाले के सामने ही संकल्प को प्रकट किया जाना चाहिये, किन्तु जिसके समक्ष संकल्प कहा जाय, वह यदि इस प्रकार बात तो करे नहीं और स्वयं आलसी हो, तो लाभ क्या हो सकता है ? इसलिये, इस प्रकार अपने मन के संकल्प को कहकर उसे टाल करके अपने मन में केवल भगवान का संकल्प करते रहना चाहिये और जगत के सुख से निर्वासनिक हो जाना चाहिये.

एकादशी का व्रत करने का क्या लक्षण है ? वह यह है कि दस इन्द्रियों तथा ग्यारहवें मन को अपने-अपने विषय में से हटाकर उन्हें भगवान में जोड़ देना चाहिये, उसी को एकादशी का व्रत करना कहा जाता है. भगवान के भक्त को ऐसा व्रत तो निरन्तर करना चाहिये. जिसका मन निर्वासनिक न हो और देह से व्रत, तप करता रहे तो भी उसका अतिशय कल्याण नहीं होता. इसलिये, भगवान के जो भक्त हों उन्हें तो अपने-अपने धर्म में रहकर और उन भगवान के माहात्म्य को समझकर अपने मन को निर्वासनिक करने का नित्य अभ्यास करते रहना चाहिये.' उन्होंने ऐसी वार्ता कही.

श्रीजीमहाराज ने अन्य वार्ता कही कि 'सच्चा त्यागी किसे कहा जाय ? वे बोले कि जिस पदार्थ का त्याग कर दिया गया है, उसका फिर से मन में कभी भी संकल्प नहीं होना चाहिये. जिस प्रकार विष्ठा करने के बाद फिर से उसका संकल्प नहीं होता. उसी प्रकार संकल्प नहीं होता है. इस प्रसंग में शुकजी के प्रति नारदजी द्वारा कहा गया यह श्लोक है कि 'त्यज [१]धर्ममधर्मं

---

१. अभीष्ट लाभ नहीं होता, बल्कि अनिष्ट हो जाता है.

च.' इस श्लोक का आशय यह है कि 'एक आत्मा के सिवाय जो अन्य पदार्थ हैं उनका त्याग करके केवल आत्मारूप से आचरण करना चाहिये और भगवान की उपासना करनी चाहिये.' उसीको पूर्ण (वास्तविक) त्यागी कहते हैं तथा जो गृहस्थ हरिभक्त हो वह तो जनकराजा के इस कथन को समझता है कि 'मेरी यह मिथिला नगरी जलती है, परन्तु उसमें मेरा कुछ भी नहीं जलता.' उसके सम्बन्ध में यह श्लोक है कि '**मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन.**' वस्तुतः, ऐसा ज्ञानी गृहस्थ हरिभक्त ही सच्चा हरिभक्त कहलाता है. इस प्रकार का जो त्यागी और गृहस्थ न हो, उसे तो प्राकृत भक्त कहा जाता है और पहले जैसा कहा गया है वैसा हो तो उसे एकान्तिक भक्त कहा जाता है.' इस प्रकार उन्होंने वार्ता कही.

इसके पश्चात् बड़े आत्मानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'देह, इन्द्रियों, अन्तःकरण और देवता से भिन्न जो जीवात्मा है, उसका स्वरूप किस प्रकार का है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'संक्षेप में इसका उत्तर देते हैं कि देह तथा इन्द्रियों आदि के स्वरूपों का जो वक्ता है वह श्रोता को उन सबके स्वरूपों को अलग-अलग करके समझाता है. वह जो समझानेवाला वक्ता है, वह देह आदि सबके प्रमाण का करनेवाला और जाननेवाला है और सबसे पृथक् रहता है, उसीको जीव कहते हैं तथा जो श्रोता है वह देहादिक के रूपों को अलग-अलग समझता है तथा उन्हें प्रमाणित करता और जानता है तथा इन सबसे भिन्न है, उसीको जीव कहते हैं. जीव के स्वरूप को समझने की यही[२] रीति है.' ॥ **इति वचनामृतम्** ॥३८॥

---

१. इस स्थान में धर्मादि के स्वरूपों से त्याग नहीं कहा गया है, परन्तु भगवान का ध्यान करते समय विघ्न डालनेवालों के संकल्पों के त्याग अथवा फल के त्याग की बात कही गयी है.

२. देह, इन्द्रियों, मन, प्राण एवं बुद्धि आदि के ज्ञाता, प्रमाणकर्ता, द्रष्टा, श्रोता, वक्ता, रसयिता, घ्राता, मन्ता, बोद्धा तथा कर्ता के रूप में जिसकी प्रतीति होती है, वही जीवात्मा है. उसी प्रकार से ही देहादि से आत्मा भिन्न जानी जा सकती है तथा उसका रूप भी वही है. इसी तथ्य को श्रुतिस्मृतियों में कहा गया है – '**अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा**', '**एष हि द्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः**', '**विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्**', '**एवमेवाऽस्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः**', '**इदं शरीरं**

वचनामृत ३९ : सविकल्प तथा निर्विकल्प स्थिति

संवत् १८७६ में माघ शुक्ल *तृतीया को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे चबूतरे पर पलंग बिछवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सफेद चादर ओढ़ी थी, सिर पर श्वेत पाग बाँधी थी, पीले पुष्पों के गुच्छे खोंसे थे और कंठ में पीले पुष्पों के हार पहने थे. उस समय उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने वहाँ आये हुए एक वेदान्ती[१] ब्राह्मण से प्रश्न पूछा कि 'आप एक ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं और उससे भिन्न जीव, ईश्वर, माया, जगत, वेदों, शास्त्रों एवं पुराणों को मिथ्या[२] कहते हैं, यह बात हमारी समझ में नहीं आती, इसलिये हम उसे नहीं मानते. अतएव, आपसे पूछते हैं, आप उसका उत्तर दीजिये. आप यह उत्तर वेदों, शास्त्रों, पुराणों, स्मृतियों तथा इतिहास के प्रमाणों के साथ दीजिये. यदि आप किसी कल्पित ग्रन्थ के वचनों का उद्धरण देकर उत्तर देंगे तो हम उसे नहीं मानेंगे. यदि आप यही उत्तर व्यासजी के वचनों के आधार पर देंगे तो हम उसे मान लेंगे, क्योंकि व्यासजी के वचनों में दृढ़ प्रतीति है.'

बाद में वह वेदान्ती अनेक प्रकार की युक्तियों के साथ उत्तर देने लगा, परन्तु श्रीजीमहाराज ने उसमें आशंका प्रकट की, इसलिये उस प्रश्न का समाधान नहीं हुआ. तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'सुनिये, इस प्रश्न का उत्तर हम देते हैं और वह यह है कि परमेश्वर का भजन करके जो मुक्त हो चुके हैं उनकी स्थिति के दो प्रकार हैं. जैसे, मेरु पर्वत पर खड़े हुए पुरुष

---

* बुधवार, १८ जनवरी, १८२०.

कौन्तेय ! क्षेत्रमित्यभिधीयते. एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥' 'देहेन्द्रियमनःप्राणधीभ्योऽन्योऽन्यसाधनः । नित्यो व्यापी प्रतिक्षेत्रमात्मा भिन्नः स्वतः सुखी ॥' इत्यादि, इतना ही तात्पर्य है.

१. परब्रह्म को निराकार और निर्गुणरूप में प्रतिपादित करनेवाले शुष्कज्ञानी में वेदान्ती शब्द संकेत किया हुआ जानना चाहिये.

२. सीपी में चाँदी के समान कल्पित.

मेरु के निकटवर्ती समस्त पर्वतों, वृक्षों और उनके आधार पृथिवी-तल, सबको पृथक् रूप से देखते हैं, वैसे ही सविकल्प समाधिवाले ज्ञानी मुक्त जीव, ईश्वर, माया तथा उनके आधार ब्रह्म, सबको अलग-अलग रूप से देखते हैं, और जैसे लोकालोक पर्वत के ऊपर खड़े हुए पुरुष उस पर्वत के समीपवर्ती पर्वतों तथा वृक्षों को एकमात्र पृथ्वीरूप में ही देखते हैं, परन्तु पृथक् रूप से नहीं देखते, वैसे ही निर्विकल्प समाधिवाले महामुक्त जीव, ईश्वर तथा माया को एकमात्र ब्रह्मरूप में ही देखते हैं, किन्तु पृथक् रूप से नहीं देखते. इस रीति से दो प्रकार की स्थितिवाले मुक्तों की स्थिति के योग से उन सबकी सत्यता तथा असत्यता कही जाती है. सविकल्प स्थितिवालों के वचन वेदों, शास्त्रों तथा पुराणों आदि में आते हैं, उन सबको सत्य कहते हैं तथा निर्विकल्प स्थितिवालों के वचनों को असत्य कहा जाता है, परन्तु वस्तुतः ये सब असत्य नहीं है, क्योंकि ये तो अपनी निर्विकल्प स्थिति के कारण दृष्टिगोचर नहीं होते, इस कारण उन्हें असत्य कहा जाता है. जिस प्रकार सूर्य के रथ में जो बैठे हों उनके लिये रात्रि नहीं होती, परन्तु पृथ्वी के ऊपर रहनेवालों के लिये रात और दिन होते हैं, उसी प्रकार निर्विकल्प स्थितिवालों के मतानुसार ये सब नहीं हैं, किन्तु दूसरों के मत से तो ये सभी हैं. इस प्रकार ब्रह्मनिरूपण करने से तो शास्त्रों के वचनों में पूर्वापर बाधा नहीं आती. यदि ऐसा नहीं किया गया तो पूर्वापर की बाधा उपस्थित हो जाती है. जो उस बाधा को तो न समझता हो तथा ऐसी स्थिति को भी प्राप्त नहीं हुआ हो और केवल शास्त्रों में से सीखकर वचनमात्र से एक ही ब्रह्म के होने का प्रतिपादन करता हो तथा गुरु, शिष्य, जीव, ईश्वर, माया, जगत और वेदों, पुराणों, शास्त्रों को कल्पित कहता हो, वह तो महामूर्ख है और अन्त में वह नारकीय जीव बन जाता है.'

ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'हमने यह बात कही है, उसमें यदि आपको आशंका होती हो तो बोलिये.' तब वह वेदान्ती ब्राह्मण बोला कि 'हे महाराज ! हे प्रभो ! हे स्वामिन् ! आप तो परमेश्वर हैं और जगत के कल्याण के लिये प्रकट हुए हैं. अतएव, आपने जो उत्तर दिया है वह यथार्थ है, उसमें आशंका के लिये कोई भी स्थान नहीं है.' इतना कहकर वह वेदान्ती ब्राह्मण अत्यन्त प्रसन्न हुआ और अपने अज्ञान का परित्याग करके श्रीजीमहाराज का आश्रित हो गया. ॥ इति वचनामृतम् ॥३९॥

वचनामृत ४० : भक्ति और उपासना

संवत् १८७६ में माघ शुक्ल *चतुर्थी को प्रातःकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढडा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सफेद चादर ओढ़ी थी, सिर पर श्वेत पाग बाँधी थी. उनकी पाग में पीले पुष्पों का तुर्रा लटकता था और कंठ में उन्होंने पीले पुष्पों का हार पहना था. उनके मुखारविन्द के समक्ष समस्त मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

तब श्रीजीमहाराज से मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! सविकल्प समाधि तथा निर्विकल्प समाधि किसे कहते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान के स्वरूप में जिसकी स्थिति हो गयी हो तो उसमें अशुभ वासना तो नहीं रहती, किन्तु शुभ वासना रही हो कि 'मैं नारदसनकादिक तथा शुकजी – जैसा हो जाऊँ अथवा नरनारायण के आश्रम में जाकर और वहाँ के मुनियों के साथ रहकर तप करूँ अथवा श्वेतद्वीप में जाकर तपस्या करके श्वेतमुक्तसदृश हो जाऊँ.' जिसमें इस प्रकार का विकल्प रहता हो उसे सविकल्प समाधिवाला कहते हैं, किन्तु जो इस प्रकार का विकल्प न रखता हो तथा अक्षरब्रह्म के साधर्म्यभाव को प्राप्त करके केवल भगवान की मूर्ति में ही निमग्न रहता हो, उसे निर्विकल्प समाधिवाला कहते हैं.

इसके पश्चात् मुक्तानन्द स्वामी ने पुनः यह प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! भक्ति तथा उपासना में क्या अन्तर रहता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि[1] '**श्रवणं कीर्तनं विष्णोः, स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं, सख्यमात्मनिवेदनम्**' ॥ [2]इस तरह नव प्रकार से भगवान की जो आराधना की जाती है उसे भक्ति कहते हैं तथा उपासना तो

---

* गुरुवार, १९ जनवरी, १८२०.

१. किसी स्थान पर भक्ति तथा उपासना, ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं, इसलिये एक ही अर्थ होता है, किसी स्थल पर तो दोनों शब्दों का अर्थभेद बताया गया है वह प्रकार मैं बताता हूँ.

२. प्रीतिपूर्वक.

उसे कहा जाता है, जिसे भगवान के स्वरूप में सदैव साकार-भाव की दृढ़ निष्ठा हो और भजन करनेवाला यदि स्वयं ब्रह्मरूप हो जाय तो भी उस निष्ठा का लोप न हो और निराकार भाव का प्रतिपादन करनेवाले चाहे किसी भी ग्रन्थ को सुने, तो भी भगवान के स्वरूप को सदा साकार ही समझे और शास्त्रों में चाहे कैसी ही बात आवे, किन्तु स्वयं भगवान के साकार स्वरूप का ही प्रतिपादन करे, परन्तु अपनी उपासना का खंडन नहीं होने देता. इस प्रकार जिसकी दृढ़ बुद्धि हो, उसे उपासक कहते हैं.'

॥ इति वचनामृतम् ॥४०॥

वचनामृत ४१ : 'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय'

संवत् १८७६ में माघ शुक्ल *पंचमी को सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढडा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के समीप नीमवृक्ष के नीचे चबूतरे पर बिछाये गये पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, पीले पुष्पों के हार पहने थे तथा पीले पुष्पों के गुच्छे कान पर धारण किये थे और पगड़ी में पीले पुष्पों के तुर्रे लटकते हुए रखे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ करिये.' तब नृसिंहानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! **'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय'**, इस श्रुति-वाक्य का जो अर्थ है उसे जगत के कितने ही पंडित तथा वेदान्ती ऐसा समझते हैं कि 'प्रलयकाल में जो एकमात्र भगवान थे, वे ही स्वेच्छा से[१] सृष्टिकाल में समस्त जीव-ईश्वररूप हो गये हैं.' यह बात तो मूर्ख ही मानता है और हमें तो आपका ही आश्रय है, इसलिये उस बात का मेल नहीं बैठता है और हम तो ऐसा समझते हैं कि भगवान तो अच्युत हैं और वे च्युत होकर जीव-ईश्वररूप नहीं होते. इसलिये आप उस श्रुति-वाक्य का अर्थ कहिये, ताकि यथार्थ बात समझ में आ सके.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'ये सब इस श्रुति का जैसा अर्थ बताते हैं वैसा नहीं है. इसका अर्थ तो दूसरी तरह का है और वह वेदस्तुति के गद्य

---

* शुक्रवार, २० जनवरी, १८२०.

१. परिणाम प्राप्त करके.

में कहा गया है कि – 'स्वकृत विचित्रयोनिषु विषन्निव हेतुतया तरतमतश्चकास्त्यनलवत्स्वकृतानुकृतिः ।' इसका अर्थ यह है कि 'पुरुषोत्तम भगवान स्वनिर्मित नाना प्रकार की योनियों में कारण भाव तथा अन्तर्यामी रूप द्वारा प्रवेश करके न्यूनाधिक भाव से प्रकाश करते हैं.' उसकी प्रक्रिया यह है कि अक्षरातीत पुरुषोत्तम भगवान सृष्टिकाल में जब अक्षर के समक्ष दृष्टिपात करते हैं तब उस अक्षर में से पुरुष प्रकट होता है. इसके पश्चात् वे पुरुषोत्तम अक्षर में प्रवेश करके पुरुष में प्रवेश करते हैं तथा पुरुषरूप होकर प्रकृति को प्रेरित करते हैं. इस प्रकार ज्यों-ज्यों पुरुषोत्तम का प्रवेश[१] होता गया त्यों-त्यों सृष्टि की प्रवृत्ति हुई. तब प्रकृतिपुरुष से प्रधानपुरुष का आविर्भाव हुआ तथा उन प्रधानपुरुष से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से तीन प्रकार का अहंकार, अहंकार से भूत, विषय, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा देवता हुए. उनसे विराट पुरुष तथा उनके नाभिकमल से ब्रह्मा, उन ब्रह्मा से मरीच्यादिक प्रजापति, उनसे कश्यपप्रजापति, उनसे इन्द्रादि देवता और दैत्य उत्पन्न हुए तथा स्थावर-जंगम की सृष्टि हुई और पुरुषोत्तम भगवान उन सब में कारणभाव से अन्तर्यामी रूप द्वारा प्रवेश करके रहे हैं, किन्तु जिस प्रकार वे अक्षर में हैं, उस प्रकार प्रकृतिपुरुष में नहीं हैं. जिस प्रकार प्रकृतिपुरुष में हैं, उस प्रकार प्रधानपुरुष में नहीं हैं, जैसे प्रधानपुरुष में हैं वैसे महत्तत्त्वादि चौबीस तत्त्वों में नहीं हैं, जिस प्रकार चौबीस तत्त्वों में हैं, उस प्रकार विराटपुरुष में नहीं हैं, जैसे विराटपुरुष में हैं वैसे ब्रह्मा में नहीं हैं, जिस प्रकार ब्रह्मा में हैं, उस प्रकार मरीच्यादिकों में नहीं हैं, जैसे मरीच्यादि में हैं वैसे कश्यप में नहीं हैं, जिस प्रकार कश्यप में हैं उस प्रकार इन्द्रादि देवताओं में नहीं हैं, जैसे इन्द्रादि देवताओं में हैं वैसे मनुष्य में नहीं हैं, जिस तरह मनुष्य में हैं उस प्रकार पशुपक्षी में नहीं हैं. इस प्रकार पुरुषोत्तम भगवान तारतम्यपूर्वक सब में कारणभाव और अन्तर्यामी रूप से

---

१. सर्वव्यापक पुरुषोत्तम भगवान का सर्वदा समस्त वस्तुओं में पहले से ही प्रवेश है, उसमें कोई नवीन नहीं है. इस स्थल में बताये गये प्रवेश को, सृष्टि समय में शक्तिविशिष्टरूप से किया गया अनुप्रवेश समझना चाहिये, ताकि प्रत्येक तथा समस्त वस्तुओं में परमात्मा की अत्यन्त प्रतीति का बोध हो सके. 'तत्सृष्ट्वा तदनुप्राविश्' (जगत का सृजन करके उसमें प्रवेश किया), ऐसा श्रुति में कहा गया है.

रहते हैं. जिस प्रकार [१]काष्ठ में अग्नि रहती है और वह भी लम्बे काष्ठ और टेढ़े काष्ठ में उसके आकार के समान ही रहती है, उसी प्रकार पुरुषोत्तम भगवान भी जिसके द्वारा जो कार्य करना है उतनी सामर्थ्य के साथ ही उसमें रहते हैं. अक्षर तथा पुरुष-प्रकृति आदि सब में पुरुषोत्तम भगवान अन्तर्यामी रूप से रहे हैं, परन्तु पात्र की तारतम्यता से सामर्थ्य में तारतम्य भाव रहता [२]है. इस प्रकार एकमात्र पुरुषोत्तम भगवान अन्तर्यामी रूप से इन सब में प्रवेश करके रहे [३]हैं, किन्तु जीव-ईश्वर-भाव को स्वयं ग्रहण करके अनेक रूपों से नहीं हुए, इस प्रकार इस श्रुति-वाक्य का अर्थ समझना चाहिये.' ॥ इति वचनामृतम् ॥४१॥

वचनामृत ४२ : विधिनिषेध

संवत् १८७६ में माघ शुक्ल *षष्ठी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे चबूतरे पर बिछाये गये पलंग पर पश्चिम की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उन्होंने सिर पर श्वेत पगड़ी बाँधी थी, सफेद चादर ओढ़ी थी, श्वेत दुपट्टा धारण किया था और दोनों कानों के ऊपर पीले पुष्पों के गुच्छे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस सभा में कई वेदान्ती ब्राह्मण भी आकर बैठे थे. उन्हें देखकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'वेदान्तशास्त्र को जो-जो पढ़ते और सुनते हैं, वे ऐसा कहते हैं कि 'विधि-निषेध[४] तो मिथ्या[५] है तथा विधि-निषेध से प्राप्त होने योग्य जो स्वर्ग और नरक है, वे भी मिथ्या हैं, और उन्हें पानेवाला जो

---

* शनिवार, २१ जनवरी, १८२०.

१. 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो', 'वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो', इत्यादि श्रुतियों में इस अर्थ का निरूपण किया गया है.

२. वास्तव में तारतम्य-भाव नहीं.

३. अतएव, भगवान समस्त रूपों में होते हैं, ऐसा वेदादि में कहा गया है. 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः', सब में व्यापक होकर रहे हैं, इसीलिये आप समस्त रूपों में हैं, ऐसा गीता में भी कहा गया है.

४. विधि अर्थात् कर्तव्य कर्म तथा निषेध यानी नहीं करने योग्य कार्य.

५. ग्रहण करने योग्य नहीं.

शिष्य और गुरु हैं, वे भी मिथ्या हैं और एकमात्र ब्रह्म ही सब में समाया हुआ है, वह सत्य है.' इस प्रकार जो कहते हैं वे क्या समझकर कहते होंगे ? समस्त वेदान्तियों के जो आचार्य शंकराचार्य हैं, उन्होंने तो अपने शिष्यों को दंड-कमंडल धारण कराये और ऐसा कहा कि 'भगवत् गीता तथा विष्णुसहस्रनाम का पाठ करना चाहिए और विष्णु का पूजन करना चाहिए तथा यह कि तरुणों को वयोवृद्ध व्यक्तियों का सम्मान करना चाहिए और पवित्र ब्राह्मण के घर की ही भिक्षा ग्रहण करनी चाहिये.' इस प्रकार उन्होंने विधि-निषेध का जो प्रतिपादन किया, तो क्या उन्हें यथार्थ ज्ञान नहीं होगा ? और, आजकल के जो ज्ञानी हुए हैं उन्होंने विधि-निषेध को मिथ्या कर डाला है तो क्या वे शंकराचार्य की अपेक्षा बड़े हो गये ? इसीलिए, ऐसा प्रतीत होता है कि वे यह बात केवल मूर्खता के कारण कहते हैं. विधि-निषेध को शास्त्रों में जिस प्रकार मिथ्या कहा गया है, उसे इस तरह बताया गया है कि जैसे कोई बड़ा जहाज हो तथा वह (जहाज) महासागर में एक वर्ष तक चला ही जाता है और उसे अगला और पिछला किनारा भी दिखायी नहीं पड़ता और उन दोनों किनारों के बड़े-बड़े पर्वत भी जब दिखायी नहीं पड़ते तब वृक्ष तथा मनुष्य कैसे दीख सकते हैं ? और, जहाँ देखा जाय वहाँ केवल जल ही जल दिखायी पड़ता है, किन्तु उसके अलावा दूसरी कोई भी वस्तु दिखायी नहीं पड़ती और यदि ऊँचा देखा जाय तो समुद्र की बड़ी-बड़ी लहरों के उठने पर केवल ऊँचा जल ही दिखायी पड़ता है. तब उस जहाज में बैठे हुए पुरुष भी ऐसा कहें कि 'केवल जल ही है, दूसरा कुछ भी नहीं है ?' इस दृष्टान्त का सिद्धान्त यह है कि ब्रह्मस्वरूप में जिनकी निर्विकल्प स्थिति हो गयी हो वे तो ऐसा ही बोलें कि एकमात्र ब्रह्म ही है और उसके सिवा जो अन्य जीव, ईश्वर और माया आदि हैं वे सब मिथ्या हैं और उनके वचन शास्त्रों में लिखे गये हों उन्हें सुनकर अपनी तो स्थिति ऐसी नहीं हुई हो तो भी विधि-निषेध को मिथ्या कहते हैं. यद्यपि पुरुष स्त्रियों और लड़कों की तो सुश्रूषा करते हैं और जितना संसार का व्यवहार हो, उस सबको तो सच्चा जानकर सावधानी के साथ करते रहते हैं, परन्तु शास्त्रों में प्रतिपादित विधि-निषेध को मिथ्या कहते हैं. इसीलिए, इस जगत में ज्ञान बतानेवाले ऐसे जो पुरुष हैं उन्हें तो घोर अधम तथा नास्तिक समझना चाहिये. शंकराचार्य ने तो जीव के हृदय में नास्तिकता आ जाने की आशंका

के कारण 'भज गोविन्दम् भज गोविन्दम्, गोविन्दम् भज मूढ़मते !' आदि विष्णु के अनेक स्तोत्रों तथा शिवजी, गणपति और आदि बहुत से देवताओं के स्तोत्रों की रचना की है, जिनको सुनकर सब देवताओं के सम्बन्ध में सत्यता का आभास हो जाय, इस आशय से ही शंकराचार्य ने सभी देवताओं के स्तोत्र तैयार किये हैं, किन्तु आजकल के जो ज्ञानी पुरुष हैं, वे तो सबको मिथ्या कर डालते हैं और फिर ऐसा बोलते हैं कि 'ज्ञानी तो चाहे कैसा ही पाप करें तो भी उन पर उसका कुछ भी असर नहीं होता.' वे मूर्खता के कारण ऐसी बात करते हैं. जितने त्यागी परमहंस हो गये हैं, उन सब में जड़भरत श्रेष्ठ हैं और जितने पुराण तथा वेदान्त सम्बन्धी ग्रन्थ हैं, उन सबमें जड़भरत की वार्ता लिखी गयी है. ऐसे महान जड़भरत पूर्वजन्म में ऋषभदेव भगवान के पुत्र थे और राज्य का त्याग करके वन में गये थे, उन्हें दया से भी यदि मृग के साथ प्रीति हो गयी तो उसका दोष लगा और स्वयं को मृग के रूप में जन्म लेना पड़ा, और मृग के समान चार पाँव, छोटी पूंछ, शिर में छोटे सींग हुए, ऐसा आकार उन्हें प्राप्त हुआ. परमात्मा श्रीकृष्ण भगवान के साथ व्रज की गोपियों ने कामबुद्धि से प्रीति की तो भी सब भगवान की माया को तर गयीं और स्वयं गुणातीत होकर उन्होंने भगवान के निर्गुण अक्षरधाम को प्राप्त कर लिया. उसका कारण यह है कि श्रीकृष्ण भगवान स्वयं साक्षात् पुरुषोत्तम गुणातीत दिव्यमूर्ति थे, तो गोपियों ने उनके साथ जानबूझकर या अनजाने प्रीति की तो भी वे (गोपियाँ) गुणातीत हुईं और भरतजी ने दया की भावना से मृग से प्रीति की तो वे मृग हो गये. इसीलिए, चाहे जितने बड़े हों उन्हें भी कुसंग द्वारा बुरा ही फल मिलता है, और चाहे जितना पापी जीव हो, वह यदि सत्यस्वरूप वाले भगवान का अटूट सम्बन्ध करे तो परम पवित्र होकर अभय पद को पा जाता है. यदि श्रीकृष्ण भगवान स्वयं गुणातीत न होते तो उनकी भक्त गोपियाँ गुणातीत भाव को प्राप्त नहीं कर पातीं. यदि उन्होंने गुणातीत पद को प्राप्त कर लिया तो श्रीकृष्ण भगवान गुणातीत कैवल्य दिव्यमूर्ति ही हैं. वेदान्ती तो यह कहते हैं कि 'ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है.' तब जिस प्रकार गोपियों ने श्रीकृष्ण भगवान से प्रीति की, वैसे ही सब स्त्रियाँ अपने-अपने पतियों से प्रीति करती हैं और सब पुरुष अपनी-अपनी स्त्रियों से प्रीति करते हैं तो भी उन्हें गोपियों जैसी प्राप्ति नहीं होती. उन्हें तो घोर नरक की प्राप्ति होती है.

इसीलिए, जो विधि-निषेध हैं, वे सच्चे हैं, परंतु मिथ्या नहीं हैं, जो विधि-निषेधों को मिथ्या करते हैं वे तो नारकीय जीव होते हैं.' ऐसी वार्ता करके श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपने ठहरने के स्थान पर पधारे.

॥ इति वचनामृतम् ॥४२॥

वचनामृत ४३ : चार प्रकार की मुक्ति

संवत् १८७६ में माघ शुक्ल *सप्तमी को सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढडा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने मस्तक पर श्वेत पगड़ी बाँधी थी, सफेद चादर ओढ़ी थी और श्वेत दुपट्टा धारण किया था और पाग में पीले पुष्पों के तुर्रे लटकते थे. उन्होंने कंठ में पीले पुष्पों के हार पहने थे तथा दोनों कानों पर पीले पुष्पों के गुच्छे खोंसे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस समय श्रीजीमहाराज समस्त भक्तजनों को करुणा-दृष्टि से सबके सामने देखकर बोले कि 'सब सुनिये, एक प्रश्न पूछते हैं कि 'श्रीमद्भागवत पुराण में यह कहा गया है कि 'जो भगवान के भक्त हों वे चार प्रकार की मुक्ति के इच्छुक नहीं होते.' भगवान के अन्य बड़े भक्त भी ऐसा कहते हैं कि 'भगवद्भक्त चार प्रकार की मुक्ति को नहीं चाहते.' वह चार प्रकार की मुक्ति क्या है ? इनमें से पहली तो यह है कि भगवान के लोक में रहना, दूसरी भगवान के सान्निध्य में रहना, तीसरी भगवान के समान रूप [१]प्राप्त करना और चौथी मुक्ति भगवान के सदृश ऐश्वर्य की प्राप्ति है. चार प्रकार की ऐसी जो मुक्ति है, उसे भगवान का भक्त नहीं चाहता, वह तो केवल भगवान की सेवा का ही इच्छुक रहता है. अब प्रश्न यह है कि वह भक्त चार प्रकार की मुक्ति को क्यों नहीं चाहता ?' इस प्रश्न का उत्तर जिनसे जैसे बन पड़े वैसा देना चाहिये.'

समस्त परमहंस उत्तर देने लगे, किन्तु यथेष्ट उत्तर न दे सके. तब श्रीजीमहाराज बोले कि इस प्रश्न का उत्तर हम देते हैं और वह यह है कि 'भगवान का भक्त होकर भी जो पुरुष यदि चार प्रकार की मुक्ति की इच्छा

---

* रविवार, २२ जनवरी, १८२०.

१. शरीर.

रखे तो वह सकाम भक्त कहलाता है. जो भक्त इस चतुर्धा मुक्ति को नहीं चाहता, किन्तु एकमात्र भगवान की सेवा का ही इच्छुक रहता है, वह निष्काम भक्त कहा जाता है. इसका वर्णन श्रीमद्‌भागवत में किया गया है कि –

'[१]मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादि चतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम् ।
[२]सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥'

इसका अर्थ[३] यह है कि भगवान का निष्काम भक्त उस चतुर्धा मुक्ति की भी इच्छा ही नहीं करता, जिसमें भगवान की सेवा या परिचर्या नहीं हो. वह तो वस्तुतः केवल सेवा का ही इच्छुक रहता है. ऐसे निष्काम भक्त को भगवान अपनी सेवा में रखते हैं और भक्त की अनिच्छा होने पर भी भगवान बलपूर्वक उसे अपने ऐश्वर्य-सुख प्राप्त कराते हैं. उस सम्बन्ध में कपिलदेव भगवान ने कहा है कि –

'[४]अथो विभूतिं मम मायाविनस्तामैश्वर्यमष्टांगमनुप्रवृत्तम् ।
श्रियं भागवतीं वाऽस्पृहयन्ति भद्रां परस्य मे तेऽश्नुवते तु लोके ॥'

भगवान ने ऐसे निष्काम भक्तों को ही गीता में ज्ञानी कहा है तथा जो सकाम भक्त हैं उन्हें अर्थार्थी बताया है. इसीलिए, भगवान के भक्तों को

---

१. मेरी सेवा से प्राप्त होनेवाली सालोक्यादि चतुर्विध मुक्ति को मेरी सेवा से ही परिपूर्ण हुए निष्काम भक्त नहीं चाहते, तब फिर काल द्वारा नष्ट होनेवाले देवताओं के ऐश्वर्यों को वे प्राप्त करने की इच्छा न करें, उसके सम्बन्ध में क्या कहना ?

२. अर्थ . मेरी सेवा के सिवा भगवान द्वारा बलपूर्वक प्रदत्त सालोक्यादि मुक्ति को भी जब निर्गुण भक्तिवाले ग्रहण नहीं करते, तब फिर वे सांसारिक फल की इच्छा न करें, उसके सम्बन्ध में क्या कहना ?

३. तात्पर्यार्थ.

४. अर्थः – अर्चिरादिमार्ग में जाना आरम्भ होने के बाद मेरी यानी योगमायाके स्वामी की प्रसिद्ध विभूति (ब्रह्मलोक तक की सम्पत्ति) तथा भक्तियोग से प्राप्त होनेवाले अणिमादि आठ प्रकार के ऐश्वर्यों तथा मंगलरूप भागवती श्री (वैकुंठादि दिव्यलोकों में रहनेवाली सम्पत्ति) को मेरे निष्काम भक्त नहीं चाहते, फिर भी सबसे परे रहनेवाले मेरे धाम में वे उन्हें प्राप्त करते हैं. 'भागवती श्री' पद दृष्टान्त के लिये है, इस कारण यदि मेरे ये भक्त इस भागवती श्रीको नहीं चाहते तो मायाविभूत्यादि की इच्छा न करें, तो इसमें कहना ही क्या है ?

भगवान की सेवा के सिवा अन्य किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करनी चाहिये. यदि ऐसी इच्छा रहे तो इसमें इतनी अपरिपक्वता कहलाती है. इसीलिए, भगवान के निष्काम एकान्तिक भक्त का समागम करके इस तरह की अपरिपक्वता को समाप्त कर डालना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥४३॥

वचनामृत ४४ : सत्पुरुषों के संग से ही परमेश्वर में दृढ़ प्रीति

संवत् १८७६ में माघ शुक्ल अष्टमी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में सबेरे के समय श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे चबूतरे के मध्यभाग में बिछाये गये पलंग पर पश्चिम की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सफेद चादर ओढ़ी थी, शिर पर श्वेत पाग बाँधी थी और उस पाग के अन्तिम छोर को मुख पर लपेटा हुआ था. उस पाग पर पड़े हुए सफेद पुष्पों के हार सुशोभित हो रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'भगवान में स्नेह हो, उसका क्या स्वरूप[१] है ?' बाद में ब्रह्मानन्द स्वामी स्नेह का स्वरूप बताने लगे, परन्तु समाधान नहीं हुआ.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'आपको तो स्नेह की दिशा ही नहीं मिली, और आपने पिंड-ब्रह्मांड से निस्पृह रहने को स्नेह की जो संज्ञा दी है, यह स्नेह का स्वरूप नहीं बल्कि वैराग्य का रूप है. वस्तुतः स्नेह तो उसे कहते हैं, जिसके द्वारा 'भगवान की [२]मूर्ति की अखंड स्मृति बनी रहे.' उसीको स्नेह कहते हैं. जिस भक्त का परिपूर्ण स्नेह भगवान में रहता हो, उसे तो भगवान के सिवाय अन्य संकल्प ही नहीं होता है. उतना ही अन्तर उसके स्नेह में रहता है. भगवान में जिसका परिपूर्ण स्नेह रहता है, उसे ज्ञान अथवा [३]अज्ञान से भगवान की मूर्ति के सिवा अन्य कोई भी संकल्प हो जाय, तो उसे भगवान से भिन्न अन्य संकल्प के कारण उतना ही असह्य

---

१. लक्षण.

२. प्रीतिपूर्वक.

३. देशकालादि की विषमता से.

कष्ट होता है, जिस प्रकार पाँच प्रकार के स्वादिष्ट भोजन करते समय किसी के द्वारा अंजली भरकर कंकड़ और मिट्टी डाले जाने अथवा कपाल को किसी बहुत गरम वस्तु से जलाये जाने के कारण असह्य आघात पहुँचता है. जिसका ऐसा आचरण रहे, उसे भगवान से प्रीति है, ऐसा समझना चाहिये. इसलिये, आप सब अपने-अपने हृदय को टटोल कर देखिये, तो जिसको जितनी प्रीति होगी उसका पता उसको लग जायगा.'

ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान से ऐसी दृढ़ प्रीति बनी रहे, उसका कौन-सा साधन है ?' श्रीजीमहाराज बोले कि 'सत्पुरुषों का प्रसंग ही परमेश्वर में दृढ़ प्रीति होने का कारण होता है.' तब सोमलाखाचर बोले कि 'ऐसा प्रसंग तो अतिशय करते हैं तो भी ऐसी दृढ़ प्रीति क्यों नहीं होती ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'आप प्रसंग तो करते हैं, परन्तु उसमें भी आधा प्रसंग हमारा और आधा प्रसंग जगत का करते हैं. इस कारण भगवान में दृढ़ प्रीति नहीं होती.'

इसके बाद गाँव वसो के विप्र वाला ध्रुव ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! देह तथा देह के सम्बन्धियों में अहंभाव तथा ममता के जो संकल्प होते रहते हैं, उन्हें कैसे मिटाया जाय ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले[१] कि 'यह तो जीव की विपरीत भावना हुई है कि 'अपने को देह से पृथक् रहनेवाली जीवात्मा को तद्रूप नहीं मानता, किन्तु देहरूप समझता है'. उस जीवात्मा में देह किस प्रकार लिपटी हुई है, वह बताते हैं. जिस प्रकार कोई पुरुष दर्जी के घर आकर अंगरखा[२] सिलाता है और उसे पहनता है तब वह ऐसा मानता है कि 'दर्जी[३] मेरा बाप है और

---

१. अचेतन देह तथा चेतन आत्मा का यथार्थ विवेक होने के साथ ही अहंभाव और ममता मिट जाती है. इस कारण, सत्पुरुषों के संग से देह तथा आत्मा के स्वरूप का पृथक्-पृथक् ज्ञान होने के बाद चिद्रूप आत्मा में अहंभाव दृढ़ हो जाता है, उससे देह में अपनेपन का अभिमान नष्ट हो जाता है. अभिमान का नाश होने से स्त्री, पुत्रों तथा धनादिक दैहिक वस्तुओं में रहनेवाली ममता का नाश हो जाया करता है. इसके पश्चात् अहंभाव तथा ममता के समस्त संकल्पों का लय हो जाता है. इतना साक्षात् उत्तर है, उसका सुगमतापूर्वक बोध कराने के लिये दृष्टान्त के साथ विस्तृत रूप से कहते हैं.

२. देह तथा आत्मा के अत्यन्त पार्थक्य को बताने के लिये यह दृष्टान्त है.

३. अंगरखा तो मैं हूँ और.

दर्जिन मेरी माँ है.' जो ऐसा मानता है वह मूर्ख कहलाता है. उसी प्रकार इस जीव का यह देहरूपी जो अंगरखा है, वह कभी ब्राह्मण और ब्राह्मणी से उत्पन्न होता है और कभी उसकी उत्पत्ति नीच जाति से होती है तथा चौराशी लाख योनियों से देह उत्पन्न होती है. यदि वह देह में अहंभाव मानता है और उस देह के माँ-बाप को अपना माँ-बाप समझता है तो वह मूर्ख कहलाता है और उसे पशु जैसा समझा जाना चाहिये तथा चौरासी लाख योनियों में अपनी जो माताएँ, बहनें, लड़कियाँ और स्त्रियाँ होती हैं, उनमें से कोई भी पतिव्रता के धर्म का पालन नहीं करतीं, इस कारण, जो ऐसे सम्बन्ध को सच्चा मानता है, उसके अहंभाव तथा ममता के संकल्प कैसे मिटेंगे ? इस प्रकार के ज्ञान के बिना जन्मभूमि की वासना की समाप्ति अत्यन्त कठिन रहती है. जब तक पुरुष देह को अपना स्वरूप मानता रहता है तब तक उसकी समस्त समझ वृथा ही रहती है. जब तक वह वर्ण अथवा आश्रम का घमंड़ रखकर घूमता-फिरता है तब तक उसमें साधुता आती ही नहीं है. इसीलिए, देह तथा देह के सम्बन्धियों में रहनेवाले अहंभाव तथा ममता का परित्याग करके और अपनी आत्मा को ब्रह्मरूप मानकर तथा समस्त वासनाओं का त्याग करके जो पुरुष स्वधर्मरत रहते हुए भगवान का भजन करता है, वह साधु कहलाता है. जिसमें ऐसी साधुता रहती है, उसमें तथा पुरुषोत्तम भगवान के बीच कोई दूरी नहीं रहती. दूसरा सब कुछ हो सकता है, परन्तु इस प्रकार की साधुता का भाव उत्पन्न होना अत्यन्त कठिन है. 'ऐसा साधु तो मैं हूँ, क्योंकि मुझ में वर्णाश्रम का लेशमात्र भी अभिमान नहीं है.' इस प्रकार श्रीजीमहाराज बोले. यह तो उन्होंने अपने भक्तों को शिक्षा देने के निमित्त ही बताया है, ऐसा समझना चाहिये तथा वे स्वयं तो साक्षात् पुरुषोत्तमनारायण हैं.

॥ इति वचनामृतम् ॥४४॥

वचनामृत ४५ : साकार और निराकार का रहस्य

संवत् १८७६ में माघ शुक्ल *दशमी को सायंकाल स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में

* मंगलवार, २४ जनवरी, १८२०.

श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे चबूतरे पर दक्षिण की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उन्होंने श्वेत चादर ओढ़ी थी, सफेद दुपट्टा धारण किया था और शिर पर श्वेत पाग बाँधी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

गोपालानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! कितने ही वेदान्ती ऐसा कहते हैं कि 'भगवान का आकार नहीं है', और उसके ही प्रतिपादन की [१]श्रुतियों को पढ़ते हैं तथा नारदशुकसनकादिक – जैसे कितने ही भगवद्भक्त तो भगवान के साकार [२]भाव को प्रतिपादित करते हैं. इसीलिए, इन दोनों में से कौन सच्चे हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि[३] 'जो भगवान पुरुषोत्तम हैं, वे तो सदा साकार ही हैं तथा महातेजोमय मूर्ति हैं और अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र पूर्ण जो सच्चिदानन्द ब्रह्म है, वह तो मूर्तिमान पुरुषोत्तम भगवान का तेज है. श्रुतियों में भी ऐसा कहा गया है कि 'वे भगवान माया के सामने देख रहे थे.' वे जब देखते हैं तब क्या उन्हें अकेली आँखें ही होंगी ? हाथ-पैर भी होते हैं. इसीलिए, साकार रूप का प्रतिपादन हुआ. जिस प्रकार, समग्र जल के जीव रूप[४] वरुण अपने लोक में साकार हैं, किन्तु जल निराकार कहलाता है, अग्नि की ज्वाला निराकार कहलाती है, परन्तु उसके देवता अग्नि अपने अग्निलोक में साकार हैं और जैसे समग्र घाम (धूप) निराकार कहलाती है, परन्तु सूर्यमंडल में व्याप्त सूर्यदेव साकार हैं, वैसे ही सच्चिदानन्द ब्रह्म निराकार है, परन्तु पुरुषोत्तम भगवान साकार हैं, और सर्वत्र पूर्णरूप से विद्यमान सच्चिदानन्द ब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का तेज है. तब कुछ इस

---

१. 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः', इत्यादि.

२. 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश... तस्य कप्यासं पुंडरीकमेवमक्षिणी', इत्यादि श्रुतियों से.

३. भगवान के निरवयवभाव तथा सावयवभाव को कहने में दो कोटियाँ हैं. उनमें से एक तो केवल भगवत्तेज हैं, ऐसा कहने में निरवयवभाव तथा तेज के आश्रयरूप भगवान हैं, ऐसे कथन में सावयवभाव रहता है. दूसरी कोटि में तो भगवान मायिक तथा अमायिक अवयववाले हैं. ऐसा कहने से वे निरवयव-सावयवभाव होते हैं. इस प्रकार दोनों कोटियों से भगवान के निरवयव-सावयवभाव को बताया गया है.

४. जलाधार देवरूप.

प्रकार कहेंगे कि श्रुतियों में तो ऐसा बताया गया है कि 'परमेश्वर तो करचरणादि से रहित हैं और सर्वत्र पूर्ण हैं', तो इन श्रुतियों ने करचरणादि का जो निषेध किया है, वह तो मायिक करचरणादि का निषेध है. भगवान का आकार तो दिव्य है, परन्तु मायिक नहीं है. यद्यपि अन्तर्यामी रूप से जीव-ईश्वर में व्यापक पुरुषोत्तम भगवान का ब्रह्मरूप तेज निराकार है, तथापि जीव-ईश्वर, सबको उनके कर्मानुसार यथायोग्य कर्मफल देने में नियन्ता है तथा साकार के समान नियन्तारूप क्रिया को करता है. इसीलिए उस तेज को साकार जैसा समझना चाहिये. इस प्रकार भगवान पुरुषोत्तम सदैव साकार ही हैं, परन्तु वे निराकार नहीं हैं. फिर भी, उन्हें जो निराकार कहते हैं, वे तो समझते नहीं हैं.' ॥ इति वचनामृतम् ॥४५॥

वचनामृत ४६ : आकाश की उत्पत्ति एवं विलय

संवत् १८७६ में माघ शुक्ल *एकादशी को सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढडा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के समीप चबूतरे पर दक्षिण की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सफेद चादर ओढ़ी थी और शिर पर श्वेत पाग बाँधी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस समय भट्ट माहेश्वर[१] नामक वेदान्ती ब्राह्मण ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'समाधि में जब सभी लीन[२] हो जाते हैं तब आकाश किस प्रकार लीन होता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'आकाश के रूप का हम समुचित रूप से विश्लेषण करते हैं, उसे आप सब सावधान होकर सुनिये कि आकाश[३] तो

---

* बुधवार, २५ जनवरी, १८२०.

१. राजकोटपुरनिवासी.

२. देहादिक समग्र विश्व.

३. आकाश दो प्रकार का है – एक भौतिक तथा दूसरा महाकाश-महाकाश को योगी चिदाकाश कहते हैं. वे उसके स्वरूप का निरूपण करके समाधि में चिदाकाश का लय नहीं होने की सूचना देने के साथ-साथ भूताकाश का संकोचनरूप लय होने की बात कहने के रूप में उत्तर देते हैं.

अवकाश को कहते हैं, और जो-जो पदार्थ रहते हैं, वे अवकाश में ही रहते हैं. उन पदार्थों में भी आकाश व्याप्त होकर रहा है. ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जिसमें आकाश न हो, क्योंकि पृथ्वी के एक अतिसूक्ष्म रजकण में भी आकाश है, और यदि उसके करोड़ों टुकड़े भी कर डालें तो भी उसमें आकाश रहता है. इसीलिए, आकाश की दृष्टि से जब देखें तब पृथ्वी आदि चार भूत नहीं दिखायी पड़ते, अकेला आकाश ही दिखायी पड़ता है. वह आकाश सबका आधार है तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूपी तीन शरीर आकाश में रहते हैं तथा यह ब्रह्मांड भी आकाश में रहा है, और ब्रह्मांड के कारण प्रकृति-पुरुष भी आकाश में हैं. ऐसा आकाश प्रकृति-पुरुष तथा उनके कार्य पिंड-ब्रह्मांड के भीतर भी रहा है तथा सबका आधार होकर बाहर भी रहा है. ऐसा यह आकाश तो सुषुप्ति अथवा समाधि में भी लीन नहीं होता. तब कोई कहेगा कि 'आकाशादिक पंचभूत तो तमोगुण से उत्पन्न हुए हैं, ऐसी स्थिति में उस आकाश को पुरुष तथा प्रकृति का आधार कैसे कहा जा सकता है ? उसे सर्वव्यापक भी कैसे कहा जाय ?' इसका उत्तर तो यह है कि प्रकृति में यदि अवकाशरूपी आकाश न हो तो जिस प्रकार वृक्षों में से फलपुष्पादिक बाहर निकलते हैं और गाय के पेट में से बछड़ा निकलता है, उसी तरह प्रकृति में से जो महत्तत्त्व निकलता है, वह फिर कैसे निकलेगा ? इसीलिए, प्रकृति में आकाश रहा है तथा महत्तत्त्व में से अहंकार निकलता है, इस कारण महत्तत्त्व में आकाश रहा है. इसी प्रकार, अहंकार में से तीन गुण निकले हैं, इस कारण अहंकार में आकाश रहा है. इसी तरह तमोगुण में से आकाश आदि पाँच भूत निकलते हैं, इसीलिए तमोगुण में भी आकाश रहा है. तमोगुण में से जो आकाश निकलता है वह (आकाश) तो तमोगुण का कार्य है, जो विकारवान है, किन्तु सबका आधार जो आकाश है वह निर्विकारी और अनादि है. ऐसा सर्वाधार जो आकाश है, उसे ब्रह्म तथा चिदाकाश कहते हैं.

इस आकाश में पुरुष तथा प्रकृति संकोच और विकास-अवस्था को प्राप्त करते हैं. उसका प्रकार यह है कि जब पुरुष प्रकृति के सामने देखता है तब स्त्री-पुरुष से होनेवाली सन्तानोत्पत्ति के समान पुरुषरूपी पति तथा प्रकृतिरूपी स्त्री से महत्तत्त्वादिक सन्तान की उत्पत्ति होती है. इस प्रकार यह

प्रकृति चौबीस तत्त्वरूप तथा पिंड-ब्रह्मांडरूप से होती है, और यही प्रकृति की विकास-अवस्था है. इसके अतिरिक्त, प्रकृति के जितने कार्य हैं, उनमें पुरुष अपनी शक्ति द्वारा व्यापक रूप से रहता है, यही पुरुष की विकास-अवस्था है. जब काल द्वारा प्रकृति के सब कार्य नष्ट हो जाते हैं और प्रकृति भी पुरुष के अंग में लीन-सी रहती है, तब उसीको प्रकृति की संकोचावस्था कहा जाता है. जब पुरुष भी प्रकृति के समस्त कार्यों के नष्ट होने पर अपने स्वरूप में बना रहा, उसीको पुरुष की संकोचावस्था माना जाता है. जैसे कछुवा विकासोन्मुख होने पर अपने समस्त अंगों को बाहर निकाल लेता है और संकोचावस्था को प्राप्त होने पर अपने सभी अंगों को समेट लेता है, तब वह अकेला हो जाता है, वैसे ही पुरुष तथा प्रकृति की संकोच एवं विकास की अवस्था बनी रहती है. प्रकृति तथा उसके (प्रकृति के) कार्यों में भी पुरुष का ही अन्वय-व्यतिरेक भाव रहता है, परन्तु सबका आधार जो चिदाकाश है, उसका ऐसा अन्वय-व्यतिरेक भाव नहीं है, क्योंकि जो सर्वाधार है, वह किससे व्यतिरिक्त हो जाय ? वह तो सदैव सब में रहा है. जो यह ब्रह्मांड है, उसके चारों ओर लोकालोक पर्वत है, जो उसके लिए किले के समान रहा है. उस लोकालोक से बाहर अलोक है, उससे (अलोक से) परे सात आवरण हैं, उनसे (आवरणों से) परे अकेला अन्धेरा है और उस अन्धेरे से परे प्रकाश है, जिसे चिदाकाश कहते हैं. उसी प्रकार, ऊँचाई भी ब्रह्मलोक तक बतायी गयी है, उसके परे सप्त आवरण हैं, उनसे परे अन्धकार है, उससे परे प्रकाश है, जिसे चिदाकाश कहा जाता है. इस प्रकार ब्रह्मांड के चारों ओर चिदाकाश है, और वही ब्रह्मांड के अन्दर भी है. ऐसा जो वह सर्वाधार आकाश है, उसके आकार में जिसकी दृष्टि पहुँचती हो उसे 'दहरविद्या' कहते हैं. और भी 'अक्षिविद्या' आदि अनेक प्रकार की ब्रह्मविद्याएँ कही गयी हैं, जिनमें से यह भी एक ब्रह्मविद्या है. यह चिदाकाश अतिप्रकाशवान है तथा वह चिदाकाश अनादि है. उसकी उत्पत्ति तथा विनाश नहीं होता. जिस आकाश की उत्पत्ति तथा विनाश की बात कही गयी है, वह आकाश तो तमोगुण का कार्य और [१]अन्धकाररूप है, वह लीन हो जाता है, परन्तु सबका आधार जो चिदाकाश है, वह लीन नहीं होता.

---

१. तमोगुण से उत्पन्न हुआ है, इसलिये अथवा नीलवर्ण है, इस कारण.

[1]इस प्रकार आपके प्रश्न का उत्तर दिया गया है. अब उसमें किसी को शंका रही हो तो पूछिये. तब वह वेदान्ती ब्राह्मण तथा समस्त हरिभक्त बोले कि अब किसी को लेशमात्र भी संशय नहीं रहा.'

॥ इति वचनामृतम् ॥४६॥

वचनामृत ४७ : चार प्रकार की निष्ठा

संवत् १८७६ में माघ शुक्ल *द्वादशी को प्रातःकाल स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे चबूतरे के मध्य पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज दाहिने हाथ से चुटकी बजाकर बोले कि 'आप सब लोग सावधान होकर सुनिये, एक बात करते हैं. यद्यपि यह बात तो स्थूल है, फिर भी आप पूर्णरूप से ध्यान देकर उसे सुनेंगे तो समझ सकेंगे, अन्यथा नहीं समझ पायेंगे.' तब समस्त हरिभक्त बोले कि 'हे महाराज ! कहिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'परमेश्वर के भक्तों में किसी की धर्मनिष्ठा, किसी की आत्मनिष्ठा, किसी की वैराग्यनिष्ठा और किसी की भक्तिनिष्ठा प्रधान होती है तथा गौण रूप से तो ये सब अंग समस्त हरिभक्तों में होते हैं.

जिसकी भागवतधर्मनिष्ठा प्रधान होती है, वह तो अहिंसा तथा ब्रह्मचर्य आदि रूपी अपने वर्णाश्रम सम्बन्धी सदाचार से युक्त होकर निर्दम्भभाव से

---

* गुरुवार, २६ जनवरी, १८२०.

१. समाधि में भगवान की मूर्ति में मन, प्राण तथा इन्द्रियों को प्रकाश प्रदान करनेवाली जीव की वृत्तियाँ जब प्रतिलोम सक्रिय हो जाती हैं, तब समाधिस्थ पुरुष के मन एवं इन्द्रियों का प्रतिलोम आकर्षण भगवान की मूर्ति में तत्काल हो जाता है. उसी समय में ही वृत्तियों को व्यापक बनानेवाली स्थानभूत नाड़ियों का आकर्षण होता है. इसके पश्चात् नाड़ियों के छिद्रों में रहनेवाला आकाश भी समस्त नाड़ियों में से संकुचित हो जाता है. उस समय समाधिस्थ पुरुष की देह काष्ठवत् (लकड़ी की भाँति) जड़ हो जाती है. आकाश की ऐसी संकोचावस्था को लय कहते हैं, परन्तु आकाश का स्वरूप से नाश नहीं होता.

भगवान और भगवद् भक्तों की सेवा-चाकरी करने में प्रीतिपूर्वक कार्यरत रहता है. ऐसा भक्त भगवान के मन्दिरों का निर्माण करने, भगवान के लिये बाग-बगीचे बनाने, भगवान को नाना प्रकार के नैवेद्य अर्पित करने तथा भगवान के मन्दिरों और सन्तों के स्थान में लीपने और झाड़ने के कार्यों में रुचि रखता है तथा भगवान की श्रवणकीर्तनादि भक्ति में निर्दम्भभाव से तत्पर रहता है. ऐसी धर्मनिष्ठा रखनेवाला भक्त भागवतधर्मयुक्त शास्त्रों के श्रवण तथा कीर्तनादि में अतिशय रुचि रखता है.

जिसकी आत्मनिष्ठा प्रधान होती है, वह तो तीन देहों और तीनों अवस्थाओं से परे रहनेवाली सत्तारूपी अपनी आत्मा के रूप में निरन्तर आचरणशील रहता है और अपने इष्टदेव प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण परमात्मा को सबसे परे, अति शुद्ध स्वरूप तथा सदा दिव्य साकार मूर्तिवाला समझता है और वह अपनी आत्मा तथा परमात्मा के शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाली वार्ता को स्वयं करता है और उसे दूसरों से सुनता है तथा उसी प्रकार के शास्त्रों में प्रीतिपूर्वक प्रवृत्ति रखता है और स्वयं को आत्मसत्तारूप से आचरण करने तथा उसमें विक्षेप होने पर उसे सहन न कर सकने की प्रकृतिवाला होता है.

जिसकी वैराग्यनिष्ठा प्रधान होती है, उसे तो एकमात्र भगवान की मूर्ति के सिवा अन्य समस्त मायिक पदार्थों में निरन्तर अरुचि रहती है तथा उन्हें असत्यरूप समझकर वह अपने मल की तरह त्यक्त स्वयं के गृह-कुटुम्बीजनों आदि को सदैव विस्मृत करता रहता है तथा वह भक्त भगवान के त्यागी भक्तों का समागम ही करता रहता है और भगवान की भक्ति करता है. उसकी वह भक्ति भी ऐसी होती है, जो उसके निजी त्याग में बाधक न बनने पावे. वह स्वयं त्यागप्रधान वार्ता करता है तथा त्याग का प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रों में रुचि रखता है, और अपने त्याग में बाधा डालनेवाले स्वादिष्ट भोजन तथा सद्वस्त्रादि एवं पंचविषय सम्बन्धी मायिक पदार्थों को प्राप्त करने में अतिशय अरुचि प्रकट करता है.

जिसकी भक्तिनिष्ठा प्रधान होती है, वह तो एकमात्र भगवान के स्वरूप में ही दृढ़ प्रीति बनाये रखता है और उन भगवान के स्वरूप से भिन्न अन्य मायिक पदार्थों में अपनी मनोवृत्ति को बिल्कुल नहीं लगा सकता तथा भगवान को प्रेमपूर्वक वस्त्र एवं अलंकार धारण कराने, भगवान के

मानवचरित्रों का श्रवण करने और भगवान की मूर्ति का निरूपण करनेवाले शास्त्रों में ही उसकी अतिशय रुचि रहती है तथा वह भगवान के प्रति जिस भक्त का प्रेम देखता है, केवल उसीसे प्रीति करता है. वह तो उस भक्त के सिवा अपने पुत्रादि से भी प्रेम कभी भी नहीं करता तथा भगवान सम्बन्धी क्रियाओं में ही ऐसे भक्त की प्रवृत्ति निरन्तर बनी रहती है.

इस प्रकार, ऐसी चार निष्ठाएँ रखनेवाले भक्तों के लक्षणों की वार्तापर विचार करते हुए जिसका जैसा अंग हो उसका वर्णन करिये. यह वार्ता तो दर्पण के समान है और जिसका जैसा अंग होता है उसे वह दिखला देती है. भगवान के जो भक्त हैं वे तो बिना अंग के होते ही नहीं हैं, किन्तु वे अपने अंगों की परख नहीं कर पाते, इसीलिए इन अंगों की दृढ़ता नहीं हो पाती. जब तक अपने अंगों की दृढ़ता नहीं हो पाती तब तक जैसी बात होती है वैसा ही उसका अंग बन जाता है. इसीलिए, इस वार्ता पर विचार करके अपने-अपने अंगों को दृढ़ बनाइये और जिसका जैसा अंग हो वैसा बताइये.' इसके पश्चात् समस्त हरिभक्तों में से जिसका जैसा अंग था उसने वैसा बताया. बाद में श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिनका एक-सरीखा अंग हो, वे उठकर खड़े हो जायें.' तब जिस-जिसका एक समान अंग था, वे सब उठकर खड़े हो गये. बाद में श्रीजीमहाराज ने इन सबको बैठाया.

इसके पश्चात् नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'इन चारों अंगोंवालों के अपने-अपने अंगों में कोई गुण-दोष है या नहीं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो गुण-दोष हैं, उन्हें कहते हैं, सुनिये. इन चारों अंगोंवाले भक्तों के जो लक्षण हमने पहले बताये हैं उनके अनुसार जो आचरण करते हैं, यह तो उनका गुण है तथा जो ऐसा आचरण नहीं करते उतना उनका दोष है.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'इन चारों निष्ठावालों में कुछ अधिक न्यूनता है या ये चारों ही समान हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब तक ये एक-एक निष्ठा के साथ आचरण-शील रहते हैं तब तक ये चारों समान रहते हैं और जब ये चारों निष्ठाएँ एक में ही रहती हैं तब वह सबसे आगे रहता है और एक में ही जब ये चारों निष्ठाएँ इकट्ठी रहती हैं तब उसीको परम भागवत तथा एकान्तिक भक्त कहते हैं.' ॥ इति वचनामृतम् ॥४७॥

वचनामृत ४८ : 'कुसंगी से मेरी रक्षा करिये'

संवत् १८७६ में माघ शुक्ल *त्रयोदशी को सायंकाल स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे चबूतरे के मध्य पलंग पर पश्चिम की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. उस समय उनके सामने दो मशालें जल रही थीं और श्रीवासुदेवनारायण की सन्ध्या आरती तथा नारायणधुन हो चुकी थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'आप सब सावधान होकर सुनिये, एक वार्ता करते हैं.' तब समस्त मुनि तथा हरिभक्त बोले कि 'महाराज ! कहिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान के भक्त को प्रतिदिन भगवान की पूजा तथा स्तुति करके उनसे (भगवान से) यह माँगना चाहिये कि 'हे महाराज ! हे स्वामिन् ! हे कृपासिन्धो ! हे शरणागतप्रतिपालक ! कुसंगी से मेरी रक्षा करना.' वे कुसंगी चार प्रकार के हैं – एक कुंडापन्थी, दूसरा शक्तिपन्थी, तीसरा शुष्कवेदान्ती तथा चौथा नास्तिक. उनमें से यदि कुंडापन्थी का संग हो जाय तो वह निष्काम[1] धर्म से हटाकर उसे भ्रष्ट कर डालता है. यदि शक्तिपन्थी का संग हो जाय तो वह शराब पिलाकर और माँस खिलाकर स्वधर्म से भ्रष्ट कर डालता है. यदि शुष्कवेदान्ती का संग हो जाय तो वह भगवान के धाम तथा भगवान के शाश्वत दिव्य आकार और उनके (भगवान के) अवतारों की मूर्तियों के आकारों[2], सबको मिथ्या बताकर भगवान की [3]भक्ति-उपासना से भ्रष्ट करता है. यदि नास्तिक का संग हो जाय तो वह कर्मों को ही सच्चा दिखाकर परमेश्वर जो श्रीकृष्ण भगवान हैं उन्हें मिथ्या करके दिखाता है तथा अनादि सत् शास्त्रों के मार्ग से भ्रष्ट कर डालता है. इसलिये, भगवान से यह याचना करनी चाहिये कि

---

* शुक्रवार, २१ जनवरी, १८२०.

१. ब्रह्मचर्यव्रतरूप.

२. जीव, ईश्वर और माया आदि.

३. भक्तिरूप उपासना.

'इन चार प्रकार के मनुष्यों का संग कभी भी न हो.' यह प्रार्थना भी करनी चाहिये कि 'हे महाराज ! काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या और देहाभिमान आदि अन्तःशत्रुओं से रक्षा करिये तथा नित्य आपके भक्तों के समागम का अवसर प्रदान कीजिये.' इस प्रकार, नित्य ही भगवान की प्रार्थना करनी चाहिये तथा इन कुसंगियों और अन्तःशत्रुओं से निरन्तर डरते रहना चाहिये.' ।। इति वचनामृतम् ।।४८।।

वचनामृत ४९ : अन्तर्दृष्टि

संवत् १८७६ में माघ शुक्ल *चतुर्दशी को सायंकाल स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे चबूतरे के मध्य पलंग पर विराजमान थे. उनके मुखारविन्द के सामने दो बड़े दीपक जल रहे थे. उन्होंने कंठ में पीले पुष्पों का हार पहना था, दोनों हाथों में पीले पुष्पों के गजरे धारण किये थे और श्वेत वस्त्र पहने थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ करिये.' तब ब्रह्मानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'भगवान में जो वृत्ति रखते हैं वह तो बहुत जोरजबर्दस्ती से रखने के कारण रहती है, किन्तु जगत के पदार्थों के सामने तो यह स्वयमेव रहने लगती है, उसका क्या कारण है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवद्भक्तों की वृत्ति तो भगवान के सिवा अन्य किसी भी स्थान पर रहती ही नहीं है, और उन्हें तो यही चिन्ता लगी रहती है कि 'हमें जगत के पदार्थों में वृत्ति रखना कष्टप्रद रहेगा.' परमेश्वर के भक्तों को तो जगत के पदार्थों में वृत्ति रखना कष्टप्रद ही बना रहता है तथा जगत के जीवों के लिये तो परमेश्वर में वृत्ति रहना अत्यन्त दुष्कर रहता है. इसीलिए, जिसकी वृत्ति परमेश्वर में नहीं रहती वह भगवद्भक्त नहीं है. फिर भी सत्संग में यदि आता रहे तो वह धीरे-धीरे सन्त की वार्ता को सुनते-सुनते परमेश्वर का भक्त हो जायेगा.'

बाद में ब्रह्मानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'इस प्रकार भगवान में वृत्ति

---

* शनिवार, २८ जनवरी, १८२०.

रखने का कौन-सा साधन है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका साधन तो अन्तर्दृष्टि है.[1] वह अन्तर्दृष्टि कौन-सी है ? वह यह है कि स्वयं को जो प्रत्यक्ष भगवान मिले हैं, उनकी मूर्ति के सामने[2] देखते रहना ही अन्तर्दृष्टि है. यदि उस मूर्ति को छोड़कर षट्चक्र[3] दिखायी पड़े अथवा भगवान के गोलोक एवं वैकुंठ आदि धाम दृष्टिगोचर हो जायं तो भी वह अन्तर्दृष्टि नहीं हो सकती. इस कारण भगवान की मूर्ति को अन्तःकरण में धारण करके उसका अवलोकन करते रहने तथा बाहर भी भगवान की मूर्ति को निहारते रहने को ही अन्तर्दृष्टि कहा गया है. उस मूर्ति को छोड़कर अन्य जिस-जिस स्थान पर वृत्ति रहे तो उसे बाह्य दृष्टि कहा जाता है.' इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज परमहंसों से बोले कि 'अब तो दो-दो आदमी आमने-सामने बैठकर प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ करें.' तब परमहंसों ने बहुत देर तक परस्पर प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम चलाया. उन्हें सुनते हुए श्रीजीमहाराज ने उनकी बुद्धि की परीक्षा ली.

॥ इति वचनामृतम् ॥४९॥

वचनामृत ५० : कुशाग्रबुद्धि

संवत् १८७६ में माघ कृष्ण *प्रतिपदा को प्रातःकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढडा स्थित दादाखाचर के राजभवन की ऊपर की मंजिल के आगे विराजमान थे. उन्होंने श्वेतवस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने मुनियों से इस प्रकार पूछा कि 'जिसकी कुशाग्रबुद्धि होती है, उसे [4]ब्रह्म की प्राप्ति होती है, फिर भी क्या लौकिक व्यवहार में

---

* मंगलवार, ३१ जनवरी, १८२०.

१. अन्य तप, व्रत, जपादि साधन नहीं.

२. बार-बार पलक मारकर नहीं, बल्कि निर्निमेष नेत्रों की दृष्टि से अधिक समय तक.

३. गुदा, लिंग, नाभि, हृदय, कंठ तथा भृकुटि का मध्यभाग, इन ६ स्थानों में क्रमशः रहनेवाले मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि एवं आज्ञा, इस षट्चक्र में क्रमानुसार रहनेवाले गणपति, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, जीवात्मा तथा हंसात्मा, ये छह देवता.

४. परब्रह्म.

अत्यन्त दक्ष पुरुष अथवा शास्त्रों एवं पुराणों के बहु-अर्थवेत्ता को कुशाग्रबुद्धिवाला[१] कहा जा सकता है या नहीं ?' समस्त मुनि इसका उत्तर देने लगे, परन्तु यथार्थरूप से न दे सके.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'कितने ही पुरुष तो अधिकाधिक व्यवहारकुशल होते हैं, फिर भी वे आत्मकल्याण के लिये कोई भी यत्न नहीं करते. इसी प्रकार शास्त्रों, पुराणों और इतिहास के अर्थों के अच्छे जानकार कितने ही हैं, किन्तु वे अपने कल्याण के लिये कोई भी प्रयास नहीं करते, इसीलिए उन्हें कुशाग्रंबुद्धिवाला न माना जाय. वस्तुतः ऐसे पुरुषों को तो स्थूलबुद्धिवाला समझा जाना चाहिये. जो पुरुष कल्याण के लिये प्रयत्न करते हैं, वे अल्पबुद्धि होने पर भी कुशाग्रबुद्धिवाले होते हैं तथा जो पुरुष लौकिक व्यवहार में दत्तचित्त होकर जुटा हुआ है, वह अतिसूक्ष्मबुद्धि का होने पर भी स्थूलबुद्धिवाला कहलाता है. इस विषय पर भगवद्गीता का एक श्लोक उल्लेखनीय है :–

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥'

इस श्लोक का अर्थ यह है कि भगवान का भजन करने में तो समस्त जगत के जीवों की बुद्धि रात्रि के समान अन्धकारमय बनी रहती है, अर्थात् ऐसे जीव भगवान का भजन नहीं करते. जो भगवद्भक्त हैं वे तो भगवान के भजन के सम्बन्ध में जागरूक बने हुए हैं, यानी वे भगवान का निरन्तर भजन करते रहने के कार्य में लगे हुए हैं. एक ओर जहाँ जीवमात्र की बुद्धि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गन्ध नामक पाँच विषयों में जाग्रत बनी हुई है, अर्थात् ये जीव विषयों को भोगने में ही लगे हुए हैं, वहाँ दूसरी ओर भगवान के भक्तों की बुद्धि तो इन विषयभोगों के प्रति अन्धकारयुक्त बनी रहती है, यानी वे विषयों का उपभोग नहीं करते. इस कारण, आत्मकल्याण के लिये दत्तचित्त रहनेवाले पुरुषों को ही कुशाग्र बुद्धिवाला माना जायगा, उनके सिवा उक्त सभी मूर्ख हैं.'

॥ इति वचनामृतम् ॥५०॥

---

१. इस प्रकार, 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः', इत्यादि श्रुतियों में कहा गया है.

वचनामृत ५१ : पुरुषोत्तम भगवान

संवत् १८७६ में माघ कृष्ण *द्वितीया को रात्रि के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने सफेद चूड़ीदार पाजामा और श्वेत अंगरखा पहना था, सिर पर सफेद पाग बाँधी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'कुछ प्रश्न पूछिये.' पूर्णानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'दस इन्द्रियाँ तो रजोगुणात्मक हैं तथा चार अन्तःकरण सत्त्वगुणमूलक हैं. जब ये समस्त इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण मायिक हैं और भगवान तो माया से परे हैं, तब मायिक अन्तःकरण द्वारा उनका निश्चय किस प्रकार हो सकता है ? और, चक्षु आदि मायिक इन्द्रियों द्वारा भगवान कैसे दृष्टिगोचर हो सकते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'मायिक वस्तुओं द्वारा मायिक पदार्थों का बोध हो सकता है. इस कारण, मायिक अन्तःकरण तथा इन्द्रियों द्वारा भगवान को बोधगम्य किया जाय तो भगवान भी मायिक सिद्ध हो जायेंगे, यही आपका प्रश्न है ?' पूर्णानन्द स्वामी तथा समस्त मुनियों ने कहा कि 'हे महाराज ! यही प्रश्न है, जिसकी आपने पुष्टि कर दी है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका तो उत्तर यह है कि पचास कोटि योजनपर्यन्त पृथ्वी का पीठ है, उस पृथ्वी पर घटपटादिक अनेक पदार्थ हैं. उन समस्त पदार्थों में यह पृथ्वी रही है तथा अपने स्वरूप से भिन्न भी रही है. इसीलिए, जब पृथ्वी की दृष्टि से देखेंगे तो प्रतीत होगा कि इन समस्त पदार्थों के रूप में पृथ्वी का अस्तित्व बना हुआ है और पृथ्वी के सिवा दूसरा कोई भी पदार्थ नहीं है. वह पृथ्वी जल के एक अंश से हुई है, और जल तो पृथ्वी के नीचे, पार्श्व में और ऊपर भी है तथा पृथ्वी के मध्य में भी जल सर्वत्र व्यापक होकर रहा है. इसीलिए, यदि जल की दृष्टि से देखा जाय तो ऐसा लगेगा कि पृथ्वी नहीं, बल्कि अकेला जल ही है. इस जल

* बुधवार, १ फरवरी, १८२०.

की भी तेज के एक अंश से उत्पत्ति हुई है, इसीलिए, तेज की दृष्टि से देखने पर तो जल नहीं, वरन् अकेला तेज़ ही दिखायी पड़ेगा. वह तेज़ भी वायु के एक अंश से उत्पन्न हुआ है, इसीलिए, वायु की दृष्टि से देखने पर तेज़ नहीं, किन्तु एकमात्र वायु ही दिखायी पड़ेगा. वस्तुतः वायु भी आकाश के एक अंश से उत्पन्न हुआ है, इसीलिए, आकाश की दृष्टि से देखने पर वायु आदि चारों भूत तथा उनके कार्य पिंड ब्रह्मांड कुछ भी नहीं दीखेंगे, किन्तु अकेला आकाश ही सर्वत्र दिखायी पड़ेगा. वह आकाश भी तामस अहंकार के एक अंश से उत्पन्न हुआ है. वह तामस अहंकार, राजस अहंकार, सात्विक अहंकार तथा भूत, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और देवता, ये सब महत्तत्त्व के एक अंश से उत्पन्न हुए हैं. अतएव, महत्तत्त्व की दृष्टि से देखा जाय तो तीन प्रकार का अहंकार, भूत, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा देवता, ये सब नहीं, बल्कि केवल महत्तत्त्व ही दिखायी पड़ेगा.

यह महत्तत्त्व भी प्रधान-प्रकृति के एक अंश से उत्पन्न हुआ है. इसलिये, यदि प्रकृति की दृष्टि से देखें तो महत्तत्त्व नहीं, एकमात्र यह प्रकृति ही दिखायी पड़ेगी. वह प्रकृति भी प्रलयकाल में पुरुष के एक अंश में लीन हो जाती है और बाद में सृष्टि के समय एक अंश से उत्पन्न होती है. इसीलिए, पुरुष की दृष्टि से देखें तो यह प्रकृति नहीं, अकेला पुरुष ही दिखायी पड़ेगा. ऐसे अनन्तकोटि पुरुष हैं, जो महामाया के एक अंश से उत्पन्न होते हैं. इसीलिए, इस महामाया की दृष्टि से देखने पर तो ये पुरुष नहीं, अकेली महामाया ही दिखायी पड़ेगी. यह महामाया भी महापुरुष के एक अंश में से उत्पन्न होती है. इसलिये, यदि महापुरुष की दृष्टि से देखा जाय तो यह महामाया नहीं, बल्कि अकेला महापुरुष ही दिखायी पड़ेगा. यह महापुरुष भी पुरुषोत्तम भगवान के अक्षरधाम के एक स्थल में से उत्पन्न होता है. इसीलिए, इस अक्षर की दृष्टि से देखें तो ये महापुरुष आदि सब नहीं, वरन् एक अक्षर ही दिखायी पड़ेगा. उस अक्षर से परे जो अक्षरातीत पुरुषोत्तम भगवान हैं, वे ही सबकी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के कर्ता हैं और सबके कारण हैं. जो कारण है, वह अपने कार्य में व्यापक होता है तथा उससे अलग भी रहता है. इसीलिए, उन सबके कारण पुरुषोत्तम भगवान की दृष्टि से देखा जाय तो उनके (पुरुषोत्तम भगवान के) सिवा अन्य कुछ भी दिखायी नहीं पड़ेगा. वे भगवान कृपा करके जीवों के कल्याण के लिये

पृथ्वी पर सभी मनुष्यों को प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं. उस समय जो जीव सन्त का समागम करके इन पुरुषोत्तम भगवान की ऐसी महिमा को समझ लेता है, तभी उसकी इन्द्रियाँ और अन्तःकरण, सब पुरुषोत्तममय हो जाते हैं. तब, उनके द्वारा उन भगवान का निश्चय होता है. जिस प्रकार हीरे के द्वारा ही हीरा छेदा जाता है, दूसरे के द्वारा नहीं छिदता, वैसे ही भगवान का निश्चय भी भगवान के द्वारा ही होता है तथा भगवान का दर्शन भी भगवान के द्वारा ही होता है, किन्तु मायिक इन्द्रियों तथा अन्तःकरण द्वारा नहीं होता.' ऐसी वार्ता करने के बाद श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपने ठहरने के स्थान पर पधारे. ॥ इति वचनामृतम् ॥५१॥

वचनामृत ५२ : चार शास्त्र

संवत् १८७६ में माघ कृष्ण *तृतीया को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन के ऊपर की मंजिल के बरामदे में कथावाचन[१] करवा रहे थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस कथा में ऐसा प्रसंग आया कि सांख्य[२], योग[३], वेदान्त[४] तथा पंचरात्र, इन चार शास्त्रों द्वारा जो पुरुष भगवान के स्वरूप को समझ लेता है, वही पूर्ण ज्ञानी कहलाता है. तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! इन चार शास्त्रों द्वारा भगवान को किस प्रकार जानना चाहिये ? यदि इन चार शास्त्रों द्वारा भगवान को न जाना जा सके तो उसमें कौन-सी न्यूनता रहती है, वह बताइये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'सांख्यशास्त्र भगवान को चौबीस तत्त्वों से परे पच्चीसवाँ बताता है. चौबीस तत्त्व जिस प्रकार भगवान के बिना कुछ भी करने में समर्थ नहीं होते, उसी प्रकार जीव-ईश्वर भी भगवान के बिना कोई भी कार्य करने में समर्थ नहीं हो पाते. इसीलिए, इनकी (जीव-ईश्वर

---

* गुरुवार, २ फरवरी, १८२०.

१. मोक्षधर्म की.

२. सेश्वर.

३. ईश्वरसहित.

४. उत्तरमीमांसा.

की) भी चौबीस तत्त्वों के भीतर ही गणना की जाती है तथा जीव-ईश्वर सहित ऐसे जो चौबीस तत्त्व हैं, उन्हें क्षेत्र कहा जाता है और पच्चीसवें जो भगवान हैं, उन्हें क्षेत्रज्ञ कहते हैं. योगशास्त्र तो भगवान को छब्बीसवाँ तथा मूर्तिमान बताता है और जीव-ईश्वर को पच्चीसवाँ कहता है तथा चौबीस तत्त्वों को पृथक् बताता है. उसका यह निर्देश भी है कि इन तत्त्वों से अपनी आत्मा को पृथक् समझकर भगवान का ध्यान करते रहना चाहिये. वेदान्तशास्त्र तो भगवान को सबका कारण, सर्वव्यापक, सर्वाधार, निर्गुण, अद्वैत, निरंजन तथा कर्ता होने पर भी अकर्ता, प्राकृत विशेषणरहित तथा दिव्य विशेषणसहित बताता है. पंचरात्रशास्त्र ने भगवान के सम्बन्ध में यह बताया है कि श्रीकृष्ण पुरुषोत्तमनारायण ही वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न के नाम से चतुर्व्यूहरूप में रहते हैं और पृथ्वी पर अवतार धारण करते हैं. जो पुरुष उनकी नव प्रकार की भक्ति करता है, उसका कल्याण होता है. इस प्रकार, ये चार शास्त्र भगवान के सम्बन्ध में जैसा वर्णन करते हैं, उसे यथार्थ रूप में समझनेवाला पुरुष ही पूर्ण ज्ञानी कहलाता है. यदि अन्य तीन शास्त्रों को छोड़कर जो पुरुष केवल सांख्यशास्त्र द्वारा ही भगवान के स्वरूप को समझता है तो बाधा उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि सांख्यशास्त्र में जीव-ईश्वर को तत्त्वों से अलग नहीं बताया गया है, इसलिये जब तत्त्वों का निषेध करके तत्त्वों से अपनी जीवात्मा को पृथक् समझा जाय तभी पच्चीसवाँ अपनी जीवात्मा को समझा जा सकेगा, किन्तु भगवान को नहीं समझा जा सकता.' यदि अकेले योगशास्त्र द्वारा ही भगवान के स्वरूप को समझा जाय तो यह दोष आता है कि 'योगशास्त्र ने भगवान को मूर्तिमान बताया है. वह उन्हें परिच्छिन्न मानता है, किन्तु अन्तर्यामी और परिपूर्ण नहीं मानता.' जो एकमात्र वेदान्तशास्त्र द्वारा ही भगवान के स्वरूप को समझता है तो यह दोष आता है कि 'भगवान को जिस प्रकार सर्वकारण, सर्वव्यापक तथा निर्गुण कहा गया है, उन्हें वह निराकार समझता है, परन्तु भगवान के प्राकृत करचरणादि रहित और दिव्य अवयववाले सनातन आकार को नहीं मानता.' यदि अकेले पंचरात्रशास्त्र द्वारा ही भगवान के स्वरूप को समझा जाय तो यह दोष उपस्थित हो जायगा कि 'भगवान के अवतारों के सम्बन्ध में जो भक्ति कही गयी है उसमें मनुष्यभाव आता है तथा एकदेशस्थ भाव (केवल एक स्थान में रहने

का भाव) का ज्ञान होता है, परन्तु इस कारण भगवान के सर्वान्तर्यामी तथा परिपूर्ण होने के भाव का बोध नहीं हो पाता.'

यदि इन समस्त शास्त्रों द्वारा भगवान को न समझा जाय तभी ऐसे दोष आ जाते हैं. यदि इन सबके (शास्त्रों के) माध्मय से भगवान के स्वरूप को समझा जाय तो एक शास्त्र के ज्ञान द्वारा आनेवाले दोष का अन्य शास्त्र का बोध होने से निराकरण हो जाता है. इसीलिए, इन चारों शास्त्रों के माध्यम से भगवान के स्वरूप को समझनेवाले पुरुष को ही परिपूर्ण ज्ञानी कहा जाता है. जो इन चारों शास्त्रों में से एक शास्त्र को छोड़ दे, उसे पौन ज्ञानी कहते हैं. दो शास्त्रों को छोड़नेवाला पुरुष आधा ज्ञानी कहलाता है और तीन शास्त्रों को छोड़नेवाले पुरुष को पाव ज्ञानी कहा जाता है. जो इन चारों शाभों को छोड़कर अपने मन की कल्पना से चाहे किसी भी तरह शास्त्रों को समझकर उनका पालन करता है, वह भले ही वेदान्ती हो या उपासनावाला, उन दोनों को ही पथभ्रष्ट माना जायगा और उनमें से किसी को भी कल्याण का मार्ग नहीं मिल पायगा. इस कारण, वेदान्ती दम्भी, ज्ञानी तथा उपासनावाला दम्भी भक्त कहलाता है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥५२॥

वचनामृत ५३ : उन्नति और अवनति

संवत् १८७६ में माघ कृष्ण *नवमी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर पश्चिम की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उन्होंने श्वेत चूड़ीदार पाजामा और सफेद अंगरखा पहना था तथा जरीदार पल्लेवाला कुसुम्भी रंग का भारी शेला कमर पर बाँधा था, शिर पर पल्लेवाला भारी नीले रंग का रेटा धारण किया था. पाग में पुष्पों के तुर्रे झुक रहे थे. उन्होंने कंठ में पुष्पों के हार पहने थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'कोई प्रश्न पूछिये.' मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'कोई तो सत्संग में रहकर दिन-प्रतिदिन उन्नति करता रहता है और किसी की तो सत्संग में रहने पर भी दिन-प्रतिदिन अवनति होती रहती है.

* बुधवार, ८ फरवरी, १८२०.

इसका क्या कारण है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'वरिष्ठ साधु में अवगुण देखनेवाले पुरुष की अवनति होती रहती और उनके (वरिष्ठ साधु के) गुणों को ग्रहण करनेवाले जीव का 'अंग' बढ़ता रहता है और भगवान में उसकी भक्ति भी बढ़ती जाती है. इसीलिए, उन साधु में अवगुण नहीं देखना चाहिये, बल्कि उनके गुणों को ही ग्रहण करना चाहिये. यदि साधु परमेश्वर द्वारा निर्धारित पाँच नियमों की मर्यादाओं में से किसी मर्यादा का उल्लंघन करे तभी उसका अवगुण समझना चाहिये, परन्तु किसी नियम में तो परिवर्तन न हुआ हो और उसकी स्वाभाविक प्रकृति अच्छी मालूम न होती हो तो उसे देखकर यदि कोई उस साधु के अन्य अनेक गुणों की उपेक्षा करके उसका केवल अवगुण ही देखेगा तो दोषद्रष्टा के ज्ञान-वैराग्य आदि शुभ गुण कम हो जाते हैं. इसलिये, नियमों के पालन में कोई अन्तर दिखायी पड़ने पर ही उसका अवगुण समझना चाहिये, किन्तु भगवान के भक्त का यों ही अवगुण नहीं देखना चाहिये. यदि कोई पुरुष साधु का अवगुण नहीं देखता तो उसके शुभ गुणों की दिन-प्रतिदिन वृद्धि होती रहती है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥५३॥

वचनामृत ५४ : भागवतधर्म

संवत् १८७६ में माघ शुक्ल *एकादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर गादी-तकियाँ रखवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, जरीके पल्लेवाला नीले रंग का 'रेटा' ओढ़ा था और आसमानी रंग का जरीदार रेशमी फेंटा शिर पर बाँधा था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में जनकराजा तथा नवयोगेश्वर के संवाद द्वारा बताये गये [1]भागवतधर्म का पोषण कैसे होता है और जीव के लिये मोक्ष का द्वार किस

---

* गुरुवार, ९ फरवरी, १८२०.

१. भगवान द्वारा भक्त के लिये अपनी प्राप्ति सुलभ कराने के निमित्त बताया गया श्रवणकीर्तनादि भक्तिरूप धर्म.

प्रकार खुला रह सकता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'स्वधर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा माहात्म्यज्ञान सहित भगवद्‌भक्ति करनेवाले भगवान के एकान्तिक साधु के सत्संग से भागवतधर्म का पोषण होता है तथा ऐसे साधु के सान्निध्य से ही जीवों के लिये मोक्ष का द्वार भी खुल जाता है. यही बात कपिलदेव भगवान ने देवहूति से कही है कि –

'प्रसंगमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः ।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥'

'इस जीव को अपने सम्बन्धीजनों से जैसा दृढ़ लगाव रहता है, वैसा का वैसा ही संग यदि भगवान के एकान्तिक साधु से रहे तो इस जीव के लिये मोक्ष का द्वारा खुल जाता है.'

शुकमुनि ने पूछा कि 'चाहे कैसा भी आपत्तिकाल आ जाय, तो भी स्वधर्म से विचलित न होनेवाले पुरुष को किस लक्षण द्वारा परखा जा सकता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे परमेश्वर के वचनों के पालन की चिन्ता रहती है तथा छोटे-बड़े वचन का लोप न करने का जिसका स्वभाव होता है, उसके समक्ष चाहे कैसा ही आपत्काल आ जाय, तो भी वह धर्मच्युत नहीं होता. इसीलिए, जिसे वचन-पालन में दृढ़ता रहती है, उसका ही धर्म तथा सत्संग सुदृढ़ रहता है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥५४॥

वचनामृत ५५ : भजन-स्मरण तथा व्रत-नियम

संवत् १८७६ में माघ कृष्ण *एकादशी को श्रीजीमहाराज दादाखाचर के राजभवन में अपने ठहरने के स्थान में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष सन्त तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ करिये.' मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जीव के लिये भजन, स्मरण तथा व्रत-नियमों के पालन की एक समान दृढ़ता क्यों नहीं रहती ?'

---

* शुक्रवार, १० फरवरी, १८२०.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अशुभ देश, काल, क्रिया और [१]संग का योग होने के कारण ऐसी दृढ़ता नहीं रहती. यह दृढ़ता भी तीन प्रकार की होती है, जिसका स्वरूप उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ होता है. उनमें भी उत्तम दृढ़ता तो हो, किन्तु देश, काल, क्रिया और संग बहुत खराब हों, तो जब वे उसे (उत्तम दृढ़ता को) भी समाप्त कर डालते हैं, तब मध्यम और कनिष्ठ दृढ़ता की तो बात ही क्या कहनी है ? देश, काल, क्रिया और संग के अत्यन्त खराब होने पर भी यदि दृढ़ता ज्यों की त्यों बनी रहती है तो उसका कारण पूर्वजन्म के संस्कार और भारी पुण्य हैं. यदि देश, काल, क्रिया और संग, सभी अतिपवित्र हैं, फिर भी यदि पुरुष की बुद्धि मलिन हो जाती है तो यही कहा जायगा कि उसके लिये पूर्वजन्म तथा इस जन्म का कोई बड़ा पाप बाधक बन रहा है अथवा भगवान के किसी बड़े भक्त से हुआ द्रोह ही उसके मार्ग में रुकावट डाल रहा है, क्योंकि देश, काल, क्रिया और संग तो अच्छा है, तो भी उसका अन्तःकरण खराब हो जाता है. इसीलिए यदि वह अब बड़े पुरुष की सेवा में सावधानी के साथ रहता है तो उसके पाप जलकर भस्म हो जायेंगे. यदि अतिपापी का संग हो गया तो पाप बढ़ता ही जाता है तथा अल्प पुण्य भी नष्ट हो जाता है और मदिरापान करनेवाली वेश्याएँ उसके गले में हाथ डालकर बैठ जाती हैं. फिर भी, वह परमेश्वर का ही दोष निकालता है कि भगवान ने 'मेरा मन ठिकाने पर क्यों नहीं रखा.' ऐसे पुरुष को तो महामूर्ख समझना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥५५॥

वचनामृत ५६ : भक्तों के लक्षण

संवत् १८७६ में माघ कृष्ण *द्वादशी को सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढडा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, जरीदार नीले रंग का 'रेटा' ओढ़ा था और शिर पर घुमावदार पल्ले का फेंटा बाँधा था. उनके मुखारविन्द के समक्ष

---

* शनिवार, ११ फरवरी, १८२०.

१. ध्यान, शास्त्र, दीक्षा तथा मन्त्र इन चारों को भी देशकालादि के अनुसार समझना चाहिये.

मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी और मुनि नारायण धुन करते हुए झाँझ-मृदंग लेकर कीर्तन कर रहे थे.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब कीर्तन स्थगित करिये और थोड़ी देर के लिए प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ करें.' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज पुनः बोले कि 'अच्छा, मैं प्रश्न पूछता हूँ कि 'श्रीकृष्ण भगवान ने [1]गीता में चार प्रकार के भक्त बताये हैं, उनमें ज्ञानी को अधिक श्रेष्ठ बताया है. फिर भी, जब इन चारों प्रकार के भक्तों का, भगवान के स्वरूप का निश्चय एक समान ही रहता है तब ज्ञानी को ही श्रेष्ठ[2] क्यों बताया गया है ?' मुनियों ने इस प्रश्न का उत्तर दिया, किन्तु वे यथेष्ट उत्तर न दे सके.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'ज्ञानी तो ब्रह्मभाव की स्थिति के अनुसार आचरण करता है तथा भगवान की महिमा को यथार्थ रूप में जानता है. इसलिए, इसे भगवान के स्वरूप के सिवा मन में अन्य प्रकार की कोई कामना रहती ही नहीं है और तीन प्रकार के दूसरे भक्तों में यद्यपि भगवान का निश्चय तो रहता है, फिर भी वे भगवान की महिमा यथार्थ रूप से नहीं

---

१ 'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी, ज्ञानी च भरतर्षभ ! तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः, एकभक्तिर्विशिष्यते ॥' अर्थात् – आर्त (ऐश्वर्यच्युत पुरुष, जो पुन ऐश्वर्य प्राप्त करने का इच्छुक रहता है), जिज्ञासु (प्रकृति से विलक्षण आत्मस्वरूप को प्राप्त करने की इच्छावाला), अर्थार्थी (ऐश्वर्य की प्राप्ति न होने के कारण उसे प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाला) तथा ज्ञानी (आत्मस्वरूप को भगवान का ही एक सेवक समझते हुए, मात्र प्रकृतिवियुक्त आत्मस्वरूप में ही तृप्त न रहकर, भगवान को पाने की इच्छा रखनेवाला तथा भगवान को ही परमप्राप्य माननेवाला), ये चार प्रकार के भक्त बताये गये हैं. उनमें ज्ञानी ही श्रेष्ठ है, क्योंकि वह नित्ययुक्त तथा एक भक्तिमय है, इसलिये ज्ञानी के लिये तो मैं ही एक प्राप्य हूँ, अतएव फलदशा में भी मेरे साथ उसका योग नित्य रहता है, जब कि मेरे साथ दूसरों का सम्बन्ध उनकी मनोकामनाओं की पूर्ति होने तक ही रहता है, उसके बाद नहीं, किन्तु ज्ञानी तो केवल मेरी ही भक्ति करता है, परन्तु अन्य भक्त तो अपनी इच्छित वस्तुओं और उनकी प्राप्ति के साधन के रूप में मेरे प्रति भक्तिभावना रखते हैं अर्थात् – ज्ञानी के लिये जो अभीष्ट है वही प्राप्य है, जब कि दूसरों के लिये अन्य वस्तु प्राप्य है, अतएव ज्ञानी श्रेष्ठ है.

२. ज्ञानी भक्त के नित्ययुक्तत्व तथा एक भक्तित्वरूपी गुण की श्रेष्ठता गीता में बतायी गयी है, उसका क्या कारण है ?

जानते, इस कारण इनमें भगवान के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की भी कामना बनी रहती है, इसलिए, वे ज्ञानी के समान स्तर के नहीं होते. इसलिए, यदि भगवान के भक्त के मन में भगवान के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की कामना रह जाती है तो यह एक बड़ी कमी है. जिसकी किसी तरह की वासना नहीं रहती, किन्तु तीव्र वैराग्यवान होने पर भी वो वैराग्य के योग से अहंकारपूर्ण आचरण करता है तो यह भी उसमें एक बड़ी खामी है. यदि कोई अत्यन्त आत्मज्ञान अथवा भगवान में दृढ़ भक्ति रहने के बल के घमंड के कारण गरीब हरिभक्त के प्रति नम्र व्यवहार नहीं करता अथवा उसके समक्ष विनयपूर्ण वचन नहीं बोलता तो यह भी उसमें बड़ा दोष है. इस दोष के कारण उस हरिभक्त के अंग की वृद्धि नहीं हो पाती. जिस प्रकार कोई संगतराश कुआँ खोदता हो और नीचे के भाग में पत्थर की आवाज़ यदि कम हो तो वह यह कहेगा कि 'पानी अधिक होगा', किन्तु जो ऊपर से तो ज्यादा आवाज़ होती हो और अन्दर से खुदाई करने पर अग्नि की चमक दिखायी पड़े तो संगतराश यह कहेगा कि इस कुएँ में पानी होगा, लेकिन कम होगा उसी प्रकार जो पुरुष ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति के घमंड से उन्मत्त रहता है, वह यद्यपि बड़ा तो कहलाता है, फिर भी उसमें निरभिमान भक्त के सदृश महान गुण नहीं रहता. इसलिए, जो भगवान को प्रसन्न करने का इच्छुक हो उसे ज्ञान, वैराग्य, भक्ति तथा किसी अन्य श्रेष्ठ गुण के रहने के दम्भ से उन्मत्त नहीं रहना चाहिये. तभी उस पुरुष के हृदय में प्रकट प्रमाण श्रीकृष्ण नारायण प्रसन्न होकर निवास करते हैं.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! ज्ञान, वैराग्य, भक्ति तथा अन्य शुभ गुणों के योग से यदि अभिमान उत्पन्न हो जाय तो उसे किस उपाय द्वारा टालना चाहिये ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान के भक्तों के माहात्म्य को जानकर स्वयं उन्हें नमस्कार करना चाहिये और उनकी सेवा-चाकरी करनी चाहिये. यदि हृदय में अभिमान का कोई संकल्प उत्पन्न हो जाय तो उसके स्वरूप का पता लगाकर वैचारिक बल रखना चाहिये, उससे अभिमान टल जाता है. यदि अतिशय प्रेमलक्षणा भक्ति के फलस्वरूप भगवान भक्त के वश में हो जायं, तब भक्त के हृदय में अगर उस भक्ति का घमंड पैदा हो जाय तो उसमें यह भी एक बड़ी कमी रहेगी. यदि आत्मज्ञान अथवा वैराग्य का

अभिमान रहता है तो उसके फलस्वरूप देहात्मबुद्धि ही दृढ़ होती है. इसलिए, भगवान के भक्तों को किसी भी प्रकार का अभिमान नहीं रखना चाहिये, भगवान को प्रसन्न करने का यही उपाय है. जो अन्तर्दृष्टिवाले भगवान के भक्त हों वे यदि आत्मनिरीक्षण द्वारा अपने हृदय को टटोलकर देखेंगे तो उन्हें थोड़ा-सा भी अभिमान रहने पर, अन्तःकरण में विराजमान भगवान की मूर्ति की नजर कठोर दिखाई पड़ेगी और निर्मान-भावना रहने पर ऊपर से भगवान की मूर्ति की दृष्टि अतिशय प्रसन्न प्रतीत होगी. इसीलिए, भगवान के भक्तों को वैचारिक बल रखकर किसी भी प्रकार के अभिमान को उत्पन्न होने का मौका नहीं देना चाहिये. यदि अभिमानमय ज्ञान, वैराग्य और भक्ति का अस्तित्व रहेगा तो उसे सोने जैसी मिलावटवाला समझा जायगा. जिस प्रकार, सोने में मिलावट होने पर उसे पन्द्रह अंश, उससे अधिक मिलावट होने पर बारह अंश और उससे बहुत ज्यादा मिलावट होने पर आठ अंशवाला सोना कहा जाता है, उसी तरह उन भक्तों के ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति में जैसे-जैसे अहंकार का मिश्रण होता जायगा, वैसे-वैसे ये तीनों ही कम होते जायेंगे. इसी कारण, अभिमानरहित ज्ञान, वैराग्य और भक्ति को सोलह अंशवाले सोने के समान माना गया है तथा वे अभिमानयुक्त रहने पर ऊपर से तो शोभायमान दिखायी पड़ते हैं, किन्तु आन्तरिक रूप से उनमें अधिक शक्ति नहीं रहती. इस प्रसंग में एक दृष्टान्त है और वह यह है कि जिस प्रकार 'पचास कोटि योजन पृथ्वी समुद्र, पर्वत तथा समस्त भूतप्राणिमात्र की आधार है, इसलिए, अधिक शक्ति दिखायी पड़ती है, उससे जल भी बहुत शक्तिशाली मालूम होता है, उस जल में पृथ्वी कंडे की भाँति तैरती रहती है और जल की अपेक्षा तेज में अधिक शक्ति प्रतीत होती है तथा तेज की अपेक्षा वायु में ज्यादा ताकत जान पड़ती है, किन्तु आकाश में तो कोई भी शक्ति नहीं मालूम होती, फिर भी वह सबसे अधिक शक्तिशाली प्रतीत होता है, क्योंकि आकाश इन चारों का आधाररूप है', उसी प्रकार उन निर्मानी भक्तों के ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति-भाव आकाश के सदृश शक्तिशाली हैं. ऊपर से तो वास्तव में कुछ भी प्रतीत नहीं होता, किन्तु निर्मानी भक्त सबसे श्रेष्ठ है. जिस प्रकार बालक को किसी भी प्रकार का अभिमानजन्य संकल्प नहीं होता, उसी प्रकार साधु अपनी कितनी ही पूजा-प्रतिष्ठा होने पर भी बालक के समान

अभिमानरहित रहता है.'

मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'इन्द्रियों, अन्तःकरण, प्राण तथा जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओं और स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण, इन तीन शरीरों से जीव का स्वरूप भिन्न रहता है, ऐसा सत्संग में सुनकर दृढ़ निश्चय किया है, फिर भी इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के साथ मिलकर सुखरूप जीवात्मा परमात्मा का भजन-स्मरण करती हुई भी संकल्पों के योग से दुखी क्यों हो जाती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि[१] 'कितने ही सिद्ध, सर्वज्ञ[२] तथा देवता आदि होते हैं, जो अनन्त प्रकार की महत्ता तथा परमपद को भगवान की उपासना के बल पर प्राप्त करते हैं, परन्तु उपासना के बिना कोई भी साधना सिद्ध नहीं होती. इसीलिए, शास्त्रों में आत्मा एवं [३]अनात्मा का विवरण समझकर अथवा किसी बड़े सन्त के मुख से बात सुनकर यह समझना कि 'मैं आत्मा एवं अनात्मा का विवेक प्राप्त कर लूँगा', विवेकपूर्ण नहीं है. वास्तविक बात तो यह है कि इस जीव को अपने इष्टदेव परमेश्वर में जितनी निष्ठा रहती है उतना ही आत्मा-अनात्मा का विवेक रहता है, परन्तु इष्टदेव के बल के बिना तो कोई भी साधना सिद्ध नहीं होती. फिर भी, जिसे गोपियों जैसी प्रेमलक्षणा भक्ति उपलब्ध है, उसकी तो समस्त साधनाएँ पूर्ण हो चुकी हैं, किन्तु जिसे ऐसा प्रेम प्राप्त न हो सका है उसे तो भगवान की महिमा समझ लेनी चाहिये कि 'भगवान तो गोलोक, वैकुंठ, श्वेतद्वीप तथा ब्रह्मधाम के स्वामी हैं और वे भक्तों के सुख के लिये ही मनुष्य-जैसे दिखायी पड़ते हैं, परन्तु गोलोक आदि उनके धामों में उनकी मूर्ति एक-एक नख में कोटि कोटि सूर्यों के प्रकाश से युक्त दिखायी पड़ती है. मर्त्यलोक में मनुष्य इन भगवान की सेवा करता है और जब वह दीपक रखता है तब उनके आगे प्रकाश होता है. परन्तु, वे तो सूर्यचन्द्रादि

---

१. भगवान के माहात्म्यज्ञान से उपासना के बल की वृद्धि होती है. उपासना का बल बढ़ने से ज्ञाननिष्ठा, जो तीनों देहों से विलक्षण आत्मस्वरूप का विचाररूप है, परिपक्व होती है. ऐसी परिपक्वता के फलस्वरूप दैहिक दुखों का नाश हो जाता है, इतना तात्पर्यार्थ है, उसका विवेचन करके कहते हैं.

२. उत्पत्ति आदि को जाननेवाले.

३. देह.

सबको प्रकाश प्रदान करते हैं और गोलोकादि धामों में तो राधिका, लक्ष्मी आदि उनके निजी भक्त उनकी निरन्तर सेवा करते रहते हैं, ऐसे ये भगवान हैं. जब ब्रह्मांडों की प्रलय होती है तब ये एकमात्र प्रकट भगवान ही रहते हैं और उसके पश्चात् सृष्टि-रचना के समय में भी ये भगवान ही प्रकृति पुरुष द्वारा अनन्तकोटि ब्रह्मांडों को उत्पन्न करते हैं.' इस प्रकार भगवान की महिमा का विचार करना चाहिये. यही आत्मा तथा अनात्मा के विवेक का कारण है. भगवान के माहात्म्य सहित भगवान में भक्त की जितनी निष्ठा रहती है उतनी ही उसके (भक्त के) हृदय में वैराग्य की भावना उत्पन्न होती है.

इसीलिए, अन्य साधनों के बल का परित्याग करके एकमात्र भगवान की उपासना का बल ही रखना चाहिये. जो ऐसा भक्त होता है, वह तो यही समझता है कि 'चाहे कैसा ही पापी हो, वह यदि अन्त समय में 'स्वामिनारायण' के नाम का उच्चारण करता है तो समस्त पापों से मुक्त होकर ब्रह्मधाम में निवास करता है. तब, यदि भगवान का आश्रित जन उन भगवान के धाम को प्राप्त हो जाय तो इसमें संशय ही क्या है ?' ऐसा माहात्म्य समझना चाहिये. इसीलिए, भगवान के भक्त को भगवान की उपासना के बल को सत्संग द्वारा दिन-प्रतिदिन बढ़ाते रहना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥५६॥

वचनामृत ५७ : मोक्ष के असाधारण कारण

संवत् १८७६ में फाल्गुन शुक्ल *द्वितीया को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में साधुओं के स्थान पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष साधुओं तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे प्रश्नोत्तर आता है उसे एक-एक प्रश्न पूछना चाहिये.' मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! मोक्ष का असाधारण कारण क्या है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान के स्वरूप का ज्ञान तथा भगवान के

* बुधवार, १५ फरवरी, १८२०.

माहात्म्य को जानना, ये ही मोक्ष के दो असाधारण[१] कारण हैं.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान में जो स्नेह है उसका रूप क्या है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि [२]'स्नेह का रूप तो यह है कि स्नेह में किसी भी प्रकार का विचार नहीं चाहिये. यदि गुण पर विचार करके स्नेह किया जायगा तो उसका वह स्नेह अवगुण दीखने पर टूट जायगा. इसलिए, स्नेह जैसा हुआ हो उसे वैसा ही रहने देना चाहिये. परन्तु, बार-बार विचार करके स्थापन-उत्थापन नहीं करना चाहिये. यदि गुण पर विचार करके स्नेह किया जाता है तो उसका विश्वास ही नहीं रहता. इसलिए, देह के सम्बन्धियों के साथ किये जानेवाले स्नेह के समान ही भगवान से स्नेह करना चाहिये. इसे मूढ़तापूर्ण स्नेह कहते हैं तथा भगवान के माहात्म्य को जानकर जो स्नेह होता है वह तो दूसरी ही[३] तरह का है, ऐसा समझना चाहिये.'

शिवानन्द स्वामी ने पूछा कि 'सत्संग में रहने की आकांक्षा तो है, फिर भी कोई अनुचित स्वभाव है, वह क्यों नहीं टलता ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो स्वभाव सत्संग में विघ्न डालता हो, उसका अभाव जिसके लिये जब तक न हो जाय, तब तक उसे सत्संग की पूर्ण आकांक्षा कहाँ रहती है ? और, उस स्वभाव को भी क्या पूर्ण शत्रु समझ लिया है ? इस प्रसंग में एक दृष्टान्त है कि जैसे 'कोई पुरुष अपना मित्र हो और उसीने अपने भाई को मार डाला हो तो फिर उसके साथ मित्रता नहीं रहती और तब तक वह उसका सिर काटने के लिये तैयार हो जाता है, क्योंकि मित्र की अपेक्षा भाई का सम्बन्ध अधिक है.' वैसे ही उसे अपना जो स्वभाव व्रतों में बाधा डालकर सत्संग में विमुख करता है तो भी उस पर वैरभाव नहीं रहता तथा उस स्वभाव पर क्रोध नहीं आता, इसलिए उसे सत्संग में पूरा स्नेह नहीं रहता. वस्तुतः मनुष्य को अपने भाई में जैसा

---

१ भक्ति द्वारा.

२. स्नेह के दो प्रकार हैं – एक तो भगवान के माहात्म्य-ज्ञान से होनेवाला स्नेह और दूसरा सहज स्नेह (स्त्रीपुत्रादि में जैसा स्वाभाविक दृढ़ स्नेह होता है वैसा भगवान में हो जाय, वह). उनमें प्रथम सहज स्नेह को कहते हैं.

३. प्रतिदिन बढ़कर, सुदृढ़ होकर, भगवान के मानवचरित्र को देखकर भी कभी भी क्षीण नहीं होता, इसी कारण उसे स्नेह की अपेक्षा उत्तम बताया गया है.

स्नेह रहता है वैसा यदि सत्संग में रहे तो वह अनुचित स्वभाव को तत्काल टाल सकता है, क्योंकि जीव तो अतिसमर्थ है, मन और इन्द्रियाँ क्षेत्र हैं तथा जीव तो इनका क्षेत्रज्ञ है, इसीलिए जो कुछ वह करता है, वही होता है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥५७॥

वचनामृत ५८ : देह, कुसंग और पूर्व संस्कार

संवत् १८७६ में फाल्गुन शुक्ल *पंचमी को संध्याकालीन आरती के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में परमहंसों के स्थान पर विराजमान थे उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि प्रश्न पूछिये. तब मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! भजन-स्मरण करते समय भगवान के भक्त के हृदय में रजोगुण तथा तमोगुण का वेग[1] रहने से भजन एवं स्मरण का सुख प्राप्त नहीं होता. कृपया बताइये कि इन गुणों का वेग कैसे टल सकता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इन गुणों की प्रवृत्ति का कारण तो देह[2], कुसंग तथा पूर्वसंस्कार[3], ये तीन हैं. उनमें देह योग से जो गुण विद्यमान रहते हों, वे तो आत्मा अनात्मा के विचार द्वारा टल जाते हैं तथा कुसंग द्वारा प्रवृत्त गुण सन्त का संग करने से दूर हो जाते हैं, किन्तु रजोगुण एवं तमोगुण का वेग इन दोनों के द्वारा भी नहीं टलता. उनका तो पूर्वजन्म के किसी अशुभ संस्कार के योग के कारण टलना अत्यन्त कठिन रहता है.'

आनन्दानन्द स्वामी ने पूछा कि 'यदि पूर्वजन्म के संस्कार मलिन हों तो वे कैसे टल सकते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस पर परमपुरुष की कृपा रहती है उसके किसी भी तरह के मलिन संस्कार नष्ट हो जाते हैं और उनके प्रसन्न रहने से रंक राजा हो जाता है तथा किसी भी प्रकार का अनिष्टकर प्रारब्ध शुभ हो जाता है और उसके समक्ष उपस्थित होनेवाले किसी भी विकट विघ्न

---

* शनिवार, १८ फरवरी, १८२०.

१. राग, मोह आदि.

२. देहाध्यास.

३. पूर्वजन्म में किये हुए कर्मों का संस्कार.

का नाश हो जाता है.'

आनन्दानन्द स्वामी ने पुनः पूछा कि 'कौन-सा उपाय करने से परमपुरुष प्रसन्न होते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'सबसे पहली बात तो यह है कि महान संत के प्रति निष्कपट भाव से व्यवहार करने, उसके पश्चात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आशा, तृष्णा, अहंकार और ईर्ष्या को छोड़ने, सन्त का सेवक होकर रहने तथा अन्तःकरण में मान की भावना रहने पर भी दैहिक रूप से सबकी वन्दना करने से महान सन्त उससे प्रसन्न रहते हैं.'

इसके बाद महानुभावानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! सत्संग में रहते हुए समस्त अवगुणों का नाश हो जाय और भगवान की भक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती रहे, इसका क्या उपाय है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'कोई भी भक्त महापुरुष का गुण जैसे-जैसे ग्रहण करता जाता है, वैसे-वैसे उसकी भक्ति में वृद्धि होती रहती है और परमपुरुष को अत्यन्त निष्कामी समझनेवाला जीव स्वयं कुत्ता-जैसा कामी होने पर भी निष्कामी बन जाता है, परन्तु महापुरुष में कामुकता का दोष देखनेवाला मनुष्य निष्कामी होते हुए भी घोर कामी हो जाता है तथा महापुरुष में क्रोध एवं लोभवृत्ति की कल्पना करनेवाला स्वयं क्रोधी और लोभी हो जाता है तथा महापुरुष को अतिशय निष्कामी, निर्लोभी, निःस्वादी, निर्मानी और निःस्नेही समझनेवाला पुरुष इन समस्त विकारों से मुक्त होकर दृढ़ हरिभक्त बन जाता है.

उस दृढ़ हरिभक्त का क्या लक्षण है ? वह यह है कि अच्छे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक पाँच विषयों की दुःखदायी वस्तुओं के सहज अभाव के समान जब सहज कमी हो जाती है और एकमात्र परमेश्वर के स्वरूप में ही जिसकी अचल निष्ठा रहती है, उसे ही दृढ़ हरिभक्त समझना चाहिये. ऐसा दृढ़ हरिभक्त होने का केवल यही उपाय है कि परमेश्वर का दासानुदास होकर रहे और यह समझे कि 'ये समस्त भक्त बड़े हैं और मैं तो सबसे छोटा हूँ.' ऐसा समझते हुए उसे हरिभक्त का दासानुदास होकर रहना चाहिये. जो पुरुष इस प्रकार का आचरण करता है, उसके समस्त विकारों का नाश हो जाता है और दिन-प्रतिदिन उसके ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि शुभ गुण बढ़ते रहते हैं.' ॥ इति वचनामृतम् ॥५८॥

वचनामृत ५९ : असाधारण स्नेह

संवत् १८७६ में फाल्गुन शुक्ल *चतुर्दशी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सफेद चादर ओढ़ी थी, मस्तक पर रेशमी किनारीदार श्वेत धोती बाँधी थी और उनके ललाट पर चन्दन का तिलक लगा हुआ था. उस समय उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ करिये.' मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! भगवान में असाधारण[1] प्रेम होने का क्या कारण है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'सबसे पहले तो भगवान के सम्बन्ध में ऐसा विश्वास होना चाहिये कि 'जो मुझे मिले हैं वे निश्चित रूप से भगवान हैं.' आस्तिक भावना के साथ-साथ उसे भगवान के ऐश्वर्य को जानना चाहिये कि 'ये भगवान ब्रह्मधाम, गोलोक तथा श्वेतद्वीप आदि समस्त धामों के स्वामी और अनन्तकोटि ब्रह्मांडो के अधिष्ठाता हैं तथा सबके कर्ता हैं. वह पुरुष काल, कर्म, माया, तीन गुणों, चौबीस तत्त्वों तथा ब्रह्मादिक देवों में से किसी को भी इस ब्रह्मांड का कर्ता[2] नहीं मानता, परन्तु एकमात्र भगवान पुरुषोत्तम को ही इसका कर्ता[3] और सबका अन्तर्यामी समझता है.' इस प्रकार के विवेक के साथ प्रत्यक्ष भगवान के स्वरूप में जो निश्चय रहता है, वही परमेश्वर में असाधारण स्नेह रहने का कारण है.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान की ऐसी महिमा जानने पर भी यदि असाधारण स्नेह नहीं होता तो उसका क्या कारण है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि वह भगवान की ऐसी महिमा जान लेता है तो भगवान से उसका असाधारण स्नेह बना रहेगा, किन्तु वह जानता

---

* सोमवार, २७ फरवरी, १८२०

१. उपमावर्जित

२. स्वतन्त्र रूप से.

३. स्वतन्त्र कर्ता.

नहीं. 'जैसे हनुमानजी में अपार बल[१] तो था, किसी के द्वारा[२] बताये बिना उसकी प्रतीति नहीं हुई.' इसी प्रकार 'प्रलम्बासुर जब बलदेवजी को लेकर जाने लगा तब उनमें बल[३] तो अपार था, किन्तु वे स्वयं नहीं जानते थे. बाद में जब आकाशवाणी[४] द्वारा उन्हें सूचित किया गया, तब यह बात मालूम हो गयी.' उसी प्रकार उस भक्त को भगवान से असाधारण प्रीति तो है, परन्तु[५] वह जान नहीं पाता.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'इस प्रीति के बल को बताये जाने का क्या कारण है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'सत्संग तथा सत्शास्त्रों का श्रवण करते रहने से उसे भगवान में रहनेवाली असाधारण प्रीति की प्रतीति हो जाती है.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'देश, काल तथा क्रिया के शुभ अथवा अशुभ होने का कारण संग है या अन्य कोई वस्तु

श्रीजीमहाराज बोले कि 'पृथ्वी को देश कहते ह आर वह सभी स्थानों पर एक समान रहता है तथा काल भी एक समान है, परन्तु अतिशय महान समर्थ पुरुष जिस देश में रहते हों उनके प्रताप से अशुभ देश, काल, क्रिया, सभी शुभ हो जाते हैं. घोर पापी पुरुष जिस देश में रहते हों, उनके योग से अच्छा देश, अच्छी क्रिया और अच्छा काल, सभी अशुभ हो जाते हैं. इसीलिए, शुभ एवं अशुभ देश, काल और क्रिया के हेतु तो पुरुष हैं. यदि वे पुरुष अतिशय समर्थ होते हैं तो समस्त पृथ्वी में देश, काल और क्रिया को अपने स्वभाव के अनुसार परिवर्तित कर डालते हैं. यदि उनसे

---

१. समुद्र का उल्लंघन करने का.

२. जाम्बवान ने हनुमानजी को उनके बल का बोध कराया था, उसे रामायण में – 'जाम्बवान् समुदीक्ष्यैवं, हनुमन्तमथाब्रवीत् । वीरवानर ! लोकस्य सर्वशास्त्रविदां वर ! तूष्णीमेकान्तमाश्रित्य, हनुमन् किं न जल्पसि,' इत्यादि वचनों से कहा हुआ समझना चाहिये.

३. प्रलम्बासुर का वध करने का.

४. श्रीकृष्ण भगवान ने बलदेवजी को उनके बल से अवगत कराया था, उसे विष्णुपुराण में – 'इति संस्मारितो विप्र कृष्णेन सुमहात्मना । विहस्य पीडयामास प्रलम्बं बलवान् बलः,' ऐसे वचनों से कहा हुआ समझना चाहिये.

५ किसी भक्त द्वारा बताये बिना.

दुर्बल पुरुष हो तो वह एक देश में, उससे कमजोर व्यक्ति एक ग्राम में, उससे अशक्त पुरुष एक मोहल्ले और अपने घर में उनका प्रसार करता है. इस तरह शुभ-अशुभ देश, काल तथा क्रिया के कारण तो सत्-असत्, दो प्रकार के पुरुष हैं.' ॥ इति वचनामृतम् ॥५९॥

वचनामृत ६० : वासना को मिटाने की साधना

संवत् १८७६ में फाल्गुन कृष्ण *प्रतिपदा को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में परमहंसों के स्थान पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, श्वेत चादर ओढ़ी थी, मस्तक पर सफेद पाग बाँधी थी, उसमें सफेद तुर्रे लगे हुए थे तथा उनके कंठ में श्वेत पुष्पों के हार सुशोभित हो रहे थे. उस समय उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'समस्त साधनाओं की अपेक्षा वासना को मिटाने की साधना बड़ी है. उस वासना को टालने का उपाय यह है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक पाँच विषयों में जितनी अपनी तृष्णा है, उस पर विचार करना चाहिये कि भगवान में मेरी जितनी वासना है उतनी ही क्या जगत में भी है अथवा उससे न्यून या अधिक है ? उसकी परीक्षा करनी चाहिये की भगवान की बात सुनने में श्रोत्रेन्द्रिय जितनी लुब्ध होती है, उतनी ही यदि जगत की बात सुनने में आकृष्ट होती हो तो यह समझना चाहिये कि 'भगवान तथा जगत में समान वासना है.' इसी प्रकार स्पर्श, रूप रस और गंध – विषयों की स्थिति का पता लगाना चाहिये. इस प्रकार जब वह पता लगाते-लगाते जगत की वासना को कम करता रहता है तथा भगवान सम्बन्धी वासना को बढ़ाता जाता है तब उसके परिणामस्वरूप पंचविषयों में उसकी समबुद्धि हो जाती है और उसके बाद निन्दा एवं स्तुति समान लगती है तथा अच्छा स्पर्श और बुरा स्पर्श एक समान प्रतीत होता है. उसी तरह अच्छे रूप और खराब रूप, बालिकाओं, युवतियों एवं वृद्धा स्त्रियों तथा कचरा और कांचन में समान रूप से प्रतीति होने लगती है. जब इस प्रकार स्वाभाविक रूप से आचरण होता रहता है तब समझना चाहिये कि वासना को जीत लिया गया है. ऐसा वासनारहित आचरण ही एकान्तिक

---

* बुधवार, २९ फरवरी, १८२०.

धर्म कहलाता है. यदि अल्प वासना भी रह जाय, तो समाधि की स्थिति होने पर भी वासना उसे समाधि में से पीछे की ओर खींच लाती है. इसलिये, वासना टालनेवाले को ही एकान्तिक भक्त कहा जाता है.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'वासना को टालने का क्या उपाय है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'उसके (वासना टालना के) लिये आत्मनिष्ठा की दृढ़ता होनी चाहिये, पंचविषयों की तुच्छता समझनी चाहिये तथा भगवान का अतिशय माहात्म्य समझना चाहिये कि 'भगवान वैकुंठ, गोलोक एवं ब्रह्मधाम, इन समस्त धामों के स्वामी हैं, इसीलिए, मैं ऐसे भगवान को प्राप्त करके तुच्छ विषयों के सुख में अनुरक्ति क्यों रखूं ?' इस प्रकार भगवान की महिमा पर ध्यान देना चाहिये. इसके पश्चात् पुनः यह विचार करना चाहिये कि 'भगवान का भजन करने पर भी यदि कोई कमी रह जायगी और कदाचित् भगवान की प्राप्ति नहीं हो पायगी तथा भगवान यदि इन्द्रलोक एवं ब्रह्मलोक में रखेंगे, तो भी इस लोक की अपेक्षा वहाँ करोड़ गुना अधिक सुख रहेगा.' ऐसा विचार करके भी इस संसार के तुच्छ सुख की वासना से रहित हो जाना चाहिये. इस प्रकार भगवान की महिमा जानकर जब कोई पुरुष वासनारहित हो जाता है, तब उसे प्रतीत होता है कि 'मुझ में तो वासना कभी भी नहीं रही थी और बीच में तो मुझे कुछ भ्रम-जैसा हो गया था, परन्तु मैं तो सदा वासनारहित हूँ.' इस प्रकार का एकान्तिक धर्म तो ऐसे निर्वासनिक पुरुषों तथा भगवान में अपनी स्थिति बनाये रखनेवालों के वचनों से ही सुलभ हो पाता है, परन्तु वह मात्र ग्रन्थ में लिखा रहने से प्राप्त नहीं होता. यदि कोई ऐसा सुनकर ही ज्यों की त्यों बात करने जाय तो भी वह उसका वर्णन करने में समर्थ नहीं हो सकता. इसलिये एकान्तिक धर्म की प्राप्ति केवल उसी के द्वारा हो सकती है, जिसकी एकान्तिक धर्म में स्थिति सुदृढ़ हो गयी हो.' ॥ इति वचनामृतम् ॥६०॥

वचनामृत ६१ : बलिराजा की अनन्य भक्ति

संवत् १८७६ में फाल्गुन कृष्ण *तृतीया को श्रीगढडा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे चबूतरे पर बिछे हुए पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने मस्तक पर रेशमी

* शनिवार, ३ मार्च, १८२०.

किनारवाली श्वेत धोती बाँधी थी, सफेद पिछौरी ओढ़ी थी, श्वेत दुपट्टा धारण किया था और कंठ में सफेद फूलों के हार पहने थे. उनकी पाग में बायें भाग की ओर श्वेत पुष्पों के तुर्रे लटक रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'काम, क्रोध, लोभ तथा भय के योग से भी धैर्य न टूटे, इसका क्या उपाय है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'मैं देह नहीं, बल्कि शरीर से भिन्न और सबको जाननेवाली आत्मा हूँ.' ऐसी आत्मनिष्ठा[1] जब सुदृढ़ हो जाती है तब किसी भी तरह धैर्य नहीं टूट सकता, किन्तु आत्मनिष्ठा के बिना यदि अन्य उपाय किये जायेंगे तो भी धैर्य नहीं रहेगा.'

ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि 'यदि आत्मनिष्ठा रहे तो वह अन्त समय में कितनी सहायता करती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि नदी को तैरकर पार करना है तो ऐसा काम तो वही पुरुष कर सकता है, जिसे तैरना आता हो, किन्तु जिसे तैरना न आता हो वह तो खड़ा ही रहेगा. जब समुद्र से होकर जाना हो तब तो दोनों तरह के पुरुषों को जहाज की जरूरत पड़ेगी. उसी प्रकार ठंड, धूप, भूख, प्यास, मान, अपमान, सुख एवं दुःखरूपी नदी को तो आत्मनिष्ठावाला पुरुष तैरकर पार कर लेता है, परन्तु मृत्यु समय तो समुद्र के समान है. इसीलिए आत्मनिष्ठावाले या आत्मनिष्ठाहीन, दोनों को ही भगवान की उपासनारूपी जहाज की आवश्यकता रहती है. अतएव, अन्तकाल में तो भगवान का दृढ़ आश्रय ही काम में आता है. परन्तु, अन्तसमय में[2] आत्मनिष्ठा किसी काम नहीं आती, इसीलिए भगवान की उपासना को सुदृढ़ रखना चाहिये.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पुनः पूछा कि 'भगवान के भक्त के मार्ग में सिद्धियाँ बाधक बन जाती हैं, तो क्या वे भगवान के निश्चय से डिगनेवाले के सामने ही बाधा उपस्थित करती हैं या निश्चय रखनेवाले पुरुष के रास्ते में भी रुकावट डालती हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'ये सिद्धियाँ तो भगवान का परिपक्व निश्चय

---

१. उससे युक्त उपासना.

२. केवल.

रखनेवाले के समक्ष ही उपस्थित होती हैं तथा अन्य पुरुषों के लिये तो ये (सिद्धियाँ) दुर्लभ रहती हैं. भक्त की परीक्षा लेने के लिये ही भगवान इन सिद्धियों को भी प्रेरित करते हैं कि 'उसे मुझसे अधिक स्नेह है या सिद्धियों से ज्यादा लगाव है ?' इस प्रकार भगवान अपने भक्त की परीक्षा लेते है. यदि वह दृढ़ भक्त है तथा भगवान के सिवा किसी भी अन्य वस्तु की इच्छा नहीं करता तो भगवान ऐसे निर्वासनिक एकान्तिक भक्त के वश में हो जाते हैं, जैसे वामनजी ने बलिराजा का त्रिलोकी का राज्य ले लिया, चौदह लोकों को अपने दो चरणों से माप लिया और तीसरे कदम के लिये बलिराजा ने उन्हें अपना शरीर अर्पित कर दिया, इस प्रकार यद्यपि उसने भगवान को श्रद्धासहित अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया तो भी भगवान ने बिना अपराध के उसे बाँध दिया, फिर भी वह भक्ति से विचलित नहीं हुआ, तब अपने प्रति उसकी ऐसी अनन्य भक्ति देखकर स्वयं भगवान उसके बन्धन के अन्तर्गत हो गये. भगवान ने तो बलिराजा को क्षणमात्र के लिये बाँधा था, किन्तु वे (भगवान) तो उसकी भक्तिरूपी डोर से बँधे ही हुए हैं और आज भी भगवान बलि के दरवाजे पर अखंड रूप से खड़े हुए हैं और वे बलिराजा की दृष्टि से पलमात्र के लिये भी ओझल नहीं होते. इस प्रकार, हम लोग भी अन्य समस्त वासनाओं को मिटाकर और भगवान को सर्वस्व अर्पित करके उनके (भगवान के) दास होकर रहेंगे. ऐसा करने पर भी यदि भगवान हमें अधिक दुःख देंगे तो भी स्वयं हम लोगों के वश में हो जायेंगे, क्योंकि वे स्वतः भक्तवत्सल तथा कृपासिन्धु हैं. वे अपनी ओर जिसकी दृढ़ भक्ति देखते हैं उसके अधीन स्वयमेव हो जाते हैं. इसके पश्चात् वे प्रेमभक्तियुक्त भक्त की मनरूपी रज्जु (डोरी) से बंध जाते हैं और उससे छूटने में समर्थ नहीं हो पाते. इस प्रकार, ज्यों-ज्यों भगवान हम लोगों को समर्थ कसौटी पर कसकर रखें त्यों-त्यों अधिक प्रसन्न होना चाहिये कि 'भगवान जैसे-जैसे मुझे अधिक दुःख देंगे वैसे-वैसे वे अधिकाधिक मेरे वश में होते जायेंगे और पलमात्र भी मुझसे अलग नहीं रहेंगे.' ऐसा समझकर भगवान ज्यों-ज्यों ज्यादा कसते जायं त्यों-त्यों स्वयं को प्रसन्न रखना चाहिये, परन्तु किसी भी तरह दुःख देखकर अथवा शारीरिक सुख के लिये पीछे की ओर पग नहीं उठाना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥६१॥

वचनामृत ६२ : कल्याणकारी गुण

संवत् १८७६ में फाल्गुन कृष्ण *चतुर्थी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में चौक के बीच पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सफेद चादर ओढ़ी थी और सिर पर श्वेत पाग बाँधी थी, जिस पर सफेद पुष्पों के तुर्रे लगे हुए थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने पूछा कि 'श्रीमद् भागवत' में कहा गया है कि –

'सत्यं[१] शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम् ।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम् ।।
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः ।
स्वातंत्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च ।।
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः ।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहंकृतिः ।।'

---

* रविवार, ४ मार्च, १८२०.

१. सत्यम् – सर्वभूतप्राणिमात्र का हित करना अथवा सत्य वचन बोलना.
शौचम् – समस्त हेय का विरोधी भाव अर्थात् निर्दोष भावना.
दया – दूसरे के दुःख को सहन न करना.
क्षान्तिः – अपराधी पुरुष के अपराध को सहन करना.
त्यागः – स्वस्व का दान करने की प्रवृत्ति.
सन्तोषः – कभी भी क्लेशरहित रहने का भाव.
आर्जवम् – मन, वाणी तथा कर्म की एकरूपता.
शमः – मन का निग्रह करना.
दमः – बाह्य इन्द्रियों का निग्रह करना.
तपः – ज्ञानपूर्वक व्रतादि करना.
साम्यम् – शत्रुमित्रादि की भावना से रहित रहना.
तितिक्षा – सुखदुःखादि के द्वन्द्व से परास्त नहीं होना.
उपरतिः – व्यर्थ व्यापार से निवृत्त होना.
श्रुतम् – समस्त शास्त्रों के अर्थों का यथार्थ ज्ञान होने का भाव.
ज्ञानम् – आश्रितों के अनिष्ठ की निवृत्ति तथा इष्ट की प्राप्ति कराने में उपयोगी ज्ञान.

'ये जो उनतालीस कल्याणकारी गुण भगवान के स्वरूप में निरन्तर रहते हैं वे[१] सन्त में किस प्रकार आते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'सन्त में इन[२] गुणों का उदय होने का कारण तो यह है कि भगवान के स्वरूप का यथार्थ निश्चय हो जाने पर भगवान के कल्याणकारी गुण सन्त में उदित हो जाते हैं. वह निश्चय कैसा होना

विरक्तिः – विषयों में निस्पृह भाव अथवा विषयों से चित्त का अनाकर्षण.
ऐश्वर्यम् – स्वयं से व्यतिरिक्त सबका नियन्ता होने का भाव.
शौर्यम् – युद्ध से पीछे नहीं हटना.
तेजः – किसी से भी पराजित न होने का भाव.
बलम् – सबकी प्राणवृत्तियों का नियमन करने की सामर्थ्य.
स्मृतिः – भक्तों के बड़े अपराधों में भी उपकार का स्मरण करना.
स्वातन्त्र्यम् – दूसरे की अपेक्षा से रहित रहने की भावना.
कौशलम् – निपुणता.
कान्तिः – 'न तत्र सूर्यो भाति', इस प्रकार श्रुति में वर्णित दीप्ति.
धैर्यम् – अपने घर में प्रविष्ट होने के समान युद्ध में प्रवेश करने की सामर्थ्य.
मार्दवम् – क्रूरता से रहित रहने का भाव.
प्रागल्भ्यम् – सभा में प्रगल्भता.
प्रश्रयः – महापुरुषों के समक्ष विनयभाव.
शीलम् – सत्याचरण.
सहः – प्राण की स्वाभाविक सामर्थ्य.
ओजः – अन्नादिजनित सामर्थ्य.
बलम् – धारण करने की सामर्थ्य.
भगः – ज्ञानादि गुणों का उत्कर्ष.
गाम्भीर्यम् – अभिप्रायगत गम्भीरता.
स्थैर्यम् – क्रोध का निमित्त होने पर भी विकार न होना.
आस्तिक्यम् – शास्त्रों के अर्थों में विश्वास.
कीर्तिः – यश.
मानः – सम्मानयोग्यता.
अनहंकृतिः – गर्वरहित रहना.

१. कैसे.

२. कैसे सन्त में भगवान के गुण उदित होते हैं और किस तरह उनका उदय होता है, इन दो प्रश्नों में से प्रथम का उत्तर देते हैं.

चाहिये ? जो पुरुष उन भगवान को काल, कर्म, स्वभाव, माया तथा पुरुष जैसा न समझकर उन्हें सबसे भिन्न, उन सबका नियन्ता और कर्ता समझता है तथा सबका कर्ता होने पर भी उन्हें निर्लेप मानता है और जिसने प्रत्यक्ष भगवान के स्वरूप का निश्चय कर दिया है, जो [१]विभिन्न [२]शास्त्रों का श्रवण करने, किसी भी [३]मतवादी की बात सुनने और अपने अन्तःकरण द्वारा किसी भी प्रकार कुतर्क[४] किये जाने पर भी नहीं हटता, उसे ही इस[५] तरह का निश्चय होने पर भगवान से सम्बन्ध हुआ कहा जाता है, इसलिए, जिसके साथ जिसका सम्बन्ध स्थापित हो जाता है उसमें वैसे ही गुण सहज रूप से उत्पन्न हो जाते हैं. जैसे दीपक के साथ जब अपने नेत्रों का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तब उसका (दीपक का) प्रकाश उनमें (नेत्रों में) छा जाता है, किन्तु जब उससे आँखों के आगे अंधेरा रहता है तब उसका नाश हो जाता है, वैसे ही भगवान के स्वरूप का दृढ़ निश्चय होने के फलस्वरूप जब उनसे सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तब उसमें भगवान के कल्याणकारी गुणों का उदय हो जाता है. जिस प्रकार भगवान समस्त प्रकार से निर्बन्ध हैं और जो कुछ चाहें, उसे करने में समर्थ हैं, उसी तरह वह भक्त भी अतिशय समर्थ होता और निर्बन्ध रहता है.'

निर्विकारानन्द स्वामी ने पूछा कि 'निश्चय होने पर भी जब अच्छे गुण[६] तो आते नहीं और मान एवं ईर्ष्या की भावना दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है, उसका क्या कारण होगा ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि भगवान[७] के समक्ष अमृत, विषैली

---

१. कुटिल युक्तिजाल से ग्रस्त होने के कारण रहनेवाले मोह – जैसे.
२. असत्-शास्त्र.
३. शुष्कवेदान्ती आदि.
४. ये परमेश्वर हैं, फिर भी दूसरों से भय-भावना आदि क्यों रखते हैं, इत्यादि वितर्क.
५. दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हैं.
६. सत्य, पवित्रता आदि.
७. दैवी और आसुरी स्वभाववाले दो प्रकार के जीव हैं, जिनके गुण-दोष गीता में पृथक् बताये गये हैं. दोनों प्रकार के ये जीव भगवान के साथ सम्बन्ध स्थापित होने पर भी अपने स्वाभाविक गुणदोषों का त्याग नहीं कर सकते. उनमें दैवी जीव भगवान के सम्बन्ध से उनके सत्यादि गुणों को प्राप्त कर

औषधियों, दूधपाक और शक्कर तथा अफ़ीम को थाल में अर्पित किया जाय तो भी जिसका जैसा गुण होगा, वह वैसा का वैसा ही रहेगा, किन्तु उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होगा, उसी प्रकार जो जीव आसुरी और अतिकुपात्र होते हैं वे भगवान के समीप आने पर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते. ऐसा जीव किसी गरीब हरिभक्तों से द्वेष करता है तब उसको अशुभ फल प्राप्त होता है, क्योंकि भगवान समस्त जीवों में अन्यर्यामीरूप से रहे हैं. जहाँ उनकी इच्छा हो वहाँ वे उतनी सामर्थ्य दिखलाते हैं. इस कारण, भक्त के अपमान से भगवान का भी निरादर होता है, जिससे उस अपमानकर्ता का अत्यन्त अहित हो जाता है. उदाहरणार्थ हिरण्यकशिपु ऐसा बलवान था कि उसने त्रिलोकी को अपने वश में कर रखा था, परन्तु जब उसने प्रह्लादजी से द्वेष किया तब भगवान ने स्तंभ में से नृसिंहरूप में प्रकट होकर हिरण्यकशिपु का नाश कर दिया. ऐसा विचार करके भगवान के भक्त को अन्यन्त नम्र होकर किसी का भी अपमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि भगवान तो ऐसे भक्त के अन्तःकरण में भी विराजमान रहे हैं और वे ऐसे भक्त का अपमान करनेवाले पुरुष का अनिष्ट कर डालते हैं. ऐसा समझकर किसी साधारण जीव को भी दुखित नहीं करना चाहिये. यदि अहंकारवश कोई पुरुष किसी जीव को कष्ट देता है तो गर्वहारी भगवान, जो अन्तर्यामी रूप से सर्वव्यापी हैं, इसे सहन नहीं कर सकते और बाद में वे चाहे जिसके द्वारा प्रकट होकर उस अभिमानी पुरुष के अभिमान का नाश कर डालते हैं. इसीलिए, भगवान से डरकर किसी भी साधु पुरुष को लेशमात्र भी अभिमान नहीं रखना चाहिये और चींटी जीव को भी दुखित नहीं करना चाहिये, यही निर्मानी साधु का धर्म है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥६२॥

लेते हैं, किन्तु आसुरी जीव तो भगवान के सम्बन्ध से उनके गुणों को नहीं प्राप्त कर पाते. आसुरी जीवों में तो विरला ही कोई कभी महापुरुष की कृपा से अपने दोषों को छोड़कर दैवी सम्पत्ति के गुणों को पाकर भगवान के सत्यादि गुणों को प्राप्त कर लेता है. दैवी जीवों में जो कोई कभी प्रमादवश या जानबूझकर महागुणी निर्धन भक्त का अपमान करता है, तो वह (दैवी जीव) भी असुर के समान दोषयुक्त हो जाता है और उसमें भगवान के गुण नहीं आ पाते, इत्यादि भावार्थ है. उसे दृष्टान्तपूर्वक विवेचन करके कहते हैं.

वचनामृत ६३ : भगवान संबंधी निश्चय

संवत् १८७६ में फाल्गुन कृष्ण *सप्तमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा – स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सफेद चादर ओढ़ी थी और श्वेत रेशमी किनारीवाली धोती सिर पर बाँधी थी और कंठ में श्वेत पुष्पों के हार सुशोभित हो रहे थे. पाग में गुलाब के पुष्पों के तुर्रे लगे हुए थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

नृसिंहानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जिसके भगवान सम्बन्धी निश्चय में किसी प्रकार की त्रुटि रह जाय तो उसके कैसे संकल्प होते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसके निश्चय में कोई कसर रह जाती है, उसे भगवान में जब कुछ सामर्थ्य दीख पड़ती है, तब तो अत्यन्त आनन्द होता है और जब सामर्थ्य नहीं दीख पड़ती तब अन्तःकरण निस्तेज हो जाता है. यदि उसके हृदय में अनुचित संकल्प होते हों और वे टालने पर भी नहीं टलते तब वह भगवान को ही दोषी ठहराने लगता है कि 'मैं इतने दिनों से सत्संग करके मर गया तो भी भगवान मेरे बुरे संकल्पों को टालते नहीं हैं.' इस प्रकार वह भगवान पर दोष मढ़ता है और जिन पदार्थों में उसका लगाव रहता है, उनसे मन के किसी भी तरह से पीछे न हटने पर वैसा का वैसा दोष भगवान पर भी लगाता है कि 'मुझ में जैसे कामादिक दोष हैं वैसे ही वे भगवान में भी हैं, परन्तु भगवान तो महान कहलाते हैं.' जिसके अन्तःकरण में इस प्रकार के संकल्प होते हों, उसके निश्चय में कसर रह गयी है, ऐसा समझना चाहिये और यह मानना चाहिये कि उसके निश्चय को परिपक्व नहीं कहा जा सकता.'

परमचैतन्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! जिसे भगवान का परिपक्व निश्चय होता है, उसके संकल्प किस प्रकार के होते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसका निश्चय परिपक्व होता है, उसके मन

---

* बुधवार, ७ मार्च, १८२०.

में तो ऐसी भावना रहती है कि 'मुझे सब कुछ प्राप्त हो चुका है और जहाँ प्रत्यक्ष भगवान रहे हैं, वही परमधाम है तथा ये सभी सन्त नारदसनकादिक – जैसे हैं और समस्त सत्संगी उद्धव, अक्रूर, विदुर, सुदामा और वृन्दावन के ग्वालों के सदृश हैं तथा जो हरिभक्त स्त्रियाँ हैं, वे तो गोपियों, द्रौपदी, कुन्तीजी, सीता, रुक्मिणी, लक्ष्मी और पार्वती जैसी हैं. अब मेरे लिये कोई भी कर्म करने के लिये नहीं रह गया है और मैं गोलोक, वैकुंठ, ब्रह्मपुर को प्राप्त हो चुका हूँ.' जिसके ऐसे संकल्प होते हों और हृदय में अति आनन्द समाया रहता हो, उसके निश्चय को परिपक्व समझना चाहिये. ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज इस प्रकार बोले कि भगवान के स्वरूप को तत्त्वतः जान लेने के पश्चात् उसे समझने के लिये कुछ नहीं रह जाता. उस तत्त्व द्वारा भगवान के स्वरूप को समझने की रीति बताते हैं, उसे सुनिये. उसे सुनकर परमेश्वर के स्वरूप का अडिग निश्चय हो जाता है. सर्वप्रथम तो उसे भगवान की महत्ता जाननी चाहिये. 'जैसे कोई बड़ा राजा हो और उसकी दास-दासियों तक की भी सात मंज़िलवाली हवेलियाँ निवास करने के लिये हों और बाग-बगीचों, रथों और घोड़ों तथा स्वर्ण आभूषणों आदि सामग्रियों से युक्त उनके घर देवलोक-सदृश दिखायी पड़ते हैं, तब उस राजा के राजभवन और उसमें विद्यमान सामग्रियाँ तो अत्यन्त शोभायमान प्रतीत होंगी.' वैसे ही, श्रीपुरुषोत्तम भगवान की आज्ञा का पालन करनेवाले ब्रह्मांड के अधिपति ब्रह्मादिक के लोकों तथा उनके वैभव का तो पार भी नहीं पाया जा सकता, तो उन विराटपुरुष के जिनके नाभिकमल में से ब्रह्मा उत्पन्न हुए, वैभव का पार कैसे पाया जा सकता है ? ऐसे अनन्तकोटि विराटपुरुषों के स्वामी पुरुषोत्तम भगवान के अक्षरधाम में इस प्रकार के अनन्तकोटि ब्रह्मांड अणु के समान एक-एक रोम में उड़ते-फिरते हैं. उन भगवान का ऐसा धाम है, जिसमें स्वयं पुरुषोत्तम भगवान दिव्य रूप में सदा विराजमान रहते हैं. उस धाम में अपार दिव्य सामग्रियाँ हैं, तब उन भगवान की महत्ता का पार कैसे पाया जा सकता है ? इस प्रकार भगवान की महत्ता को समझना चाहिये.

[१]और, जो जिससे बड़ा होता है, वह उससे सूक्ष्म होता है और वह

---

१. पुन: प्रकारान्तर से महत्ता बताते हैं.

उसका कारण भी होता है. 'जिस प्रकार पृथ्वी से जल बड़ा है और उसका (पृथ्वी का) कारण है और उससे सूक्ष्म भी है तथा जल से तेज बड़ा है और तेज से वायु बड़ा है तथा वायु से आकाश बड़ा है', वैसे ही अहंकार, महत्तत्त्व, प्रधानपुरुष, प्रकृतिपुरुष तथा अक्षर, ये सभी एक-दूसरे से बड़े हैं, एक-दूसरे से सूक्ष्म और कारण हैं तथा ये सभी मूर्तिमान हैं, परन्तु भगवान का अक्षरधाम तो बहुत बड़ा है और उनके एक-एक रोम में अनन्तकोटि ब्रह्मांड अणु के समान उड़ते ही फिरते हैं. 'जैसे किसी बड़े हाथी के शरीर पर चींटी चली जाती हो तो भी उसका कोई महत्त्व नहीं रहता', वैसे ही उस अक्षर की महत्ता के आगे अन्य किसी को कोई भी महत्व नहीं प्राप्त होगा, जैसे मच्छरों के बीच चीटियाँ बड़ी दिखायी पड़ती हैं, चीटियों के बीच बिच्छू बड़ा दीखता है और बिच्छूओं के मध्य सर्प बड़ा दिखायी पड़ता है, सर्प के बीच चील बड़ी दिखती है और चील के बीच भैंसे बड़े दिखायी पड़ते हैं, भैंसों के बीच हाथी और हाथियों के बीच गिरनार जैसा पर्वत और गिरनार के मध्य मेरु पर्वत बड़ा दिखायी पड़ता है, उस मेरु पर्वत के बीच लोकालोक पर्वत और उससे पृथ्वी बड़ी दिखायी पड़ती है.

पृथ्वी का कारण जो जल है वह उससे बड़ा और सूक्ष्म भी है. इसी प्रकार जल का कारण तेज, उसका कारण वायु, उसका कारण आकाश, उसका कारण अहंकार, उसका कारण महत्तत्त्व, उसका कारण प्रधान एवं पुरुष, उनका कारण मूल प्रकृति तथा ब्रह्म[1] और इन सबका कारण अक्षर ब्रह्म है तथा अक्षर तो पुरुषोत्तम भगवान का धाम है. उस अक्षर की संकुचन एवं विकास की स्थिति नहीं रहती और उसका एक ही रूप सदैव बना रहता है. वह अक्षर मूर्तिमान है, परन्तु बहुत बड़ा है, इस कारण अक्षर का रूप किसी को भी दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसा चौबीस तत्त्वों का कार्य ब्रह्मांड पुरुषावतार कहलाता है और वे विराटपुरुष करचरणादि से युक्त हैं, परन्तु उनकी मूर्ति अतिशय विशाल है, इस कारण वह दिखायी नहीं पड़ती. उन विराटपुरुष की नाभि से उत्पन्न कमल के नाल में ब्रह्मा एक सौ वर्ष तक चले, परन्तु उसका अन्त नहीं हुआ. जब कमल का अन्त नहीं हुआ तब विराटपुरुष का पार कैसे पाया जा सकता है ? इसीलिए, उस विराट

---

१. इस स्थल पर मूल पुरुष को 'ब्रह्म' शब्द से संबोधित किया गया है.

का रूप दिखायी नहीं पड़ता, वैसे ही अक्षरधाम भी मूर्तिमान है, परन्तु वह किसी को नहीं दीख पड़ता, क्योंकि ऐसे-ऐसे असंख्य ब्रह्मांड एक-एक रोम में उड़ते ही फिरते हैं, इतने बड़े हैं वे. उस अक्षरधाम में पुरुषोत्तम भगवान स्वयं सदैव विराजमान रहते हैं तथा अपनी अन्तर्यामी शक्ति द्वारा अक्षरधाम, अनन्तकोटि ब्रह्मांडों तथा उनके ईश्वरों में अन्वयभाव से रहे हैं और उस अक्षरधाम में अपने साधर्म्यभाव को प्राप्त अनन्तकोटि मुक्त इन भगवान की सेवा में रहते हैं. उन भगवान के सेवकों के एक-एक रोम में कोटि-कोटि सूर्यों के समान प्रकाश रहता है. अतएव, जिनके सेवक ऐसे हैं तो उनके स्वामी पुरुषोत्तम भगवान की महिमा का वर्णन तो किस प्रकार किया जा सकता है ? ऐसे अतिसमर्थ भगवान स्वयं अक्षर में प्रवेश करके अक्षररूप होते हैं तथा इसके पश्चात् मूलप्रकृति पुरुषरूप हो जाते हैं. बाद में प्रधानपुरुषरूप होते हैं. उसके पश्चात् वे प्रधान में से उत्पन्न चौबीस तत्त्वों में प्रवेश करके उनका स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं. इसके बाद वे उन तत्त्वों द्वारा उत्पन्न विराटपुरुष में प्रवेश करके उनका स्वरूप धारण करते हैं तथा ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव में प्रवेश करके उनका रूप ग्रहण करते हैं. इस प्रकार अतिसमर्थ, अतिप्रकाशयुक्त तथा अत्यन्त महान ये भगवान अपने ऐसे ऐश्वर्य और तेज को स्वयं में समाविष्ट करके जीव के कल्याण के लिये मनुष्याकार हो जाते हैं और तब ऐसा रूप धारण करते हैं, ताकि मनुष्य उनके दर्शन तथा सेवा एवं अर्चना आदि करने में समर्थ हो सके. 'जैसे चींटी के पैर में बारीक काँटा लग गया हो और उसे यदि बरछी और नहनी द्वारा निकाला जाय तो नहीं निकले, किन्तु बहुत बारीक लोहे के उपकरण से निकल जाय.' वैसे ही भगवान भी अपनी महत्ता को स्वयं में छिपाकर अतिशय अल्प रूप धारण करते हैं. 'जिस प्रकार अग्नि अपने प्रकाश तथा ज्वाला को छिपाकर मनुष्यसदृश हो जाती है', उसी तरह भगवान भी अपनी सामर्थ्य को छिपाकर जीव के कल्याण के लिये मनुष्योचित व्यवहार करते हैं. जो मूर्ख होता है वह तो ऐसा समझता है कि 'भगवान कुछ भी सामर्थ्य प्रकट क्यों नहीं करते ?' परन्तु, भगवान तो केवल जीव के कल्याण के लिये अपनी सामर्थ्य को छिपाकर व्यवहार करते हैं. यदि भगवान अपनी महत्ता को प्रकट करें तो ब्रह्मांड भी दिखायी नहीं पड़ सकता, तब जीव की क्या गणना ? जिसके हृदय में ऐसी महिमासहित भगवान का निश्चय सुदृढ़

हो गया हो, उसे काल, कर्म, माया, सभी किसी भी प्रकार का बन्धन करने में समर्थ नहीं हो सकते. इसीलिए, जो जीव इस प्रकार तत्त्वतः भगवान को समझ जाता है, उसे कुछ भी करने के लिये शेष नहीं रह जाता.'

नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'क्या भगवान ऐसे अनुक्रम द्वारा या उसके बिना ही मनुष्याकृति धारण करते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अनुक्रम का कोई मेल नहीं है. इस प्रसंग में यह दृष्टान्त मननीय है कि जैसे कोई पुरुष तालाब में डुबकी मारकर चाहे तो वहीं या किनारे पर अथवा आसपास निकल सकता है, वैसे ही पुरुषोत्तम भगवान अक्षररूप धाम में डुबकी लगाकर चाहे तो वहीं से सीधे मनुष्याकृति ग्रहण कर लेते हैं अथवा स्वेच्छानुसार इस प्रकार के अनुक्रम द्वारा मनुष्याकार हो जाते हैं.'

इस प्रकार वार्ता करने के बाद श्रीजीमहाराज पुनः बोले कि 'जिसे अत्यन्त दृढ़ निश्चय हो जाता है, उसका संक्षेप में लक्षण बताता हूँ, उसे सुनिये. जिसे परिपक्व निश्चय हो गया हो और जो स्वयं अत्यन्त त्यागी हो तो भी उससे चाहे जितनी प्रवृत्तिमार्ग की क्रिया करायी जाय तो उसे करता है, किन्तु उससे पीछे नहीं हटता और खीझकर नहीं, बल्कि प्रसन्नतापूर्वक यह कार्य करता है तथा अन्य लक्षण यह है कि अपना चाहे जैसा स्वभाव हो और वह कोटि उपाय करने पर भी टल जाय ऐसा न हो तथा यदि वह उस स्वभाव को छोड़ देने के लिये परमेश्वर का आग्रह देखे तो उस स्वभाव का तत्काल परित्याग कर डालता है. तीसरा लक्षण यह है कि कोई जीव ऐसा होता है कि स्वयं में कोई अवगुण होने पर भी परमेश्वर के कथा-कीर्तन तथा भगवान के सन्त के बिना घड़ी भर भी नहीं रह पाता और अपना अवगुण समझकर सन्त का अधिक से अधिक गुण ग्रहण करता है तथा भगवान की कथा, कीर्तन और उनके सन्त की महिमा को अधिकाधिक समझता है. जिसका ऐसा आचरण रहता हो, उसका निश्चय परिपक्व समझना चाहिये. ऐसे निश्चयवाला यदि प्रारब्धवश कभी अपने आचरण से च्युत हो जाता है तो भी उसका अकल्याण नहीं होता. यदि ऐसा निश्चय न रहे तो चाहे कैसा ही त्यागी हो तो भी उसका कल्याण नहीं होता.'

॥ इति वचनामृतम् ॥६३॥

वचनामृत ६४ : शरीर और शरीरी

संवत् १८७६ में फाल्गुन कृष्ण *नवमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने सफेद दुपट्टा धारण किया था, काले पल्ले का दुपट्टा ओढ़ा था, मस्तक पर रेशमी किनारीवाली धोती बाँधी थी तथा तुलसी की नयी कंठी कंठ में पहनी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने मुनियों से प्रश्न पूछा कि 'पुरुषोत्तम भगवान का शरीर आत्मा तथा अक्षर हैं, श्रुतियों ने ऐसा बताया है. वस्तुतः आत्मा और अक्षर तो विकार रहित हैं तथा अत्यन्त शुद्ध हैं. जिस प्रकार भगवान माया से परे हैं वैसे ही आत्मा और अक्षर भी माया से परे हैं, तब ऐसी आत्मा तथा अक्षर को किस प्रकार भगवान का शरीर[1] कहा जाता है ? जीव का शरीर तो जीव से अत्यन्त विलक्षण तथा विकारपूर्ण है. देही जीव तो निर्विकार है, इसलिये देह और देही में तो अत्यन्त विलक्षणता है, वैसे ही पुरुषोत्तम और उनका शरीर जो आत्मा और अक्षर हैं, उनमें भी अत्यन्त विलक्षणता होनी चाहिये, तो बताइये कि वह कैसी विलक्षणता है ?'

समस्त मुनियों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार इसका उत्तर दिया, किन्तु उनमें से कोई भी मुनि यथार्थ उत्तर न दे सका. तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'अच्छा, हम उत्तर देते हैं कि आत्मा[2] तथा अक्षर को पुरुषोत्तम

---

* शनिवार, ९ मार्च, १८२०

१. 'शीर्यते तच्छरीरम्', जो विशीर्ण होता है उसे शरीर कहा जाता है. इस प्रकार की व्युत्पत्ति से शरीर का जो शब्दार्थ है, वह निर्विकारी आत्मा तथा अक्षर के सम्बन्ध में किस तरह सम्भव होता है, इतना ही प्रश्नार्थ है.

२. 'शीर्यते तच्छरीरम्', यह 'शरीर' शब्द का मुख्य अर्थ तो नहीं है. मुख्य अर्थ व्याप्य भाव, अधीनता तथा असमर्थता है. अन्य के अधीन होने पर भी यदि कभी-कभी कोई क्रिया करने में समर्थता रहती है तो उसकी व्यावृत्ति के लिये उसे असमर्थता बताया गया है, इसीलिए दोनों शब्दों का 'तदेकाधीन' अर्थ हुआ. अधीन शब्द परतन्त्र का पर्यायवाची है. परतन्त्रता अर्थात् नियाम्यभाव, पराधीनता भी राजा की अपेक्षा राष्ट्र-जैसी नहीं है, परन्तु वह व्याप्यभाव से है, यह बताने के लिये ही व्याप्यभाव कहा गया है. तीनों शब्दों को मिलाकर एक

भगवान का शरीररूपी बताया गया है, किन्तु वह व्याप्य भाव, अधीनता तथा असमर्थता के कारण है और वह इस प्रकार है कि भगवान अपनी अन्तर्यामी शक्ति द्वारा आत्मा और अक्षर में व्यापक हैं तथा वे दोनों व्याप्य हैं. भगवान स्वतन्त्र हैं तथा आत्मा एवं अक्षर तो भगवान के अधीन और परतन्त्र हैं. भगवान अतिसमर्थ हैं तथा आत्मा एवं अक्षर तो भगवान के समक्ष अत्यन्त असमर्थ हैं. इस प्रकार भगवान इन दोनों के शरीरी हैं और ये दोनों भगवान के शरीर हैं. ऐसे शरीरी पुरुषोत्तम भगवान सदैव दिव्य मूर्तिमान रहते हैं. ऐसे भगवान व्यापक हैं और वे समस्त द्रष्टा आत्माओं तथा उनमें व्याप्य और दृश्य देह, इन सबमें अपनी अन्तर्यामी शक्ति द्वारा आत्मारूप में रहे हैं. इस प्रकार सबके आत्मा स्वरूपी पुरुषोत्तम भगवान को जब शास्त्रों में रूपवान दृश्य[१] आत्मा के रूप में बताया गया हो तब यह मानना चाहिये कि पुरुषोत्तम को दृश्यरूप[२] में प्रतिपादित किया गया है और जब उनका द्रष्टा के[३] आत्मारूप में प्रतिपादन किया गया हो तब इन पुरुषोत्तम को [४]अरूपभाव से शास्त्रों में बताया जाता [५]है. फिर भी, पुरुषोत्तम

ही लक्षण होता है. अन्तःप्रवेश करके जिसे समस्त प्रकार से नियम में रखा जा सके, उसे शरीर कहा जाता है, इतना फलितार्थ है और वह 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोऽयमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति, स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः', इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है. श्रीभाष्यादि में शरीर के जो अन्य लक्षण बताये गये हैं उनसे इस तात्पर्य को जान लेना चाहिये.

१ पृथिव्यादिक.

२. पृथिव्यादिरूप में.

३. जीवात्मा का.

४. जीवात्मा के रूप में.

५. इसका इतना भावार्थ है कि जहाँ परमात्मा का पृथिव्यादि अथवा जीवात्मारूप में वर्णन किया गया हो वहाँ उनका आत्मारूप में वर्णन करने का अभिप्राय है, ऐसा समझना चाहिये. शरीरवाचक शब्द का शरीरी में पर्यवसान होने का स्वभाव है, इसीलिए, शरीर शब्द से शरीरी का ग्रहण हो सकता है. जिस प्रकार 'देवदत्तः जानाति', इस स्थान में पिंडविशेष का वाचक देवदत्त शब्द भी शरीरी चेतन का आभास कराता है, उसी प्रकार श्रुतिस्मृतियों के प्रयोग हैं – 'निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयनं चानिलयनं च विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'इदं सर्वं यदयमात्मा', 'पुरुष एवेदं

भगवान रूपवान, दृश्य और अरूपी आत्मा से भिन्न हैं तथा सदैव मूर्तिमान रहते हैं, फिर भी प्राकृत आकार से रहित हैं तथा मूर्तिमान होने पर भी द्रष्टा एवं दृश्य, दोनों के द्रष्टा हैं और आत्मा एवं अक्षर, सबके प्रेरक हैं. वे स्वतन्त्र तथा नियन्ता होने के साथ-साथ समस्त ऐश्वर्यों से सम्पन्न हैं और परेतर अक्षर से भी परे हैं. ऐसे पुरुषोत्तम भगवान जीवों के कल्याण के लिये कृपा करके पृथ्वी पर मनुष्य-जैसे दिखायी पड़ते हैं. जो मनुष्य उन्हें इस प्रकार सर्वदा दिव्यमूर्तिमान समझकर उनकी उपासना और भक्ति करते हैं, वे तो इन भगवान के साधर्म्यभाव और अनन्त [१]ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेते हैं तथा [२]ब्रह्मभाव को प्राप्त अपनी आत्मा[३] द्वारा प्रेमसहित निरन्तर परम आदरभावना के साथ पुरुषोत्तम भगवान की सेवा में दत्तचित रहते हैं. किन्तु, जो जीव इन भगवान को निराकार समझकर ध्यान-उपासना करते हैं वे तो[४] ब्रह्म[५] सुषुप्ति[६] में विलीन हो जाते हैं और फिर वे वहाँ से कभी भी नहीं निकल पाते तथा भगवान से कोई ऐश्वर्य भी प्राप्त नहीं [७]करते. हमने यह वार्ता प्रत्यक्ष देखकर ही कही है.[८] इसीलिए, इसमें किसी भी प्रकार का

सर्वम्', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि', 'सर्वमात्मैवाऽभूत्', 'त्वं वै अहमस्मि', 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः', 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि', 'आदित्यानामहं विष्णुः', 'ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुर्वनानि विष्णुर्गिरयो दिशश्च । नद्यः समुद्राश्च स एव सर्वं यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्य !' 'सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः', 'जगतश्च सः', 'इदं हि विश्वं भगवान्', इत्यादि. चिदचिदात्मक जगत की आत्मा परमात्मा है. ऐसी श्रुतिस्मृतियाँ हैं - 'यस्याऽऽत्मा शरीरम्', 'यस्य पृथिवी शरीरम्', 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्', 'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः । वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च' 'द्यौः सचन्द्रार्कनक्षत्रा खं दिशो भूर्महोदधिः । वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः', इत्यादि इतना भावार्थ है.

१. माया के गुणों से परास्त न होना, आदि सामर्थ्य.
२. दिव्य भाव.
३. देह. 'ब्राह्मीं संविशते तनुम्' 'गुणापाये ब्रह्मशरीरमेति', ऐसा भावार्थ स्मृतियों में बताया गया है.
४. कैवल्यार्थी भक्त तो.
५. देह का अन्त होने पर.
६. सुषुप्तिसदृश अक्षरब्रह्मतेज में.
७. तब भगवान की सेवा का सुख न पा सके, तो उसके सम्बन्ध में क्या कहना ?
८. परन्तु, किसी से सुनकर नहीं कही.

संशय नहीं करना चाहिये. इस वार्ता के मर्म को तो केवल वही पुरुष समझ सकता है, जो इन भगवान के स्वरूप में सदैव दिव्य साकार रूप में ही उपासना करने की अपनी दृढ़ निष्ठा पर अटल बना हुआ है, परन्तु अन्य कोई भी मनुष्य इसे समझने में समर्थ नहीं हो पाता. इसीलिए, इस वार्ता में अत्यन्त [illegible]

सं [illegible] ा-
स्थित द [illegible] में
गादी-त [illegible] थे.
उस स [illegible] के
हरिभक्त [illegible]

श्र [illegible] सों
को अप [illegible] पर
श्रीजीम [illegible] तर
का कार [illegible] छे
होती है [illegible]

इ [illegible] छा
कि 'आ [illegible] भी
इस प्रश [illegible]

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब बालक सर्वप्रथम माता के उदर में रहता है तब तथा जन्म के समय उसकी हृदयादिक इन्द्रियों के छिद्र सूक्ष्म होते हैं, बाद में जैसे-जैसे वह बालक बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उन छिद्रों की वृद्धि भी होती रहती है और उनमें आकाश भी उत्पन्न होता दिखायी पड़ता है तथा जब वह वृद्धावस्था को प्राप्त होता है तब उसकी इन्द्रियों के छिद्र संकुचित होते जाते हैं और आकाश भी लय को प्राप्त दीख पड़ता है, वैसे ही जब विराट देह उत्पन्न होती है तब उसके अवान्तर हृदयादिक छिद्रों में आकाश की उत्पत्ति होती दिखायी पड़ती है और जब

---

* मंगलवार, १३ मार्च, १८२०.

इस विराट देह की लय हो जाती है तब आकाश भी विलीन होता दिखायी पड़ता है. इस[१] प्रकार आकाश की उत्पत्ति और लय का क्रम चलता रहता है, परन्तु जो आकाश सबका आधार है, वह तो प्रकृतिपुरुष के समान नित्य रहता है, इसीलिए उसकी उत्पत्ति तथा लय हो ही नहीं सकता. समाधि द्वारा आकाश की उत्पत्ति तथा लय होता है, उसकी रीति को तो समाधिवाले ही जानते[२] हैं.'

परमानन्द स्वामी ने स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी से प्रश्न पूछा कि 'सुषुम्ना नाड़ी देह के भीतर और बहार कैसे रही है ?' स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी इस प्रश्न का उत्तर देने लगे, किन्तु यथार्थ उत्तर देने में समर्थ न हो सके. तब श्रीजीमहाराज बोले कि [३]'इस ब्रह्मांड में जितने तत्त्व हैं उतने ही इस पिंड में भी हैं. वे पिंड में अल्प और ब्रह्मांड में बड़े हैं. जैसा आकार इस पिंड का है वैसा ही आकार ब्रह्मांड का भी है. जिस प्रकार ब्रह्मांड में नदियाँ हैं वैसे ही पिंड में नाड़ियाँ हैं. इसी प्रकार जैसे ब्रह्मांड में समुद्र है वैसे ही पिंड में स्थित कुक्षि में जल रहता है और वहाँ जिस तरह चन्द्र तथा सूर्य रहते हैं, उसी प्रकार पिंड की इडा पिंगला नाडी में चन्द्र-सूर्य हैं. इस प्रकार जो तत्त्व ब्रह्मांड में हैं वे पिंड में भी हैं[४] तथा इस पिंड में इन्द्रियों की जो नाड़ियाँ हैं उनकी [५]ब्रह्मांड के साथ एकात्मता रहती है और भक्त जब [६]जिह्वा पर नियंत्रण कर लेता है तब वह वरुणदेव पर काबू पा लेता है. उसी प्रकार वाक्-इन्द्रिय को नियन्त्रित कर लेने पर अग्निदेव पर नियन्त्रण हो जाता है, वैसे ही त्वचा – इन्द्रिय पर काबू होने से वायुदेव पर नियन्त्रण

---

१. सृष्टि के समय आकाश की उत्पत्ति होती है और प्रलय के समय वह लय हो जाता है, उसका इस स्थान पर प्रसंग नहीं है, परन्तु शरीर में आकाश की उत्पत्ति और लय का जो व्यवहार (क्रम) चलता रहता है उसका प्रसंग है. वह व्यवहार भी वास्तविक नहीं, बल्कि उलझनपूर्ण है, इतना अभिप्राय है.

२. उसे ४६ वें वचनामृत में कहा गया है.

३. पिंड तथा ब्रह्मांड की रचना एक समान होती है.

४. जो ब्रह्मांड है वह वैराज पुरुष का शरीर है, उसका वर्णन भागवत में 'पातालमेतस्य हि पादमूलम्' इत्यादि श्लोकों द्वारा किया गया है.

५. वैराजपुरुष की इन्द्रियों के साथ.

६. जिह्वा आदि इन्द्रियों में स्थित वरुणा आदि नाड़ियों पर जब योगी नियन्त्रण कर लेता है तब वह वैराजपुरुष के रसना आदि इन्द्रियरूपी वरुणादिक देवों को जीत लेता है, इतना अभिप्राय है.

होता है. इसी तरह जब वह शिश्न (जननेन्द्रिय या लिंग) पर काबू पा लेता है तब प्रजापति के साथ तादात्म्य हो जाता है और हाथ पर नियन्त्रण होने पर इन्द्र पर काबू हो जाता है. उसी प्रकार हृदय में रहनेवाली सुषुम्ना नाड़ी के अंतिम भाग में, जिसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं, स्थित शिशुमार चक्र में रहनेवाले वैश्वानर नामक अग्नि के अभिमानी देवता पर नियन्त्रण हो जाता है तब ब्रह्मरन्ध्र से लेकर प्रकृति-पुरुष तक तेज का एक सीधा मार्ग रहता है. उस तेज के मार्ग को सुषुम्ना कहते[१] हैं. इसी प्रकार सुषुम्ना नाड़ी पिंड और ब्रह्मांड में रहती है.'

परमानन्द स्वामी ने स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी से यह प्रश्न पूछा कि 'सर्वप्रथम[२] जाग्रत अवस्था की लय होती है या स्वप्न अथवा सुषुप्ति की लय हो जाती है ?' स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी इस प्रश्न का उत्तर न दे सके.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जाग्रत अवस्था में जब अत्यन्त प्रेमपूर्वक भगवान की मूर्ति में समाधि लग जाती है तब सबसे पहले जाग्रत अवस्था की लय होती है, उसके पश्चात् स्वप्न एवं सुषुप्ति की लय हुआ करती है. जब मानसिक रूप से चिन्तन करते करते स्वप्न में भगवान की मूर्ति की ओर ध्यान लग जाय तब सर्वप्रथम स्वप्नावस्था की लय होती है और उसके पश्चात् जाग्रत और सुषुप्ति अवस्थाएँ विलीन हो जाती हैं. जब भगवान की मूर्ति का चिन्तन करते-करते उपशम-भावना से लक्ष्य[३] होता है तब सबसे पहले सुषुप्ति और उसके बाद जाग्रत तथा स्वप्नावस्था की लय होती है.' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने इस प्रश्न का उत्तर दिया.

स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने परमानन्द स्वामी से प्रश्न पूछा कि 'यह बात किस तरह समझनी चाहिये कि भगवान के सम्बन्ध में ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति तथा इच्छाशक्ति बनी हुई है ?'

श्रीजीमहाराज हँसकर बोले कि 'इसका उत्तर तो आपको भी नहीं आता होगा.' ऐसा कहकर वे स्वयमेव उत्तर देने लगे कि 'जब यह जीव सात्त्विक भाव से आचरण करते हुए जो कर्म करता है, उसका फल[४] जाग्रत अवस्था

---

१. वरुणा नाड़ी भगवान के धाम का पथप्रदर्शन करती है. 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति,' ऐसा श्रुतियों में कहा गया है.

२. समाधि में तीनों अवस्थाओं का लय हो जाता है, उसमें.

३. समाधि.

४. कर्मफल का भोगस्थान.

के रूप में मिलता है. जब यह (जीव) राजसिक भाव से आचरण के साथ कर्मरत रहता है तब उसका फल स्वप्नावस्था का द्योतक बन जाता है. जब जीव द्वारा तामसिक भाव से आचरण किये जाते समय जो कर्म किया जाता है, उसका फल सुषुप्ति अवस्था का सूचक होता है. जब यह जीव सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होता है तब वह शिला के समान जड़ हो जाता है और उस स्थिति में उसे किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता कि 'मैं पंडित अथवा मूर्ख हूँ, यह कार्य किया है या यह काम करना है अथवा यह मेरी जाति है या ऐसा मेरा वर्ण है, या ऐसा मेरा आश्रम है अथवा यह मेरा नाम है या यह रूप मेरा है अथवा मैं देव हूँ या मनुष्य, बालक हूँ या वृद्ध, धर्मिष्ठ हूँ या पापात्मा ?'

इस जीव का ऐसा स्वरूप होने पर भगवान उसे ज्ञानशक्ति द्वारा सुषुप्ति अवस्था से जगाकर उसके करने योग्य समस्त क्रियाओं का ज्ञान प्रदान करते हैं. उसे ज्ञानशक्ति कहते हैं. जब यह जीव जिस-जिस क्रियामें प्रवृत्त रहता है, तो उसे भगवान की क्रिया शक्ति का अवलंबन करने से ही ऐसी सामर्थ्य प्राप्त होती है. उसे क्रियाशक्ति कहा जाता है. यह जीव जिस किसी पदार्थ को पाने की इच्छा करता है, वह परमेश्वर की इच्छाशक्ति का अवलंबन करने से प्राप्त हो जाता है. उसे इच्छाशक्ति कहते हैं. इस जीव को जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में जो भोग भोगने पड़ते हैं उन्हें वह केवल कर्म द्वारा ही नहीं भोगता, बल्कि कर्मफलप्रदाता परमेश्वर की इच्छा से भोगता है, क्योंकि[1] यह जीव जाग्रत अवस्था के फल का उपभोग करते समय जब स्वप्नावस्था में जाने की इच्छा करता है तब वह स्वेच्छामात्र से वहाँ नहीं जा सकता, क्योंकि कर्मफल देनेवाले परमेश्वर उसकी वृत्तियों को अवरुद्ध रखते हैं. इसी प्रकार जीव केवल अपनी इच्छा द्वारा स्वप्नावस्था से जाग्रत्त अवस्था या सुषुप्ति अवस्था और सुषुप्ति अवस्था से स्वप्नावस्था तथा जाग्रत अवस्था में नहीं जा पाता. वस्तुतः कर्मफल का उपभोग करानेवाले तो परमेश्वर ही हैं, वे जब जिस अवस्था के कर्मफल का भोग भोगने का अवसर प्रदान करते हैं तभी उसका उपभोग किया जा सकता है. परन्तु, यह जीव स्वयं अपनी इच्छा अथवा क्रिया द्वारा कर्मफल का उपभोग नहीं कर सकता. इस प्रकार भगवान में ज्ञानशक्ति,

---

१. बताये गये अर्थ को पुनः भलीभांति समझे जाने के लिये स्पष्ट रूप से बताते हैं.

क्रियाशक्ति तथा इच्छाशक्ति रही[१] है.' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने कृपा करके उत्तर दिया. ॥ इति वचनामृतम् ॥६५॥

वचनामृत ६६ : चतुर्व्यूह की वार्ता

संवत् १८७६ में फाल्गुन कृष्ण *अमावास्या को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने काले पल्ले का दुपट्टा धारण किया था, सफेद दोहर ओढ़ी थी और मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-विदेशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'श्रीमद्भागवत् में चतुर्व्यूह-वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध की ही वार्ता है. उसे किसी स्थान पर सगुण और किसी स्थल पर निर्गुण रूप में बताया गया है. वह समझ लेना चाहिये कि जहाँ भगवान के निर्गुण स्वरूप का वर्णन किया गया है वह भगवान वासुदेव के सम्बन्ध में है, और जहाँ-जहाँ सगुणात्मक वर्णन है वहाँ-वहाँ संकर्षण, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न को संबोधित करके कहा गया है. इसीलिए शास्त्रों में भगवान के निर्गुण[२] स्वरूप का जो वर्णन है उसका पठन करने और इस कथा को सुननेवालों की मति भ्रमित हो जाती है, क्योंकि वे ऐसा समझते हैं कि 'भगवान का आकार होता ही नहीं है' यानी वे निराकार हैं. ऐसी धारणा रखनेवालों की बुद्धि विपरित दिशा में भटकती फिरती है तथा शास्त्रों में प्रतिपादित शाब्दिक अभिव्यक्ति को एकान्तिक भक्त के सिवा अन्य कोई भी जीव नहीं समझ पाता. इन शब्दों को सुनकर कि 'भगवान अरूप, ज्योतिस्वरूप, निर्गुण और सर्वत्र व्यापक हैं, वह यह समझता है कि 'शास्त्रों में तो भगवान को निराकार ही बताया गया है', जबकि एकान्तिक भक्त की तो यह मान्यता रहती है कि 'शास्त्रों में भगवान का जो निराकार एवं निर्गुण स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, उसे तो मायिक रूप-गुण के

---

* बुधवार, १४ मार्च, १८२०.

१. वे शक्तियाँ समस्त जीवों के गुणकर्मानुसार उनमें (जीवों में) समायी हुई शक्तियों को प्रेरित करती है, इसीलिए भगवान में वैषम्य नहीं है.

२. निर्गुणादि पद का अर्थसूचक.

निषेध के लिये बताया गया है कि भगवान तो नित्य दिव्यमूर्तिमान हैं तथा अनन्त कल्याणकारी गुणों से युक्त हैं ' तथा उन्हें तेजपुंजरूपी बताया गया है, अतएव ऐसा तेज मूर्ति के बिना हो ही नहीं सकता, इस दृष्टि से यह मूर्ति का ही तेज है. जैसे अग्नि की जो मूर्ति है, उसमें से अग्नि की ज्वाला प्रकट होती है, इस कारण अग्नि की यह मूर्ति नहीं दीख पड़ती; किन्तु ज्वाला दिखायी पड़ती है, उसे विवेकी पुरुष यह समझता है कि अग्नि की मूर्ति में से ही ज्वाला निकलती है. वैसे ही वरुण की मूर्ति में से जल प्रकट होता है, वही जल दिखायी पड़ता है, किन्तु वरुण की मूर्ति नहीं दिखायी पड़ती. फिर भी, बुद्धिमान व्यक्ति ऐसा समझता है कि जिस तरह वरुण की मूर्ति में से समस्त जल निकलता है उसी प्रकार ब्रह्मसत्तारूप कोटिसूर्यों का जो प्रकाश है वह पुरुषोत्तम भगवान की मूर्ति का ही प्रकाश है. शास्त्रों में ऐसे वचन भी हैं कि 'जिस प्रकार काँटे से काँटा निकालकर इन दोनों का परित्याग कर दिया जाता है, उसी प्रकार भगवान पृथ्वी का भार उतारने के लिये देह-धारण करते हैं और भार उतारने के पश्चात् देह-त्याग कर डालते हैं.' ऐसे शब्दों को सुनकर मूर्ख तो उद्भ्रान्त हो जाता है तथा भगवान को निराकार समझता है, परन्तु वह भगवान की मूर्ति को दिव्य नहीं मानता. किन्तु, एकान्तिक भक्त तो यह समझता है कि जब श्रीकृष्ण भगवान अर्जुन की प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के निमित्त ब्राह्मण के पुत्र को लेने के लिये गये तब उन्होंने अर्जुन के साथ द्वारिका से रथ पर बैठकर प्रस्थान किया और लोकालोक पर्वत को लाँघकर मार्ग में पड़नेवाले माया के अन्धकार को सुदर्शन चक्र द्वारा दूर कर दिया और वहाँ से रथ को आगे बढ़ाकर [१]तेजपुंज में प्रवेश किया तथा वे भूमापुरुष से ब्राह्मण के पुत्र को ले आये थे. श्रीकृष्ण भगवान दिव्यमूर्तिमान थे, इसीलिए, उनके प्रताप से लकड़ी के रथ और पाँच भौतिक देहवाले घोड़ों को दिव्य एवं मायातीत चैतन्य रूप प्राप्त हो गया. यदि उन्हें दिव्य स्वरूप प्राप्त न हुआ होता तो जितना माया का कार्य होता उतना माया में ही लीन हो जाता तथा माया से परे[२] ब्रह्मधाम तक पहुँच नहीं हो सकती थी. भगवान की मूर्ति के प्रताप से मायिक पदार्थ भी अमायिक बन गये. भगवान के ऐसे स्वरूप को मूर्ख पुरुष मायिक

१. ज्योतिर्मय अक्षरब्रह्मधाम.

२. अक्षरब्रह्मधाम.

समझता है, जबकि एकान्तिक सन्त भगवान की मूर्ति को अक्षरातीत तथा मूर्तिमान पुरुषोत्तम भगवान को ब्रह्मरूप, अनन्तकोटि मुक्तों तथा अक्षरधाम की आत्मा मानता है. इसलिये, चाहे किसी भी प्रकार के शास्त्रों का पठन-पाठन करते समय यदि भगवान के निर्गुण रूप का प्रतिपादन किया गया हो तो भी उस स्थान पर ऐसा समझना चाहिये कि इन भगवान की मूर्ति की महिमा बतायी गयी है, परन्तु भगवान तो सदा मूर्तिमान ही है. इस प्रकार समझनेवाले को एकान्तिक भक्त कहते हैं.' ॥ इति वचनामृतम् ॥६६॥

वचनामृत ६७ : सत्पुरुष के गुण

संवत् १८७६ में चैत्र शुक्ल *सप्तमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में मुनियों के निवासस्थान में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने मुनियों से प्रश्न पूछा कि 'कोई सत्पुरुष हैं, जिन्हें इस लोक के सुख का तो मोह ही नहीं है, किन्तु परलोक, जो भगवान का धाम है, तथा भगवान की मूर्ति में वासना बनी हुई है और जो कोई जीव उनका संग करता है, उससे भी वे इसी प्रकार स्नेह करते हैं कि 'यह मेरा साथी है, इसीलिए यदि इसकी सांसारिक वासना हट जाय और भगवान से प्रीति हो जाय तो बहुत अच्छा होगा.' ऐसे पुरुष जो कुछ भी यत्न करते हैं, वे सब उनके देहत्याग के पश्चात् भगवान के धाम में पहुँच जाने के उपरान्त सुखदायी होते हैं, परन्तु वे अपने दैहिक सुख के लिये कोई भी क्रिया करते ही नहीं हैं. ऐसे सत्पुरुष जैसे गुण मुमुक्षु में किस प्रकार समझ में आ सकते हैं और किस तरह उनकी जानकारी नहीं हो सकती ?'

मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'जिन्हें इस लोक के सुखों से लगाव नहीं रहता, वे ही सत्पुरुष होते हैं और उनमें [1]देवबुद्धि बनी रहती है तथा यह कि जो कहे हुए वचनों को सत्य मानकर तदनुसार आचरण करते हैं,

---

* बुधवार, २१ मार्च, १८२०.

१. 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥'
इस प्रकार स्मृतियों में बताया गया है.

सत्पुरुष के वे ही गुण मुमुक्षु में आते हैं और यदि ऐसा न हो तो उसमें उनका समावेश नहीं हो सकता.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह उत्तर तो ठीक है, परन्तु यदि इस[१] प्रकार समझा जाय तो महान सत्पुरुष के गुण मुमुक्षु में आ जाते हैं, जिन्हें समझने की रीति बताते हैं, उसे सुनिये. जिन्हें परमेश्वर के सिवा अन्यत्र कहीं भी प्रीति नहीं होती, उनके गुणों को इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये कि 'ये पुरुष तो बहुत बड़े हैं और इनके आगे लाखों मनुष्य हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं तो भी वे संसार के सुखों की लेशमात्र भी इच्छा नहीं करते और मैं तो ऐसा घोर पामर जीव हूँ कि केवल सांसारिक सुखों में ही आसक्त हो गया हूँ और परमेश्वर की वार्ता को तो लेशमात्र भी नहीं समझता, इसीलिए मुझे धिक्कार है.' उसे इस प्रकार की आत्मग्लानि होती रहती है और तब वह महापुरुष के गुणों को ग्रहण करता है तथा अपने अवगुणों पर पश्चात्ताप करता है. इस प्रकार पश्चात्ताप करते-करते उसके हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और इसके बाद उसमें सत्पुरुष जैसे गुण आ जाते हैं.

जिसके हृदय में सत्पुरुष के गुण बिल्कुल नहीं आते, उसके लक्षण अब कहते हैं, उन्हें सुनिये. जो पुरुष ऐसा समझता है कि 'यद्यपि ये महापुरुष कहलाते हैं, फिर भी इनमें किसी प्रकार का विवेक नहीं है, इन्हें न तो खाने-पीने का ढंग ही मालूम है और न ओढ़ना तथा कपड़े पहनना ही आता है. परमेश्वर ने यद्यपि इन्हें बहुत सुख दिया है, फिर भी उसका उपभोग करना नहीं आता और वे किसी को कोई वस्तु देते भी हैं तो उसे बिना विवेक किये ही दे डालते हैं.' इस प्रकार सत्पुरुष में वह अनेक अवगुण ही देखता रहता है. ऐसे दुर्बुद्धिवाले पुरुष में कभी भी सत्पुरुषों के गुण आते ही नहीं हैं.' ॥ इति वचनामृतम् ॥६७॥

वचनामृत ६८ : आठ प्रकार की मूर्ति

संवत् १८७६ में चैत्र शुक्ल *नवमी को स्वामी श्रीसहजानन्द स्वामी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत

---

* शुक्रवार, २३ मार्च, १८२०.

१. दिये गये उत्तर में जो न्यूनता है उसकी पूर्ति करते हैं.

दुपट्टा धारण किया था, सफेद चादर ओढ़ी थी और सिर पर श्वेत रेशमी किनारीवाली धोती बाँधी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'हम एक प्रश्न पूछते हैं.' तब मुनियों ने कहा कि 'पूछिये.' श्रीजीमहाराज बोले कि 'उनहत्तर के दुर्भिक्ष के समय हमें एक महीने तक जब नींद नहीं आती थी तब ऐसा आभास होता था कि हमने पुरुषोत्तमपुरी में जाकर श्रीजगन्नाथजी की मूर्ति में प्रवेश करके निवास किया है. यद्यपि वह काष्ठ की (लकड़ी की) मूर्ति थी, फिर भी हम उसके नेत्रों से सबको देखते रहते थे, पुजारी के भक्तिभाव और छलकपट को भी देखते थे. अपने सत्संग में जो समाधिनिष्ठ पुरुष रहते हैं वे भी इस प्रकार समाधि द्वारा दूसरे के शरीर में प्रवेश करके सबको देखते हैं तथा समस्त शब्दों को सुनते हैं. शास्त्रों में भी ऐसे वचन हैं कि शुकदेवजी[१] वृक्ष में रहकर बोले थे.' इसीलिए, महान सत्पुरुष अथवा परमेश्वर अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी स्थान में प्रवेश करने की सामर्थ्य रखते हैं. अतएव, परमेश्वर ने अपनी आज्ञा द्वारा जो मूर्ति पूजन करने के लिये दी हो वह आठ प्रकार की होती है तथा उसमें स्वयं भगवान साक्षात् प्रवेश करके विराजमान रहते हैं. भगवान का जो भक्त उस मूर्ति की पूजा करता हो तो उसे उसकी (मूर्ति की) भी उसी प्रकार मर्यादा रखनी चाहिये, 'जिस तरह प्रत्यक्षरूप से विराजमान भगवान की मर्यादा का पालन किया जाता है.' वैसे ही सन्त के हृदय में भी भगवान की मूर्ति रही है, इसीलिए उन सन्त की भी मर्यादा रखी जानी चाहिये. किन्तु, वह भक्त तो ऐसी मर्यादा का लेशमात्र भी पालन नहीं करता और उल्टे वह मूर्ति को चित्र अथवा पाषाणादिक की समझता है तथा सन्त को अन्य पुरुषों के समान मानता है. भगवान ने तो अपने श्रीमुख से ऐसा कहा है कि 'मैं अपनी आठ प्रकार की प्रतिमा तथा सन्त में अखंड रूप से निवास करता रहता हूँ.' और, वह भक्त तो भगवान की प्रतिमा तथा सन्त के समक्ष स्वेच्छा से अविवेकपूर्ण आचरण करता रहता है, परन्तु भगवान से लेशमात्र भी भयभीत नहीं होता. उसे भगवान का निश्चय है या नहीं ?' तब परमहंस बोले कि 'जब यह भगवान को अन्तर्यामी मानकर भी मर्यादा नहीं रखता तो यही प्रतीत होता है

१. 'पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुः', इस श्लोक द्वारा भागवत में बताया गया है.

कि उसमें भगवान का निश्चय नहीं है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'उसे निश्चय तो है ही नहीं तथा बाह्य रूप से भी वह पाखंडरूप भक्ति करता है तो उसका कल्याण होगा या नहीं ?' सन्त बोले कि 'उसका कल्याण नहीं होगा.'

बाद में श्रीजीमहाराज ने बताया कि 'जिसे भगवान की मूर्ति तथा सन्त में नास्तिकता का भाव बना रहता है, उसकी ऐसी भावना उन प्रत्यक्ष भगवान में, जिनका भजन-स्मरण वह करता रहता है, तथा भगवान के गोलोक एवं ब्रह्मपुर आदि धामों के सम्बन्ध में भी ज्यों की त्यों बनी रहती है और वह यह मानेगा कि जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय परमेश्वर द्वारा नहीं, बल्कि काल, माया और कर्म के जरिये होती है. ऐसा पक्का नास्तिक वह होगा.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'इस नास्तिकता का कारण पूर्वजन्म का कोई कर्म है अथवा कुसंग ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'नास्तिकता का कारण तो नास्तिक ग्रन्थों का श्रवण करने से उत्पन्न होता है तथा ऐसे ग्रन्थों की जानकारी रखनेवालों का संग भी नास्तिकता का निमित्त बन जाता है. काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, मान तथा इर्ष्या का भाव भी नास्तिकता का कारण हो जाता है, क्योंकि इनमें से यदि किसी का भी प्रभाव उसके स्वभाव पर पड़ता है तो वह नारदसनकादिक – जैसे साधुओं द्वारा समझाये जाने पर भी उनकी बात नहीं समझ पाता. यदि वह श्रीमद्भागवत – जैसे आस्तिक ग्रन्थों में प्रतिपादित जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयरूपी भगवान की लीला का श्रवण करेगा तथा भगवान और सन्त के माहात्म्य को समझ लेगा, तो उसकी नास्तिकता मिट जायगी और आस्तिकता की भावना उत्पन्न हो जायेगी.'

॥ इति वचनामृतम् ॥६८॥

वचनामृत ६९ : अहिंसामय धर्म

संवत् १८७६ में चैत्र शुक्ल *द्वादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान

* सोमवार, २६ मार्च, १८२०.

थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीवासुदेवनारायण की सन्ध्या-आरती हो जाने के पश्चात् नारायण धुन करने के बाद श्रीजीमहाराज बोले कि 'धर्म किसका नाम है, इसका शास्त्रोक्त रीति से उत्तर दीजिये. पहले के राजा, जो पशुओं का शिकार किया करते थे, शरण में आये हुए जीव की न तो स्वयं ही हत्या करते थे और न किसी अन्य पुरुष को ही उसकी हत्या करने की अनुमति देते थे. इसीलिए, शरणागत जीव को मारने से जो पाप होता है वह क्या परपुरुष की हत्या करने से भी होता है या नहीं ?'

जिसे इसका जैसा उत्तर देना आया, वैसा उत्तर उसने दिया. परन्तु, श्रीजीमहाराज ने जब आशंका प्रकट की तब कोई भी साधु उत्तर देने में समर्थ न हो सका. समस्त मुनि बोले कि 'हे महाराज ! हम भी आपसे यह प्रश्न पूछते हैं कि एक ओर तो यज्ञादि में पशुवध को एक धार्मिक क्रिया के रूप में प्रतिपादित किया गया है और दूसरी ओर धर्म का अहिंसात्मक रूप भी बताया गया है, इसीलिए कृपया बताइये कि इसमें यथार्थ बात क्या है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'हिंसायुक्त धार्मिक क्रिया तो धर्म, अर्थ और काम की अपेक्षा से की जाती है, किन्तु उसमें भी धर्म, अर्थ एवं काम की अपेक्षा से हिंसा का जो प्रतिपादन किया गया है वह इसीलिए कि अन्य क्षेत्रों में हिंसा से मुक्त रहा जाय. परन्तु, अहिंसामय धर्म को मोक्षप्रद बताया गया है, यह साधु का धर्म है तथा हिंसात्मक धर्मविधि को कामना प्राप्त माना गया है, किन्तु उससे कल्याण नहीं होता. परन्तु, अहिंसामय धर्म तो केवल कल्याण के लिए किया जाता है. इसीलिए, गृहस्थों और त्यागीजनों के लिए तो केवल अहिंसामय धर्म ही कल्याणकारी बताया गया है. इस प्रसंग में यह बात उल्लेखनीय है कि उपरिचर वसु नामक राजा अपने राज्य में केवल अहिंसात्मक धर्म का ही आचरण करते थे. इस कारण, साधुओं को मन, कर्म तथा वचन द्वारा किसी का भी अहित नहीं करना चाहिये. उन्हें तो किसी बात का अहंकार भी नहीं करना चाहिये और सबका दासानुदास होकर रहना चाहिये. वस्तुतः क्रोधयुक्त प्रकृति तो दुष्ट पुरुष का धर्म होता है और शान्त स्वभाव से आचरण करना ही साधुओं का धर्म है. तब कोई यह कहेगा कि 'जब हज़ारों मनुष्यों से नियमों का पालन कराना हो तो साधुता

ग्रहण करने से कैसे काम चलेगा ?' इसका उत्तर तो यह है कि राजा युधिष्ठिर का तो हज़ारों कोसों में राज्य था तो भी उन्होंने साधुता रखी थी. भीमसेन के समान डराने-धमकानेवाले तो हजारों पुरुष हो सकते हैं, जिन्हें रोका जाय तो भी वे अपने स्वभाव के अनुसार आचरण करने से नहीं रुक सकते. इसीलिए, यह कहना पड़ेगा कि वास्तव में तीक्ष्ण स्वभाववालों की कोई कमी नहीं है. ऐसे पुरुष तो भारी संख्या में पाये जाते हैं, परन्तु साधु बनना अत्यन्त दुर्लभ होता है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥६९॥

वचनामृत ७० : सन्त-समागम

संवत् १८७६ में चैत्र शुक्ल *पूर्णिमा को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादा खाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने शिर पर रेशमी किनारीवाली श्वेत धोती बाँधी थी, सफेद दुपट्टा धारण किया था तथा श्वेत चादर ओढ़ी थी और वे अपने हस्तकमल में तुलसी की माला लेकर फेर रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'बड़े-बड़े परमहंसों को अब परस्पर प्रश्न पूछने और उसका उत्तर देने का कार्यक्रम प्रारम्भ करना चाहिये. यदि किसी हरिभक्त को कुछ पूछना हो तो उसे अपना यह प्रश्न परमहंसों से पूछना चाहिये.'

तब रोजका ग्राम के हरिभक्त काकाभाई ने नित्यानन्द स्वामी से प्रश्न पूछा कि 'अन्तःकरण के भीतर कोई यह कहता है कि विषयों का उपभोग किया जाना चाहिये, जबकि दूसरा कोई ऐसा करने से अस्वीकार कर देता है. अब बताइये कि जो अस्वीकार करता है वह कौन है और जो स्वीकृति देता है वह कौन है ?' नित्यानन्द स्वामी ने कहा कि 'जो अस्वीकार करता है वह जीव है और जो स्वीकृति देता है वह मन है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस प्रश्न का उत्तर हम देते हैं कि यह[१] बात

---

* गुरुवार, २९ मार्च, १८२०

१. जब तक जीव को ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, तब तक वह मन के सम्बन्ध से रहित नहीं हो पाता और मन भी जीव के साथ सम्बन्ध के बिना नहीं रह सकता. जिस प्रकार तुष (छिलका) और तन्दुल (चावल) का सम्बन्ध नित्य

भी है कि जिस दिन से बुद्धि उत्पन्न हुई और माता-पिता को पहचाना, उस दिन से माँ-बाप ने यह निश्चय कराया कि 'यह तेरी माँ, यह तेरा बाप, यह तेरा काका, यह तेरा भाई, यह तेरा मामा, यह तेरी बहन, यह तेरी भाभी, यह तेरी काकी, यह तेरी मासी, यह तेरी भैंस, यह तेरी गाय, यह तेरा घोड़ा, यह तेरे कपड़े, यह तेरा घर, यह तेरा मकान, यह तेरा खेत और यह तेरे गहने हैं.' सांसारिक लोगों के ये समस्त शब्द इस जीव की बुद्धि में रहे हैं. ये किस प्रकार रहे हैं, वह बात बताते हैं, जैसे स्त्रियाँ जब कसीदे का काम करती हैं तब कसीदावाली चीज में शीशे का टुकड़ा लगाया जाता है, वैसे ही कसीदाकारी की जगह बुद्धि है और शीशे के टुकड़े के स्थान पर यह जीव है, और उस बुद्धि में सांसारिक लोगों के वे शब्द तथा उनके रूप इन पंचविषयों के सहित रहे हैं. बाद में उस जीव को जब सत्संग प्राप्त हुआ तब सन्त ने परमेश्वर की महिमा तथा विषयों के खंडन और जगत के मिथ्या होने की [1]वार्ता कही. उन सन्त की यह वार्ता तथा उनका रूप भी इस जीव की बुद्धि में रहा है. इन शब्दों के रूप में ये दोनों सेनाएँ हैं और आमने-सामने उसी तरह खड़ी हुई हैं, 'जिस प्रकार कुरुक्षेत्र में कौरवों तथा पांडवों की सेनाएँ एक-दूसरे के सामने खड़ी हुई थीं और उनके बीच युद्ध में तीरों, बरछियों, बंदूकों और तोपों आदि शस्त्रों का उपयोग किया गया. उस समय कुछ योद्धा तलवारें और कतिपय वीरपुरुष गदाएँ लेकर, तो कुछ सैनिक आमने-सामने लड़ रहे थे. उस स्थिति में किसी का सिर उड़ गया था और किसी की जाँघ कट गयी थी, ऐसा रक्तपात हुआ था.' उसी प्रकार इस जीव के अन्तःकरण में भी सांसारिक लोगों के रूप हैं वे पंचविषयरूपी शस्त्रों को लेकर खड़े हैं तथा इन सन्त के जो रूप हैं वे भी 'भगवान सत्य हैं, जगत मिथ्या है तथा विषय झूठे हैं', इन शब्दरूपी शस्त्रास्त्रों से सज्जित

है, उसी तरह इन दोनों का नित्य सम्बन्ध बना रहता है. इस प्रकार अब यदि उसका पृथक् भाव स्वीकार करके यह कहा जाय कि 'मन विषयों का भोग कराता है तथा जीव ऐसा भोग नहीं कराता', तो वह अशास्त्रीय होने के कारण युक्तियुक्त नहीं हो सकता, इसीलिए नित्यानन्द मुनि द्वारा दिये गये उत्तर को अयथार्थ समझकर स्वयं श्रीहरि ही उत्तर देते हैं.

१. 'यह तेरा पिता नहीं, यह तेरी माता नहीं, यह तेरा घर नहीं, यह तेरा धन नहीं, तू तो नित्यसिद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा है और भगवान का दास है,' इत्यादि वार्ता.

होकर खड़े हैं और इन दोनों में शाब्दिक संघर्ष होता है. उस समय जब सांसारिक शब्दों का बल बढ़ जाता है तब विषयों का उपभोग करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है तथा जब सन्त का बल बढ़ता है तब विषयोपभोग की इच्छा नहीं होती. इस प्रकार परस्पर अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता है. इसलिये, कहा गया है :–

'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥'

इस श्लोक में बताया गया है कि 'जहाँ योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण और धनुषधारी अर्जुन विद्यमान रहते हैं, वहीं लक्ष्मी रहती है, वहीं विजय मिलती है, वहीं ऐश्वर्य रहता है और वहीं अचल नीति बनी रहती है.' इसलिए, जिसके पक्ष में यह सन्तमंडल है, उसीकी विजय होगी, ऐसा निश्चय रखना चाहिये.'

काकाभाई ने पुनः प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! इन सन्त का बल बढ़ने तथा सांसारिक कुसंगी लोगों की शक्ति कम होने का क्या उपाय है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अन्तःकरण में और बाहर जो सांसारिक लोग रहे हैं वे दोनों एकसमान हैं. इसी प्रकार हृदय और बाह्य क्षेत्र में रहनेवाले सन्त, दोनों ही एकसदृश हैं, परन्तु, अन्तस्तल में रहनेवाले सांसारिक शब्दों को जब बाहर के सांसारिक लोगों का पोषण प्राप्त होता है तब उनका बल बढ़ जाता है और अन्तःकरण में निवास करनेवाले सन्त की शक्ति में भी बाह्य जगत के सन्त का प्रोत्साहन[१] प्राप्त होने पर वृद्धि हो जाती है. इसीलिए, बाहर के सांसारिक लोगों का संग न करके बाह्य जगत में रहनेवाले सन्त का ही सत्संग करते रहना चाहिये. इस उपाय से कुसंगियों का बल घट जाता है और सन्त के बल में वृद्धि होती रहती है.' श्रीजीमहाराज ने इस प्रकार प्रश्नोत्तर दिया.

काकाभाई ने पुनः यह प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! एक पुरुष तो ऐसा है, जिसका सांसारिक लोगों के साथ संघर्ष समाप्त हो गया है और उसे

---

१. बाहर के सन्त जिस प्रकार प्रसन्न हों, वही आचरण करना चाहिये, उसे ही अन्तःकरण के सन्त का पोषण करना बताया गया है.

सन्त का संबल प्राप्त है तथा एक अन्य पुरुष भी है, जिसका संघर्ष ज्यों का त्यों चलता रहता है. इस स्थिति में, इन दोनों से जिसका संघर्ष समाप्त हो गया है उसके मरने पर उसे भगवान के धाम की प्राप्ति होती है, इस बात में तो कोई सन्देह नहीं है, परन्तु जिसका संघर्ष पूर्ववत् चल रहा है, उसका देहान्त होने पर उसकी कैसी गति होती है, यह बताइये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'एक योद्धा जब युद्ध करने के लिये निकला तब उसके समक्ष जो बनिये और गरीब लोग आये उन्हें जीत लिया गया और जब दूसरा योद्धा लड़ाई के लिये तैयार हुआ तब उसका सामना करने के लिये अरबों की फौज आयी और राजपूत, काठी तथा कोली भी आये. इसीलिए, उन्हें जीतना कठिन हो गया. वे तो बनियों - जैसे नहीं है, जिन पर तुरन्त विजय पा ली जाय. इस कारण वे तो संघर्षरत ही रहते हैं. उनमें जिसकी जीत हो गयी वह जीत ही गया और जो योद्धा लड़ते-लड़ते शत्रु द्वारा खदेड़े जाने पर भी नहीं हटे, किन्तु आयुष्य समाप्त होने के कारण अगर वे मर भी गये तो क्या उनका स्वामी यह बात नहीं जान सकेगा कि 'इनका मुकाबला करने के लिये बड़े बलवान पुरुष आये, जिन्हें जीता नहीं जा सकता था, और जो बनिये आदि आये, उन्हें जीतना एक आसान काम था.' इस प्रकार, दोनों तरह के इन आदमियों पर उनके स्वामी की नज़र रहती है. उसी प्रकार उनकी सहायता भगवान भी करते हैं कि 'इन्हें ऐसे संकल्प-विकल्पों का संबल प्राप्त है तथा लड़ाई लड़ते हैं, इसलिए ये शाबाशी दिये जाने के पात्र हैं.' यह समझकर ही भगवान उनकी सहायता करते हैं. अतएव, निश्चित रहना चाहिये तथा किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिये, भगवान का भजन इसी प्रकार करते रहना चाहिये, सन्त का अधिक से अधिक समागम करना चाहिये और कुसंगी से दूर ही रहना चाहिये.' इस प्रकार श्रीजीमहाराज प्रसन्न होकर बोल रहे थे.

जिसका गाँववाले जीवाभाई ने नित्यानन्द स्वामी से प्रश्न पूछा कि 'भगवान सम्बन्धी अटल निश्चय किस प्रकार हो सकता है ?'

नित्यानन्द स्वामी बोले कि 'यदि सांसारिक लोगों से अलग रहा जाय और सन्त का अधिकाधिक समागम किया जाय तो उन सन्त की वार्ता द्वारा भगवान के सम्बन्ध में अटल निश्चय हो जाता है तथा यदि सांसारिक लोगों का साथ किया गया तो अडिग निश्चय नहीं हो सकता.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'हम इसका उत्तर देते हैं कि[१] भगवान सम्बन्धी निश्चय केवल अपने जीव के कल्याण के लिये ही करना चाहिये, परन्तु किसी पदार्थ की लालसा से नहीं करना चाहिये कि 'मैं यदि सत्संग करूँगा तो मेरा रोग दूर हो जायेगा अथवा निःसंतान हूँ तो लड़का हो जायगा या जो लड़के मर जाते हैं वे जीवित रहेंगे, अथवा निर्धन हूँ तो धनवान हो जाउँगा या भूसम्पत्ति वापस मिल जायगी.' इस प्रकार पदार्थों की लालसा रखकर सत्संग नहीं करना चाहिये. जो पुरुष ऐसी इच्छा रखकर सत्संग करता है तो पदार्थों की लालसा की पूर्ति, होने पर बिल्कुल पक्का सत्संगी बन जाता है और इच्छा पूरी न हुई तो भगवान सम्बन्धी निश्चय कम हो जाता है. इसलिए सत्संग अपने जीव के कल्याण के लिये ही करना चाहिये, किन्तु किसी प्रकार की इच्छा तो रखनी ही नहीं चाहिये, क्योंकि अगर घर में दस मनुष्य हों तथा उनका मृत्युकाल उपस्थित होने पर यदि एक आदमी बच जाय तो क्या कम है अथवा प्रारब्ध में यदि भिक्षा माँगने का योग हो और रोटियाँ खाने को मिलें, तो क्या कम है ? जो सबकुछ जानेवाला था उसमें से इतना बच गया है, वह तो पर्याप्त है, ऐसा मानना चाहिये. यदि अत्यधिक दुःख उपस्थित होता है और परमेश्वर का आश्रय ग्रहण किया जाय तो वह निश्चित रूप से थोड़ा कम हो जाता है, परन्तु इस जीव को यह बात समझ में नहीं आती. किसी को सूली चढ़ने का योग हो तो ऐसी घटना मात्र काँटा लगने से भी टल जाती है, इतना अन्तर तो भगवान के आश्रय से पड़ ही जाता है.

इस प्रसंग में एक वार्ता स्मरणीय है कि एक गाँव में बहुत चोर रहते थे, जिनमें से एक चोर साधु के पास बैठने के लिये आया करता था. एक बार मार्ग में चलते समय इस चोर के पैर में काँटा लग गया और वह

---

१ कुसग से अलग रहकर तथा सन्त-समागम करने पर भी किसी प्रकार की कामना से किया हुआ भगवान सम्बन्धी निश्चय, उस कामना की पूर्ति न होने पर समूल लय होता दिखायी पड़ता है, इसलिए 'अपने मोक्ष के लिये ही निश्चय करना चाहिये', ऐसा हेतु नहीं बताया गया, इस कारण प्रश्न का यथार्थ उत्तर नहीं मिला, यह जानकर श्रीहरि स्वयं प्रश्न का उत्तर देते हैं. अपने मोक्ष के लिये किया गया निश्चय ही नित्यानन्द मुनि द्वारा बताये गये साधनों से सुस्थिर हो जाता है तथा किसी कामना से किये गये निश्चय में दृढ़ता नहीं रहती, दिये गये उत्तर का मात्र इतना ही आशय है.

उसके आरपार निकल गया. इस कारण उसका पैर सूज गया और इस हालत में यह चोर चोरी करने के लिये न जा सका. दूसरे चोर तो चोरी करने के लिये गये और वे एक राजा के खजाने में से चोरी करके बहुत-सा धन ले आये और उन्होंने उसे आपस में बाँट लिया. उधर, उस चोर के, जो साधु के पास आता था और जिसके पैर में काँटा लग गया था, माता-पिता, पत्नी और अन्य सम्बन्धीजन यह सुनकर कि दूसरे चोर तो बहुत-सा धन चुराकर लाये हैं, उसे डाँटने-फटकारने लगे कि 'तू चोरी करने नहीं गया, किन्तु साधु के पास गया, इस कारण हमारा भारी नुकसान हो गया और वे चोर तो चोरी करके बहुत ज्यादा रकम लाये हैं.' जब वे ऐसी बातचीत कर ही रहे थे कि इतने में राजा के सैनिक वहाँ पहुँच गये और उन्होंने उन सब चोरों को पकड़कर सूली पर चढा दिया. वे इन चोरों के साथ उक्त चोर को भी सूली पर चढ़ाने के लिये ले गये. तब उस गाँव के मनुष्यों और साधुओं ने गवाही देते हुए बताया कि 'यह तो चोरी करने नहीं गया, इसके पैर में तो काँटा लग गया था.' इस तरह उस चोर की रक्षा हो गयी. जो पुरुष इस प्रकार सत्संग करते हैं उनका सूली जैसा दुःख भी काँटे से मिट जाया करता है, क्योंकि हमने रामानन्द स्वामी से यह निवेदन किया है कि 'आपके सत्संगियों को यदि एक बिच्छू का कष्ट होनेवाला हो तो वह मेरे एक-एक रोम में करोड़ों बिच्छुओं के डंक लगने की पीड़ा हो जाय, किन्तु उन्हें (सत्संगियों को) ऐसा कष्ट नहीं होना चाहिये तथा आपके सत्संगियों के प्रारब्ध में यदि भिक्षापात्र का योग हो तो वह मुझे मिल जाय, परन्तु वे (आपके सत्संगी) अन्नवस्त्र के अभाव से दुःखी न होने पावें. कृपया ये दो वरदान मुझे दीजिये.' इस प्रकार ये दो वरदान मैंने रामानन्द स्वामी से माँगे, जो उन्होंने मुझे प्रसन्नतापूर्वक दे दिये. इसलिए, जो पुरुष सत्संग किया करते हैं उन्हें व्यवहार में यदि कोई दुःख होनेवाला हो तो भी वह नहीं होने पाता. फिर भी, पदार्थ तो नाशवान ही हैं, इसलिए, यदि पदार्थों की लालसा से कोई सत्संग किया जायगा तो उस पुरुष के भगवान सम्बन्धी निश्चय में संशय अवश्यमेव उत्पन्न हो जायगा. इसलिए, सत्संग तो केवल निष्काम भाव से तथा अपने जीव के कल्याण के लिये करना चाहिये, तभी अडिग निश्चय रह सकता है,' इत्यादि वार्ता अधिकाधिक की जा चुकी है, परन्तु यह तो मात्र दिशादर्शन के लिये लिखी गयी है. ।। इति वचनामृतम् ।।७०।।

वचनामृत ७१ : भगवद्भक्त के प्रति द्वेषभाव क्षम्य नहीं

संवत् १८७६ में चैत्र कृष्ण *चतुर्थी को सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढडा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार की ऊपर की मंजिल की सीढ़ी के समीप एक स्थान में पलंग बिछवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सफेद चादर ओढ़ी थी और सिर पर श्वेत फेंटा बाँधा था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देशभर के विभिन्न स्थानों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. उस समय मुक्तानन्द स्वामी आदि साधु वाद्ययन्त्रों द्वारा कीर्तन कर रहे थे.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब कीर्तनभक्ति का कार्यक्रम समाप्त करके परस्पर प्रश्न पूछिये और उत्तर दीजिये.' सोमलाखाचर ने प्रश्न पूछा कि 'भगवान यद्यपि अपने भक्तों के समस्त अपराधों को क्षमा कर देते हैं, तथापि ऐसा कौनसा अपराध है, जिसे भगवान क्षमा नहीं करते ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'वैसे तो भगवान सामान्यतः सभी अपराधों को क्षमा कर देते हैं, फिर भी वे भगवद्भक्त के साथ किये जानेवाले द्वेषभावरूपी अपराध को क्षमा नहीं करते, इसलिये भगवान के भक्त के प्रति किसी भी प्रकार का ईर्ष्याभाव नहीं रखना चाहिये. फिर भी, ऐसे समस्त अपराधों से सबसे बड़ा अपराध भगवान के आकार (स्वरूप) का खंडन करना है. इसीलिए, यह अपराध तो कभी भी नहीं करना चाहिये. यदि कोई पुरुष यह अपराध करता है तो उसे पाँच महापापों से भी अधिक पाप लगता है. वस्तुतः भगवान तो सदैव साकार मूर्तिमान हैं. उन्हें निराकार समझना ही भगवान के आकार का खंड़न करना कहलाता है. पुरुषोत्तम भगवान तो करोड़ों सूर्यचन्द्रमाओं के तेज के समान देदीप्यमान रहनेवाले अपने अक्षरधाम में सदैव दिव्यरूप धारण करके विराजमान रहते हैं तथा ब्रह्मरूप अनन्तकोटि मुक्तजन उनके चरणकमलों की सेवा करते रहते हैं. ऐसे परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान ही स्वयमेव कृपा करके जीव के कल्याण के लिये पृथ्वी पर प्रकट होते हैं. तब वे जिन-जिन [1]तत्त्वों को अंगीकार करते हैं वे सभी तत्त्व ब्रह्मरूप[2]

---

* सोमवार, २ अप्रैल, १८२०.

१ भूत, इन्द्रियाँ आदि

२. दिव्यरूप

होते हैं, क्योंकि रामकृष्णादि अवतारों से स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणरूपी तीन देहों तथा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति नामक तीन अवस्थाओं की प्रतीति होती है और दस इन्द्रियाँ, पंचप्राण इत्यादि समस्त तत्त्व मनुष्य के समान प्रतीत होते हैं, परन्तु ये सब ब्रह्म[1] हैं, मायिक नहीं, इसीलिए भगवान के आकार का कभी भी खंड़न नहीं करना चाहिये.'

मातरा धाधल ने प्रश्न पूछा कि 'ईर्ष्या का स्वरूप कैसा है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस पर जिसको ईर्ष्या होती है, उसकी भलाई उससे सहन नहीं होती, किन्तु उसका अहित होने पर उसे प्रसन्नता होती है, यही ईर्ष्या का लक्षण है.'

श्रीजीमहाराज ने मुनियों से प्रश्न पूछा कि 'भगवान की प्रत्यक्ष मूर्ति का निश्चय होने, भजन करते रहने और सत्संग के नियमों के अनुसार आचरण करने से पुरुष का कल्याण होता है, यह तो सत्संग की रीति है, परन्तु शास्त्रों में कल्याण की रीति क्या है, वेदों के अर्थ तो अत्यन्त कठिन हैं, इसीलिए उनकी कथा नहीं होती तथा श्रीमद्भागवत पुराण और महाभारत में वेदों का ही अर्थ है और वह सुगम है, इसलिये जगत में उनकी कथा होती है. अतएव, शास्त्रों की रीति से जो कल्याण होता हो, वह बताइये. शकराचार्यजी ने तो भगवान के निराकार स्वरूप का प्रतिपादन किया है, जबकि रामानुजादिक आचार्यों ने तो भगवान के साकार स्वरूप को ही प्रतिपादित किया है. इसीलिए, इस प्रकार शास्त्रों के मतानुसार उत्तर दीजिये.'

इसके पश्चात् मुनियों ने शास्त्रीय रीति से निराकार के पक्ष को मिथ्या सिद्ध करके यह बात बतायी कि 'साकार भगवान का भजन करने से कल्याण होता है. श्रीजी महाराज बोले कि हम भी इसी पक्ष को ग्रहण करते हैं. फिर भी, इस सिलसिले में आपसे एक प्रश्न पूछते हैं कि 'यद्यपि निराकार अक्षरब्रह्म से परे और सदा साकार रहेनेवाले पुरुषोत्तम भगवान पृथ्वी पर प्रत्यक्ष रूप से अवतीर्ण हुए तथापि ब्रह्मपुर, गोलोक, वैकुंठ एवं श्वेतदीप आदि भगवान के धामों को देखने की जिसे लिप्सा रहती है, उसे

---

१. दिव्य 'न भूतसंघसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः', 'न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मांसमेदोऽस्थिसंभवा', 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय', इत्यादि वचनों से यह प्रतिपादन किया गया है कि परमात्मा की देह प्राकृत नहीं, परन्तु दिव्य एवं अपाकृत है.

निश्चय रहता है या नहीं ?'

मुनियों ने बताया कि 'भगवान से मिलन होने के पश्चात् जिसके मन में ऐसी भावना रहती हो कि 'जब अक्षरधाम अथवा कोटि-कोटि सूर्यों का प्रकाश देखूँगा तब अपना कल्याण होगा', उसे तो भगवान का यथार्थ निश्चय नहीं है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसने ब्रह्मपुर आदि धामों तथा ब्रह्मस्वरूप को देखने की लालसा रखकर क्या कोई ऐसा पाप किया है, जिससे आप यह मत व्यक्त करते हैं कि उसे भगवान का निश्चय नहीं हुआ है ?'

मुनियों ने यह बताया कि 'जिसने प्रत्यक्ष प्रमाण भगवान के दर्शनों को कल्याणकारी मान लिया हो, उसके लिये तो जब ब्रह्मपुर, गोलोक आदि धाम भी भगवान के धाम हैं तब उसे उनसे भी अरुचि क्यों रखनी चाहिये ? फिर भी, उसे भगवान को छोड़कर इनकी इच्छा नहीं करनी चाहिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'वे धाम तथा उनमें रहनेवाले पार्षद तो चैतन्यमूर्ति हैं और माया से परे भी हैं, तब उनमें कौन-सा ऐसा दोष है कि उसे उनकी इच्छा नहीं करनी चाहिये ? भगवान पृथ्वी पर प्रकट रूप से विराजते हों और उनके सेवक भी, जो मनष्यरूप से हैं, मृत्यु से मुक्त नहीं हैं और जिन घरों में भगवान बिराजते हैं वे भी नाशवान हैं, घर हों तो वे भी गिर जायँ, इन दोनों बातों को आप कैसा समझते हैं ?'

मुनि बोले कि 'इन घरों को तो हम ब्रह्मपुरादिक धाम तथा सेवकों को तो ब्रह्मरूप समझते हैं.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'ब्रह्मपुर और उसमें रहनेवाले पार्षद तो अविभाज्य एवं अविनाशी हैं. आप मृत्युलोक के नाशवान घरों और पार्षदों के साथ ब्रह्मपुर तथा उसमें रहनेवाले पार्षदों, दोनों की तुलना क्यों करते हैं ?'

नित्यानन्द स्वामी बोले कि 'हे महाराज ! इसका उत्तर तो आप ही दीजिये.'

श्रीजीमहाराज ने बताया कि 'भगवान जीव के कल्याण के लिये जब मूर्ति धारण करते हैं तब वे अपने अक्षरधाम एवं चैतन्यमूर्ति पार्षदों तथा समस्त निजी ऐश्वर्यों[१] के सहित ही पधारते हैं, परन्तु ये दूसरे लोगों को दिखायी नहीं पड़ते. जब किसी भक्तों को समाधि में अलौकिक दृष्टि

१. १९ वीं वचनामृत देखिये.

(ज्ञान-दृष्टि) प्राप्त होती है, तब उसे भगवान की मूर्ति में कोटि-कोटि सूर्यों के समान प्रकाश का आभास होता है, इसी प्रकार उन भगवान की मूर्ति के साथ अक्षरधाम तथा अनन्तकोटि मुक्तों का भी आभास होता रहता है, यद्यपि ये सब भगवान के साथ ही रहते हैं, तथापि परमेश्वर अपने भक्त मनुष्यों की ही सेवा को स्वीकार करते हैं और वे अपने भक्तों के गारे, मिट्टी और पत्थरों से बनाये गये घरों में विराजमान रहते हैं. उनके श्रद्धालु भक्त जो धूप, दीप और अन्नवस्त्रादि अर्पित करते हैं, उन्हें भगवान प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेते हैं. भगवान अपने सेवक मनुष्यों को दिव्यरूपवाले पार्षदों में सम्मिलित कराने के लिये ही इन वस्तुओं को अंगीकार करते हैं, जो भक्तजन भगवान की सेवा में जिन-जिन वस्तुओं को समर्पित करते हैं, वे सभी वस्तुएँ भगवान के धाम में दिव्यरूप हो जाती हैं. और, ये भक्त दिव्यरूप होकर जब भगवान के धाम को प्राप्त होते हैं तब ये उनके लिये उपलब्ध हो जाती हैं. भगवान अपने भक्तजनों को अचल, अखंड सुख प्रदान कराने के लिये ही भक्तों की समस्त सेवाओं को स्वीकार करते हैं, अतएव, भगवद्भक्तों को यह समझ लेना चाहिये कि भगवान का स्वरूप अक्षरधाम सहित पृथ्वी पर विराजमान रहता है और भगवान के भक्तों को दूसरे लोगों के सामने भी इसी प्रकार वार्ता करनी चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥७१॥

वचनामृत ७२ : 'गरीब को दुःखी न करें'

संवत् १८७६ में चैत्र कृष्ण *एकादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के समीप उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर पूर्व की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे और उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनिजनों तथा देशभर के विभिन्न स्थानों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

मुक्तानन्द स्वामी ने यह मत व्यक्त किया कि 'हे महाराज ! कल आपने दादाखाचर के सामने अधिक उत्तम वार्ता कही थी, उसे सुनने की हम सबको बहुत इच्छा है.'

---

* सोमवार, ९ अप्रैल, १८२०.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो भगवद्भक्त भगवान का महात्म्यसहित निश्चय रखता हो, सन्त तथा सत्संगी का माहात्म्य बहुत अच्छी तरह जानता हो और उसका कर्म एवं काल भी शुभ हो तो भी उस भक्त को ऐसी भक्ति का अतिशय बल उपलब्ध रहता है. इसके फलस्वरूप काल तथा कर्म एकसाथ मिलकर भी उसका अहित[१] नहीं कर सकते. जो पुरुष भगवान और उनके सन्त के प्रति निष्ठा में न्यूनता रखता हो तो भगवान के चाहने पर भी उसका कल्याण नहीं होता. जो पुरुष गरीबों को सताता है, उसका तो कभी भी कल्याण नहीं हो पाता.

महाभारत में भीष्मपितामह ने राजा युधिष्ठिर से ऐसा कहा है कि 'यदि तुम गरीबों को त्रस्त करोगे तो तुम अपने वंश के सहित जलकर भस्म हो जाओगे.' इसलिए भगवान के भक्त अथवा अन्य पुरुष को किसी भी गरीब को लेशमात्र भी दुःखी नहीं करना चाहिये. यदि गरीब को दुःख पहुँचाया गया तो त्रास देनेवाले पुरुष की भलाई कभी भी नहीं हो सकती. यदि गरीब को दुःखित किया गया तो उसे सतानेवाले पर ब्रह्महत्या जैसा पाप लगता है. इसी प्रकार, किसी को मिथ्या रूप से कलंकित करने पर भी अपराधी पर ब्रह्महत्या का पाप लग जाता है. यदि वास्तविक कलंक हो तो भी कलंकित होनेवाले पुरुष को एकान्त में बुलाकर उससे हितकारी बात कहनी चाहिये, किन्तु उसे अपमानित नहीं करना चाहिये. जो पुरुष पॉच प्रकार की स्त्रियों का धर्म भंग करता है, तो उसे भी ब्रह्महत्या का पाप लगता है. पाँच प्रकार की इन स्त्रियों में प्रथम वह है, जो [२]शरण में आयी हो, दूसरी अपनी स्त्री है, जो व्रत-उपवास के दिन उसका संग नहीं करना चाहती, तीसरी है पतिव्रता स्त्री, चौथी विधवा स्त्री है और पाँचवीं है विश्वासी[३] स्त्री. यदि ऐसी स्त्रियों के साथ व्यभिचार किया गया, तो अपराध करनेवाले पुरुष पर ब्रह्महत्या का पाप लगता है. उनमें भी विधवा स्त्री का मन यदि कुमार्गगामी

---

१. सत्संग में से शिथिलतारूप अशुभ

२. धर्मनिष्ठ माता-पिता तथा श्वसुरपक्षवालों के अभाव के कारण धर्मस्थिति बनाये रखने के लिये शरण में आयी हुई स्त्री.

३. 'यह पुरुष धर्म मे से मुझे नहीं डिगायगा', ऐसा समझकर उसकी सहायता से निश्चिन्त होनेवाली और उसमें विश्वास रखनेवाली स्त्री, जिसका पति परदेश गया हुआ है.

हो जाय, तो उसे समझाकर धर्माचरण करने में प्रवृत्त करा देना [1]चाहिये.'

बाद में जब समस्त मुनि भगवान का शृंगारिक कीर्तन करने लगे, उसे सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान जीव के कल्याण के लिये ही देहधारण करते हैं. तब उनकी जो मनुष्योचित समस्त क्रियाएँ होती हैं, उन्हें देखकर भगवद्‌भक्त तो उन्हें चरित्रप्रधान समझता है, किन्तु विमुख जीव अथवा अपरिपक्व मस्तिष्कवाले हरिभक्त तो इन चरित्रों में दोष ही देखते हैं. शुकजी ने जब रासपंचाध्यायी का वर्णन किया तब राजा परीक्षित को संशय होने पर उन्होंने उनसे यह पूछा कि 'भगवान तो धर्म की मर्यादा स्थापित करने के लिये प्रकट हुए थे, तब उन्होंने परस्त्री का संग करके धर्म का भंग क्यों किया ?' उन्होंने इस प्रकार आक्षेप किया, परन्तु शुकजी ने पूर्ण रूप से विचार करके भगवान का गुणगान किया कि कामदेव ने ब्रह्मादिक देवताओं को जीतकर अपने वश में कर लिया, इस कारण उसे अत्यन्त गर्व हो गया. उस गर्व को दूर करने के लिये भगवान ने कामदेव को ललकारा. जिस प्रकार कोई बलवान राजा शत्रु को अपनी तरफ से गोला-बारूद और गोलियाँ दिलवाकर उसके साथ लड़ने जाता है, उसी प्रकार भगवान ने कामदेवरूपी शत्रु को लड़ने का सामान पहेले से ही दिलवा दिया. वह क्या ? जब स्त्री के साथ सम्बन्ध होता है तब कामदेव का बल बढ़ता है, विशेषकर शरदऋतु की रात्रियों में कामदेव के बल में अधिक वृद्धि हो जाया करती है. उस समय स्त्री के रागरंगमय विलास के शब्द सुनने, उसका रूप देखने और स्पर्श करने से कामदेव का बल अत्यधिक बढ़ जाता है. श्रीकृष्ण भगवान ने यह सब सामान कामदेव को देकर उस पर विजय प्राप्त कर ली और वे अखंड ब्रह्मचारी के समान ऊर्ध्वरेता रहे. इस प्रकार भगवान ने कामदेव के गर्व का मूलोच्छेद कर दिया. ऐसी अलौकिक सामर्थ्य भगवान के सिवा अन्य किसी में हो ही नहीं सकती. इस प्रकार, शुकजी ने भगवान की महान सामर्थ्य जानकर उनका (भगवान का) चरित्रगान किया, जबकि राजा [2]परीक्षित को वह बात समझ में नहीं आयी, इस कारण उन्होंने दोष देखा. इसीलिए, यदि कोई यह कहता है कि 'आप परमहंस होने पर भी शृंगारिक कीर्तन क्यों करते हैं ?' तो उसे

१. ऐसी बात विगत दिन कही थी.

२. स्वयं एकान्तिक भक्त होने में अपरिपक्व रहने के कारण.

बताना चाहिये कि 'यदि हम शृंगारिक कीर्तन नहीं करेंगे और भगवान की शृंगार-लीलाओं के सम्बन्ध में दोष देखेंगे तो हम भी राजा परीक्षित तथा अन्य नास्तिक विमुख जीवों की पंक्ति में मिल जायेंगे. इसीलिए, हम तो विमुख जीवों की पंक्ति में सम्मिलित नहीं हो सकते, क्योंकि समस्त परमहंसों के गुरु शुकजी ने स्वयं भगवान की शृंगार-लीला का गुणगान किया है, अतएव हमें भी उनका गुणगान अवश्य करना चाहिये.'

जो पुरुषोत्तम भगवान क्षर-अक्षर से परे हैं वे जब जीवों के कल्याण के लिये ब्रह्मांड में मनुष्याकार धारण करके परिभ्रमण करते हैं तब वे मनुष्यों के समान ही समस्त चरित्र दिखाते हैं. जिस प्रकार मनुष्यों में हारने, जीतने, भय, शोक, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आशा, तृष्णा तथा ईर्ष्या आदि रखने का मायिक स्वभाव रहता है, वैसा ही स्वभाव भगवान भी स्वयं में दिखलाते हैं. वास्तव में भगवान की ऐसी समस्त लीलाएँ जीवों के कल्याण के लिये ही होती हैं. जो भक्त हैं वे तो इन लीलाओं का गान करके परमपद को प्राप्त करते हैं, किन्तु विमुख जीव दोष देखते हैं. जिस प्रकार भगवान क्षर की आत्मा हैं, वैसे ही वे प्रकृति-पुरुष से परे रहेनेवाले अक्षरब्रह्म की भी आत्मा हैं तथा क्षर-अक्षर को अपनी शक्ति द्वारा धारण किये हुए हैं. वे स्वयं तो क्षर-अक्षर से भिन्न हैं. भगवान की महिमा अपरम्पार है. 'जिनके एक-एक रोम के छिद्र में अनन्तकोटि ब्रह्मांड परमाणु के समान विद्यमान रहे हैं,' ऐसे अत्यन्त महान भगवान जीवों के कल्याण के लिये मनुष्य जैसे हो जाते हैं, तब जीवों को सेवा करने का योग आता है. जो भगवान जैसे हैं, वे यदि वैसे के वैसे ही बने रहें तो ब्रह्मांड के अधिपति ब्रह्मादिक देवों को भी जब भगवान के दर्शन और सेवा करने की सामर्थ्य नहीं रहे तब मनुष्यों में ऐसी क्षमता किस प्रकार रह सकती है ? बड़वानल अग्नि समुद्र में रहता है और वह उसके जल को पीता है तथा समुद्र द्वारा बुझाने पर भी वह नहीं बुझ पाता, ऐसा विशाल है वह बड़वानल. जब हमें घर में दीपक की आवश्यकता होती है तब अगर घर में बड़वानल बैठेगा तब अपने को दीपक जैसा सुख नहीं मिलेगा और जलकर सब भस्म हो जायेंगे, तथा वही अग्नि जब दीपक का स्वरूप ग्रहण करता है, तब प्रकाश भी होता है और आनन्द भी आता है. वस्तुतः दीपक भी तो वही अग्नि है, जो फूँक मारने और हाथ हिलाकर बुझाने पर बुझ

जाता है, ऐसा असमर्थ है वह फिर भी उससे ही अपने को सुख होता है, परन्तु बड़वानल से सुख नहीं मिलता. उसी प्रकार भगवान के मनुष्य जैसे असमर्थ दिखायी पड़ने पर भी, अनेक जीवों का कल्याण तो उनसे ही होता है. जिनके एक-एक रोम में अनन्तकोटि ब्रह्मांड रहे हैं, ऐसी मूर्ति का दर्शन करने में जीव समर्थ नहीं हो पाता. इसलिए, ऐसे रूप द्वारा कल्याण नहीं होता. अतएव, भगवान मनुष्याकार धारण करके जैसी-जैसी लीलाएँ दिखाते हैं उन सबका गान करना उचित है, परन्तु ऐसा नहीं समझना चाहिये कि 'भगवान होकर भी वे ऐसा क्यों करते होंगे ?' भगवान की समस्त लीलाओं को तो कल्याणकारी ही समझना चाहिये. यही भक्त का धर्म है तथा ऐसा समझनेवाला ही भगवान का पूर्ण भक्त कहलाता है.'

इसके पश्चात् रोजका के हरिभक्त काकाभाई ने पूछा कि 'जिसे माहात्म्य के बिना केवल भगवान का निश्चय हो जाता है, उसके क्या लक्षण हैं और जिसे माहात्म्य सहित निश्चय होता है, उसके कैसे लक्षण हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे माहात्म्य रहित निश्चय हो पाया है, उसे ऐसे संकल्प-विकल्प होते रहते हैं कि 'भगवान तो मिले हैं, परन्तु यह मालूम नहीं कि कल्याण होगा या नहीं ?' जिसे माहात्म्यसहित निश्चय हो गया है, वह तो यह समझने लगता है कि 'जिस दिन से मुझे भगवान के दर्शन हुए हैं उस दिन से ही कल्याण तो हो रहा है तथा जो जीव श्रद्धापूर्वक मेरे दर्शन करेंगे और मेरे वचनों का पालन करेंगे, उनका भी कल्याण हो जायगा, तब मेरा कल्याण होने में संशय ही क्या रहेगा ? मैं तो कृतार्थ हूँ और जो कुछ साधना करता हूँ वह तो भगवान की प्रसन्नता के लिये ही करता हूँ' जो भक्त ऐसा समझने लगता है उसके सम्बन्ध में यह मान लेना चाहिये कि उसे माहात्म्य सहित निश्चय हो चुका है.'

काकाभाई ने पूछा कि 'भगवान के उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ कहे जानेवाले तीन प्रकार के भक्तों के क्या लक्षण होते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो भक्त स्वयं को देह से भिन्न रहनेवाली आत्मा का रूप मानता है तथा देह के गुणों जड़, दुःख, मिथ्या और अपवित्रता आदि को आत्मा के गुण नहीं मानता, आत्मा के अछेद्य, अभेद्य और अविनाशी आदि गुणों को देह में नहीं मानता, अपने शरीर में

रहनेवाली जीवात्मा तथा आत्मा में स्थित परमात्मा और दूसरे लोगों की देहो में रहनेवाली आत्मा को भी देखता है, ऐसी सामर्थ्य रखने पर भी आत्मदर्शन से भगवान तथा उनके सन्त को अधिक महत्वपूर्ण समझता है और स्वयं को आत्मदर्शन होने पर भी उसके सम्बन्ध में लेशमात्र भी अभिमान नहीं करता, उसे ही अर्थात् ऐसे लक्षण-सम्पन्न पुरुष को ही उत्तम भक्त कहा जाता है. जिसे भगवान का निश्चय और आत्मनिष्ठा होने पर भी भगवद्‌भक्त पर ईर्ष्या बनी रहती है तथा जो भगवान द्वारा अपमान किये जाने पर उनके प्रति भी ईर्ष्याभाव रखता है कि वे बड़े होकर भी, बिना दोष के ही ऐसा व्यवहार क्यों करते होंगे, ऐसे लक्षणवाले को मध्यम कोटि का भक्त समझना चाहिये. जिसे भगवान का निश्चय होने पर भी आत्मनिष्ठा न हो, भगवान से प्रीति रहे, किन्तु इसके साथ-साथ सांसारिक व्यवहार से भी लगाव बना रहे तथा जो ऐसे लोकाचार में हर्ष एवं शोक से अभिभूत होता रहे, उसे कनिष्ठ भक्त मानना चाहिये.' ।। इति **वचनामृतम्** ।।७२।।

वचनामृत ७३ : श्रीकृष्ण भगवान द्वारा काम पर विजय

संवत् १८७६ में चैत्र कृष्ण *अमावास्या को रात्रि के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने ठहरने के स्थान में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सफेद चादर ओढ़ी थी और श्वेत फेंटा मस्तक पर बाँधा था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुक्तानन्द स्वामी आदि चार बड़े साधुओं तथा लगभग पचास हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

गोपालानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'काम का क्या स्वरूप है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'काम का स्वरूप वीर्य ही है. बाद में यह आशंका की जाने पर, कि 'वीर्य तो सात धातुओं में से भीतर की धातु है[१], इसीलिए, इसे ही काम का स्वरूप कैसे कहा जा सकता है तथा उस वीर्य की उत्पत्ति किसके द्वारा होती है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'मनोवहा नामक नाड़ी में मन रहता है और

---

* गुरुवार, १२ अप्रैल, १८२०.

१. वह अन्नरस से उत्पन्न होता है.

उसमें (मन में) जब स्त्री सम्बन्धी संकल्प होता है तब वीर्य शरीर में से मथकर और मनोवहा नाड़ी में एकत्र होकर शिश्न द्वारा उसी प्रकार आ जाता है, जिस तरह मथानी (रवाई) द्वारा दही को मथे जाने पर घी तैरता हुआ ऊपर आ जाता है. जिनका वीर्य शिश्नद्वार पर नहीं आता उन्हें ऊर्ध्वरेता पुरुष तथा नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा जाता है. श्रीकृष्ण भगवान ने रासक्रीड़ा के समय स्त्रियों का संग करने पर भी वीर्यपात नहीं होने दिया था, इसीलिये उन्हें ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी कहा गया और उन्होंने 'काम' को जीत लिया. अतएव, वीर्य ही काम का स्वरूप है. जिसने वीर्य को जीतकर अपने वश में कर लिया है वही काम पर विजय प्राप्त करने में समर्थ हो पाता है.'

गोपालानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जब इस देह को जला दिया जाता है, तब सप्त धातुएँ भी देह के साथ जल जाती हैं. ऐसी स्थिति में, यदि वीर्य को ही काम का रूप माना जाय तो शरीर के साथ ही वीर्य के जल जाने से काम को भी जल जाना चाहिये, तब इस जीव के अन्य देह में जाने पर काम का उदय किस प्रकार होता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'वीर्य तो सूक्ष्म शरीर के साथ ही रहता है और उस सूक्ष्म शरीर के योग से स्थूल शरीर उत्पन्न हो जाता है. उदाहरणार्थ, भूत सूक्ष्म शरीरवाला होता है, किन्तु जब वह सूक्ष्म देह में से स्थूल शरीर को धारण करके स्त्री का संग करता है तब उस स्त्री को भूत से बालक उत्पन्न होता है. इसीलिए, वीर्य सूक्ष्म शरीर के साथ ही रहता है.'

गोपालानन्द स्वामी ने पूछा कि 'शिवजी यद्यपि ऊर्ध्वरेता थे, फिर भी मोहिनी रूप को देखकर वीर्यपात हो गया था. वैसे ही, जिसकी देह में वीर्य होता है, उसे जाग्रत अथवा स्वप्नावस्था में स्त्री का योग होने पर वीर्यपात हुए बिना नहीं रह सकता. इसलिये, जब तक देह में वीर्य रहेगा तब तक किसी को भी निष्कामी कैसे कहा जा सकता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'शिवजी की योगकला में भी इतनी कमी कही जाती है. जिसे जाग्रत अवस्था अथवा स्वप्न के योग से स्त्री सम्बन्धी संकल्पों के कारण वीर्यपात होता है तो उसे पक्का ब्रह्मचारी नहीं कहा जा सकता. वस्तुतः, इस संसार में दृढ़ ब्रह्मचर्यवाले तो एकमात्र नरनारायण ऋषि ही हैं तथा हमें उनका ही आश्रय है. उनके प्रताप से धीरे-धीरे उनका भजन

करके हम लोग भी उनके समान निष्कामी हो जायेंगे. देह में जो वीर्य रहता है उसे जला डालने के लिये योगी कितने ही प्रकार के यत्न करते रहते हैं. श्रीकृष्ण भगवान ने तो स्त्रियों के संग में रहकर भी नैष्ठिक ब्रह्मचर्य रखा था. ऐसी सामर्थ्य तो भगवान में ही हो सकती है, परन्तु दूसरे लोगों से तो इस प्रकार नहीं रहा जा सकता. अतएव, अन्य योगियों को तो जाग्रत अथवा स्वप्नावस्था तक में स्त्री सम्बन्धी संकल्प न होने देने के लिये प्रयत्न करते रहना चाहिये.'

शुकमुनि ने पूछा कि 'द्वारिका में भगवान की सोलह हज़ार एक सौ आठ स्त्रियाँ थीं, उनमें से प्रत्येक स्त्री को दस-दस पुत्र हुए तथा एक-एक पुत्री हुई, ऐसा भी कहा गया है. उसे किस प्रकार समझा जाना चाहिये ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'द्वारिका और ब्रज की बात एक-दूसरे से भिन्न है. द्वारिका में तो भगवान ने सांख्यमत का आश्रय लिया था. सांख्यमतानुयायी अपने स्वरूप को देह, इन्द्रियों तथा मन से भिन्न समझता है और समस्त क्रियाओं को करते हुए भी स्वयं को अकर्ता मानता है तथा उसे उन क्रियाओं द्वारा हर्ष-शोक भी प्राप्त नहीं होता. भगवान ने इस मत को अंगीकार किया था, इसलिये, भगवान को निर्लिप्त कहा गया है. द्वारिका में तो भगवान ने जिस सांख्यमत का आश्रय ग्रहण किया था, वह तो जनक जैसे राजाओं का मत है. जो राजा गृहस्थाश्रम में रहकर प्रभु का भजन करते रहते हैं, वे ही सांख्यमतानुयायी होते हैं. इसी प्रकार भगवान भी गृहस्थाश्रम में रहे थे और द्वारिका के राजा कहलाते थे. इसलिये, वे सांख्यमतावलम्बी होने के कारण निर्लेप रहे थे. वृन्दावन में तो उन्होंने योगकला का आश्रय ग्रहण किया था, इस कारण स्त्रियों का संग करके भी नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत रखा था. इस स्थान पर तो उन्होंने स्वयं में नरनारायण ऋषि-भाव दिखलाया. यह कथा श्रीमद् भागवत में है, जिसमें कपिलदेव ने देवहूति के प्रति कहा है कि 'स्त्रीरूप में मेरी जो माया है उस जीतने में नरनारायण ऋषि के सिवा अन्य कोई भी समर्थ नहीं है.' इसी कारण श्रीकृष्ण भगवान ने स्त्रियों के संग में रहने पर भी काम को जीत लिया था.

जब दुर्वासा ऋषि पधारे तो भगवान ने समस्त गोपियों से वहाँ खाद्यपदार्थों से भरे हुए थाल ले जाने के लिये कहा. तब गोपियाँ बोलीं कि 'हम यमुनाजी को किस प्रकार पार कर सकेंगे ?' श्रीकृष्ण भगवान ने कहा

कि यमुनाजी से इस प्रकार कहना कि 'यदि श्रीकृष्ण सदैव बालब्रह्मचारी रहे हों तो हमें मार्ग [1]दे दीजिये.' बाद में, गोपियाँ जब इस प्रकार बोलीं तब यमुनाजी ने मार्ग दे दिया. समस्त गोपियाँ जब ऋषि को भोजन करा चुकीं तब वे बोलीं कि 'हमारे जाने के मार्ग में यमुनाजी हैं तो हम अपने घर किस प्रकार जा पायेंगे ?' ऋषि ने पूछा कि 'वहाँ से आते समय किस प्रकार आयी थीं ?' गोपियों ने बताया कि हमने यमुनाजी से ऐसा कहा था कि 'यदि श्रीकृष्ण सदैव ब्रह्मचारी रहे हों तो हमें मार्ग दे दीजिये.' इसलिये यमुनाजी ने तब तो मार्ग दे दिया था, परन्तु अब किस तरह घर जायें ! दुर्वासा ऋषि बोले कि इस बार यमुनाजी से यह कहना कि 'यदि दुर्वासा ऋषि सदा उपवास करते रहे हों तो हमें मार्ग दे दीजिये.' जब गोपियों ने यमुनाजी से इस प्रकार कहा तब उन्होंने (यमुनाजी ने) मार्ग दे दिया. इस पर गोपियों को अत्यन्त आश्चर्य हुआ, परन्तु वे भगवान तथा दुर्वासा ऋषि की महिमा को नहीं जान सकीं. वास्तव में भगवान ने तो नैष्ठिक व्रत रखकर गोपियों के साथ क्रीड़ा की थी, इसलिये वे ब्रह्मचारी थे तथा दुर्वासा ऋषि तो विश्वात्मा श्रीकृष्ण भगवान में अपनी आत्मा का एकीकरण करके गोपियों द्वारा लाये गये समस्त थालों के खाद्यपदार्थों को खा गये थे, इस कारण वे भी उपवासी ही थे, क्योंकि समस्त खाद्यपदार्थ तो उन्होंने वस्तुत भगवान को ही खिला दिये थे. इस कारण, महापुरुषों की क्रियाएँ समझ में नहीं आतीं. यदि सांख्यमतावलम्बियों को खोजा जाय तो वे हज़ारों की संख्या में मिल जायेंगे, परन्तु योगकला द्वारा ऊर्ध्वरेता रहनेवाले तो एकमात्र नरनारायण ही हैं अथवा उनके (नरनारायण के) अनन्य भक्त भी नरनारायण के भजन के प्रताप से दृढ़ ब्रह्मचर्यवाले हो जाते हैं, किन्तु दूसरे लोग ऐसे नहीं हो सकते. जिसके इन्द्रियद्वार से जाग्रत अथवा स्वप्नावस्था में वीर्यपात होता है, वह ब्रह्मचारी नहीं कहलाता. जो पुरुष स्त्री का आठ प्रकार से त्याग करता है, वह तो ब्रह्मचर्य के मार्ग पर चलता रहता है और नरनारायण के प्रताप से धीरे-धीरे ब्रह्मचारी हो जाता है. जब हमारी शैशवावस्था थी तब हमने यह सुना था कि 'वीर्य तो पसीना द्वारा भी निकल जाता है.' तब हमने वीर्य को ऊर्ध्वगामी रखने के लिये दो प्रकार

---

१ यह कथा गोपालतापिनी उपनिषद् में कही गयी है.

की जलबस्ति[१] सीखी थी तथा [२]कुंजरक्रिया की शिक्षा ग्रहण की थी. काम को जीतने के लिये कई आसन सीखे थे. रात्रि में गोरख[३] आसन अवस्था में शयन किया करते थे और उसके पश्चात् सो जाते थे. उस क्रिया के करने से स्वप्नावस्था में भी वीर्यपात नहीं हो पाता. काम को जीतने का ऐसा उपाय भी किया कि 'शरीर में से पसीना ही नहीं निकले तथा ठंड़ और धूप भी न लगे.' बाद में हम रामानन्द स्वामी के पास आये तब स्वामी ने पसीना निकालने के लिये पट्टियाँ लगवायी थीं, फिर भी देह में पसीना नहीं आया. वास्तव में काम पर विजय प्राप्त करने की साधना तो अत्यन्त कठिन है. जिसे भगवान के स्वरूप की उपासना का सुदृढ़ संबल रहता है तथा जिसमें पंचविषयों में से किसी भी विषय की वासना बिल्कुल नहीं रहती और निर्वासनिक रहने की भावना अत्यन्त दृढ़ हो चुकी हो, वही पुरुष भगवान के प्रताप से निष्कामी होता है.'

नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'निर्वासनिक होने का कारण ऐसी बात सुनना है या वैराग्य है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अकेला वैराग्य तो नहीं टिक सकता, अन्त में उसका नाश हो जाता है. वास्तव में पुरुष को जब आत्मनिष्ठा तथा भगवान की मूर्ति का यथार्थ ज्ञान हो जाय तब उसे यह विचार करना

---

१. जल में नाभि तक खड़े रहकर गुदा द्वारा जलको चढ़ाकर और बस्ति (नाभि से निचले भाग) को धोकर उसे निकाल डालना चाहिये, अर्थात् गुदामार्ग से चढ़ाये गये जल को गुदा द्वारा ही बाहर निकाल देना चाहिये. उसे बस्तिक्रिया का एक प्रकार कहा जाता है. लिंग द्वारा पानी को चढ़ाने के बाद उसे फिर से लिंग द्वारा ही अथवा गुदमार्ग से बाहर निकाल देना चाहिये. इसे बस्तिक्रिया का दूसरा प्रकार कहा गया है.

२ सर्वप्रथम मुख से जल पीकर उसका फिर से मुँह के जरिये ही वमन कर डालना चाहिये, जिसे गजकरणी क्रिया कहा जाता है और उसे ही कुंजरक्रिया भी कहते हैं.

३. भद्रासन को ही गोरक्षासन कहते हैं. वृषण (अंडकोश) के नीचे के लिंगसूत्र के दोनों पार्श्वभागों में गुल्फा को रखना चाहिये, उसमें वाम गुल्फा को लिंग के नीचे के सूत्र के बाँये भाग में और दक्षिण गुल्फा को उस सूत्र के दक्षिण भाग में रखना चाहिये तथा सूत्र के पार्श्वभाग के समीप रखे हुए दोनों पैरों को दोनों हाथों से, जो पश्चिम की ओर लोम-विलोम किये हुए रहें, ग्रहण करना चाहिये. इस क्रिया को उत्तम भद्रासन कहा गया है

चाहिये कि 'मैं तो आत्मा तथा सच्चिदानन्दरूप हूँ और पिंड-ब्रह्मांड तो मायिक एवं नाशवान हैं, इसलिये मेरे साथ इस पिंड-ब्रह्मांड की तुलना कैसे की जा सकती है ? मेरे इष्टदेव पुरुषोत्तम भगवान तो अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के आधार अक्षर से भी परे हैं तथा उन भगवान का मुझे दृढ़ आश्रय हो गया है.' ऐसी[१] विचारधारा से जिस वैराग्य का उदय होता है वह ज्ञानयुक्त कहलाता है तथा उस वैराग्य का किसी भी काल में नाश नहीं होता. जैसे जलती हुई आग पर जल के गिर जाने से वह बुझ जाती है, किन्तु समुद्र में स्थित बड़वानल पानी से बुझाये जाने पर भी नहीं बुझता, वैसे ही ज्ञानयुक्त वैराग्य बड़वानल और बिजली की अग्नि जैसा होता है, जो किसी भी समय नहीं बुझता. उसके बिना अन्य वैराग्य का विश्वास भी उत्पन्न नहीं होता.

हमारा वैराग्य तो बिजली की अग्नि तथा बड़वानल के सदृश है. जो भक्त पुरुष हमारे साथ रहे होंगे वे हमारे स्वभाव को बहुत अच्छी तरह जानते हैं और जो हमसे अलग रहते हैं वे हमारे स्वभाव को नहीं जान सकते. यद्यपि ये मुकुन्द ब्रह्मचारी भोले जैसे दिखायी पड़ते हैं, फिर भी वे हमारे स्वभाव को यथार्थरूप से जानते हैं कि 'महाराज तो आकाश के समान निर्लिप्त हैं और उनका न तो कोई अपना है और न कोई पराया ही है.' यदि ब्रह्मचारी हमारे इस स्वभाव को इस प्रकार समझता है तो ईश्वर के गुणों के समान गुण ब्रह्मचारी में हैं और अन्तर्यामी (भगवान) सब लोगों में विद्यमान रहे हैं, वे (भगवान) स्त्री-पुरुषों के अन्तःकरण में इस प्रकार समझाते हैं कि 'ब्रह्मचारी में किसी भी प्रकार का दोष नहीं है.' ऐसे दिव्य गुणों के रहने का कारण यह है कि सत्पुरुष में सदा निर्दोष बुद्धि होनी चाहिये, इसीलिए वे समस्त दोषों से रहित हो जाते हैं. जो मनुष्य महापुरुष में दोष देखा करते हैं उनकी (दोष देखनेवालों की) बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और कामादिक समस्त शत्रु उनके हृदय में आकर निवास करने लगते हैं. सत्पुरुषों के प्रति दोषदृष्टि रखनेवालों के हृदय में सदैव अशुभ संकल्प बने रहते हैं और वे उन्हें त्रस्त करते रहते हैं. वे यदि सत्संग भी करते हैं तो भी उनके दुःख दूर नहीं होते. जो बुद्धिमान पुरुष हैं वे तो हमारे समीप रहने के कारण हमारे समग्र स्वभाव को अच्छी तरह जानते हैं कि 'संसार में मोह उत्पन्न करनेवाले धन, स्त्री, अलंकार तथा खाद्यपेयादिक जो पदार्थ हैं

---

१. आत्मनिष्ठा तथा उपासना की.

उनसे महाराज का कोई भी लगाव नहीं हैं और महाराज तो सबसे उदासीन रहते हैं. यदि वे किसी को कृपा करके अपने पास में बैठने देते हैं या उसके समक्ष ज्ञान-वार्ता करते हैं वह तो केवल उसके जीव के कल्याण के लिये ही दया करके ऐसा करते हैं.' जो मूर्ख पुरुष होते हैं वे तो हमारे पास रहने या दूर रहने पर भी हमारे स्वभाव को नहीं जान पाते. यह बात भी उन्हीं भक्तों की समझ में आती है, जो आत्मनिष्ठा रखने के साथ-साथ आत्मा में परमेश्वर की मूर्ति को धारण करके उसकी भक्ति करते रहते हैं तथा स्वयं ब्रह्मरूप हो गये हों, फिर भी भगवान की उपासना का त्याग नहीं करते. इस प्रकार, आत्मनिष्ठा तथा भगवान की मूर्ति की महिमा को समझ लेने से किसी भी पदार्थ में वासना नहीं रहती और वासना के टल जाने के बाद किसी को भी अपने प्रारब्धानुसार सुख-दुःख तो अवश्य भोगना पड़ता है, किन्तु इन्द्रियों की तीक्ष्णता मिट जाती है. फिर भी, मनोमय चक्र की जो धाराएँ हैं वे तो इन्द्रियाँ ही हैं तथा वे ब्रह्म तथा उनसे परे परब्रह्म का साक्षात् दर्शन होने के पश्चात् ही कुंठित होती हैं. जैसे किसी पुरुष के दाँत ढेर सारे नींबुओं को चूसने के कारण खट्टे पड़ गये हों और उसे चने चबाने पड़ें, तो भी वह किसी भी तरह उन्हें न चबा सके और बहुत ज्यादा भूखा रहने के कारण उन्हें निगलकर गले के नीचे भले ही उतार डाले, परन्तु वे चबाये न जा सकें, वैसे ही जिसने आत्मा तथा भगवान की यथार्थ महिमा जान ली हो, उसे संसार के किसी भी विषयसुख में आनन्द नहीं आता तथा प्रारब्ध रहने तक यद्यपि वह खानपानादिक सभी भोगों को जरूर भोगता है. उस समय वह सभी भोग उसी प्रकार भोगता है, जिस तरह दाँतों के खट्टे पड़ जाने के कारण चनों को निगल जाने के लिये बाध्य होना पड़ता है. वासना को मिटाने का कार्य भी अत्यन्त जटिल है. वास्तव में वासना तो समाधिनिष्ठ होने पर भी रह जाती है. समाधि लगने के बाद ब्रह्म के स्वरूप में से पुनः देह में किसी भी प्रकार से प्रत्यावर्तन नहीं हो पाता. यदि प्रत्यावर्तन हुआ भी तो उसके तीन कारण होते हैं. उनमें से प्रथम कारण यह है कि सांसारिक सुख की यदि कोई वासना रह गयी हो तो उसे समाधि में से लौटकर पुनः देह में आना पड़ता है. द्वितीय कारण यह है कि कोई अति समर्थ होने से समाधिस्थ हो जाता है और अपनी इच्छा से पुन· देह में आ जाता है. तृतीय कारण यह है कि कोई

अपने से भी अतिसामर्थ्यवान रहने से उसे समाधि में से पुन: देह में ले आता है. इन तीन प्रकार के कारणों से सही जीव का देह में प्रत्यावर्तन होता है. समाधि लगने के बाद जब किसी को उसमें ब्रह्म का दर्शन होता है और कोटि-कोटि सूर्यों के समान ब्रह्म का प्रकाश देखने पर यदि वह अपनी अल्पबुद्धि के कारण प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम भगवान की मूर्ति में किसी प्रकार की न्यूनता मान लेता है तथा ब्रह्म में अधिक महत्व समझता है तब उपासना भंग हो जाती है. अतएव, प्रत्यक्ष मूर्ति में तो अत्यन्त दृढ़ निश्चय होना ही चाहिये, तभी समस्त कार्य सम्पन्न हो जाते हैं. हमने भी ऐसा दृढ़ निश्चय किया है कि जो 'कोई हमें सच्चा बनकर अपना मन अर्पित करता है और लेशमात्र भी भेदभाव नहीं रखता, तो हम भी उसमें किसी भी बात की कमी नहीं रहने देते हैं.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जिसने मन अर्पित कर दिया हो उसके कैसे लक्षण होते हैं तथा मन न देनेवाले के कैसे लक्षण दिखायी पडते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसने अपना मन अर्पित कर दिया हो वह तो परमेश्वर की चर्चा तथा उनके दर्शन होने के समय स्वयं के उपस्थित न रहने पर हार्दिक रूप से दुःखी होता है तथा भगवान की कथा सुनने और उनके दर्शन करने में अधिकाधिक प्रीति होती रहती है, परन्तु उसमें से उसका मन पीछे नहीं हटता. जब परमेश्वर किसी को परदेश भेजने की आज्ञा करते हों तब मन अर्पण करनेवाले के मन में ऐसी भावना उत्पन्न हो जाती है कि 'यदि वे मुझे आदेश देंगे और बुरहानपुर तथा काशी में से जहाँ-कहीं भी भेजेंगे वहाँ मैं प्रसन्नतापूर्वक चला जाऊँगा' इस प्रकार परमेश्वर की इच्छा को शिरोधार्य रखकर जो पुरुष उसका पालन करता है, वह तो हज़ार कोस जाने पर भी हमारे पास ही रहता है. जिसने इस प्रकार मन अर्पित नहीं किया हो वह हमारे अत्यन्त निकट रहने पर भी लाखों कोस दूर रहता है. जिसने हमें मन अर्पित न किया हो उसे तो उपदेश देने में भी आशंका रहती है कि क्या मालूम, यह सीधा समझेगा या उलटा. मन अर्पित करनेवाले तथा उसका अर्पण न करनेवाले पुरुष के ये ही लक्षण हैं.'

॥ इति वचनामृतम् ॥७३॥

वचनामृत ७४ : भगवान की इच्छा ही सर्वोपरी

संवत् १८७६ में वैशाख शुक्ल *एकादशी को प्रातःकाल स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे चबूतरे पर रखे हुए पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे जितना वैराग्य होता है तथा जिसकी जितनी समझ होती है, उसकी जानकारी किसी प्रकार के विषयभोग की प्राप्ति अथवा आपत्तिकाल के उपस्थित होने पर होती है, परन्तु उसके बिना ऐसी बात मालूम नहीं होती. यदि अधिक सम्पत्ति अथवा भीषण विपत्ति आ जावे, उसकी तो बात ही क्या करनी है ? परन्तु, इन दादाखाचर को जब थोड़ा-सा आपत्काल-जैसा समय आया था, तब जिसका जैसा अन्तःकरण रहा होगा, वैसे सबको विदित हुआ होगा.'

मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'भगवान के भक्त का पक्ष तो हृदय में निश्चित रूप से जानते-बूझते हुए रहता है कि सत्संग यदि उत्कृष्ट हुआ तब तो अनेक जीवों के सत्संग की अभिवृद्धि हो जाती है, तथा सत्संग का अवमान-जैसा हो तो किसी भी जीव के सत्संग की अभिवृद्धि नहीं हो सकती, इस कारण हर्ष शोक में परिणत हो जाता है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'हम तो श्रीकृष्णनारायण के सेवक हैं, इसलिये उनकी इच्छा को ही शिरोधार्य रखकर प्रसन्न रहना चाहिये. यदि उन श्रीकृष्ण भगवान की इच्छा होगी तो सत्संग की वृद्धि हो जायगी और यदि वे इसे घटाना चाहें, तो वह घट जायगा. यदि वे भगवान हमें हाथी पर बैठावें तो हमें उस पर (हाथी पर) बैठकर प्रसन्न रहना चाहिये और यदि वे हमें गधे पर बैठावें तो उस पर बैठकर ही खुश रहना चाहिये. यदि उन श्रीकृष्ण भगवान की इच्छा होगी तो सत्संग बढ़ जायगा तथा यदि वे उसे कम करना चाहेंगे तो वह कम हो जायगा. फिर भी, उन भगवान के चरणारविन्दों के सिवा अन्यत्र कहीं भी प्रीति नहीं रखनी चाहिये. भगवान की इच्छा से जिस प्रकार सत्संग की वृद्धि होती जाय उसी तरह प्रसन्न

---

* मंगलवार, २४ अप्रैल, १८२०.

रहना चाहिये. यदि उनकी इच्छा होगी तो समस्त जगत सत्संगी हो जायगा अथवा उनकी इच्छा के अनुसार समूचा सत्संग समाप्त हो जायेगा, परन्तु मन में किसी भी प्रकार का हर्ष या शोक नहीं रखना चाहिये. वास्तव में भगवान जैसा कुछ करना चाहते हैं वैसा ही होता रहता है. जिस प्रकार सूखा पत्ता वायु के आधार से फिरता रहता है, उसी प्रकार उनके अधीन रहकर आनन्द के साथ परमेश्वर का भजन करते रहना चाहिये और मन में किसी भी तरह की उद्विग्नता नहीं रखनी चाहिये.' ॥ इति वचनामृतम् ॥७४॥

वचनामृत ७५ : भगवान के भक्त की महिमा

संवत् १८७६ में वैशाख कृष्ण *एकादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे चबूतरे पर रखे हुए पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने पीले पुष्पों का हार कंठ में धारण किया था और श्वेत वस्त्र पहने थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

सुराखाचर ने प्रश्न पूछा कि 'ऐसा कहा गया है कि 'जिसके कुल में भगवान का एक भी भक्त होता है तो उसकी [१]एकोत्तर [२]पीढ़ियों का उद्धार हो जाता है और यदि उसके गोत्र में सन्त तथा भगवान के कितने ही द्वेषीजन भी होते हैं, तब उनका उद्धार किस प्रकार होता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जैसे देवहूति ने कर्दम ऋषि के साथ पति की भावना रखते हुए संग किया था, तो भी कर्दम ऋषि में स्नेह रहने के कारण उसका उद्धार हो गया तथा सौभरी ऋषि का सुन्दर रूप देखकर ही उनके

---

* मंगलवार, ८ मई, १८२०.

१. एकोत्तर शब्द से एकोत्तरशत (१०१) अथवा एकोत्तरविंशति (२१) कहने का अभिप्राय है. दस पहले के और दस बाद के कुलों तथा स्वयं के एक कुल को मिलाकर इक्कीस कुलों का उद्धार हो जाता है, ऐसा स्मृति में कहा गया है. यह भी कहा गया है कि पिता के २४, माता के २०, भार्या के १६, भगिनी के १२, दुहिता के ११, बुआ के १०, मासी के ८, इस प्रकार सात गोत्रों को मिलाकर १०१ कुलों का उद्धार हो जाता है. उल्लिखित माता-पिता आदि के कुलों में आधे पूर्व के और आधे बाद के समझने चाहिये.

२. कुलों.

साथ मान्धाता राजा की ५० पुत्रियों ने विवाह किया. उन्हें सौभरी में कामभाव से स्नेह था तो भी ऋषि के समान ही उन सबका कल्याण हो गया, वैसे ही जिसके कुल में भक्त उत्पन्न होता है उसके समस्त कुटुम्बीजन ऐसा समझते हैं कि 'हमारा यह बड़ा भाग्य है कि हमारे कुल में भगवान का भक्त हुआ है.' इस प्रकार भक्त का माहात्म्य समझकर स्नेह रखा जायगा तो उन सभी कुटुम्बीजनों का कल्याण हो जायगा. जो पितर आदि मरकर स्वर्ग में गये हों और वे भी यदि ऐसा समझें कि 'हमारे कुल में भगवान का भक्त हुआ है, यह हमारा बड़ा भाग्य है,' तथा भक्त से स्नेह रखें तो उन पितरों का भी कल्याण हो जाता है. किन्तु, भगवान के साथ वैरभाव रखनेवाले का कल्याण नहीं होता. जो पुरुष भगवान के भक्त के साथ ज्यों-ज्यों वैर रखता रहता है त्यों-त्यों उसकी बुद्धि भ्रष्ट होती जाती है और शरीर छोड़ने पर उसे वही नरककुंड प्राप्त होता है, जहाँ पंचमहापाप करनेवाले पड़ते हैं. इसलिये, भगवान के भक्त से स्नेह रखनेवालों का तो कल्याण ही होता है, भले ही वे सम्बन्धी हों या अन्य जन.'

नाजा भक्त ने प्रश्न पूछा कि 'भगवान के भक्तों में एक तो दृढ़ निश्चयवाला होता है तथा दूसरा थोड़ा निश्चय रखता है. ऊपर से तो दोनों प्रकार के ये भक्त यद्यपि अच्छे दिखायी पड़ते हैं तब दोनों की पहचान किस प्रकार की जा सकती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान, दृढ़ वैराग्य तथा भक्ति एवं स्वधर्म भी परिपूर्ण हो, उसके निश्चय को परिपूर्ण समझना चाहिये. यदि इनमें से एक भी बात की कमी रहे तो निश्चय होने पर भी वह माहात्म्यरहित रहता है. जिसमें ये चारों बातें पूर्णरूप से विद्यमान रहें तो यह समझ लेना चाहिये कि उसमें माहात्म्यसहित भगवान का निश्चय बना हुआ है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥७५॥

वचनामृत ७६ : 'क्रोधी और अभिमानी से संबंध नहीं'

संवत् १८७६ में प्रथम ज्येष्ठ शुक्ल *एकादशी को श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज अपने ठहरने के स्थान में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके

* बुधवार, २३ मई, १८२०.

मुखारविन्द के समक्ष कितने ही बड़े-बड़े साधु बैठे थे.

श्रीजीमहाराज ने उनके समक्ष वार्ता कही कि 'क्रोधी, ईर्ष्यालु, कपटी तथा अभिमानी, ऐसे चार प्रकार के जो मनुष्य हरिभक्त हों तो भी उनके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं रहता. क्रोध तथा ईर्ष्याभाव अभिमान के साथ जुड़े रहते हैं. कामी का तो हमें किसी भी काल में विश्वास नहीं होता कि 'यह सत्संगी है.' कामी पुरुष तो सत्संग में रहने पर भी उससे विमुख - जैसा रहता है. जो पुरुष पाँच प्रकार के नियमों में किसी भी प्रकार की कमी नहीं आने देता तथा यदि भगवान कोई कठिन आज्ञा करें और उसकी इच्छा से विपरीत अपनी (भगवान की) रुचि के अनुसार कार्य करने का आदेश दें फिर भी जीवनपर्यन्त उसे ग्लानि न रहे तो वही पक्का हरिभक्त है. ऐसे हरिभक्त पर ही हमें यों ही सहज स्नेह हो जाता है. जिसमें ऐसे गुण न हों उससे स्नेह करने पर भी प्रेम नहीं हो पाता. हमारा तो यही स्वभाव है कि जिसके हृदय में भगवान की ऐसी परिपूर्ण भक्ति होती है उस पर ही स्नेह होता है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥७६॥

वचनामृत ७७ : ज्ञान तथा धर्म

संवत् १८७६ में द्वितीय ज्येष्ठ कृष्ण *अमावास्या को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस समय मुनि परस्पर प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रस्तुत कर रहे थे. इस अवसर पर एक मुनि अनजाने ही भगवान के निश्चय के बल के आधार पर धर्म को झुठलाने की चेष्टा करने लगे.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान के ज्ञान का आश्रय[1] लेकर जो कोई भी पुरुष धर्म को मिथ्या सिद्ध करने का प्रयास करता है, उसे असुर समझना चाहिये. वस्तुतः भगवान के स्वरूप में तो ऐसे कल्याणकारी अनन्त गुण रहे

---

* मंगलवार, १० जुलाई, १८२०.

१. आश्रय अथवा बल.

हैं, जिनका वर्णन श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में पृथ्वी ने धर्म के समक्ष किया[1] है. वास्तव में जिसे भगवान का आश्रय होता है उसमें तो भगवान के कल्याणकारी गुण आते हैं तथा जिसे भगवान के स्वरूप का निश्चय होता है, उसमें तो एकादश स्कन्ध में बताये गये साधु के तीस[2] लक्षण आते हैं.

---

१ ६२ वें वचनामृत में ऐसे गुणों का वर्णन किया गया है.

२. 'कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् । सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ।। कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिंचनः । अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ।। अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमान् जितषड्गुणः । अमानी मानदः कल्यो मैत्रः कारुणिकः कविः ।। आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान् । धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः ।। ज्ञात्वाज्ञात्वाऽथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः । भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ।।'

कृपालुः - स्वार्थ की अपेक्षा किये बिना ही दूसरे का दुःख सहन न हो, ऐसा पुरुष, अथवा दूसरे के दुःख को टालने की इच्छावाला

सर्वदेहिनामकृतद्रोहः समस्त प्राणियों में मित्रादि भाव रखनेवाला और किसी का भी द्रोह न करनेवाला

तितिक्षुः - द्वन्द्व को सहन करनेवाला.

सत्यसारः - जिसे सत्य का ही सार (बल) है

अनवद्यात्मा - जिसकी आत्मा (मन) द्वेष, असूया आदि दोषों से रहित

समः - समदृष्टिवाला

सर्वोपकारकः- सबका उपकार ही करनेवाला

कामैरहतधीः - विषयभोग से बुद्धि में क्षोभ नही प्राप्त करनेवाला.

दान्तः - जिसकी इन्द्रियाँ नियमानुवर्तिनी हैं.

मृदुः - मृदुचित्तवाला

शुचिः - बाह्य एवं आन्तरिक रूप से पवित्रता रखनेवाला. स्नानादिजन्य शुचिता को बाह्य पवित्रता तथा भगवान-चिन्तनजन्य शुचिता को आन्तरिक पवित्रता कहा गया है.

अकिंचनः - अन्य प्रयोजनों से रहित.

अनीहः - लौकिक व्यापाररहित अथवा दृष्टादृष्टफल की इच्छा से रहित.

मितभुक् - मिताहार करनेवाला.

शान्तः - जिसका अन्तःकरण नियमानुवर्ती है.

स्थिरः - स्थिरचित्तवाला

मच्छरणः - जिसका मैं ही रक्षक और प्राप्ति का उपाय हूँ.

मुनिः - शुभाश्रय का मनन करनेवाला.

अतएव, जिसमें सन्त के तीस लक्षण न हों उसे पूरा साधु नहीं समझना चाहिये जिसे भगवान का निश्चय होता है उसके हृदय में तो प्रभु के कल्याणकारी गुण निश्चित रूप से आते हैं. जब प्रभु के गुण सन्त में आते हैं तब वह साधु तीस लक्षणों से युक्त हो जाता है. इसलिये, आज से जो कोई पंचव्रतरूप धर्म को छोड़कर ज्ञान या भक्ति का बल ग्रहण करेगा, वह गुरुद्रोही तथा भगवान की आज्ञा का उल्लंघन करनेवाला होगा. जो कोई पुरुष धर्म को भंग करने की ऐसी बात करता हो, उसे विमुख कहा जाना चाहिये और ऐसा कहना चाहिये कि 'तुमने तो असुर का पक्ष लिया है, उसे हम नहीं मान सकते.' ऐसा कहकर उस अधर्मी की बात को झुठला देना चाहिये.'

बाद में सन्त ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! कोई तो भगवान का अत्यन्त दृढ़ भक्त होता है, फिर भी उसे देह-त्याग करते समय पीड़ा होती है और बोलने का भी भान नहीं रहता और दूसरा पक्का हरिभक्त नहीं हो, फिर भी वह देह छोड़ने के समय अतिसमर्थ मालूम होता है तथा भगवान

अप्रमत्तः - सावधान.

गभीरात्मा - जिसका अभिप्राय न जाना जा सके, ऐसा पुरुष.

धृतिमान् - आप्तकाल में धैर्य रखनेवाला.

जितषड्गुणः - जिसने ६ गुणों – अशन, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु को जीत लिया है.

अमानी - अपने सत्कार की अभिलाषा नहीं रखनेवाला.

मानदः - दूसरों का सम्मान करनेवाला.

कल्पः - हितकारी उपदेश करने में समर्थ.

मैत्रः - किसी को भी नहीं ठगनेवाला.

कारुणिकः - स्वार्थ, लोभ से रहित रहकर केवल करुणापूर्ण व्यवहार करनेवाला.

कविः - चित्, अचित् एवं ईश्वर, इन तीनों तत्त्वों को यथार्थ रूप से जाननेवाला. 'वेद द्वारा प्रतिपादित गुणदोषों को जानकर तथा अपने समस्त धर्मों को फल द्वारा त्याग करके, जो उपायोपेयभाव से मेरा भजन करता है, उसे उत्तम साधु जानना चाहिये. मैं जैसा स्वरूपवाला हूँ और जितनी विभूतियों से सम्पन्न हूँ, उन्हें जानकर, यानी उन पर बार-बार विचार करके अनन्य भाव से जो मेरा भजन करता है उसे ही उत्तम भक्त माना गया है.' इस प्रकार साधु के तीन लक्षण कहे गये हैं.

के प्रताप को बहुत अच्छी तरह समझता हुआ, मुख से भगवान की महिमा का गुणगान करके सुखपूर्वक देह छोड़ता है, इसका क्या कारण है ? जो अच्छा पुरुष होता है, उसका अन्तसमय अच्छा नहीं दीखता और जो सामान्य जैसा भक्त हो उसका अन्तिम समय अच्छा दिखायी पड़ता है, इसका कारण बताइये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि[१] 'देश, काल, क्रिया, संग, ध्यान, मन्त्र, दीक्षा तथा शास्त्र, ये आठ बातें जैसी हों वैसी ही पुरुष की मति हो जाती है. ये सब बातें यदि शुभ रहें तब तो अच्छी मति होती है और यदि वे अशुभ होती हों तो बुद्धि भी खराब हो जाती है. पुरुष के हृदय में परमेश्वर की माया द्वारा प्रेरित चारों युगों (सत्ययुग, द्वापर, त्रेता, कलियुग) के धर्म, क्रमशः प्रवृत्त रहते हैं. मृत्युकाल के सन्निकट होने पर जब सत्युग का धर्म आ जाये तब मृत्यु के समय उस पुरुष की कान्ति बढ़ जाती है तथा त्रेता और द्वापर के धर्म यदि अन्तःकरण में विद्यमान हों तो देहान्त के समय उसकी कान्ति थोड़ी क्षीण हो जाती है. मृत्यु के समय यदि हृदय में कलिकाल का धर्म रहे तो वह विकृत दिखायी पड़ता है. इस प्रकार अन्त समय में स्थिति काल द्वारा उत्पन्न होती है. जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति नामक जो तीन अवस्थाएँ हैं और अन्त समय में यदि उनमें से जाग्रत अवस्था बनी रहती है, तो पापी पुरुष भी बोलते-चालते और चलते-फिरते अपनी देह छोड़ देता है. यदि अन्तकाल में स्वप्नावस्था बनी रहे तो भगवान का भक्त भी प्रलाप करता हुआ अपने शरीर को छोड़ देता है. इसी प्रकार अन्तकाल में सुषुप्ति अवस्था की प्रधानता रहने पर भगवान का भक्त या विमुख पुरुष भी बेहोशी की हालत में ही मर जाता है. उस स्थिति में वह कोई भी शुभ या अशुभ बात बोलने में असमर्थ ही रहता है. अन्तकाल में इन तीनों अवस्थाओं से परे रहकर जो ब्रह्मभाव में लीन होकर अपनी देह का त्याग करता है वह तो ईश्वर जैसी सामर्थ्य दिखाकर मृत्यु का वरण

---

१. उसके दो कारण हैं काल और अवस्था. ये दोनों ही शुभ और अशुभ होते हैं. यदि अन्त समय में शुभ काल और अवस्था विद्यमान रहे तो मृत्यु तेजोमय होती है. यदि ये दोनों अशुभ कारण बने रहें तो मरणकाल में कष्ट झेलने पड़ते हैं. इसके पश्चात् जो मरणोत्तर गति है उसमें तो शुभाशुभकाल तथा अवस्था कारण नहीं बनते. उसमें अपना कर्म ही कारण बन जाता है.

करता है. वस्तुतः भगवान के भक्त ही ब्रह्मरूप होकर और इस प्रकार ईश्वर-जैसी सामर्थ्य दिखाकर अपनी देह छोड़ते हैं, किन्तु अन्य विमुख जीवों की ऐसी स्थिति नहीं रहती. इस प्रकार अन्त समय में काल अथवा इन अवस्थाओं के योग द्वारा शुभाशुभ दिखायी पड़ता है. यदि अन्तकाल में विमुख जीवों की जाग्रत अवस्था रहती है और वे बोलते-ही-बोलते शरीर छोड़ देते हैं. फिर भी इससे उनका कोई भी कल्याण नहीं होता. विमुख जीव, भले ही अच्छी तरह देह-त्याग करें या बुरी तरह, नरक में ही जाते हैं. परन्तु, भगवान के भक्तों का तो कल्याण ही होता है, भले ही वे बोलते-बोलते अथवा लड़खड़ाती जबान से शब्दों का उच्चारण करते हुए या शून्य मौनभाव से अपने शरीर छोड़कर क्यों न जायँ; उनका कल्याण तो अवश्यम्भावी है. इस बात में कोई संशय नहीं है. भगवान के भक्तों को यह समझ लेना चाहिये. भगवान के भक्तों को अन्त समय में स्वप्नादिक अवस्थाओं के योग द्वारा बाह्य रूप से भले ही पीड़ाजनक स्थिति का सामना करना पड़ता हो, परन्तु उनके अन्तःकरण में तो भगवान के प्रताप से आनन्द-ही-आनन्द समाया रहता है. वास्तविक बात तो यह है कि जो पक्के हरिभक्त होते हैं वे अन्तसमय में भले ही बेचैनी की हालत में अपना शरीर छोड़ें, फिर भी उनके कल्याण में लेशमात्र भी संशय नहीं रखना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥७७॥

वचनामृत ७८ : पूर्वकर्मों की प्रधानता

संवत् १८७७ में आषाढ़ शुक्ल *तृतीया को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सफेद चादर ओढ़ी थी, मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी और कंठ में सफेद पुष्पों का हार पहना था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देशभर के विभिन्न स्थानों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'समस्त सन्त सुनिये, एक प्रश्न पूछते हैं.' सन्तों ने कहा कि 'पूछिये महाराज !' श्रीजीमहाराज बोले कि 'देश, काल, क्रिया,

---

* शुक्रवार, १३ जुलाई, १८२०.

संग, मन्त्र, देवता का ध्यान, दीक्षा तथा शास्त्र, ये आठ शुभ हों तो पुरुष की बुद्धि निर्मल होती है और यदि ये अशुभ हों तो उसकी बुद्धि भ्रष्ट होती है. इसलिये, इन आठों में पूर्वसंस्कारजन्य कर्मों की कुछ प्रबलता है या नहीं ?'

मुनि बोले कि 'पूर्वकर्मों का जोर मालूम तो अवश्य होता है. यदि पूर्वकर्म शुभ हों तो पवित्र देश में जन्म होता है तथा अशुभ कर्म हों तो अशुभ देश में जन्म होता है. वैसे ही कालादिक भी सात हैं, उनमें भी पूर्वकर्मानुसार योग बन जाता है. इसलिये, इन सब बातों में पूर्वकर्मों की प्रधानता दिखायी पड़ती है. देशकालादिक आठ बातों की प्रधानता तो किसी-किसी स्थान में रहती है, किन्तु पूर्वकर्मों का प्राधान्य सभी स्थानों पर दिखायी पड़ता है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'देश, काल से लेकर देवताओं तक, परमेश्वर-पर्यन्त सभी के सम्बन्ध में यदि आप पूर्वकर्मों की प्रधानता बताते हैं तो यह बात किन शास्त्रों के आधार पर प्रतिपादित करते हैं, उनके वचनों के प्रमाण देकर सुनाइये. कर्मों की प्रधानता एकमात्र जैनशास्त्र में बतायी गयी है, अन्य शास्त्रों में नहीं. अन्य शास्त्रों में तो परमेश्वर तथा उनके भक्तों के संग को ही प्रमुख बताया गया है. परन्तु, आप पूर्वकर्मों का ही प्रतिपादन करते हैं. इसीलिए आप ऊपर से, किन्तु बाह्य रीति से सत्संगी तथा गुप्त रीति से नास्तिक हैं क्या ? क्योंकि, नास्तिकों के सिवा, दूसरे पुरुष कर्मों का प्रतिपादन नहीं करते तथा नास्तिकजन तो वेदों, शास्त्रों, पुराणों और भारतादिक इतिहासों को मिथ्या समझते हैं तथा वे मागधी भाषा के अपने ग्रन्थों को ही सच्चा मानते हैं. इसलिये, वे मूर्ख होने के कारण कर्मों का प्रतिपादन करते हैं. यदि पूर्वकर्मों द्वारा ही देश, काल से लेकर देवतापर्यन्त आठ तत्त्व परिवर्तित होते हों तो मारवाड़ के कितने ही पुण्यात्मा राजाओं के लिये एक सौ हाथ गहरा पानी एकदम ऊपर क्यों नहीं आ गया ? यदि पूर्वकर्मों के अधीन देश रहे तो पुण्यकर्मवाले के लिये पानी ऊंचाई पर आ जाना चाहिये और पापी के लिये पानी गहरा हो जाना चाहिये. परन्तु, ऐसा तो होता नहीं. मारवाड प्रदेश में तो सर्वत्र सबके लिये गहरा पानी ही निकलता है, भले ही वे पापी हों या पुण्यात्मा, किन्तु वह प्रदेश अपने गुण का त्याग नहीं करता. इसलिये, देशकालादिक में तो पूर्वकर्मों के अनुसार परिवर्तन नहीं होता है. अतएव, अपने कल्याण के

इच्छुक पुरुषों को तो नास्तिकों की तरह कर्मों पर जोर नहीं देना चाहिये और आठ अशुभ देशकालादि का त्याग करके शुभ आठ देशकालादि में प्रवृत्त रहना चाहिये.

देश तो बाह्य दृष्टि से भी शुभ-अशुभ हो सकता है और अपना शरीररूप देश भी शुभाशुभ हो सकता है. जब देहरूपी शुभ देश में जीव रहता हो तब उसमें शील, सन्तोष, दया, धर्म आदि अधिक कल्याणकारी गुण बने रहते हैं, परन्तु जब जीव देहरूपी अशुभ देश में रहता हो तब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि अशुभ गुणों की वृद्धि होती रहती है. अच्छे-बुरे संग की पहचान यह है कि जिससे संग हो, उसके साथ किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं रहता. तभी यह समझ लेना चाहिये कि उसके साथ पूरा संग हो गया. यद्यपि दिखाने के लिये तो बाहर से शत्रु से भी गले मिलते हैं, परन्तु हृदय में तो अपने और उसके बीच लाखों कोसों का अन्तर रहता है. इस कारण, बाह्य संग को वास्तविक संग नहीं कहा जा सकता. वास्तविक संग तो उसे ही कहा जाता है, जो मन, कर्म तथा वचन द्वारा किया जाय. इसलिये, इस प्रकार का मन, कर्म, वचन द्वारा संग तो परमेश्वर और उनके भक्त का ही करना चाहिये, ताकि जीव का कल्याण हो जाय, परन्तु पापी का संग तो कभी भी नहीं करना चाहिये.'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने मध्याह्न के समय सभी छोटे विद्यार्थी साधुओं को अपने समीप बुलवाया और उनसे कहा कि 'तुम सब विद्यार्थी मुझसे प्रश्न पूछो.' तब बड़े शिवानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जिसे भगवान का अचल निश्चय हो उसकी पहचान किस प्रकार की जा सकती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे अचल निश्चय होता है, उसके लिये भगवान यदि भली-बुरी किसी भी क्रिया का विधान करें तो भी वह इन सब क्रियाओं को कल्याणकारी समझता है. यदि भगवान की कभी जीत हो जाय या हार, अथवा किसी स्थान पर भागना पड़े या कभी प्रसन्नता अथवा शोक हो जाय तब भी निश्चयवाला भक्त भगवान की ऐसी अनेक क्रियाओं को देखकर यही कहता है कि 'प्रभु की ये समस्त क्रियाएँ कल्याण के लिये हैं.' इस कोटि का भक्त जब कभी बोले तब वह यदि इसी प्रकार अपने उद्‌गार प्रकट करता हो तो उसे परिपक्व निश्चयवाला समझ लेना चाहिये.'

निर्मानानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान और उनके सन्त के प्रति

दोषबुद्धि नहीं आने देने का क्या उपाय है ?'

श्रीजीमहाराज बोले, 'जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि जिस भक्त को भगवान सम्बन्धी अचल निश्चय[१] होता है, उसे भगवान के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की दोषबुद्धि नहीं आती तथा वह ऐसे बड़े भगवान के सेवक की महिमा पर जब विचार करता है, तब उसके मन में भगवद्भक्त के प्रति अवगुण देखने की कोई भावना उत्पन्न नहीं होती.'

निर्मानानन्द स्वामी तथा छोटे प्रज्ञानानन्द स्वामी, दोनों ने मिलकर पूछा कि 'जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं में भगवान की मूर्ति अखंड रूप से किस प्रकार दिखायी पड़ती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि किसी का पूर्वजन्म का कोई शुभ संस्कार[२] प्रबल रहे तो उसे भगवान की मूर्ति तीनों अवस्थाओं में अखंड दिखायी पड़ती है अथवा जिसमें भय, काम और स्नेह के भाव अखंड रूप से विद्यमान रहें तथा उसको भगवान के सिवा अन्य वस्तुएँ तीनों अवस्थाओं में निरन्तर दीखती हों तब भगवान दिखायी पड़ें तो इसके लिये क्या कहना ? ये तो दीखते ही[३] हैं.'

छोटे शिवानन्द स्वामी ने पूछा कि 'सत्संग के सम्बन्ध में जिसका पैर अचल रहे, यह कैसे मालूम हो सकता है ?' एक तो यह प्रश्न है और दूसरा प्रश्न यह है कि 'मान, काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर तथा ईर्ष्या आदि शत्रु किस प्रकार नष्ट हो सकते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो पुरुष सत्संग के पक्ष का अत्यन्त दृढ़ समर्थक हो, वह किसी के भी द्वारा सत्संग का खंडन किया जाना सहन नहीं कर सकता, जैसे कोई व्यक्ति अपने कुटुंबीजनों के साथ झगड़ा होने की स्थिति में अपने प्रति किये जानेवाले आक्षेप को बिल्कुल सहन नहीं करता. इस प्रकार जैसा सम्बन्धियों का पक्ष है वैसे ही दृष्टिकोण यदि कोई पुरुष सत्संग के पक्ष के सम्बन्ध में भी अपनाता है तो यही कहा जायगा कि सत्संग के विषय में उसका पैर अचल है. दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि

---

१. माहात्म्यज्ञानपूर्वक.

२. पूर्वजन्म में संग्रहीत प्रेममिश्रित नवधा भक्तिरूपी भावना.

३. द्रौपदी, गोपियों और कंस को श्रीकृष्ण भगवान क्रमशः अतिस्नेह, कामभाव तथा भीषण भयजनक दिखायी पड़ते थे.

जिसने सत्संग के पक्ष में ऐसा दृष्टिकोण रखा है, वह सन्त अथवा सत्संगी के प्रति अहंभाव, मत्सर एवं ईर्ष्या-भाव कैसे रख सकता है ? जिसका सत्संग का पक्ष प्रबल रहता है उसके अहंभाव, मद, मत्सर तथा ईर्ष्या आदि समस्त शत्रुओं का नाश हो जाता है. सत्संगी के प्रति जिसका सौमनस्य नहीं रहता तथा जो सत्संगी और कुसंगी को समान स्तर पर रखता हो तो सत्संग में कितना ही बड़ा (अग्रणी) कहलाने पर भी वह अन्त में निश्चित रूप से उससे विमुख हो जाता है.'

छोटे आत्मानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान और उनके सन्त तो जिससे जैसा कहना होता है उससे वे निसंकोचपूर्वक वैसा ही कह डालते हैं और उसकी ओर से उन्हें ऐसा भरोसा (विश्वास) हो जाता है कि इसका चाहे कितना ही सम्मान अथवा तिरस्कार करेंगे तो भी यह किसी भी प्रकार से पीछे नहीं हटेगा. ऐसा भरोसा भगवान तथा उनके सन्त को किस प्रकार हो सकता है ?' एक प्रश्न तो यह है. दूसरा प्रश्न यह है कि 'जिस सन्त के पास रहते हों, उसका अपने प्रति जैसा स्नेह रहता है वैसा ही प्रेमभाव अन्य समस्त सन्तों का किस प्रकार रह सकता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'शिवानन्द स्वामी के प्रश्न का जैसा उत्तर दिया गया है वैसा ही उत्तर इस प्रश्न पर भी लागू होता है कि जिसका सत्संग का पक्ष सुदृढ़ होता है, उसको कहते-सुनते हुए भी भगवान और उनके सन्त को संशय नहीं होता और उस पर किसी भी तरह ऐसा अविश्वास नहीं होता कि यदि 'इससे कुछ कहेंगे तो यह सत्संग में से चला जायगा.' इसकी ओर से तो दृढ़ विश्वास ही होना चाहिये कि 'इसका सत्संग तो अचल है', इसीलिए, यदि हम इससे कुछ कहेंगे तो कोई चिन्ता नहीं है.' दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि जो भक्त स्वयमेव जिस सन्त के पास जाकर सबसे पहले रहा हो उससे कोई अनबन होने पर जब उसे दूसरे के पास जाकर रहना पड़े तब यदि कोई पुरुष पहलेवाले सन्त के प्रतिकूल किसी प्रकार के अपशब्द बोले तो उन्हें सहन न कर सके, तब अन्य साधुओं की ऐसी धारणा हो जायगी कि 'यह कृतघ्न नहीं है. इसने जिसके साथ रहकर चार अक्षर पढ़े हैं, उसका गुण नहीं छोड़ता है, इसलिये यह बहुत अच्छा साधु है.' यह जानकर सभी साधु उस पर अपना स्नहे बनाये रखेंगे. वह सर्वप्रथम जिसके पास रहा था, उसे छोड़कर दूसरे साधुओं के

पास जाने पर जब वह पहलेवाले सन्त की निन्दा करेगा तो समस्त साधुओं को ऐसा प्रतीत होगा कि 'यह कृतघ्न पुरुष है. जब हमारे साथ भी इसकी नहीं पटेगी (बनेगी) तब यह पुरुष हमारी भी निन्दा करेगा.' इस कारण उससे किसी का भी स्नेह नहीं रह सकता.'

दहरानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान तो अक्षरातीत हैं, मन एवं वाणी से परे हैं, सबके लिये अगोचर हैं और वे सबको दिखायी पड़ते हैं, इसका क्या कारण है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अक्षरातीत तथा मन-वाणी से परे और अगोचर रहनेवाले भगवान स्वयं कृपा करके ऐसी धारणा रखते हैं कि 'मृत्युलोक के सभी ज्ञानी-अज्ञानी पुरुष मुझे देखें ?' इसीलिए, सत्यसंकल्पवाले भगवान मृत्युलोक के समस्त मनुष्यों के लिये अपना दर्शनीय स्वरूप धारण करते हैं.'

त्यागानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान किस प्रकार प्रसन्न होते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो पुरुष भगवान को प्रसन्न करने का इच्छुक हो, उसे तो शारीरिक सुख की इच्छा नहीं करनी चाहिये तथा भगवान के दर्शनों का भी लोभ नहीं रखना चाहिये और भगवान जैसी आज्ञा दें वैसा ही करना चाहिये. भगवान को प्रसन्न करने का यही उपाय है.'

लक्ष्मणानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'भगवान और उनके सन्त का समागम आश्चर्यसदृश कैसे समझें, तब उसकी प्रतीति हो सके और आठों प्रहर आनन्द की अनुभूति किस प्रकार हो सकती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो भक्त ऐसा समझते हैं कि 'ये भगवान और सन्त वैकुंठ, गोलोक तथा ब्रह्मपुर के निवासी हैं, ऐसे सन्त तथा परमेश्वर जहाँ विराजमान रहते हैं, वहीं वे सब धाम भी हैं तथा उन सन्त के साथ मेरा निवास हुआ है, यह मेरा महान सौभाग्य है,' उनके लिये आठों प्रहर आश्चर्यमय वातावरण बना रहता है और वे आठों प्रहर आनन्दसागर में गोते लगाते रहते हैं.'

परमानन्द स्वामी ने पूछा कि 'श्रीमद् भागवत के एकादश स्कन्ध में सन्त के जो तीस लक्षण बताये गये हैं, वे (लक्षण) किस उपाय द्वारा आ सकते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'तीस लक्षणयुक्त जो सन्त हों, उनमें गुरुबुद्धि तथा देवबुद्धि रखकर मन, कर्म एवं वचन द्वारा उनका संग करना चाहिये.

तब ऐसा संग करनेवाले में भी ये तीस लक्षण आ जाते हैं. समस्त शास्त्रों में ऐसा कहा गया है कि 'सन्त की सेवा करनेवाले पुरुष सन्त-जैसे हो जाते हैं.'

शान्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'एक भक्त तो ऐसा है, जो भगवान के स्वरूप में अखंड वृत्ति रखता है तथा अन्य भक्त तो भगवान का भजन-स्मरण करने के साथ-साथ स्वयं कथा-कीर्तन करता है और उन्हें सुनता भी है. भगवान के इन दो प्रकार के भक्तों में कौन-सा भक्त श्रेष्ठ है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे निर्विकल्प समाधि लगने पर देह की सुधबुध नहीं रहती, वह यदि कथा-कीर्तन नहीं करे तो भी श्रेष्ठ है और जिसे शारीरिक स्थिति का भान रहता हो और [1]भजन में से स्वयमेव उठकर खाने-पीने की समस्त दैहिक क्रियाएँ करता हो और यदि भगवान का कथा-कीर्तन नहीं करता हो तथा न सुनता हो तो उसकी अपेक्षा भगवान का कथा-कीर्तन करनेवाला और सुननेवाला पुरुष ही श्रेष्ठ होता है.'

आधारानन्द स्वामी ने पूछा कि 'किस प्रकार का आचरण करने पर भगवान तथा उनके सन्त प्रसन्न होते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'पंचव्रतों को पूर्णरूप से रखा जाय और उसमें किसी भी तरह की कमी न आने दी जाय तो भगवान तथा उनके सन्त प्रसन्न हो जाते हैं, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं किया जाना चाहिये.'

वेदान्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'पहले, जिसका कुछ अनुचित आचरण रहा हो तो उसे ऐसा कौन-सा उपाय करना चाहिये, जिससे उस पर भगवान तथा उनके सन्त प्रसन्न हो जायँ ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अपना जो बुरा स्वभाव हो उसे देखकर भगवान तथा उनके सन्त अप्रसन्न होते हैं. उस स्वभाव का जब विरोध किया जाता है तब जिसका जिसके साथ विरोध होता है, उसकी जानकारी तो समस्त जगत को हो जाती है और सन्त को भी इस प्रवृत्ति की सूचना मिल जाती है. सन्त तो इस स्वभाव के वैरी होते हैं. इसलिये वे अपने पक्ष में सम्मिलित करके अपने पर दया करते हैं और ऐसा उपाय बताते हैं, जिससे उस स्वभाव पर काबू पा लिया जाय. अतएव, इस प्रकार का उपाय करना चाहिये, जिससे उस स्वभाव का, जिसने अपने को नीचा दिखाया हो, दृढ़ता के साथ दमन करके उसका मूलोच्छेद किया जा सके. ऐसा आचरण

---

१. ध्यान में से.

करने पर भगवान और उनके सन्त की अपने पर पूर्ण दया हो जाती है. इस प्रकार, जब हरि तथा उनके भक्तों की जिस पर दया होती है, तब उसके हृदय में अतिशय सुखानुभूति होती है और कल्याण-मार्ग पर चलने की सामर्थ्य भी बढ़ जाती है. तब उसके काम, क्रोध, लोभादिक शत्रुओं की शक्ति क्षीण हो जाती है. जिसके हृदय में जो शत्रु अत्यधिक पीड़ा पहुँचाता हो, उसके साथ अगर जोरदार वैरभाव रखा जाय तो परमेश्वर उसकी सहायता करते हैं. इसलिये, अपने कामादिक शत्रुओं के साथ वैरभाव रखना सर्वथा उचित रहता है. अपने आन्तरिक शत्रुओं के साथ वैर करने में अत्यधिक लाभ होता है.'

भगवदानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! भगवान का भय पास में बैठे रहने पर जैसा रहता है, वैसा का वैसा ड़र दूर जाने पर भी बना रहता है, इस बात को किस प्रकार समझा जा सकता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान का माहात्म्य यदि पूर्ण रूप से समझ लिया जाय तो भगवान की जो मर्यादा पास में रहने पर बनी रहती है, वही दूर जाने पर भी रह सकती है. वह माहात्म्य इस प्रकार समझना चाहिये कि 'अक्षरातीत पुरुषोत्तम भगवान की इच्छा से अनन्तकोटि ब्रह्मांडों की उत्पत्ति होती है और वे उन ब्रह्मांडों को अपनी शक्ति द्वारा धारण कर रहे हैं. वे भगवान व्यतिरिक्त रहते हुए भी सब में अन्वयभाव से रहे हैं. वे अन्वय होते हुए भी व्यतिरेक हैं. वे भगवान जैसे प्रत्यक्षप्रमाण हैं, ऐसे स्वरूप में वे अणु-अणु में अन्तर्यामी रूप से विराजमान हैं. न भगवान की इच्छा के बिना एक तृण (तिनका) भी हिलने-डुलने में समर्थ नहीं हो पाता तथा अनन्तकोटि ब्रह्मांडों में जो उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है, उनमें जीवों के साथ सुखदुःखों का सम्बन्ध भी होता है. यह समस्त कार्यकलाप पुरुषोत्तम भगवान के हाथ में रहता है. भगवान जितना कुछ करना चाहते हैं उतना ही होता है. ऐसे शक्तिसम्पन्न भगवान जीवों के कल्याण के लिये पृथ्वी पर पधारते हैं. जब वे स्वयमेव घोड़े पर चढ़ने के लिये उद्यत होते हैं, तब घोड़ा भगवान को ऊपर उठा लेता है, परन्तु ये तो घोड़े के भी आधार हैं. जब वे पृथ्वी पर बैठे हों तो ऐसा लगता है कि पृथ्वी भगवान को धारण कर रही है, परन्तु ये तो स्वयमेव स्थावर-जंगम सहित समग्र पृथ्वी को धारण कर रहे हैं. जब रात्रि होती है तब चन्द्रमा, दीपक या मशाल तथा दिन में सूर्य के

प्रकाश से भगवान के दर्शन होते हैं, परन्तु भगवान तो स्वयं ही सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि को प्रकाश प्रदान करते हैं. उनमें ऐसी अद्‌भुत सामर्थ्य है, फिर भी वे जीवों के कल्याण के लिये, मनुष्याकार होकर दर्शन देते हैं. इस प्रकार माहात्म्य समझना चाहिये. तब जैसी मर्यादा पास में रहने पर रहती है, वैसी ही दूर जाने पर भी रह सकती है.'

भगवदानन्द स्वामी ने पुनः दूसरा प्रश्न पूछा कि 'भगवान के किये बिना कुछ भी नहीं होता, सब भगवान का ही किया हुआ होता है, तब भगवान अपने भक्त के समक्ष उपस्थित होनेवाले अशुभ देशकालजन्य दुःखों को क्यों नहीं टालते और उन्हें टालने के मंसूबे क्यों बाँधते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान जब मनुष्यदेह धारण करते हैं तब उनकी यही रीति रहती है कि वे 'मनुष्य के सदृश समस्त व्यवहार करें, परन्तु अपनी अलौकिक सामर्थ्य को प्रकट नहीं करें.' इस प्रकार, सभी शास्त्रों में भगवान की लीलाएँ बतायी गयी हैं. इसलिये, जब भगवान कुछ नयी लीलाएँ करें तो संशय करियेगा, किन्तु जहाँ तक वे पूर्व अवतारों जैसी लीलाएँ करें वहाँ तक किसी भी प्रकार का संदेह नहीं करना चाहिये.'

निर्मलानन्द स्वामी ने पूछा कि 'किस प्रकार समझने से प्रभु के सन्त की महिमा अच्छी तरह विदित हो सकती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान के मत्स्य, कच्छ, वराह, वामन, परशुराम तथा रामकृष्णादि अनेक अवतारों की महिमा पर विचार करना चाहिये कि 'जिन भगवान ने रामकृष्णादि अवतारों द्वारा असंख्य जीवों का उद्धार किया है उनके ये सन्त हैं और उनके साथ मेरा यह समागम हुआ है, उसके लिये मैं भी बड़ा सौभाग्यशाली हूँ.' इस प्रकार मनन करने से सन्त की महिमा दिन-प्रतिदिन बहुत अच्छी तरह मालूम होती रहती है.'

नारायणानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण, इन तीनों रूपों में जीव देह में अन्वय एवं व्यतिरेक भाव से किस प्रकार रहता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब देह में सुखदुःखों का योग होता है, तब जीव अपने में जब इनके (सुखदुःखों के) अस्तित्व को मान लेता है तब वह अन्वयभाव से रहता है, और जब जीव स्वयं को इन तीनों देहों के सुखदुःखों से भिन्न समझता है तब वह व्यतिरेक भाव से रहता है.'

शून्यातीतानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'जब पुरुष सत्संग करता है तब तो सन्त तथा सत्संगी में अत्यन्त स्नेह हो जाता है और उसके पश्चात् उसमें कमी क्यों हो जाती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'प्रथम तो सन्त में उसकी अलौकिक मति रहती है और बाद में वह सन्त का अल्पदोष देखकर अपनी कुबुद्धि द्वारा अधिक दोष देखने की चेष्टा करता है. इस कारण उसकी कुवासना हो जाती है, जिसके फलस्वरूप सन्त के प्रति विद्यमान भाव में न्यूनता हो जाती है. इसलिये, यदि वह विवेकपूर्वक कुवासना को टाल दे तो पहले-जैसा शुद्ध हो जाता है, फिर भी उसने यदि कुवासना को समाप्त नहीं किया तो अन्त में वह विमुख हो जाता है.'

प्रसादानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जीव के लिये मोक्ष का क्या[१] उद्देश्य है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस प्रकार सन्त कहें उसी तरह निःसंशय होकर कार्य करना चाहिये. यही जीव के मोक्ष का उद्देश्य है.'

त्रिगुणातीतानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'जहाँ देश, काल, क्रिया और संग की विषमता रहे तब वहाँ कैसा उपाय करना चाहिये ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'देशादिक के विषम होने पर उनसे छुटकारा पाने का यही उपाय है कि वहाँ से जिस-किसी भी तरह भाग कर स्वयं को मुक्त कर लेना चाहिये.'

छोटे निर्विकारानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'यद्यपि भगवान सम्बन्धी निश्चय तो है, फिर भी कुवासना की समाप्ति क्यों नहीं होती ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जीव ने भगवान का माहात्म्य यथार्थ रूप से नहीं समझा, इसलिये उसकी अशुभवासना टलती नहीं है.'

बड़े योगानन्द स्वामी ने पूछा कि 'यद्यपि 'भगवान के सम्बन्ध में निश्चय परिपूर्ण है, फिर भी भगवान तथा उनकी कथा में रुचि उत्पन्न क्यों नहीं होती ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान का जैसा माहात्म्य है, वैसा इस जीव की समझ में नहीं आया. यदि भगवान का माहात्म्य यथार्थ रूप से समझ लिया जाय तो भगवान के सिवाय दूसरे से स्नेह रखने पर भी नहीं रहता.

---

१. मुख्य.

तब एकमात्र भगवान, उनके सन्त तथा भगवत्कथा-कीर्तन में ही उसकी प्रीति अचल हो जाती है.'

प्रतोषानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान की भक्ति किस प्रकार अचल रह सकती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'चतुर्व्यूह अर्थात् अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण एवं वासुदेव तथा केशवादिक चौबीस मूर्तियों और वराहादि अवतारों के कारण जो प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम भगवान हैं, उनकी महिमा को जो पुरुष बहुत अच्छी तरह समझ लेता है उसके लिये भगवान की श्रवणादिक नवधा भक्ति अचल हो जाती है.'

इस प्रकार, समस्त मुनियों के प्रश्नों का उत्तर देने के पश्चात् श्रीजीमहाराज ने सबसे पूछा कि 'काम, क्रोध तथा लोभ, ये तीनों ही नरक के द्वार है. इनमें से जिसको जिसने अधिकाधिक जीत लिया हो, उसके सम्बन्ध में आप सब बतायें.'

तब, जिनको जिस बात की अतिशय दृढ़ता रही उसके अनुसार उन्होंने उसका उत्तर दिया. उन मुनियों के वचनों को सुनकर श्रीजीमहाराज अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा उन्होंने आत्मानन्द स्वामी, योगानन्द स्वामी, भगवदानन्द स्वामी और शिवानन्द स्वामी को प्रसन्नतापूर्वक हृदय में अपने चरणारविन्द प्रदान किये और तब वे इस प्रकार बोले कि 'जैसे महानुभावानन्द स्वामी आदि जो बड़े साधु हैं, उनके साथ ये चार साधु भी हैं. इसलिये, इनका किसी के भी द्वारा अपमान नहीं करने देना चाहिये.' इस प्रकार मुक्तानन्द स्वामी आदि बड़े साधुओं को आदेश देकर श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपन ठहरने के स्थान पर भोजन करने के लिये, पधारे.

॥ इति वचनामृतम् ॥७८॥

॥ श्रीगढडा-प्रथमप्रकरणं समाप्तम् ।

।। श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ।।

श्रीसारंगपुर प्रकरण के वचनामृत

वचनामृत १ : पंचविषयों के परित्याग से मन पर विजय

संवत् १८७७ में श्रावण कृष्ण *पंचमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीसारंगपुर ग्राम-स्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'जितं जगत् केन मनो हि येन' इस[१] श्लोक में यह कहा गया है कि जिसने अपने मन को जीत लिया है, उसने समस्त जगत पर विजय प्राप्त कर ली है. 'यह कैसे प्रतीत हो सकता है कि [२]मन को जीत लिया गया है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध नामक पंचविषयों में से जब इन्द्रियाँ पीछे हट जाती हैं और किसी भी विषय को प्राप्त करने की इच्छा नहीं रह जाती तब समस्त इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं. जब इन्द्रियाँ विषयों का स्पर्श ही नहीं करती हैं तब मन भी इन्द्रियों तक नही पहुँचता और हृदय में ही बना रहता है. इस प्रकार, जिसने पंचविषयों का परित्याग अत्यन्त दृढ़ता के साथ कर दिया है, तब उसके मन को जीता हुआ मान लेना चाहिये. यदि विषयों से कुछ लगाव है तो विजित मन को भी नहीं जीता गया समझना[३] चाहिये.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'विषयों की निवृत्ति होने का कारण

---

* मंगलवार, २८ अगस्त, १८२०.

१. मणिरत्नमाला के

२. भागवत में प्रह्लादजी ने हिरण्यकश्यप से भी 'दस्यून्पुरा षण्णविजित्य लुम्पतो मन्यन्त एके स्वजिता दिशो दश,' इत्यादि कहा है.

३. 'यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः इस श्लोक से आरम्भ करके 'तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः' इसे श्लोकपर्यन्त गीता के श्लोकों के अर्थ पर ध्यान देना चाहिये.

वैराग्य है या परमेश्वर के प्रति प्रीति [1] है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'विषयों की निवृत्ति का एक कारण आत्मनिष्ठा तथा अन्य कारण माहात्म्यसहित भगवान सम्बन्धी ज्ञान है. उनमें[2] आत्मनिष्ठा का यह अर्थ है कि 'मैं चैतन्य हूँ, देह जड़ है, मैं शुद्ध हूँ, देह नरकरूप है, मैं अविनाशी हूँ, देह नाशवान है तथा मैं आनन्दरूप हूँ और देह दुःखरूप है.' इस तरह जब जीव देह से अपनी आत्मा को समस्त प्रकार से अतिशय विलक्षण समझ लेता है, तब देह को अपना रूप मानकर विषयों से प्रीति नहीं करता. इस प्रकार, आत्मज्ञान द्वारा विषयों की निवृत्ति हो जाती है. भगवान की महिमा तो इस प्रकार समझनी चाहिये कि 'मैं आत्मा हूँ और जो प्रत्यक्ष भगवान मिले हैं, वे परमात्मा हैं. गोलोक, वैकुंठ, श्वेतद्वीप, ब्रह्मपुर तथा अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के अधिपति जो ब्रह्मादि देव हैं, उन सबके स्वामी श्रीपुरुषोत्तम भगवान मुझे प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त हुए हैं, वे मेरी आत्मा में भी अखंडरूप से विराजमान हैं. उन भगवान के निमेषमात्र के दर्शन पर अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के सुखों को मोड़-बटोर कर फेंक देना चाहिये. भगवान के एक रोम में जितना सुख समाया हुआ है, उतना सुख अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के विषयसुखों को इकट्ठा करने पर भी उनकी कोटि के एक भाग के बराबर भी नहीं होता. भगवान के अक्षरधाम की तुलना में अन्य देवताओं के लोकों को [3] मोक्षधर्म में नरकतुल्य बताया गया है. ऐसे भगवान मुझे प्रकट रूप से मिले हैं, तब उन्हें छोड़कर नरककुंड जैसे विषयसुखों की इच्छा क्यों करूँ ? विषयसुख तो केवल दुखःरूप ही है.

इस प्रकार भगवान के माहात्म्य को जानकर विषयों से निवृत्ति होती है. ऐसे आत्मज्ञान तथा परमात्मा सम्बन्धी [4] ज्ञान से जो वैराग्य प्रकट होता है, उसके द्वारा समस्त विषयसुखों की वासना निवृत्त हो जाती है. जिसने

---

१. स्वधर्म का भी उपलक्षण जान लेना चाहिये.

२. जिनमें आत्मनिष्ठा रहती है, उनमें वैराग्य भी सहज रूप से ही आ जाता है, और जिन्हें माहात्म्य-ज्ञान सिद्ध हो जाता है, उनमें स्वधर्म और प्रीति भी आ जाती है. इसलिये, आपके द्वारा बताये गये तीन साधनों की अपेक्षा आत्मनिष्ठा तथा माहात्म्य-ज्ञान ही विषयों की निवृत्ति होने में अत्यन्त उत्कृष्ट साधन है.

३. 'स्थानानि निरया एव स्थानस्य परमात्मनः', इस श्लोक में कहा गया है.

४. माहात्म्यज्ञान.

इस प्रकार समझकर विषयसुखों का परित्याग कर दिया है, उसे पुनः विषयों में प्रीति रहती ही नहीं है. ऐसे पुरुष का मन ही जीत लिया गया कहलाता है. इस प्रकार के [1]'ज्ञान के बिना यदि अधिक स्नेह दीखता हो, तो ऐसा मनुष्य किसी अच्छे विषय की प्राप्ति होने पर भगवान को त्याग कर इस विषय में प्रीति करने लगता है अथवा पुत्रकलत्रादि से प्रेम करता है या रोगादि सम्बन्धी पीड़ा होती है अथवा पंचविषयों का सुख मिट जाता है. तब भगवान से प्रीति नहीं रहती और व्याकुल हो जाता है. जैसे कुत्ते का पिल्ला जब छोटा रहता है तब सुन्दर दिखायी पड़ता है, वैसे ही ऐसे पुरुष की भगवद्भक्ति भी पहले अच्छी दीख पड़ती है, परन्तु अन्त में शोभनीय[2] नहीं रहती.' ॥ इति वचनामृतम् ॥१॥ ॥७९॥

वचनामृत २ : भगवान की मूर्ति में स्नेह

संवत् १८७७ में श्रावण कृष्ण *षष्ठी को श्रीजीमहाराज श्रीसारंगपुर ग्राम स्थित जीवाखाचर के उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में बिछे हुए पलंग पर उत्तर की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उन्होंने मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी, सफेद पिछौरी ओढ़ी थी और श्वेत दुपट्टा धारण किया था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज मुनियों से बोले कि 'आप आपस में प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ करिये.' स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि [3]'भगवान के भक्त को भगवान की मूर्ति में अतिशय स्नेह किस प्रकार होता है ?' मुनिजन इस प्रश्न का उत्तर परस्पर देने लगे, परन्तु यथार्थ उत्तर इनमें से कोई भी न दे सका.

बाद में श्रीजीमहाराज इस प्रश्न का उत्तर देने लगे कि 'स्नेह तो रूप, काम, लोभ, स्वार्थ तथा गुण द्वारा भी होता है. उनमें रूप द्वारा जो स्नेह

---

* बुधवार, २९ अगस्त, १८२०.

१. आत्मनिष्ठा तथा माहात्म्यज्ञान के बिना.

२. आत्मनिष्ठा तथा माहात्म्यज्ञानवर्जित स्वधर्म भी शोभनीय नहीं लगता, यह भी जान लेना चाहिये.

३. प्रत्यक्ष.

उत्पन्न होता है, वह देह में पित्त अथवा कोढ़ निकलने पर नष्ट हो जाता है. इसी प्रकार लोभ, काम और स्वार्थ द्वारा उत्पन्न हुए [1]स्नेह का भी [2]अन्त में नाश हो जाता है. फिर भी, गुण[3] द्वारा जो स्नेह हुआ है, वह तो अन्त तक रहता[4] है.'

तब श्रीजीमहाराज से सोमला खाचर बोले कि 'ये गुण कौन-से हैं, बाह्य अथवा [5]आन्तरिक ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'बाह्य गुणों से क्या [6]होता है ? वचन, देह और मन द्वारा उत्पन्न गुणों के जरिये जो स्नेह हुआ हो, उसका नाश नहीं होता. क्या आप 'केवल यही पूछते हैं कि उस भक्त को भगवान से स्नेह होता है अथवा यह भी पूछते हैं कि भगवान को भक्त से स्नेह होता है ?' स्वयं-प्रकाशानन्द स्वामी बोले कि 'हम ये दोनों ही प्रश्न पूछते हैं.'

श्रीजीमहाराज विस्तारपूर्वक वार्ता कहने लगे कि 'वचन द्वारा किसी भी जीव और प्राणिमात्र को दुःखित नहीं करना चाहिये. जब परमेश्वर और महान सन्त के बीच प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम चल रहा हो, उसीके दरम्यान उनमें यदि आपस में वादविवाद होता हो और ऐसा लगता हो कि अपनी जीत हो जायगी, तो भी कम आयुवाले को बड़ों के सामने स्वयं विनयावनत हो जाना चाहिये. ऐसा आचरण भी नहीं करना चाहिये, जिससे अपने से बड़े सन्त को सभा में प्रश्नोत्तर के समय लज्जित होना पड़े. महान सन्त और परमेश्वर के सामने स्वयं को अवश्यमेव पराजित हो जाना चाहिये. परमेश्वर और महान सन्त यदि अपने प्रति कोई उचित अथवा अनुचित वचन कहें तो उसे स्नेहपूर्वक तत्काल मान लेना चाहिये. यदि उचित वचन हो, तो उस पर कोई आशंका हो ही नहीं सकती. फिर भी, यदि उन्होंने कोई अनुचित

---

१. अपने-अपने उद्देश्य की सिद्धि न होने पर.

२ भगवान के सत्य, शुचिता आदि गुणों के दर्शन करके.

३. भगवान को भी भक्तों से जो स्नेह होता है, वह भी गुणों के कारण ही होता है. जिसने उन गुणों को अपना लिया है, उस पर भगवान को दृढ़ स्नेह हो जाता है और उन भक्तों को भी भगवान से दृढ़ प्रीति हो जाती है.

४. व्यावहारिक क्रिया में कुशलता आदि लौकिक है.

५. स्वधर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि अलौकिक.

६. ऐसे गुण तो विमुख में भी होते हैं, परन्तु भगवान के प्रति उसका स्नेह होता ही नहीं है. इसलिये, वे गुण भगवान से स्नेह रखने में कारण नहीं बनते.

वचन भी कह दिया हो और उस पर आशंका हो तो भी उनके समक्ष उसके सम्बन्ध में इन्कार न करके अपनी सहमति ही प्रकट कर देनी चाहिये कि हे 'महाराज ! आप जैसा कहेंगे, वैसा ही मैं करूँगा.' यदि वह वचन स्वयं के लिए स्वीकार्य न हो, किन्तु परमेश्वर और बड़े सन्त उस पर सहमत हों तो उनके सामने हाथ जोड़कर भक्तिसहित यह निवेदन करना चाहिये कि 'हे महाराज ! आपने जो वचन कहा है वह ठीक तो है, परन्तु उसमें मुझे इतनी आशंका बनी हुई है.' इस प्रकार दीनतापूर्वक अपना मन्तव्य प्रकट करना चाहिये. यदि परमेश्वर की मरजी न हो, तो उनके निकट रहनेवाले महान सन्त तथा हरिभक्तों को इस बात से अवगत करा देना चाहिये कि 'परमेश्वर ने ऐसा वचन कहा है, वह मेरे लिये स्वीकार्य नहीं है.' इसके पश्चात् बड़े सन्त यदि इसका निराकरण करें तथा परमेश्वर की सेवा में निवेदन करके इस वचन का समाधान करावें, तो भी परमेश्वर के कहे गये वचन को मानने से इन्कार नहीं करना चाहिये, भले ही वह उचित हो या अनुचित इस प्रकार की युक्ति द्वारा बड़ों के वचन को ऊँचा उठा रखना चाहिये, परन्तु उसे मानने से तत्काल अस्वीकार नहीं करना चाहिये. इस प्रकार, वचनरूपी गुण द्वारा बर्ताव करना चाहिये. इसके बाद, उस भक्त के प्रति परमेश्वर तथा महान सन्त का स्नेह होता है. इसी तरह, भक्त को भी भगवान से दृढ़ स्नेह हो जाता है.

अब देह सम्बन्धी गुण द्वारा कैसा आचरण[१] करना चाहिये, यह बताते हैं. यदि अपने शरीर में किसी प्रकार की उन्मत्तता दिखायी पड़े तो भजन करने के लिये बैठ जाना चाहिये अथवा चांद्रायण व्रत द्वारा देह को दुर्बल कर डालना चाहिये. उसे देखकर यदि बड़े सन्त अथवा परमेश्वर भले ही उसकी शारीरिक स्थिति पर ध्यान देते रहें, परन्तु स्वयं जानबूझकर, अपनी देह को व्यवस्थित रखने के लिये कोई भी यत्न नहीं करना चाहिये. फिर भी, अपनी देह द्वारा भगवान और उनके भक्तों की सेवा-सुश्रूषा करते रहना चाहिये. इस प्रकार, जब वह पुरुष अपने दैहिक गुण द्वारा आचरण करने लगता है, तब उसे देखकर परमेश्वर और बड़े सन्त का उससे स्नेह हो जाता है और भक्त को भी भगवान से प्रीति हो जाती है.

---

१ भगवान और उनके एकान्तिक साधुओं द्वारा निषिद्ध हिंसा, चोरी आदि कर्मों को देह द्वारा कभी भी नहीं करना चाहिये, और.

अब, मानसिक गुण द्वारा व्यवहार करने की रीति बताते हैं. परमेश्वर[१] के दर्शन करते समय अपने मन और दृष्टि को एकाग्र रखना चाहिये. ऐसा करके ही उनके दर्शन करने चाहिये. यदि वह भक्त परमेश्वर के दर्शन करते समय वहाँ आये हुए किसी मनुष्य अथवा श्वान या किसी अन्य पशु-पक्षी को देखने के लिये उनमें से अपना ध्यान हटाकर इधर-उधर नीची दृष्टि करके साथ में उनको भी देखता जाता है, तो ऐसी विचलित दृष्टिवाले पुरुष को देखकर परमेश्वर तथा बड़े सन्त प्रसन्न नहीं होते. यह पुरुष भगवान के दर्शन किस प्रकार करता है ? अन्य मनुष्यो के समान ही यह पुरुष भी भगवान के दर्शन करता है. लौकिक दृष्टिवाले ऐसे पुरुष को तो उस गिलहरी के समान समझना चाहिये, जो बोलने के साथ ही पूँछ को भी ऊँचा कर लेती है. ऐसा पुरुष तो भगवान के दर्शनों के साथ-साथ अन्य वस्तुओं को भी देखता जाता है. जब यह ऐसे लौकिक दर्शन करने लगता है तब उसकी पहली-जैसी स्थिति नहीं रहने पाती. उसकी यह स्थिति दिन-प्रतिदिन बदलती रहती है. इसलिये, परमेश्वर के दर्शन करते समय इधर-उधर अपनी दृष्टि नहीं डालनी चाहिये.

परमेश्वर के सर्वप्रथम नवीन दर्शन होते समय हृदय में जैसी अलौकिकता रही हो, वैसी की वैसी अलौकिकता मन में भी बनी रहनी चाहिये तथा एक ही दृष्टि से मूर्ति को देखते रहना चाहिये और दृष्टि को पलटकर अपने अन्तःकरण में उसी मूर्ति को उतार लेना चाहिये. जैसे धर्मपुर में कुशल कुंवरबाई थीं, वे हमारे दर्शन करती जाती थीं और दृष्टि को पलटकर मूर्ति को अपने अन्तःकरण में उतार लेती थीं. वैसे दर्शन तो मनोयोगपूर्वक दृष्टि को एकाग्र रखकर करने चाहिये, परन्तु दूसरों की तरह दर्शन नहीं करने चाहिये. यदि परमेश्वर के दर्शनों के साथ-साथ मनुष्य अथवा कुत्ते और बिल्ली को भी देखा जायगा, तो उसे स्वप्नावस्था में परमेश्वर भी दिखायी पड़ते हैं तथा ये अन्य तत्त्व भी दीख पड़ते हैं. इसलिये, परमेश्वर के दर्शन चपल दृष्टि से नहीं, बल्कि एक ही दृष्टि से करने चाहिये. परमेश्वर के दर्शन दृष्टि को नियन्त्रित करके किये जाते हैं.

---

१. भगवान के दर्शन, भगवत्कथा-श्रवण, ध्यान तथा पूजा आदि कर्मों में एकाग्रता को (अन्य संकल्पों का परित्याग करने से रहनेवाली अव्याकुलता को) मन का भाव बताया गया है, उसमें.

उसके लिये तो दर्शन बिल्कुल नवीन ही रहते हैं तथा परमेश्वर के कहे गये वचन भी पूर्णतः नवीन बने रहते हैं. यदि लौकिक बाह्य दृष्टि से दर्शन किये हों, उसके लिये परमेश्वर के दर्शन तथा वचन पुराने हो जाते हैं. यद्यपि वह दर्शन तो प्रतिदिन किया करता है, परन्तु ऐसे पुरुष के लिये ये दर्शन नहीं किये गये ही रहते हैं. जब वह भजन करने के लिये बैठता है तब उसका मन स्थिर नहीं रहता और वह अनेक विचारधाराओं से युक्त रहता है. जब वह परमेश्वर का ध्यान करता है तब उनके साथ-साथ दूसरे जो-जो भी दर्शन किये गये हैं, उनकी स्फुरणा भी हृदय में अचिन्तित रूप से ही होने लगती है.

इसलिये, एकमात्र परमेश्वर के ही दर्शन करने चाहिये. जो पुरुष ऐसे दर्शन करते हैं, उनका मन भजन एवं स्मरण करते समय केवल परमेश्वर में ही लगा रहता है, परन्तु मन बहुविचारधारायुक्त नहीं होता, उसकी तो एक ही विचारधारा रहती है. जो चपल दृष्टि से दर्शन करते हैं उन्हें मैं जानता हूँ. दृष्टि और मन को नियन्त्रण में रखनेवाले बड़े सन्त भी यह जान लेते हैं कि 'यह तो लौकिक दर्शन करता है' लौकिक दर्शन करनेवाला वह पुरुष बाद में दिन-प्रतिदिन इस सत्संग में से हटता जाता है. जैसे कोई कामी पुरुष अपनी रूपवती स्त्री में ही एकाग्रतापूर्वक दृष्टि को लगाये रखता है और उस समय बीच में अगर कोई पशु-पक्षी आता जाता या बोलता है, तो भी उसको उसकी सुध नहीं [1]रहती, इस प्रकार एकाग्र दृष्टि द्वारा परमेश्वर से अपने मन को तन्मय रखना चाहिए, परन्तु लौकिक दर्शन नहीं करने चाहिये.'

निर्विकारानन्द स्वामी ने आशंका प्रकट की कि 'हे महाराज ! हमें तो देशभर में स्थान-स्थान पर मनुष्यों के समक्ष वार्ता करनी पड़ती है, उस कारण मन की एकाग्रता भी नहीं रहती.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जनसमूह के समक्ष वार्ता करने की आज्ञा तो हमने दे रखी है, किन्तु यहाँ मूर्ति के दर्शनों को छोड़कर अन्य दर्शन करने की अनुमति हमने किस दिन दी ?' इतना कहने के पश्चात् वे पुनः वार्ता करने लगे कि 'यदि परमेश्वर में मन सहित अपनी दृष्टि को लगाये रखा[2]

---

१. इस स्थल पर दत्तात्रेय मुनि द्वारा गुरुभाव से स्वीकृत इषुकार की कथा पर ध्यान देना चाहिये.

२. इस प्रकार श्रवण, पूजन तथा ध्यानादि में भी मन की एकाग्रता रखनी चाहिये, क्योंकि मन की एकाग्रता के बिना श्रवण, पूजन और ध्यानादि विधिवत् करने पर भी शास्त्रोक्त फल प्रदान करनेवाले नहीं होते.

जाय तो मूर्ति के प्रथम दर्शन के समय जैसी अलौकिकता रही थी वैसी अलौकिकता फिर भी रह सकती है. इस प्रकार यदि मन के भाव द्वारा बर्ताव किया जाय तो उस भक्त पर भगवान का नित्य ही नवीनतन स्नेह बना रहता है. इसी तरह, भक्त को भी भगवान से नित्य ही अभिनव स्नेह बना रहता है.

[1]नेत्रों और श्रोत्रेन्द्रिय को तो विशेष रूप से नियमित रखना चाहिये. इसका कारण यह है कि जहाँ-जहाँ लौकिक वार्ता होती हो, उसे यदि श्रोत्रेन्द्रिय की वृत्ति द्वारा आकृष्ट होकर सुना जाय, तब इन समस्त लौकिक शब्दों की स्मृति भजन करते समय आ जाती है. इसी प्रकार, अनियन्त्रित नेत्रवृत्ति द्वारा जो-जो रूप देखे गये हों, उन सबका स्मरण भी भजन करने की स्थिति में हो आता है. इसलिये, इन दोनों इन्द्रियों को कठोरतापूर्वक नियमबद्ध रखना चाहिये. मूर्ति के दर्शन करते समय जब नेत्र एवं श्रोत्रेन्द्रिय की वृत्ति मूर्ति के दर्शनों को छोड़कर दूसरी ओर आकृष्ट हो जाती है, तब इन दोनों इन्द्रियों को यह उपदेश देना चाहिये कि 'हे मूर्ख इन्द्रिय ! तू भगवान की मूर्ति को छोड़कर अन्य रूपों को देखती है या परमेश्वर की वार्ता का त्याग करके दूसरी बात को सुनती है, उससे तुझे क्या मिल जायगा ? अभी तेरी ऐसी सिद्धदशा तो नहीं हो पायी है कि जैसा चिन्तन करे, उसका फल तुझे तत्काल मिल जाय. इसका कारण यह है कि अभी तो तू मात्र साधक ही है. इसीलिए, जिस विषय का तू चिन्तन करेगी, उसकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी. व्यर्थ की लालसा करके तू परमेश्वर को क्यों छोड़ रही है ? यदि तुझे कोई अल्प विषय प्राप्त हो भी गया तो उसके पाप के कारण यमपुरी जाना पड़ेगा और वहाँ तुझे इतना मारा-पीटा जायगा कि उसका अन्त ही नहीं आयगा.' इस प्रकार, नेत्रेन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय को उपदेश देना चाहिये.

फिर, उस जीव को इस तरह संबोधित करना चाहिये कि 'जब तू भगवान की मूर्ति में एकाग्र हो जायगा, तब उसमें से सिद्धदशा को प्राप्त होगा. इसके पश्चात्, तू ब्रह्मांडों में होनेवाली विभिन्न वार्ताओं को सहज भाव से सुन सकेगा. यदि तू ब्रह्मा, विष्णु और शिवसदृश रूप को प्राप्त

---

१. समस्त इन्द्रियों के मध्य मन को विशिष्ट रूप से जहाँ-तहाँ आकृष्ट करनेवाले.

करने की इच्छा करेगा, तो तुझे इच्छित रूप भी मिल जायगा. यदि तू लक्ष्मी या राधिका-जैसा भक्त होने की कामना करेगा, तो वैसा ही हो जायगा. यदि तू अपने जीवन-पर्यन्त भगवान का भजन करते-करते सिद्धदशा को न पा सका, तो देह छोड़ने के बाद मुक्त होने पर सिद्धदशा मिल जायगी, किन्तु सिद्धदशा प्राप्त हुए बिना यदि तू लौकिक अथवा स्त्रियों आदि के रूप को देख-देखकर भी मर जायगा, तो भी तुझे वह रूप नहीं मिल पायगा. यदि तू लौकिक शब्दों को सुन-सुनकर भी मर जायगा, तो भी उनसे बुद्धि तो अत्यन्त भ्रष्ट हो ही जायगी, परन्तु उसमें से कुछ भी प्राप्ति नहीं होगी.' इस प्रकार, नेत्रेन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय को उपदेश देकर, एकमात्र भगवान की मूर्ति में ही अपना ध्यान रखना चाहिये. जो पुरुष [१]इस तरह आचरणशील रहता है, उसे भगवान की मूर्ति के प्रति दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक स्नेह हो जाता है. उस भक्त पर परमेश्वर तथा साधु का स्नेहभाव बना रहता है. उससे वह प्रतिदिन इस मार्ग पर आगे बढ़ता ही जाता है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥२॥ ॥८०॥

वचनामृत ३ : श्रवण-मनन और निदिध्यास

संवत् १८७७ में श्रावण शुक्ल *सप्तमी को सायंकाल[२] श्रीजीमहाराज श्रीसारंगपुर ग्राम-स्थित जीवाखाचर के राजभवन में कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने सिर पर श्वेत पाग बाँधी थी, काले पल्ले का दुपट्टा धारण किया था और श्वेत परिधान पहना था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज! एक भक्त तो नाना प्रकार की पूजा-सामग्री[३] लेकर प्रत्यक्ष भगवान का पूजन करता है, जबकि अन्य भक्त नाना प्रकार के मानसिक उपचारों द्वारा भगवान की मानसी पूजा करता है. कृपया बताइये कि इन दोनों भक्तों में कौन श्रेष्ठ है.'

---

* गुरुवार, ३० अगस्त, १८२०.

१. वचन, देह तथा मन के भावों द्वारा.

२. जब ६ घड़ी दिन बाकी रहा था, तब.

३. चन्दनपुष्पादि.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो पुरुष भगवान के प्रेम में अतिरोमांचितगात्र होकर गद्गद कंठ से भगवान की प्रत्यक्ष[१] पूजा करता है, अथवा इस प्रकार भगवान का मानसिक पूजन करता है, तो ये दोनों ही श्रेष्ठ हैं. यदि भगवत्प्रेम में रोमांचितगात्र तथा गद्गद कंठ हुए बिना जो पुरुष केवल शुष्क मन से प्रत्यक्ष भगवान का पूजन करता है और मानसी पूजा करता है, उसमें न्यूनता ही रहती है.'

सोमला खाचर ने पूछा कि 'इस प्रकार प्रेममग्न होकर जो भक्त प्रत्यक्ष भगवान की पूजा करता हो अथवा मानसिक पूजन करता हो, उसे किन लक्षणों द्वारा परखा जाना चाहिये ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस भक्त को भगवान की [२]पूजा-सेवा[३], कथा-वार्ता तथा कीर्तन में अतिशय श्रद्धा हो और भगवान के माहात्म्य को पूर्णतः समझता हो, ये दोनों बातें दिन-प्रतिदिन बिल्कुल नयी रहती हों, किन्तु कभी भी गौण न पड़ती हों उसे श्रेष्ठ भक्त कहा जा सकता है. जैसे मुक्तानन्द स्वामी को हमने पहली बार लोजपुर में देखा था, उनमें जैसी श्रद्धा और भगवान के माहात्म्य का ज्ञान रहा था, वह आज तक पूर्ण रूप से नया बना हुआ है, परन्तु वह गौण नहीं पड़ा. इन दोनों लक्षणों द्वारा उस भक्त को परखना चाहिये. ऐसे माहात्म्य तथा श्रद्धा के बिना ही समस्त यादव[४] श्रीकृष्ण भगवान के साथ रहते थे और दूसरे राजा की सेवा-चाकरी की भाँति उनकी सेवा-चाकरी करते थे तो भी कोई उनके नाम नहीं जानता और वे भक्त भी नहीं कहलाये. उधर, उद्धवजी श्रीकृष्ण भगवान की श्रद्धा एवं माहात्म्य सहित सेवा-चाकरी करते थे, तो वे परम भागवत कहलाये. इसीलिये, शास्त्रों तथा संसार में उनकी भारी ख्याति बनी हुई है.'

निर्विकारानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! श्रवण, मनन, निदिध्यास तथा साक्षात्कार किसे कहा जाता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'श्रोत्रों (कानों) द्वारा वार्ता सुनने को श्रवण कहा

---

१. चन्दनपुष्पादि द्वारा.

२. चन्दनादि उपचार से.

३. चरण दबाने आदि.

४. यह अर्थ भागवत के इस श्लोक से बताया गया है कि 'दुर्भगो बतलोकोऽयं यदवो नितरामपि । ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम् ।'

जाता है. सुनी गयी वार्ता पर मानसिक रूप से विचार करने, जितनी वार्ता का त्याग करना हो उतनी छोड़कर उसके ग्राह्य अंश को ग्रहण करना मनन कहलाता है, जो वार्ता निश्चयात्मक रूप से मन में ग्रहण की गयी हो, उसे रात-दिन स्मरण करने के अभ्यास को निदिध्यास कहा जाता है. जो वार्ता जैसी हो उसका उसी रूप में चिन्तन किये बिना भी मूर्तिमानसदृश पूर्णतः स्मरण होने की बात को साक्षात्कार कहते हैं. यदि आत्मा के स्वरूप का इस प्रकार श्रवणादि किया गया हो, तो आत्मस्वरूप का इस तरह साक्षात्कार हो जाता है. इस प्रकार यदि भगवान की कथा का [१]श्रवण, मनन और निदिध्यास किया हो, तो इस तरह भगवान का साक्षात्कार हो जाता है. परन्तु, मनन एवं निदिध्यास किये बिना केवल श्रवण द्वारा ही साक्षात्कार नहीं होता. यदि भगवान के स्वरूप का दर्शन करने के पश्चात् उसका मनन तथा निदिध्यास न किया हो, तो एक लाख वर्षों तक दर्शन करते रहने पर भी उस स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो पाता. वह दर्शन तो केवल श्रवणमात्र जैसा कहलाता है.

जिस भक्त ने भगवान के प्रत्येक अंग का दर्शन करके उसका मनन तथा निदिध्यास किया होगा, उस अंग का आज सहज भाव से स्मरण हो आता होगा. जिस अंग के केवल दर्शन ही हुए होंगे, उसका स्मरण करने पर भी उसकी स्मृति नहीं होती. कितने ही हरिभक्त यह कहा करते हैं कि 'हम तो ध्यानावस्था में बैठकर महाराज की मूर्ति का अधिक से अधिक स्मरण करते हैं, तो भी एक भी अंग की धारणा नहीं होती, तब समग्र मूर्ति का ध्यान कैसे हो सकता है ?' उसका भी यही कारण है कि वह तो भगवान की मूर्ति का दर्शनमात्र करता है, परन्तु मनन तथा निदिध्यास नहीं करता, तब ध्यानावस्था में मूर्ति कैसे आ सकती है ? जिन मायिक पदार्थों को भी केवल दृष्टिमात्र द्वारा देखा हो और केवल श्रवण से सुना हो तथा मनन ही किया हो, किन्तु मन में उसका स्मरण न किया हो, तो वह जब विस्मृत हो जाते हैं, तब भगवान के अमायिक एवं दिव्य स्वरूप का मनन और निदिध्यास किये बिना उसकी स्मृति कैसे हो सकती है ? इसलिये, भगवान के दर्शन करके तथा वार्ता सुनकर यदि उसका मनन और

---

१. इसका अर्थ श्रुति में कहा गया है कि 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।' दर्शन शब्द से साक्षात्कार कहा गया है.

निदिध्यास निरन्तर किया जाय, तो उसका साक्षात्कार हो सकता है, अन्यथा सारी उम्र दर्शन श्रवण करते रहने पर भी साक्षात्कार नहीं होता.'

॥ इति वचनामृतम् ॥३॥ ॥८१॥

वचनामृत ४ : आत्मा-अनात्मा का विवेक

संवत् १८७७ में श्रावण कृष्ण *अष्टमी को श्रीजीमहाराज श्रीसारंगपुर ग्राम स्थित जीवाखाचर के राजभवन के कमरे के बरामदे में पलंग पर उत्तर की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उन्होंने मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी, सफेद पिछौरी ओढ़ी थी और श्वेत दुपट्टा धारण किया था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! आत्मा-अनात्मा सम्बन्धी उत्तम विवेक को किस प्रकार समझा जाय ? वह विवेक कैसा होना चाहिये, जिसके रहने पर आत्मा-अनात्मा को एक ही न समझा जाय ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि[१] 'एक श्लोक, दो श्लोकों, पाँच श्लोकों, एक सौ श्लोकों अथवा एक हज़ार श्लोकों द्वारा जो बात अच्छी तरह समझ में आ जाय, वही उत्तम है. यह एक ऐसा ज्ञान है, जिसे प्राप्त करने के बाद आत्मा-अनात्मा की एकता का संशय नहीं रहता. जिसे अच्छी तरह समझा जा सके, वही विवेक सुखदायी होता है. दुर्बुद्धि सुखदायी नहीं होती. इसलिए, यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिये कि 'मैं आत्मा हूँ, इसलिए देह में मेरे जैसा एक भी गुण नहीं आता. मैं तो चैतन्य हूँ, इस कारण जड़ दुःख तथा मिथ्या रूप देह के गुणों में से एक भी गुण मुझ में नहीं आता.' ऐसे विवेक को अपनाकर तथा अत्यन्त निर्वासनिक होकर उसे चैतन्यरूप द्वारा पुरुषोत्तम भगवान का चिन्तन करना चाहिये. जड़-चैतन्य के विवेक को सुदृढ़ विवेक जानना चाहिये.

कोई पुरुष तो ऐसा होता है, जो घड़ीभर स्वयं को आत्मारूप मानता है और क्षणभर में अपने को देहरूप मानकर स्त्री का स्मरण करता है. इस प्रकार की मनोवृत्ति को दुर्बुद्धि-द्योतक जानना चाहिये. इसलिए, उसके

---

* शुक्रवार, ३१ अगस्त, १८२०.

१. सत्-शास्त्रों का श्रवण अथवा अध्ययन तथा गुरु की सेवा करके.

अन्तःकरण में सुख की अनुभूति नहीं होती. जैसे अत्यन्त स्वादिष्ट अमृत जैसे खाद्यपदार्थ हों और उनमें अगर थोड़ा-सा जहर मिला दिया जाय, तो वे सुखदायी नहीं, बल्कि दुःखदायी हो जाते हैं, वैसे ही आठों प्रहर आत्मा सम्बन्धी विचार कर एक घड़ी स्वयं को देहरूप मानकर यदि स्त्री का स्मरण किया जाता है, तो उसके सभी विचार धूल में मिल जाते हैं. इसलिए, अत्यन्त निर्वासनिक होने के लिये उत्तम आत्मविचार करना चाहिये.

किसी [१]पुरुष को ऐसा संशय होता है कि 'अत्यन्त निर्वासनिक नहीं हो सकेंगे और यदि ऐसी ही अपरिपक्वावस्था में मर जायेंगे, तो क्या हाल होगा ?' भगवान के भक्त को ऐसा विचार[२] नहीं करना चाहिये. उसे तो ऐसा समझना चाहिये कि 'यदि मौत आयी, तो शरीर ही मरेगा. मैं तो आत्मा हूँ और अजर अमर हूँ. इसलिए, मैं नहीं मरता.' ऐसा समझकर हृदय में हिम्मत रखनी चाहिये और परमेश्वर के सिवाय अन्य समस्त वासनाओं का परित्याग करके अचल मति करनी चाहिये. ऐसी वासना को टालते-टालते यदि कुछ न्यूनाधिक वासना रह जाय, तो उसे मोक्षधर्म में बताये गये नरकों की प्राप्ति होगी. उन नरकों का विवरण यह है कि भगवान के भक्त को यदि तनिक भी सांसारिक वासना रह गयी हो, तो उसे इन्द्रादि देवताओं के लोकों की प्राप्ति होती है. यद्यपि इन लोकों में जाने पर अप्सराएँ, विमान तथा मणिमंडित महल आदि समस्त वैभव उपलब्ध हो जाते हैं, परन्तु, उन्हें परमेश्वर के धाम की तुलना में नरक-सदृश बताया गया है. भगवान के भक्त इन वैभवों का उपभोग करते हैं, किन्तु उन्हें यमपुरी और चौरासी लाख योनियों में नहीं भटकना पड़ता. यदि भगवान के सवासनिक भक्त होंगे तो बहुत करके उन्हें देवता होना पड़ेगा. यदि देवलोक से पतन हो गया, तो मनुष्य-शरीर धारण करना पड़ेगा. मनुष्य होकर यदि भगवान की भक्ति की और वे निर्वासनिक हो गये, तो अन्त में उन्हें भगवान का धाम प्राप्त हो जायगा, किन्तु विमुख जीव की तरह चौरासी लाख योनियों को तो

---

१. यह योगानन्द मुनि का संशय है.

२. उसकी रक्षा भगवान करते हैं – '*अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः । अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण ! गच्छति,*' अर्जुन को ऐसा संशय होने पर भगवान ने यह उत्तर दिया है कि '*नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ।*'

नहीं भोगना पड़ेगा. ऐसा समझते हुए भगवान के भक्त को उग्र वासना देखकर हिम्मत नहीं हारनी चाहिये, आनन्दमय रहकर भगवान का भजन करते रहना चाहिये, वासना को टालने का उपाय करना चाहिये तथा भगवान और उनके सन्त के वचनों में दृढ़ विश्वास रखना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥४॥ ॥८२॥

वचनामृत ५ : वासना-निवारण

संवत् १८७७ में श्रावण कृष्ण *नवमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीसारंगपुर ग्राम-स्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'वासना की निवृत्ति होने का कौन-सा श्रेष्ठ उपाय है, जिसमें सभी साधन आ जावें ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसके हृदय में श्रद्धा तथा हरि एवं उनके भक्तों में विश्वास, भगवान में प्रीति तथा परमेश्वर के स्वरूप का माहात्म्यज्ञान, ये चार बातें हों, उसकी वासना निवृत्त हो जाती है. उसमें भी यदि माहात्म्यज्ञान सुदृढ़ हो, तो श्रद्धा, विश्वास और प्रीति के दुर्बल होने पर भी ये सब महाबलवान होते हैं. यदि बिना माहात्म्य की अधिक भक्ति दिखायी पड़ती हो, तो भी अन्त में उसका नाश हो जाता है. जैसे दस-बारह वर्ष की कोई कन्या हो और उसे क्षयरोग हो जाय, तो वह युवती होने से पहले ही मर जायगी, परन्तु युवावस्था को प्राप्त नहीं हो सकती, वैसे ही जिसकी माहात्म्यरहित भक्ति हो, वह भी परिपक्व नहीं होती और उसका नाश हो जाता है. जिसके हृदय में माहात्म्यसहित भगवान की भक्ति हो, किन्तु अन्य कल्याणकारी गुण न हों, तो भी उसमें ये सब आ जाते हैं. यदि माहात्म्यसहित भक्ति जिसके हृदय में नहीं है तथा शमदमादिक कल्याणकारी उत्तम गुण उसमें हैं, तो भी वे नगण्य जैसे हैं और अन्त में नष्ट हो जायेंगे. यदि माहात्म्यसहित एकमात्र भक्ति ही हो, तो उसकी वासना

* शनिवार, १ सितम्बर, १८२०.

भी निवृत्त हो जाती है और कल्याणकारी गुण भी हृदय में आकार निवास करने लगते हैं. अतएव, माहात्म्यसहित भगवान की भक्ति ही वासना को टालने का बहुत बड़ा अचल साधन है.'

स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'जीव, ईश्वर तथा अक्षरब्रह्म अन्वय और व्यतिरेकभाव से कैसे हैं तथा पुरुषोत्तम भगवान को अन्वय और व्यतिरेक भाव से किस प्रकार जानना चाहिये ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जन्म-मरण के भोक्ता जीव का जो स्वरूप है वह अन्वयरूप है और अछेद्य, अभेद्य, अविनाशी जीव के स्वरूप को व्यतिरेक समझना चाहिये. विराट सूत्रात्मा तथा अव्याकृत शरीरों में एकरस होकर निवास करनेवाले ईश्वर का अन्वयस्वरूप है तथा पिंड-ब्रह्मांडों से परे सच्चिदानन्द भाव द्वारा जो निरूपण किया गया है, उसे ईश्वर का व्यतिरेक स्वरूप जानना चाहिये. प्रकृति, पुरुष तथा सूर्यचन्द्रादि समस्त देवताओं के प्रेरक को अक्षर का अन्वयस्वरूप जानना चाहिये तथा जिस स्वरूप में पुरुष, प्रकृति आदि का कोई भाव नहीं होता और एकमात्र पुरुषोत्तम भगवान ही रहते हैं, वह अक्षर का व्यतिरेक स्वरूप है. बद्धजीव तथा मुक्तजीव के हृदय में साक्षीरूप से रहनेवाले, बन्धन और मुक्ति से अलिप्त तथा ईश्वर और अक्षर के हृदय में साक्षीरूप से निवास करनेवाले और भाव से रहित स्वरूप को पुरुषोत्तम का अन्वयस्वरूप माना गया है. जीव, ईश्वर और अक्षर से परे अक्षरातीत स्वरूप को पुरुषोत्तम का व्यतिरेकस्वरूप जानना चाहिये. इस प्रकार, अन्वय-व्यतिरेकभाव रहता है.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान के दर्शन, नामस्मरण और स्पर्श की जो महिमा है, वह भगवद्‌भक्त के लिये है या समस्त जीवों के लिये है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'दर्शनादि का भेद तो अलग ही है. उसे बताते हैं, सुनिये. जब जीव भगवान के दर्शन करता है तब यदि उसका मन दृष्टिद्वार में आकर उसके सहित दृष्टि द्वारा जो दर्शन किया जाता है, वह दर्शन ऐसा होता है कि अगर उसका विस्मरण किया जाय, तो भी वह विस्मृत नहीं होता. इसी प्रकार, मन के साथ त्वचा यदि भगवान का स्पर्श करे, तो उसका भी विस्मरण नहीं होता. जैसे भागवत में भगवान के प्रति गोपांगनाओं का यह वचन है कि 'हे भगवन् ! जिस दिन से आपके चरणों

का स्पर्श किया है, उस दिन से हमें आपसे भिन्न संसार के अन्य सुख विष जैसे लगते हैं.' इस तरह समस्त ज्ञानेन्द्रियों द्वारा मन के साथ जो दर्शन, स्पर्श और श्रवणादि क्रियाएँ की जाती हैं, वे किसी भी समय विस्मृत नहीं होतीं. जैसे अज्ञानी जीवने मन के साथ जिन पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो-जो विषय भोगे हों, उन्हें भुलाने पर भी उसे उनका विस्मरण नहीं होता, वैसे ही जो पुरुष मनोयोगपूर्वक दर्शनादि करते हैं उन्हींको दर्शनादि समझना चाहिये, किन्तु दूसरों को जो दर्शन हुआ है, वह तो न होने जैसा है, क्योंकि जिस समय किसी पुरुष ने दर्शन किया था उस समय उसका मन किसी दूसरी जगह ही भटक रहा था. इसलिए, यह दर्शन इसे एक दिन में या पाँच दिन में, पचास दिन में अथवा ६ महीनों में तथा एक वर्ष में अथवा पाँच वर्ष में अवश्य विस्मृत हो जायगा, परन्तु अन्त में रहेगा नहीं.

अतएव, माहात्म्य समझकर अतिशय प्रीतिपूर्वक मनसहित दृष्टि आदि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो पुरुष दर्शनस्पर्शादि करता है, उसीको उनका फल मिलता है और दूसरे मनुष्य को तो परमेश्वर के जो दर्शनादि होते हैं, उनका संस्कारफल होता है. यथार्थ महिमा तो उसके लिये है, जो मन के साथ दर्शनादि करता है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥५॥ ॥८३॥

वचनामृत ६ : परावाणी

संवत् १८७७ में श्रावण कृष्ण *दशमी को श्रीजीमहाराज श्रीसारंगपुर ग्रामस्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेतवस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

नित्यानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'एक-एक अवस्था में अन्य दो-दो अवस्थाएँ कैसे रही हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह जीवात्मा जिसमें रहकर विषयभोगों को भोगती है उसे अवस्था कहते हैं. वह अवस्था जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति नाम से तीन प्रकार की है. [१]उनमें जो जाग्रत अवस्था है, वह वैराजपुरुष की

---

* रविवार, २ सितम्बर, १८२०.

१. ये अवस्थाएँ परस्पर नहीं मिले हुए सत्त्वादि गुणों के कार्यरूप हैं, सत्त्वादि गुणों के मिश्रित भाव से आप.स में मिली हुई हैं.

स्थिति-अवस्था का कार्य है. वह सत्त्वगुणात्मक[१] है और नेत्र-स्थान में रही है. ऐसी जाग्रत अवस्था में विश्वाभिमानी[२] नामक जो यह जीवात्मा है, वह स्थूल देह के अभिमानसहित दस इन्द्रियों और चार अन्तःकरणों द्वारा विवेकपूर्वक यथार्थ रूप से अपने पूर्वकर्मों के अनुसार बाह्यशब्दादि पंचविषयों के भोगों को भोगती है. उसे सत्त्वगुणप्रधान जाग्रत अवस्था कहते हैं. उस जाग्रत अवस्था में जो यह जीवात्मा भ्रान्ति द्वारा अयथार्थ रूप से बाह्य विषयभोगों को भोगता है, उसे [३]जाग्रतवस्था में स्वप्न कहते हैं. वह जीवात्मा जाग्रत अवस्था में शोक तथा श्रमादि से विवेकरहित होकर जब बाह्य विषयभोगों को भोगती है, तब उसे [४]जाग्रतावस्था में सुषुप्ति कहते हैं. जो स्वप्नावस्था है, वह हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति अवस्था का कार्य है. वह रजोगुणात्मक[५] है और कंठ-स्थान में रही है. ऐसी स्वप्नावस्था में तैजसाभिमानी नामक जीवात्मा सूक्ष्म देह के अभिमानसहित रहता हुआ इन्द्रियों तथा अन्तःकरण द्वारा पूर्वकर्मों के अनुसार सुखदुःखरूपी वासनामय[६] भोगों को भोगता है. उसे रजोगुणप्रधान स्वप्नावस्था कहते हैं. इस स्वप्नावस्था में यह जीवात्मा जब जाग्रतावस्था की तरह ही विवेकपूर्वक जानते हुए वासनामय भोगों को भोगती है, तब इसे [७]स्वप्नावस्था में जाग्रत अवस्था कहा जाता है. उस स्वप्नावस्था में विदित वासनामय भोगों को भोगती हुई भी वह जीवात्मा यदि जड़भाव के कारण न जान[८] पाये, तो इसे [९]स्वप्नावस्था में सुषुप्ति कहते हैं. सुषुप्ति अवस्था ईश्वर की प्रलयावस्था का कार्य है. वह तमोगुणात्मक[१०] है और हृदय-स्थान में रही है. जब इस

१. सत्त्वगुण का कार्यरूप.

२. स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण नामक तीन देहों के अभिमान से जीव के विश्व, तैजस और प्राज्ञ नाम से तीन नाम पड़े हैं. वे वास्तविक नहीं, किन्तु अपेक्षाओं से हैं.

३. रजोगुणप्रधान.

४. तमोगुणप्रधान.

५. रजोगुण का कार्यरूप.

६. अभ्यन्तर, विनाशी तथा अस्थिर शब्दादि विषयों के भोग.

७. सत्त्वगुणप्रधान.

८. प्रियाप्रिय भाव द्वारा.

९. तमोगुणप्रधान.

१०. तमोगुण के कार्यरूप.

जीव की सुषुप्ति-अवस्था आती है, तब इन्द्रियों और अन्तःकरण की वृत्तियाँ विषयभोग की वासना तथा [१]ज्ञातृत्व एवं [२]कर्तृत्वरूपी समस्त कारण देह में विलीन हो जाते हैं. इस कारण देह का अभिमानी प्राज्ञ नामक जीवात्मा का प्रधानपुरुषरूप [३]सगुणब्रह्म का अल्प सुख में विलयभाव हो जाता है. उसे तमोगुणप्रधान सुषुप्ति अवस्था कहते हैं. इस सुषुप्ति अवस्था में कर्म-संस्कार द्वारा जिस [४]कर्ता-वृत्ति की उत्पत्ति होती है, उसे [५]सुषुप्ति में स्वप्न कहते हैं. जाग्रत एवं स्वप्नावस्था में उत्पन्न होनेवाली पीड़ा के ताप से पुनः [६]सुषुप्ति अवस्था के सुख में प्रवेश करती हुई कर्तावृत्ति के प्रतिलोम-भाव का जो ज्ञान है, उसे [७]सुषुप्ति में जाग्रत अवस्था कहते हैं. इस प्रकार एक-एक अवस्था में अन्य दो-दो अवस्थाएँ रही हैं. [८]जीवात्मा को इन अवस्थाओं के भेद का ज्ञान जिसके द्वारा होता है तथा उस-उस अवस्था में इस जीव को कर्मानुसार जो फल प्रदान करता है, उसे[९] तुर्य पद[१०], अन्तर्यामी, द्रष्टा, ब्रह्म तथा [११]परब्रह्म कहते हैं.'

नित्यानन्द स्वामी ने पुनः प्रश्न पूछा कि 'परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी नामक जो चार [१२]वाणिया हैं, उन्हें किस प्रकार समझा जाय ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह वार्ता तो बहुत बड़ी है और अत्यन्त सूक्ष्म भी है. श्रीमद्भागवत के एकादश [१३]स्कन्ध में श्रीकृष्ण भगवान ने उद्धवजी से यह वार्ता कही है. उसको संक्षिप्त रूप से कहते हैं, उसे सुनिये. प्रथम

---

१. विषयों को जानने की जीव की भावना.
२. जीव द्वारा अहंवृत्ति से विषयों के लिये कर्म करने का भाव.
३. सगुण ब्रह्मरूप प्रधानपुरुष.
४. कर्म करनेवाले जीव के समान वृत्ति का.
५. रजोगुणप्रधान.
६. प्रथम सुषुप्ति अवस्था में अनुभव किये गये सगुण ब्रह्मसम्बन्धी आनन्द में.
७. सत्त्वगुणप्रधान.
८. तीनों अवस्थाओं से परे.
९. चौथा वासुदेव नामका.
१०. प्राप्यस्वरूप.
११. वेदान्त में.
१२. यह वाणी जीव और वैराज की देह में रही है.
१३. श्रीधर स्वामी ने 'स एष जीवो विवरप्रसूतिः', इस श्लोक का उद्धरण देकर चार प्रकार की वाणियों पर व्याख्यान दिया है.

उत्पत्तिकाल में पुरुषोत्तम भगवान ने वैराजपुरुष के मस्तक में स्थित [१]सहस्रदलवाले कमल में प्रवेश करके [२]अक्षर ब्रह्मात्मक [३]नाद किया. इसके पश्चात् वह नाद सुषुम्णा मार्ग द्वारा विराटपुरुष के नाभिकन्द में व्याप्त होकर महाप्राणसहित वहाँ से [४]बहुत ऊँचा चला गया. इससे उन विराटपुरुष का अधोमुख नाभिपद्म [५]ऊर्ध्वमुख हो गया. इस प्रकार, उन विराटपुरुष के नाभिकन्द में जो नाद हुआ, उसे परावाणी कहते हैं. उसी परावाणी को स्वयं भगवान ने वेद की उत्पत्ति के लिये बीजरूप से प्रकाशित किया है. वह तेज का प्रवाहरूप और [६]अर्द्धमात्रारूप है. इसके बाद वही परावाणी वहाँ से विराट के हृदयाकाश में पहुँचकर पश्यन्ती नामवाली हुई. वहाँ से वह कंठप्रदेश में पहुँचकर मध्यमा नाम से विख्यात हुई. वहाँ से वह विराट के मुख में पहुँचकर वैखरी संज्ञा को प्राप्त हुई और [७]अकार, उकार तथा मकार नामक तीन वर्णों का रूप ग्रहण करके प्रणवरूप हो गयी. बाद में बावन अक्षरों का स्वरूप ग्रहण करके उसने चार वेदों का रूप धारण कर लिया. इस प्रकार विराटपुरुष में परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी नामक चार वाणियाँ समझनी चाहिये.

अब इस जीव की देह में भी चार वाणियाँ कहते हैं, उन्हें[८] सुनिये. वे ही पुरुषोत्तम भगवान उस जीव में अन्तर्यामीरूप से रहे हैं. वे जीव की तीनों अवस्थाओं में स्वतन्त्र होकर अनुस्यूत हैं. ऐसे भगवान ही जीव के

१. 'सहस्रदल कमल जिसमें है, ऐसे वैराजपुरुष के मस्तक में रहनेवाला ब्रह्मरन्ध्र', ऐसा वाक्यार्थ समझना चाहिये.
२. अक्षरब्रह्म द्वारा प्रकट किया हुआ.
३. जिसे स्फोट कहते हैं.
४. सूत्राख्य वायु.
५. हृदयपर्यन्त.
६. अर्द्धमात्रा का कारणरूप.
७. नाभि आदि चार स्थानों में परा आदि चार वाणियों में से अनुक्रमानुसार अर्द्धमात्रा, मकार उकार और अकार, इतने वर्ण उत्पन्न होते हैं.
८. जीव की भी नाभि, हृदय, कंठ तथा मुख में चार प्रकार की वाणियाँ भगवान की इच्छा से प्रकट होती है. उनमें शरीर के अन्दर की तीन प्रकार की वाणियों का भेद तो ज्ञानियों के लिये भी दुर्बोध रहता है. मनुष्य तो केवल वैखरी नाम के चौथे भेद को ही जान पाते हैं. जीव की वैखरी वाणी में ही मैंने वाणी के चार भेद निश्चित किये हैं, उन्हें स्पष्ट रूप से कहता हूँ.

कल्याण के लिये पृथ्वी पर अवतार धारण करते हैं. तब वह जीव उन भगवान के स्वरूप तथा उनके धाम, गुणों और ऐश्वर्यों का प्रतिपादन करता है, उनके चरित्रों का वर्णन करता है, आत्मा अनात्मा का विवेक प्रस्तुत करता है, तथा जीव, ईश्वर, माया, ब्रह्म और परब्रह्म के भेदों को पृथक्-पृथक् करके दिखलाता है, उस वाणी को परावाणी कहते हैं. जो मायिक पदार्थों तथा विषयों को विवेकपूर्वक यथार्थ रूप से कह दिखाता है, उसे वैखरी वाणी कहा जाता है. पदार्थों तथा विषयों को भ्रान्तिसहित जो अयथार्थ रूप से कह दिखाता है, उसे मध्यमा वाणी कहते हैं. जो इन पदार्थों और विषयों को उलट-सुलट करके दिखाता है, किन्तु कुछ भी समझने में न आवे, उसे पश्यन्ती वाणी कहते हैं. इस प्रकार जीव की जाग्रत अवस्था में इन चारों वाणियों के रूप समझ में आ जाते है. स्वप्नावस्था तथा सुषुप्ति-अवस्था में तो कोई समाधिरूप ही इन चारों वाणियों के रूप समझने में समर्थ होता है, किन्तु कोई अन्य पुरुष इन्हें नहीं समझ पाता.'

॥ इति वचनामृतम् ॥६॥ ॥८४॥

वचनामृत ७ : नैमिषारण्य क्षेत्र

संवत् १८७७ में श्रावण कृष्ण *एकादशी को रात्रि के[१] समय श्रीजीमहाराज श्रीसारंगपुर ग्राम-स्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने श्रीमद्भागवत पुराण के प्रथम स्कन्ध की कथा का वाचन आरम्भ कराया था. उसमें[२] ऐसी वार्ता आयी कि 'जहाँ मनोमयचक्र की धार भोंथरी हो जाय, वहाँ नैमिषारण्य क्षेत्र समझना चाहिए.' इस वार्ता को सुनकर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! यह मनोमयचक्र क्या है तथा इसकी धार किसे समझना चाहिये.'

---

* सोमवार, ३ सितम्बर, १८२०.

१. सन्ध्या-आरती के पश्चात्.

२. 'नैमिशेऽनिमिशक्षेत्रे' इस श्लोक की श्रीधरी टीका में नैमिषारण्य शब्द का अर्थ बताते समय वायुपुराण की आख्यायिका लिखी गयी है, उसमे.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'मनोमयचक्र मन को समझना चाहिये और इसकी धार दस इन्द्रियाँ है. दस इन्द्रियरूपी मन की जो धार है, वह जिस स्थान पर घिस जाने से [१]भोंथरी हो जाय, उसे नैमिषारण्य क्षेत्र जानना चाहिये.

उस स्थान पर जो कोई जप, तप, व्रत, ध्यान, पूजा आदि सुकृत कर्मों को प्रारम्भ करता है, तो दिन-प्रतिदिन उनकी वृद्धि होती है. ऐसे नैमिषारण्य क्षेत्र के जिस स्थल में भगवान के एकान्तिक साधु रहते हों, उसे जान लेना चाहिये और जब मनोमयचक्र की इन्द्रियरूपी धार भोंथरी हो जाय, तब शब्द, रूप, रस और गन्ध नामक पंचविषयों की कहीं भी प्रीति नहीं रह जाती. जब कोई रूपवती स्त्री दीख पड़े अथवा अतिसुन्दर वस्त्र-अलंकारादि वस्तुएँ दिखायी पड़ें, तब देखनेवाले के मन में अत्यन्त अभाव हो जाता है, परन्तु उनमें इन्द्रियों की वृत्ति नहीं ठहरती है. जैसे अतितीक्ष्ण धारवाले बाण को जिस पदार्थ को लक्ष्य कर मारा जाय, तो वह उसे बेधकर अन्दर प्रवेश कर जाता है और पुनः निकाले जाने पर भी नहीं निकलता. यदि उस बाण में से उसका फलक निकाल लिया जाय, तो वह थोथा रह जाता है और उसकी भीत पर घाव कर देता है, तथा वहाँ से उखड़कर नीचे गिर जाता है, परन्तु फलकसहित भीत में पूर्ववत् नहीं चिपकता, वैसे ही मनोमयचक्र की धाररूपी जो इन्द्रियाँ कुंठित हो जाती हैं, तब चाहे कितना ही श्रेष्ठ विषय हो, उसमें इन्द्रियों की वृत्ति नहीं जमती और थोथी धार की तरह इन्द्रियों की वृत्ति पीछे की ओर हट जाती है. जब ऐसी प्रवृत्ति दिखायी पड़े, तब यह मान लेना चाहिये कि मनोमयचक्र की धार भोंथरी हो गयी [२]है. ऐसा सन्त-समागमरूप नैमिषारण्य क्षेत्र जहाँ दिखायी पड़े, वहाँ कल्याण की इच्छा करनी चाहिये तथा मन में अत्यन्त दृढ़ता रखकर वहाँ रहना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥७॥ ॥८५॥

---

१. मार्गरूप शब्दादि विषयों में प्रवृत्ति नहीं रहने की स्थिति.

२. जैसे चक्र की धार भोंथरी हो जाने पर चक्र भ्रमण नहीं कर सकता, वैसे ही विषयों में से जब इन्द्रियाँ पीछे हट जाती है, तब मन विषयों में भ्रमण नहीं करता. जिस प्रकार वाण जब फलकरहित हो जाता है, तो वह लक्ष्यवेध करने में समर्थ नहीं होता, उसी तरह मन भी जब इन्द्रियों की सहायता से रहित हो जाता है, तब वह विषयों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता. इतना तात्पर्यार्थ है.

वचनामृत ८ : ईर्ष्या

संवत् १८७७ में श्रावण कृष्ण *द्वादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीसारंगपुर ग्राम-स्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

चैतन्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! ईर्ष्या का क्या रूप है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसके हृदय में अभिमान होता है, उसमें से ईर्ष्या उत्पन्न होती है. क्रोध, मत्सर तथा असूया की भी उत्पत्ति अभिमान में से होती है. ईर्ष्या का एक रूप यह भी है कि 'अपने से जो बड़े हों, तो भी जब उनका सम्मान हो तब उसे नहीं देख सके.' जिसका ऐसा स्वभाव हो, उसको इस तरह समझना चाहिये कि इसके हृदय में ईर्ष्या है. किन्तु, यथार्थ ईर्ष्या करनेवाला पुरुष तो किसी की भी महत्ता को देख ही नहीं सकता.'

॥ इति वचनामृतम् ॥८॥ ॥८६॥

वचनामृत ९ : युगधर्म

संवत् १८७७ में श्रावण कृष्ण *त्रयोदशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज अपने भक्तजनों को सुख देने के लिये सारंगपुर से चलकर श्रीकुंडल ग्राम में पधारे. वहाँ वे अमरापटगर के पश्चिमी कमरे के बरामदे में पलंग पर उत्तर की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उन्होंने मस्तक पर श्वेत पगड़ी बाँधी थी, सफेद पिछौरी ओढ़ी थी और श्वेत चुस्त पाजामा धारण किया था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! [१]जीव के हृदय में युग के धर्मों की प्रवृत्ति रहती है, उसका क्या कारण है ?'

---

* मंगलवार, ४ सितम्बर, १८२०.

* बुधवार, ५ सितम्बर, १८२०.

१. जिस प्रकार बाहर युग-प्रवर्तन होता है, उस तरह.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'युगधर्मों के प्रवर्तन का कारण तो [१]गुण है. जब पुरुष शुद्ध सत्त्वगुण को अपनाता हो, तब उसके हृदय में सतयुग की प्रवृत्ति रहती है. जब उसके हृदय में सत्त्व तथा रजोगुणों का संयुक्त प्रभाव बढ़ा हुआ रहता है तब उसके हृदय में त्रेतायुग की प्रवृत्ति होती है. जब उसके हृदय में रजोगुण और तमोगुण के संयुक्त भाव रहते हों, तब उसके हृदय में द्वापरयुग की प्रवृत्ति होती है. जब वह पुरुष अकेले तमोगुण का ही अवलम्बन किये हुए हो, तब उसके हृदय में कलियुग की प्रवृत्ति होती है. इस प्रकार गुणों द्वारा युगों की प्रवृत्ति रहती [२]है.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'गुणों की प्रवृत्ति रहने का क्या कारण [३]है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'गुणों की प्रवृत्ति रहने का कारण तो कर्म है. जैसे पूर्वकर्म होते हैं, वैसे गुणों की ही प्रवृत्ति होती है. जिनका रजोगुणी तथा तमोगुणी स्वभाव हो, वे यदि एकाग्र होकर भगवान का भजन करने जायें, तो भी वह नहीं हो पाता. इसलिए, ऐसे पुरुषों को तो आत्मनिष्ठा तथा भगवान की महिमा का बल रखना चाहिये और यह समझना चाहिये कि 'मैं तो आत्मा हूँ, इसलिए मुझमें मायाकृत व्याधि नहीं है, मैं तो गुणातीत हूँ.'

भगवान की महिमा के सम्बन्ध में ऐसा विचार करना चाहिये कि 'अजामिल यद्यपि महापापी था, फिर भी उसने अपने पुत्र 'नारायण' का नाम-स्मरण किया, इसलिए वह समस्त पापों से मुक्त हो गया और उसे परमपद की प्राप्ति हो गयी. परन्तु, मुझे तो भगवान प्रत्यक्ष रूप से मिले हैं और रात-दिन मैं उन भगवान का नाम-स्मरण किया करता हूँ, इसलिए मैं

---

१. पुरुष के हृदय में रहनेवाले सगुण आदि गुण.

२. जब सात्त्विक गुण के कार्यरूप ज्ञान तथा तप में रुचि होती है तब 'मेरे हृदय में सतयुग का प्रवर्तन हुआ है', ऐसा समझना चाहिए. 'रजोगुण के कार्यरूप काम्यकर्मादि में जब रुचि होती है तब मेरे हृदय में त्रेतायुग की प्रवृत्ति हुई है. जब रजोगुण तथा तमोगुण के कार्यरूप काम्यकर्मादि और लोभादि में रुचि होती है, तब मेरे हृदय में द्वापरयुग प्रवृत्त हुआ है. तमोगुण के कार्यरूप माया, अनृत आदि में जब रुचि होती है, तब मेरे हृदय में तमोगुण की प्रवृत्ति हुई है,' ऐसा समझना चाहिये. भागवत में 'सत्त्वं रजस्तम इति' इस श्लोक से लेकर 'यदा मायानृतं तन्द्रा,' इत्यादि पाँच श्लोको में इसी मन्तव्य का निरूपण किया गया है, इतना ही तात्पर्यार्थ है.

३. जैसे गुणवालों को जैसी भक्ति करनी हो, वह भी बताइये.

कृतार्थ हुआ हूँ.' इस प्रकार की धारणा करके आनन्दमग्न रहना चाहिये. परन्तु, जिसका तमोगुणी एवं रजोगुणी स्वभाव हो, उससे ध्यान-धारणा के लिये आग्रह नहीं करना चाहिये. इसलिए उन भक्तों को जैसा बन पड़े, वैसा भजन-स्मरण करना चाहिये, देह द्वारा भगवान तथा सन्त की परिचर्या श्रद्धासहित करनी चाहिये तथा अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए स्वयं को पूर्णकाम मानना चाहिये.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'अनेक तामसिक कर्मों के कारण जिसके हृदय में यदि कलियुग की प्रवृत्ति रहती हो, तो वह किसी उपाय द्वारा टल सकती है या नहीं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि उस पुरुष को सन्त तथा परमेश्वर के वचनों में अतिशय श्रद्धा तथा अत्यन्त दृढ़ विश्वास हो, तो भले ही उसके कैसे भी तामसिक कर्म क्यों न हो, उनका फिर भी नाश हो जाता है तथा कलियुग का धर्म मिटकर सतयुग के धर्म का प्रवर्तन होने लगता है. इसलिए, यदि कोई अति सत्यभावना द्वारा सत्संग करता है, तो उसके हृदय में किसी भी प्रकार का दोष नहीं रहता और वह अपने जीवनकाल में ही ब्रह्मरूप हो जाता है.'

स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने पूछा कि 'स्थान किसे कहते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'चार वर्णों और चार आश्रमों का जो अपना-अपना धर्म है, उसे स्थान जानना चाहिये. यद्यपि आप त्यागी हैं, फिर भी त्याग-पक्ष का परित्याग करके यदि गृहस्थ के मार्ग पर चलने लगते हैं, तो आप स्थानभ्रष्ट हो गये, ऐसा मानना चाहिये. अतएव, चाहे कैसा ही आपत्काल क्यों न आ जाय और हम आज्ञा करें, तो भी आपको अपने धर्म से नहीं हटना चाहिये. जिस प्रकार कोई गृहस्थ वस्त्रों तथा अलंकारों द्वारा हमारी पूजा करने का इच्छुक हो, वैसी इच्छा आपको नहीं करनी चाहिये. आपको तो पत्र, पुष्प, फल और जल द्वारा पूजा करनी चाहिये तथा ऐसा पूजन करके ही आनन्द मानना चाहिये, किन्तु अपने धर्म से चलायमान होकर परमेश्वर की पूजा करना उचित नहीं है. इसलिए, सबको अपने धर्म का पालन करते हुए जितनी संभव हो, उतनी पूजा करनी चाहिये. यह हमारी आज्ञा है. सबको दृढ़ता के साथ इसका पालन करना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥९॥ ॥८७॥

वचनामृत १० : आत्मदृष्टि

संवत् १८७७ में श्रावण कृष्ण *चतुर्दशी को श्रीजीमहाराज ने समस्त साधुमंडल के साथ कुंडल ग्राम से प्रस्थान किया और मार्ग में वे उनके साथ खांमड़ा गाँव में आये. वहाँ वे पीपलवृक्ष के नीचे ठहरे. इसके पश्चात् गाँव के लोगों ने पलंग लाकर वहाँ बिछाया और उस पर श्रीजीमहाराज को बैठाया. उस समय श्रीजीमहाराज ने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनकी चारों ओर बैठे हुए साधुओं तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

साधु कीर्तन कर रहे थे. उस कीर्तन को बंद कराकर श्रीजीमहाराज ने गाँव के लोगों से यह बात कही कि 'इस संसार में धार्मिक और अधर्मी दो प्रकार के मनुष्य हैं. धार्मिक मनुष्य चोरी, परस्त्री संग और चुगली करना आदि समस्त पापों का परित्याग कर और परमेश्वर से डरकर धर्म-मर्यादा के अनुसार चलता है. संसार में सब लोग उसका विश्वास करते हैं, भले ही वे उसके निजी कुटुम्बीजन हों या कोई अन्य मनुष्य. वह पुरुष जो कुछ बोलता है, वह वचन सबको सत्य ही प्रतीत होता है. ऐसे धार्मिक पुरुषों के लिये ही सच्चे सन्त का सत्संग रुचिकर लगता है.

जो अधर्मी मनुष्य होता है, वह तो चोरी, परस्त्री-संग, मद्यपान, मांस-भक्षण धर्मभ्रष्ट होना और दूसरों को भ्रष्ट करना आदि सभी कुकर्मों को करने में लगा रहता है. संसार में कोई भी व्यक्ति उसका विश्वास करता ही नहीं है. उसके सम्बन्धियों में से कोई भी सम्बन्धी उसका विश्वास नहीं करता. ऐसे अधर्मी पुरुषों को सच्चे सन्त का सत्संग भी पसन्द नहीं आता. यदि कोई अन्य पुरुष सन्त-समागम करता है, तो वह उसका द्रोह करने लगता है. इसलिए, जो पुरुष आत्मकल्याण का इच्छुक हो, उसे अधर्मी के मार्ग पर बिल्कुल नहीं चलना चाहिये. यदि धार्मिक पुरुष के मार्ग पर चलकर सच्चे सन्त का सत्संग किया जायगा, तो निश्चय ही उस जीव का कल्याण हो जायगा. इसमें किसी भी प्रकार का संशय नहीं है.' इतनी वार्ता सुनने के बाद गाँव के कितने ही मनुष्यों ने श्रीजीमहाराज का आश्रय ग्रहण कर लिया.

---

* गुरुवार, १४ सितम्बर, १८२०.

बाद में वहाँ से श्रीजीमहाराज पुनः सारंगपुर पधारे. इसके पश्चात् वे जीवाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में बिछे हुए पलंग पर विराजमान हुए. उस समय उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'गोलोक, वैकुंठ, श्वेतद्वीप तथा ब्रह्मपुर नामक जो धाम भगवान के हैं उन्हें यदि बाह्य दृष्टि से देखा जाय, तो वे बहुत दूर दिखायी पड़ेंगे, किन्तु उन्हें आत्मदृष्टि द्वारा देखने पर उनमें अणु-जितनी दूरी भी नहीं दीख पड़ेगी. इसीलिए, बाह्य दृष्टिवाले की समझ मिथ्या है और आत्मदृष्टिवाले की बुद्धि सत्य [१]है. जो साधु यह समझता हो कि 'मेरे चैतन्य (जीव) में भगवान सदैव विराजमान रहते हैं, जिस प्रकार देह में जीव रहता है, वैसे ही मेरे जीव में भगवान रहे हैं, मेरा जीव तो शरीर है तथा भगवान मेरे जीव के शरीरी हैं' तथा जो अपनी जीवात्मा को स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक शरीरों से पृथक् मानता हो और उसमें भगवान को अखंड रूप से विराजमान देखता [२]हो, तो उस सन्त से भगवान और उनके धामों के बीच अणुमात्र भी दूरी नहीं दीख पड़ेगी. ऐसे जो सन्त हों वे श्वेतद्वीप के मुक्तजनों के सदृश हैं. यदि ऐसे सन्त के दर्शन हो जायं, तो यह समझ लेना चाहिये कि 'मुझे साक्षात् भगवान का दर्शन हुआ है.' ऐसा ज्ञानी सन्त तो कृतार्थ हो चुका है. जिसको ऐसा ज्ञान तो न हो सके, किन्तु वह सन्त के समागम में पड़ा रहे और सन्त यदि उसे पाँच जूते भी मारें, तो भी वह इस अपमान को सहन कर लेता है, किन्तु सन्त-समागम का त्याग नहीं कर सकता. जैसे अफ़ीम का व्यसनी अफ़ीम को नहीं छोड़ सकता, वैसे ही वह भी किसी भी तरह से सन्त का समागम नहीं त्याग सकता. तब पूर्वोक्त सन्त के समान उसे भी मानना चाहिये. ऐसे सन्त को जो कुछ भी प्राप्त होता है, वैसी प्राप्ति सन्त-समागम करते रहनेवाले पुरुष को भी होती है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१०॥ ॥८८॥

---

१. अन्तर्दृष्टि से अपने समीप भगवान के धामों को देखने का प्रकार बताते हैं.

२. जहाँ भगवान विराजमान हैं, वहीं उनके धामादि भी हैं.

वचनामृत ११ : भगवान की कृपा

संवत् १८७७ में श्रावण कृष्ण *अमावस्या को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीसारंगपुर ग्राम-स्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'शास्त्रों में पुरुषार्थ का उल्लेख है. उस पुरुषार्थ तथा परमेश्वर की कृपा द्वारा कितना काम होता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस पुरुष को सद्‌गुरु तथा सत्-शास्त्रों के वचनों द्वारा दृढ़ वैराग्य प्राप्त हुआ हो और जो सुदृढ़ श्रद्धावान हो, जिसने आठ प्रकार के ब्रह्मचर्य का अत्यन्त दृढ़ता के साथ पालन किया हो, जो अहिंसा-धर्म में दृढ़ प्रीति रखनेवाला हो तथा जिसकी आत्मनिष्ठा भी अतिपरिपक्व हो गयी हो, उसकी जन्म-मरण से निवृत्ति हो जाती है. जैसे धान के ऊपर का छिल्का उतर जाने पर फिर से धान नहीं उगता, वैसे ही पूर्वोक्त गुणयुक्त पुरुष भी अनादि अज्ञानरूप माया से मुक्त हो जाता है तथा जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है और आत्मसत्ता को प्राप्त करता है. इतना तो पुरुष द्वारा किये जानेवाले प्रयत्नों से होता है. जो पुरुष ऐसे लक्षणों से युक्त होता है, उस पर ही परमेश्वर की कृपा भी होती है. परमेश्वर की कृपा होने पर वह भगवान का एकान्तिक भक्त हो जाता है. इस श्रुति में भी कहा गया है कि 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति.' इस श्रुति का अर्थ यह है कि अंजनरूप माया से रहित पुरुष भगवान की तुल्यता को प्राप्त कर लेता है, यानी जिस प्रकार भगवान शुभाशुभ कर्मों के बन्धन में नहीं रहते, वैसे ही वह मुक्त पुरुष भी शुभ-अशुभ कर्मों के बन्धन में नहीं फँसता. जैसे लक्ष्मीजी कभी तो स्नेहवश भगवान के स्वरूप में लीन हो जाती हैं और कभी अलग रहकर भगवान की सेवा में तत्पर रहती हैं. इसी प्रकार, भक्त भी अतिशय स्नेहपूर्वक कभी तो भगवान में लीन हो जाता है और कभी-कभी मूर्तिमान रूप से भगवान की सेवा में रहता है. जैसे

---

* शुक्रवार, ७ सितम्बर, १८२०.

भगवान स्वतन्त्र हैं, वैसे ही वह भगवद्भक्त भी स्वाधीन होता है. इस प्रकार की सामर्थ्य भगवान की कृपा से प्राप्त होती है.'

नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जिसमें ये समस्त अंग सम्पूर्ण रूप से होते हैं, उस पर तो भगवान की कृपा होती है. यदि किसी अन्य पुरुष में इन अंगों में से किसी अंग की न्यूनता रहे, तो उसकी कैसी गति होती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'वैराग्य, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, अहिंसा-धर्म तथा आत्मनिष्ठा में से यदि किसी अंग में न्यूनता हो, तो वह पुरुष भगवान के आत्यन्तिक मोक्षप्रदाता अक्षरधाम को नहीं पा सकता. इसे छोड़कर वह भगवान के अन्य धामों को पा सकता है. यदि वह अधिक सवासनिक हुआ तो देवलोक को पाता है. मोक्षधर्म में देवलोक को भगवान के धाम की तुलना में नरकतुल्य बताया गया है. यह जीव पहले देवताओं में से मनुष्य होता है और मनुष्य में से पुनः देवता हो जाता है. '**अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्**' इस श्लोक का भी यही अर्थ है. भगवान का जो भक्त सवासनिक होता है, वह चौरासी लाख योनियों में तो नहीं जाता, परन्तु देवलोक तथा मनुष्यलोक में तो उसे अनेक जन्म धारण करने पड़ते हैं. इसके पश्चात् जब वह पूर्वोक्त वैराग्य आदि लक्षणों से युक्त हो जाता है, तभी भगवान की कृपा का पात्र होता है और बाद में भगवान का एकान्तिक भक्त होकर भगवान के गुणातीत अक्षरधाम को प्राप्त कर लेता है. इसलिए, एक जन्म अथवा अनेक जन्मों में जिस दिन पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त होकर जब वह अत्यन्त निर्वासनिक होगा, तभी भगवान की कृपा का पात्र बनेगा तथा आत्यन्तिक मोक्ष को प्राप्त करेगा. उसके बिना उसे इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती.'

नृसिंहानन्द स्वामी ने पूछा कि 'क्या ऐसा कोई उपाय है कि इस देह द्वारा ही सभी कसर मिट जाय ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि जीव सावधान होकर अपनी साधना में जुट जाय, तो इसी देह द्वारा सब कसर मिट सकती है. यदि देहपर्यन्त कसर न मिटे, तो भी अगर वह अन्त समय में निर्वासनिक हो जाय तथा भगवान से अत्यन्त प्रीति हो जाय, तो अन्तकाल में भी भगवान की कृपा हो जाती है और वह भगवान के धाम को प्राप्त कर लेता है. इसलिए, एक देह अथवा अनन्त देहों से या अन्तकाल में मृत्यु के बीच एक घड़ी भी रही हो

और उस समय भी यदि भगवान में उसकी दृढ़ वृत्ति हो जाय तो उस भक्त में किसी भी प्रकार की कसर नहीं रहती.'

॥ इति वचनामृतम् ॥११॥ ॥८९॥

वचनामृत १२ : भगवान के स्वरूप का निश्चय

संवत् १८७७ में भाद्रपद शुक्ल *प्रतिपदा को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीसारंगपुर ग्राम-स्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

निर्विकारानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'साधु में कौन-से गुण अखंड रहते है और कौन-से गुण आते-जाते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'साधु में तो आत्मनिष्ठा, दूसरा स्वधर्म तथा तीसरा भगवान के स्वरूप का निश्चय, ये [१]तीन गुण तो अखंड रहते हैं. [२]अन्य गुण [३]आ भी सकते हैं और [४]जा भी सकते हैं. दूसरे गुण तो आते-जाते रहते हैं, परन्तु ये तीन गुण अखंड बने रहते हैं.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'यदि देह और आत्मा की भिन्नता को समझ लिया हो, तब भी उसे भूलकर जीव पुनः देहाभिमानी कैसे होता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'देह और आत्मा की भिन्नता को एक बार यदि अच्छी तरह समझ लिया हो तो वह पुनः विस्मृत नहीं होती. यदि वह यह मानने की इच्छा करता है कि 'मैं देह हूँ, तो भी उसे अपना रूप नहीं माना जा सकता.' और यदि भगवान सम्बन्धी निश्चय भी एक बार दृढ़ता के साथ हो जाय, तो पुनः टालने पर भी नहीं टलता. ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मबुद्धि मिट जाती है और देहबुद्धि आ जाती है. यह तो मन में मिथ्या

---

* शनिवार, ८ सितम्बर, १८२०.

१. आत्मनिष्ठा से वैराग्य होता है और निश्चय से भक्ति होती है, यह बात भी जान लेनी चाहिये.

२. कृपालुता आदि.

३. शुभदेशादि का योग होने से.

४. अशुभदेशादि का योग होने से.

भ्रम रहता है. परन्तु, देहबुद्धि तो आती ही नहीं. ऐसे परिपक्व ज्ञानी को तो आत्मा का ही अभिमान दृढ़ रहता है. वह अपनी आत्मा को ब्रह्मरूप मानता है. उस ब्रह्म में परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान अखंड रूप से विराजमान रहते हैं. उसे उन भगवान के स्वरूप का निश्चय भी पूर्णतः अखंड रहता है.'

स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने पूछा कि 'अपनी आत्मा के सम्बन्ध में विचार किस प्रकार करना चाहिये ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'दृष्टा जीवात्मा जब अन्तःकरण के सामने देखता रहता है तब बाह्य स्थूल शरीर सम्बन्धी समस्त विषय विस्मृत हो जाते हैं. तब अन्तःकरण तथा दृष्टा के बीच जो विचार बना रहता है उसके द्वारा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के रूपों को जान लेना चाहिये. बाद में विचार की दृष्टि से उसे अन्तःकरण के संकल्पों के सामने देखते रहना चाहिये. जब वे सकल्प स्थिर हो जायं, तब भगवान की मूर्ति का ध्यान करना चाहिये. जब तक संकल्पों का बल बना रहे तब तक उनके (संकल्पों के) सामने दृष्टि रखनी चाहिये. किन्तु ध्यान नहीं करना चाहिये.

बाहर स्थूल देह में जब पंच ज्ञानेन्द्रिय अपने-अपने विषयों की ओर उन्मुख होती हैं, तब दो प्रकार से विचार करना चाहिये. इनमें से एक प्रकार तो यह है कि इन्द्रियाँ जिन विषयों के आकार में रही हों, तब उन विषयों की दृष्टि से ही विचार[१] करना चाहिये. दूसरा प्रकार यह है कि इन्द्रियो के गोलक में जो दृष्टा है, उसके आकार से ही विचार[२] करना चाहिये. तब विषयों तथा दृष्टा के आकाररूपी दो प्रकार के विचारों का एकीकरण हो जाता है. इसके पश्चात् जीव की वृत्ति उन विषयों से बिल्कुल हट जाती है. यदि इस प्रकार से विचार किये बिना ही वृत्ति को जबरन विषयों से हटाया गया, तो विषयों से उस वृत्ति की आसक्ति मिटेगी नही. यदि विवेकपूर्वक वृत्ति को विषयों से लौटा लिया गया, तो विषयों में पुनः उसकी आसक्ति नहीं रहेगी.

अतएव, जब तक इन्द्रियों की वृत्ति विषयों से प्रीति करने में लगी रहे, तब तक भगवान का ध्यान नहीं करना चाहिये. जब इन्द्रियों की वृत्ति स्थिर हो जावे, तब भगवान का ध्यान करना चाहिये. जब बाह्य स्थूल देह में

---

१. विषय दुखःःरूप है, ऐसा मानना चाहिये.

२ आत्मा सदा सुखरूप है.

द्रष्टा हो, तब इस बात का वर्गीकरण कर डालना चाहिये कि स्थूल देह से बर्ताव करते समय सूक्ष्म देह के संकल्पों की ओर ध्यान नहीं देना चाहिये. जब अन्तःकरण के सम्मुख देखना हो, तब स्थूल देह को विस्मृत कर देना चाहिये. इसके पश्चात् द्रष्टा और दृश्य के मध्य स्थित विचार द्वारा यह समझना चाहिये कि 'द्रष्टा और दृश्य नितान्त भिन्न है.' ऐसा विवेक रखकर देह के भावों को देह में और द्रष्टा चैतन्य के भावों को चैतन्य में लय कर दे. बाल्यकाल, यौवन, वृद्धावस्था, स्थूलता, कृशता, जीवन, मरण देह के भाव हैं. इन्हें आत्मा में नहीं मानना चाहिये. अछेद्य, अभेद्य, अजर, अमर, ज्ञानरूप, सुखरूप और सत्तारूप आत्मा के भाव हैं. इन्हें कभी भी देह से सम्बद्ध नहीं समझना चाहिये. इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि ये गुण आत्मा में हैं. जब तक संकल्प का बल रहे, तब तक इस विचार का परित्याग नहीं करना चाहिये. जैसे कोई राजा हो, तो वह शत्रु के बलशाली बने रहने तक राजगद्दी पर बैठकर सुख नहीं भोग सकता, किन्तु शत्रुमात्र का नाश होने पर ही वह अपने राज्य के वैभवों का उपयोग कर सकता है, वैसे ही भगवान के भक्त को मन तथा इन्द्रियरूपी शत्रुओं द्वारा पीड़ित किये जाने तक पूर्वोक्त विचार को दृढ़ता से रखना चाहिये. जब मन और इन्द्रियों के संकल्पों का शमन हो जाय, तब परमेश्वर के स्वरूप का ध्यान करना चाहिये.' ।। इति वचनामृतम् ।।१२। ।।९०।।

वचनामृत १३ : शास्त्रीय वचनों में विश्वास

संवत् १८७७ में भाद्रपद शुक्ल *द्वितीया को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीसारंगपुर ग्राम-स्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जिसे भगवान के स्वरूप का निश्चय होने के बाद वह मिट जाता है, तो उसे यथार्थ निश्चय हुआ था या नहीं ?'

स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी बोले कि 'जिसे अपनी जीवात्मा में निश्चय

* रविवार, ९ सितम्बर, १८२०.

हुआ हो, वह तो किसी भी तरह नहीं टलता. फिर भी, शास्त्रों की रीति से यद्यपि निश्चय कर लिया गया हो, किन्तु परमेश्वर यदि ऐसा चरित्र करें, जो शास्त्रों में न मिले, तो भगवान सम्बन्धी निश्चय होकर भी मिट जाता है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'शास्त्रों में तो परमेश्वर की सामर्थ्य, असमर्थता, कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व – जैसी अनेक बातें बतायी गयी हैं. अतएव, परमेश्वर ने शास्त्रों के विपरीत ऐसा कौन-सा चरित्र दिखाया होगा, जिससे उनके सम्बन्ध में निश्चय समाप्त हो गया हो ?' इस प्रश्न का उत्तर दीजिये.

समस्त मुनि बोले कि 'परमेश्वर का ऐसा कोई चरित्र नहीं है, जो शास्त्र-सम्मत न हो. इसलिए, हे महाराज ! अब यह बताइये कि जीव को भगवान के सम्बन्ध में निश्चय होने के बाद भी वह क्यों मिट जाता है, उसका क्या कारण है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे भगवान सम्बन्धी निश्चय होता है वह शास्त्रों द्वारा ही होता है, क्योंकि शास्त्रों में परमेश्वर के भी और सन्त के भी लक्षणों का उल्लेख किया हुआ होता है. इसलिए, शास्त्रसम्मत निश्चय ही अचल रहता है, किन्तु शास्त्रों के बिना ही निजी मन से किया गया निश्चय मिट जाता है. धर्म की प्रवृत्ति के कारण भी शास्त्र ही हैं. जिन्होंने शास्त्रों का कभी भी श्रवण नहीं किया है, ऐसे जीवों में भी माता, बहन, पुत्री और स्त्री सम्बन्धी विवेकद्योतक धर्म की मर्यादा आज तक चली आ रही है. उसके कारण भी शास्त्र ही हैं. क्योंकि सर्वप्रथम किसीने शास्त्रों में से ही ऐसी बात सुनी है, जो परम्परा द्वारा सभी लोगों में प्रचलित हुई है. इसलिए, जिसे भगवान सम्बन्धी निश्चय होकर भी टल जाता है, उसे तो शास्त्रीय वचनों की प्रतीति ही नहीं होती. वह तो मनमानी बात करनेवाला और नास्तिक है. यदि उसे शास्त्रों की प्रतीति होती, तो वह कभी भी परमेश्वर से विमुख नहीं हो सकता था. शास्त्रों में तो भगवान के अनेक प्रकार के चरित्र हैं. अतएव, परमेश्वर चाहे जैसे चरित्र प्रस्तुत करें, फिर भी वे शास्त्रों के विपरीत नहीं होते. जिसे शास्त्रीय वचनों में विश्वास होता है उसीको भगवान के स्वरूप का निश्चय अटल बना रहता है और उसी का कल्याण भी होता है तथा वह कभी भी धर्मच्युत नहीं होता.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१३॥ ॥९१॥

वचनामृत १४ : प्रमाद तथा मोह

संवत् १८७७ में भाद्रपद शुक्ल *तृतीया को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीसारंगपुर ग्राम-स्थित जीवाखाचर के राजभवन के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने काले पल्ले का श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सफेद चादर ओढ़ी थी, मस्तक पर श्वेत पगड़ी बाँधी थी, कानों में पीत पुष्पों के गुच्छ लगाये हुए थे और पाग में पीले फूलों के तुर्रे धारण किये थे. उनके कंठ में पीत पुष्पों का हार नाभि तक लटकता हुआ सुशोभित हो रहा था. श्रीजीमहाराज पश्चिम की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'भगवान ने [1]गीता में कहा है कि जो भगवद्भक्त भगवान के वैकुंठादि धामों को प्राप्त होते हैं, वहाँ से उन्हें नहीं लौटना पड़ता. फिर भी, वहाँ से जिसका पतन होता है, वह किस दोष से हुआ करता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह बताइये, कि भगवान के धाम को प्राप्त करके वहाँ से कौन गिरा है ?'

स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने कहा कि 'वैकुंठ से भगवान के जय-विजय नामक पार्षदों का [2]पतन हुआ तथा गोलोक से राधिकाजी तथा श्रीदामा का [3]प्रत्यावर्तन हुआ.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान ने अपने सन्त की यह महिमा दिखलाने के लिये जय-विजय का पतन कराया कि 'सनकादि जैसे साधुओं का द्रोह करने से वैकुंठादि जैसे धामों को प्राप्त होने पर भी किसी का भी पतन हो जाया करता है.' जय-विजय तो पुनः तृतीय जन्म में भगवान के वैकुंठधाम में पहुँच गये. इसलिए, इन्हें गिरा हुआ नहीं कहा जा सकता. उनका पतन तो

---

* सोमवार, १० सितम्बर, १८२०.

१. 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते', 'सर्गेऽपि नोपजायन्ते, प्रलये न व्यथन्ति च', 'मामुपत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते', इत्यादि वचनों से.

२. 'पार्षदप्रवरौ विष्णोर्विप्रशापात्पदाच्च्युतौ', ऐसी बात भागवत में बतायी गयी है.

३. इस बात का ब्रह्मवैवर्त पुराण में उल्लेख किया गया है.

भगवान की इच्छा से हुआ. वास्तव में गिरा हुआ तो उसे कहा जाता है, जिसका भगवान से पुनः कोई सम्बन्ध ही नहीं रहे. गोलोक से राधिकाजी का प्रत्यावर्तन भगवान की इच्छा से ही हुआ, क्योंकि स्वयं भगवान को मनुष्य-देह धारण करके असंख्य जीवों का उद्धार करना और अपने कल्याणकारी चरित्रों का विस्तार करना था. इसलिए, राधिकाजी को यदि गिरा हुआ कहा जाय, तो उनके साथ भगवान भी गिरे हुए कहलावेंगे. भगवान की इच्छा से ही उनका गोलोक से पृथ्वी पर अवतरण हुआ. उन्हें कभी भी गिरा हुआ नहीं कहा जा सकता. इसके लिये तो भगवान की इच्छा को ही सर्वोपरि मानना चाहिये. यदि उन भगवान की इच्छा हो, तो अक्षरधाम में से किसी को भी देह धारण करनी पड़ती है. यदि कोई जड़ हो, तो वह चैतन्य हो जाता है और चैतन्य हो, तो वह जड़ हो जाता है, क्योंकि भगवान तो अत्यन्त सामर्थ्यशाली हैं, वे जैसा कहेंगे वैसा ही होगा. परन्तु, भगवान की इच्छा के बिना, भगवान के धाम को प्राप्त कर कोई गिरता ही नहीं है. गिरनेवाला तो आधुनिक अपक्व भक्त ही हो सकता है. उसका पतन तो साधनाकाल में से ही हो जाता है. उसे योगभ्रष्ट कहा जाता है, परन्तु वैराग्य, आत्मनिष्ठा, भगवान की भक्ति तथा ब्रह्मचर्यादि धर्मों द्वारा जो सिद्ध होते हैं, वे तो श्वेतद्वीपनिवासी मुक्तजनों के सदृश हैं. उनका तो कभी भी पतन नहीं होता.'

श्रीजीमहाराज इस प्रकार इतनी बात करने के बाद फिर से बोले कि 'अच्छा, अब हम एक प्रश्न पूछते हैं.' मुनियों ने कहा कि पूछिये.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'महाभारत के उद्योगपर्व में सनत्सुजात ऋषि ने धृतराष्ट्र से कहा है कि [१]''प्रमाद और मोह का त्याग करनेवाला जीव समस्त प्रकार से भगवान की माया को पार कर लेता है. वस्तुतः प्रमाद एवं मोह का नाम ही माया है.' अतएव, हम त्यागी लोगों को भगवान के भक्त कहा जाता है. उनमें जिसे प्रमाद और मोह रहता होगा और वह भक्त यदि भगवान की महिमा का बल प्राप्त करके प्रमाद और मोह को टालने की सावधानी नहीं रखता होगा, उसे अपने जीवनकाल में कैसा सुख रहेगा और मरकर वह कैसा सुख प्राप्त करेगा ?'

---

१. प्रमाद और मोह की निवृत्ति अनायास हो जाय, तो अच्छा है, अथवा ये दोनों भगवान के भक्त में रहकर भी भगवान की महिमा के आगे अतिदीन होने पर क्या अनर्थ कर सकते हैं ? कुछ भी नहीं. इतना ही तात्पर्यार्थ है.

स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी बोले कि 'भगवान का भक्त भगवान के माहात्म्य पर पूर्णतः विचार करके प्रमाद एवं मोह के न टलने पर भी उसके सम्बन्ध में अधिक चिन्ता नहीं करता.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान का जो भक्त प्रमाद और मोह का बर्ताव करता हो, फिर भी उन्हें टालने की सावधानी रखता हो, तो उसका कितना दोष है और जो पुरुष उनकी समाप्ति की सतर्कता नहीं रखता उसकी क्या विशेषता है ?'

स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी बोले कि 'वह भगवान की महिमा का बल रखता है, किन्तु अपनी साधना के बल पर भरोसा नहीं रखता, इतनी ही विशेषता है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसके प्रमाद और मोहरूपी शत्रु रहने पर भी जो पुरुष गाफ़िल रहता है, उसे तो आप श्रेष्ठ कहते हैं. जैसे कोई पतिव्रता स्त्री अपने पति के भय से पतिव्रता धर्म रखने की आशंका से मन में अत्यन्त सतर्कता रखते हुए किसी पुरुष से हँसकर ताली नहीं बजा सकती और उसके मन में यह डर लगा रहता है कि 'मैं गफलत रखूँगी, तो मेरा पति मुझे व्यभिचारिणी समझेगा और मेरी सेवा को अंगीकार नहीं करेगा', जिससे मेरे पतिव्रता धर्म में बाधा पड़ेगी, वैसे ही जो भक्त ऐसी पतिव्रता स्त्री के समान भक्ति रखता है और प्रमाद तथा मोह को टालने की सावधानी बरतता है, उसे तो आप भारी दोष बताते हैं. जैसे कोई स्त्री अपने मनमाने पुरुष के साथ हँस-बोलकर घूमती-फिरती है तथा पतिव्रता धर्म का पालन करने की सावधानी भी नहीं बरतती, वैसे ही जो भक्त प्रमाद और मोह को टालने की सावधानी नहीं रखता, उसे तो आप श्रेष्ठ बतलाते हैं. यह आपकी उल्टी बुद्धि नहीं है तो क्या है ? जो पुरुष गफलत रखेगा और वह यदि भगवान का भक्त होगा, तो उसके समक्ष प्रमाद तथा मोह नामक दो शत्रु बाधा डाले बिना नहीं रहेंगे. जैसे विमुख पुरुष को मदिरा और भांग पीने का नशा चढ़ता है, वैसे ही भगवान के भक्त को भी नशा चढ़ता है और वह पागल बन जाता है. उसी तरह, मदिरा और भाँगरूपी प्रमाद तथा मोह जैसे विमुख जीव के सामने बाधा डालते हैं, वैसे ही भगवान के भक्त के समक्ष भी विघ्न उपस्थिति करते हैं. विमुख जीव और हरिभक्त में केवल इतना ही फर्क है कि 'विमुख से ये दोनों शत्रु टलते नहीं, किन्तु भगवान का

भक्त यदि सावधानी रखकर उन्हें टालने का उपाय करे, तो इन दोनों शत्रुओं का नाश हो सकता है.' भगवान के भक्त में इतनी विशिष्टता रहती है. यदि वह गफलत रखता है, तो भगवद्भक्त होने पर भी वह अच्छा नहीं है.'

श्रीजीमहाराज ने पुनः प्रश्न पूछा कि 'स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर कितने तत्त्वों का है ? स्थूल देह तथा सूक्ष्म शरीर में समान तत्त्व हैं या कुछ न्यूनाधिक हैं ?' इन दोनों शरीरों के स्वरूप बताइये.'

स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी इस प्रश्न का उत्तर देने लगे, किन्तु वे यथार्थ उत्तर न दे सके. तब समस्त मुनि बोले कि 'हे महाराज ! कृपया आप ही इसका उत्तर दीजिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'स्थूल देह तो पृथ्वी आदि पंचमहाभूत नामक पाँच तत्त्वों की है. सूक्ष्म शरीर पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच प्राणों, चार अन्तःकरणों, अर्थात् उन्नीस तत्त्वों का है. उस स्थूल शरीर में भी जब सूक्ष्म शरीर अनुस्यूत भाव से रहता है तभी समस्त क्रियाएँ यथार्थ रूप से होती हैं, परन्तु उसके बिना नहीं होतीं, क्योंकि कान, नेत्र आदि इन्द्रियों के गोलक से युक्त स्थूल शरीर में उन-उन इन्द्रियों सहित सूक्ष्म शरीर मिलता है. इसके फलस्वरूप उन-उन इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण होता है, परन्तु केवल स्थूल देह के गोलकों से नहीं होता. अतएव, पंचतत्त्वों के स्थूल शरीर में उन्नीस तत्त्वों का सूक्ष्म शरीर अनुस्यूत रूप से रहा है. इसलिए स्थूल देह में भी चौबीस तत्त्व हैं. सूक्ष्म देह में भी पंच तत्त्वों का स्थूल शरीर एकत्वरूप से रहता है. तभी सूक्ष्म देह के भोग सिद्ध होते हैं. सूक्ष्म शरीर उन्नीस तत्त्वों का है. उनमें पाँच तत्त्वों का स्थूल शरीर मिलता है. इसलिए, सूक्ष्म शरीर भी चौबीस तत्त्वों का है. सूक्ष्म देह में स्थूल देह अवस्थित रहती है. सूक्ष्म देह में स्त्री का [१]संग करने से स्थूल देह में वीर्यपात होता है. अतएव, सूक्ष्म देह की जाग्रत अवस्था तथा स्वप्नावस्था में स्थूल देह की एकता रहती है.'

मुनि ने पुनः प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! इस प्रकार स्थूल देह के सदृश ही सूक्ष्म देह हुई, तब वैसे स्थूल देह में कर्मों का बन्धन रहता है, वैसे ही क्या सूक्ष्म देह में भी कर्मबन्धन रहता है या नहीं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'स्थूल देह में अपनत्व की जैसी दृढ़ मान्यता

---

१. संकल्पात्मक सम्भोग.

है, वैसी ही मान्यता यदि सूक्ष्म देह में हो, तो स्थूल देह के कर्मों के समान सूक्ष्म देह में भी कर्म-बन्धन हो जाता है. सूक्ष्म देह के कर्मों को अल्प कहा गया है, उसका उद्देश्य जीव को हिम्मत दिलाना है. जिसे स्थूल देह और सूक्ष्म देह में अभिमान नहीं रहता, उस पर स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के कर्मों का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वह तो केवल आत्मस्वरूप ही रहता है. ऐसे आत्मज्ञानियों को स्थूल तथा सूक्ष्म देह सम्बन्धी कर्मों का बन्धन रहता ही नहीं है.

आत्मज्ञानी इस देह द्वारा अशुभ कर्म तो करता ही नहीं है, फिर भी प्रारब्ध के अनुसार जो सुख-दुःख आते हैं उन्हें तो वह भोगता ही है. वह इन सुख-दुःखों को भोगता हुआ ऐसा मानता है कि 'मैं इनका भोक्ता नहीं, बल्कि आत्मा हूँ.' जो अज्ञानी देहाभिमानी पुरुष होता है, उस पर तो स्थूल देह अथवा सूक्ष्म देह सम्बन्धी सभी कर्मों का असर पड़ता है. तब वह उन कर्मों के अनुसार सुख-दुःख भी भोगता है. जो अज्ञानी पुरुष है वह जिस-जिस विषय को भोगता है, उसे भोगता हुआ वह स्वयं को देहरूप समझकर ऐसा मानता है कि 'मैं इस विषय का भोक्ता हूँ.' जब अन्त समय आता है, तब उस अज्ञानी जीव को यम के दूत दिखायी पड़ते हैं. उस स्थिति में उसे देह की विस्मृति और मूर्च्छावस्था हो जाती है. इसके पश्चात् यमदूत उसके शरीर से जीव को बाहर निकालते हैं. तब उस जीव को प्रेत का शरीर प्राप्त होता है, जिसके द्वारा वह यमपुरी के कष्टों को भोगता है.

भगवान के ज्ञानी भक्त को तो अन्त समय में भगवान अथवा उनके सन्त के दर्शन होते हैं. यद्यपि अन्त समय में उसे देह की विस्मृति हो जाती है और मूर्च्छावस्था होती है, फिर भी जब वह शरीर को छोड़कर अलग होता है, तब उस भक्त को भगवान भागवती देह प्रदान करते हैं, जिसे धारण कर वह भगवान के धाम में निवास करता है.' ।। इति वचनामृतम् ।।१४।। ।।९२।।

वचनामृत १५ : गोपियों की बुद्धिमत्ता

संवत् १८७७ में भाद्रपद शुक्ल *चतुर्थी को श्रीजीमहाराज श्रीसारंगपुर ग्राम स्थित जीवाखाचर के राजभवन में कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा

* मंगलवार, ११ सितम्बर, १८२०.

देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अच्छा, अब हम प्रश्न करते हैं कि 'भगवान के दो प्रकार के भक्त हैं. इनमें से एक भक्त को तो भगवान से अत्यन्त प्रीति रहती है और भगवान के दर्शन के बिना वह क्षणमात्र भी स्थिर नहीं रहता. भगवान के प्रति उसका प्रेम बाह्यरूप से भी अधिक दिखायी पड़ता है. भगवान का जो अन्य भक्त है, उसे यद्यपि आत्मनिष्ठा भी है, वैराग्य भी परिपूर्ण है तथा भगवान के प्रति प्रीति भी है, फिर भी उसका प्रेम पहले भक्त के समान नहीं मालूम होता. पूर्वोक्त भक्त में यद्यपि आत्मनिष्ठा और वैराग्य नहीं है, तथापि उसकी भक्ति सुशोभित रहती है. किन्तु, आत्मनिष्ठा तथा वैराग्ययुक्त रहने पर भी अन्य भक्त की भगवद्‌भक्ति पहले बताये गये भक्त की भांति शोभित नहीं होती. दो प्रकार के इन भक्तों में किसकी भक्ति श्रेष्ठ है और किसकी भक्ति कम है ?'

स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी बोले कि 'आत्मनिष्ठा तथा वैराग्य न रहने पर भी जिसे भगवान से अत्यन्त प्रेम है, वही श्रेष्ठ है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे वैराग्य और आत्मनिष्ठा नहीं है, उसे आप कौन-सी बुद्धि से श्रेष्ठ बताते हैं, क्योंकि यह तो देहाभिमानी है, इसलिये जब इसे शारीरिक सुख मिलेगा और ऐसे पंचविषयों का योग होगा, तब इसको विषयों में आसक्ति हो जायगी. तब इसे भगवान से वैसी प्रीति नहीं रहेगी. फिर, आप इसे श्रेष्ठ क्यों कहते हैं ?'

स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी बोले कि 'जिसे विषयों से प्रीति हो, उसे हम भगवत्प्रेमी नहीं कहते. हम तो गोपियों-जैसे[१] भक्तों को ऐसा बताते हैं.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'गोपियाँ भोलीभाली नहीं थीं. वे तो आत्मनिष्ठा एवं वैराग्ययुक्त विवेकशील भक्तों से भी बढ़कर समझदार थीं. जैसे कोई राजनीतिज्ञ यह बोले कि गोपियों में उसके जैसा वाक्‌चातुर्य था और वे भगवान को भी यथार्थ रूप से जानती थीं. समस्त यादवों में अतिशय बुद्धिमान तथा भगवान के प्रधान सचिव उद्धवजी गोपियों की बुद्धिमत्ता को देखकर गद्‌गदकंठ हो गये. तब उद्धवजी इस प्रकार बोले कि 'गोपियों के पास ज्ञान की बातें बताने के लिये मुझे भेजकर भगवान ने मुझ पर अत्यन्त

---

१. 'क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभवत्', इस वचन द्वारा भगवान के प्रति गोपियों के प्रेम का वर्णन किया गया है.

अनुग्रह किया है.' यद्यपि वे स्वयं गोपियों को उपदेश देने के लिये गये थे, किन्तु वहाँ गोपियों के वचनों को सुनकर उन्होंने खुद उनसे उपदेश ग्रहण किया. आप कहेंगे कि 'गोपियाँ तो ऐसी बुद्धिमती नहीं थी.' किन्तु, उनमें मुग्धा, मध्या तथा प्रौढ़ा नामक तीन प्रकार के भेद थे.

उनमें मुग्धा का लक्षण यह है कि वह भगवान को खूब चकमा देती रहे, फिर यह वचन बोले कि 'हम आपके लिये कर-करके मर गये, तो भी आप उस पर नजर नहीं डालते.' ऐसा कहने पर अगर उसे ज्यादा छेड़ा जाय, तो वह भगवान से रूठकर तुच्छ-सा वचन बोलने लगे तो ऐसा मालूम होता है कि वह अभी विमुख हो जायेगी. शास्त्रों में इस प्रकार के जिसके वचन हों, उस गोपी को मुग्धा समझना चाहिये.

मध्या तो किसी भी दिन भगवान के सामने रोष प्रकट नहीं करती और तुच्छ वचन भी नहीं बोलती, किन्तु चतुराई से युक्तिपूर्वक अपना स्वार्थ दूसरे को नहीं मालूम होने देती, किन्तु अपना काम पटा डालती है. इसके साथ ही वह भगवान की बात पर भी राजी हो जाती है, परन्तु अकेले भगवान की ही बात नहीं मानती. यदि भगवान की ही इच्छा पूरी करनी पड़े, तो इसके साथ ही कुछ अपनी बात भी मनवाने की युक्ति जरूर खोज निकालती है. शास्त्रों में जिसके ऐसे वचन हों, उस गोपी को मध्या जानना चाहिये.

जो प्रौढ़ा होती है, वह तो केवल भगवान की इच्छा के अनुसार ही चलती है, किन्तु किसी प्रकार से अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये युक्ति नहीं खोजती. वह केवल भगवान को प्रसन्न करने की ही कामना करती है. भगवान जिस प्रकार प्रसन्न रहें, उसी तरह वह स्वयं को भी प्रसन्न रखती है. वह अपनी बराबरी की गोपियों पर ईर्ष्या और क्रोध भी नहीं करती तथा मान-मत्सर आदि समस्त विकारों का परित्याग करके भगवान की सेवा में ही तत्पर रहती है. वह कभी भी मन, कर्म तथा वचन द्वारा ऐसा कोई भी आचरण नहीं करती, जिससे भगवान अप्रसन्न हो जायं. शास्त्रों में जिसके ऐसे वचन हों, उस गोपी को प्रौढ़ा समझना चाहिये.

इस प्रकार मुग्धा, मध्या तथा प्रौढ़ा गोपियों के भेद हैं. वस्तुतः गोपियों की समझ में तो अतिशय विवेक था. इसलिए, उनकी प्रीति को अविवेकपूर्ण नहीं कहा जा सकता. गोपियाँ तो भगवान की महिमा को

यथार्थ रूप से जानती थीं. उस महिमा के प्रताप से ही उनके हृदय में आत्मनिष्ठा तथा वैराग्य की भावना सहज बनी रहती थी. इसलिए, उन गोपियों में भगवान के माहात्म्य के प्रताप से आत्मनिष्ठा तथा वैराग्य आदि अनेक कल्याणकारी गुण सम्पूर्ण रूप से बने हुए थे.

ऐसे भक्तों की रीति तो यह है कि वे 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक पाँच विषयों की इच्छा केवल भगवान के सम्बन्ध में ही करते हैं, परन्तु किन्हीं अन्य विषयों को नहीं चाहते. यदि भगवान में इन पंचविषयों द्वारा अतिशय स्नेह से वैराग्य और आत्मनिष्ठा की भावना न हो, तो भी हृदय में भगवान के सिवा जगत के किसी भी अन्य संकल्प को स्थान नही देना चाहिये.' जैसे वर्षा नहीं हुई हो तब नाना प्रकार के तृण-बीज पृथ्वी पर कहीं भी नहीं दिखायी पड़ते, किन्तु वर्षा होने पर इतने अधिक तृण उगने लगते हैं कि पृथ्वी ही नहीं दिखायी पड़ती, वैसे ही आत्मनिष्ठा और वैराग्यरहित पुरुष को यद्यपि भगवान के सिवा अन्य किसी भी विषय के संकल्प मालूम नहीं होते, फिर भी जब उसके लिये कुसंग का योग होगा, तब अन्य विषयों के संकल्प होने लगेंगे तथा बुद्धि भी भ्रष्ट हो जायगी. तब उसके हृदय में परमेश्वर की स्मृति भी नहीं रहेगी तथा विषयों का ही अखंड रूप से ध्यान बना रहेगा तब वैराग्य तथा आत्मनिष्ठारहित प्रेमी को ऐसा आभास होने लगेगा कि 'भगवान से मुझे लेशमात्र भी प्रीति नहीं है.'

अतएव, आत्मनिष्ठा तथा वैराग्यरहित जो प्रेमी भक्त दिखायी पड़ता हो, उसमें तो अत्यन्त न्यूनता रहती है. जिसमें आत्मनिष्ठा, वैराग्य तथा भगवान के प्रति साधारण प्रीति भी है, वह तो ऐसा मानता है कि 'मेरी जीवात्मा में ही भगवान की यह मूर्ति अखंड रूप से विराजमान है.' ऐसा जानकर बाह्यरूप से यद्यपि भगवान की मूर्ति में दर्शनस्पर्शादि के सम्बन्ध में आतुरता – जैसी कोई बात नहीं मालूम होती और शान्त भाव जैसा दिखायी पड़ता है, तो भी उसकी प्रीति की जड़ें गहरी हैं. अतएव, किसी भी कुसंग के योग से उसकी प्रीति कम हो जाय, ऐसा नहीं हो सकता. वस्तुतः वह श्रेष्ठ और एकान्तिक भक्त है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१५॥ ॥९३॥

वचनामृत १६ : श्रीनरनारायण ऋषि

संवत् १८७७ में भाद्रपद शुक्ल *पंचमी को श्रीजीमहाराज श्रीसारंगपुर ग्राम स्थित जीवाखाचर के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

परमानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि 'श्रीनरनारायण ऋषि बदरिकाश्रम में रहते हुए इस भरतखंड के समस्त मनुष्यों के कल्याण तथा सुख के लिये तप करते रहते हैं.' तब सभी मनुष्य कल्याण के मार्ग में प्रवृत्त क्यों नहीं होते ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका उत्तर तो श्रीमद्भागवत के [१]पंचम स्कन्ध में ही है कि 'ये भगवान अभक्तों के लिये नहीं बल्कि अपने भक्तों के लिये ही तप करते हैं.' इस भरतखंड में अतिशय दुर्लभ मनुष्य शरीर के महत्व को समझकर जो-जो मनुष्य भगवान की शरण में जाते हैं तथा भक्ति करते हैं, उन पर अनुग्रह करने के लिये तपस्वी-सदृश वेषणधारण करनेवाले श्रीनरनारायण भगवान कृपापूर्वक भारी तपस्या करते हैं. अपने में निरन्तर अधिकाधिक धर्म, ज्ञान, वैराग्य, उपशम तथा ऐश्वर्यादि गुणों से युक्त होकर तपस्या करते हुए वे भगवान इस जगत में रात्रिप्रलय होने तक बदरिकाश्रम में रहे हैं. भरतखंड में निवास करनेवाले जिन भक्तों के धर्मज्ञानादिक गुण अत्यल्प होते हैं, तो भी उन भगवान के गुणयुक्त तप के प्रताप से उनमें थोड़े ही समय में अतिशय वृद्धि हो जाती है. इसके बाद भगवान की इच्छा से दीखनेवाले अक्षरब्रह्ममय तेज में साक्षात् श्रीकृष्ण भगवान के दर्शन होते हैं. इस प्रकार भगवान के तप द्वारा भगवद्भक्तों का कल्याण होता रहता है. परन्तु, भगवान के जो भक्त नहीं हैं, उनका कल्याण नहीं होता. इस प्रकार इस प्रश्न का यही उत्तर है.'

|| इति वचनामृतम् ||१६|| ||९४||

---

* बुधवार, १२ सितम्बर, १८२०.

१. 'भारतेऽपि वर्षे... अनुग्रहायात्मवतामनुकम्पया', इस गद्य में बताया गया है.

वचनामृत १७ : स्वामी-सेवक का भाव

संवत् १८७७ में भाद्रपद शुक्ल *षष्ठी को सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीसारंगपुर ग्राम-स्थित जीवाखाचर के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान का भजन करनेवाले जीव की दृष्टि जैसे-जैसे सूक्ष्म होती जाती है, वैसे-वैसे उसको परमेश्वर का भाव विदित होता जाता है तथा भगवान की महिमा भी अधिकाधिक मालूम होती जाती है. जब वह भक्त स्वयं को देहरूप मानता हो तब वह भगवान को जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति का साक्षी समझता है. जब वह स्वयं को जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति से परे माने तब भगवान उसे उससे परे भासते हैं. इसके पश्चात् जैसे-जैसे सूक्ष्म दृष्टि होती जाय, वैसे-वैसे वह भगवान को अपने से परे जानता है और महिमा को भी विशेष रूप से समझता रहता है. इसके बाद जैसे-जैसे अपनी वृत्ति प्रेमपूर्वक भगवान के साथ लगती जाय, वैसे वैसे उपासना अत्यन्त दृढ़ होती जाती है.

यहाँ एक दृष्टान्त है कि समुद्र में यद्यपि चींटी, चिड़िया, मनुष्य, पशु, घोड़ा, हाथी तथा बड़े-बड़े मगर-मच्छ, सभी सागर का जल पीकर बलवान बनते हैं, फिर भी समुद्र का पानी लेशमात्र भी कम नहीं होता और जिस-जिस जीव की जैसी-जैसी बड़ी शक्ति होती है, वैसे-वैसे वह जीव उसके अनुसार समुद्र की महिमा अधिक जान लेता है.

अन्य दृष्टान्त भी है कि जैसे आकाश में मच्छर, चिड़िया, चील, बाज, अनलपक्षी तथा गरुड़ सभी उड़ते हैं, फिर भी इन सबके लिये आकाश अपार का अपार ही रहता है और जिसके पंख में ज्यादा ताकत होती है, वह आकाश की महिमा को अधिक जान लेता है और अपने आप में न्यूनता समझता जाता है.

वैसे ही मरीच्यादि प्रजापतियों के समान अल्प उपासनावाले भक्त तो मच्छर सदृश हैं और ब्रह्मादि की तरह उससे अधिक उपासना करनेवाले

---

* गुरुवार, १३ सितम्बर, १८२०.

भक्त चिड़िया के समान हैं और विराटपुरुषादि की तरह उससे अधिक उपासनावाले भक्त चील जैसे हैं और प्रधानपुरुष की तरह उससे अधिक उपासनावाले भक्त बाज जैसे हैं. उससे अधिक उपासनावाले भक्त शुद्ध प्रकृति-पुरुष के समान अनल पक्षी सदृश हैं. उससे अधिक उपासनावाले भक्त अक्षरमुक्त के समान गरुड़ जैसे हैं. इस प्रकार ये सब भक्त जैसे-जैसे विशिष्ट सामर्थ्य को प्राप्त हुए हैं, वैसे-वैसे भगवान की महिमा को विशेष रूप से जानते हैं. इस तरह ये जैसे-जैसे विशेष सामर्थ्य को पाते गये हैं वैसे वैसे भगवान में उनका स्वामी-सेवक का भाव भी अत्यन्त दृढ़ होता गया है.

जब भजन करनेवाला जीवरूप था तब उस जीव में खद्योत (जुगनू) जैसा प्रकाश था. इसके पश्चात् जैसे-जैसे भगवद्भजन करते-करते आवरण हटता गया वैसे-वैसे वह दीप, मशाल, अग्नि की ज्वाला, दावानल, बिजली, चन्द्रमा, सूर्य, प्रलय काल की अग्नि और बाद में महातेज सदृश हुआ. इस प्रकार प्रकाश में भी वृद्धि हुई और सामर्थ्य भी बढ़ता गया. इसके साथ-साथ सुख भी बढ़ता गया. इस प्रकार खद्योत से लेकर महातेजपर्यन्त आद्य, मध्य और अन्त के जो भेद बताये गये हैं वे सब मुक्तों के भेद हैं. जैसे-जैसे वे उच्चस्थिति को प्राप्त करते गये तथा भगवान की महिमा को अधिकाधिक जानते गये वैसे-वैसे उनके मुक्तभाव में विशेषता आती गयी.'

इतना कहकर श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' बोलते हुए उठकर खड़े हो गये. बाद में इमली की टहनी को पकड़कर पूर्व की ओर मुखारविन्द करके खड़े हो गये और बोले कि 'जैसे पूर्णिमा का चन्दमंडल यहाँ से यद्यपि छोटी थाली जैसा दिखायी पड़ता है, परन्तु जैसे-जैसे उसके समीप जाते हैं, वैसे-वैसे वह बड़ा दीख पड़ता है. किन्तु, जब उसके अत्यन्त निकट जाते हैं, तब वह इतना विशाल दिखायी देता है कि दृष्टि भी नहीं पहुँच सकती, वैसे ही मायारूप अन्तराय के मिटने के बाद जैसे-जैसे भगवान के निकट जाना होता है वैसे-वैसे भगवान की भी अत्यन्त अपार महत्ता विदित होती जाती है और भगवान के प्रति दासभाव भी अत्यन्त दृढ़ होता जाता है.'

।। इति वचनामृतम् ।।१७।। ।।९५।।

वचनामृत १८ : खार भूमि

संवत् १८७७ में भाद्रपद शुक्ल *अष्टमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीसारंगपुर ग्राम-स्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने सफेद दुपट्टा धारण किया था, श्वेत चादर ओढ़ी थी और मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी. वे उत्तर की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि श्रद्धावान पुरुष को सच्चे सन्त का संग मिल जाय तथा वह उनके वचनों में श्रद्धा रखने लग जाय, तो उसके हृदय में स्वधर्म, वैराग्य, विवेक, ज्ञान और भक्ति आदि कल्याणकारी गुण प्रकट हो जाते हैं तथा कामक्रोधादि विकार भस्म हो जाते हैं. अगर उसे कुसंग मिल गया और वह कुसंगी के वचनों में श्रद्धा रखने लगा तो वैराग्यविवेकादि गुणों का नाश हो जाता है. जैसे खार भूमि में चाहे कितनी ही वर्षा क्यों न हो, किन्तु उसमें तृणादि नहीं उगते. उसी खार भूमि में अगर भारी वर्षा के कारण बाढ़ आ जाय, तो वहाँ का खार धुल जाता है. जिस जगह खार था वहाँ नयी मिट्टी बहकर आ जाती है. उस मिट्टी के साथ यदि बड़, पीपल आदि वृक्षों के बीज आ गये हों, तो उनके बीज उगकर बड़े-बड़े वृक्षों का आकार ग्रहण कर लेते हैं, वैसे ही जिसके हृदय में पूर्वोक्त स्वधर्मादि गुणों की दृढ़ता रही हो, तो संसार सम्बन्धी विषयसुखों का अंकुर नहीं उग पाता. यदि उसे कुसंग मिल गया, तो उसके हृदय में कुसंगरूपी जल के वेग से सांसारिक वार्तारूप नयी मिट्टी आकर जम जाती है. बाद में उस मिट्टी में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरादि के बीज उगकर विशाल वृक्ष बन जाते हैं. इसलिए, भगवान के भक्तों को कभी भी कुसंग नहीं करना चाहिये.

यदि स्वयं में कोई कुस्वभाव हो, तो उसे सन्त-समागम द्वारा समझ-विचार कर टाल देना चाहिये. इस तरह उस स्वभाव का नाश हो जाता है. यदि मूर्खतापूर्वक कितने ही उपाय किये जायं, तो भी खराब स्वभाव नहीं मिट पाता. मूर्ख पुरुष को जब उद्विग्नता रहती है, तब वह या तो सो जाता

---

* शनिवार, १५ सितम्बर, १८२०.

है या रोता है या किसीसे झगड़ा करने लगता है अथवा उपवास करता है. इस प्रकार, वह इन उपायों द्वारा अपनी व्यग्रता को टालने का प्रयास करता है. ऐसा करने पर भी यदि भारी उद्विग्नता बनी रही, तो आखिर में वह जरूर मर भी जाता है. इस प्रकार मूर्ख पुरुष अपनी बेचैनी को दूर करने का उपाय करता है. परन्तु, ऐसा करने से दुःख भी नहीं मिटते और कुस्वभाव भी नहीं टलता. यदि वह विवेकपूर्वक दुःख तथा कुस्वभाव को टालना चाहे, तो वे टल सकते हैं. इसलिए, विवेकशील पुरुष ही सुखी होता है. जैसे अग्नि की बड़ी ज्वाला पर वर्षा का पानी पड़ जाय, तो वह तुरन्त बुझ जाती है, किन्तु बिज़ली से उत्पन्न होनेवाली अग्नि का प्रकाश भले ही थोड़ा दिखायी पड़ता हो, फिर भी वह मेघमंडल में छिपी रहने पर भी नहीं बुझती, वैसे ही बिना विवेक के चाहे कितना ही वैराग्य रहे और भगवान से प्रीति हो जाय, तो भी अग्नि ज्वाला के समान कुसंगरूपी पानी से उसका नाश हो जाता है. यदि विवेकपूर्वक वैराग्य और प्रीति बनी रहे तो बिजली की अग्नि के समान थोड़ी रहने पर भी उसका नाश नहीं होता.'

निर्विकारानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! यदि किसी पुरुष में क्रोधादिरूपी कुस्वभाव हो, तो वह टलता है या नहीं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जैसे बनिया जितना व्यापार करता है, उसका हिसाब लिखकर रख लेता है, वैसे ही जिस पुरुष ने सत्संगवाले दिन से अपना हिसाब लिख रखा हो, उसका कुस्वभाव मिट जाता है. फिर उसे यह विचार करना चाहिये कि 'जब मैंने सत्संग नहीं किया था, तब मेरा इतना मलिन स्वभाव था, किन्तु सत्संग करने के बाद इतना स्वभाव उत्तम हो चुका है.' इस तरह उसे प्रतिवर्ष अपनी प्रगति या उसमें रहनेवाले फरक का अन्दाज लगाते रहना चाहिये. परन्तु, मूर्ख बनिये के समान आचरण नहीं करना चाहिये, जो अपना हिसाब नहीं लिखता है. इस प्रकार सत्संग करके जो पुरुष अपनी प्रगति के विवरण पर ध्यान देता रहता है, उसका दुष्ट स्वभाव नष्ट हो जाता है.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'कुसंग होने पर तो खराब स्वभाव हो ही जाता है, किन्तु सन्त का समागम करने के बाद भी अगर मलिन स्वभाव हो जाता है तो उसका क्या कारण है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब बाल-अवस्था होती है तब कामक्रोध-

लोभादि शत्रु नहीं रहते और भगवान से भी विशेष प्रीति बनी रहती है. जब युवावस्था आती है तब कामादि शत्रु बढ़ जाते हैं तथा देहाभिमान भी बढ़ जाता है. बाद में यदि वह कामादि शत्रुओं तथा देहाभिमान से रहित सन्त का समागम करता है, तो युवावस्थारूपी समुद को पार कर लेता है. यदि वह ऐसा नहीं करता, तो कामादि शत्रुओं द्वारा पराजित होने पर भ्रष्ट हो जाता है. जिसकी प्रौढ़ावस्था हो और सत्संग करने पर भी यदि वह पथभ्रष्ट होता है, तो उसका कारण यह है कि ऐसा मनुष्य महापुरुषों में जिस-जिस तरह के दोषों की कल्पना करता है, उस-उस प्रकार के दोष हृदय में आकर समा जाते हैं. यदि वह महापुरुषों के गुणों को ग्रहण कर ले और ऐसा माने कि 'महापुरुषों का जैसा स्वभाव है, वह तो जीवों के कल्याण के लिये है. महापुरुष तो निर्दोष हैं. मुझे उनमें जो दोष दिखायी पड़ा है, वह तो मेरी कुमति की कल्पनामात्र है.' ऐसा विचार करके सत्पुरुषों के गुणों को ग्रहण करना चाहिये और अपने अपराध के लिये क्षमायाचना करनी चाहिये. ऐसा करने से उस पुरुष की मलिनता मिट जाती है.'

महानुभावानन्द स्वामी ने पूछा कि 'राजसिक, तामसिक तथा सात्त्विक गुणों के स्वभाव साधना करने पर टल जाते हैं या नहीं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'ये समस्त स्वभाव टालने से टल जाते हैं.'

महानुभावानन्द स्वामी ने पूछा कि 'यद्यपि दुर्वासा आदि मुक्त पुरुष हुए हैं, फिर भी उनकी तामसिक मनोवृत्ति क्यों रही है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'दुर्वासा आदि में जो तमोगुण आदि गुण हैं, उनका अस्तित्व उनमें इसीलिए बना हुआ है कि वे इन्हें स्वेच्छा से रखना चाहते हैं. वे ऐसा मानते हैं कि 'किसी भी कुमार्गगामी पुरुष को शिक्षा देने के लिये हम में तमोगुण का रहना बहुत अच्छा है.' इसलिए, उन्होंने ऐसा समझकर ही यह गुण रखा है. यदि स्वयं में जो कुस्वभाव हो और उसे अवांछनीय समझा जाय कि 'मैं भगवान का भक्त हूँ, इसलिए मुझे ऐसा खराब स्वभाव नहीं चाहिये', तो उसे दोषरूप जानकर यदि उसका परित्याग करने की इच्छा की जायगी, तो भगवान के प्रताप से उस स्वभाव की निवृत्ति हो जाती है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥१८॥ ॥९६॥

॥ श्रीसारंगपुर-प्रकरणं समाप्तम् ॥

॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ॥

श्रीकारियाणी प्रकरण के वचनामृत

वचनामृत १ : प्रलय का रहस्य

संवत् १८७७ में भाद्रपद शुक्ल *द्वादशी को श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में सूरत के हरिभक्त जादवजी छप्पर पलंग लाये थे, उसे बिछाया गया था. पलंग पर रेशमी गद्दा डाला गया था, जिस पर रेशमी चादर बिछी थी. उस पर सफेद तकिया और लाल मशरू के घुटना तकिये रखे हुए थे. उस पलंग पर चारों ओर सुनहरे तार के सेजबंद लटक रहे थे. ऐसे सुसज्जित पलंग पर श्रीजीमहाराज उत्तर की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उन्होंने सुनहरे पल्ले का सफेद फेंटा मस्तक पर बाँधा था, सुनहरे पल्ले का शेला बाँध रखा था और काले पल्ले का सफेद दुपट्टा धारण किया था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. उस समय समस्त भक्तजन श्रीजीमहाराज के मुखारविन्दरूपी चन्द्रमा को चकोर की भाँति देख रहे थे.

श्रीजीमहाराज परमहंसों से बोले कि 'आपस में प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ करिये.'

भूधरानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान सम्बन्धी निश्चय अन्तःकरण में होता है या जीव में ?'

शिवानन्द स्वामी उसका उत्तर देने लगे, किन्तु यथार्थ उत्तर न दे सके. श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह जीव बुद्धि द्वारा जानता है, और वह बुद्धि ही [1]सबका कारण है और सबसे बड़ी है. अतएव, वह बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार, श्रोत्रेन्द्रिय, नेत्रों, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वा, वाणी, त्वचा, हाथों, पैरों, शिश्न तथा गुदा में रही है. इस प्रकार बुद्धि नखशिखापर्यन्त इस शरीर में व्याप्त होकर रहती है. उस बुद्धि में जीव रहा है, परन्तु वह मालूम नहीं होता.

* बुधवार, १९ सितम्बर, १८२०.

१. समस्त ज्ञान का.

अकेली बुद्धि ही प्रतीति होती है.

यहाँ एक दृष्टान्त है – जैसे अग्नि की ज्वाला घटती-बढ़ती है, वायु द्वारा बढ़ती है और घटती है, वह तो दिखायी पड़ती है, परन्तु वायु नहीं दीख पड़ती. यदि अग्नि को कन्डे पर रखें, तो वह जलने लगता है, अगर उसको उस स्थान पर रखा जाय, जहाँ वायु नहीं रहती, तब चारों ओर ऊँचाई तक धुआँ ही फैलता हुआ दीख पड़ेगा. लेकिन वायु नहीं दिखायी पड़ेगी, और भी जैसे बादल आकाश में वायु द्वारा चलते हैं, वे तो दिखायी पडते हैं, लेकिन उनमें रहनेवाली वायु नहीं दीख पड़ती, वैसे ही ज्वाला, धुएँ और बादलों के स्थान पर बुद्धि को समझना चाहिये और वायु की जगह जीव को जानना चाहिये.

वह जीव बुद्धि द्वारा किये गये निश्चय, बुद्धि में निश्चय के विवेककर्ता ब्रह्मा, मन के संकल्पों, संकल्पों का विवेक प्रदान करनेवाला चन्द्रमा, चित्त की चिन्तनशीलता, चित्त के चिन्तन का विवेक देनेवाले वासुदेव, अहंकार की अहंमन्यता तथा उस अहंकार की समझ को देनेवाले रुद्र को भी जानता है. इस प्रकार वह चारों अन्तःकरणों, दस इन्द्रियों, उनके विषयों तथा उनके विवेकदायी देवताओं को एककालावच्छिन्न रूप से जानता है. ऐसा वह जीव एकदेशस्थरूप से ज्ञात होता है. वह बरछी की नोक जैसा तीक्ष्ण तथा अतिशय सूक्ष्म मालूम होता है. वह बुद्धिसहित है, इसीलिये इतना सूक्ष्म प्रतीत होता है. अब उस जीव को देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, देवता और विषय अपने प्रकाशभाव से जानते हैं, तब तो जीव बहुत बड़ा और व्यापक मालूम होता है. वह बुद्धिरहित है तथा अनुमान द्वारा ज्ञात होता है, किन्तु साक्षात् नहीं दिखायी पड़ता. यहाँ पर एक दृष्टान्त और है – जैसे कोई मनुष्य दस मन की किसी तलवार को देखकर यह अनुमान लगा लेता है कि 'इस तलवार को उठानेवाला बहुत बड़ा होगा', वैसे ही वह जीव समस्त देहों एवं इन्द्रियों आदि को प्रकाशित करता है, इसलिए बहुत बड़ा है. इस प्रकार वह अनुमान द्वारा विदित होता है.' श्रीजीमहाराज ने इस प्रकार उत्तर दिया.

नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! इसमें तो क्या उत्तर हुआ ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसमें तो यही उत्तर हुआ कि जब बुद्धि में निश्चय हुआ, तब जीव में भी निश्चय हो गया. ऐसा समझना चाहिये.

सबसे पहले इन्द्रियों में और इसके पश्चात् अहंकार, चित्त, मन, बुद्धि में तथा इसके बाद जीव में निश्चय होता है.'

नित्यानन्द स्वामी ने पुनः पूछा कि 'हे महाराज ! यह बात किस प्रकार मालूम होती है कि इन्द्रियों, अन्तःकरण तथा जीव में निश्चय हो चुका है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इन्द्रियों में निश्चय को इस प्रकार जानना चाहिये कि इस जगत में जितने पदार्थ हैं, वे देखे, सुने, सूंघे और छुए जाते हैं. उनमें कितने ही [१]शुभ हैं और कितने ही [२]अशुभ हैं, कितने ही [३]सुखरूप हैं और कितने ही [४]दुःखरूप हैं, कितने ही [५]प्रिय हैं और कितने ही [६]अप्रिय हैं तथा कितने ही [७]उचित हैं और कितने ही [८]अनुचित हैं. यदि ये सब भगवान में दीख पड़ें और कुछ भी संशय न हो, तब उस इन्द्रिय सम्बन्धी निश्चय जानना चाहिये. सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक गुणों के जो कार्य हैं, उनमें आलस्य एवं निद्रादि तमोगुण का कार्य है, कामक्रोधादि रजोगुण का कार्य है तथा शमदमादि सत्त्वगुण का कार्य है. यदि ये सब भगवान में दिखायी पड़ें और किसी भी तरह का संदेह न रहे, तो उसे अन्तःकरण में भगवान का निश्चय जानना चाहिये.

जैसे ऋषभदेव भगवान ने निर्विकल्प समाधि भाव से हर्षपुलकित होकर विचरण किया और मुख में पत्थर रखा तथा उन्हें अपनी देह दावानल में जल जाने पर भी सुध नहीं रही, ऐसी गुणातीत स्थिति यदि भगवान में दीख पड़े और उसमें किसी प्रकार का संशय न रहे, तब उसे जीव में निश्चय जानना चाहिये.

यहाँ एक दृष्टान्त है – जैसे समुद्र में जहाज चलते हैं, उनमें के लोहे के लंगरों को सागर में डालने पर वे यदि पृथ्वी तक न पहुँचे हों और उन्हें

---

१. युधिष्ठिर द्वारा धर्मप्रवर्तन आदि.
२. युधिष्ठिर द्वारा कपट आदि से पृथ्वी के भारभूत राजाओं का निकन्दन आदि.
३. समुद्र में द्वारिका का निर्माण आदि
४. राजाओं के साथ वैरभाव आदि.
५. 'याताऽबला व्रजं कामम्' 'हे अबलाओ ! तुम व्रज में पुन· लौट जाओ', ऐसी उक्ति आदि.
६. गोपियों के साथ रमण आदि.
७. अघासुरादि असुरों से गोपालादि का रक्षण आदि.
८. मामा कंस का वध आदि.

तुरन्त खींचकर निकालने पर अधिक परिश्रम न करना पड़े तथा वे तुरन्त निकल जायँ, उन्हें यदि धरती तक लग जाने के बाद खींचने पर वे अधिक परिश्रम द्वारा निकलें और यदि उन्हें धीरे-धीरे जाने देने पर वे धरती में गड़ जायँ-फँस जायँ और फिर खींचने पर भी उन्हें न खींचा जा सके तथा वे न निकलें, ऐसा जीव में जिसको निश्चय हो, वह निश्चय किसी तरह मिटाने पर भी नहीं मिटता. इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने अनेक वार्ताएँ करीं, परन्तु यह तो अल्पमात्र हैं.'

चैतन्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! भगवान तो मन और वाणी से परे हैं तथा गुणातीत हैं तब उन्हें मायिक इन्द्रियाँ और अन्तःकरण किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस देह, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण को जाननेवाला जीव जब सुषुप्ति-अवस्था में लीन हो जाता है, तब उसकी इन्द्रियों तथा अन्तःकरण का सुषुप्ति में विलय हो जाता है. भगवान उस जीव को [१]प्रकाशमान करते हैं. जब वह सुषुप्ति-अवस्था में से स्वप्नावस्था में आता है, तब उस स्वप्नावस्था सम्बन्धी स्थान, भोग, विषय तथा जीव को भगवान [२]प्रकाशमय बनाते हैं. जाग्रत अवस्था में भी भगवान [३]प्रकाश प्रदान करते हैं. इस प्रकार भगवान [४]रूपभाव एवं [५]अरूपभाव से रहनेवाले जीव को प्रकाशित करते हैं. प्रधान में से महत्तत्व हुआ, महत्तत्व में से तीन प्रकार के अहंकार हुए तथा उन अहंकारों में से इन्द्रियों, देवताओं, पंचभूतों तथा पंचमात्राओं की उत्पत्ति हुई. इन सबको भी भगवान ने [६]प्रकाशमान बनाया है. इन सब तत्त्वों ने मिलकर विराट की रचना की. उस विराट को भी भगवान ने प्रकाश प्रदान किया है. ये सब जब माया में लीन हो जाते हैं, तब उस माया को भी भगवान प्रकाशमान बनाते हैं. इस प्रकार जीव और ईश्वर जब रूपभाव से रहते हैं, तब भगवान उन्हें प्रकाशमय करते हैं. जब यह जीव तथा ईश्वर नामरूपरहित होकर सुषुप्ति-अवस्था और प्रधान में

---

१. तामसिक कर्मों के फलरूप भोगों का उपभोग करने का अवसर प्रदान करते हैं.
२. राजसिक कर्मों के फलरूप स्वप्नभोगों को भोगने देते हैं.
३. सात्त्विक कर्मों के फलरूप भोगों को भोगने का मौका देते हैं.
४. जाग्रत एवं स्वप्नावस्था में देहेन्द्रियादिभावसहित भी.
५. सुषुप्ति-अवस्था में देहेन्द्रियादि भावरहित भी.
६. अपने-अपने कार्य के लिये शक्तिमान बनाते हैं.

रहते हैं तब भी भगवान प्रकाश प्रदान करते हैं. काल इन मायादि तत्त्वों को नामरूपभाव तथा अरूपभाव को प्राप्त कराता है. उस काल को भी भगवान प्रकाशमय बनाते हैं. ऐसे भगवान को इन्द्रियों तथा अन्तःकरण द्वारा कैसे जाना जा सकता है, यह आपका प्रश्न है या नहीं ?' तब सबने कहा कि 'हे महाराज ! यही प्रश्न है.'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका उत्तर इस प्रकार है कि ऐसे भगवान को इस जगत की उत्पत्ति तथा स्थिति को करना है, किन्तु ऐसा वे अपने लिये नहीं करते. यही बात श्रीमद्भागवत में कही गयी है :

'बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत्प्रभुः ।
मात्रार्थं च भवार्थं च ह्यात्मनेऽकल्पनाय च ॥'

इस श्लोक में यह बताया गया है कि 'भगवान ने सब लोगों की बुद्धि, इन्द्रियों, मन तथा प्राणों का सृजन किया है. इनका सृजन जीवों के विषयभोगों, जन्म, लोकान्तर में जाने तथा मोक्ष के लिये किया गया है.' इसलिए, भगवान इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी जीवों के कल्याण के लिये करते हैं. वे अनेक प्रकार की संसृति करने से थके हुए जीवों के विश्राम के लिए ही प्रलय करते हैं. ऐसी रीति द्वारा समस्त प्रकार के जीवों के हित के लिए ये भगवान जब मनुष्याकार होते हैं, तब जो जीव भगवान के सन्त का समागम करते हैं, उनको भगवान का स्वरूप समझ में क्यों नहीं आता ? यह तो [१]आता ही है.'

भजनानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! इस श्रुति में ऐसा क्यों कहा गया है कि '**यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह ।**'

श्रीजीमहाराज प्रसन्न होकर बोले कि 'इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार पृथ्वी आकाश में रही है [२]फिर भी वह [३]आकाशभाव को प्राप्त नहीं होती, जल आकाश में रहने पर भी आकाशभाव को नहीं पाता, तेज आकाश में स्थित रहा है, किन्तु आकाशभाव को प्राप्त नहीं होता तथा वायु

---

१. 'सब लोग मुझे जानें और देखें', भगवान का ऐसा संकल्प होने से, प्राकृत देहेन्द्रियादिभाववाले भी प्रत्यक्ष भगवान को जानते और देखते हैं, इतना तात्पर्यार्थ है.

२. स्थितिकाल में.

३. सूक्ष्मभाव.

आकाश में रहने पर भी आकाशभाव को नहीं [1]पाती, वैसे ही मन और वाणी भगवान को प्राप्त नहीं होते.'

नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! श्रुतिस्मृति में ऐसा कहा गया है कि 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति', 'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह तो हमने अभक्तों के मन और इन्द्रियों के लिये कहा गया है. परन्तु, भक्तों के मन और इन्द्रियाँ तो भगवान को साक्षात्कार भाव से प्राप्त होती हैं. जैसे आकाश में रही हुई पृथ्वी प्रलयकाल में आकाशरूप हो जाती है तथा जल, तेज एवं वायु सभी आकाशरूप हो जाते हैं वैसे ही भगवान के भक्तों की देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और प्राण भगवान सम्बन्धी ज्ञान से भगवान के आकाररूप तथा दिव्य हो जाते हैं, क्योंकि भगवान स्वयं दिव्यमूर्ति हैं. इसीलिए, उन भक्तों की देह, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण, सभी भगवान की इन्द्रियों, अन्तःकरण तथा देह के आकार रूप हो जाते हैं, अर्थात् दिव्य हो जाते हैं.

यहाँ एक दृष्टान्त है – जैसे भँवरी कीड़े को पकड़ लेती है और उसे डंक मारकर उसके ऊपर गुंजार करती है, जिससे वह कीट उसी देह से तदाकार हो जाता है, परन्तु कीट का कोई अंग नहीं रहता, वह तो भँवरी के समान भँवरी ही हो जाता है, वैसे ही यह भगवान का भक्त भी उसी देह से भगवान् के आकार का हो जाता है. हमने जो वार्ता कही है, उसका सारांश यह है कि आत्मज्ञान सहित भक्तिनिष्ठावाले तथा केवल भक्तिनिष्ठावाले दोनों की यह गति कही गयी है. फिर भी, केवल आत्मनिष्ठावाले कैवल्यार्थी की देह, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण का भगवान की मूर्ति का तदाकारभाव नहीं होता.

वे तो केवल [2]ब्रह्मसत्ता को प्राप्त होते हैं. इतनी वार्ता करने के बाद श्रीजीमहाराज यह बोले कि यह वार्ता यहीं तक रखिये, क्योंकि सभा में स्तब्धता आ गयी है. इसलिए, कुछ अच्छे कीर्तन करिये. इतना कहकर वे स्वयं ध्यानस्थ हो गये और सन्त कीर्तन करने लगे.' ॥ इति वचनामृतम् ॥१॥ ॥९७॥

---

१. परमेश्वर अतिदिव्य हैं तथा वागादि इन्द्रियाँ अतिस्थूल हैं, इसलिए इन्द्रियाँ भगवान को ग्रहण नहीं करतीं.

२. निराकार अक्षरभाव को.

वचनामृत २ : शापित बुद्धि

संवत् १८७७ में आश्विन शुक्ल *द्वितीया को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज की आज्ञा से छोटे-छोटे परमहंस निकट आकर प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रस्तुत कर रहे थे. श्रीजीमहाराज बोले कि 'अच्छा हम एक प्रश्न पूछते हैं.' तब सब बोले : 'पूछिये महाराज !'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'किसी पुरुष की बुद्धि तो ऐसी होती है कि जिस दिन से सत्संग किया हो उस दिन से वह भगवान तथा सन्त पर दोष तो अवश्य लगाता है, परन्तु वह टिकता नहीं, मिट जाता है. इस प्रकार, उसमें भगवान तथा सन्त के प्रति गुणों और दोषों की भावना बनी रहती है, फिर भी वह सत्संग छोड़कर कभी भी नहीं जाता. वह अपनी बुद्धि के अनुसार ऐसा मानता है कि 'ऐसे सन्त ब्रह्मांड में कहीं भी नहीं है और इन महाराज के सिवाय दूसरा कोई भगवान नहीं है.' उसकी समझ ऐसी है, इस कारण वह सत्संग में अडिग रहता है, जबकि अन्य पुरुष की ऐसी बुद्धि है कि वह सन्त अथवा भगवान पर कभी भी दोष नहीं लगाता. इन दोनों की बुद्धि और भगवान सम्बन्धी निश्चय भी एकसमान है, किन्तु इनमें से एक की मनोवृत्ति दोष लगाने की रहती है, जबकि दूसरा पुरुष इससे अलिप्त रहता है. जिसकी आक्षेपकारी मनोवृत्ति है, उसकी बुद्धि में कौन-सा दोष है ? यह प्रश्न हम छोटे शिवानन्द स्वामी से पूछते हैं.'

छोटे शिवानन्द स्वामी इसका उत्तर देने लगे, किन्तु वे यथेष्ट उत्तर न दे सके. भगवदानन्द स्वामी ने कहा कि 'इस पुरुष की बुद्धि शापित है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'ठीक कहते हैं. इस प्रश्न का उत्तर यही है कि क्या कोई जगत में ऐसा नहीं कहता कि 'इसको तो किसी का शाप लगा है.' शायद इसने बड़े सन्त अथवा किसी गरीब का दिल दुखाया है या माँ-बाप

---

* मंगलवार, ९ अक्तूबर, १८२०.

की सेवा नहीं की है, इसी कारण उन्होंने इसे शाप दिया है, जिससे इनकी ऐसी बुद्धि बनी हुई है.' भगवदानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! इसकी शापित बुद्धि में किस प्रकार सुधार हो सकता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका विश्लेषण तो यह है कि हमने अपने माथे पर जो वस्त्र बाँध रखा है उसे और दड़ी जैसे मोटे वस्त्र को समान परिश्रम से नहीं धोया जा सकता. यदि इस पतले वस्त्र को धोना हो, तो उसमें थोड़ा-सा साबुन लगाकर उसे धो डालने पर वह तुरन्त साफ हो जायगा. अगर मोटे वस्त्र को धोना हो, तो पहले तो उसे पानी में दो-चार दिन तक भिगाकर रखना पड़ेगा, इसके बाद इसे भट्ठी पर चढ़ाकर भाप देनी पड़ेगी, तब साबुन लगाकर धोने से यह साफ हो जायगा. वैसे ही जिसकी बुद्धि शापित है, वह अगर अन्य भक्तों के समान साधना करे, तो उसका दोष नहीं मिट पायगा. अन्य भक्त जिस प्रकार निष्कामी, निःस्वादी, निर्लोभी, निःस्नेही तथा निर्मानी रहते हैं, उनकी तरह ही उसे नहीं रहना चाहिये. उसे तो ऐसे निष्कामी, निर्लोभी, निःस्वादी, निःस्नेही तथा निर्मानी जनों की अपेक्षा अधिक निष्कामी, निर्लोभी, निःस्वादी, निःस्नेही और निर्मानी होना चाहिए. उसे दूसरों के सोने के बाद एक घड़ी देर से सोना, दूसरों की अपेक्षा अधिक मालाएँ फेरनी तथा अन्य पुरुषों के उठने से पूर्व घड़ीभर पहले ही उठ जाना चाहिये. इस प्रकार अन्य जनों की अपेक्षा इन नियमों का विशेष पालन करने से ही उसकी अभिशप्त बुद्धि मिट जायगी, अन्यथा वह कभी भी नहीं मिट सकेगी.'

वयोवृद्ध शिवानन्द स्वामी ने बड़े योगानन्द स्वामी से प्रश्न पूछा कि 'कर्म मूर्तिमान हैं या अमूर्त ?' बड़े योगानन्द स्वामी ने कहा कि 'मुझे ऐसा नहीं लगता कि मैं इसका उत्तर दे सकूँगा.'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'वस्तुतः कर्म तो अमूर्त हैं और इन कर्मों के परिणामस्वरूप होनेवाले शुभाशुभ फल मूर्तिमान रहते हैं. जो लोग कर्मों को मूर्तिमान कहते हैं, वे तो नास्तिक हैं, क्योंकि कर्मात्मक क्रिया कभी भी मूर्तिमान नहीं होती.' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने बहुत-सी वार्ताएँ कीं. उनमें से ही यह वार्ता संक्षिप्तरूप से लिखी गयी है.

॥ इति वचनामृतम् ॥२॥ ॥९८॥

वचनामृत ३ : शुकमुनि

संवत् १८७७ में आश्विन कृष्ण *सप्तमी को सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने सिर पर श्वेत फेंटा बाँधा था, सफेद दुपट्टा धारण किया था तथा श्वेत चादर ओढ़ी थी. वे उत्तर की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'ये शुकमुनि बहुत बड़े साधु हैं. जिस दिन से ये हमारे पास रहे हैं, उस दिन से इनकी निरन्तर प्रगति होती रही है, परन्तु उसमें कोई शिथिलता नहीं आयी. इसलिए, ये मुक्तानन्द स्वामी के समान हैं. ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि मनुष्यों में परस्पर गुणों द्वारा स्नेह होता है और दोषों से दुर्गुण आते हैं. इन गुणों और दोषों का मूल्यांकन मनुष्यों के बाह्य स्वभाव से नहीं किया जा सकता, क्योंकि कोई मनुष्य तो बिल्ला की तरह नीची नज़र रखकर चलता है, परन्तु आन्तरिक रूप से वह अतिकामी होता है. उसे देखकर कोई नासमझ आदमी ऐसा कहता है कि 'यह तो बहुत बड़ा साधु है.' यदि कोई मनुष्य डगमगायी नजर रखकर चलता है, तो उसे देखकर वह कहता है कि 'यह तो लफंगा है', भले ही वह आन्तरिक रूप से महानिष्कामी क्यों न रहे. इसलिए, बाह्य शारीरिक प्रवृत्ति देखकर मनुष्य के स्वभाव की परीक्षा नहीं हो सकती. उसकी परीक्षा तो साथ में रहने पर होती है. साथ में रहते समय बोलने-चालने, खाने-पीने, सोने और उठने-बैठने आदि क्रियाओं से ही उसके स्वभाव की सही जानकारी मिलती है. विशेषकर गुण-अवगुण युवावस्था में ही ज्ञात होते हैं, किन्तु बाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था में ये मालूम नहीं पड़ते, क्योंकि कोई बाल्यावस्था में अच्छा रहता है और युवास्था में बिगड़ जाता है.

जिस पुरुष को यह खटका लगा रहे कि 'मुझे यह संकल्प हुआ है, वह वांछनीय नहीं है' और यदि उसने इस संकल्प को टालने के लिये निरन्तर प्रयास किया और अपने खटके को बनाये रखा, तो ऐसे

---

* रविवार, १४ अक्तूबर, १८२०.

स्वभाववाले की युवावस्था में प्रगति होती रहती है, किन्तु जिसे खटका न हो और प्रमादी बना रहे, वह नहीं बढ़ पाता. 'यदि वह अच्छी आदतवाला हो, तो उसका परिचय बाल्यावस्था से ही होने लगता है.' इस सिलसिले में आपने अपने बचपन के त्यागी स्वभाव की बहुत-सी बातें कहीं. फिर, वे बोले कि जो 'अच्छा जीव होता है, उसे बचपन से ही दूसरे लड़कों की सोबत अच्छी नहीं लगती. वह चटोरा भी नहीं होता और शरीर का दमन किया करता है. देखिये, मुझे अपनी बाल्यावस्था में ही स्वामी कार्तिकेय की तरह ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि 'मेरे शरीर में माता का भागरूपी जो खून और मांस है, उसे न रहने दिया जाये.' इसलिए अनेक प्रयत्न करके मैंने अपने शरीर को इतना सुखा दिया कि 'शरीर में यदि किसी चीज़ से चोट लग जाय, तो पानी की बूँद निकलती है, खून नहीं निकलता.' इस प्रकार, सदाचारी की जानकारी तो बाल्यावस्था से ही मिल जाती है.'

भजनानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! मानसिक रूप से ऐसा विचार रखना उचित है या शरीर का दमन करना ठीक है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'कितने ही शरीर के दोष हैं और कितने ही मन के दोष हैं, जिन्हें जान लेना चाहिये. उनमें शरीर के कौन-से दोष हैं ? शिश्न-इन्द्रिय में बार-बार उत्तेजना और खुजलाहट होती है. शरीर के बल की वजह से वह मनुष्य कूदकर चलता है. घड़ीभर में सबको देख लेना, क्षणभर में नाना प्रकार के गन्धों को सूँघ लेना, बीस-पचीस कोस का मार्ग चलना, बलपूर्वक किसीसे भिड़कर उसकी हड्डियाँ तोड़ डालना तथा स्वप्न में वीर्यपात होना आदि दोष देह के दोष हैं, परन्तु ये दोष मन के नहीं हैं. इन शारीरिक दोषों के क्षीण हो जाने पर भी जब मन में काम, खाने-पीने, चलने, स्पर्श, गन्ध, शब्द तथा स्वाद के जो संकल्प बने रहते हैं, उन्हें मन के दोष जानना चाहिये. मन और शरीर के इन दोषों को जानकर शारीरिक दोषों को शरीर का दमन करके टाल देना चाहिये. शरीर के क्षीण हो जाने के बाद मन के जो दोष रह जायें, उन्हें विचार द्वारा मिटा डालना चाहिये कि 'मैं आत्मा हूँ, संकल्प से भिन्न हूँ तथा सुखरूप हूँ.' इस प्रकार शारीरिक दमन तथा विचार की ये दो बातें जिनमें हों वे बड़े साधु हैं. जो पुरुष शरीर का तो दमन करता है, किन्तु विचार नहीं रखता और जो जीव केवल विचार ही रखता है, किन्तु दमन नहीं करता, यह ठीक नहीं है.

इसलिए, ये दोनों गुण जिनमें हों वे ही श्रेष्ठ हैं. गृहस्थ सत्संगी को भी शारीरिक दमन करना चाहिये तथा विचार रखना चाहिये. फिर भी, त्यागी पुरुष को तो इनका अवश्यमेव पालन करना चाहिये.'

निष्कुलानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! इस प्रकार का आचरण विचार द्वारा होता है या वैराग्य द्वारा ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह तो बड़े सन्त के समागम द्वारा होता है. जिसके लिए यह बड़े सन्त के समागम द्वारा भी ऐसा सम्भव न हो सके, वह तो महापापी है.' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'त्यागी होकर भी जो पुरुष यदि गृहस्थ के भोगने योग्य भोगों की इच्छा रखता है, तो वह घास खाता है, क्योंकि उसे वे भोग प्राप्त होनेवाले नहीं हैं, जिनकी वह इच्छा रखता है. अतएव, यही कहना पड़ेगा कि उसकी समझ में यह बात आयी नहीं है कि जिस गाँव में उसे जाना नहीं है, उसका नाम ही क्यों पूछा जाय ? उसी तरह, इसने जिस पदार्थ का त्याग कर दिया हो, फिर भी यदि वह उसको पाने की अभिलाषा रखता है, तो क्या वह उसके लिये इस देह द्वारा उपलब्ध हो जायगा ? उसे तो यह सत्संग से विमुख होने पर भी प्राप्त हो सकता है, किन्तु सत्संग में रहते हुए उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती. सत्संग में रहते हुए जो पुरुष उन भोगों की इच्छा रखता है, वह मूर्ख है.

जो पुरुष सत्संग में रहेगा, उसे तो धर्म का पालन अवश्यमेव करना चाहिये. यदि कोई स्त्री सती होने के लिये निकले, किन्तु अग्नि को देखकर वह पुनः लौट जाय तो क्या उसके सम्बन्धीजन उसको पीछे लौटने देगें ? वे तो उसको जबरन जला देंगे. यदि कोई ब्राह्मणी विधवा होने पर भी सौभाग्यवती स्त्री के सदृश वेश रखती है, तो उसके सम्बन्धी लोग क्या उसे ऐसा परिधान धारण करने देंगे ? वे उसे ऐसी वेशभूषा नहीं धारण करने देंगे. वैसे ही, सत्संग में रहकर जो पुरुष अनुचित स्वभाव रखता है, वह इस प्रकार की बात नहीं समझ पाया है. यदि उसकी समझ में यह बात आयी होती, तो ऐसा अनुचित स्वभाव रहता ही नहीं.' इस प्रकार बात करने के बाद श्रीजीमहाराज 'जय स्वामिनारायण' कहकर शयन के लिये पधारे.

॥ इति वचनामृतम् ॥३॥ ॥९९॥

वचनामृत ४ : जीव तथा साक्षी

संवत् १८७७ में आश्विन कृष्ण *अष्टमी को डेढ़ प्रहर दिन चढ़ने के बाद श्रीजीमहाराज श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि आपस में प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ करिये. तब गोपालानन्द स्वामी ने भजनानन्द स्वामी से पूछा कि 'इस देह में जीव और [1]साक्षी का ज्ञातृत्व कितना है ?' भजनानन्द स्वामी उत्तर देने लगे, किन्तु यथार्थ उत्तर न दे सके.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस देह में बुद्धि नखशिखापर्यन्त व्याप्त होकर रही है. वह बुद्धि समस्त इन्दियों की क्रिया को एककालावच्छिन्न रूप से जानती है तथा बुद्धि में जीव व्याप्त होकर रहता है. उस जीव के ज्ञातृत्व के कथन में बुद्धि के ज्ञातृत्व के कथन का भी समावेश हो जाता है. उस जीव में परमात्मा साक्षी रूप में रहे हैं. अतएव, साक्षी के ज्ञातृत्वभाव में जीव का ज्ञातृत्व भी समाविष्ट हो [2]गया.'

श्रीजीमहाराज से नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! इस जीव में जो साक्षी रहे हैं, वे तो मूर्तिमान होते हैं, ऐसी स्थिति में वे व्यापक किस प्रकार हो सकते हैं ?'

---

* सोमवार, १५ अक्तूबर, १८२०.

१. जीव के अन्तर्यामी परमात्मा का.

१. जीव में स्वाभाविक रूप से ज्ञातृत्व रहा है, परन्तु सांसारिक दशा में उसका प्रसरण बुद्धि द्वारा होता है. उससे 'बुद्धि जानती है', ऐसा उसमें उपचार होता है. बुद्धि तो जड़ है, इसीलिए, उसमें स्वतः ज्ञातृत्व सम्भव नहीं है, इसीलिए, 'जीव के ज्ञातृत्व के कथन द्वारा बुद्धि का ज्ञातृत्व कहलाया', ऐसा कहते हैं. जीव में रहनेवाला ज्ञातृत्व भी स्वतन्त्र नहीं है, परन्तु वह उसमें अन्तर्यामीभाव से रहनेवाले परमात्मा के आधीन है. परमात्मा की प्रेरणा के बिना ज्ञाता जीवात्मा कोई भी प्रवृत्ति नहीं कर सकता. इसीलिए, जीव की ज्ञातृता भी परमात्मा के आगे अकिंचित्कर है, अतएव 'साक्षी के ज्ञातृत्व के कथन द्वारा जीव का ज्ञातृत्व कहलाया,' ऐसा कहते हैं, इतना तात्पर्यार्थ है.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो मूर्तिमान हों, वे व्यापक भी हो सकते हैं. जैसे अग्निदेव अपने लोक में मूर्तिमान हैं तथा अपनी शक्ति द्वारा काष्ठ में रहे हैं, वैसे ही भगवान भी अपने अक्षरधाम में मूर्तिमान होकर अपनी अन्तर्यामी शक्ति द्वारा जीवों में व्यापक होकर रहे हैं तथा मूर्तिमान की तरह क्रिया करते हैं, इसीलिए इन्हें भी मूर्तिमान मानना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥४॥ ॥१००॥

वचनामृत ५ : अवतार-धारण का प्रयोजन

संवत् १८७७ में आश्विन कृष्ण *चतुर्दशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में छप्पर पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'हम एक प्रश्न पूछते हैं.' सभी मुनि बोले कि 'पूछिये महाराज !' श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'भगवान जीवों के कल्याण के लिये, पृथ्वी पर अवतार धारण करते हैं. अवतार धारण किये बिना ही अपने धाम में रहते हुए क्या वे जीवों का कल्याण करने में समर्थ नहीं हैं ? जीवों का कल्याण तो भगवान अपनी इच्छा के अनुसार करते ही हैं तब अवतार धारण करने का प्रयोजन क्या है ? वस्तुतः भगवान अवतार धारण करके ही जीवों का कल्याण कर सकते हैं. यदि वे अवतार धारण किये बिना जीवो का कल्याण नहीं कर सकते, तो भगवान की सामर्थ्य में न्यूनता रहे. इसलिए, भगवान तो अवतार धारण करके और अवतार धारण किये बिना ही जीवों का कल्याण कर सकते हैं. इसलिए, उन भगवान को अवतार धारण करने का क्या प्रयोजन है ?'

बड़े-बड़े साधुओं ने अपनी बुद्धि के अनुसार इसका उत्तर दिया, किन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का किसीसे भी समाधान न हो सका. श्रीजीमहाराज ने आशंका प्रकट की, इस कारण सबके उत्तर अयथार्थ सिद्ध हो गये. बाद में सभी मुनि हाथ जोड़कर बोले कि 'हे महाराज ! इस प्रश्न

---

* रविवार, ४ नवम्बर, १८२०

का उत्तर तो आप ही दीजिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान के अवतार-धारण करने का प्रयोजन यही है कि परमेश्वर अपने से अत्यन्त प्रीति रखनेवाले भक्तजनों की भक्ति के आधीन होकर उन्हें सुख देने के लिये, उनकी इच्छा के अनुसार ही रूप धारण करते हैं और भक्तों के जो मनोरथ होते हैं उन्हें पूर्ण करते हैं. भगवान के जो भक्त हैं, वे तो स्थूलभाव से युक्त होकर देहधारी रहते हैं, इस कारण भगवान भी स्थूलभाव को धारण करके देहधारी सदृश हो जाते हैं. इस प्रकार वे अपने भक्तों से लाड़ करते हैं और अपनी सामर्थ्य को छिपाकर उन भक्तों के साथ पुत्रभाव अथवा सखाभाव या मित्रभाव के साथ अथवा सम्बन्धियों के समान व्यवहार करते हैं. इस कारण भक्तों के लिये भगवान की अधिक मर्यादा नहीं रहती. इसके पश्चात् भगवान अपने इन भक्तों की इच्छा के अनुसार इनसे लाड़ करते हैं. वास्तव में भगवान के अवतार धारण करने का [१]उद्देश्य अपने प्रेमी भक्तों के मनोरथ पूर्ण करना ही है. इसके साथ-साथ ही वे असंख्य जीवों का कल्याण तथा धर्म की स्थापना भी करते हैं. [२]अब इसमें आशंका होती हो, तो बोलिये.' तब मुनियों ने कहा कि 'हे महाराज ! आपने यथार्थ उत्तर दे दिया है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥५॥ ॥१०१॥

वचनामृत ६ : मत्सर समस्त विकारों का आधार

संवत् १८७७ में आश्विन कृष्ण (उत्तर भारतीय कार्तिक कृष्ण) *अमावास्या को दिवाली के दिन श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन के उत्तरी द्वार के कमरे के आगे दीपमाला जगमगा रही थी. उस दीपमाला से मंच तैयार किया गया था. उस मंच पर छप्पर पलंग बिछा हुआ था, जिस पर स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज विराजमान थे. उन्होंने सुनहरे बूटेदार लाल किनखाब का चूड़ीदार पायजामा पहना था, नरनारायण स्वामिनारायण नामांकितवाले कीमखाब की बगलबंड़ी पहनी थी, सिर पर

* सोमवार, ५ नवम्बर, १८२०

१. मुख्य.

२. गीता के 'परित्राणाय साधूनाम्' श्लोक के अर्थ का निरूपण रामानुजभाष्य में किया गया है.

सुनहरे तार के घुमावदार पल्ले की कुसुम्भी पाग बाँधी थी और आसमानी रंग का फेंटा कमर में कसकर बाँधा था तथा कंठ में पीले पुष्पों के हार धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देशभर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

इस अवसर पर देवद्वीप बंदरगाह के हरिभक्त आये थे. उन्होंने श्रीजीमहाराज की पूजा करने के लिये प्रार्थना की. श्रीजीमहाराज उस सिंहासन से उत्तरकर आ गये और उन्होंने भक्तों के सम्मुख जाकर उनकी पूजा अंगीकार की. इसके पश्चात् वे इन भक्तों द्वारा समर्पित वस्त्रों, पीले छत्र तथा पादुकाओं को ग्रहण करके पुनः सिंहासन पर विराजमान हो गये.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'कितने ही वर्षों से अनेक हरिभक्त हमारे लिये वस्त्र तथा हजारो रुपयों के अलंकार लाते हैं, परन्तु हम इस ढंग से किसी के भी सामने जाकर ऐसी वस्तुओं को ग्रहण नहीं करते तथा इस प्रकार किसी के वस्त्र और आभूषण पहनकर भी प्रसन्न नहीं हुए हैं. आज तो हमें इन हरिभक्तों पर अत्यन्त प्रसन्नता हुई.' मुनियों ने कहा कि 'ऐसे ही ये प्रेमी हरिभक्त हैं.' इसी समय दीनानाथ भट्ट आये और श्रीजीमहाराज के चरणों में प्रणाम करके बैठ गये. तभी श्रीजीमहाराज ने वे सभी बहुमूल्य वस्त्र दीनानाथ भट्ट को दे दिये.

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! भगवान अपने भक्तों पर कौन-से गुणों से प्रसन्न होते होंगे ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो भक्तजन काम, क्रोध, लोभ, कपट, मान, ईर्ष्या तथा [१]मत्सर से रहित होकर भगवान की भक्ति किया करते हैं, उन पर भगवान प्रसन्न होते हैं. इनमें भी मत्सर विकारों का आधार है. इसीलिए, श्रीव्यासजी ने श्रीमद्भागवत में निर्मत्सर सन्त को ही भागवत धर्म का अधिकारी बताया है. इस कारण, मत्सर समस्त विकारों से सूक्ष्म है और उसे मिटाना भी अत्यन्त कठिन है.'

---

१. ईर्ष्या तथा मत्सर का अनेक स्थानों में एक ही अर्थ में उपयोग होता है. जहाँ दोनों शब्द पृथक् हों वहाँ अपने समान किसी अन्य पुरुष का उत्कर्ष सहन न किया जा सके, उसे ईर्ष्या तथा 'अपने समान अथवा असमान दूसरे की उन्नति सह्य न हो सके', उसे मत्सर कहा गया है. इस प्रकार सहज अर्थभेद समझ लेना चाहिये.

ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि 'मत्सर को मिटाने का क्या उपाय है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'सन्त के मार्ग पर चलनेवाला जो पुरुष सन्त-जैसा हो, उसका मत्सर मिट जाता है, किन्तु उस मनुष्य का मत्सर नहीं टलता, जो सन्त के मार्ग पर नहीं चला करता.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'मत्सर के उत्पन्न होने का कौन-सा कारण है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'स्त्री, धन और अच्छा स्वादिष्ट भोजन मत्सर के हेतु बन जाते हैं. जिसमें इन तीनों का सम्बन्ध न हो, उससे मान मत्सर की उत्पत्ति का कारण बन जाता है. जिसका स्वभाव मत्सरपूर्ण होगा, उसे तो इस बात पर भी मस्तर उत्पन्न हो गया होगा कि हमने भट्टजी को वस्त्र दे दिये. परन्तु, वह तो यह विचार नहीं करता कि जो हरिभक्त वस्त्र लाये थे, वे धन्य हैं कि उन्होंने ऐसे कीमती कपड़ें महाराज को पहनाये. महाराज को भी धन्यवाद है कि उन्होंने ऐसे वस्त्र 'तत्काल ब्राह्मण को दे दिये.' मत्सरवाले के हृदय में ऐसा विचार नहीं आता. कोई लेता है और कोई देता है, फिर भी मत्सर स्वभाववाला पुरुष व्यर्थ ही बीच में जलकर खाक होता रहता है.

हमें तो हृदय में लेशमात्र भी काम, क्रोध, लोभ, मान, मत्सर, ईर्ष्या के भाव उत्पन्न नहीं होते. शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध नामक पंचविषयों का तो हृदय में अत्यन्त अभाव रहता है. हमें तो इन पंचविषयों में से एक भी विषय का लेशमात्र भी भाव नहीं रहता. हम जो कुछ भी अन्नवस्त्रादि ग्रहण करते हैं, उन्हें तो भक्त की भक्ति देखकर ही स्वीकार करते हैं. हम अपने दैहिक सुख के लिये इन वस्तुओं को ग्रहण नहीं करते. हम जो कुछ भी खाते-पीते, ओढ़ते और पहनते हैं, वह तो सन्त तथा सत्संगीजनों की खातिर ही करते हैं. यदि मुझे यह मालूम हो जाय कि ये वस्त्रादि पदार्थ भक्त के आनन्द के लिये नहीं, बल्कि मेरे आनन्द के लिये दिये जाते हैं, तो मैं इन पदार्थों का तत्काल परित्याग कर देता हूँ. हम यह देह सत्संगियों के लिये ही रखते हैं, किन्तु शरीर को बनाये रखने का दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है. हमारे इस स्वभाव को तो मूलजी ब्रह्मचारी तथा सोमला खाचर आदि हरिभक्त, जो कितने ही वर्षों से हमारे पास रहे हैं, अच्छी तरह जानते हैं कि 'महाराज को प्रभु के भक्तों के सिवा अन्य किसी भी पुरुष के साथ स्नेह-

सम्बन्ध नहीं है तथा महाराज तो आकाश के सदृश निर्लेप हैं.' हमारे पास निरन्तर रहनेवाले भक्त ही हमारे स्वभाव को जानते हैं.

हमने तो मनसा-वाचा-कर्मणा परमेश्वर के भक्तों के हित के लिये ही यह देह श्रीकृष्णार्पण कर रखी है. इसलिए, समस्त प्रकार से हमारा सम्बन्ध केवल भगवान के भक्तों के साथ ही रहता है. भगवान के भक्तों के बिना तो हमारे लिये चौदह लोकों की सम्पत्ति भी तृणवत् प्रतीत होती है. भगवान के जो भक्त हैं तथा जिन्हें केवल भगवान के साथ ही दृढ़ प्रीति रहती है, उन्हें भी रमणीय पंचविषयों में आनन्द आता ही नहीं है. वे तो देह को रखने के लिये ही जैसे-तैसे शब्दादि विषयों द्वारा गुज़ारा किया करते हैं, परन्तु रमणीय विषयों से तो तत्काल उदासीन हो जाते हैं. जो पुरुष ऐसे हों उन्हें ही भगवान का परिपूर्ण भक्त कहा जाता है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥६॥ ॥१०२॥

वचनामृत ७ : आत्यन्तिक कल्याण

संवत् १८७७ में कार्तिक शुक्ल *प्रतिपदा को रात्रि के समय श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के आगे दीपमाला जगमगा रही थी. उस दीपमाला के मध्यभाग में मंच बना हुआ था, जिस पर पलंग बिछा था. उस पलंग पर श्रीजीमहाराज विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

बोचासण ग्रामवासी काशीदास ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! त्यागी पुरुष तो निवृत्ति मार्ग के अनुगामी होने के कारण भगवान में अखंड वृत्ति बनाये रखते हैं तथा गृहस्थाश्रमी लोग प्रवृत्तिमार्ग पर चलते हैं. इसलिए, वे अनेक उलझनों से घिरे रहते हैं. अतएव, ऐसा कौन-सा उपाय है, जिससे भगवान के स्वरूप में उनकी अखंड वृत्ति बनी रहे ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'गृहस्थ को तो यह समझ लेना चाहिये कि जिस प्रकार पहले की चौरासी लाख योनियों में मेरे माँ-बाप और स्त्री-पुरुष थे, वैसे ही इस देह के भी हैं. कितने ही जन्मों की कितनी ही माताएँ, बहनें

---

* मंगलवार, ६ नवम्बर, १८२०.

और लड़कियाँ जहाँ-तहाँ घूमती फिरती होंगी. जिस प्रकार मुझे उनकी ममता नहीं रही, वैसे ही इस देह के सम्बन्धियों से भी मुझे ममता नहीं रखनी चाहिये. ऐसा विचार कर सबसे आसक्ति छोड़कर भगवान से ही दृढ़ प्रीति करनी चाहिये और साधुओं का समागम करना चाहिये. ऐसा करने से गृहस्थ को भी त्यागी की तरह भगवान में अखंड वृत्ति रह सकती है.'

श्रीजीमहाराज की इस प्रकार की बात सुनकर सभा में उपस्थित समस्त गृहस्थों ने हाथ जोड़कर उनसे पूछा कि 'हे महाराज ! जिस गृहस्थ से इस तरह का आचरण न हो सके, उसका क्या हाल होगा ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह बात तो हमने उन लोगों के लिये कही है कि परमेश्वर के सिवा अन्य पदार्थों से समस्त वासनाओं को त्याग कर भगवान में ही अखंड वृत्ति रखें. यदि वह ऐसा हिम्मतवाला न हो, तो उसे सत्संग की धर्ममर्यादा में रहना चाहिये तथा सन्त और भगवान के आश्रय का संबल रखना चाहिये कि 'भगवान तो अधमों के उद्धारक और पतितपावन हैं, वे मुझे साक्षात् मिले हैं.' श्रीजीमहाराज के ऐसे वचनों को सुनकर समस्त हरिभक्त अत्यन्त प्रसन्न हुए.

श्रीजीमहाराज ने साधुओं से प्रश्न पूछा कि 'वैराग्य के उदय होने का क्या कारण है ?' तब जिसे जैसा समझ में आया, उसने उसका वैसा उत्तर दिया, परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान नहीं हुआ. बाद में समस्त मुनि यह बोले कि 'हे महाराज ! इसका उत्तर आप दीजिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'वैराग्य के उदय होने का कारण तो यह है कि सद्ग्रन्थों तथा सत्पुरुषों के वचनों को सुनकर जिसे स्फूर्ति उत्पन्न हो गयी हो और वह फिर मिटने न पाये, तो वही वैराग्य का हेतु बन जाती है, दूसरी कोई भी बात वैराग्य का कारण नहीं बनती. जिसे ऐसी स्फुरणा हो गयी हो, भले ही वह तामसिक, राजसिक तथा सात्त्विक हो, उससे उसको तथा ऐसी स्फूर्ति रखनेवाले सभी लोगों को वैराग्य उत्पन्न हो जाता है. जिस पुरुष को ऐसी स्फूर्ति न हुई हो, उसे वैराग्य नहीं हो सकता. जिसे स्फूर्ति उत्पन्न होकर थोड़े दिन बाद ही मिट जाती हो, उसे तो वैसी स्फुरणावाला वैराग्य महाविनाश का कारण बन जाता है. जब स्फूर्ति होने लगती है तब वह घर छोड़कर चला जाता है. तब वह स्फूर्ति समाप्त हो जाती है, जो संसार का त्याग करने के बाद उत्पन्न हुई थी. उसके बाद घर तो

मटियामेट ही हो जाता है. तब वह पुरुष उसी प्रकार दोनों तरफ से पथभ्रष्ट हो जाता है, जिस तरह धोबी का कुत्ता न घर का रहता है, न घाट का. किन्तु, जिस पुरुष को दृढ़ वैराग्य होता है, वह परमपद को प्राप्त होता है.'

श्रीजीमहाराज ने अतिप्रसन्न होकर परमहंसों से दूसरा प्रश्न पूछा कि 'आत्यन्तिक कल्याण किसे कहा जाय ? जो पुरुष आत्यन्तिक कल्याण को पाकर सिद्धदशा को प्राप्त कर लेता है, उसकी समस्त क्रियाओं में कैसी स्थिति रहती है ?'

इस प्रश्न का उत्तर भी समस्त मुनियों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार दिया. परन्तु, श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान नहीं हुआ. तब समस्त मुनियों ने हाथ जोड़कर श्रीजीमहाराज से निवेदन किया कि 'हे महाराज ! इसका उत्तर आप दीजिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब ब्रह्मांड का प्रलय होता है, तब प्रकृति के कार्यरूप चौबीस तत्त्व प्रकृति में लीन हो जाते हैं तथा प्रकृति-पुरुष भी अक्षरब्रह्म के तेज में अदृश्य हो जाते हैं. बाद में अकेला सच्चिदानन्द (चिद्घन) तेज रह जाता है. उस तेज में दिव्यमूर्ति पुरुषोत्तम भगवान वासुदेव अखंडरूप से विराजमान रहते हैं. वे ही स्वयं दिव्यमूर्ति होकर जीवों के कल्याण के लिये मनुष्याकृति द्वारा पृथ्वी पर सभी लोगों के लिये दृष्टिगोचर होकर विचरण करते रहते हैं. जगत में जो नासमझ मूर्ख जीव हैं, वे उन भगवान को मायिक गुणों से युक्त कहते हैं. परन्तु, भगवान तो मायिक गुणयुक्त नहीं हैं. वे तो सदैव गुणातीत दिव्यमूर्ति ही रहते हैं. वेदान्त शास्त्र भगवान के उसी साकार दिव्य स्वरूप का प्रतिपादन उसे निर्गुण, अछेद्य, अभेद्य तथा सर्वव्यापी बताकर करता है. वे जीव की बुद्धि में से भगवान के स्वरूप सम्बन्धी मायिक भावों को मिटाने के लिये भगवान को निर्गुण कहकर ऐसा प्रतिपादन करते हैं. वे भगवान उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय नामक कालों में एकरूप से ही विराजमान रहते हैं, परन्तु मायिक पदार्थों की तरह विकार को प्राप्त नहीं होते. सदा दिव्यरूप से ही विराजमान रहते हैं. इस रीति से प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम में जो दृढ़ निष्ठा रहती है, उसीको आत्यन्तिक कल्याण कहते हैं.

ऐसी निष्ठा को पाकर जो पुरुष सिद्धदशा को प्राप्त हुआ हो, उसकी स्थिति इस प्रकार रहती है कि वह पिंड, ब्रह्मांड तथा प्रकृतिपुरुष का प्रलय

होने के पश्चात् अक्षरधाम में अखंडरूप से विराजमान भगवान की मूर्ति को स्थावर-जंगम आदि सभी आकारों में सर्वत्र दृष्टि पहुँचने पर साक्षात् देखता है. तब उसे इस मूर्ति के सिवा अणुमात्र भी अन्य वस्तु नहीं दिखायी पड़ती. सिद्धदशा का यह लक्षण है.' ।। इति वचनामृतम् ।।७।। ।।१०३।।

वचनामृत ८ : सगुण-निर्गुण स्वरूप

संवत् १८७७ में कार्तिक शुक्ल *चतुर्थी को श्रीजीमहाराज श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देशभर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! वेदों, शास्त्रों, पुराणों और [1]इतिहास में भगवान के सगुण तथा निर्गुण स्वरूपों का निरूपण किया गया है, फिर भी [2]उन भगवान श्रीपुरुषोत्तम के निर्गुण एवं सगुण स्वरूपों को कैसे समझना चाहिये ? भगवान के सगुण तथा निर्गुण स्वरूपों को समझने से भगवान के भक्त की बुद्धि में कितना प्रकाश होता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान का निर्गुण स्वरूप जो सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म तथा पृथ्वी आदि समस्त तत्त्वों, उनसे परे प्रधानपुरुष, उनसे परे शुद्धपुरुष तथा प्रकृति और उनसे परे अक्षर की भी [3]आत्मा है. ये सब भगवान के शरीर हैं. जैसे देह की अपेक्षा जीव सूक्ष्म, शुद्ध तथा अधिक प्रकाशमान है, वैसे ही भगवान इन सबसे अतिशय सूक्ष्म, अतिशय शुद्ध, अतिशय निर्लेप एवं अतिप्रकाशयुक्त हैं.

जैसे आकाश पृथ्वी आदि चार भूतों में व्यापक है तथा उनसे असंगी है और उन चार भूतों से निर्लिप्त है, क्योंकि आकाश तो अत्यन्त अलिप्त रहकर इन चार भूतों में रहा है, वैसे ही पुरुषोत्तम भगवान सबकी आत्मारूप होकर उनमें रहे हैं, तब भी नितान्त निर्विकार, असंगी और स्वयं अपने स्वभाव से युक्त हैं. उनके समान होने में कोई भी समर्थ नहीं होता. जैसे

---

* शुक्रवार, ९ नवम्बर, १८२०

१. महाभारत तथा रामायण.

२. 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' ऐसा श्रुतियों में कहा गया है.

३. धारक, नियन्ता तथा शेषी.

आकाश चार भूतों में रहा है, परन्तु ये आकाश के समान निर्लेप और असंगी होने में समर्थ नहीं होते, वैसे ही पुरुषोत्तम भगवान यद्यपि सबकी आत्मा हैं, फिर भी अक्षरपर्यन्त कोई भी उनके समान होने के लिये समर्थ नहीं होता. इस प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्मता, अतिशय निर्लेपता, अतिशय शुद्धता, अतिशय असंगीभाव, अतिशय प्रकाशयुक्तता तथा अतिशय ऐश्वर्य, ये सभी उन भगवान की मूर्ति में निर्गुणता के द्योतक हैं.

जैसे गिरनार पर्वत को लोकालोक पर्वत के पास रखा जाय, तो वह अत्यन्त छोटा दिखायी पड़ेगा, किन्तु इससे गिरनार पर्वत कोई छोटा नहीं हो गया. परन्तु, वह तो लोकालोक पर्वत की अतिशय महत्ता के आगे छोटा दिखायी पड़ता है, वैसे ही पुरुषोत्तम भगवान की महत्ता के आगे अष्ट आवरणयुक्त अनन्तकोटि ब्रह्मांड अणु सदृश, अतिसूक्ष्म दीख पड़ते हैं. इस कारण ब्रह्मांड छोटे नहीं हो गये. वे तो भगवान की महत्ता के आगे छोटे दीख पड़ते हैं. इस, प्रकार भगवान की मूर्ति में व्याप्त अतिशय महत्ता ही भगवान की सगुणता है.'

तब किसी को ऐसी आशंका हो सकती है कि 'भगवान निर्गुण रूप से अतिसूक्ष्म होने की भी अपेक्षा सूक्ष्म तथा सगुण रूप से अतिस्थूल होने के भी बजाय स्थूल हैं, तब इन दोनों रूपों को धारण करनेवाले भगवान का मूल स्वरूप कैसा है ?' इसका उत्तर इस प्रकार है कि प्रकट प्रमाण भगवान मनुष्याकार में दिखायी पड़ते हैं. हमेशा के लिये भगवान का यही मूल स्वरूप है. निर्गुण तथा सगुणभाव इस मूर्ति के अलौकिक ऐश्वर्य हैं. ऐसे श्रीकृष्ण भगवान जब ब्राह्मण के पुत्र को लाने के लिये अर्जुन के साथ रथ में बैठकर चले, तब लोकालोक पर्वत को पार करने के बाद उनके समक्ष माया का जो तम उपस्थित हुआ, उसे उन्होंने सुदर्शन चक्र द्वारा काट दिया और उसके ऊपर विद्यमान ब्रह्मज्योति में रहनेवाले भूमापुरुष के पास से ब्राह्मण के पुत्र को ले आये, तब रथ और घोड़े मायिक तथा स्थूलभाव से युक्त थे, परन्तु श्रीकृष्ण भगवन के योग से अतिसूक्ष्म और चैतन्य होकर वे भगवान के निर्गुण ब्रह्मधाम को प्राप्त हुए. इस प्रकार स्थूल पदार्थ को सूक्ष्म भाव प्राप्त करा देना श्रीकृष्ण भगवान की मूर्ति में निर्गुणभाव है. उन्हीं श्रीकृष्ण भगवान ने अपनी माता यशोदा को अपने मुख में अष्टावरणयुक्त समग्र ब्रह्मांड दिखलाया और अर्जुन को अपनी मूर्ति में विश्वरूप का दर्शन

कराया था, किन्तु अर्जुन के सिवा जो दूसरे लोग थे, उन्हें तो भगवान की साढ़े तीन हाथ की मूर्ति ही दिखायी पड़ रही थी. जब भगवान ने वामनावतार धारण किया, तब पहले तो उन्होंने वामनरूप में दर्शन दिये और राजा बली से तीन चरण पृथ्वी श्रीकृष्णार्पण करा लेने के पश्चात् अपना स्वरूप इतना बढ़ाया कि उनका एक चरण तो सात पातालों तक फैल गया और आकाश में उनका शरीर समा गया. दूसरा चरण उन्होंने ऊँचा रखा, जिसके द्वारा सात स्वर्गों को बेधकर अंडकटाह को फोड़ डाला. भगवान के ऐसे विराट स्वरूप को बली राजा ने देखा. बली राजा के सिवाय जो अन्य पुरुष थे, उन्हें तो भगवान का वामनस्वरूप ही दिखायी पड़ा. इस प्रकार, भगवान में अतिशय महत्ता से भी अधिक महत्ता दिखायी पड़े, उसीको भगवान की मूर्ति में सगुणभाव जानना चहिये.

जैसे शीतकाल तथा उष्णकाल के दरम्यान आकाश में बादल नहीं रहते, किन्तु वर्षा-ऋतु का आगमन होने पर वह असंख्य मेघों की घटाओं से भर जाता है, आकाश में बादल काल द्वारा पैदा होते हैं, फिर विलीन हो जाते हैं, वैसे ही भगवान अपनी इच्छा द्वारा अपने में से निर्गुण तथा सगुणरूप ऐश्वर्यों को प्रकट करते हैं और फिर उन्हें अपने में ही विलीन कर लेते हैं. ऐसे भगवान भले ही मनुष्यसदृश दिखायी पड़ते हों, फिर भी उनकी महिमा का कोई भी पार नहीं पा सकता. जो भक्त इस प्रकार भगवान की मूर्ति में निर्गुण तथा सगुण भाव को समझ लेता है, उस पुरुष को काल, कर्म तथा माया बन्धन में बाँधने में समर्थ नहीं होते. उसके अन्तःकरण में तो आठों प्रहर आश्चर्य ही रहता है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥८॥ ॥१०४॥

वचनामृत ९ : छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति

संवत् १८७७ में कार्तिक शुक्ल *पंचमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

---

* शनिवार, १० नवम्बर, १८२०.

श्रीजीमहाराज ने नित्यानन्द स्वामी तथा ब्रह्मानन्द स्वामी से प्रश्न पूछा कि 'जिसमें ऐसा मलिनतापूर्ण क्रोध रहे कि जिसके साथ अनबन हो जाय, उसके साथ कभी भी समाधान न कर सके, ऐसे पुरुष को साधु कहा जाय या नहीं ?' दोनों मुनि बोले कि 'जो ऐसा पुरुष हो, उसे साधु नहीं कहा जाना चाहिये.'

मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! भगवान के जिस भक्त के हृदय में किसी भगवदीय पुरुष के सम्बन्ध में अवगुण की प्रवृत्ति रहती हो तथा उस कारण उस पर गुस्सा भी आता हो, तो इस अवगुण को मिटाने का कौन-सा उपाय हो सकता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसके हृदय में भगवान की भक्ति रहे और वह भगवान की महिमा जानता हो, उसे भगवद्‌भक्त में अवगुण दिखायी ही नहीं पड़ेंगे तो क्रोध की ग्रन्थि नहीं बनेगी. उद्धवजी भगवान की महिमा जानते थे, तो उन्होंने ऐसा वर माँगा कि 'इन गोपियों की चरणरज के अधिकारी इस वृन्दावन में लता, तृणों और गुच्छों में से मैं भी कोई हो जाऊँ.' श्रीकृष्ण भगवान ने बलदेवजी से कहा है कि वृन्दावन-स्थित वृक्ष, पक्षी तथा मृग अत्यन्त महान भाग्यशाली हैं. ब्रह्मा ने भी श्रीकृष्ण भगवान से यह वर माँगा है कि 'हे प्रभो ! इस जन्म में अथवा पशुपक्षियों के जन्म में आपके दासों के बीच रहकर मैं आपके चरणारविन्दों की सेवा करता रहूँ, ऐसा मेरा महान भाग्य हो.'

जब कोई पुरुष भगवान के भक्त की ऐसी महिमा समझ लेता है, तब वह भगवद्‌भक्त के प्रति कभी भी ऐसा अवगुण नहीं रखता. अपने इष्टदेव प्रत्यक्ष भगवान के भक्त में यदि कोई अल्प दोष रहा भी तो भी महिमा समझनेवाले पुरुष की उस पर दृष्टि नहीं जाती. जो पुरुष भगवान की महिमा को जानता हो, वह तो भगवान के सम्बन्ध को प्राप्त हुए पशुपक्षियों तथा वृक्षवेलियों आदि तक को भी जब देवतुल्य मानता है, तब भगवान की भक्ति, व्रतों का पालन तथा भगवान का नामस्मरण करनेवाले भक्त को देवसदृश मानकर यदि वह उसमें कोई दोष न देखे, तो इसके लिए कहना ही क्या है ? जो पुरुष भगवान की महिमा को समझता है, उसका भगवान के भक्त के साथ वैरभाव नहीं रहता. जो मनुष्य भगवान के माहात्म्य को नहीं जानता, उसका भगवद्‌भक्त के साथ वैर जरूर हो जाता है. यदि कोई

पुरुष भगवान तथा भगवद्‌भक्त के माहात्म्य को न जानते हुए भी सत्संगी बना हुआ है, तो भी उसे आधा विमुख समझना चाहिये, किन्तु भगवान तथा उनके भक्त की महिमा समझने वाले को ही पूर्ण सत्संगी मानना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥९॥ ॥१०५॥

वचनामृत १० : महातप

संवत् १८७७ में कार्तिक शुक्ल *दशमी को रात्रि के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे में विराजमान थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष दस-बारह बड़े सन्त तथा ५-६ हरिभक्त बैठे हुए थे. श्रीजीमहाराज को कुछ ज्वरांश था. वे अंगीठी रखकर ताप रहे थे. श्रीजीमहाराज ने मुक्तानन्द स्वामी से कहा कि 'हमारी नाड़ी देखिये, देह में कुछ कसर मालूम होती है.' मुक्तानन्द स्वामी ने नाड़ी देखकर कहा कि 'हे महाराज ! कसर तो बहुत है.' उन्होंने पुनः यह कहा कि 'हे महाराज ! अभी सत्संगियों का कठिन काल उपस्थित हो गया है, क्योंकि आप तो समस्त सत्संगियों के जीवन-प्राण हैं. इसलिए, आपकी देह में जो कसर-जैसी प्रतीत होती है, यही सत्संगियों के लिये कठिन काल है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान को प्रसन्न करने के लिये नारदजी ने कितने ही युगों तक शीत-धूप और भूख-प्यास को सहन करके महातप किया. उन्होंने उसी महातप द्वारा भगवान को प्रसन्न किया. जो विवेकशील पुरुष होते हैं, वे ज्ञानपूर्वक अपनी देह और इन्द्रियों का दमन करके तप करते हैं. इसलिए, विवेकी साधुओं को बुद्धिपूर्वक अपनी देह तथा इन्द्रियों को कष्ट देने जैसा आचरण करना चाहिये. तब फिर ईश्वरेच्छा से जो कष्ट आवे, उसे मिटाने की इच्छा क्यों नहीं करनी चाहिये ? त्यागी साधु को तो अपने मन में ऐसी दृढ़ रुचि रखनी चाहिये कि 'मुझे तो देवलोक, ब्रह्मलोक तथा वैकुंठ आदि लोकों के पंचविषय सम्बन्धी भोग तथा सुख नहीं चाहिये. मुझे तो अभी अपने जीवनकाल में तथा देहान्त होने के बाद बदरिकाश्रम तथा श्वेतद्वीप में जाकर तपस्या द्वारा भगवान को प्रसन्न करना है. भले ही, एक जन्म, दो जन्म तथा सहस्र जन्मों तक भी तप करके ही भगवान को

* गुरुवार १६ नवम्बर १८२०

प्रसन्न करना है.'

वास्तव में जीव का कल्याण तो इतनी ही बात में है कि प्रकटप्रमाण श्रीकृष्ण नारायण द्वारा ही किया हुआ सब-कुछ होता है, किन्तु काल, कर्म और मायादि का किया हुआ कुछ नहीं होता. इस प्रकार भगवान में ही एक कर्तृत्व के भाव को समझ लेना चाहिये. यही मोक्ष का परम हेतु है. और जो तप करना है, वह तो भगवान की प्रसन्नता का हेतु है. उस तप में भी राधिकाजी तथा लक्ष्मीजी प्रेमलक्षणा भक्ति द्वारा जो भाव रखती हैं, वैसा ही भाव रखना चाहिये. यदि कोई पुरुष तप न कर सके, तो भगवान को ही सर्वकर्ता समझना चाहिये, तो भी जीवन जन्म-मरण के दुःखों से मुक्त हो सकता है, परन्तु तप किये बिना जीव पर भगवान की प्रसन्नता नहीं हो सकती. जो जीव भगवान को ही सर्वकर्ता और हर्ता नहीं मानता, उससे भिन्न कोई दूसरा पापी नहीं है. यदि ऐसा है, तो वह गौहत्या, ब्रह्महत्या, गुरुस्त्री-संग तथा ब्रह्मवेत्ता सद्गुरु का द्रोह करनेवाले पुरुष की भी अपेक्षा घोर पापी है, ऐसा समझना चाहिये. यदि वह भगवान को कर्ता न मानकर दूसरे कालकर्मादि को कर्ता समझता है, तो ऐसे नास्तिक-चांडाल की छाया तक में नहीं खड़ा रहना चाहिये और भूल से भी उसके मुख का वचन नहीं सुनना चाहिये. भगवान के जो भक्त हों वे परमेश्वर के प्रताप से ब्रह्मा, शिव, शुकजी और नारद तथा प्रकृति-पुरुष और ब्रह्म एवं अक्षरसदृश भी हो सकते हैं, परन्तु पुरुषोत्तम नारायण के समान सामर्थ्यवान होने में कोई भी समर्थ नहीं हो पाता. अतएव, जिसका संग तथा जिस शास्त्र का श्रवण करने से भगवान की उपासना का खंडन होता हो और स्वामीसेवक का भाव मिट जाता हो, उस संग तथा शास्त्र का श्वपच (मेहतर) की भाँति तुरन्त त्याग कर डालना चाहिये.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! जो भक्त सुन्दर वस्त्रों, अलंकारों तथा नाना प्रकार के भोजनों और अन्य वस्तुओं द्वारा भगवान की सेवा करता है, वह भी भगवान को प्रसन्न करना चाहता है, परन्तु आप तो ऐसा कहते हैं कि भगवान तप द्वारा ही प्रसन्न होते हैं. यदि वह बिना तप किये ही ऐसी सेवा द्वारा भगवान को प्रसन्न करने का प्रयास करता है, तो उसमें अड़चन क्या है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो भक्त अच्छे-अच्छे पदार्थों द्वारा भगवान

की भक्ति करता है, वह यदि निष्काम भाव से केवल भगवान की प्रसन्नता के लिये ही ऐसा करता हो तब तो ठीक है, परन्तु यदि वह स्वयं इन पदार्थों को भगवान की प्रसादी समझते हुए उन वस्तुओं की ओर आकृष्ट हो जाता है और भगवान को छोड़कर उनसे आसक्ति रखने लगता है तो उन पदार्थों को भोगते हुए विषयासक्त होने के कारण भ्रष्ट हो जाता है. उसमें यही बाधा आती है. अतएव, त्यागी भक्त को तो भगवान को ही सर्वकर्ता समझकर तप द्वारा ही परमेश्वर को प्रसन्न करना चाहिये तथा राधिकाजी और लक्ष्मीजी की तरह प्रेमलक्षणा भक्ति द्वारा भगवान का भजन करना चाहिये. यह हमारा सिद्धान्त है.'

ब्रह्मानन्द स्वामी ने [१]पूछा कि 'हे महाराज ! आप हमें वह उपाय बताइये, जिससे इस लोक तथा परलोक में हमारा कल्याण हो जाय.' श्रीजीमहाराज बोले कि [२]'यह जो हमारा सिद्धान्त है, वही इस लोक तथा परलोक में परमसुख का हेतु होता है.'

गोपालानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! त्याग तथा तप करने की मन में चाह तो रहे, किन्तु त्याग या तप करते समय बीच में ही कोई विघ्न आ पड़े, तो उसके लिये क्या करना चाहिये ?'

श्रीजीमहाराज बोले, 'जिसे जिस बात की सच्ची चाह रहती है, उसके सामने यदि बीच में ही हज़ारों विघ्न उपस्थित हो जायँ, तो भी यदि वह इनके रोकने से न रुके, तब उसकी चाह को सच्ची समझ लेना चाहिये. देखिये, हम इक्कीस वर्षों से श्रीरामानन्द स्वामी के सान्निध्य में आये हैं. यहाँ नाना प्रकार के वस्त्रों, अलंकारों और खानपान आदि द्वारा सेवा करनेवाले असंख्य भक्त मिले हैं, परन्तु हमें किसी भी पदार्थ की लिप्सा नहीं रही, क्योंकि हमें त्यागवृत्ति रखने की चाह ही बनी हुई है.

इस संसार मे कितनी ही विधवा स्त्रियाँ हैं, जो अपने पतियों की मृत्यु पर उनके लिये छाती फूट-फूट कर रुदन ही करती रहती हैं. कितनी ही ऐसी स्त्रियाँ भी हैं, जो अपने विवाहित पति का भी त्याग करके भगवान

---

१. यद्यपि आत्यन्तिक कल्याण के हेतुरूप उन्होंने अपना सिद्धान्त बताया है, तथापि कल्याण के लिये उससे भी अधिक कोई बात सुविधाजनक हो जाय, वैसा उपाय कहेंगे, इस अभिप्राय से पूछते हैं.

२. पूर्वोक्त.

का भजन करती रहती हैं. कितने ही मूर्ख पुरुष हैं. वे अपनी स्त्रियों के मर जाने पर उनके लिये रोते रहते हैं और दूसरी स्त्रियों को पाने के लिये दौड़धूप किया करते हैं. कितने ही वैराग्यवान पुरुष ऐसे भी हैं, जो विवाहिता स्त्रियों का अपने घरों में ही परित्याग करके परमेश्वर का भी भजन करते रहते हैं. इस प्रकार, सबकी चाह भिन्न-भिन्न प्रकार की है. हमारी तो यही चाह और यही सिद्धान्त भी है कि तप द्वारा भगवान को प्रसन्न करना चाहिये, भगवान को ही सबका कर्ता-हर्ता जानकर स्वामीसेवक भाव से उन परमेश्वर की भक्ति करनी चाहिये तथा भगवान की उपासना को खंडित नहीं होने देना चाहिये. इसलिए, आप सब भी हमारे इस वचन को परम सिद्धांत के रूप में मानियेगा.' ।। इति वचनामृतम् ।।१०।। ।।१०६।।

वचनामृत ११ : प्रीति-लक्षण

संवत् १८७७ में कार्तिक शुक्ल *एकादशी को श्रीजीमहाराज श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में रात्रि के समय विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सफेद छींटकी बगलबंडी पहनी थी, श्वेत पाग बाँधी थी और गुलदावदी के पीले तथा लाल पुष्पों के हार पहने थे. पाग में पीले पुष्पों के तुर्रे लटक रहे थे. उनकी दोनों तरफ दो नाई मशालें लेकर खड़े थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज से सच्चिदानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'जो पुरुष भगवान से प्रीति करता है, उसके कैसे लक्षण होते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे अपने प्रियतम भगवान से प्रीति होती है, वह उनकी इच्छा के विपरीत कोई भी काम नहीं करता. प्रीति का यही लक्षण है. गोपियों को श्रीकृष्ण भगवान से प्रेम था. जब श्रीकृष्ण भगवान मथुरा जाने के लिये तैयार हुए, तब समस्त गोपियों ने मिलजुलकर यह विचार किया कि 'हम कुटुम्ब तथा संसार की लज्जा का परित्याग करके भगवान को जबरन रोक रखेंगे.' परन्तु, श्रीकृष्ण भगवान के प्रस्थान के समय गोपियों ने जब उनके नेत्रों को देखा, तब उन्हें भगवान के रहने की

* शुक्रवार, १६ नवम्बर, १८२०.

इच्छा नहीं दिखायी पड़ी. इस कारण वे डरके मारे दूर ही खड़ी रहीं और उनके अन्तःकरण में यह भय समा गया कि 'यदि हमने भगवान की इच्छा का पालन नहीं किया, तो भगवान को हमसे प्रीति नहीं रहेगी.' ऐसा विचार करके वे कुछ भी नहीं कह सकीं. भगवान मथुरा पधारे और वे केवल तीन कोस की दूरी पर ही थे, फिर भी गोपियाँ भगवान की इच्छा के विपरीत किसी भी दिन उनके दर्शनों के लिये नहीं गयीं और गोपियाँ यह समझकर चुप रहीं कि 'भगवान की मरजी के विरुद्ध यदि हम मथुरा जायेंगी, तो हमसे भगवान की प्रीति नहीं रहेगी.' प्रीति का यही स्वरूप है. जिसे जिसके साथ स्नेह होता है तो वह उसकी मरजी के अनुसार ही रहता है, ऐसा भक्त अपने प्रियतम की प्रसन्नता के लिये उनकी आज्ञा से पास में या दूर रहता है, फिर भी प्रसन्न रहता है, परन्तु किसी भी प्रकार से अपने प्रियतम की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता. प्रेम का यही लक्षण है. गोपियों को भगवान के साथ सच्चा प्रेम था. इसी कारण वे आज्ञा का उल्लंघन करके भगवान के दर्शन करने नहीं गयीं. भगवान ने जब उन्हें कुरुक्षेत्र में बुलाया, तब उन्होंने वहाँ भगवान के दर्शन किये, किन्तु उनके वचनों का उल्लंघन नहीं किया. जिसे भगवान से प्रेम होता है, वह भगवान की इच्छा के प्रतिकूल कभी भी नहीं चलता. भगवान की इच्छा के अनुसार रहना ही प्रीति का लक्षण है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अच्छा, हम एक प्रश्न पूछते हैं.'

मुनियों ने कहा कि 'हे महाराज ! पूछिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो भगवान का भक्त होता है, वह भगवान की मूर्ति के सम्बन्ध से रहित अन्य सम्बन्धी पंचविषयों को तुच्छ मानता है और पाँच प्रकार से एकमात्र भगवान के साथ ही सम्बन्ध रखता है. ऐसे भक्त को भगवान यह आज्ञा देते हैं कि 'तुम हमसे दूर रहो.' तब वह यदि भगवान के दर्शनों का लोभ रखता है, तो उससे आज्ञा का उल्लंघन होता है. यदि उसने भगवान की आज्ञा का पालन नहीं किया, तो उस भक्त के साथ भगवान का स्नेह नहीं रहता. इसलिए, उस भक्त ने जिस प्रकार मायिक शब्दादि पंचविषयों का त्याग कर दिया है, वैसे ही क्या वह भगवान सम्बन्धी शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध का भी परित्याग कर देता है या नहीं ?'

समस्त मुनियों ने मिलकर अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर दिया. परन्तु, इस प्रश्न का समाधान नहीं हुआ. तब उन्होंने श्रीजीमहाराज से निवेदन किया कि 'हे महाराज ! इसका उत्तर आप ही दीजिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे भगवान से दृढ़ प्रीति बनी हुई है और जिसने भगवान के अखंड सम्बन्ध से रहित मायिक पंचविषयों को तुच्छ समझा है तथा जो शब्दादि पंचविषयों द्वारा भगवान के प्रति अपना ध्यान दृढ़ता से लगाये हुए है, वह भक्त भगवान की आज्ञा के अनुसार जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ भगवान की मूर्ति भी उस भक्त के साथ ही जाती है. जैसे वह भक्त भगवान के बिना नहीं रहता, वैसे ही भगवान भी उस भक्त को छोड़कर नहीं रहते. वे भक्त के हृदय से निमिषमात्र भी दूर नहीं रहते. इस प्रकार भगवान के साथ उस भक्त का पाँचों प्रकार से अखंड सम्बन्ध बना रहता है, क्योंकि जिन शब्दादि पंचविषयों के बिना जीवमात्र से नहीं रहा जाता, उन्हें उसने तुच्छ मान लिया है तथा पाँचों प्रकार से भगवान में ही तन्मय बना हुआ है. इसलिए भगवान के साथ उस भक्त का अखंड सम्बन्ध बना रहता है.' ।। इति वचनामृतम् ।।११।। ।।१०७।।

वचनामृत १२ : स्थूल-सूक्ष्म एवं कारण शरीर

संवत् १८७७ में कार्तिक शुक्ल *पूर्णिमा को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने सफेद दुपट्टा धारण किया था, श्वेत छींट की बगलबंडी पहनी थी और सफेद फेंटा बाँधा था और मुँह लपेटकर आकंठ दुपट्टा बाँधा था. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ करिये.' मुनियों ने परस्पर पर्याप्त समय तक प्रश्न पूछे और उनके उत्तर दिये. इस अवसर पर स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण नामक शरीरों और विराट, सूत्रात्मा तथा अव्याकृत नामक देहों पर विचार किया गया.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'कारण शरीर है यह जीव की माया है. वही

---

* मंगलवार, २० नवम्बर, १८२०.

कारण शरीर स्थूल-सूक्ष्मरूप होता है. अतएव, जीव की स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण नामक तीन प्रकार की माया है. उसी तरह विराट, सूत्रात्मा और अव्याकृत ईश्वर की माया है. जीव की कारणशरीररूपी माया, जो वज्रसदृश है, किसी भी प्रकार से जीव से अलग नहीं होती. जब उस जीव को सन्त का समागम प्राप्त होता है तथा सन्त के वचनों से अलग नहीं परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान होता है, उसके आधार पर ईश्वर के स्वरूप का ध्यान करता है तथा परमेश्वर के वचनों को हृदय में धारण करता है, तब कारणरूपी शरीर जलकर खोखला-सा हो जाता है. जैसे इमली के बीज का छिलका बीज के साथ बड़ी मजबूती के साथ चिपक गया हो और उसे आग में सेका जाय तब वह छिलका जल जाने से खोखला-सा हो जाता है और हाथ में लेकर मसलने पर अलग हो जाता है, वैसे ही भगवान के ध्यान तथा वचनों द्वारा कारणशरीर दग्ध होकर इमली के छिलके की तरह अलग हो जाता है. उसके बिना अन्य कोटि उपाय करने पर भी कारणशरीररूपी अज्ञान का नाश नहीं होता.' श्रीजीमहाराज ने इस प्रकार वार्ता कही.

श्रीजीमहाराज ने मुनियों से प्रश्न पूछा कि 'जाग्रत अवस्था में सात्त्विक गुण रहता है और समस्त पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है, तो भी जाग्रत अवस्था में सुनी गयी बात का जब सूक्ष्म देह में मनन किया जाय तब सुनी हुई बात पक्की हो जाती है. सूक्ष्म देह में तो रजोगुण रहता है, उसमें अयथार्थ ज्ञान रहा है, फिर भी जाग्रत अवस्था में सुनी गयी बात का सूक्ष्म देह में मनन करने पर यथार्थ ज्ञान होता है, इसका क्या कारण है ?'

सब मुनियों ने मिलजुलकर अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर दिया, परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान नहीं हुआ. तब समस्त मुनि हाथ जोड़कर बोले कि 'हे महाराज ! इस प्रश्न का उत्तर आप दीजिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस प्रश्न का उत्तर तो यह है कि हृदय में क्षेत्रज्ञ जीव का निवास है. वह क्षेत्रज्ञ जीव चौदह इन्द्रियों का प्रेरक है. उनमें अन्तःकरण क्षेत्रज्ञ के समीप रहता है. इसलिए, अन्तःकरण में मनन करने पर यह दृढ़ हो जाता है, क्योंकि क्षेत्रज्ञ समस्त इन्द्रियों और अन्तःकरण की अपेक्षा अधिक समर्थ रहता है, इसलिए क्षेत्रज्ञ द्वारा प्रमाणित की हुई बात अत्यन्त दृढ़ हो जाती है.' इस प्रकार, इस प्रश्न का उत्तर दिया. समस्त

मुनियों ने कहा कि 'हे महाराज ! आपने यह यथार्थ उत्तर दिया है. ऐसा उत्तर कोई भी नहीं दे सकता था.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'चाहे कैसा ही कामी, क्रोधी, लोभी और लम्पट जीव हो, वह यदि इस प्रकार की बात में विश्वास रखकर इसे प्रीतिपूर्वक सुनता है, तो उसके सभी विकार मिट जाते हैं. जैसे किसी पुरुष के दाँत पहले तो इतने मजबूत होते हैं कि वह कच्चे चने चबा जाता है, वह यदि कच्चा आम अच्छी तरह खा ले, तो भात भी चबाकर नहीं खा सकेगा, वैसे ही कामादि में आसक्त कैसा ही पुरुष क्यों न हो, वह यदि आस्तिक होकर इस वार्ता को श्रद्धापूर्वक सुनता है, तो ऐसा पुरुष विषयों के सुख को भोगने में समर्थ नहीं होता. यदि वह तप्तकृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत द्वारा अपनी देह को कृश बना डाले, तो भी उसका मन वैसा निर्विषयी नहीं हो पाता, जैसा कि ऐसी भगवद्वार्ता सुननेवाले मनुष्य का मन निर्विषयी हो जाया करता है. जैसे ऐसी बात सुनने के बाद आप सबका मन जिस प्रकार निर्विकल्प हो जाता होगा, वैसा ध्यान करने और माला फेरते रहने से नहीं होता होगा. इसीलिए, विश्वासपूर्वक प्रीति रखकर भगवान पुरुषोत्तमनारायण की वार्ता सुनने से बढ़कर मन को स्थिर रखने और मन को निर्विषयी बनाने का अन्य कोई बड़ा साधन नहीं हो सकता.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१२॥ ॥१०८॥

॥ श्रीकारियाणी-प्रकरणं समाप्तम् ॥

भक्तराज जीवाखाचर का राजभव   श्रीसारंगपुर
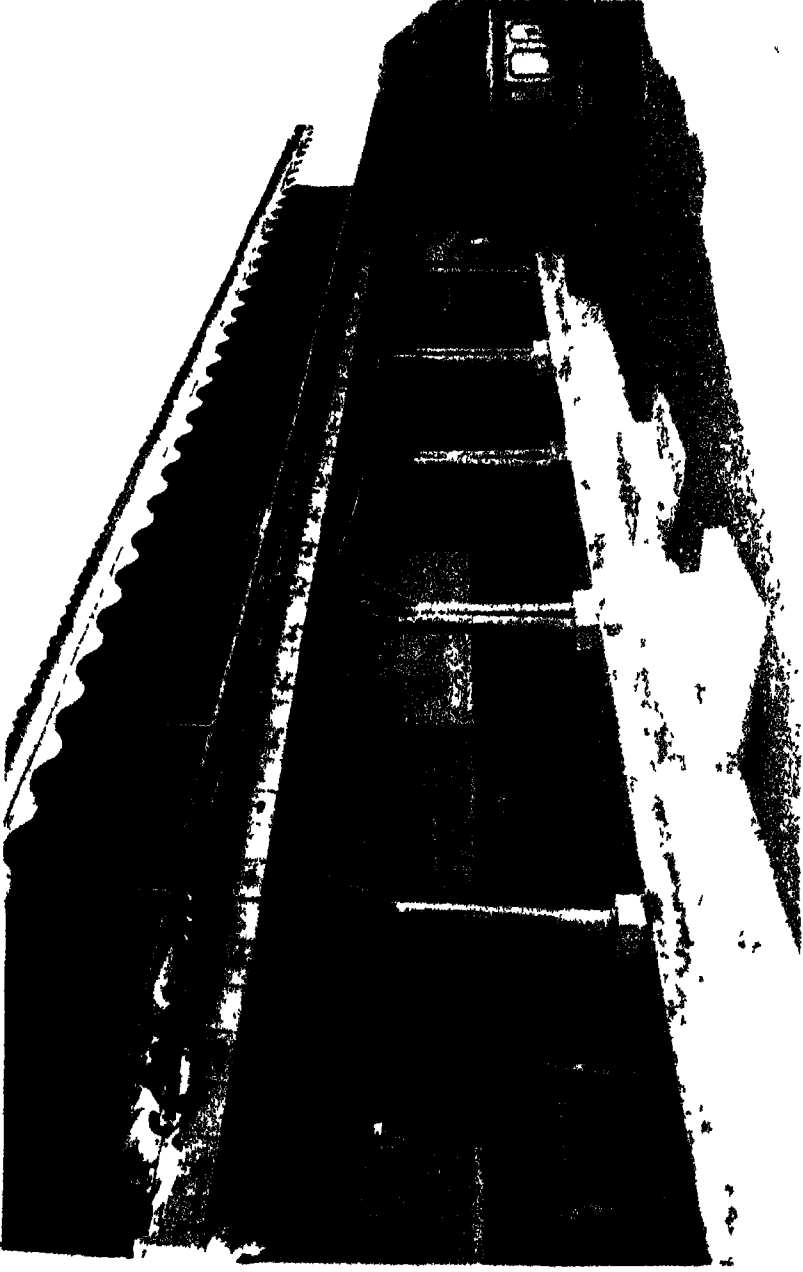
यहाँ पर विराजमान होकर श्रीजीमहाराज ने वचनामृत उद्‍बोधित किये थे ।

भक्तराज वस्ताखाचर का राजभवन, श्रीकारियाणी
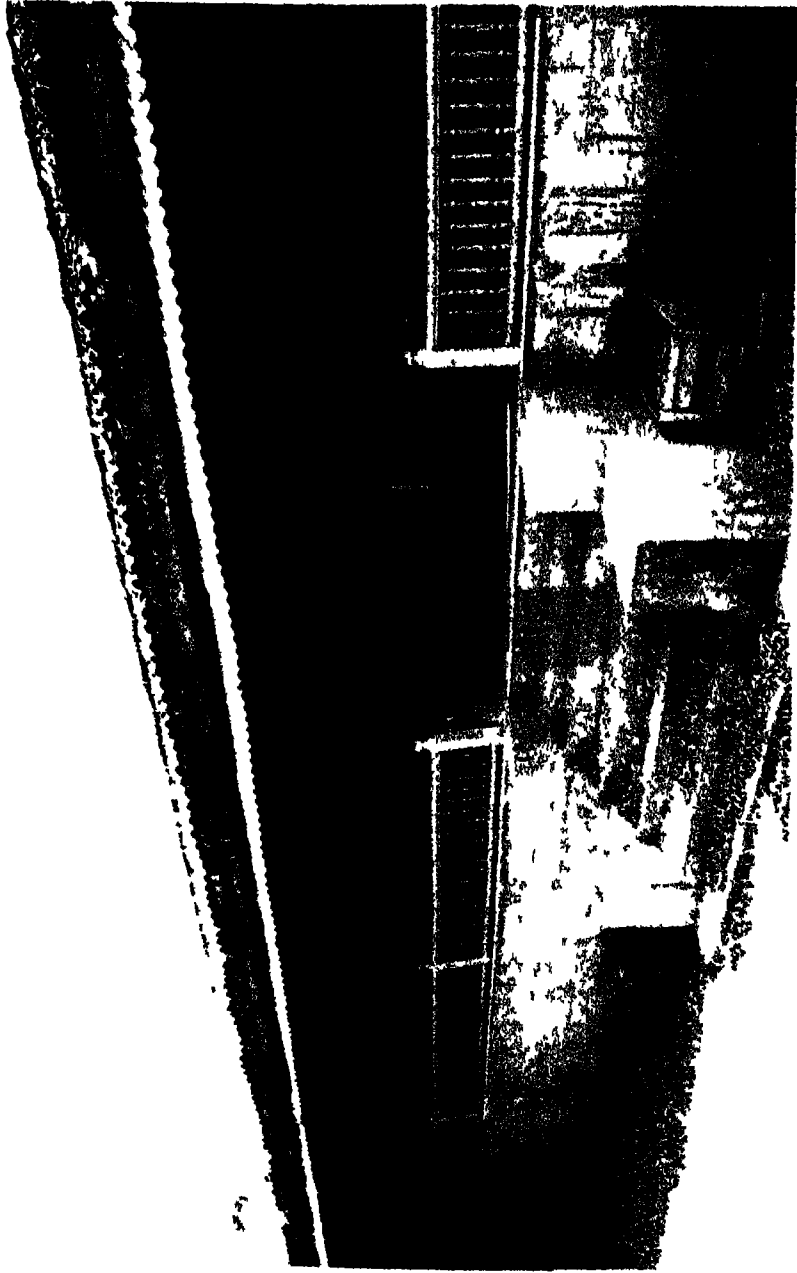
यहाँ पर उत्तरी द्वार के कमरे में विराजमान होकर श्रीजीमहाराज ने वचनामृत उद्बोधित किये थे ।

।। श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ।।

श्रीलोया प्रकरण के वचनामृत

वचनामृत १ : 'क्रोध अत्यन्त दुःखदायी'

संवत् १८७७ में कार्तिक कृष्ण *दशमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में परमहंसों के निवासस्थान में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने रुईभरा सफेद चूड़ीदार पायजामा पहना था, सफेद छींट की बगलबंडी पहनी थी और श्वेत फेंटा बाँधा था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज मुनियों से बोले कि 'शंकर शब्द का क्या अर्थ है ?' मुनियों ने कहा कि 'सुख देनेवाले को शंकर कहते हैं.' यह बात सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'आज जब चार घड़ी रात्रि शेष रही थी, तब शिवजी ने हमें स्वप्न में दर्शन दिये. वे शिवजी बड़े नन्दीश्वर पर बैठे थे. उनका शरीर हृष्टपुष्ट था और उनकी आयु ४० वर्ष की थी. उनके सिर पर बड़ी जटायें थीं. शिवजी के साथ पार्वती थीं. उन्होंने श्वेत वस्त्र पहने थे. शिवजी सन्तसदृश शान्तमूर्ति थे. मुझ पर तो शिवजी का अधिक स्नेह दिखायी पड़ा. फिर भी, मुझे तो शिवजी के प्रति स्नेह नहीं हुआ, क्योंकि मैं ऐसा समझता हूँ कि 'शिव तो तमोगुणी देवता हैं' और हम तो शान्तमूर्ति श्रीकृष्ण नारायण के उपासक हैं.' अतएव, ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्रादि जैसे रजोगुणी-तमोगुणी देवताओं के प्रति हमारी भावना उत्पन्न नहीं हो सकती और उनमें भी क्रोधी स्वभाववाले के साथ तो मेरा अत्यधिक वैरभाव रहता है. क्रोधी मनुष्य अथवा देवता को मैं बिल्कुल पसन्द नहीं करता. फिर भी, हम शिवजी का आदर करते हैं. उसका कारण यह है कि शिवजी त्यागी एवं योगी हैं तथा भगवान के महान भक्त हैं. इसलिए, हम शिवजी के प्रति सम्मान प्रकट करते हैं.

क्रोध तो 'बौराये कुत्ते के समान है.' जैसे बौराते कुत्ते की लार अगर

* शुक्रवार, ३० नवम्बर, १८२०.

ढ़ोर अथवा मनुष्य में से किसी के शरीर से छू जाती है तो वह पागल कुत्ते की तरह चीखते-चिल्लाते मर जाता है, वैसे ही क्रोध की लार जिस पर गिर पड़ती है वह भी पागल कुत्ते की तरह चीख-चीखकर सन्त के मार्ग से गिर जाता है. जैसे कसाई, अरब, शिकारी, बाघ, चीता और काला सर्प दूसरों को डराते हैं और उनके प्राण हर लेते हैं, वैसे ही क्रोध भी दूसरों को भयभीत करता है और उनके प्राण हर लेता है. यदि साधु ऐसे क्रोध के वशीभूत होता है, तो अत्यन्त अनुचित दिखायी पड़ता है, क्योंकि साधु तो शान्त स्वभाववाला होता है, परन्तु जब वह क्रोधावेश में होता है, तब वह क्रूरतापूर्ण प्रतीत होता है. क्रोध की स्थिति में साधु की आकृति भी बदल जाती है. वास्तव में क्रोध का नाम विरूप है. जिसके शरीर में क्रोध आता है उसे वह विरूप कर डालता है.'

शुकमुनि ने पूछा कि 'हे महाराज ! यदि तनिक-सा भी क्रोध उत्पन्न हो जाय और बाद में उसे मिटा दिया जाय, तो वह क्या कुछ बाधा उपस्थित करता है या नहीं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जैसे यह सभा हो रही है तथा इसमें यदि अभी कोई साँप निकल आये और भले ही वह किसी को नहीं काटे, तो भी सब लोगों को उठकर भागना पड़ेगा और सबके हृदयों में भय समाया रहेगा, और भी जैसे यदि कोई बाघ गाँव के फाटक पर आकर गर्जना करे, किन्तु किसी को नहीं मारे तो भी सब लोग आन्तरिक रूप से डर जायेंगे और अपने घरों से बाहर नहीं निकलेंगे, वैसे ही अगर थोड़ा-सा भी क्रोध उत्पन्न हो जाय, तो वह अत्यन्त दुःखदायी हो जाता है.'

छोटे निर्मानानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'काम का मूलोच्छेद करने का कौन-सा साधन है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि आत्मनिष्ठा अत्यन्त दृढ़ रहे, आठ प्रकार का ब्रह्मचर्य व्रत रखने आदि पंचव्रतों का दृढ़ता के साथ पालन किया जाय तथा भगवान की महिमा को अधिकाधिक समझा जाय, तो इन उपायों द्वारा काम की जड़ उखड़ जाती है. तथापि, काम का मूलोच्छेद हो जाने पर भी ब्रह्मचर्यादि नियमों का पालन करने से विचलित नहीं होना चाहिये. काम की जड़ को उखाड़ने का अमोघ उपाय यही है कि भगवान की महिमा को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये.'

भजनानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! कनिष्ठ, मध्यम तथा उत्तम कोटिसूचक तीन प्रकार का जो वैराग्य है, उसका कैसा स्वरूप है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'कनिष्ठ वैराग्यवाला पुरुष धर्मशास्त्र में बताये गये स्त्री-त्याग सम्बन्धी नियमों का पालन जब तक करता रहता है तब तक उसकी भलाई होती रहती है. किन्तु, यदि उसने किसी स्त्री का अंग देख लिया और उसमें उसका चित्त लग गया, तो वह स्थानभ्रष्ट हो जाता है. ऐसे पुरुष को कनिष्ठ वैराग्यवाला कहते हैं. जो पुरुष कभी स्त्री को निर्वस्त्र देख लेता है, किन्तु नग्न पशु को देखने के समान उससे उसे किसी प्रकार का मनोविकार उत्पन्न नहीं होता तथा स्त्री के उस अंग में उसका चित्त भी नहीं लगता, उसे मध्यम वैराग्यवान कहा जाता है. जो पुरुष कभी एकान्त में स्त्री आदि पदार्थों का योग होने पर भी नहीं डिगता, उसे उत्तम वैराग्यवाला कहते हैं.'

भजनानन्द स्वामी ने पुनः प्रश्न पूछा कि 'कनिष्ठ, मध्यम तथा उत्तम कोटिवाला तीन प्रकार का भगवान सम्बन्धी जो ज्ञान है, उसका कैसा स्वरूप है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो पुरुष पहले तो भगवान का प्रताप देखकर भगवान को यथार्थ रूप में पहचान लेता है, बाद में वैसा प्रताप न दीख पड़ने और किन्हीं दुष्ट जीवों द्वारा भगवान का द्रोह करने पर भी जब द्रोह करनेवालों का कुछ भी अनिष्ट नहीं होता, तब उसको भगवान के स्वरूप में भ्रान्ति हो जाती है, उसे कनिष्ठ ज्ञानवाला कहते हैं. जो पुरुष भगवान के शुभाशुभ मानवचरित्रों को देखकर उनसे मोहित हो जाता है और उसका निश्चय भी नहीं रहता, उसे मध्यम ज्ञानवाला कहते हैं. जो पुरुष भगवान की चाहे जैसी भी शुभाशुभ क्रिया को देखकर उससे मोहित नहीं होता तथा उसका निश्चय भी अटल रहता है और जिसके द्वारा स्वयं को निश्चय कराया गया हो, वही यदि यह कहता है कि 'ये भगवान नहीं हैं', तब वह उसको ऐसा समझ लेता है कि यह विक्षिप्त हो गया है. उसे उत्तम ज्ञानवाला कहते हैं. कनिष्ठ ज्ञानवाला अनेक जन्मों में, मध्यम ज्ञानवाला दो-तीन जन्मों में तथा उत्तम ज्ञानवाला इसी जन्म में सिद्ध हो जाता है.'

बड़े शिवानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'भगवान सम्बन्धी निश्चय सम्पूर्ण होने पर भी कृतार्थ भावना नहीं रहती, इसका क्या कारण है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'काम, क्रोध, लोभ, स्वाद, स्नेह तथा मान आदि शत्रुओं द्वारा जिसका अन्तःकरण दग्ध हो गया है, उसे निश्चय होने पर भी वह स्वयं को कृतार्थ नहीं मानता.'

नित्यानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'इन कामादि शत्रुओं को नष्ट करने का कौन-सा उपाय है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि पुरुष कामादि शत्रुओं को निर्दयतापूर्वक दंड देने के लिये तत्पर रहे, तो इन्हें नष्ट किया जा सकता है. जैसे धर्मराज पापी को मारने के लिये रात-दिन दंड लेकर तैयार रहते हैं, वैसे ही इन्द्रियों को कुमार्गगामी होने पर दंड देना चाहिये तथा अन्तःकरण यदि कुमार्ग पर चले, तो उसे दंडित करना चाहिये. यदि इन्द्रियों को कृच्छ्रचान्द्रायण व्रत द्वारा तथा अन्तःकरण को [1]विचार द्वारा दंड दिया जाय, तो इन कामादि शत्रुओं का नाश हो जाता है तथा वह पुरुष भी तब स्वयं को भगवान सम्बन्धी निश्चय द्वारा सम्पूर्ण रूप से कृतार्थ मानने लगता है.'

मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'यह कैसे समझा जाय कि सम्पूर्ण सत्संग हो गया ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'सर्वप्रथम पुरुष में आत्मनिष्ठा होनी चाहिये, उसे अपनी आत्मा को देह, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से बिल्कुल असंगी मानना चाहिये, इन देह, इन्द्रियादि की क्रियाओं को स्वयं में समाविष्ट न मानने पर भी पंचव्रतों में लेशमात्र भी अन्तर नहीं आने देना चाहिये, स्वयं को ब्रह्मरूप मानने पर भी परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का दास होने की भावना का परित्याग नहीं करना चाहिये, स्वामीसेवक भाव से भगवान की दृढ़ उपासना करनी चाहिये तथा प्रत्यक्षमूर्ति भगवान को आकाशवत् अत्यन्त असंगी समझते रहना चाहिये. जैसे आकाश चार भूतों में अनुस्यूत भाव से व्यापक होकर रहा है और आकाश में ही चार भूतों की क्रियाएँ होने पर भी पृथ्वी आदि चार भूतों के विकार आकाश को नहीं छू पाते, वैसे ही प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण नारायण शुभाशुभ क्रिया करते हुए भी आकाश की तरह निर्लेप हैं, ऐसा समझना चाहिये. उन भगवान के असंख्य ऐश्वर्यों को भी यों समझना चाहिये कि यद्यपि 'ये भगवान जीवों के कल्याण के लिये मनुष्यसदृश दिखायी पड़ते हैं, तो भी वे अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के कर्ता-हर्ता हैं और

---

१. आत्मा-अनात्मा के स्वरूप का विवेक

गोलोक, वैकुंठ, श्वेतद्वीप तथा ब्रह्मपुर आदि धामों के स्वामी हैं और अनन्तकोटि अक्षरमुक्तों के भी स्वामी हैं. भगवद्भक्त को इस प्रकार भगवान की महिमा जानकर उन भगवान में श्रवणादि भक्ति को दृढ़तापूर्वक रखना चाहिये तथा उनके भक्तों की सेवा-सुश्रूषा करनी चाहिये. ऐसा आचरण करने पर ही यह कहा जा सकता है कि उसे सम्पूर्ण सत्संग हो गया.'

छोटे शिवानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'कभी तो भगवान के भक्त की महिमा खूब समझ में आती है और कभी तो इस प्रकार नहीं जान पड़ती, इसका क्या कारण है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'सन्त तो धर्मवान हैं. वे जब कभी किसी को अधर्म के मार्ग पर चलता देखते हैं, तब उसे रोकते हैं. जो देहाभिमानी पुरुष होता है उसे सद्‌विचारपूर्वक शिक्षा ग्रहण करना नहीं आता और वह सन्त में अवगुण ही देखता है. जब तक सन्त उससे उसके स्वभाव के अनुसार उपदेश करते हैं तब तक भगवान की महिमा होती रहती है और जब हितकारी बात कठोरता से कहते हैं तब वह पुरुष उनमें दोष ही देखता है और माहात्म्य भी नहीं जानता. जो पुरुष सन्त में अवगुण देखता है, वही किसी प्रकार के प्रायश्चित्त द्वारा भी शुद्ध नहीं हो पाता. जैसे कामादि दोषों के पाप का निवारण हो जाता है, वैसे सन्त के प्रति किये गये द्रोह के पाप का निवारण नहीं होता. जैसे किसी को हुए क्षयरोग को मिटाने की दवा नहीं है और ऐसा क्षयरोगी निश्चय ही मर जायगा, वैसे ही जिसने सन्त में अवगुण देखा हो, उसे तो क्षयरोग हो गया जान लेना चाहिये. इस कारण वह पाँच दिन पहले या पाँच दिन बाद निश्चय ही विमुख हो जायगा. जिस प्रकार मनुष्य के हाथ, पैर, नाक, आँख और उँगलियाँ आदि अंगों के कट जाने पर वह मरा नहीं कहाता, किन्तु धड़ से सर के कट जाने पर ही मरा कहलाता है, वैसे ही जिसके हृदय में हरिभक्त के प्रति दोष की भावना उत्पन्न हो गयी हो, उसका तो माथा कट गया समझ लेना चाहिये. यदि पंचव्रतों में किसी प्रकार का अन्तर पड़ जाय, तो उसके लिये उसका अंग कटा हुआ कहा जाता है. ऐसी स्थिति में भी उसकी जीवनरक्षा तो हो जाती है, अर्थात् वह सत्संग में जरूर टिक जाता है. किन्तु, जिसने सन्त में अवगुण देखा हो, वह तो निश्चित रूप से सत्संग से विमुख हो जाता है.

ऐसी हालत में यह समझ लेना चाहिये कि उसका सिर कट गया है.'

भगवदानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'यदि भगवद्भक्त के प्रति अवगुणात्मक दृष्टिकोण हो गया हो तो उसे टालने का कोई उपाय है या नहीं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'उपाय तो है, किन्तु वह अत्यन्त कठिन है. अत्यन्त श्रद्धावान पुरुष ही यह उपाय कर सकता है. जब कभी सन्त के प्रति अवगुण देखने की कोई भावना उत्पन्न हो जाय तो उसे तब ऐसा विचार करना चाहिये कि 'मैंने भगवान के ब्रह्मस्वरूपवाले भक्त में अवगुण देखने की भावना रखकर घोर पाप किया है.' ऐसे विचारों के कारण उसके हृदय में अत्यधिक अन्तर्दाह होता रहता है. इस प्रकार के अन्तर्दाह के कारण उसे भोजन करते समय इस बात की कोई खबर नहीं पड़ती कि यह स्वादिष्ट है या बिना जायकेवाला है. रात में उसे नींद भी नहीं आती. जब तक उसके हृदय में से सन्त-विरोधी दोष नहीं मिट जाता, तब तक वह अपने हृदय में उसी प्रकार व्याकुल होता रहेगा, जिस तरह पानी के बिना मछली तड़फड़ाती रहती है. जब उसके हृदय में सन्त के अधिकाधिक गुण परखने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है और जिस बात से सन्त दुःखी हुए हों उसे दूरकर जब वह अत्यन्त दीनतापूर्वक उन्हें प्रसन्न कर लेता है, तब ऐसी विचारधारा के फलस्वरूप उसका सन्त सम्बन्धी अवगुणात्मक रुख भी मिट जाता है और वह सत्संग से विमुख भी नहीं होता. इसके सिवा दूसरा कोई भी उपाय नहीं है. एकमात्र यही उपाय है.' ।। इति वचनामृतम् ।।१।। ।।१०९।।

वचनामृत २ : मृत्यु-भय

संवत् १८७७ में कार्तिक कृष्ण *एकादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में दक्षिण की ओर मुखारविन्द करके पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने लाल कीमखाब का चूड़ीदार पायजामा पहना था, नरनारायण नामांकितवाले काले कीमखाब की बगलबंडी पहनी थी, सिर पर बुरहानपुरी आसमानी रंग का फेंटा, जो सुनहरे तार के फिरते पल्ले का था, बाँधा था तथा कुसुंभी रंग का फेंटा कमर पर धारण किया था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के

* शनिवार, १ दिसम्बर, १८२०.

हरिभक्तों की सभा हो रही थी. मुक्तानन्द स्वामी आदि परमहंस मृदंग, सरोद, सितार और मंजीरे आदि वाद्ययंत्र बजाते हुए कीर्तनगान कर रहे थे.

जब कीर्तन समाप्त हो गया तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'समस्त परमहंसों ! सुनिये, मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ.' मुनि बोले कि 'हे महाराज ! पूछिये.' श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस सत्संग में हरिभक्त को [1]मृत्यु-भय कब मिट जाता है और यह बात कैसे मानी जावे कि जीवित रहते हुए ही अपना कल्याण हो गया ?' मुक्तानन्द स्वामी ने अपनी समझ के अनुसार उत्तर दिया, परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान नहीं हुआ. तब अन्य परमहंस बोले कि 'हे महाराज ! इस प्रश्न का उत्तर तो आप ही दीजिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'आप लोग जब तक कीर्तन करते रहे थे तब तक हमने इस प्रश्न पर विचार किया है. हमारी दृष्टि में तो यह आया है कि चार प्रकार के हरिभक्त होते हैं, जिनके मृत्यु-भय का नाश हो जाता है तथा कृतार्थभाव प्रकट होता है. चार प्रकार के इन हरिभक्तों में प्रथम विश्वासी, द्वितीय ज्ञानी, तृतीय शूरवीर और चतुर्थ प्रीतिवाला होता है. इन चार प्रकार के भक्तों को मृत्यु का भय नहीं रहता तथा जीवनकाल में ही कृतार्थभाव उत्पन्न हो जाता है.

अब चार प्रकार के इन भक्तों के लक्षण बताते हैं कि इनमें जो विश्वासी भक्त है वह तो प्रत्यक्ष भगवान तथा उनके साधु के वचनों में अत्यन्त विश्वास रखता है, इसलिए उसे भगवान सम्बन्धी निश्चय के बल द्वारा मृत्यु का भय नहीं रहता. वह तो यह मानता है कि 'मुझे प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम भगवान मिले हैं, इसलिए मैं कृतार्थ हूँ.'

ज्ञानी को तो आत्मज्ञान का बल रहता है. वह ऐसा समझता है कि 'मैं तो भगवान का ब्रह्मस्वरूप भक्त हूँ.' इसलिए, उसे भी मृत्यु का भय नहीं रहता.

शूरवीर भक्त से इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण, सभी थरथर काँपते रहते हैं और वह किसी अन्य व्यक्ति से भी नहीं डरता. इस कारण उसके द्वारा परमेश्वर की आज्ञा का किसी भी प्रकार से उल्लंघन नहीं होता. इसलिए, वह स्वयं को कृतार्थ मानता है और उसके मन में मृत्यु का लेशमात्र भी भय नहीं रहता.

---

१. जन्म-मरण के प्रवाहरूप संसार का.

चौथा जो प्रीतिवान भक्त है, उसका तो पतिव्रता का अंग है. जैसे पतिव्रता स्त्री का अपने पति के सिवा अन्य किसी भी स्थान पर मन नहीं जमता और वह केवल अपने पति से ही प्रीति रखती है, वैसे ही भगवान का भक्त पतिव्रता के समान अपने पति भगवान में ही प्रीति रखता है और स्वयं में कृतार्थभाव मानता है. उसे मृत्यु का लेशमात्र भी भय नहीं रहता.

यदि इन चार अंगों में से कोई अंग प्रधान हो और अन्य तीन गुण गौण हों, तो भी वह मनुष्य जन्म-मरण के भय से मुक्त हो जाता है. यदि इन चारों अंगों में से कोई एक अंग न हो, तो मृत्यु का भय नहीं टलता.'

इतनी वार्ता करने के पश्चात् श्रीजीमहाराज समस्त परमहंसों तथा हरिभक्तों से बोले कि 'इन चार अंगों में से जो अंग जिसे प्रमुखरूप से रहता हो, वह बताइये.' परमहंसों में से जिसका जो-जो अंग था, वह उसने बता दिया. इसी प्रकार हरिभक्तों ने बताया. उसे सुनकर श्रीजीमहाराज बहुत प्रसन्न हुए. बाद में श्रीजीमहाराज बोले कि 'इन चार अंगों में से जिस-जिसका शूरवीर का अंग हो, वे सब आकर हमारा चरणस्पर्श करें.' जिस-जिसका शूरवीर का अंग था, उन सबने आकर श्रीजीमहाराज के चरणारविन्दों को छाती से लगाकर प्रणाम किया.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिन्हें जो प्रश्न पूछना हो, वे पूछें.' तब ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जो कारण हो, उसे तो कार्य से बड़ा होना चाहिये. यदि बड़ का बीज छोटा होता है, फिर भी वटवृक्ष उससे बड़ा कैसे होता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यद्यपि कारण छोटा और सूक्ष्म होता है, तथापि वह महान कार्य की उत्पत्ति करने में समर्थ हो जाता है, कारण की यही महत्ता है. जैसे मूल प्रकृति के कार्यरूपी अनन्त प्रधानों का बड़ा विस्तार होता है, परन्तु कारणरूपी मूल प्रकृति तो स्त्री के आकारवाली है, जबकि पृथ्वी का कारण गन्ध है तथा वह सूक्ष्म है और उसका पृथ्वीरूप कार्य बड़ा है, वैसे ही आकाश आदि अन्य चार भूतों का बड़ा विस्तार है और उनके कारण शब्दादि सूक्ष्म हैं. कारण छोटा होने पर भी बड़े कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ हो जाता है, उसमें ऐसी कला रही है. जैसे अग्निदेव तो मनुष्यसदृश मूर्तिमान तथा मानव के समान हैं, उनका कार्यरूप अग्नि की ज्वालाएँ बहुत बड़ी हैं, वरुण की मूर्ति मानवसदृश है और उनका

कार्यरूप जल अत्यधिक है तथा सूर्य की मूर्ति मनुष्याकार की भाँति रथ में विराजमान है और उनका कार्यरूप प्रकाश समग्र ब्रह्मांड में व्याप्त रहा है, वैसे ही सबके कारण श्रीपुरुषोत्तम नारायण श्रीकृष्ण यद्यपि मनुष्यसदृश हैं, फिर भी अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के कारण हैं.

मूर्ख तो ऐसा समझता है कि 'जिसका कार्य इतना बड़ा है, उसका कारण कितना बड़ा होगा !' यह तो मूर्ख की समझ है. यद्यपि सबके कारणरूप भगवान मनुष्य सदृश हैं, तथापि वे अपने अंग में से योगकला द्वारा अनन्तकोटि ब्रह्मांडों को उत्पन्न करने में समर्थ हैं तथा उन्हें अपने में विलीन करने की सामर्थ्य भी उनमें है. जैसे अग्नि, वरुण तथा सूर्य अपने कार्यरूप में बड़े दीख पड़ते हैं और कार्य का अपने में विलय करके स्वयं अकेले रहते हैं, वैसे ही भगवान के एक-एक रोम में अनन्तकोटि ब्रह्मांड अणुवत् रहे हैं. वे अष्ट आवरण तथा चौदह लोकों के साथ निवास करते रहे हैं. इस प्रकार कारण में अलौकिकता तथा महत्ता रहती है. उन्हें विवेकशील पुरुष इस प्रकार समझता है कि 'भगवान यद्यपि मनुष्यसदृश दिखायी पड़ते हैं तथापि वे सबके कारण, कर्ता तथा सामर्थ्यवान हैं.' इतना कहकर श्रीजीमहाराज शयन करने के लिये पधारे.

॥ इति वचनामृतम् ॥२॥ ॥११०॥

वचनामृत ३ : माहात्म्यज्ञान सहित निश्चय

संवत् १८७७ में कार्तिक कृष्ण *त्रयोदशी को श्रीजीमहाराज श्रीलोया ग्राम स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में [१]रात्रि के समय पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने सफेद छींटकी बगलबंडी पहनी थी, रुईभरा श्वेत चुड़ीदार पाजामा धारण किया था, मस्तक पर सफेद फेंटा बाँधा था और श्वेत पिछौरी ओढ़ी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के सत्संगियों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज से भगवदानन्द स्वामी तथा शिवानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'जिसे माहात्म्य सहित भगवान और सन्त सम्बन्धी निश्चय हो गया हो, उसके कैसे लक्षण होते हैं ?'

---

* सोमवार, ३ दिसम्बर, १८२०.

१. सायंकालीन आरती के पश्चात्.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे माहात्म्यज्ञान सहित भगवान एवं सन्त सम्बन्धी निश्चय हो गया हो, वह भगवान तथा सन्त के लिये क्या नहीं कर सकता ? उनके लिये वह कुटुम्ब, लोकलज्जा, राज्य, सुख, धन तथा स्त्री का त्याग कर डालता है, यदि स्त्री हुई, तो वह पुरुष का त्याग कर देती है.' इतना बताने के बाद उन्होंने समस्त हरिभक्तों की बातें एक-दूसरे के पश्चात् कहीं.

डडुसरग्रामवासी राजपूत गलुजी, धर्मपुरवाली कुशलकुंवरबाई, पर्वतभाई, राजबाई, जीवुबाई, लाडुबाई, बड़ी रामबाई, दादाखाचर, मांचाभक्त, मूलजी ब्रह्मचारी, भुजवासी लाधीबाई और माताजी, मुक्तानन्द स्वामी, वालाक प्रान्तवासी अहीर पटेल सामंत, मानकुओं ग्राम के मूलजी, कृष्णजी तथा वालाक प्रान्त-स्थित गुन्दाली ग्राम के दो काठी हरिभक्त आदि जिन सत्संगियों ने भगवान और सन्त के निमित्त जो-जो कार्य किये, उनका उन्होंने विस्तृत रूप से विवरण देते हुए बताया.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसको माहात्म्यज्ञान सहित भगवान सम्बन्धी निश्चय हो जाता है वह भगवान के वचन में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं आने देता तथा उनके कथनानुसार कार्यरत रहता है.' इस पर उन्होंने अपनी बात भी बतायी. उन्होंने बताया कि 'हमारा स्वभाव ऐसा था कि हम एक ही स्थान में गोदोहनमात्र समय तक ही रह जाते थे, किन्तु इससे ज्यादा समय तक नहीं रहते थे. हम ऐसे त्यागी थे और हमें अतिशय वैराग्य भी रहा. श्रीरामानन्द स्वामी पर हमारा असाधारण स्नेह रहा था, तो भी स्वामी ने भुजनगर से यह कहला भेजा कि 'यदि सत्संग में रहने की गरज हो, तो आज्ञा होने पर खम्भे को बांहों में पकड़कर भी रहना पड़ेगा.' मायाराम भट्ट ने आकर यह सूचना दी. तब हमने खम्भे को बाँहों में पकड़ लिया. इसके पश्चात् उन्होंने कहा कि 'मुक्तानन्द स्वामी की आज्ञा में रहिये.' तब हम स्वामीजी के दर्शन होने के पूर्व ९ महीने तक मुक्तानन्द स्वामी की आज्ञा में रहे. जिसे भगवान तथा सन्त सम्बन्धी निश्चय हो गया हो उसकी जानकारी ऐसे लक्षणों द्वारा हो सकती है.'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने बढ़ई सुन्दरजी और डोसा बनिये की बात कही. 'जिसको भगवान तथा सन्त सम्बन्धी निश्चय हो जाय, उसको भगवान की प्राप्ति के आनन्द का नशा हो जाता है.' इतना कहकर उन्होंने

राणा राजगुरु तथा प्रह्लादजी की बात कही. प्रह्लादजी ने नृसिंहजी से निवेदन किया कि 'हे महाराज ! मैं आपके इस विकराल रूप से भयभीत नहीं हो रहा हूँ. आपने मेरी जो रक्षा की है उसे मैं रक्षा नहीं मानता. जब आप इन्द्रियरूपी शत्रुओं से मेरी रक्षा करेंगे तब मैं यह समझूँगा कि आपने मेरी रक्षा की है.'

'अतएव, भगवान के भक्त को भगवान द्वारा दैहिक रक्षा की जाने पर न तो हर्षोत्फुल्ल होना चाहिये और रक्षा न होने पर शोक भी नहीं करना चाहिये, किन्तु अलमस्त होकर भगवान का भजन ही करते रहना चाहिये. उसे भगवान तथा सन्त का माहात्म्य भी अधिकाधिक जान लेना चाहिये.' इस सिलसिले में श्रीजीमहाराज ने कठलालग्रामवासिनी वृद्ध महिला की बात कही. 'इस प्रकार के हरिभक्त की देह भले ही पैर की ठोकर लगने से गिर पड़े, उसे बाघ खा जाय, साँप काट ले, शस्त्र से चोट लग जाय, जलसमाधि हो जाय, अर्थात् चाहे किसी भी तरह से अपमृत्यु द्वारा देहोत्सर्ग हो जाय, तो भी वह यही समझता है कि 'भगवान के भक्त की दुर्गति होती ही नहीं है. वह तो भगवान के धाम को ही प्राप्त होता है.' किन्तु, भगवान से विमुख रहनेवाले पुरुष के शरीर का भले ही अच्छी तरह से उत्सर्ग हो जाय और चन्दन की लकड़ियों द्वारा संस्कारपूर्वक उसका शवदाह कर दिया जाय, तो भी वह निश्चय ही यमपुरी में ही जाता है. इन दोनों बातों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये. इस तरह जिसके शरीर में समस्त प्रकार की पक्की गाँठ लग जाती है, उसे भगवान तथा सन्त के सम्बन्ध में माहात्म्यसहित निश्चय हो गया है, यह मान लेना चाहिये. ऐसे निश्चयवाला पुरुष निश्चित रूप से ब्रह्मधाम में ही पहुँचता है, परन्तु किसी भी अन्य धाम में नहीं रहता.' ॥ इति वचनामृतम् ॥३॥ ॥१११॥

वचनामृत ४ : अनन्तकोटि ब्रह्मांडों की उत्पत्ति

संवत् १८७७ में कार्तिक कृष्ण *चतुर्दशी को एक प्रहर दिन व्यतीत होने के पश्चात् स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत चूड़ीदार पायजामा पहना था, सफेद छींटकी बगलबंडी पहनी थी और मस्तक पर श्वेत पाग

* मंगलवार, ४ दिसम्बर, १८२०.

बाँधी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

अखंडानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'इस ब्रह्मांड में भगवान की मूर्ति वर्तमान समय में जैसी दीख पड़ती है वैसी की वैसी मूर्ति अनन्तकोटि ब्रह्मांडों में दिखायी पड़ती है या नहीं ?'

श्रीजीमहाराज बोले [१]कि 'भगवान स्वयं अपने अक्षरधाम में सदैव विराजमान रहते हैं. मूल माया में से उत्पन्न अनन्तकोटि प्रधानपुरुषों से अनन्तकोटि ब्रह्मांडों की उत्पत्ति होती है. यद्यपि भगवान अपने अक्षरधाम में एक ही स्थान में रहते हैं तथापि वे स्वेच्छापूर्वक उन अनन्तकोटि ब्रह्मांडों में अपने भक्तों के लिये अनन्त रूपों में दिखायी पड़ते हैं.'

अखंडानन्द स्वामी ने पुनः यह प्रश्न पूछा कि 'श्रीकृष्णनारायण तो सदैव मनुष्याकार रहते हैं तथा उन भगवान का स्वरूप सर्वदा सत्य है, वे ही भगवान कभी मत्स्य, कच्छप, वराह तथा नृसिंहादि अनेक रूपों द्वारा दृष्टिगोचर होते हैं, इस बात को कैसे [२]समझना चाहिये ? प्रत्येक ब्रह्मांड में कल्याण की रीति तथा भगवान की मूर्ति एकसमान होती है या उसमें भिन्नता बनी रहती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान की मूर्ति यद्यपि सदैव एकसमान रहती है, फिर भी भगवान अपनी [३]मूर्ति को जहाँ जैसी दिखलाना चाहिये वहाँ वैसी दिखलाते हैं और जहाँ जितना प्रकाश फैलाना होता है, वहाँ उतना प्रकाश करते हैं. यद्यपि वे स्वयं सदैव द्विभुज रहते हैं, फिर भी अपनी इच्छा के अनुसार कहीं चतुर्भुज, कहीं अष्टभुज तो कहीं अनन्तभुजरूप दिखलाते रहते हैं. वे मत्स्यकच्छपादि रूपों में भी दिखायी पड़ते हैं. इस प्रकार, वे जहाँ जो

---

१. इस ब्रह्मांड में जिस प्रकार भगवान अपने अनन्य भक्तों को दर्शनादि देकर सुख प्रदान करने के लिये मनुष्याकार धारण कर प्रकट होते हैं, वैसे ही भगवान अनेक ब्रह्मांडों में भी प्रकट होते हैं या नहीं, प्रश्न का इतना ही आशय है. 'अनेक ब्रह्मांडों में वे अपने अनन्य भक्तों को दर्शनादि का सुख देने के लिये कृपा करके स्वेच्छा से इस ब्रह्मांड के समान ही प्रकट होते हैं', उसका इस अभिप्राय से उत्तर देते हैं.

२. जब भगवान सर्वदा मनुष्याकार धारण किये रहते हैं तब उनकी अन्य आकृति किस प्रकार हो सकती है, यही प्रश्न पूछने का अभिप्राय है.

३. कार्यवश.

कुछ भी उपयुक्त समझते हैं, वहाँ वैसा रूप दिखलाते हैं. स्वयं तो वे सर्वदा एकरूप से ही विराजमान रहते हैं. वे एक स्थान में निवास करते हुए भी अनन्तकोटि ब्रह्मांडों में अन्तर्यामी रूप से व्याप्त होकर रहते हैं.'

श्रीजीमहाराज ने यह भी बताया कि 'जैसे व्यासजी एक ही थे और उन्होंने स्थावर-जंगम तथा समस्त जीवों में रहकर शुकजी का आह्वान किया था. शुकजी ने भी स्थावर-जंगम आदि समस्त सृष्टि में रहकर उत्तर दिया. इस प्रकार, शुकजी-जैसे महान सिद्ध भी समस्त जगत में व्याप्त रहने में समर्थ हो जाते हैं. जब भगवान के भजन के प्रताप से वे ऐसी योगकला को प्राप्त हुए हैं तब स्वयं भगवान पुरुषोत्तम, जो योगेश्वर तथा सर्वयोगकलानिधि हैं, एक स्थान पर रहकर अनन्तकोटि ब्रह्मांडों में स्वेच्छापूर्वक जहाँ जैसे उपयुक्त हो वहाँ उनकी वैसी मूर्ति दिखायी पड़े, इसके सम्बन्ध में क्या कहना है ? यदि इन भगवान में ऐसी सामर्थ्य हो, इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है ? किसी भी नट को तुच्छ माया की जानकारी रहती है, उसमें भी लोगों को कितना आश्चर्य होता है, इसका यथार्थ रूप से पता नहीं चलता, तो भगवान में जब सर्वयोगकलाएँ रही हैं और वे महाश्चर्यरूप हैं, तब जीव उन्हें किस प्रकार जान सकता है ? भागवत में कहा गया है कि 'भगवान की माया को इतने लोग पार कर चुके हैं. उसमें यह भी कहा गया है कि कोई भी भगवान की माया के बल का पार नहीं पा सका है.' इस प्रकार के कथन से यह समझ लेना चाहिये कि इन भगवान की योगकला के सम्बन्ध में यदि ब्रह्मादिक देवों को भी कुतर्क उत्पन्न हो जाय, तो उनके लिये यही कहा जायगा कि उन्होंने माया के बल का पार नहीं पाया है. कुतर्क भी यह है कि 'ये भगवान ऐसा क्यों करते हैं ?' वास्तव में भगवान के सम्बन्ध में तो ऐसा मान लेना चाहिये कि 'ये तो समर्थ हैं. इसलिए, वे जो कुछ करते हैं, ठीक ही करते हैं.' इस प्रकार भगवान को निर्दोष समझना चाहिये. ऐसा विवेक रखनेवालों के लिये यही कहा जायगा कि उन्होंने माया को पार कर लिया है. यद्यपि कल्याण की रीति एक ही है, फिर भी भगवद्भजन करनेवाले पुरुषों में उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ नामक तीन प्रकार के भेद हैं. उनकी श्रद्धा भी अनेक प्रकार की है. इस योग के कारण कल्याण के मार्ग में भी अनन्त भेद हुए हैं. परन्तु, कल्याणमार्ग वास्तव में एक ही है तथा भगवान का स्वरूप भी एक

है, वे भगवान अतिसमर्थ हैं. उनके जैसा होने के लिये अक्षरपर्यन्त कोई भी समर्थ नहीं हो पाता, यह सिद्धान्त है.'

मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से कहा कि 'झीणाभाई तो आज अत्यन्त खिन्न हुए और यह बोले कि जब महाराज हमारे घर नहीं आये तब हमें भी घर में रहने का क्या प्रयोजन है ?'

यह बात सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो पुरुष बेचैनी से रुष्ट होकर प्रेम करता है, वह अन्त तक निभता नहीं. रिस से की गयी भक्ति तथा प्रेम अन्त में खोटा सिद्ध हो जाता है. खिन्न होकर निस्तेज मुँह रहना बहुत बड़ी खामी है.'

झीणाभाई ने कहा कि 'भगवान और उनके सन्त जब किसी के घर आवें तब उसे अपना मुख प्रफुल्लित रखना चाहिये. जब भगवान तथा सन्त नहीं आते तब तो मुख पर उदासी रहनी ही चाहिये और हृदय में दुःख भी होना चाहिये.'

यह वार्ता सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान और सन्त जब किसी के यहाँ पधारें तब प्रसन्न होना चाहिये, किन्तु दुःख तो कभी भी प्रकट नहीं करना चाहिये. यदि किसीने दुःख में उद्विग्न बने रहने का स्वभाव अपना लिया तो अन्त में कोई भी अशुभ घटना हुए बिना नहीं रहती. इसलिए, अपना-अपना धर्माचरण करते रहना चाहिये तथा भगवान जो कुछ भी आज्ञा दें उसका प्रसन्नतापूर्वक पालन करना चाहिये, परन्तु अपनी पसन्द पर जोर देने के लिये किसी भी प्रकार से व्यग्र नहीं रहना चाहिये. यदि भगवान कहीं जाने की आज्ञा प्रदान करें, तो उद्विग्न होकर निराश नहीं हो जाना चाहिये, क्योंकि इस कारण भगवान द्वारा पहले दिये गये दर्शनों, प्रदत्त प्रसाद तथा अनेक प्रकार की ज्ञान-वार्ता आदि क्रियाओं से जो सुख प्राप्त हुआ है, वह नष्ट हो जाता है. यदि उद्विग्नता बनी रही, तो बुद्धि पर केवल तमोगुण ही छाया रहेगा. ऐसी दशा में उसे जहाँ भेजा जाता है वहाँ वह दुःखी होकर ही जाता है. इस तरह के उद्वेग के कारण आज्ञा का यथार्थ रूप से पालन भी नहीं होता. अतएव, भगवान के भक्तों को सदैव अतिप्रसन्न रहना चाहिये तथा हर्षोत्फुल्ल मन द्वारा भगवान का भजन करना चाहिये, परन्तु चाहे कैसा भी अशुभ देश-काल हो, फिर भी हृदय में लेशमात्र भी व्यग्रता नहीं रखनी चाहिये.' ॥ इति वचनामृतम् ॥४॥ ॥११२॥

वचनामृत ५ : निष्कपट कौन ?

संवत् १८७७ में कार्तिक कृष्ण *अमावास्या को रात के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन मे विराजमान थे. उन्होंने श्वेत चूड़ीदार पायजामा पहना था, सफेद छींट की बगलबंडी पहनी थी और मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने समस्त परमहंसों से प्रश्न पूछा कि 'कितने संकल्प प्रकट करने पर भक्त पुरुष निष्कपट कहलाता है और कितने संकल्पों का उच्चार न करने पर उसे कपटी कहा जाता है ?' परन्तु, परमहंस इस प्रश्न का उत्तर न दे सके.

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'स्वयं में पंचव्रतों सम्बन्धी जो कच्चापन हो, वह यदि आत्मविचार द्वारा भी न मिटता हो, तो उसे उन सन्त के पास जाकर अपनी यह कमजोरी बतानी चाहिये, जिनमें ऐसा कच्चापन न हो. यदि अपने मन में सन्त के प्रति कोई दोषभाव उत्पन्न हो गया हो, तो उसे भी जता देना चाहिये. भगवान सम्बन्धी निश्चय में भी यदि कोई अनिश्चयात्मक संकल्प हो गया हो, तो उसे भी प्रकट कर देना चाहिये. तभी उसे निष्कपट कहा जायगा. यदि ऐसे संकल्पों में से कोई संकल्प हुआ हो और उसे यदि वह सन्त के [1]सामने नहीं कहता है, तो उसे कपटी समझना चाहिये.'

श्रीजीमहाराज ने पुनः प्रश्न पूछा [2]कि 'यदि कोई ऐसा कपटी पुरुष बुद्धिमान हो, तो उसे किस प्रकार की बुद्धि द्वारा पहचाना जा सकता है ?'

जब परमहंस इस प्रश्न का भी उत्तर न दे सके, तब श्रीजीमहाराज ने

---

* बुधवार, ५ दिसम्बर, १८२०.

१. दम्भ, मान, मद या लज्जा से.

२. स्वयं कपटी हो, परन्तु बाह्यरूप से साधुवेश धारण करके तथा खुद को बुद्धिमान जतलाकर दम्भपूर्वक ऊपर से सदाचरण का ढोंग करनेवाले उन बुद्धिशाली पुरुषों में से 'कपटी' पुरुष को किस प्रकार परखा जा सकता है, इतना ही प्रश्न पूछने का अभिप्राय है.

बताया कि 'इसकी पहचान तो इस प्रकार हो सकती है कि इसका सहवास होने पर खाते-पीते, बैठते-उठते और चलते-फिरते समय स्वयं उस पर नज़र रखे और अपने से अलग होने पर भी किसी अन्य पुरुष द्वारा गोपनीय रूप से उस पर निगरानी रखता रहे. तभी उसकी कपट-भावना का पता लग सकता है.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'जो पुरुष 'दम्भपूर्वक पंचव्रतों' का पालन करता हो और दम्भभाव से ही भगवान सम्बन्धी निश्चय रखता हो, अपनी बुद्धि की डींग मारता हो, अभिमानी हो तथा अपने व्रतपालन एवं भगवान के स्वरूप के निश्चय को ही अन्य भक्तों के व्रतपालन तथा निश्चय की अपेक्षा अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रदर्शित करता हो, तब उसे ऐसा कैसे समझ लिया जाय कि इसका व्रतपालन और निश्चय दम्भपूर्ण हैं ?' परमहंस इस प्रश्न का भी उत्तर न दे सके.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब इसकी [१]प्रतिष्ठा को आघात पहुँचता है तभी इसकी दम्भभावना का पता लग सकता है, अन्यथा नहीं.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'भगवान सम्बन्धी निश्चय तथा व्रतपालन, इन दोनों में से कैसा संकल्प होने से पतन हो जाता है और कौन-सा संकल्प होने पर भी पतन नहीं होता और उसकी कितनी अवधि होती है, अर्थात् किस हद तक उस संकल्प के रहने से पुरुष धर्मच्युत हो जाता है तथा धर्म और भगवान सम्बन्धी निश्चय में से पुरुष का पतन हो जाता है ?' परमहंस इस प्रश्न का भी उत्तर नहीं दे सके.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'कोई संकल्प ऐसा होता है, जिसे मिटाने का यत्न करने पर भी जो नहीं मिट पाता. यदि धर्म का पालन करने में ऐसा कोई अनुचित संकल्प रहता हो, तो वह पन्द्रह दिन तथा एक मास तक नहीं रह सकता. फिर भी, यदि वह किसी दिन उत्पन्न हो जाय, तो वह संकल्प पुरुष को धर्मच्युत कर डालता है. भगवान सम्बन्धी निश्चय के विषय में भी यही विवेक रखना चाहिये. जो संकल्प हुआ हो, उसे यदि विवेकपूर्वक मिटा दिया जाय और वह पुनः उत्पन्न न हो, तो ऐसा संकल्प इन दोनों मार्गों से उस पुरुष को नहीं गिरा सकता.'

---

१. मान-भंग.

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'सत्संग में किसकी स्थिति सुदृढ़ रहती है और किसकी नहीं रहती ?' इस प्रश्न का भी उत्तर परमहंस न दे सके.

श्रीजीमहाराज ने पुनः इसका यह उत्तर दिया कि 'जिस प्रकार दत्तात्रेय ने पंचभूतों, चन्द्रमा, पशुओं, वेश्या, कुमारी तथा अपनी देह आदि में से जो गुण ग्रहण किये, वैसे ही गुण यदि सन्त में लेने का जिसका स्वभाव बन गया हो, उसीकी स्थिति सत्संग में सुदृढ़ रहती है. जो स्वभावतः सन्त के गुणों को ग्रहण नहीं करता, उसकी स्थिति सत्संग में रहने पर भी सुदृढ़ नहीं रहती.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'क्या सन्त, शास्त्रों द्वारा तथा आत्मविचार होने पर ही इन्द्रियों और अन्तःकरण को विजित किया जा सकता है या इनमें से किसी की कमी रहने पर भी इन पर विजय प्राप्त की जा सकती है ? यदि आप लोग ऐसा कहेंगे कि अगर 'ये तीनों बातें इकट्ठी रहें, तभी इन्हें अपने काबू में लिया जा सकता है, तब सन्त, शास्त्रों तथा आत्मविचार द्वारा कौन-सी युक्ति सीखी जानी चाहिये, यह बताइये.' परमहंस इस प्रश्न का भी उत्तर नहीं दे पाये.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'शास्त्रों से भगवान तथा सन्त के माहात्म्य का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये और सन्त से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये. वे इन्द्रियों को जीतने की जो युक्ति बतावें, कि 'इस प्रकार नेत्र की दृष्टि नासिका पर रखनी तथा लौकिक व्यवहार सम्बन्धी वार्ता नहीं सुननी चाहिये', आदि उसे सीख लेना चाहिये. सन्त द्वारा सिखायी गयी युक्ति को आत्मविचार द्वारा अपने कल्याण के लिये उचित समझ लेना चाहिये और उसके अनुसार आचरण भी करना चाहिये. इस प्रकार के तीनों उपायों द्वारा इन्द्रियों तथा अन्तःकरण पर विजय प्राप्त की जा सकती है.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'इन्द्रियों पर विजय होने से अन्तःकरण विजित हो जाता है या अन्तःकरण को जीत लेने पर इन्द्रियों पर विजय होती है ?' परमहंस इस प्रश्न का भी उत्तर न दे सके.

श्रीजीमहाराज ने इस प्रश्न का इस प्रकार उत्तर दिया कि 'बाह्य इन्द्रियों को दैहिक दमन द्वारा जीत ले और देहदमन द्वारा यदि बाह्य इन्द्रियों को जीत लिया गया हो, फिर भी पंचव्रतों का दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिये, तो बाह्य इन्द्रियों को जीत लेने पर अन्तःकरण पर विजय प्राप्त की जा

सकती है. परन्तु, अकेले अन्तःकरण पर जीत होने से बाह्य इन्द्रियों पर विजय नहीं मिल सकती. बाह्य इन्द्रियों को जीत लेने पर ही अन्तःकरण पर विजय हो सकती है, क्योंकि जब पुरुष बाह्य इन्द्रियों को जीतकर उन्हें विजयोन्मुख होने का अवसर नहीं देता, तब अन्तःकरण आन्तरिक रूप से निराश हो जाता है कि 'इस देह द्वारा यह बात नहीं बनेगी.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'बाह्य इन्द्रियों तथा अन्तःकरण पर किस प्रकार विजय प्राप्त हो सकती है ?' इस प्रश्न का भी उत्तर परमहंस न दे सके.

श्रीजीमहाराज ने यह बताया कि 'धर्मशास्त्र में त्यागी पुरुषों के लिये जो नियम बताये गये हैं उनका पालन करते रहना चाहिये तथा आहार को नियन्त्रित रखना चाहिये, तप्तकृच्छ-चान्द्रायणादि व्रत करना चाहिये तथा जानबूझकर शीत, धूप, क्षुधा एवं तृषा भी सहन करनी चाहिये, भगवान का कथाकीर्तन करना चाहिये, वार्ता करनी चाहिये, भजन एवं स्मरण के लिये बैठना चाहिये, किन्तु स्थिरतापूर्वक बैठना चाहिये. ऐसे साधनों द्वारा बाह्य इन्द्रियों पर विजय हो सकती है. भगवान के माहात्म्य का विचार और भगवान का ध्यान करने तथा आत्मनिष्ठा रखने से अन्तःकरण पर विजय प्राप्त की जा सकती है.' ।। इति वचनामृतम् ।।५।। ।।११३।।

वचनामृत ६ : संग-शुद्धि

संवत् १८७७ में मार्गशीर्ष शुक्ल *प्रतिपदा को श्रीजीमहाराज लोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में रात के समय विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सफेद छींट की बगलबंडी पहनी थी, श्वेत फेंटा बाँधा था और अन्य सफेद फेंटा मस्तक से आकंठ बाँधा था. उस सफेद फेंटे का छो सिर पर लटक रहा था और उन्होंने सूती शाल ओढ़ी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने परमहंसों से प्रश्न पूछा कि 'सत्संग होने के पश्चात् [१]अतिदुर्लभ साधन किसे माना गया है ?' परमहंस इस प्रश्न का कोई उत्तर

---

* गुरुवार, ६ दिसम्बर, १८२०.

१. सम्भव न हो सके, उतना कठिन.

नहीं दे सके.

श्रीजीमहाराज ने यह उत्तर दिया कि 'इसमें एकान्तिकता की भावना की सिद्धि अत्यन्त दुर्लभ होती है. एकान्तिकता क्या है ? धर्म, ज्ञान एवं वैराग्यसहित भगवान की भक्ति करने को ही एकान्तिकता कहते हैं.'

श्रीजीमहाराज ने पुनः पूछा कि 'धर्म सम्बन्धी साधनों में ऐसा कौन-सा साधन है, जिसके रखने पर समस्त धर्म रहते हैं तथा भगवान सम्बन्धी भजन, स्मरण, कीर्तन और वार्ता आदि साधनों में ऐसा एक साधन कौन-सा है कि आपत्काल में समस्त साधनों के चले जाने पर इस एक साधन के रहने पर सभी साधन अक्षुण्ण बने रहते हैं ?' इस प्रश्न का उत्तर भी उन्होंने स्वयमेव दिया कि 'धर्म सम्बन्धी साधनों में यदि एक निष्काम भाव का साधन बना रहे तो समस्त साधना स्वतः सुलभ हो जाते हैं. भगवान सम्बन्धी साधन में यदि भगवान के स्वरूप का निश्चय रहे, तो साधन अपने आप चले [1]आते हैं.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'कैसी एक प्रकार की मति रखने से कल्याण होता है और उससे विचलित होने पर अशुभ होता है तथा कैसी बुद्धि से बारंबार हट जाने पर कल्याण होता है और उससे विचलित होने पर अशुभ परिणाम निकलता है ?' श्रीजीमहाराज ने इस प्रश्न का भी स्वयं उत्तर दिया कि 'भगवान के स्वरूप के सम्बन्ध में निश्चयात्मक मति रखने से कभी भी विचलित नहीं होना चाहिये. भगवान के माहात्म्य को सुनने और बारंबार उसकी पुष्टि करने से कल्याण होता है तथा इस बुद्धि से बार-बार हट जाने से अशुभ परिणाम होता है. अपने मन से स्वयं जैसी बुद्धि द्वारा जो निश्चय किया हो कि 'मुझे ऐसा करना है,' उस बुद्धि को सन्त के वचन द्वारा बार-बार बदल देना चाहिये तथा सन्त यदि यह कहें कि 'यहाँ नहीं बैठना चाहिये और यह नहीं करना चाहिये', तो उस ठिकाने न तो बैठना चाहिये और न वैसा काम ही करना चाहिये. इस रीति से मति में परिवर्तन करने से कल्याण होता है और स्वेच्छापूर्वक कोई कार्य करने से अहित होता है.'

१.. 'भक्त्या संजातया भक्त्या' इत्यादि वचनों से यद्यपि 'प्रेमलक्षणा भक्ति के लिये श्रवणादि' साधन बताये गये हैं तथापि वे साधन भी निश्चयमूल हैं, अतएव इस स्थल पर निश्चय को साधन भी बताया गया है, इसलिए निश्चय को ही भक्ति में साधनरूप से तथा मूलतः बताने में कोई दोष नहीं है.

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'किस प्रकार के सत्संगी अथवा परमहंस के जो पूर्णत. धर्माचरण करता हो, पास बैठने और उसकी बात सुनने से दोष लगता है ?' इस प्रश्न का उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया कि 'जिस पुरुष को भगवान के स्वरूप के सम्बन्ध में निश्चय हो और जो धर्माचरण में तत्पर रहता हो, किन्तु यदि उसे व्यावहारिकता में फिर भी आसक्ति रहती है, देहाभिमान एवं दम्भ रहता है तथा भगवान और सन्त के दृष्टिकोण की टीका-टिप्पणी करता है और दूसरे लोगों के सामने भी उनके विरुद्ध दोषभाव से बात करता हो तथा अपनी दोषपूर्ण बातों से भगवान और सन्त की अवज्ञा करता हो तो उसके साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये. यदि ऐसे व्यक्ति के साथ सम्बन्ध रखा गया, तो अशुभ परिणाम होता है.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'ऐसा कौन-सा साधु है, जो धर्माचरण करता हो और जिसमें भगवान सम्बन्धी निश्चय भी हो, फिर भी उसके साथ स्नान करने के लिये नहीं जाना चाहिये, उसके पास अपने बिछौने नहीं बिछाने चाहिये और उसकी बात भी नहीं सुननी चाहिये ?' इस प्रश्न का उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया कि ऐसे सन्त का समस्त प्रकार से त्याग करना चाहिये, जो इस तरह की बेहिम्मत बात करता हो कि 'क्या एक ही जन्म में निष्कामादि गुण आ जायेंगे ? वे तो भगवान की कृपा से ही आते हैं. क्या इसी जन्म में कल्याण होता है ? नहीं. यदि भगवान की कृपा न हो तो अनेक जन्मों के बाद ही कल्याण होता है.' उस सन्त का प्रत्येक प्रकार से संग करना चाहिये, जो यह कहता हो कि 'इसी शरीर से कृतार्थ हो चुके हैं तथा काम, क्रोध, मद, मत्सर एवं मान आदि की क्या सामर्थ्य है ? भगवान तथा सन्त के प्रताप से इन सबका नाश कर दूँगा.' जो ऐसा कहता हो तथा कामादि दोषों का नाश करने के उपाय में तत्परतापूर्वक जुटा हुआ हो, ऐसे सन्त का संग प्रत्येक प्रकार से करना चाहिये.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'ऐसा साधु कैसा होना चाहिये, जो हिम्मतभरी बात करता हो, तो भी उसका त्याग कर डालना चाहिये ?'

श्रीजीमहाराज ने इस प्रश्न का भी उत्तर स्वयं दिया कि 'जो सन्त केवल अपने पुरुषार्थ का ही अधिक वर्णन करता हो, पुरुषार्थ से ही अपने को कृतार्थ मानता हो, भगवान का भरोसा न रखता हो और यह न जानता

हो कि 'इस साधन द्वारा भगवान को प्रसन्न करना है', उसका भी परित्याग कर देना चाहिये.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'कैसे साधु का संग करना चाहिये तथा किस सन्त के साथ नहीं रहना चाहिये ?' इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया कि 'जो सन्त शुद्धतापूर्वक तथा व्यवस्थित रूप से व्रतपालन करता हो, भगवान के स्वरूप का विशुद्ध निश्चय हो फिर भी जो अपने साथ रहनेवाले साधुओं को उनके दोषों के लिये न टोकता हो, बल्कि लाड़-प्यार से रखता हो, उसके साथ भी नहीं रहना चाहिये. ऐसा सन्त भले ही मुक्तानन्द स्वामी के समान महान कहलाता हो, उसका भी संग नहीं करना चाहिये. जो सन्त साथ में रहने पर अपने को टोका करे, जो स्वभाव देखे उस पर नियन्त्रण रखता हो, जब तक यह स्वभाव न मिट जाय, तब तक उपदेश देता रहे, लेकिन लल्लोचप्पो (चापलूसी) की बात न करे और लौकिक व्यवहार में भले ही महत्वपूर्ण न कहलाता हो तो भी उसका संग करते रहना चाहिये.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'यदि सन्त में भक्तिज्ञानादि समस्त महान गुण हों, परन्तु कौन-सा ऐसा एक खराब दोष हो, जिसके कारण उसका संग नहीं करना चाहिये ?' इस प्रश्न का उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया कि 'उस सन्त का कभी भी संग नहीं करना चाहिये, जिसमें घोर आलस्य तथा निद्रा रहे और जब कोई पुरुष उससे स्नानध्यानादि नियमों का पालन करने को बात करे तो वह बोले कि 'अभी कर लूँगा, जल्दबाजी क्या है, धीरे-धीरे होगा.' जो सन्त ऐसा बोले, वह चाहे कितना ही सज्जन क्यों न हो, फिर भी उसका संग नहीं करना चाहिये.'

श्रीजीमहाराज ने पुनः प्रश्न पूछा कि 'उसकी वाणी में ऐसा कौन-सा दोष मानना चाहिये कि वह चाहे कितनी ही अच्छी बात करे, तो भी उसकी बात नहीं सुननी चाहिये ?' इस प्रश्न का उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया कि 'जो सन्त बात करते समय अपने में विद्यमान भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और धर्म की अहंकारपूर्वक डींग मारता रहे तथा अन्य सन्त के ज्ञान एवं भक्ति को कुछ न्यून करके बतावे, तो उसकी वाणी में यही दोष समझना चाहिये तथा उसकी बात भी नहीं सुननी चाहिये.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'जिसकी वाणी में कुत्सित भावना हो,

फिर भी उसका अमृत के समान रसास्वादन किया जाता है, ऐसी वह वाणी कौन-सी है ?' इसका उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया कि 'जो सन्त वार्तालाप करते समय अपने सम्बन्धी, माता-पिता, बहन, भाई और अपनी जाति की कुत्सित शब्दों द्वारा तीव्र निन्दा करता हो, तो उसकी उस वाणी को अच्छी मानना चाहिये, क्योंकि जो पुरुष उस समय यह वाणी सुनेगा, तब उस सन्त के प्रति उसकी यह धारणा बन जायगी कि 'इन सन्त को अपने दैहिक सम्बन्धियों आदि के साथ किसी भी तरह से प्रेम नहीं है', इसलिए इस वाणी का अमृतवत् पान करना चाहिये.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'किस ठिकाने मान रखना और कहाँ मान नहीं रखना चाहिये ?' इस प्रश्न का उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया कि 'भगवान का दृढ़ आश्रित हो और वह दीन हरिभक्त हो, तो भी उसके समक्ष मान नहीं रखना चाहिये. किन्तु, जो पुरुष सत्संग से विचलित हो गया हो उसके सामने तो मान रखना चाहिये, लेकिन उसके आगे किसी भी प्रकार से नहीं झुकना चाहिये तथा सत्संग के सम्बन्ध में अनुचित चर्चा होने पर उसका दृढ़ता से प्रतिवाद करना चाहिये.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'किस स्थान पर भगवान के दर्शनादि तथा सन्त के सम्बन्ध में स्नेह नहीं रखना चाहिये और कहाँ रखना चाहिये ?' उन्होंने बताया कि 'यदि हम समस्त साधुओं से सामान्यतः यह बात करें कि 'बुरहानपुर और काशी कौन जायगा', तब अगर कोई बोले नहीं तो अन्य किसी भी साधु को उस सभा में उठकर हमसे यह निवेदन करना चाहिये कि 'हे महाराज ! यदि आप आज्ञा करें, तो मैं चला जाऊँ ?' ऐसा कहकर और हमारी आज्ञा लेकर वहाँ जाना चाहिये. ऐसे स्थान पर हमारी प्रसन्नता के लिये हमारे दर्शनादि तथा सन्त-समागम का स्नेह भी नहीं रखना चाहिये. यदि हमने तथा साधुओं ने खींचकर किसी पुरुष को डाँट-फटकार कर और तिरस्कृत करके सत्संग से बाहर निकाल दिया हो और अब वह दुःखी होकर रुदन करता हो, तब कोई विमुख जैसा पुरुष एकदम उसके पास जाकर सन्त के अथवा हमारे विरुद्ध आक्षेपयुक्त बातें करता हो, तब उसे सन्त तथा भगवान के प्रति अधिक प्रेम जताना चाहिये और यह कहना चाहिये कि 'मैं तो उनका क्रीतसेवक हूँ, इसलिए यदि वे मेरे टुकड़े-टुकड़े भी कर डालेंगे, तो भी मैं उन पर आक्षेप नहीं करूँगा. वे तो मेरा

कल्याण करनेवाले हैं.' इस प्रकार वहाँ अतिशय स्नेह प्रकट करना चाहिये.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'वह कौन-सी बात है कि जिस कार्य के करने से भगवान प्रसन्न होते हैं, तो भी नहीं करना और जिस कृत्य के करने से भगवान अप्रसन्न होते हैं, तो भी करना चाहिये ?' उन्होंने इस प्रश्न का यह उत्तर दिया कि 'यदि हमारे द्वारा कहे गये किसी वचन में अधर्म-सी कोई बात प्रतीत होती हो, तो उसे मानने में अधिक विलम्ब कर देना चाहिये, परन्तु उसे तुरन्त नहीं मान लेना चाहिये. जैसे श्रीकृष्ण भगवान ने अर्जुन से कहा था कि 'अश्वत्थामा का सिर काट डालो', किन्तु अर्जुन ने उस बात को नहीं माना, वैसे ही इस प्रकार के वचनों पर यदि हम प्रसन्न हों तो भी उनका पालन नहीं करना चाहिये. यदि किसी वचन के कारण पंचव्रतों सम्बन्धी नियमों में से किसी का भी उल्लंघन होता हो, तो उसे नहीं मानना चाहिये. यदि इस प्रकार के दोनों वचनों का पालन न करने से भगवान कुपित होते हों, तो उन्हें और अधिक रुष्ट होने देना, परंतु उसके लिये उन्हें प्रसन्न नहीं करना चाहिये.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'भगवान का ध्यान करते समय यदि मन में समुद्र की विशाल तरंगों के समान अघटित कुसंकल्पों की तरंगें उठती हों, तो उन्हें किस प्रकार मिटाना चाहिये ?'

इस प्रश्न का भी उन्होंने स्वयमेव उत्तर देते हुए बताया कि 'जब इस तरह के कुसंकल्प होने लगें, तब उस ध्यान को छोड़कर और कोई लज्जा किये बिना ही जिह्वा द्वारा उच्चस्वर से ताली बजाते हुए 'स्वामिनारायण, स्वामिनारायण' भजन करना चाहिये तथा 'हे दीनबन्धो ! हे दयासिन्धो !' शब्दों का उच्चारण करते हुए भगवान की प्रार्थना करनी चाहिये. भगवान के मुक्तानन्द स्वामी जैसे बड़े सन्त हों, उनका नामोच्चार करते हुए उनकी प्रार्थना करनी चाहिये, तो ये समस्त कुसंकल्प टल जाते हैं और शान्ति भी हो जाती है, परन्तु इस उपाय के बिना इन्हें टालने का कोई अन्य उपाय नहीं है.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'ऐसा वह कौन-सा गुण है कि इस सत्संग में जो अत्यन्त महान गुण प्रतीत होता हो और उसकी सब प्रशंसा करते हों, फिर भी वह त्याज्य होता है ? ऐसा वह कौन-सा दोष है, जो ग्रहण करने योग्य होता है ?'

इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया कि 'मुक्तानन्द स्वामी जैसे साधु जब सर्वश्रेष्ठ ढंग से व्रत-पालन करते है, तब अन्य साधुओं को उस कारण उद्वेग होता है, क्योंकि वे उनके समान ऐसा आचरण नहीं कर पाते. यद्यपि यह गुण महान है, फिर भी उसका परित्याग कर डालना चाहिये और समस्त साधुओं के साथ समानता का व्यवहार करना चाहिये. यद्यपि समतापूर्ण आचरण दोषसदृश है, तो भी उसको ग्रहण कर लेना चाहिये.'

श्रीजीमहाराज ने पुन यह प्रश्न पूछा कि 'इन साधुओं में ऐसा कौन-सा दोष है, जिसका त्याग करने से दोषमात्र का त्याग हो जाता है तथा ऐसा कौन-सा गुण है कि जिसके आने पर समस्त गुण आ जाते है ?' इस प्रश्न का भी उत्तर उन्होंने स्वयं दिया कि 'देहाभिमानरूपी जो दोष है, उसमें समस्त दोषों का समावेश रहता है. इसलिए, उसका त्याग करने से सभी दोषों का त्याग हो जाता है. 'मै तो देह से भिन्न आत्मा हूं', ऐसे आत्मनिष्ठारूपी गुण के आने पर समस्त गुण आ जाते है.'

श्रीजीमहाराज ने पूछा कि वे 'पंचविषय कैसे हैं, जिनका सेवन करने से बुद्धि में प्रकाश होता है और किन पचविषयो के सेवन से बुद्धि में अन्धकार हो जाता है ?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने बताया कि 'भगवान सम्बन्धी पचविषयों का सेवन करने से बुद्धि में प्रकाश होता है और जगत सम्बन्धी पंचविषयों के सेवन से बुद्धि मे अन्धकार हो जाता है.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'वह कैसा देश, कैसा काल, कैसा संग और कैसी क्रिया है, जिनके साथ सम्बन्ध भगवान की आज्ञा होने पर भी नहीं करना चाहिये ?'

इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया कि 'जिस देश में निवास करने पर अपने शरीर के सम्बन्धियों से बार-बार बैठने-उठने का योग होता हो, तो उस देश में भगवान की आज्ञा से भी नहीं रहना चाहिये. जहाँ हमारे दर्शनों के साथ-साथ स्त्रियाँ भी दिखायी पडती हों, तब ऐसे संग तथा क्रिया की स्थिति में यदि हम किसी भक्त को बिठाकर यह बात कहें कि 'हमारे दर्शन करो', तो भी वहाँ नहीं बैठना चाहिये और कोई भी बहाना करके उस जगह से उठकर चले जाना चाहिये. जिस काल में विषमता रहती हो और मारपीट की घटना होती हो तथा उस स्थान पर ठहरने के लिये यदि भगवान की आज्ञा हो, तो भी वहाँ से हटकर चला जाना चाहिये, लेकिन उसी ठिकाने

रहकर मार नहीं खानी चाहिये.' (केवल त्यागी साधुओं के लिये)

श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'किन शास्त्रों का श्रवण तथा अध्ययन करना चाहिये और कौन-से शास्त्रों को नहीं सुनना तथा पढ़ना चाहिये ?'

उन्होंने इसका यह उत्तर दिया कि 'जिन शास्त्रों में भगवान के साकार-भाव का प्रतिपादन न किया गया हो तथा भगवान के अवतारों का निरूपण भी न हो, वे यदि शुद्ध वेदान्त ग्रन्थ हों तथा अद्वितीय निराकार का ब्रह्मरूप से प्रतिपादन किया गया हो और उन ग्रन्थों को भले ही बुद्धिमान पुरुषों द्वारा निर्मित किया गया हो, तो भी उनका कभी भी पठन एवं श्रवण नहीं करना चाहिये. यदि रणछोड़ भक्त जैसे कीर्तन ही हों तथा उनमें भगवान की मूर्ति का वर्णन किया गया हो, तो उनका गान और श्रवण कर लेना चाहिये. इस प्रकार के ग्रन्थों को पढ़ना और सुनना भी चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥६॥ ११४॥

वचनामृत ७ : 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'

सवत् १८७७ में मार्गशीर्ष शुक्ल *तृतीया को श्रीजीमहाराज श्रीलोया ग्राम स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में पलंग पर विराजमान थे. उनके मस्तक पर सफेद पाग का छोर सुशोभित लग रहा था. उन्होंने सफेद छींट की बगलबंडी पहनी थी, रुईभरा श्वेत चूड़ीदार पायजामा पहना था और सफेद पिछौरी ओढ़ी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस समय नित्यानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज को वचनामृत पुस्तक लाकर दी. इस पुस्तक को देखकर वे अधिक प्रसन्न हुए और परमहंसों से बोले कि आज तो कठिन कठिन प्रश्न करें तो बात करें. तब मुक्तानन्द स्वामी ने यह प्रश्न पूछा कि 'श्रुतियों में कहा गया है कि –

'ऋते ज्ञानान्न[1] मुक्तिः ।'

'तमेव[2] विदित्वातिऽमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥'

---

* शनिवार, ९ दिसम्बर, १८२०.

१. अर्थ ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती.

२. परमात्मा को जानकर संसार का अतिक्रमण करता है. मुक्ति के लिये ज्ञान के सिवा कोई भी अन्य मार्ग नहीं है.

इन श्रुतियों में यह कहा गया है कि 'भगवान के स्वरूप का साक्षात् ज्ञान होने पर ही जीव का कल्याण होता है.' फिर भी, शास्त्रों में कल्याण के लिये जो अन्य साधन[१] बताये गये हैं उनका क्या प्रयोजन है, क्योंकि कल्याण तो ज्ञान द्वारा ही होता है ?' इस प्रश्न को सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'ज्ञान का अर्थ जानना[२] है.'

नित्यानन्द स्वामी ने यह आशंका प्रकट की कि 'जानना ही यदि ज्ञान है, तो समस्त जगत भगवान को शास्त्रों द्वारा जानता ही है, किन्तु उससे सबका कल्याण नहीं होता.' श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस प्रकार शास्त्रों द्वारा भगवान को परोक्षभाव से जान लेने पर कल्याण नहीं होता, वैसे ही भगवान के राम-कृष्ण आदि अवतारों को जिन मनुष्यों ने प्रत्यक्ष देखा, तो क्या उससे उनका कल्याण हुआ है ?'

मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'जिन लोगों ने भगवान को प्रत्यक्ष देखा (स्वरूप के ज्ञान के सिवा), उनका कल्याण तो जन्मान्तर में हो जाता है. तब श्रीजीमहाराज बोले कि जिन भक्तों ने शास्त्रों द्वारा भगवान को जान लिया है, उनके माध्यम से ही जन्मान्तर में उनका कल्याण होता है, क्योंकि शास्त्रों द्वारा जिन्होंने भगवान के स्वरूप को जान लिया है, उन्हीं को वे नेत्रों

---

१. स्वधर्म, तप, योग आदि.

२. ज्ञानधातु का केवल भाववाचकरूप 'ज्ञान' होता है. इसलिए, ज्ञान का अन्य पर्यायवाची शब्दार्थ वेदन है. वह ज्ञानपदार्थ विषयवाला है, अर्थात् 'किसका ज्ञान.' इस प्रकार ज्ञान में विषय की अपेक्षा है. विषय के बिना ज्ञान का निरूपण ही नहीं होता. जिस तरह पदार्थ अनेक प्रकार के हैं वैसे ही ज्ञान भी अनेक प्रकार का है. आप रसज्ञान, रूपज्ञान आदि पदार्थावलम्बी अनेक प्रकार के ज्ञान के मध्य किस पदार्थवाची ज्ञान को मुक्ति में कारण मानते हैं, क्योंकि आपने 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः', इस श्रुति का जो उद्धरण दिया है, उसमें ज्ञान के विषय को स्पष्टतः नहीं बताया गया है. ऐसा वचन सुनकर मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'मैंने जिस श्रुति का उद्धरण दिया है, उसके ज्ञान का विषय तो प्रत्यक्ष भगवान को माना गया है. उनके सम्बन्ध में ज्ञान होने पर ही मुक्ति हो जाती है, क्योंकि मायिक पदार्थों का ज्ञान तो अज्ञानजन्य है. साक्षात् भगवान संबंधी ज्ञान तो मुक्ति का मुख्य साधन है. इसी अभिप्राय को 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति', 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः', 'तमेव विद्वानमृत इह भवति', आदि श्रुतियों में बताया गया है.' इतना विशेष भावार्थ इस स्थल पर मननीय है.

द्वारा देखते हैं. जिनके दर्शन वे नेत्रों द्वारा करते हैं उन्हीं का ज्ञान शास्त्रों द्वारा प्राप्त करते हैं. दोनों का संस्कार बराबर रहता है तथा दोनों का जन्मान्तर से कल्याण भी समान रूप से होता है. क्या कथा-श्रवण द्वारा भगवान की यशोगाथा सुनने में ज्ञान अन्तर्निहित नहीं है ? परन्तु, उन्हें तो सुना हुआ ही कहा जायगा. क्या त्वचा द्वारा किये गये स्पर्श में ज्ञान नहीं है ? किन्तु, इसके सम्बन्ध में तो यही कहा जायगा कि उसने स्पर्श किया है. क्या नेत्रों द्वारा देखने में ज्ञान नहीं है ? परन्तु, इसके लिये तो यही बताया जायगा कि उसने केवल देखा ही है. क्या नासिका द्वारा सूँघने में ज्ञान नहीं है ? किन्तु, उसे तो सूँघा हुआ ही कहा जायगा. क्या जिह्वा द्वारा किये गये वर्णन में ज्ञान नहीं है ? परन्तु, उसे तो वर्णित ही कहा जायगा. इसी प्रकार, बाह्य इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होता है. अन्तःकरण द्वारा जो ज्ञान मिलता है उसे और अन्तःकरण एवं इन्द्रियों से परे जीवसत्ताश्रित अनुभव-ज्ञान में से किस प्रकार के ज्ञान के लिये आपका प्रश्न है ? भगवान ने इस जगत की उत्पत्ति के लिये अनिरुद्ध का स्वरूप धारण किया है, जिसमें स्थावरजंगमरूपी विश्व व्यवस्थित रूप से रहा है. वे संकर्षणरूप से जगत का संहार करते हैं और प्रद्युम्नरूप द्वारा विश्व की स्थिति का निर्धारण करते हैं तथा मत्स्यकच्छपादि रूपों में उनका अवतार होता है. इस प्रकार जहाँ जैसा कार्य होता है, वहाँ वे उसकी सिद्धि के लिये वैसा स्वरूप ग्रहण करते हैं. ऐसे कार्यों में कोई कार्य तो ऐसा होता है, जहाँ इन्द्रियों तथा अन्तःकरण की पहुँच हो जाती है. वहाँ उस कार्य की सिद्धि के लिये भगवान भी वैसा स्वरूप धारण [१]करते हैं. इसलिए, आप भगवान के किस स्वरूप के ज्ञान द्वारा कल्याण होने की बात पूछते हैं ?'

नित्यानन्द स्वामी ने यह मन्तव्य प्रकट किया कि 'भगवान के जिस स्वरूप में इन्द्रियों, अन्तःकरण तथा अनुभव की पहुँच हो जाती है तब भगवान के उस स्वरूप का ज्ञान होने के पश्चात् मोक्ष होता है, ऐसा हम कहते हैं.'

---

१. इसका अभिप्राय इतना ही है कि जब भगवान अनिरुद्धादि रूप में हों, तब उनका आश्रय लेनेवाला पुरुष उसे चक्षु आदि बाह्य उपकरणों तथा चित्त आदि आन्तरिक उपकरणों से ग्रहण करता है. जब यह स्थिति न हो, तब तो ध्यानसमाधिस्थ रहनेवाले को यह उस अवस्था में बाह्य आन्तरिक इन्द्रियों से अगोचर होने के कारण केवल स्वानुभव से ही ग्रहण होता है.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'ऐसे भगवान तो श्रीकृष्ण हैं. वे स्वयं अपने लिये इस प्रकार बताते हैं –

'[१]यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥'
'विष्टभ्याहमिदं[२] कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।'
'मत्तः[३] परतरं नान्यतत्किंचिदस्ति धनंजय !
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥'
'पश्य मे [४]पार्थ ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥'

ऐसे वचनों द्वारा वे स्वयं को इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से अगोचर बताते हैं. इसलिए, भगवान को तत्त्वतः समझने का यही मार्ग है कि जो पुरुष इन्द्रियों, अन्तःकरण तथा अनुभव द्वारा प्रत्यक्ष भगवान को यथार्थ रूप से जान लेता है, वही पूर्ण ज्ञानी कहलाता है. यदि इन तीन प्रकारों में से एक भी प्रकार कम हो तो वह आत्यन्तिक ज्ञान नहीं कहलाता है और जन्ममृत्यु की सीमा को भी पार[५] नहीं कर सकता. यदि वह किसी साधन द्वारा ब्रह्मभाव को प्राप्त कर ले, किन्तु प्रत्यक्ष भगवान को इस प्रकार न

---

१. अर्थः– पूर्वश्लोक में वर्णित स्वभाव से मैं क्षर पुरुष के लिये अतीत हूँ. इसलिए, मुझे उसके दोष का स्पर्श नहीं होता तथा अक्षर से भी मैं उक्त कारणों से अतिशय उत्कृष्ट हूँ. इसलिए, '**परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः**', इत्यादि श्रुतियों में तथा '**अंशावतारं पुरुषोत्तमस्य ह्यनादिमध्यान्तमजस्य विष्णोः**', आदि स्मृतियों में '**पुरुषोत्तम**' नाम से प्रख्यात हूँ.

२. अर्थः– 'मैं अपने महिमा-नियम करने की सामर्थ्य के एक अंश से इस जड़चिदात्मक समग्र जगत को आक्रमित कर रहा हूँ.'

३. अर्थः– 'हे अर्जुन ! मुझसे व्यतिरिक्त कोई भी तत्त्व ज्ञानबलादि गुणयोग से परतर नहीं है. जिस प्रकार डोरे में मणिमाला पिरोयी हुई रहती है, उसी प्रकार यह मेरा शरीर भूतचिदचिदात्मक समग्र जगत मुझमें समाया हुआ है, अर्थात् आश्रित है.'

४. अर्थः– 'हे पार्थ ! सबके आश्रयरूप मेरे इन अनेक रूपों का तुम अवलोकन करो, जो नाना प्रकार के दिव्य एवं शुक्लादि विभिन्न वर्णवाले तथा सुरनरादि की नाना आकृतिवाले हैं.'

५. माहात्म्यज्ञान सहित स्वरूपज्ञान की विशेषता बतायी गयी है.

जानता हो, तो भी पूरा ज्ञानी नहीं कहा जा सकता.

[1]अतएव, श्रीमद्भागवत में कहा गया है :–

'[2]नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।'

गीता में कहा गया है :–

'[3]कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥'

अकर्मात्मक ज्ञान के सम्बन्ध में भी जानना शेष रहा है, अर्थात् ब्रह्मरूप होनेवाले के लिये भी परब्रह्म पुरुषोत्तम के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना शेष रहा है. जो ब्रह्मरूप हो चुका है उसे ही पुरुषोत्तम की भक्ति करने का अधिकार है. वह भक्ति क्या है ? जिस प्रकार श्वेतद्वीपवासी निरन्नमुक्त ब्रह्मरूप होकर चन्दनपुष्पादि नानाप्रकार की पूजा-सामग्री द्वारा वासुदेव का पूजन करते हैं, वैसे ही उसे भी ब्रह्मरूप होकर चन्दनपुष्पों तथा श्रवणमननादि द्वारा प्रत्यक्ष भगवान की भक्ति करनी चाहिये.

गीता में भगवान ने कहा है :–

'[4]ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥'

---

१. यद्यपि शुकादि मुनि ब्रह्मस्वरूप हो गये थे तथापि वे भगवान की भक्ति से संयुक्त ज्ञान द्वारा अपनी न्यूनता को दूर करते रहे थे. भगवान सम्बन्धी ज्ञानयुक्त भक्तिभाव ब्रह्मात्मज्ञान का फलरूप है. भगवन्निष्ठ भक्तजन ऐसे भक्तिरहित निष्फल ज्ञान की प्रशंसा नहीं करते. इस स्थान में इतनी विशिष्टता मननीय है.

२. यद्यपि नैष्कर्म्य आत्मा का यथार्थ उपासनारूप ज्ञान निरंजन अर्थात् रागद्वेषादिरूप अंजनरहित है, फिर भी जो भगवान की भक्ति से रहित है, वह अत्यन्त शोभित नहीं लगता, अर्थात् भक्तियोग से विरत ज्ञानयोग शोभायमान नहीं होता.

३. अर्थः– मुमुक्षुओं द्वारा करने योग्य कर्म के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना है तथा नाना प्रकार के विकर्मात्मक वैदिक काम्यकर्म के विषय में भी जानकारी शेष रही है. इसी प्रकार अकर्ममूलक ज्ञान के सम्बन्ध में भी ज्ञान प्राप्त करना शेष रहा है. इस रीति से कर्म की गति को गहन माना गया है, अर्थात् उसका स्वरूप ऐसा है कि वह बोधगम्य नहीं हो सकता.

४. अर्थः– जो ब्रह्मरूप हो गया है, जिसमें आत्मस्वरूप का आविर्भाव हो गया है, जो प्रसन्नमन है, अर्थात् क्लेशकर्मादि दोषों से जिसका मन कलुषित नहीं

वस्तुतः जो भक्त ब्रह्मरूप होकर परब्रह्म की भक्ति नहीं करता, उसके सम्बन्ध में यही कहा जायगा कि उसका भी आत्यन्तिक कल्याण नहीं हुआ. [१]तथा

'[२]भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥'

यह व्याप्य जड़प्रकृति है, और

'[३]अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्यते जगत् ॥'

ऐसी व्यापक चैतन्य प्रकृति है. और, प्रत्यक्ष भगवान कैसे हैं ? वे आठ प्रकार की व्याप्य प्रकृति तथा उसमें व्यापक रहनेवाली चैतन्य प्रकृति, इन [४]दोनों के आधार हैं, ठीक उसी तरह, जिस प्रकार आकाश पृथ्वी आदि चार तत्त्वों का आधार है. जब पृथ्वी की संकोचावस्था होती है, तब उसके साथ-साथ आकाश की भी संकोच अवस्था रहती है. इसी प्रकार जल, तेज, वायु की संकोच-विकासावस्था के साथ ही आकाश की भी संकोच एवं

हुआ है, किसी का भी शोक नहीं करता, किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं करता, समस्त प्राणियों में समभाव रखता है, किसी का भी मोह नहीं करता, अर्थात् समस्त वस्तुओं को तृणवत् मानता है, वही पुरुष मुझमें परा भक्ति को प्राप्त करता है, अर्थात् जिसे आत्मा का साक्षात् अनुभव हो गया हो, उसको ही परा भक्ति में अधिकार होता है.

१. जिनकी भक्ति करने की बात कही गयी है, ऐसे परब्रह्म प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भगवान ही दोनों प्रकृतियों के आधार हैं, यही बात गीता में कही गयी है.

२. अर्थः– ये विचित्र तथा अनन्त भोग्य भोगों के उपकरण और भोगस्थानरूप से रहनेवाली जगत की यह प्रकृति पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश तथा मन आदि इन्द्रियाँ, महत्तत्त्व तथा अहंकारात्मक आठ प्रकार के परिणामों को प्राप्त हुई हैं. इस प्रकार की प्रकृति मदात्मक है, अर्थात् 'मैं अचेतन प्रकृति से विलक्षण हूँ.'

३. अर्थः– यह मेरी अपरा (अप्रधानभूता) प्रकृति है, अचेतन विलक्षण आकारवाली परा (प्रधानभूता) एवं चेतनरूप यह प्रकृति मेरी है. ऐसा समझिये कि जो चेतन प्रकृति है, उसने समग्र अचेतन जगत को धारण कर रखा है, अर्थात् मैं चेतन प्रकृति से विलक्षण हूँ.

४. धारक व्यापक रूप से.

विकास की अवस्था[१] बनी रहती है तथा पृथिवी आदि तत्त्वों की संकोच-विकासावस्था आकाश में रहती है. [२]उसी प्रकार, इन दोनों प्रकृतियों की संकोच-विकास अवस्था के साथ ही भगवान की भी [३]संकोच-विकासावस्था होती है. इन दोनों प्रकृतियों की संकोच-विकास अवस्था भगवान में [४]है. ऐसे भगवान सबकी आत्मा हैं.

'[५]अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा', '[६]यस्याक्षरं शरीरं... एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः', '[७]यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः', '[८]यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः', इत्यादि श्रुतियाँ हैं. ब्रह्म को [९]अन्नमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कहा गया है. इस प्रकार, अनेक प्रकार की ब्रह्मविद्या कही गयी है. उसका यह तात्पर्य है

---

१. धारक व्यापक भाव से.

२. तथापि, आकाश अपनी सामर्थ्य से अलिप्त है.

३. यद्यपि आकाश में संकोच-विकास की अवस्थाएँ वस्तुतः नहीं हैं तथापि वे स्वयं पृथिव्यादिभूतों में व्यापक रूप से रही हैं. उनसे उन भूतों में होनेवाली संकोच-विकास की प्रक्रियाएँ पारस्परिक रूप से आकाश में उपचारमात्र होती हैं. वैसे ही निर्विकारी परमात्मा के स्वरूप में साक्षात् संकोच-विकास नहीं हैं, परन्तु वे अपने शरीररूप जड़ाजड़संज्ञक दोनों प्रकृतियों में अन्तर्यामीरूप से स्वत व्यापक होकर रहे हैं. इसीलिए, उन शरीरी परमात्मा में दोनों प्रकृतियों का संकोच-विकास उपचारमात्र होता है. यह भावार्थ समझना चाहिये.

४. तथापि, भगवान निर्लेप हैं, अर्थात् वे जड़ाजड़ प्रकृतियों के दोष से अलिप्त हैं.

५. अर्थः– समस्त मनुष्यों के आत्मारूप भगवान सबमें अन्तःप्रवेश करके सबके शिक्षण प्रदाता तथा नियमकर्ता बने हुए हैं.

६. परमात्मा का अक्षर शरीर है. वे समस्त भूतों के अन्तरात्मा हैं, निर्दोष हैं तथा दिव्य हैं. ऐसे एकमात्र नारायण हैं.

७. अर्थः– परमात्मा का शरीर जीवात्मा है, परमात्मा जीवात्मा में अन्तःप्रवेश करके नियमन करते हैं, ये अन्तर्यामी तेरी अमृत आत्मा हैं, अर्थात् निरुपाधिक अमृतशाली परमात्मा हैं.

८. 'यस्यात्मा शरीरम्', इस श्रुति-जैसा ही अर्थ है.

९. तैत्तिरीयोपनिषद में 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्', 'प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्', 'मनोब्रह्मेति व्यजानात्', 'विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्', 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्', आदि द्वारा इस अर्थ का निरूपण किया गया है.

कि भगवान सबके कारण तथा आधार हैं. इसलिए, इन सबको ब्रह्म कहा गया है. परन्तु, ये सब शरीर हैं तथा इन सब के शरीरी भगवान श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम हैं. उन भगवान में यह जड़चैतन्यरूपी दोनों प्रकृतियाँ संकोच-विकासावस्था द्वारा अपने कार्यसहित सुखपूर्वक रही हैं. इन सबमें भगवान अन्तर्यामीरूप तथा कारणात्मक स्वरूप से भी रहे हैं. वे ही भगवान यह प्रत्यक्ष प्रमाण हैं. जो पुरुष इस रीति से महिमासहित भगवान को जानता और देखता है, उसे ही परिपूर्ण ज्ञान[१] कहते हैं.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'यदि इस प्रकार दिखायी न पड़ता हो तथा अन्तःकरण में तो दृढ़ [२]प्रतिबद्धता हो, उसे परिपूर्ण ज्ञान कहा जा सकता है या नहीं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जैसे अन्धकारमय घर में कोठी और खम्भों को यद्यपि देखते हैं, फिर भी उन्हें यथार्थ रूप से देखा हुआ नहीं [३]कहा जायगा, वैसे ही पुरुषोत्तम भगवान में जड़, चित्, प्रकृति रही है और उस प्रकृति में वे स्वयं रहे हैं, उन्हें अनुमान द्वारा जानते हैं. यदि वे दीखने में नहीं आते, तो देखनेवाले को परिपूर्ण ज्ञानी नहीं कहा जा सकता. यदि उसकी प्रतिबद्धता यथार्थ है, तो उसे कुछ अलौकिकता ज्ञात हुई होगी, नहीं तो उसकी प्रतीति होगी. यद्यपि ऐसी प्रतिबद्धता असंदिग्ध रूप से है, फिर भी दिखायी नहीं पड़ती, तो वह यह समझता है कि 'इन भगवान में सब हैं, परन्तु वे मुझे दिखाते नहीं हैं, उनकी ऐसी ही इच्छा है.' यदि वह ऐसा समझकर उन भगवान की भक्ति करता हुआ स्वयं को कृतार्थ मानता है, तो उसे परिपूर्ण ज्ञानी माना जायगा. जो पुरुष स्वयं को कृतार्थ मानता है, तो उसे परिपूर्ण ज्ञानी माना जायगा. जो पुरुष इन्द्रियों, अन्तःकरण तथा अनुभव द्वारा भगवान को यथार्थ रूप से जान लेता है, उसे ही ज्ञानी कहते हैं. भगवान ने ऐसे ज्ञानी को गीता में श्रेष्ठ बताया है :-

---

१. वह ज्ञान मुक्ति में हेतु है, अन्य साधन तो मुक्ति हेतुभूत ज्ञान के अंग हैं, उन साधनों का मुक्ति के प्रति स्वतंत्र रूप से हेतुभाव नहीं है. जिनका ऐसा ज्ञान हो तथा भगवान के दर्शन भी वैसे ही हों, वे भक्त परिपूर्ण ज्ञानी हैं और उनमें कोई भी अपूर्णता नहीं रहती.

२. भगवान के स्वरूप का पूर्वोक्त ज्ञान.

३. कभी भी संशय होने की संभावना बनी रहती है.

'आर्तो[१] जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ! ।
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।।'

ऐसा ज्ञानी पुरुष सदैव साकारमूर्ति प्रत्यक्ष भगवान को प्रकृति, पुरुष एवं अक्षर से परे मानते हुए और सबका कारण तथा आधार जानकर अनन्यभाव से उनकी सेवा करता रहता है. इस प्रकार की समझ को ज्ञान कहते हैं. इस ज्ञान द्वारा आत्यन्तिक मोक्ष होता है. जो मनुष्य ऐसा नहीं समझते और केवल शास्त्र द्वारा 'अहं[२] ब्रह्मास्मि' होकर बैठते हैं तथा यह कहते हैं कि 'मैं ब्रह्म हूँ और रामकृष्णादि मेरी [३]लहर हैं', ऐसे ब्रह्मकुदाल[४] आधुनिक वेदान्ती तो अतिदुष्ट तथा महापापी हैं, जिन्हें मरने के बाद नरक में जाना पड़ता है, जिसमें से उनका कभी भी छुटकारा नहीं होता.'

।। इति वचनामृतम् ।।७।। ।।११५।।

वचनामृत ८ : इन्द्रियों की चंचलता

संवत् १८७७ में मार्गशीर्ष शुक्ल *पंचमी को रात्रि में श्रीजीमहाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में विराजमान थे. उन्होंने मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था, सफेद छींट की बगलबंडी पहनी थी तथा श्वेत दुपट्टा धारण किया था. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस समय मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'जो पुरुष भोला होता है, उसे तो सन्त का स्वभाव देखकर सन्त के प्रति दोषभाव उत्पन्न हो जाता है, परन्तु जो पुरुष विवेकशील होता है, उसके अन्तकरण में सन्त के प्रति दोषभाव क्यों आता [५]है ?'

---

* सोमवार, १० दिसम्बर, १८२०

१. इस श्लोक का अर्थ गढडा प्रथम प्रकरण के ५६ वें वचनामृत की टिप्पणी में बताया गया है.

२. अर्थ.– मैं ब्रह्म हूँ.

३. तरंग, अर्थात् मुझमें और परमात्मा में भेद नहीं है.

४. भगवान तथा उनके अवतारों का खंडन करते रहते हैं. वे परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का खंडन करते हैं.

५. अल्पबुद्धिवाला तो अन्य पुरुष के विरुद्ध दोषभाव रखता है, क्योंकि उसमें विवेक का अभाव रहता है तथा स्वयं में अच्छे स्वभाव की कमी रहती है,

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि कोई विवेकशील पुरुष अपने में कोई अनुचित स्वभाव देखता है और उसके विरुद्ध स्वयं अतिदोषबुद्धि रखकर उस स्वभाव को टालने के लिये परिश्रम करता हो तथा उस स्वभाव के प्रति स्वतः बहुत चिढ़ हो और उसका वह स्वभाव यदि किसी दूसरे सन्त में देखा जाय, तब उसका दोष आ जाता है. किन्तु, मूर्ख पुरुष तो अपने स्वभाव को नहीं मिटाता और उसी स्वभाव को यदि वह किसी अन्य सन्त में देखता है, तो वह उनके प्रति दोषभाव रखता है. ऐसे पुरुष को मूर्ख कहते [1]हैं.'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज छोटे-छोटे परमहंसों को अपने पास बुलवाकर स्वयं उन्हें प्रश्न सिखलाने लगे और उनका उत्तर भी देने लगे. सबसे पहले उन्होंने यह प्रश्न पूछा कि 'काम, क्रोध एवं लोभादि शत्रुओं के वेग की तीव्रता तथा मन्दता बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था के कारण होती है. बाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था में इनका वेग क्रमशः मन्द, तीव्र तथा पुनः शिथिल हो जाता है. इस प्रकार कामादि की तीव्रता तथा मन्दता तो प्रतीत होती है, परन्तु विचार द्वारा [2]इनकी मन्दता रहती है या नहीं ?' उन्होंने इस प्रश्न का उत्तर स्वयमेव दिया कि 'वैचारिक दृष्टि से भी कामादि की मन्दता, तीव्रता और शिथिलता रहती है. बाल्यावस्था में अल्प आहार होता है, इसलिए, कामभाव भी कम रहता है. वृद्धावस्था में भी आहार कम हो जाता है, इस कारण कामभावना भी कम रहती है. किन्तु युवावस्था में आहार बढ़ जाता है, जिससे कामुकता में भी

परन्तु जो तीक्ष्ण बुद्धिवाला है, उसमें तो अधिक बुद्धि रहती है तथा उसका स्वभाव भी अच्छा होता है, फिर भी यदि वह अन्य पुरुष में इसे देखता है यह बात अनुचित प्रतीत होती है. तथापि, कदाचित् उसमें यह दोष दिखायी पड़ता है तो उसका क्या कारण है, प्रश्न पूछने का इतना ही अभिप्राय है.

१. इसका यही अभिप्राय है कि कोई पुरुष अपने अनेक दोषों को भी दोषरूप में नहीं मानता तथा उनका परित्याग भी नहीं करता, किन्तु दूसरे के बहुत से गुणों की भी उपेक्षा करता है और उसमें देहादि सम्बन्धी कोई अल्प दोष भी देखकर उसके सम्बन्ध में अवगुणात्मक दृष्टिकोण ही अपनाता है. इसका सारांश यह है कि वह अपने बड़े से बड़े दुर्गुणों की भी परवाह नहीं करता, परन्तु दूसरे के सरसों जैसे दोष पर भी नजर रखता है. यह उसकी मूर्खता है.

२. युवावस्था में कामादि के तीव्र वेग का.

वृद्धि हो जाती है. यदि पुरुष यौवन की स्थिति में आहार को कम कर दे और[1] देह द्वारा ठंड, गर्मी, वर्षा और भूख को सहन कर ले तथा ऐसा आचरण करने का विचार कर ले और बड़े साधुओं का सत्संग करे तो युवावस्था में भी उसकी कामभावना मन्द पड़ सकती है.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'जीव नाना प्रकार के व्यसनों से ग्रस्त रहता है. किसी को भाँग का, किसी को अफ़ीम का, किसी को शराब का और किसी को गाँजे का व्यसन रहता है. ऐसे अनेक प्रकार के व्यसन रहते हैं. ये व्यसन क्रियमाण हैं अथवा प्रारब्धवश उनकी स्थिति बनी रहती है ?' इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया कि 'ये व्यसन तो प्रारब्धवश नहीं बल्कि करने से होते हैं. यदि इन व्यसनों को दूर करने के लिये श्रद्धासहित आग्रह रहे तथा अत्यन्त दृढ़ता रहे, तो ये व्यसन मिट भी जाते हैं. यदि श्रद्धा न हो और शिथिलता भी बनी रही, तो इनकी समाप्ति नहीं हो सकती.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'कितने ही बालक ऐसे होते हैं, जिनका स्वभाव वृद्धों जैसा होता है, जबकि कितने ही बच्चों की प्रकृति अति चंचल होती है. क्या ऐसी प्रकृति की उत्पत्ति किसी का संग करने से होती है या इसके जीव में ही इसका अस्तित्व बना रहता है ?'

इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया कि 'किसी का संग करने से ही अक्सर अच्छी बुरी प्रकृति बनी रहती है तथा कितने ही पुरुषों का अच्छा-बुरा स्वभाव पूर्वकर्मों के कारण भी बना रहता है.'

कपिलेश्वरानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! यह बात किस प्रकार मालूम होती है कि अमुक स्वभाव पूर्वकर्मजन्य है और अमुक स्वभाव अभी का है ?'

श्रीजीमहाराज ने बताया कि 'जो स्वभाव अभी का है, वह तो अच्छे सन्त के संग में रहकर उसे मिटाने का थोड़ा-सा उपाय करने पर मिट जाता है. जैसे मुंडेर पर तृण उग आये हों और वे पाँच-छः दिन भी वर्षा न होने पर सूख जाते हैं, वैसे ही अभी का स्वभाव थोड़े दिनों में ही टल जाता है, किन्तु पूर्वकर्मजन्य स्वभाव को मिटाने के लिये तो अत्यन्त परिश्रम करना

---

१. 'मैं आत्मा हूँ', ऐसी बुद्धि द्वारा स्वयं को समझना.

पड़ता है, तब वह बड़ी मुश्किल से मिट पाता है. जिस प्रकार धरती में स्थित दूर्वा के पौधों या छोटे बेर के वृक्षों को किसान आग लगाकर जलावे, तो भी वे फिरसे अंकुरित हो जाते हैं. यदि वह कुदाली से उन्हें जड़ में से ही खोद डालता है, तब तो वे बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं. उसी प्रकार पूर्व का स्वभाव अच्छे सन्त के सत्संग में रहने तथा अधिकाधिक प्रयास करने पर बड़ी कठिनाई से टल पाता है.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'जिसकी इन्द्रियाँ चंचल रहें, उनकी चंचलता को टालने के लिये पृथक् रूप से क्या उपाय किया जाना चाहिये ?' इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया कि 'चक्षु-इन्द्रिय की चंचलता को टालने का उपाय यह है कि नासिका के अग्रभाग में दृष्टि रखनी चाहिये और अपने इर्दगिर्द भी नहीं देखना चाहिये, अध्ययन करना हो तो वह कर लेना चाहिये तथा भजन-स्मरण भी करते रहना चाहिये. ऐसा करने पर भी अगर स्त्री आदि पर नज़र पड़ जाय, तो अनुचित संकल्प न होने पर भी नेत्रों को खुला रखकर अपलक देखते ही रहना चाहिये और आँखों में अच्छी तरह जलन होने तथा अश्रुधारा बहने तक घड़ी-दो घड़ी पर्यन्त यही क्रम जारी रखना चाहिये. तब उसकी चंचल दृष्टि भी वश में हो जायगी. यदि नासिका-इन्द्रिय को किसी के शरीर अथवा मुख या वस्त्र से आनेवाली दुर्गन्ध सह्य न हो, तो उस समय उसे ऐसा विचार करना चाहिये कि 'मेरी देह यद्यपि ऊपर से अच्छी है, फिर भी उसके भीतर रुधिर, मांस तथा हड्डियाँ भरी हुई हैं तथा पेट में मल, मूत्र और आँतें हैं.' ऐसा विचार करने से नासिका की चंचलता मिट जाती है.

कान की चंचलता को टालने का उपाय यह है कि जब कहीं हँसी-मज़ाक होता हो और 'तमाशा' होता हो तो उसमें मन के लगने तथा भगवान की कथा और कीर्तन सुनने में निद्रा आने पर खड़ा हो जाना चाहिये तथा निद्रा एवं आलस्य को टालकर भगवान की कथा सुनने में श्रद्धा रखनी चाहिये और प्रेम रखना चाहिये, तो कर्णेन्द्रिय पर विजय हो सकती है. त्वचा-इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करने का उपाय यह है कि जानबूझकर जाड़ा, गरमी और वर्षा को सहन करना चाहिये, रजाई हो, तो उसे सिरहाने रख देना चाहिये और भारी ठंड लगने पर उसे ओढ़ लेना चाहिये तथा जहाँ-तहाँ पड़े रहना चाहिये. इस प्रकार त्वगिन्द्रिय को वश में कर लेना चाहिये. इस

प्रकार का आचरण करने से त्वगिन्द्रिय की चंचलता मिट जाती है.

हाथ की चंचलता को टालने का तरीका यह है कि जब हाथ खाली हो तब हाथ में माला रखकर श्वासोच्छ्वास में भगवान का नाम लेकर माला फेरनी चाहिये, परन्तु तेजी और उपेक्षा के साथ माला नहीं फेरनी चाहिये. कितने ही लोग ऐसा कहते हैं कि मन द्वारा अधिक नामोच्चार किया जाता है, परन्तु यह बात मिथ्या है. जितना नामोच्चार जिह्वा द्वारा किया जाता है, उतने ही नाम मन द्वारा लिये जाते हैं. इस प्रकार का आचरण करने से हाथ की चंचलता मिट जाती है. यदि पैर चंचल हों, तो स्थिर आसन से बैठना चाहिये, इससे पैर जीत लिये जाते हैं. शिश्न की चंचलता को दूर करने के लिये इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि जिस प्रकार खाज या लाल दाद को खुजलाने से खून निकलता रहता है, किन्तु खाज नहीं मिट पाती, लेकिन यदि उसे नहीं खुजाया जाय, तो वह अपने आप मिट जाती है, वैसे ही शिश्न-इन्द्रिय में चुलबुलाहट होने पर भी हाथ से उसको बिल्कुल नहीं छूना चाहिये. यदि शिश्न में हवा भर जाती हो, तो आहार को कम कर देना चाहिये, उपवास करते रहना चाहिये तथा देह को बलहीन कर डालना चाहिये. इस प्रकार शिश्न को जीत लिया जाता है.

जिह्वा-इन्द्रिय को जीतने के लिये यही उपाय है कि जो वस्तु जीभ को स्वादिष्ट लगती हो, वह उसे नहीं दी जानी चाहिये और आहार को नियमित करना चाहिये. ऐसा करने से जिह्वा की चंचलता मिट जाती है. वाणी की चंचलता को मिटाने का उपाय यह है कि जब मुक्तानन्द स्वामी जैसे सन्त वार्ता करते हों तथा कथा बांचते हों, तब बीच में ही अपनी बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन करने के लिये नहीं बोलना चाहिये. यदि बीच में बोला जाय, तो पच्चीस माला फेरनी चाहिये. ऐसा करने से वाणी की चंचलता मिट जाती हैं.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'ऐसी वह कौन-सी इन्द्रिय है, जिस पर परिपक्व रूप से विजय पा लेने पर समस्त इन्द्रियों को जीत लिया जाता है?' इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया कि '[१]जिह्वा को यदि परिपक्वतापूर्वक जीत लिया जाय, तो अन्य समस्त इन्द्रियाँ भी विजित हो

---

१. भागवत में भी यही बताया गया है कि 'तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान् । न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे ॥'

जाती हैं.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'जिस पुरुष के हृदय में काम-वासना व्याप्त हो चुकी हो, उसे बाह्य रूप से किस प्रकार पहचाना जाय कि 'यह कामोन्मत्त हो रहा है' क्योंकि उसकी इन्द्रिय तो ढकी हुई रहती है ?' इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया कि 'जिसमें काम-वासना व्याप्त हो चुकी हो, उसकी नेत्रेन्द्रिय सहित समस्त इन्द्रियाँ चंचल बनी रहती हैं. तभी समझ लेना चाहिये कि यह पुरुष कामाकुल हो गया है.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'जिसका चंचल स्वभाव हो, उसका शान्त होना तथा जिसका शान्त स्वभाव हो, उसका चंचल हो जाना किस विचार द्वारा हुआ करता है ?' इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया कि 'जो चंचल होता है वह यह विचार करता है कि 'मैं आत्मा हूँ, [१]ब्रह्म हूँ तथा [२]अलिंग हूँ और आकाश के समान स्थिर हूँ.' ऐसा विचार करने से वह उपशमावस्था को प्राप्त होता है. इसके पश्चात् उसकी चंचलता समाप्त हो जाती है और तब वह शान्त हो जाता है. यदि शान्तस्वभाववाले को चंचल होना है, तो उसे भगवान तथा भगवद्भक्त का माहात्म्य जानना चाहिये. माहात्म्य जानने के पश्चात् उसे भगवान की नौ प्रकार से भक्ति करनी चाहिये. भगवान के भक्त की सेवा-सुश्रूषा भी उसे करनी चाहिये. ऐसा करने से उसका चंचल स्वभाव होता है.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'श्रीमद्भागवत आदि जो आठ सत्-शास्त्र हैं, उनमें से कोई शास्त्र त्याज्य है अथवा समस्त शास्त्र ग्रहण करने योग्य हैं ?' इसका उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया कि 'इन समस्त ग्रन्थों में भी अनेक प्रकार के प्रकरण हैं, जिनमें उन भक्तों के [३]अंग बताये गये हैं, जिनको [४]भगवान की प्राप्त हो चुकी है. इसलिए, ये सभी प्रकरण ग्रहण करने योग्य है. फिर भी, इन समस्त प्रकरणों में से जो प्रकरण अपने अंग से मिलता-जुलता हो, उसे ग्रहण कर लेना चाहिये और अवशिष्ट प्रकरणों का त्याग कर देना चाहिये तथा यह मान लेना चाहिये कि 'अन्य प्रकरण हैं

---

१. ब्रह्मरूप.
२. देवमनुष्यादि के आकारों से रहित.
३. अधिकार के अनुसार
४. भगवान की शरण को प्राप्त

तो सच्चे, किन्तु वे मेरे लिये 'नहीं' बल्कि अन्य भक्तों के लिये हैं.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'यहाँ तुम सब छोटे लड़के बैठे हो, जिनमें से किन्हीं की तो ये समस्त सन्त प्रशंसा करते हैं और किन्हीं की नहीं करते. सबकी अवस्था और संग एकसमान हैं. भोजन, वस्त्र, उपासना, शास्त्र, उपदेश तथा मन्त्र भी सबके लिये एकसमान हैं. फिर भी, जो न्यूनता तथा अधिकता रह गयी है, उसका क्या कारण है ? सन्त तो समदृष्टिवाले, निष्पक्ष और धर्मात्मा हैं. जो ऐसा होता है, उसे तो वे वैसा ही बताते हैं. इसलिए, इसका उत्तर दें.'

उन्होंने स्वयमेव इसका यह उत्तर दिया कि 'सन्त जिसकी प्रशंसा करते हैं उसी को श्रद्धा है तथा धर्म का पालन करने में ही वह आगे बढ़ा हुआ है. उसे सन्त की सेवा करने तथा भगवान की वार्ता सुनने में भी श्रद्धा है और सन्त के प्रति विश्वास भी है. इसलिए, उसकी प्रगति हुई है. जो सत्संगी ऐसे सत्संग में रहने पर भी आगे नहीं बढ़ सका, वह श्रद्धारहित है, यही जानना चाहिये.' ॥ इति वचनामृतम् ॥८॥ ॥११६॥

वचनामृत ९ : काल का स्वरूप जानने पर वैराग्य

संवत् १८७७ में मार्गशीर्ष शुक्ल *षष्ठी को श्रीजीमहाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत छींटकी बगलबंडी पहनी थी, सफेद चूड़ीदार पायजामा पहना था और मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'समस्त परमहंस मिलजुलकर परस्पर प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ करें.' आत्मानन्द स्वामी ने अखंडानन्द स्वामी से प्रश्न पूछा कि 'वैराग्य, ज्ञान, भक्ति तथा धर्म की भावना उत्पन्न होने का हेतु क्या है ?'

---

* मंगलवार, ११ दिसम्बर, १८२०

१. गीता में श्लोकों द्वारा यही अभिप्राय बताया गया है : 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ! निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके । तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥'

श्रीजीमहाराज ने इसका यह उत्तर दिया कि 'काल का स्वरूप जानने पर वैराग्य उत्पन्न होता है. उस काल का स्वरूप क्या है ? वह यह है कि नित्यप्रलय, नैमित्तिक प्रलय, प्राकृत प्रलय, आत्यन्तिक प्रलय तथा ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त जीवों के आयुष्य की जानकारी प्राप्त करके पिंड-ब्रह्मांड पदार्थों को काल का भक्ष्य समझना चाहिये. तभी वैराग्य उत्पन्न होता है. बृहदारण्य, छान्दोग्य तथा कठवल्ली आदि उपनिषदों और भगवद्गीता, वासुदेवमाहात्म्य एवं व्याससूत्र आदि ग्रन्थों का सद्गुरु द्वारा श्रवण करने से ज्ञान उत्पन्न होता है. याज्ञवल्क्यस्मृति, मनुस्मृति, पाराशरस्मृति तथा शंखलिखित स्मृति आदि स्मृतियों का श्रवण करने से धर्म की भावना उत्पन्न होती है और उसके प्रति निष्ठा रहती है. भगवान की विभूतियों को इस प्रकार जानना चाहिये कि खंड-खंड के प्रति भगवान की जो मूर्तियाँ रहती हैं उनके सम्बन्ध में श्रवण करते रहना चाहिये. भगवान के गोलोक, वैकुंठ, ब्रह्मपुर तथा श्वेतद्वीपादि धामों की कथा सुननी चाहिये. इसी प्रकार जगत की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयरूपी भगवान की लीला को माहात्म्यसहित सुनना चाहिये और भगवान के रामकृष्णादि अवतारों की कथाओं का स्नेहपूर्वक श्रवण करना चाहिये. ऐसा करने से भगवान की भक्ति उत्पन्न होती है.

इन चारों प्रक्रियाओं में जो धर्म है, उसकी उत्पत्ति अपरिपक्व बुद्धि के कारण पहले से ही कर्मकांडरूपी स्मृतियों का श्रवण करने से होती है. धर्म में दृढ़ता होने के पश्चात् उपासनाग्रन्थों को सुनना चाहिये. तभी पुरुष में ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की भावना जाग्रत होती है. इस प्रकार इन चारों प्रक्रियाओं के उत्पन्न होने का यही हेतु रहता है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥९॥ ॥११७॥

वचनामृत १० : मनोविकार

संवत् १८७७ में मार्गशीर्ष शुक्ल *अष्टमी को श्रीजीमहाराज श्रीलोया ग्राम स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में प्रातःकाल पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत छींटकी बगलबंडी पहनी थी, सफेद चूड़ीदार पायजामा

---

* गुरुवार, १३ दिसम्बर, १८२०.

पहना था तथा मस्तक पर सफेद फेंटा बाँधा था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

नित्यानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'इस जगत में कितने ही मनुष्यों को स्त्री आदि तत्त्वों से ऐसा प्रेम होता है कि 'उनसे वियोग होने पर प्राणान्त हो जाय.' कितने ही मनुष्य ऐसे हैं, जिन्हें स्त्री आदि से साधारण प्रेम है, किन्तु उनके वियोग से उनका प्राणोत्सर्ग नहीं होता. इस प्रकार दो तरह के जीव हैं. जैसे ये जीव संसार में ऐसा प्रेम करते हैं, वैसे ही यदि इन प्रेमकर्ताओं को भगवान मिल जायँ और वे उनमें भी वैसे ही तन्मय हो जायं कि 'भगवान का वियोग होने पर उनका प्रणान्त हो जाय.' जिन्हें संसार में साधारण प्रेम होता है, उन्हें यदि भगवान मिल जायँ, तो उनके साथ उनका साधारण प्रेम हो जाय. दो प्रकार के इन मनुष्यों में कर्म द्वारा भेद है या वे अनादि काल से ही चले आ रहे हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जीव में यह भेद स्वाभाविक नहीं है. यह तो कर्म द्वारा ही होता है. जब जीव कर्म करता है, तब उसकी वृत्ति का वेग तीन प्रकार से होता है. इनमें से पहला मन्द वेग, दूसरा मध्यम वेग तथा तीसरा तीव्र वेग है. इनमें से जिस वेग द्वारा उसकी वृत्ति पदार्थों में लग जाती है, तब उस पर उसी प्रकार का कर्म लागू हो जाता है. उस कर्म द्वारा स्नेह के भी तीन प्रकार हो जाते हैं.'

नित्यानन्द स्वामी ने पुनः यह प्रश्न पूछा कि 'वृत्तिजन्य वेग में के ये तीन प्रकार गुण द्वारा या किसी अन्य कारणवश हुए ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'तीन प्रकार के ये भेद गुण द्वारा नहीं हुए हैं, परन्तु जिस पदार्थ में केवल इन्द्रियाँ ही प्रवृत्त रहती हैं, तब मन्द वेग होता है. जब पदार्थ में मनसहित इन्द्रियाँ लग जाती हैं, तब मध्यम वेग होता है. जब इन्द्रियाँ, मन तथा जीव, ये तीनों मिलकर पदार्थ में प्रवृत्त हो जाते हैं, तब उस वृत्ति का तीव्र वेग हो जाता है. यदि यह तीव्र वेग चक्षु इन्द्रिय से सम्बन्धित हो, तो अन्य इन्द्रियाँ भी उसका अनुगमन करती हैं और तब समस्त इन्द्रियों में इस वेग की तीव्रता हो जाती है. इस प्रकार, जिस-जिस इन्द्रिय में मुख्यतः तीव्र वेग होता है, तब अन्य इन्द्रियाँ भी उसकी अनुवर्तिनी हो जाती हैं. यह तीव्र वेग रजोगुण, सत्त्वगुण तथा तमोगुणवाले मनुष्यों की इन्द्रियों पर लागु होता है. एक-एक इन्द्रिय में तो सबको तीव्र

वेग होता है, तदनुसार पदार्थ के प्रति स्नेह-भाव भी बना रहता है.'

नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जीव को भगवान से तीव्र वेग द्वारा स्नेह क्यों नहीं होता ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'देश, काल, क्रिया, ध्यान, शास्त्र, दीक्षा, मन्त्र तथा संगजन्य योग द्वारा शुभ अथवा अशुभ आचरण होता है. यदि शुभदेश, काल तथा संगादि प्राप्त हुए हों, तो भगवान से भी तीव्र वेग द्वारा स्नेह हो जाता है. यदि अशुभ देशादि का योग हुआ, तो भगवान को छोड़कर अन्य सभी पदार्थों से लगाव हो जाता है.'

चैतन्यानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि यदि 'काल विषम हो, तब क्या किया जाय ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब जिस स्थल में काल की विषमता रहे, तब उस ठिकाने से अन्य स्थान में चले जाना चाहिये, परन्तु विषमकाल में नहीं रहना चाहिये. श्रीजीमहाराज ने बताया कि काल सत्ययुग, त्रेता, द्वापर तथा कलि-रूप द्वारा बाहर व्याप्त रहता है. अन्तःकरण में भी उसकी स्थिति इसी प्रकार बनी रहती है. जब हृदय में कलि की व्यापकता बनी रहे, तब भगवान की मूर्ति को हृदय में धारण नहीं करना चाहिये. उस समय तो उसे नेत्रों के आगे धारण कर लेना चाहिये.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'इस बात की जानकारी किस प्रकार मिलती है कि हृदय में मन्द वेग, मध्यम वेग तथा तीव्र वेग बना हुआ है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब मन्द वेग रहता है तब छोटी बालिका, नवयुवती तथा वृद्ध स्त्री को देखकर उनके सम्बन्ध में समान भाव रहता है, क्योंकि वहाँ अकेली इन्द्रिय की ही वृत्ति पहुँच पाती है. यह स्थिति मन्द वेग की द्योतक है. जब इन्द्रिय से मन मिल जाता है, तब इन तीन प्रकार की स्त्रियों को देखकर उस समय बालिका तथा वृद्ध स्त्री के सम्बन्ध में तो पुरुष का अशुभ संकल्प नहीं होता, किन्तु युवती के प्रति उसका अवश्य ही बुरा संकल्प हो जाता है और विकार उत्पन्न होता है. इसे मध्यम वेग कहते हैं. जब इन्द्रिय में मन तथा जीव एकसाथ मिलकर तीन प्रकार की इन स्त्रियों को देखते है, तब पुरुष के हृदय में उनके प्रति अशुभ संकल्प-विकल्प होते रहते हैं और विकार भी बना रहता है. उस दशा में पुरुष अपनी माता तथा बहन तक को देखकर मनोविकार से ग्रस्त हो जाता है.

यह स्थिति [1]तीव्र वेग की द्योतक है.'

ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि 'तीनों प्रकार की स्त्रियों को देखने के पश्चात् व्यक्ति की विद्यमान विचारधारा की जानकारी मिल जाती है. रूप-कुरूप भी [2]ज्ञात हो जाता है. फिर भी, यदि विकार न रहे, तो [3]उसे कौन-सा वेग [4]माना जाय ?'

श्रीजीमहाराज [5]बोले कि 'जिस पदार्थ को अत्यन्त दुःखदायी जानकर मनन हुआ हो और उसके द्वारा उस पदार्थ में भलीभाँति दोषज्ञान होने के पश्चात् वही दोष जब मानसिक विचार द्वारा जीव में प्रवेश करता है और जीव से परे रहनेवाले 'साक्षी' द्वारा उस दूषण को प्रमाणित कर दिया जाता है, तब वह दोष सुदृढ़ हो जाता है. इस प्रकार, पदार्थ में जब इन्द्रिय की वृत्ति पहुँचती है, तब उस वृत्ति के साथ-साथ मन और जीव भी आ जाते हैं. जीव में दोष की अत्यन्त दृढ़ता रहती है, इस कारण उस दोष का प्रभाव मन तथा इन्द्रियों पर पड़ जाता है. अतएव, वह पदार्थ यथार्थ रूप से दृष्टिगोचर होता है और उसकी जानकारी भी मिल जाती है. फिर भी, उसका अत्यन्ताभाव हो जाता है. जैसे शक्करमिश्रित दुग्धपूरित किसी पात्र में कोई साँप अपनी लार डाल दे और उसे उसमें लार डालते हुए देख लिया जाय, तो भी दूध पूर्ववत् दिखायी देगा, परन्तु हृदय में उसका अत्यन्ताभाव हो जायगा, क्योंकि उसके सम्बन्ध में यह जान लिया है कि 'इस दूध को पीने से तुरन्त प्राणान्त हो जायगा.'

इसी तरह जिस पुरुष की ऐसी समझ है कि 'यह रूपवती स्त्री कल्याण के मार्ग में बाधक है, इस लोक और परलोक में यह परम

---

१. इस प्रकार अन्य इन्द्रियों में भी तीन प्रकार का वेग बना रहता है, यह बात समझ लेनी चाहिये.

२. बाल्यादि अवस्था के व्यक्ति.

३. चक्षु में.

४. स्त्री के रूप और अवस्था की जानकारी अच्छी तरह मिल जाती है. इसलिये, तीव्र वेग रहता है, यह तो मालूम हो जाता है, किन्तु तीव्र वेगजन्य विकार नहीं होता. अतएव, तीनों वेगों में से कौनसा वेग होगा, ऐसा संशय होने से यह प्रश्न पूछा है.

५. यह वेग तीव्र है, ऐसा समझना चाहिये, परन्तु वह वेग सदोष है, इस कारण उसके कार्यभूत मानसिक विकार में तीव्रता नहीं रहती. वेग में जिस प्रकार दोष का प्रवेश होता है वह प्रकार इस तरह है.

दुःखदायी है, स्त्री की प्राप्ति को मुझे पशु आदि के रूप में जन्म लेने पर अनेक बार हो चुकी है, यदि मैं अब भी परमेश्वर का भजन नहीं करूँगा, तो कई जन्म लेने पड़ेंगे और उनमें अनेक स्त्रियों की प्राप्ति दुर्लभ नहीं होगी, किन्तु भगवान तथा उनके सन्त का संग महादुर्लभ है. इस दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति में स्त्री ही परम विघ्नरूपी बनी हुई है.' उसके हृदय में यह जानकर दोष के प्रति पूर्ण जागरूकता हो गयी है और उसीका यह ठोस परिणाम है कि उसे चाहे कितनी ही रूपवती स्त्री दिखायी पड़ जाय, तो भी मनोविकार नहीं उत्पन्न होता.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसके सम्बन्ध में अधिकारी बने रहने का दूसरा भी कारण है. वह यह है कि विदेह जनक-जैसे भगवान के जो महान भक्त राजा थे, जो राज्य में रहकर रमणीय पंचविषयों का उपभोग करते हुए भी ज्ञान की दृढ़ता रहने से निर्विकार बने रहे. वस्तुतः जनकसदृश ज्ञानी पुरुष ही यह विचार करता है कि 'मैं आत्मा हूँ, शुद्ध हूँ, चेतन हूँ, निर्विकार हूँ, सुखरूप हूँ तथा अविनाशी हूँ, परन्तु स्त्री आदि विषय तो दुःखरूप हैं, तुच्छ हैं, जड़ हैं तथा नाशवान भी हैं.' ऐसा विचार कर वह केवल अपने आत्मस्वरूप को ही सुखरूप मानता है. वह यह भी जानता है कि 'शब्दादि विषयों में जो सुखाभास होता है और अच्छाई मालूम होती है, वह तो आत्मा के साथ सम्बन्ध से ही है. जब देह में से आत्मा निकल जाती है, तब सुखरूप वस्तु भी दुःखद हो जाती है.'

इस प्रकार उसे अपनी आत्मा के सम्बन्ध में विचार करना चाहिये. उसे आत्मा से परे परमात्मा के सम्बन्ध में भी यह विचार करना चाहिये कि 'मैंने माया से परे शुद्ध आत्मा का ऐसा ज्ञान प्राप्त किया है, जो मुझे सन्त के प्रताप से मिला है. सन्त परमेश्वर के भक्त हैं और परमेश्वर तो [१]सर्वात्मा [२]ब्रह्म की भी आत्मा हैं. वे [३]अक्षर तथा अनन्तकोटि मुक्तों की भी आत्मा हैं. मैं ऐसे परब्रह्म परमात्मा नारायण का ब्रह्मरूप दास हूँ.' उसे भगवान की महिमा को तो ऐसा समझना चाहिये कि 'द्युपतय[४] एव ते न

---

१. सर्वव्यापी.

२. निरवयव अक्षरब्रह्म.

३. सावयव अक्षरधाम.

४. अर्थः – ब्रह्मादि देव भी आप की महिमा का पार नहीं पाते, क्योंकि वह अपार है. किंबहुना, आपने भी अपनी महिमा का अन्त नहीं पाया.

यधुरन्तमनन्ततया त्वमपि', इत्यादि श्रुतियों ने भगवान की महिमा का अधिकाधिक प्रतिपादन किया है. इस प्रकार जिसे अपने स्वरूप तथा परब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान है, उसे चाहे कैसे भी विषय प्राप्त हों, तो भी उसका मन लेशमात्र भी विकारमय नहीं हो पाता. जो शब्दादि विषय ग्राह्य हों, उन्हें अवश्य ग्रहण करना चाहिये, परन्तु उन विषयों के अधीन नहीं रहना चाहिये. उन्हें स्वतन्त्र रूप से ग्रहण करना चाहिये. जिस प्रकार मकड़ी अपनी लार को फैलाकर पुनःस्वतन्त्र रूप से स्वेच्छापूर्वक निगल लेती है, वैसे ही ऐसा ज्ञानी भी अपनी इन्द्रियों की वृत्तियों को विषयों में फैलाकर पुनः स्वतन्त्रता-पूर्वक समेट लेता है.

जो ऐसा पुरुष हो, वह राज्य में रहने पर भी वनवासी के समान रहता है और वन में निवास होने पर भी उसे राज्य से बढ़कर आनन्द की अनुभूति होती है. ऐसा ज्ञानी पुरुष भले ही राज्य में रहे और हज़ारों मनुष्य उसकी आज्ञा में रहते हों तथा वह समृद्धिशाली हो जाय, उससे वह स्वयं को ऐसा नहीं मानता कि 'मैं बहुत बड़ा आदमी हो गया.' यदि उस राज्य का नाश हो जाय और उसे मृत्तिका-पात्र लेकर घर-घर जाकर भीख माँगकर अपनी क्षुधापूर्ति करनी पड़े, तो भी वह ऐसा नहीं समझता कि 'अब तो मैं गरीब हो गया,' क्योंकि वह तो अपने स्वरूप में बहुत अलमस्त रहता है. वास्तव में उसने अपने स्वरूप तथा भगवान के स्वरूप की महिमा को जान लिया है, इसलिए वह सोना, कचरा, लोहा और पाषाण में समबुद्धि रखता है. मान-अपमान में भी वह ऐसा ही समान भाव रखता है. ऐसे ज्ञानी को कोई भी पदार्थ बन्धन में रखने में समर्थ नहीं होता. इसका कारण यह है कि उसकी दृष्टि तो बहुत विशाल हो चुकी है तथा समस्त मायिक पदार्थों को उसने तुच्छ मान लिया है. जैसे कोई पुरुष पहले कंगाल रहा हो और बाद में उसे राज्य मिल जाय, तो उसकी दृष्टि बड़ी हो जाती है. तब वह वे सब बातें भूल जाता है कि कभी वह लकड़ी के गट्ठर बेचा करता था तथा अन्य तुच्छ काम किया करता था. वे बातें विस्मृत कर अब वह राज्य सम्बन्धी बड़े-बड़े कार्य करने लगता है. वैसे ही ऐसे ज्ञानी पुरुष को सभी पदार्थ तुच्छ प्रतीत होते हैं. ऐसे ज्ञान के सम्बन्ध में उसकी दृष्टि विशाल हो जाती है. जिसने ऐसा समझ लिया है वही सुखी है. जो विश्वासी हो, अर्थात् ऐसा समझता हो कि 'ऐसे महान सन्त तथा भगवान जो उपदेश देते

हैं, वे यथार्थ हैं.' ऐसा समझकर वह भगवान तथा सन्त के उपदेशानुसार कार्य करने लगता है. इस प्रकार, वे दोनों पुरुष ही सुखी हैं. इससे रहित अन्य पुरुष सुखी नहीं हैं.

इस प्रसंग में यह श्लोक मननीय है :-

'यश्च[१] मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः ।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥'

भगवद्गीता में भी कहा गया है :-

'विषया[२] विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥'

ऐसी रीति से जिसकी दृष्टि अलौकिक हो जाती है, उसके लिये परमेश्वर के सिवा अन्य समस्त पदार्थ तुच्छ हो जाते हैं. इन दोनों श्लोकों का भी एकसमान भावार्थ है.

मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से कहा कि 'हे महाराज ! आप जो प्रश्न पूछते हैं, उसे अब पूछिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'माया में केवल दुःख ही है या कुछ सुख भी है', यह प्रश्न है.' मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'माया तो केवल दुःखदायी है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'माया में से उत्पन्न सत्त्व, रज तथा तम नामक तीनों गुणों में सत्त्वगुण को सुखरूप बताया गया है. श्रीमद्भागवत में कहा

---

१. अर्थः- जो भक्त लोक में श्रुतिस्मृतियों के अर्थज्ञान में मूढ़तम, अतिशय अज्ञानी है, यानी शास्त्रों का ज्ञान नहीं है, परन्तु केवल भगवान तथा उनके भक्तों में दृढ़ विश्वास रखकर उनके उपदेशानुसार भगवान का भजन करता है और जो भक्त बुद्धि से परे आत्मा-परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त हुआ है, यानी जिसने श्रुतिस्मृतियों के अर्थों को समझकर साक्षात् भगवान की एकान्तिक उपासना से आत्मा-परमात्मा के यथार्थ ज्ञान को प्राप्त कर लिया है, वे दोनों ही निर्विघ्न आगे बढ़ते रहते हैं, अर्थात् भगवान की सेवारूपी मुक्ति को प्राप्त होते हैं. किन्तु, जो ज्ञानी या विश्वासी नहीं है, वे क्लेश से त्रस्त रहते हैं, अर्थात् भगवान सम्बन्धी सुख न मिलने पर वे अन्य लोकों में भोग क्लेशमात्र फल को ही पाते हैं.

२. अर्थः- चक्षु आदि इन्द्रियों के दर्शनादिरूपी आहार न करनेवाले मनुष्यों के रसरागवर्जित विषय निवृत्त हो जाते हैं. विषयों की निवृत्ति तो हो जाती है, किन्तु रस (आसक्ति) निवृत्त नहीं होता. उत्कृष्ट आत्मस्वरूप को देखकर रस की निवृत्ति हो जाती है.

गया है कि 'सत्त्वं[1] यद्ब्रह्मदर्शनम् ।' सत्त्वगुण की सम्पत्ति, ज्ञान, वैराग्य, विवेक तथा शमदमादि है. ऐसी जो माया है, वह किस प्रकार दुःखरूप है ?

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में और भी कहा गया है :-

'विद्याविद्ये[2] मम तनू विद्ध्युद्धव ! शरीरिणाम् ।
बन्धमोक्षकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ।।'

अतएव, 'मोक्ष देनेवाली माया किस प्रकार दुःखदायी होती है ?' इस प्रश्न को सुनकर मुक्तानन्द स्वामी आदि समस्त परमहंस बोले कि 'हे महाराज ! इस प्रश्न का उत्तर देने में हम असमर्थ रहेंगे. इसलिए, कृपया आप इसका उत्तर दीजिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस प्रकार पापी जीवों को यमराज का स्वरूप अति भयानक और विकराल दिखायी पड़ता है तथा उनके बड़े-बड़े दाँत और बड़ा मुख काजल जैसा काला, पर्वत-सदृश बड़ा और काल जैसा भयानक एवं दुःखरूपी दीख पड़ता है, किन्तु पुण्यात्मा जीवों को यमराज का स्वरूप अत्यन्त सुखदायी विष्णु के समान दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही माया भी भगवान से विमुख रखनेवाले जीवों के लिये अतिबन्धनकारी तथा अत्यन्त दुःखदायी है, जबकि भगवान के भक्तों के लिये वही माया अत्यन्त सुखदायी है. इसी प्रकार, माया की कार्यरूप जो इन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा देवता हैं वे सभी भगवान की भक्ति को अतिपुष्ट करते हैं. इसलिए, भगवान के भक्तों के लिये तो माया दुःखदायी नहीं, वरन परम सुखदायी है.'

मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'जब माया सुखदायी है तब परमेश्वर के भक्त को, जो भगवान की मूर्ति को हृदय में धारण करके भजन करने बैठता है, अन्तःकरणरूपी माया संकल्प-विकल्प द्वारा दुःख क्यों देती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस भक्त ने भगवान के माहात्म्य को अच्छी तरह समझकर अतिशय दृढ़ता के साथ भगवान का आश्रय ग्रहण कर

---

१. अर्थः– जो सत्त्वगुण है वह परब्रह्म का दर्शन करनेवाला है.

२. अर्थः– हे उद्धव ! विद्या तथा अविद्या मेरे शरीर पर आधारित रही है. मेरी माया संकल्प से निर्मित्त हुई है, इसलिए आदिभूत है. विद्या और अविद्या शरीरधारियों के लिये मोक्षप्रदायिनी तथा बन्धनकारी है. विद्याशक्ति मोक्षदात्री तथा अविद्याशक्ति बन्धनकारी है.

लिया है, उसको तो अन्तःकरणरूपी माया दुःख नहीं देती. किन्तु, जिसको ऐसे आश्रय में शिथिलता रहती है, उसीको यह माया दुःख देती है. जैसे कुसंगी पुरुष अपरिपक्व सत्संगी को तो पतनोन्मुख करने का आग्रह करता है, किन्तु परिपक्व सत्संगी को गिराने के लिये वह कोई भी लालच नहीं रखता और उसके सुनते कोई भी पुरुष सत्संग को गौण नहीं बता सकता, वैसे ही जिस भक्त ने परिपक्व रूप से परमेश्वर का आश्रय ग्रहण कर लिया है, उसे गिराने का लालच अन्तःकरणरूपी माया नहीं रखती. वह तो उसकी भक्ति की पुष्टि ही करती है. जिसके जीव में वैसा आश्रय ग्रहण करने में कुछ अपरिपक्वता रह गयी हो, उसीको वह माया पथभ्रष्ट कर डालती है और दुःख भी देती है. जब वही जीव इस प्रकार परिपक्व रूप से भगवान का आश्रय ग्रहण कर लेगा तब माया उसे गिराने और पीड़ित करने में समर्थ नहीं हो पायगी. इसलिए, इस प्रश्न का उत्तर यही है कि 'जिसे भगवान सम्बन्धी ऐसा परिपक्व निश्चय हो चुका है उसे माया किसी भी प्रकार से दुःख देने में समर्थ होती ही नहीं है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१०॥ ॥११८॥

वचनामृत ११ : 'समग्र जगत ब्रह्म है'

संवत् १८७७ में मार्गशीर्ष कृष्ण *अष्टमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में प्रातःकाल विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष साधुओं तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

शुकमुनि ने *श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'श्रीमद्भागवत तथा भगवद्गीता आदि सत्-शास्त्रों से असत्पुरुष कैसा ज्ञान ग्रहण करते हैं ?'*

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका उत्तर यह है कि असत्पुरुषों की ऐसी समझ है कि इस विश्व में स्थावरजंगमरूपी स्त्री-पुरुषों की समस्त आकृतियाँ विराटरूप आदिपुरुष नारायण की माया से उत्पन्न हुई हैं. इसलिए, ये सब आकृतियाँ नारायण की ही हैं. जो मुमुक्षु कल्याण का इच्छुक हो, उसे सर्वप्रथम अपने मन को वश में करना चाहिये. वह मन

---

* गुरुवार, २७ दिसम्बर, १८२०.

स्त्रीपुरुषरूपी उत्तम तथा नीच आकृतियों के प्रति जब आसक्त हो जाय तब उसे उन्हीं आकृतियों का ध्यान करना चाहिये. इससे उसे सद्यः समाधि लग जाती है. यदि मन उन आकृतियों में दोषों की परिकल्पना करे तो उसमें ब्रह्म की भावना लानी चाहिये कि 'समग्र जगत ब्रह्म है.' ऐसा विचार करके उस संकल्प को मिथ्या कर डालना चाहिये. असत्पुरुष इस प्रकार सत्-शास्त्रों में अनुभव ग्रहण करने की समझ रखते हैं. इस सम्बन्ध में यह समझ लेना चाहिये कि यह उनके मन का अतिदुष्ट भाव है, जिसका फल अन्तकाल में घोरतम नरक तथा संसृति है.'

श्रीजीमहाराज से शुकमुनि ने पुनः यह प्रश्न पूछा कि 'यह बताइये कि उन सत्शास्त्रों से सत्पुरुष कैसी शिक्षा ग्रहण करते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इन [१]सत्-शास्त्रों में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि मोक्ष की इच्छा रखनेवाले पुरुष को एकमात्र पुरुषोत्तमनारायण के सिवाय शिव, ब्रह्मा आदि अन्य देवताओं का ध्यान नहीं करना चाहिये. मनुष्य एवं देवतारूप में पुरुषोत्तमनारायण की जो रामकृष्णादि मूर्तियाँ हैं, उनका ध्यान करना चाहिये. जो बुद्धिमान पुरुष हैं वे जिस स्थान में भगवान की रामकृष्णादि मनुष्याकार मूर्तियाँ रही हैं, वहाँ वैकुंठ, गोलोक, श्वेतद्वीप तथा ब्रह्मपुर नामक लोकों की धारण करते हैं. उन लोकों में रहनेवाले पार्षदों की भावना वे रामकृष्णादि के पार्षदों हनुमान, उद्धवादि में करते हैं. वे उन लोकों में कोटि-कोटि सूर्य-चन्द्रमा एवं अग्नि के प्रकाश के समान प्रकाशमान पुरुषोत्तमनारायण की दिव्यमूर्तियों की भावना रामकृष्णादि में करते हैं. इस प्रकार वे सत्-शास्त्रों से ज्ञान ग्रहण करके दिव्यभावसहित भगवान की मनुष्याकार मूर्ति का ध्यान करते रहते हैं. उन्हें भगवान के अवतारों की मूर्तियों तथा उनके अतिरिक्त अन्य आकारों में समभाव रहता ही नहीं है. वस्तुतः भगवान के अवतारों की जो मूर्तियाँ हैं वे द्विभुज हैं, फिर भी उनमें

---

१. भविष्यपुराणान्तर्गत श्रीविष्णुधर्म में 'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ता जगदन्तर्व्यवस्थिताः । प्राणिनः कर्मजनितसंसारवशवर्तिनः ॥ यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः । अविद्यान्तर्गताः सर्वे ते हि संसारगोचराः ॥ पश्चादुद्भूतबोधाश्च ध्याने नैवोपकारकाः । नैसर्गिको न वै बोधस्तेषामप्यन्यतो यतः । तस्मात्तदमलं ब्रह्म निसर्गादेव बोधवत्', इत्यादि वचनों द्वारा यह बताया गया है कि बद्ध तथा मुक्तजनों का ध्यान न कर केवल परब्रह्म परमात्मा का ही ध्यान करना चाहिये.

चार भुजाओं तथा अष्टभुजाओं की भावना रखने की बात इसलिए कही गयी है कि भगवान की मूर्तियों तथा उनके अतिरिक्त अन्य आकारों में अविवेकी पुरुषों को जो समभाव रहता है उसकी निवृत्ति हो जाय.'

श्रीजीमहाराज ने बताया कि 'भगवान की जैसी मूर्ति हमें मिली है उसी का ध्यान करना चाहिये. किन्तु भगवान के पूर्व अवतारों की मूर्तियों का ध्यान नहीं करना चाहिये. हमें भगवान की जो मूर्ति मिली है, उसी में पतिव्रता स्त्री की तरह टेक रखनी चाहिये. इस प्रसंग में पार्वती के ये वचन मननीय हैं :–

'जन्म कोटि लगि रगट हमारी ।
बरउँ संभु न तो रहउँ कुआरी ॥' (१/८१/५)

पतिव्रता की ऐसी टेक भी भगवान का रूप है. उसमें तथा अन्य जीव के रूप में अविवेकी पुरुष को जो समभाव हो जाता है, उसे दूर करने के लिये ही उक्त बात कही गयी है. अपने को मिली मूर्ति को छोड़कर यदि उसके पूर्व हुए परोक्ष अवतारों का ध्यान किया जाय तो देवमनुष्यादि आकारों का भी ध्यान कर लिया जाता है. इसलिए, पतिव्रता-जैसी टेक रखने की बात कही गयी है. परन्तु, भगवान की मूर्तियों में भेद नहीं है, ऐसा सत्पुरुषों का मन्तव्य है. इसलिए, सत्पुरुषों से ही सत्-शास्त्रों का श्रवण करना चाहिये, किन्तु असत्पुरुषों द्वारा कभी भी सत्-शास्त्र नहीं सुनने चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥११॥ ॥११९॥

वचनामृत १२ : भगवान में सर्वेश्वर भाव

संवत् १८७७ में मार्गशीर्ष कृष्ण *नवमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में रात के समय विराजमान थे. उन्होंने गरम पोस की लाल बगलबंडी पहनी थी और श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न किया कि 'भगवान सम्बन्धी निश्चय दो प्रकार का है. पहला सविकल्प तथा दूसरा निर्विकल्प है. इन दो प्रकारों में भी

---

* शुक्रवार, २८ दिसम्बर, १८२०.

उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ-सूचक तीन प्रकार के भेद हैं. इन दोनों को मिलाकर छः भेद हुए, उनके लक्षण पृथक्-पृथक् करके बताइये.' परमहंस इस प्रश्न का उत्तर न दे सके.

श्रीजीमहाराज बोले कि '[१]सविकल्प निश्चय में कनिष्ठ भेद तो यह है कि जब तक भगवान अन्य मनुष्यों के समान काम, क्रोध, लोभ, स्वाद तथा मान आदि में प्रवृत्त होते हैं तब तक भगवान सम्बन्धी निश्चय रहता है, परन्तु मनुष्यों की अपेक्षा अधिक कामादि भाव प्रकट करने पर वह निश्चय नहीं रहता.

मध्यम भेद यह है कि जब मनुष्यों से दुगुने कामादि में भगवान की अधिक प्रवृत्ति रहती है तब तक निश्चय रहता है. उत्तम भेद यह है कि भगवान नीच जाति की तरह चाहे कैसा ही आचरण करें, अर्थात् भले ही वे मद्य, मांस, परस्त्रीसंग, क्रोध तथा हिंसामूलक आचरण क्यों न करें, तो भी संशय नहीं होता, क्योंकि वह भक्त समझता है कि 'भगवान तो सबके कर्ता हैं, परमेश्वर हैं तथा सबके भोक्ता भी हैं. इसलिए, जो-जो क्रियाएँ होती हैं वे अन्वयभाव से नियन्ता रूप द्वारा समस्त प्राणियों में रहनेवाले भगवान से प्रवर्तमान होती रहती हैं. ऐसी स्थिति में यदि वे नीचजनों-जैसी थोड़ी-सी क्रिया करते हैं, तो भी इससे उन्हें कोई बाधा नहीं पहुँचती, क्योंकि वे तो सर्वकर्ता हैं.' इस प्रकार वह भगवान में सर्वेश्वर-भाव मानता है. अतएव, उसे उत्तम सविकल्प निश्चयवाला भगवद्भक्त कहते हैं.

अब निर्विकल्प कनिष्ठ भक्त की बात कहते हैं. ऐसे भक्त का लक्षण यह है कि वह भगवान को समस्त शुभाशुभ क्रियाएँ करते देखकर भी यह समझता है कि वे 'समस्त क्रियाएँ करने पर भी अकर्ता रहते हैं, क्योंकि भगवान तो ब्रह्मरूप हैं. वास्तव में ब्रह्म तो आकाश के समान सब में रहा

---

१. इस स्थल में सविकल्प-निर्विकल्प शब्द यथाश्रुतार्थ नहीं ग्रहण करना चाहिए. अपनी आत्मा के अज्ञानजन्य दैहिक भाव में सविकल्प शब्द रूढ़ है तथा सत्समागमजन्य आत्मज्ञान की स्थिति में निर्विकल्प शब्द रूढ़ बन गया है. उसमें दैहिक भाव के तारतम्य से निश्चय का तारतम्य भी है. उससे सविकल्प निश्चय में कनिष्ठ, मध्यम, उत्तम-द्योतक तीन भेद होते हैं. आत्मज्ञान की स्थिति के तारतम्य-भाव से निर्विकल्प निश्चय से भी तीन भेद होते हैं, जिनमें प्रथम सविकल्प निश्चय के भेद का लक्षण कहते हैं.

है तथा सबकी क्रियाएँ उसमें ही होती हैं.' इस प्रकार वह भगवान में ब्रह्मभाव जानता है. रासपंचाध्यायी में बताया गया है कि परीक्षित राजा ने शुकजी से यह प्रश्न पूछा कि 'धर्मरक्षक भगवान ने अवतार ग्रहण करके परस्त्री का संग क्यों किया ?' इसका उत्तर देते हुए शुकजी ने बताया कि श्रीकृष्ण तो अग्निसदृश तेजस्वी हैं. वे जो कुछ शुभ-अशुभ क्रियाएँ करते हैं, वे सब भस्म हो जाती हैं. इस प्रकार जो पुरुष भगवान को निर्लेपवत् ब्रह्मरूप में जानता है, उसे कनिष्ठ निर्विकल्प निश्चयवाला भक्त कहते हैं. जो भक्त श्वेतद्वीप में रहनेवाले षडूर्मिरहित निरन्नमुक्तों के सदृश होकर वासुदेव की उपासना करता है, उसे मध्यम निर्विकल्प निश्चयवाला कहा जाता है. जिस अक्षर में अष्टावरणयुक्त कोटि-कोटि ब्रह्मांड अणु की तरह प्रतीत होते हैं, वैसे पुरुषोत्तमनारायण के धामरूपी अक्षररूप में रहते हुए जो भक्त पुरुषोत्तम की उपासना करता है, उसे उत्तम निर्विकल्प निश्चयवाला [१]कहते हैं.'

चैतन्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! इस प्रकार निश्चय के भेद किस प्रयोजन से हुए हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब कोई मुमुक्षु प्रारम्भ में गुरु के पास जाता है तब उन वक्ता गुरु में देश, काल, संग, दीक्षा, क्रिया, मन्त्र तथा शास्त्रादि के सम्बन्ध में रहनेवाले शुभाशुभ भाव और अपनी श्रद्धा की मन्द-तीक्ष्ण भावना द्वारा ऐसे भेद हो जाते हैं. इसलिए, शुभदेशादि का सेवन करना चाहिये और केवल उसी वक्ता से ज्ञान सुनना चाहिये, जो प्रशान्त तथा दोषरहित हो.'

चैतन्यानन्द स्वामी ने पूछा – 'कदाचित् किसी योग द्वारा यदि कनिष्ठ निश्चय हुआ हो, तो उसके पश्चात् पुनः उत्कृष्ट निश्चय होता है या नहीं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि श्रोता उत्कृष्ट श्रद्धावान हो जाय तथा उसे शुभदेशादि भी प्राप्त हो जायँ और उत्कृष्ट ज्ञानी वक्ता मिल जाय, तो सर्वोत्कृष्ट निश्चय हो जाता है, नहीं तो वह जन्मान्तर में उत्कृष्ट निश्चय को प्राप्त होता है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१२॥ ॥१२०॥

---

१. इन निश्चय भेदों की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता जाननी चाहिये.

वचनामृत १३ : अचल सिद्धान्त

संवत् १८७७ में मार्गशीर्ष कृष्ण *दशमी को प्रातःकाल श्रीजीमहाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था, दूसरे सफेद फेंटा को मस्तक से आकंठ लपेटा था, गरम पोस की लाल बगलबंडी पहनी थी, श्वेत दुपट्टा धारण किया था और सूती शाल ओढ़ी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'बड़े-बड़े परमहंसों को परस्पर प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ करना चाहिये.' तब गोपालानन्द स्वामी ने ब्रह्मानन्द स्वामी से प्रश्न पूछा कि 'कैसे पुरुष का देश, काल, क्रिया तथा संगादि द्वारा पराभव नहीं होता और कौन-सा पुरुष पराजित हो जाता है ? यह सुना जाता है कि 'सरस्वती को देखकर ब्रह्मा भी मोहित हो गये थे तथा शिवजी को भी मोहिनी को देखकर मोह हो गया था.' इसलिए, विचार करके उत्तर दीजिये कि देशकालादि द्वारा इतने बड़े देवों का भी पराभव हुआ.' ब्रह्मानन्द स्वामी इस प्रश्न का उत्तर देने लगे, परन्तु वे यथार्थ उत्तर न दे सके.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका उत्तर यह है कि नाड़ियों और प्राणों को नियन्त्रित करके निर्विकल्प स्थिति द्वारा यदि श्रीनारायण के चरणारविन्दों का ध्यान किया जाता रहे, तो तुच्छ जीव का भी देशकालसंगादि द्वारा पराभव नहीं होता. यदि इस प्रकार ब्रह्मादि रहे हों, तो उनका भी पराभव नहीं हो सकता. यदि ऐसी स्थिति न रही और देहासक्त ही रहा हो, तो अन्य जीवों तथा ऐसे महान ब्रह्मादि देवों का भी पराभव हो जाता है. यदि ऐसा न हो, तो –

'[1]तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु कोन्वखंडितधीः पुमान् ।
ऋषिं नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया ॥'

---

* रविवार, ३० दिसम्बर, १८२०.

१. अर्थः ब्रह्मा द्वारा सृजित मरीच्यादि तथा उनके द्वारा उद्भूत देवमनुष्यादि के मध्य इस लोक में नारायण ऋषि के सिवा ऐसा कौन-सा पुरुष है, जिसका मन स्त्रीरूपी माया से आकर्षित नहीं होता ? अन्य समस्त मनुष्यों का मन ऐसी माया से आकर्षित हो ही जाता है.

इस श्लोक में प्रतिपादित अर्थ का औचित्य ही सिद्ध नहीं हो सकता. इसलिए, यह कहा गया है कि ऐसी स्थिति में रहते हुए भी केवल नारायण ऋषि का पराभव नहीं हो पाता. दूसरा चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, वह यदि नारायण के चरणारविन्दों में निमग्न नहीं रहता, तो उसका पराभव हो जाता है, यदि निमग्न रहता है, तो उसका पराभव नहीं हो सकता. इसलिए, हमने अपने अन्तःकरण में यह सिद्धान्त अचल रखा है.

भागवत में कहा गया है :

'[१]एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः ।
न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया ॥'

भगवान ने यह भी कहा है –

'[२]दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥'

इस प्रकार, एकमात्र केवल नारायण ही इस माया से निर्लेप रहते हैं अथवा उन नारायण को निर्विकल्प रूप से प्राप्त पुरुष का भी पराभव नहीं होता. यदि कोई भक्त सविकल्प रूप से नारायण को प्राप्त होता है, तो वह चाहे कितना ही बड़ा हो फिर भी उसका पराभव हो जाता है.'

नित्यानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! जब तक इन मुक्तों का गुणों के साथ सम्बन्ध रहता है तब तक इनमें देशकालादि द्वारा

---

१. अर्थः जिस प्रकार भगवान के भक्त का भगवत्स्वरूप सम्बन्धी ज्ञान देह में रहनेवाले सतत परिणामित्वादि दोषों तथा जीव में स्थित अविद्यादि दोषों से लिप्त नहीं होता, वैसे ही परमेश्वर भी, जो प्रकृति तथा जीववर्ग में व्याप्त होकर रहे हैं, प्रकृति के सत्त्वादि गुणों तथा जीव के अविद्या, अस्मिता एवं रागद्वेषादि दोषों से लिप्त नहीं होते. परमेश्वर की इतनी ही परमेश्वरता है, अर्थात् तब भक्त का भगवत्स्वरूप सम्बन्धी ज्ञान देहात्मा के दोष से लिप्त नहीं होता, तब जड़ाजड़ में अन्यर्यामी रूप से रहनेवाले भगवान जड़ाजड़ प्रकृति के दोषों से लिप्त न हों, इसके सम्बन्धी में कहने की बात ही क्या है ?

२. अर्थः मेरी सत्त्वादि गुणमयी यह माया जिसे हेतु के लिये दैवी है, उसका प्रवर्तन स्वच्छन्द रूप से अघटित घटना करने में समर्थ मुझ परमेश्वर द्वारा लीला के लिए किया गया है. इसी कारण, मेरी प्रपत्ति के बिना, समस्त प्राणी इस माया का उल्लंघन नहीं कर सकते. इसीलिए, जो मेरी शरण में आते हैं वे मेरी गुणमयी तथा दुर्लंघ्य माया को पार कर लेते हैं. अतएव, माया का त्याग करके मेरी उपासना करते हैं.

विपर्ययभाव होता है, किन्तु नारायण तो गुणों में रहते हुए भी देशकालादि द्वारा पराभव को नहीं प्राप्त होते, यह बात तो ठीक है, परन्तु जब उन सब मुक्तों का गुणों से सम्बन्ध न रहे तथा वे निर्गुणभाव से अक्षरधाम में रहे हों और नारायण भी वहाँ उसी रूप में रहे हों तब वे सब उस समय चैतन्यमय एवं निर्गुण होते हैं तथा '[१]मम साधर्म्यमागताः' के अनुसार नारायण के साधर्म्यभाव को प्राप्त हो चुके हैं. ऐसे मुक्तों तथा नारायण के मध्य भेद किस प्रकार समझा जाना चाहिये ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'चन्द्रमा तथा तारागणों में भेद है कि नहीं ? देखिये, वे प्रकाश की दृष्टि से भी एकसमान नहीं हैं तथा बिम्ब में भी बड़ा भेद है. चन्द्रमा द्वारा समस्त औषधियों का पोषण होता है, जबकि तारागण ऐसा नहीं कर पाते. चन्द्रमा ही रात्रि के अंधकार को मिटा देता है, किन्तु तारागण अंधेरे को हटाने में असमर्थ रहते हैं. इसी प्रकार नारायण तथा मुक्तों में भी भेद है. यद्यपि राजा और उसके नौकर-चाकर मानवजाति की दृष्टि से तो एकसमान लगते हैं, फिर भी राजा की सामर्थ्य, ऐश्वर्य, रूप एवं लावण्य, सभी सर्वोपरि रहते हैं. जो काम राजा कर सकता है, वह नौकरों-चाकरों से नहीं हो सकता, भले ही वे कितने ही बड़े क्यों न हों. उसी प्रकार पुरुषोत्तमनारायण भी सर्वकर्ता, सर्वकारण, सर्वनियन्ता, अतिरूपवान, महातेजस्वी, अतिसमर्थ तथा 'कर्तुम्, अकर्तुम् तथा अन्यथा-कर्तुम्' शक्ति के धारक हैं. यदि वे चाहें, तो अक्षरधाम-स्थित समस्त मुक्तों को अपने तेज में विलीन करके स्वयं अकेले ही विराजमान रह सकते हैं. यदि वे इच्छा करें, तो मुक्तों द्वारा की गयी अपनी (परमात्मा की) भक्ति को अंगीकार करके उनके सहित विराजमान हो सकते हैं. जिस अक्षरधाम में वे स्वयं रहे हैं, उस अक्षर को भी लीन करके स्वतः स्वराट् रूप से अकेले विराजमान हो सकते हैं. यदि वे चाहें तो अक्षरधाम के बिना ही अनन्तकोटि मुक्तों को अपने ऐश्वर्य द्वारा धारण करने में समर्थ हो जाते हैं. पृथु भगवान ने पृथ्वी से कहा था कि 'मैं अपने धनुष से निकले हुए बाणों द्वारा तुझे मारकर अपनी सामर्थ्य से इस समस्त जगत को धारण करने में समर्थ हूँ.' वैसे ही वे नारायण भी अपने ऐश्वर्य द्वारा सर्वोपरि हैं. जो पुरुष उन्हें तथा

---

१. अर्थः मेरे साधर्म्य (समान गुणयोग) को प्राप्त उन गुणों को अपहतपाप्यत्वादि रूप में आठ प्रकार का बताया गया है.

अन्य अक्षरादि मुक्तों को एकसमान बताते हैं उन्हें दुष्टबुद्धिवाला तथा अतिपापी समझना चाहिये और उनके दर्शन भी नहीं करने चाहिये. ऐसी समझ रखनेवालों को देखनेमात्र से पंचमहापाप सदृश पाप लगता है.

नारायण को लेकर ही किसी की महत्ता सम्भव हो जाती है. नारायण के कारण ही ब्रह्मा, शिव, नारद तथा सनकादि को भगवान कहा जाता है. नारायण की ही महिमा के फलस्वरूप उद्धव को भगवान कहते है. नारायण के प्रताप से अभी इन मुक्तानन्द स्वामी जैसे सन्त को भगवान के समान माना जाता है. इन नारायण के सम्बन्ध के बिना अक्षर को भी भगवान नहीं कहा जा सकता, तो दूसरों की तो बात ही क्या कहनी ?

'[१]अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगतास्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव ! नेतरथा,' वेदस्तुति के इस गद्यांश का भी यही अर्थ है. यदि ऐसा न हो, तो हम सब देह से भिन्न आत्मा को ब्रह्मरूप मानते हैं/तथा ज्ञान, वैराग्य आदि साधनयुक्त होने पर भी उन नारायण को प्रसन्न करने के लिये रात-दिन जागरण करते हैं तथा तालियाँ बजाकर कीर्तन एवं नामस्मरण करते हैं तथा कथा-कीर्तन भी रात-दिन करते-करवाते रहते हैं. यदि नारायण के समान बनने की सामर्थ्य होती, तो इतना अधिक प्रयास ही क्यों नहीं करते ? अतएव, उन नारायण के समान तो एक नारायण ही हैं. परन्तु, उन-जैसा दूसरा कोई भी नही हो सकता. 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', इस श्रुति का भी यही अर्थ है कि 'इन नारायण जैसे तो एक नारायण हैं.' समस्त शास्त्रों का यही सिद्धान्त है. इस प्रकार, भक्तजनों को शिक्षा देने के लिये श्रीजीमहाराज ने यह वार्ता की. वास्तव में वे तो स्वयं साक्षात् पुरुषोत्तमनारायण हैं.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१३॥ ॥१२१॥

---

१. अर्थ : हे ध्रुव ! जीव अपरिमित एवं ध्रुव (नित्य) हैं. यदि इन जीवों को परमात्मा के समान सर्वगत, सर्वव्यापक विभु मान लिया जाय, तो ये सभी परमात्मा-सदृश हो जायेंगे. तब परमात्मा या जीवात्मा से शास्यता (नियाम्यता) नहीं होती. ऐसा होने पर शास्त्रसिद्ध नियाम्य-नियामक भाव का नियम ही नहीं रह जायगा. यदि जीवों को सर्वगत न माना जाय, तो नियाम्यता के नियम आदि की स्थिति बनी रहेगी. राज-राष्ट्र-न्याय से नहीं, बल्कि अन्तःप्रवेश द्वारा नियाम्यता रहती है. यही बात श्रुतियों में कही गयी है कि 'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा', इत्यादि

वचनामृत १४ : प्राचीनकालीन आचार्य

संवत् १८७७ में मार्गशीर्ष कृष्ण *एकादशी को श्रीजीमहाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने मस्तक पर सफेद फेंटा बाँधा था, श्वेत चादर ओढ़ी थी और सफेद दुपट्टा धारण किया था. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज परमहंसों से बोले कि 'प्राचीनकाल में जो आचार्य हो गये हैं, उनकी पृथक्-पृथक् रुचि रही है. उनमें शंकर स्वामी का अद्वैत-सिद्धान्त [१]ज्ञानांशप्रधान प्रतीत होता है. रामानुजाचार्य का मन्तव्य तो यह है कि 'जीव, माया तथा पुरुषोत्तम' ये तीनों ही नित्य हैं. पुरुषोत्तम जीव तथा माया के नियन्ता और सबके कारण हैं. वे अपने अक्षरधाम में सदैव दिव्य आकार में विराजमान रहते हैं. सभी अवतार उनके ही हैं. जीव को ऐसा पुरुषोत्तम नारायण की उपासना करनी चाहिये. रामानुजाचार्य का यह मत विदित होता है. वल्लभाचार्य ने भक्ति के प्रति ही अधिक निष्ठा रखने पर जोर दिया है. इन समस्त आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में प्रसंगानुसार अन्य वार्ताएँ लिखी हैं. फिर भी, किसी न किसी प्रकार से उन्होंने अन्त में अपनी रुचि प्रकट कर दी है. इस प्रकार उनके ग्रन्थों में उल्लिखित उनके वचनों द्वारा उनका अभिप्राय यथार्थ रूप से विदित होता है.

वैसे ही, हमारी वार्ता को भी सुनकर आप सबको इस बात का पता चल गया होगा कि हमारी कैसी रुचि है. जैसे सुई के भीतर डोरा चला जाता है तथा माला के मनकों में डोरा आरपार रहता है, वैसे ही हमारी समस्त वार्ताओं में कौन-सा अभिप्राय निरन्तर आद्यन्त बना रहता है, उसका जिसको जैसा ज्ञान हुआ हो वह वैसा बतावे.' तब समस्त बड़े परमहंसों से प्रत्येक परमहंस ने अपने विवेक के अनुसार अपनी बात बतायी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अच्छा, अब हम अपना अभिप्राय तथा रुचि बताते हैं. हमें तो एक यह बात पसन्द है कि ऋषभदेव भगवान वासुदेव के साथ एकात्मता को प्राप्त हुए थे. जब उन्हें सिद्धियाँ प्राप्त हुईं तब उन्होंने

---

* सोमवार, ३१ दिसम्बर, १८२०.

१. जीवात्मा-परमात्मा का ऐक्यज्ञान.

भगवान होकर भी अन्य त्यागियों को शिक्षा देने के लिये उन सिद्धियों को ग्रहण किया. श्रीमद्भागवत में बताया गया है कि भले ही योगी सिद्ध हो चुका हो और उसने अपने मन को वश में कर लिया हो, तो भी उसे मन पर विश्वास नहीं करना चाहिये. इस प्रसंग में यह श्लोक विचारणीय है :–

'न [१]कुर्यात्कर्हिचित्सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते ।
यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम् ॥
[२]नित्यं ददाति कामस्य छिद्रं तमनु येऽरयः ।
योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली ॥'

इस प्रकार, मन पर विश्वास नहीं किया जाना चाहिये. हमें तो ऐसा ही त्याग प्रियकर लगता है.

हमारे मन में श्वेतद्वीप तथा बदरिकाश्रम जितने प्रिय लगते हैं, उतने अन्य लोक हमें पसन्द नहीं हैं. हमारे मन में यही भावना रहती है कि श्वेतद्वीप तथा बदरिकाश्रम में जाकर यदि हम निरन्नभाव से तप करेंगे, तो बहुत अच्छा लगेगा. परन्तु, अन्य लोकों में हमें अनेक प्रकार के वैभवों का उपभोग करना रुचिकर नहीं लगता. हम यह जानते हैं कि भगवान के जो अनेक अवतार हो चुके हैं, वे सब नारायण के ही अवतार हैं, फिर भी इन अवतारों में हमें [३]ऋषभदेवजी अत्यधिक प्रेमास्पद लगते हैं. उनसे कुछ न्यून रूप से कपिलजी और दत्तात्रेय एकसमान मालूम होते हैं. इन तीनों ही अवतारों की अपेक्षा करोड़ों गुना प्रेम हमें श्रीकृष्ण से है. हम तो यह मानते

---

१. अर्थः– मन अतिचंचल होता है. इस कारण उसकी स्थिति सदैव एकसमान नहीं रहती. इसलिए कभी भी इसपर ऐसा विश्वास नहीं करना चाहिये कि 'यह मेरे वश में हो चुका है.' इसलिए अनर्थ नहीं रहेगा. मन का विश्वास करने के कारण बड़े-बड़े सौभरि आदि ईश्वरों का भी तप क्षीण हो गया था, जिसे सम्पादित करने के लिये उन्होंने दीर्घकाल तक महाप्रयास किये थे.

२. मन का विश्वास करनेवाले योगी का मन काम की पकड़ को सुदृढ़ बनाने के लिये निरन्तर अवसर देता रहता है. योगी के मन में काम की पैठ को कोई मौका मिलने के बाद क्रोध आदि अन्तःशत्रुओं को भी वहाँ अपना आसन जमाने का अवसर मिल जाता है. जैसे पुंश्चली स्त्री विश्वास करनेवाले अपने पति का सफाया करने के लिये जार को मौका देती है, वैसे ही मन भी कामादि द्वारा योगी को पथभ्रष्ट कर डालता है.

३. क्योंकि उनमें सत्पुरुषों के क्षमा आदि गुण हैं.

हैं कि 'अन्य समस्त अवतारों की अपेक्षा यह अवतार अत्यन्त महान है तथा यह अधिक सामर्थ्यवान भी है. इसमें अवतार तथा अवतारी का कोई भी भेद नहीं है.' भगवान के मत्स्यकच्छपादि अन्य अवतार भी हैं, परन्तु उनमें हमारी अधिक रुचि नहीं है.

इस प्रकार हमारी तो यह उपासना है कि सबसे परे एक विशाल तेजपुंज है, जो नीचे-ऊपर और चारों ओर प्रमाणरहित तथा अनन्त है. उसी तेजपुंज के मध्य भाग में एक बड़ा सिंहासन है, उसके ऊपर दिव्यमूर्ति श्रीनारायण पुरुषोत्तम भगवान विराजमान हैं. उस सिंहासन की चारों ओर अनन्तकोटि मुक्त बैठे हुए उन नारायण के दर्शन करते रहते हैं. इन मुक्तों के सहित जो नारायण हैं, उन्हें हम निरन्तर देखते रहते हैं. उन भगवान में अतिशय तेज है. जब उस मुक्तसमुदाय के सहित भगवान के दर्शन नहीं होते, तब हमें अत्यन्त कष्ट होता है. वह तेजपुंज तो निरन्तर दिखायी पड़ता है, तो भी उसमें रुचि नहीं है. भगवान की मूर्ति के दर्शन से ही अतिशय सुख मिलता है. हमारे मतानुसार यही उपासना है.

हम तो यह चाहते हैं कि गोपियों ने भगवान की जैसी भक्ति की थी वैसी भक्ति की जानी चाहिये. हम सब मनुष्यों को देखते रहते हैं. किसी कामी स्त्री को पुरुष में तथा किसी कामातुर पुरुष को स्त्री में जैसा प्रेम होता है, उसे देखकर ऐसी भावना होती है कि 'यदि भगवान के प्रति हमारा ऐसा प्रेम रहे, तो अच्छा रहेगा.' जब हम किसी को पुत्र तथा धन से अधिक प्रेम करते देखते हैं, तब हमें यह आभास होता है कि यदि 'ऐसा प्रेम हमें भगवान से हो जाय, तो ठीक रहेगा.' यदि कोई पुरुष गीत गाता होता है तो उसे सुनकर और उसके पास किसी मनुष्य को भेजकर अथवा हम स्वयं उसके पास जाते हैं और समझते हैं कि 'यह अपने संगीत में तन्मय है, यह ठीक है.'

वास्तव में हमें प्रेम तो उस पुरुष के साथ होता है, 'जिसमें काम, क्रोध, स्वाद, लोभ, स्नेह, मान, ईर्ष्या, दम्भ तथा कपट आदि दोष न हों, और जो धर्मशास्त्रानुसार धर्म का पालन करता हो तथा भगवान की भक्ति से युक्त हो.' उसीके साथ बैठने-उठने में हमें अच्छा लगता है. यदि वह ऐसा न हो और हमारे साथ रहता हो, तो भी उसके साथ हमें सुमेल नहीं होता और उसकी तो हम उपेक्षा ही करते रहते हैं. पहले तो हम कामी

पुरुष से बहुत दूर रहते थे. अब हम जिसमें क्रोध, मान तथा ईर्ष्या-भाव देखते हैं, उससे हमारा सम्बन्ध बिल्कुल नहीं रहता, क्योंकि हम देखते हैं कि कामी पुरुष तो गृहस्थ की भाँति निर्मानी होकर सत्संग में पड़ा रहता है, किन्तु क्रोध, मान तथा ईर्ष्या रखनेवाले पुरुष तो सत्संग से जरूर पिछड़ जाते हैं. इसलिए, इन तीनों प्रकार के पुरुषों को देखकर हम उद्विग्न हो जाते हैं. वह मान क्या है ? मानी पुरुष अपने में बड़े मनुष्य के सामने भी अहंभाव रखता है, किन्तु वह उसके समक्ष नम्रतापूर्वक उसकी सेवा में नहीं रहता.

हम अपना अभिप्राय संक्षेप में कहते हैं और वह यह है कि शंकर स्वामी ने जिस प्रकार अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन किया है, उसमें तो हमारी रुचि नहीं है. रामानुज स्वामी ने जिस प्रकार क्षर-अक्षर से परे पुरुषोत्तम भगवान का निरूपण किया है, उन पुरुषोत्तम भगवान की तो हम उपासना करते हैं. गोपियों के समान उन पुरुषोत्तम भगवान की हम भी भक्ति करते हैं. शुकजी तथा जड़भरत के सदृश हमें भी वैराग्य और आत्मनिष्ठा है. यही हमारा अभिप्राय तथा रुचि है. हमारी इस वार्ता तथा हमारे द्वारा मान्य हमारे सम्प्रदाय के ग्रन्थों पर जो बुद्धिमान पुरुष पूर्वापर दृष्टि से विचार कर उन्हें देखेगा, उसे उनकी सभी बातें समझ में आ जायेंगी. इस प्रकार, श्रीजीमहाराज ने अपने भक्तजनों को शिक्षा देने के लिये यह वार्ता की. वे तो स्वयं साक्षात् पुरुषोत्तमनारायण हैं.' ॥ इति वचनामृतम् ॥१४॥ ॥१२२॥

वचनामृत १५ : आत्मदर्शन

संवत् १८७७ में मार्गशीर्ष कृष्ण *त्रयोदशी को रात्रि के समय श्रीजीमहाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में विराजमान थे. उन्होंने सिर पर श्वेत फेंटा बाँधा था, दूसरा सफेद फेंटा सिर से लेकर आकंठ लपेटा था, गरम पोस की लाल बगलबंडी पहनी थी, श्वेत दुपट्टा धारण किया था तथा वे सफेद सूती शाल और श्वेत पिछौरी एक साथ मिलाकर ओढ़े हुए थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष देश-देशान्तर के हरिभक्तों तथा परमहंसों की सभा हो रही थी.

---

* बुधवार, २ जनवरी, १८२१.

श्रीजीमहाराज कृपा करके बोले कि 'यह [1]जीव [2]अध्यात्म, [3]अधिभूत तथा [4]अधिदेव-[5]भाव से सारी देह में [6]नखशिखापर्यन्त व्याप्त होकर रहा है. जीव को देवता तथा [7]इन्द्रियरूप द्वारा भोक्ताभाव रहता है, परन्तु देवता इन्द्रियों से पृथक् होकर भोक्ता [8]नहीं है.'

नित्यानन्द स्वामी ने आशंका प्रकट की कि 'हे महाराज ! ऐसा कहा जाता है कि जीव सामान्यतः सारी देह में व्याप्त होकर विशेष रूप से हृदयावकाश में रहा है, परन्तु शरीर के सभी भागों में जीव की ज्ञातृत्व शक्ति का परिचय नहीं होता, इसका क्या कारण है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि '[9]जैसे सूर्य किरणों द्वारा समस्त पदार्थों में व्याप्त होकर रहा है, परन्तु आगे जैसा पदार्थ रहता है, वहाँ सूर्य का प्रकाश वैसा ही दिखायी पड़ता है और काँचजटित भूमि तथा स्वच्छ निर्मल जल में सूर्य का शुद्ध प्रकाश दीख पड़ता है, किन्तु पथरीली और रेतीवाली जमीन तथा गंदे पानी में ऐसा नहीं दिखायी देता, इस तरह सूर्य के प्रकाश में न्यूनता एवं अधिकता रहती है, वैसे ही यह जीव [10]इन्द्रियों, अन्तःकरण तथा गोलक में समान भाव से रहता है, किन्तु इन्द्रियों में स्वच्छता रहने के कारण वहाँ विशेष प्रकाश दिखायी पड़ता है. देखिये, नेत्रों में जितना तेज ज्ञात होता है, वह क्या उतना नाक-कान में कभी भी दिखायी पड़ता है ?

---

१. तीन देहों से विलक्षण है तथा अपने-अपने हृदय में विशेष सत्ता से रहा है. यह देह तथा इन्द्रियों आदि को चैतन्य करता है, जिससे वह चिद्रूप कहलाता है.
२. चक्षु आदि इन्द्रियाँ.
३. इन्द्रियों का नेत्रादि गोलक.
४. इन्द्रियों के अधिष्ठाता सूर्यादि देवता.
५. अधिदेव के प्रकाश भाव से.
६. सामान्य सत्ता से.
७. द्वारा.
८. यह अर्थ 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः', इस श्रुति में बताया गया है.
९. अध्यात्म आदि में सामान्य सत्ता से व्याप्त आत्मज्ञान में स्वतः न्यूनाधिक भाव नहीं है, परन्तु इन्द्रियरूप आधार के तारतम्य से आत्मप्रकाश का तारतम्य-भाव ज्ञात होता है.
१०. ज्ञान-प्रभा से.

नहीं दीखता. चार अन्तःकरणों की अतिस्वच्छता है, इसीलिए वहाँ जीव का अधिक प्रकाश मालूम होता है तथा अन्य इन्द्रियों में वह न्यून प्रतीत होता है. परन्तु, जीव तो सारी देह में [१]समान भाव से रहा [२]है.'

ब्रह्मानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'इस जीव को कितने ही तो तारासदृश, दीपज्योति तथा मध्याह्नकालीन प्रकाश के समान प्रकाशवान देखते हैं, यह कैसे समझना चाहिये ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे अक्षिविद्या प्राप्त है, उसे नेत्र द्वारा जीव का दर्शन होता है और उसमें वह भगवान की मूर्ति भी देखता है. वैसे ही जिसे इन्द्रिय द्वारा लक्ष्य हुआ हो, वह वैसी आत्मा को देखता है. जैसे काँच का कोई पुतला मनुष्याकार बनाया हो, उसके सब अवयव, रोम तथा नाडियाँ भी काँच की हों और पुतले के भीतर तेज भरा हो, तब वह उतना ही दीख पड़ेगा, जितनी कि नली की खाली जगह होगी, परन्तु वह समग्र रूप से नहीं दिखायी पड़ता, वैसे ही जिन्होंने उस जीव का जैसा स्वरूप देखा है, वैसा ही वे उसे बताते हैं. परन्तु, उनकी निरावरण-दृष्टि नहीं हुई है. इसीलिए, उन्हें वह आत्मा यथावत् नहीं दिखायी पड़ती. जब उनकी निरावरण-दृष्टि आत्माकार हो जाती है तब इन्द्रियों के गोलक के विभाग उन्हें दृष्टिगोचर नहीं होते. तब जैसी आत्मा होती है वैसी दिखायी नहीं पड़ती है.

जिस प्रकार जो आकाश की दृष्टि को प्राप्त हुआ हो, उसकी दृष्टि में अन्य चार भूत नहीं आते, वैसे ही जिसकी निरावरण-दृष्टि होती है, उसको गोलक, इन्द्रियों देवता तथा अन्तःकरण द्वारा विज्ञात जीव के प्रकाश के भेद नहीं दीख पड़ते. जैसा जीव होता है वैसा वह सम्यक् रूप से दिखायी पड़ता है. किन्तु भेद-दृष्टिवाले को वह यथार्थतः नहीं दिखायी पड़ता. जैसे किसी ने गाय की पूँछ देखी और किसीने उसका मुख, खुर, पेट और स्तन देखा, अर्थात् उसने गाय के ही ये सब अंग देखे, परन्तु जैसी गाय है, उसे वैसा किसी ने भी नहीं देखा. यदि किसीने उसका एक भी अंग देख लिया, तो यही कहा जायगा कि उसने गाय देखी है. इसी प्रकार जिसकी आत्मा के

---

१. ज्ञान की क्रान्ति से.

२. इसीलिए, आत्मप्रकाश में न्यूनाधिक भेद नहीं मानना चाहिये, क्योंकि वह स्वतः विषम नहीं है.

प्रकाश का जितना दर्शन इन्द्रियों अथवा अन्तःकरण द्वारा हुआ हो, उतना ही आत्मदर्शी वह कहलाता है, परन्तु उसे सम्यक् आत्मदर्शन नहीं कहा जा सकता, इसलिए हम तो इस जीव में इस प्रकार सामान्य और विशेष भाव बताते हैं.'

नित्यानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! आप जीव को तो निराकार बताते हैं तब उस जीव में भगवान भी क्या [1]अलिंग भाव से या मूर्तिमान होकर रहे हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान तो इन्द्रियों, देवता, अन्तःकरण तथा जीव में उनके आश्रय-भाव से रहे हैं. यही बात श्रीकृष्ण भगवान ने उद्धव द्वारा गोपियों से कहलायी थी कि 'इन्द्रियों, अन्तःकरण, देवता तथा जीव के आश्रयभाव से तो मैं तुम सबके समीप रहा हूं. जैसे ब्रह्मांड में रहनेवाले पंचमहाभूत ही सबकी देहों में रहे हैं, वैसे ही मैं इस मथुरा में उसी प्रकार रहा हूँ, जिस प्रकार महाभूत विशेष रूप से ब्रह्माड में रहते हैं. जैसे ये भूत जीवों के शरीरों में सामान्य रूप से रहे हैं, वैसे ही मैं तुम्हारे पास रहा हूँ. मैं दृष्टिगोचर भी नहीं होता. मुझ में तुम सबकी चित्तवृत्ति का निरोध हो जाय, इसीलिए मैं नहीं दिखायी पड़ता, परन्तु रहा तो मैं मूर्तिमान हूँ.'

नित्यानन्द स्वामी ने पुनः पूछा कि 'हे महाराज ! वे भगवान इन्द्रियादि के आश्रय-भाव से रहे हैं या वे पुरुषरूप से रहे हैं या अक्षररूप से रहे हैं, अथवा स्वयं पुरुषोत्तमरूप से रहे हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जीव, पुरुष, अक्षर तथा पुरुषोत्तम का तेज प्रकाशभाव से तो सजातीय है, इसलिए उनके प्रकाश के भेद करने में कोई भी समर्थ नहीं है. तथापि, भेद तो अतिशय है, फिर भी उस भेद को देखने मे कोई भी समर्थ नहीं हो पाता. जिस पर ये भगवान कृपा करते हैं, उसके फलस्वरूप उसकी ऐसी प्रकाशमय दिव्य देह तैयार होती है कि वह यह समझ लेता है कि 'यह मैं हूँ, यह पुरुष है तथा यह अक्षर है और इन सबसे विलक्षण ये पुरुषोत्तम हैं.' इस प्रकार यह जीव सबको पृथक् रूप से देखता है तथा इनके प्रकाश को भी विलक्षण रूप से देखता है, परन्तु अन्य कोई भी उस प्रकाश को देखने में समर्थ नहीं होता. अतएव, ये भगवान चाहे जिस रूप द्वारा रहे हैं, फिर भी वे स्वयमेव रहे हैं.

---

१ निराकार.

वेदान्त (उपनिषद्) योग तथा सांख्य नामक तीनों शास्त्र सनातन हैं और वे श्रीकृष्ण परमात्मा का ही वर्णन करते हैं. इन तीनों शास्त्रों में से प्रत्येक शास्त्र का मत हम आपके सामने पृथक् रूप से प्रकट करते बताते हैं, उसे सुनिये.

सांख्यशास्त्र २४ तत्त्वों को कहकर उनसे परे पचीसवें तत्त्व को परमात्मा बताता है, परन्तु वह जीव तथा ईश्वर को पृथक् करके नहीं कहता. उसका यह अभिप्राय है कि इन तत्त्वों का जीव के बिना अस्तित्व ही नहीं रहता. इस प्रकार, तत्त्वों के साथ तदात्मक भाव से रहनेवाले जीव को तत्त्वरूप ही कहते हैं, किन्तु तत्त्वों से पृथक् नहीं बताते हैं. जैसे जीव को चौबीस तत्त्वरूप माना जाता है, वैसे ही ब्रह्मांडाभिमानी ईश्वर को भी चौबीस तत्त्वरूप मानते हैं. इस प्रकार जीव एवं ईश्वर को तत्त्वरूप मानकर तत्त्वों के अन्तर्गत उनकी गणना करते हैं, परन्तु उन्हें तत्त्वों से पृथक् नहीं गिनते. पचीसवें तत्त्व को परमात्मा कहते हैं. यह सांख्यशास्त्र का मत है, परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि जीव नहीं है, क्योंकि सांख्यशास्त्र 'षट् सम्पत्ति[१], श्रवण, मनन तथा निदिध्यास आदि को साधन बताता है. वे साधन जीव को ही करने हैं. उन साधनों द्वारा जीव को विचार प्राप्त होता है तथा उस विचार द्वारा वह स्वयं को तत्त्वों से अलग करके अपने को ब्रह्मरूप मान लेता है और परमात्मा का भजन करता है. ऐसा सांख्य-मत है. मोक्ष-धर्म में नारदजी ने शुकजी से कहा है :-

'त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ॥'

इस श्लोक का अर्थ है कि 'जब मुमुक्षु आत्मविचार करने बैठे, तब उसके मार्ग में धर्मरूप अथवा अधर्मरूप तथा सत्यरूप एवं असत्यरूप-मूलक जो-जो संकल्प-विकल्प हों, उनका त्याग कर डालना चाहिये तथा जिस विचार द्वारा उसका त्याग होता है उसकी भी परित्याग कर ब्रह्मरूप में रहना चाहिये, किन्तु देह से धर्मरूप नियम का त्याग नहीं करना चाहिये.'

योगशास्त्र चौबीस तत्त्वों की गणना पृथक् रूप से करता है, परन्तु जीव एवं ईश्वर को पचीसवाँ तत्त्व मानता है तथा परमात्मा को छब्बीसवाँ तत्त्व बताता है. इस प्रकार, विवेक द्वारा पचीसवें तत्त्व को अन्य तत्त्वों से

---

१. शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान तथा श्रद्धा.

पृथक् समझकर और उसमें अपनेपन की दृढ़ता मानकर चौबीस तत्त्वों की वृत्तियों का पिंडीभाव करके उन्हें दृढ़ता के साथ छब्बीसवें तत्त्व में रखता है, परन्तु विषयोन्मुख नहीं होने देता और ऐसा समझता है कि यदि 'मेरी वृत्ति भगवान को छोड़कर अन्य स्थान पर जायगी, तो मुझे संसृति होगी.' अतएव, अत्यन्त आग्रह करके इन्द्रियों तथा अन्तःकरण की वृत्तियों को भगवान के श्रीचरणों में तन्मय कर देता है.

सांख्यमतावलम्बी का तो यह मन्तव्य है कि 'मेरी इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण ही नहीं हैं, तो ये सब कहाँ जायेंगे ?' इसलिए, स्वयं को ब्रह्मरूप मानकर निर्भय रहता है. योगमतानुयायी तो डरता ही रहता है. जैसे किसी पुरुष के हाथ में तेलपूरित पात्र हो और उसे सीढ़ियों द्वारा ऊँचा चढ़ना हो, उस समय यदि दोनों ओर से खुली तलवारवाले आदमी तेलपात्र में से तेल की एक भी बूँद के नीचे गिरने पर उसका शिरच्छेदन करने के लिये साथ में रहें तो पुरुष इस डर के कारण सावधान रहता है तथा तेल को उस पात्र में से छलकने नहीं देता. इसी प्रकार योगशास्त्रानुयायी भी विषयों से डरकर भगवान में अपनी वृत्तियों को बनाये रखता है. यह योगशास्त्र का मत है.

वेदान्त (उपनिषद्) का मत यह है कि वह पुरुषोत्तमनारायण ब्रह्म को ही सबका कारण मानता है और अन्य सभी को मिथ्या समझता है. जैसे आकाश की दृष्टि को प्राप्त पुरुष अन्य तत्त्वों को नहीं देखता, वैसे ही उस ब्रह्म को देखनेवाला भी अन्य किसी को नहीं देखता. वेदान्त का यही मत है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१५॥ ॥१२३॥

वचनामृत १६ : विषयों से अरुचि

संवत् १८७७ में मार्गशीर्ष कृष्ण *चतुर्दशी को सन्ध्या-आरती होने के बाद श्रीजीमहाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, गरम पोस की लाल बगलबंडी पहनी थी, मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था और दूसरे सफेद फेंटे से सिर को आकंठ लपेटा था. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

---

* गुरुवार, ३ जनवरी, १८२१.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'समस्त परमहंस प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ करें. ऐसा कहकर उन्होंने स्वयमेव यह प्रश्न पूछा कि 'जिसकी वासना कुंठित न हुई हो, जिसकी वासना कुंठित हो गयी हो तथा जिसकी वासना निर्मूल हो चुकी हो, उन पुरुषों के क्या लक्षण हैं ?' मुक्तानन्द स्वामी इस प्रश्न का उत्तर देने लगे, किन्तु वे यथार्थ उत्तर न दे सके.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसकी वासना कुंठित नहीं हुई हो, उसकी इन्द्रियों की वृत्तियाँ, विषयों में लगी रहती हैं तथा पुनः विचार करने पर भी वहाँ से नहीं हटतीं. जिसकी वासना कुंठित हो गयी हो, उसकी वृत्ति विषयों में तत्काल प्रवेश नहीं करती. यदि वह वृत्ति विषयों में प्रवेश कर भी जाय, तो भी उसे यदि लौटने का प्रयास किया जाय, तो वह तुरन्त हट जाती है, परन्तु वह पुरुष विषयों में आसक्त नहीं होता. जिसकी वासना निर्मूल हो गयी हो, उसे तो जागृत अवस्था में सुषुप्ति की भाँति विषयों से अरुचि बनी रहती है तथा भले-बुरे विषयों के प्रति समान भाव रहता है और स्वयं गुणातीत रूप से आचरण करता रहता है. गोपालानन्द स्वामी ने पूछा कि यद्यपि 'वासना कुंठित तो हो जाती है, फिर भी वह मूलतः नष्ट नहीं होती, इसका क्या कारण है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका उत्तर यह है कि आत्मनिष्ठारूप ज्ञान तथा प्रकृति के कार्यरूपी पदार्थमात्र में अनासक्तिरूप वैराग्य, ब्रह्मचर्यादिरूप धर्म तथा माहात्म्यसहित भगवान की भक्ति, ये चार गुण जिनमें सम्पूर्ण रूप से रहते हैं, उनकी वासना निर्मूल हो जाती है. इन चार गुणों में जितनी न्यूनता रहती है, उतनी हद तक वासना निर्मूल नहीं [१]हो पाती.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'हम प्रश्न पूछते हैं कि 'मुमुक्षु को भगवान की प्राप्ति के लिये जो अनेक साधन बताये गये हैं, उनमें ऐसा महान साधन कौन-सा है, जिसका उपयोग करने से सभी दोष नष्ट हो जाते हैं और उसमें समस्त गुण आ जाते हैं ?' परमहंस इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सके.

श्रीजीमहाराज ने इसका यह उत्तर दिया कि 'कपिलदेवजी ने देवहूति से भगवान का यह माहात्म्य बताया है :

---

१. इसीलिए, मूलतः वासना का उच्छेद करने के इच्छुक भक्तजनों को स्वधर्मादि साधनों का उपयोग अत्यन्त दृढ़ता के साथ करना चाहिये.

'[1]मद्भयाद्वाति वातोऽयम्,
सूर्यस्तपति मद्भयात् ।'

इस तरह, अनन्त प्रकार के माहात्म्य के सहित जो पुरुष भगवान की भक्ति करता है, उसके फलस्वरूप उसके समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं. यदि उसमें ज्ञान, वैराग्य तथा धर्म की भावना नहीं हो, तो भी ये सब गुण आ जाते हैं. इसलिए, यह साधन अन्य सभी साधनों में बड़ा माना गया है.'

श्रीजीमहाराज ने पुनः प्रश्न पूछा कि 'जो पुरुष कपटी तथा बुद्धिमान होता है, वह अपने कपट को मालूम नहीं होने देता. अब यह बताइये कि उसकी कपट-भावना किस प्रकार ज्ञात हो सकती है ?'

ब्रह्मानन्द स्वामी ने इसका यह उत्तर दिया कि 'जिसका उठना-बैठना सत्संगद्रेषी तथा सन्त एवं भगवान के विरुद्ध आक्षेप करनेवाले के साथ होता है, उससे उसके स्वभाव का पता लग जाता है, किन्तु अन्य प्रकार से उसका स्वभाव मालूम नहीं होता.'

श्रीजीमहाराज ने इस उत्तर को मान लिया. फिर भी, वे यह बोले कि 'यदि सत्संगद्रेषी के साथ उसका उठना-बैठना नहीं होता तो उसे कैसे पहचाना जा सकता है ?'

ब्रह्मानन्द स्वामी ने कहा कि 'देशकाल की कोई विषमता रहने पर इसका कपट ज्ञात हो जाता है. श्रीजीमहाराज ने कहा कि यह ठीक उत्तर दिया.'

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'यह बताइये कि ऐसा वह कौन-सा दोष है, जिसके कारण समस्त गुण दोषरूप हो जाते हैं ?'

श्रीपात देवानन्द स्वामी बोले कि 'जो पुरुष भगवान के भक्त से द्रोह करता है, उसके समस्त गुण दोषरूप हो जाते हैं. श्रीजीमहाराज बोले कि यह उत्तर भी सत्य है, परन्तु हमने तो दूसरे ढ़ंग से इस प्रश्न का यह उत्तर माना है कि यदि कोई सर्वगुणसम्पन्न पुरुष भगवान को अलिंग समझता हो, परन्तु मूर्तिमान न मानता हो, तो यह एक बड़ा दोष है, जिसके कारण उसके समस्त गुण दोषरूप हो जाते हैं.'

श्रीजीमहाराज ने यह प्रश्न पूछा कि 'यह बताइये कि सन्त के प्रति

---

१. अर्थ : 'मेरे भय से हवा चलती है और मेरे ही डर से सूर्य अपना प्रकाश फैलाते है.'

असद्भाव किस कारण होता है ?' परमहंस इसका यथार्थ उत्तर न दे सके.

श्रीजीमहाराज ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया कि 'जिसमें मान की भावना होती है, उसे ही सन्त के प्रति असद्भाव हो जाता है, क्योंकि मानी पुरुष का स्वभाव तो ऐसा होता है कि 'जो आदमी उसकी प्रशंसा करता है, उसके एक सौ दोषों की भी उपेक्षा करके वह उसमें के एक गुण को भी अत्यधिक महत्व प्रदान करता है. परन्तु, जो पुरुष उसकी प्रशंसा नहीं करता, उसमें यदि एक सौ गुण भी हों, तो भी वह उसको महत्व नहीं देता और उसके साधारण दोष को भी बड़ा दोष मान लेता है. इस प्रकार, पहले तो वह मन एवं वचन द्वारा और इसके पश्चात् देह द्वारा भी उसके विरुद्ध द्रोह करता है.' इस कारण, यह मान बड़ा दोष है. फिर भी, यह नहीं समझ लेना चाहिये कि मान की यह भावना भोले आदमी में नहीं, बल्कि बुद्धिमान में रहती है. वस्तुतः, बुद्धिमान पुरुष की अपेक्षा यह भावना भोले आदमी में अधिक होती है.'

मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! यह मान किस प्रकार मिट सकता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो पुरुष भगवान के माहात्म्य को बहुत अच्छी तरह समझ लेता है, उसमें मान की भावना नहीं रहती. देखिये, उद्धवजी कितने चतुर तथा नीतिशास्त्र में कुशल थे. शारीरिक रूप से भी वे राजा-जैसे लगते थे. फिर भी, वे भगवान के माहात्म्य को समझते थे. जब उन्होंने भगवान के प्रति गोपियों का स्नेह देखा, तब उनके समक्ष मान की भावना नहीं रखी और वे इस प्रकार बोले कि मेरी यह इच्छा है कि 'इन गोपियों की चरणरज से जिन वृक्षों, लताओं, तृणों तथा गुच्छों का स्पर्श होता हो, तो इनमें ही मैं भी कोई हो जाऊँ.' तुलसीदास ने कहा है कि –

'तुलसी जाके मुखन से भूले निकसे राम ।
ताके पग की पेहेनियाँ मेरे तनकी चाम ॥'

जिस पुरुष के मुख से भगवान का नामोच्चार भूल से भी हो जाता है, उसके लिये वे अपने शरीर की चमड़ी का जूता बनवाने के लिये भी उद्यत हो जाते हैं. तब, भगवान के भक्तों, भगवान का निरन्तर नामस्मरण एवं भजन-कीर्तन करनेवालों और भगवान का माहात्म्य जाननेवालों के सामने क्या मान रहता है ? नहीं रहता. माहात्म्य को समझ लेने पर मान की

भावना भी मिट जाती है, परन्तु उसको हृदयंगम किये बिना मान का मूलोच्छेद नहीं हो पाता. अतएव, अपने मान को मिटाने के इच्छुक पुरुष को भगवान तथा सन्त के माहात्म्य को समझ लेना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१६॥ ॥१२४॥

वचनामृत १७ : भगवान की माया का बल

संवत् १८७७ में मार्गशीर्ष कृष्ण *अमावास्या को श्रीजीमहाराज श्रीलोया ग्राम स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था, दूसरे श्वेत फेंटे को सिर से आकंठ लपेटा था, गरम पोस की लाल बगलबंडी अन्दर सफेद अंगरखा के साथ पहनी थी, श्वेत दुपट्टा धारण किया था और सूती शाल ओढ़कर पीली रजाई उस पर ओढ़ी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. इस प्रकार श्रीजीमहाराज प्रसन्नतापूर्वक रात्रि के समय विराजमान थे.

श्रीजीमहाराज अपनी इच्छा से बोले कि 'देखिये, भगवान की माया का बल कैसा है. इसके द्वारा भारी विपरीत परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है. पहले अच्छा दिखायी पड़नेवाला पुरुष बाद में बहुत बुरा हो जाता है. इतना कहकर वे परमहंसों से पुनः बोले कि आज तो प्रश्न पूछिये तो वार्ता करें.'

नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! पहले तो कोई पुरुष अच्छा प्रतीत होता है और स्तुति करता है, किन्तु बाद में वही निन्दा करने लगता है. चाहे कैसा ही देश, काल, क्रिया, संग और विषमता उत्पन्न हो जाय, तो भी कोई पुरुष अच्छा ही बना रहे तथा किसी भी प्रकार से विपरीत मति उत्पन्न नहीं हो, इसका क्या उपाय हो सकता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस पुरुष को अपनी देह के प्रति उदासीनता बनी रहे, दृढ़ आत्मनिष्ठा हो, पंचविषयों में वैराग्य रहे तथा भगवान के माहात्म्य सहित उनके सम्बन्ध में यथार्थ निश्चय हो जाय, तो देशकालादि की विषमता रहने पर भी उसकी मति विपरीत नहीं होती. जो पुरुष देहाभिमानी हों और पंचविषयों के प्रति अतिशय अरुचि न हुई हो, तब यदि

* शुक्रवार, ४ जनवरी, १८२१.

बड़े सन्त उनके समक्ष उन विषयों का खंडन करें, तो उनके मन में इन बड़ें सन्तों तथा भगवान के प्रति भी असद्‌भाव उत्पन्न हो जाता है. यदि ऐसे पुरुषों को भगवान सम्बन्धी यथार्थ निश्चय होने पर भी अगर उनमें पंचविषयों का अत्यन्त अभाव न हो गया हो और उनके प्रति आसक्ति हो, तब यदि मुक्तानन्द स्वामी जैसे सन्त उनका खंडन करते हों, तो वे ऐसे बड़े सन्त का शस्त्र द्वारा शिरच्छेदन करने-जैसा द्रोह करेंगे.'

नित्यानन्द स्वामी ने पुनः पूछा कि 'कोई पुरुष देहाभिमान तथा पंचविषयों में आसक्ति रहने पर भी यदि सत्संग में निभता जाता है, उसे किस प्रकार परखा जाना चाहिये ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब तक उसे कोई टोकता नहीं तब तक तो वह निभता जाता है, किन्तु किन्हीं बड़े सन्त अथवा भगवान द्वारा जब उसके दर्प, स्वाद, देहाभिमान, लोभ, काम तथा क्रोधरूपी दोष का खंडन किया जायगा तथा सन्त के प्रति उसका असद्‌भाव हो जायगा और बाद में वह निश्चय ही सन्त से द्रोह करने लगेगा और सत्संग से विमुख हो जायगा. जैसे सर्प द्वारा डाली गयी लार से मिश्रित शक्कर मिले हुए दूध को जिसने पी लिया हो, तो वह जीवित रहते हुए भी शाम-सबेरे एक-दो दिन के भीतर घड़ी-दो घड़ी के अन्दर ही मृत्यु के मुख में चला जायगा, वैसे ही जो देहाभिमानी पुरुष महीने-दो महीने, वर्ष-दो वर्ष व दस साल में प्राणान्त के समय जब देह छोड़ेगा, तब वह निश्चित रूप से सन्त के प्रति असद्‌भाव रहने के कारण पतनोन्मुख हो जायगा.

जिस पुरुष को देहाभिमान न हो और जो ऐसा समझता हो कि 'जो अन्तःकरण इन्द्रियों का प्रकाशक है तथा जिससे देह चलती फिरती है ऐसी सत्तारूप आत्मा मैं हूँ. इसलिए मैं ऐसा भी नहीं हूँ कि धन-स्त्री आदि किन्हीं पदार्थों द्वारा सुखी हो सकूँ, और न मैं इन पदार्थों के नहीं मिलने से दुःखी ही हो सकता हूँ.' जिस में इस प्रकार की दृढ़ समझ हो, उसके समक्ष सन्त द्वारा चाहे जिस किसी भी प्रकार से पंचविषयों तथा देहाभिमान का खंडन किया जाय, तो भी वह किसी भी तरह से उन सन्त के प्रति असद्‌भाव नहीं रख सकता, और तुच्छ पदार्थों के लिये सन्त के साथ उसका विवाद नहीं होता और न कोई अनबन ही होती है.'

नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जिस पुरुष में पंचविषयों के प्रति

अरुचि हो गयी हो उसकी पहचान किस प्रकार की जा सकती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस पुरुष में इन पंचविषयों का अभाव हो जाय, उसे पहचानने का उपाय हो तो यही है कि जब कभी कोई स्वादिष्ट खाद्यपदार्थ मिल जायँ, तब वह उन्हें खा लेता है, किन्तु फिर भी उसे उनके प्रति किसी प्रकार की कोई खास दिलचस्पी नहीं होती और उनसे यथार्थ आनन्द भी नहीं मिल पाता और वह उदासीन हो जाता है. इसी प्रकार उसे मोटे कपड़े पहनने से जो आनन्द मिलता है, वैसा आनन्द पतले वस्त्रों का उपयोग करने से नहीं मिलता तथा उसका मन उद्विग्न हो जाता है. इसी तरह, उसे अच्छा बिछौना मिलने अथवा किसी के द्वारा सम्मान दिये जाने आदि सुन्दर पदार्थों का योग उपस्थित होने पर उसका मन व्यग्र हो जाता है, परन्तु उनसे उसे किसी प्रकार का आनन्द नहीं मिलता. तभी यह समझ लेना चाहिये कि उसमें विषयों का अभाव हो गया है.'

मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! इन पंचविषयों का अभाव किस प्रकार होता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'विषयों का अभाव होने का मुख्य साधन तो परमेश्वर का माहात्म्य है, इसके पश्चात् आत्मनिष्ठा तथा वैराग्य का स्थान आता है.

यह माहात्म्य कैसा है ? सुनिये, 'भगवान के भय से इन्द्र वर्षा करता है, सूर्य, अग्नि तथा चन्द्रमा प्रकाश प्रदान करते हैं, पृथ्वी सबको धारण कर रही है, समुद्र मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, औषधियाँ ऋतुओं को प्राप्त करके फलदायी बनती हैं. जो भगवान जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करते हैं, उनकी शक्ति काल, माया, पुरुष और अक्षर हैं.' इस प्रकार, जो पुरुष भगवान की महत्ता को समझता है, उसके लिये जगत में ऐसा कौन-सा पदार्थ है, जो बन्धनकारी हो जाय ? काम, क्रोध, लोभ, मान, ईर्ष्या, स्वाद, बढ़िया वस्त्र, धन, स्त्री तथा पंचविषय सम्बन्धी जो अन्य पदार्थ हैं, वे उसके लिये बन्धनकारी नहीं बनते, क्योंकि उसने तो पहले से ही सबका परिमाण कर रखा है. 'वे भगवान ऐसे हैं तथा उन भगवान के ऐसे भजन, स्मरण एवं कथा-वार्ता में सार रहता है, अक्षर ऐसा है तथा उस अक्षर के सम्बन्ध में ऐसा सुख है और गोलोक, वैकुंठ तथा श्वेतद्वीप सम्बन्धी सुख ऐसा है, प्रकृति-पुरुष सम्बन्धी सुख इस प्रकार का है, ब्रह्मलोक सम्बन्धी सुख ऐसा है,

स्वर्ग का सुख इस तरह का है तथा राज्यादि का सुख ऐसा है.'

जो पुरुष इस प्रकार इन सभी सुखों का अनुमान लगाकर भगवान सम्बन्धी सुख को ही सर्वाधिक मानता हुआ भगवान की सेवा में ही तत्पर रहता है, उसके लिये ऐसा कौन-सा पदार्थ शेष रह जाता है, जो उसे भगवान के चरणारविन्दों में ध्यान लगाने से हटा सके ? अर्थात् कोई भी पदार्थ उसे पतनोन्मुख नहीं कर सकता. जैसे पारसमणि अपने स्पर्श से किसी लौहखंड को सोना बना देती है, उसे वह पुनः लोहा नहीं बना सकती, वैसे ही जिसने भगवान का ऐसा माहात्म्य जान लिया है, वह भगवान द्वारा गिराये जाने पर भी उसका मन भगवान के चरणारविन्दों से नहीं हट सकता, तब क्या किसी अन्य पदार्थ से उसका पतन हो सकता है ? वह नहीं गिर सकता. वह तो भगवान का भजन करनेवाले सन्त का माहात्म्य भी इस तरह समझ लेता है कि 'भगवान के ये साक्षात् उपासक हैं, इसीलिए महान सन्त हैं.'

श्रीजीमहाराज ने बताया कि 'उद्धवजी स्वयं अति महान थे. उन्होंने भगवान के माहात्म्य को इस प्रकार समझ लिया था. इसी कारण उनके मन में अपनी चतुरता का कोई भी दम्भ नहीं रहा. उन्होंने गोपियों की चरणरज को प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की और अगले जन्म में वृक्ष तथा बैल बन जाने की याचना की, क्योंकि वे ऐसे भगवान के प्रति, जिनके मार्ग का अन्वेषण वेद-श्रुतियाँ करती रहती हैं, गोपियों की प्रीति को बहुत अच्छी तरह परख चुके थे. जब भगवान के सन्त भी भगवान के सदृश हों, तब उनके सामने मान कैसे रह सकता है और कोई भी विनयावनत क्यों नहीं हो सकता ? उनके सामने तो भक्त को दासानुदास होकर रहना पड़ता है. यदि वे पाँच-पाँच जूते भी मारें तो सहन कर लेना चाहिये कि 'मेरा यह अहोभाग्य है कि मैं ऐसे सन्त का तिरस्कार सहन करता हूँ, नहीं तो प्रारब्धवश पत्नी और पुत्रों, माँ-बाप तथा राजा के तिरस्कार सहन करने पड़ते और दुर्भाग्यवश घास जैसी भाजी खानी पड़ती. उसकी अपेक्षा मैं इन सन्त के संग में रहते हुए निःस्वाद व्रत का पालन करता हूँ, यह मेरा सौभाग्य है, अन्यथा प्रारब्धवश मामूली वस्त्र और चीथड़े पहनने पड़ते, उसकी अपेक्षा इन सन्त के साथ में रहकर मैं गुदड़ी ओढ़ता हूँ. यह मेरा महाभाग्य है.'

यदि कोई पुरुष सन्त की सभा में जाता है और जब वहाँ उसका

सत्कार नहीं होता, तब वह सन्त की आलोचना करता है. वास्तव में वह सन्त की महानता को नहीं जान सका है, अन्यथा उन पर दोष नहीं मढ़ता. जैसे बम्बई के गवर्नर साहब कुर्सीपर बैठे हों और उनकी सभा में किसी गरीब आदमी के जाने पर यदि वे कुर्सी पर नहीं बिठाते और उसका कुछ भी आदर नहीं करते, तो क्या उसे उस अंग्रेज के इस व्यवहार पर क्रोध होगा, तथा मन में उसको गाली देने की इच्छा होगी ? लेशमात्र भी नहीं, क्योंकि उसने इस अंग्रेज के पद-गौरव को समझ लिया है कि 'यह तो मुल्क का शासक है और मैं कंगाल हूँ.' ऐसा समझकर वह क्रुद्ध नहीं हो सकता. उसी प्रकार उसने यदि सन्त की महत्ता को जान लिया हो, तो वे सन्त चाहे कितना ही तिरस्कार करें, फिर भी क्रोध नहीं हो सकता. फिर भी, वह अपनी ही खामियों पर अधिकाधिक विचार करता रहता है तथा सन्त पर दोषारोपण नहीं करता है. जिसने भगवान और सन्त के माहात्म्य को समझ लिया है, उसकी स्थिति सत्संग में अचल बनी रहती है. जिसे इनके माहात्म्य का ज्ञान नहीं हुआ, उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१७॥ ॥१२५॥

वचनामृत १८ : 'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्'

संवत् १८७७ में पौष शुक्ल *प्रतिपदा को रात्रि के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था. दूसरे सफेद फेंटे को सिर से आकंठ गले में लपेटा था. गरम पोस की लाल बगलबंडी पहनी थी, सूती शाल सहित रजाई ओढ़ी थी तथा सफेद दुपट्टा धारण किया था. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. उस समय परमहंस सायंकालीन आरती और स्तुति कर रहे थे. तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि कीर्तन करिये. मुक्तानन्द स्वामी आदि परमहंस वाद्ययंत्रों द्वारा कीर्तन करने लगे.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'कीर्तन-कार्यक्रम स्थगित कर दीजिये. अब तो हम वार्ता करेंगे. हम जो बात करेंगे, उसमें यदि किसी को आशंका उत्पन्न

---

* शनिवार, ५ जनवरी, १८२१.

हो जाय, तो उसे पूछ लेना. इतना कहकर वे बोले कि भगवान के स्वरूप को यथार्थ रूप से समझकर निश्चय करना अत्यन्त कठिन है. उस निश्चय की बात भी बड़ी अटपटी है. भगवान जब मनुष्यरूप में पृथ्वी पर प्रकट हों तब उनके स्वरूप की वार्ता करने में संकोच होता है, क्योंकि भगवान के इस स्वरूप में किसी दूसरे से अपनी बुद्धि से इसके सम्बन्ध में जो-जो भाव माना गया होगा, वह भाव अगर इस बात से टल जाय, तो उसे भ्रान्ति होगी और वह सत्संग से अलग हट जायगा. फिर भी यह बात करने की आवश्यकता है. भगवान के स्वरूप को समझने में अपरिपक्वता न रहने देने के लिये ही हम यह वार्ता कहते हैं.

भगवान ने जब वराह-अवतार धारण किया तब वह देहभाव से अत्यन्त कुरूप था. जब उन्होंने मत्स्यावतार धारण किया तब वह मत्स्य के समान था. कच्छपावतार के समय उनका रूप कछुवे की तरह था. नृसिंहावतार के समय उनका रूप बाघ के समान भयानक था. वामनावतार धारण करते समय उनका रूप बौने आदमी की तरह था, उनके हाथ-पैर छोटे तथा कमर, तोंद और शरीर मोटा था. जब उन्होंने व्यासावतार धारण किया, तब वे काले थे, शरीर में बहुत-से रोएँ थे और उनकी देह में से दुर्गन्ध आ रही थी. उन अवसरों पर जिन लोगों ने उनके जैसे-जैसे रूपों के दर्शन किये, वैसे-वैसे रूपों का ही उन्होंने ध्यान किया है. इस प्रकार के ध्यान द्वारा वे भगवान के [१]रूप को ही प्राप्त हुए हैं.

तब यह प्रश्न उठता है कि उनमें जिन्होंने वराह को देखा, वे क्या धाम में भगवान को वराह-रूप में ही देखते हैं ? जिन्हें मत्स्यरूप दिखायी पड़ा, वे धाम में क्या भगवान को मत्स्य-रूप में ही देखते हैं ? जिन्होंने कच्छप-स्वरूप देखा, वे क्या धाम में भगवान को कच्छप रूप में ही देखते हैं ? जिन्होंने नृसिंहजी के दर्शन किये, वे धाम में क्या नृसिंह-रूप ही देखते हैं ? हयग्रीव को देखनेवाले क्या धाम में घोड़े का रूप ही देखते हैं ?

जिसने वराह का पति-भाव से भजन किया, वह क्या सुअरी हुई और सखा भाव से भजनेवाला क्या सुअर हो गया ? मत्स्य को पति-भाव से भजनेवाली क्या मछली हुई और सखा-भाव से भजनेवाला क्या मच्छ हुआ ? कछुवे को पति-भाव से भजनेवाली क्या कच्छपी हुई और मित्र-भाव

---

१. साधर्म्य.

से भजनेवाला क्या कछुवा हुआ ? नृसिंह को पति-भाव से भजनेवाली क्या सिंहनी हुई और सखा-भाव से भजनेवाला क्या सिंह हुआ ? हयग्रीव को पति-भाव से भजनेवाली क्या घोड़ी हुई और सखाभाव से भजनेवाला क्या घोड़ा हुआ ? यदि भगवान के मूलरूप वराह आदि के समान ही हों, तब तो उन-उन अवतारकालीन भक्तों को उनका ध्यान करने से तादात्म्य-भाव प्राप्त हो जाना चाहिये, परन्तु यह बात ऐसी नहीं है.

तब आप यह पूछेंगे कि 'उन भगवान का स्वरूप कैसा है ?' सुनिये, वही बात बताते हैं कि भगवान तो सच्चिदानन्दरूप तथा तेजोमयमूर्ति हैं. उनके एक-एक रोम में कोटि-कोटि सूर्यों जैसा प्रकाश रहता है. वे करोड़ों कामदेवों तक को लज्जित करने की सामर्थ्य रखते हैं. ऐसे सौन्दर्यवान भगवान अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के अधिपति, राजाधिराज, सबके नियन्ता, सबके अन्तर्यामी तथा अतिशय सुख के स्वरूप हैं. उस सुख के आगे अनन्त रूपवती स्त्रियों को देखने का सुख भी तुच्छ हो जाया करता है. इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी पंचविषयों के सुख भगवान की मूर्ति के दर्शन करने से प्राप्त होनेवाले सुख के आगे तुच्छ हो जाते हैं. ऐसा है भगवान का स्वरूप. यद्यपि वह स्वरूप सर्वदा द्विभुज ही रहता है, फिर भी वे स्वेच्छा से कभी चतुर्भुज, कभी अष्टभुज और कभी सहस्रभुज भी दीख पड़ते हैं. वे ही भगवान किन्ही कार्यों को सम्पन्न करने के लिये मत्स्यकच्छपवराहादि रूपों और रामकृष्णादि अवतारों को धारण करते हैं. फिर भी, वे अपने मूल स्वरूप को छोड़कर अवतार धारण नहीं किया करते. वे ही भगवान स्वयं अनन्त ऐश्वर्य तथा अनन्त शक्ति के सहित ही मत्स्यकच्छपादि रूपों को धारण करते हैं. जिस कार्य के निमित्त वे जिस शरीर को धारण करते हैं, उसके पूर्ण हो जाने पर वे उस शरीर का त्याग भी कर डालते हैं. यही बात भागवत में भी बतायी गयी है :–

'भूभारः क्षपितो येन तां तनुं विजहावजः ।
कण्टकं कण्टकेनैव द्वयं चापीशितुः समम् ॥'

भगवान ने जिस-जिस देह द्वारा पृथ्वी का भार उतारा तथा जीवों के देहाभिमानरूपी चैतन्य में गड़े हुए काँटे को निकालकर और निकाले जानेवाले कंटकरूपी स्वदेह का भी परित्याग कर दिया तथा राक्षस को मारने के लिये नृसिंहरूप धारण किया, बाद में उस कार्य को करने के पश्चात्

उस देह का त्याग करने की इच्छा की, परन्तु उस सिंह को कौन मारे ? बाद में उनकी इच्छा से काल-रूप शिव परमेश्वर का रूप धारण करके आये. तब नृसिंह तथा शरभ का युद्ध हुआ. बाद में दोनों ने देहोत्सर्ग कर दिया. इसके परिणामस्वरूप शिव शरभेश्वर महादेव हुए और जहाँ नृसिंहजी ने देह-त्याग किया वहाँ नारसिंही शिला हुई. इसलिए, चित्रों में जहाँ-जहाँ भगवान के मत्स्यकच्छपादि अवतारों का चित्रण किया जाता है, वहाँ-वहाँ मत्स्यकच्छपादि के थोड़े आकार अंकित करने के पश्चात् उन पर शंख, चक्र, गदा, पद्म, वैजयन्ती माला, पीताम्बर वस्त्र, किरीट-मुकुट, श्रीवत्सचिह्न आदि चिह्नों सहित भगवान की मूर्ति को चित्रांकित किया जाता है, क्योंकि भगवान का स्वरूप ऐसा ही है.

श्रीकृष्ण भगवान ने अपने प्रथम जन्म के समय वसुदेव-देवकी को चतुर्भुज-रूप में दर्शन दिया था, अक्रूर को चतुर्भुज-रूप का दर्शन जल में दिया, रुक्मिणी को मूर्च्छावस्था में भी चतुर्भुज-रूप से दर्शन दिया तथा अर्जुन ने भी ऐसा कहा कि –

'[1]तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन,
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते !'

इस प्रकार अर्जुन भी चतुर्भुज-रूप को देखा करते थे और यादवों के संहार के बाद जब श्रीकृष्ण भगवान पीपल वृक्ष के नीचे बैठे थे, उस समय उद्धवजी तथा मैत्रेय ऋषि ने शंख, चक्र, गदा, पद्मसहित पीताम्बरधारी भगवान का चतुर्भुज स्वरूप देखा था. श्रीकृष्ण भगवान तो श्यामवर्ण के थे, परन्तु उनका रूप तो करोडों कामदेवों तक को लज्जित करनेवाला है. इस प्रकार, वे मनुष्य-सदृश दिखायी पड़ते हैं, फिर भी उनमें ही पूर्वोक्त प्रकाश एवं दिव्य सुख रहे हैं. जिस भक्त को ध्यान, धारणा आदि अष्ट अंगों से समाधि सिद्ध हुई हो, उसको भगवान की मनुष्यमूर्ति कोटि-कोटि सूर्यों के प्रकाश से परिपूर्ण दिखायी पड़ती है, परन्तु मशाल और दीपक का काम नहीं पड़ता.

ऐसा प्रकाश उन भगवान में है, तो भी वह नहीं दिखायी पड़ता. यह तो भगवान की ऐसी इच्छा है. यदि भगवान की इच्छा हो जाय कि 'मैं इस

---

१. अर्थ- 'हे सहस्रबाहो ! हे विश्वमते ! आप वही चतुर्भुजरूप धारण करिये.'

भक्त को ऐसा प्रकाशवान दिखायी पड़ें, तभी वह ऐसी प्रकाशयुक्त मूर्ति को देख पाता है. जिसे भगवान के स्वरूप के सम्बन्ध में ऐसा निश्चय हो जाता है, वह तो ऐसा मानता है कि ये भगवान गोलोक, वैकुंठ, श्वेतद्वीप, ब्रह्मपुर धामों के ऐश्वर्यों, समृद्धि तथा पार्षदों के सहित रहते हैं तथा राधिका, लक्ष्मी आदि इनकी सेवा करती हैं. इस प्रकार के पुरुष भगवान को ऐसे परमभाव के साथ देखते हैं, किन्तु मूर्ख मनुष्य-सदृश देखते हैं. श्रीकृष्ण भगवान ने यही बात गीता में भी बतायी है :—

'[१]अवजानन्ति मां मूढाः मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥'

मूढ़ पुरुष भगवान के ऐसे परमभाव को जाने बिना भगवान में अपने समान मनुष्य-भाव की कल्पना किया करते हैं.

यह मनुष्य-भाव क्या है ? काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आशा तथा तृष्णा आदि अन्तःकरण के भाव हैं और हाड़, चाम, मलमूत्रादि तथा जन्म, मरण, बाल्यकाल, यौवन और वृद्धावस्था आदि जो देहभावरूपी मनुष्य-भाव हैं, उनकी कल्पना ऐसे पुरुष भगवान में किया करते हैं. ऐसे भावों की कल्पना करनेवालों को यदि भगवान के स्वरूप के सम्बन्ध में निश्चय-सा प्रतीत रहता हो तो भी उनका निश्चय अपरिपक्व रहता है और सत्संग में उनका पतन निश्चित रूप से हो जायगा.

वे भगवान तो परम दिव्यमूर्ति हैं और उनमें लेशमात्र भी मनुष्य-भाव नहीं है. इसलिए, उन भगवान में से मनुष्य-भाव को दूर करके देवभाव, 'इसके पश्चात् ब्रह्मादि का भाव, बाद में प्रधानपुरुष का भाव, इसके पश्चात् प्रकृतिपुरुष का भाव और बाद में अक्षर का भाव लाना चाहिये. इसके पश्चात् अक्षरातीत पुरुषोत्तम का भाव आता है. जैसे ब्रज के ग्वालों को आश्चर्यरूप श्रीकृष्ण भगवान के चरित्रों को देखकर पहले तो देवभाव हुआ, इसके पश्चात् गर्गाचार्य के वचनों का स्मरण करके नारायणभाव उत्पन्न हुआ. तब उन्होंने यह कहा कि 'आप तो नारायण हैं, इसलिए आप

---

१. अर्थः 'अपने किये हुए पापकर्मों के कारण मूढ़ पुरुष मेरे परमभाव को नहीं जानकर समस्त भूतों के महेश्वर तथा परम करुणापूर्वक सबके समाश्रय के लिये मनुष्यशरीर में स्थित मुझ भगवान की अवज्ञा करते हैं, अर्थात् वे मुझे प्राकृत मनुष्य तथा सजातीय मानकर मेरा तिरस्कार किया करते हैं.'

हमें अपना धाम दिखलाइये.' तब भगवान ने उन्हें अक्षरधाम दिखाया. इस प्रकार, भगवान में जिसे दिव्यभाव रहता है, उसका निश्चय परिपक्व समझना चाहिये.

जो पुरुष यह कहता है कि 'उसे भगवान सम्बन्धी निश्चय पहले नहीं था, अब हुआ है,' तो क्या इसका यह अर्थ है कि क्या वह भगवान को पहले नहीं देखता था ? वह उन्हें देखता तो था, किन्तु मनुष्य-भाव से देखता था. बाद में जब उसे निश्चय हो गया, तब उसने दिव्यभाव से भगवान के दर्शन किये. ऐसा होने पर ही यह जान लेना चाहिये कि उसे निश्चय हो चुका है.

जब तक वह भगवान में ऐसे भक्तिभाव की अनुभूति नहीं कर लेता, तब तक उसको बात-बात में बुरा लगता है और वह भगवान में समय-समय पर गुण और दोष देखा करता है और यह समझता है कि 'भगवान इसका पक्ष लेते हैं और हमारा ध्यान नहीं रखते, इसको अधिकाधिक बुलाते हैं और हमें नहीं बुलाते, इस पर अधिक स्नेह रखते हैं, किन्तु हमसे स्नेह नहीं करते.' इस प्रकार वह गुण और दोष की कल्पना करता रहता है. इस कारण उसका अन्तःकरण दिन-प्रतिदिन विचलित होता रहता है. अन्त में वह विमुख हो जाता है. इसलिए, न तो भगवान में ही मनुष्यभाव देखना चाहिये और न भगवान के भक्तों में ही मनुष्यभाव की कल्पना करनी चाहिये कि भगवान के भक्तो में दैहिक रूप से कोई अन्धा, कोई लंगड़ा, कोई कोढ़ी, कोई बहरा, कोई बूढ़ा और कोई कुरूप होता है, और ये सभी देहत्याग करते हैं, तो क्या भगवान के धाम में ऐसे अन्धे और लंगड़े पुरुष ही रहते हैं ? वस्तुतः ऐसे पुरुष नहीं रहते. ये तो सब मनुष्यभाव हैं. वास्तव में इनका परित्याग कर पुरुष दिव्य रूप हो जाता है-ब्रह्मरूप प्राप्त कर लेता है. इस प्रकार, जब हरिभक्त तक में मनुष्यभाव की धारणा नहीं हो सकती, तब परमेश्वर में उसकी कल्पना किस तरह की जा सकती है ?

इस बात को भले ही आज ही समझ लीजिये और चाहे सौ वर्षों में समझिये, तब भी उसे वैसा ही समझना है. इस बात को दृढ़तापूर्वक अवश्य समझ लेना चाहिये. इसलिए, समस्त हरिभक्तों का यह कर्तव्य है कि वे हमारी इस बात का स्मरण करते रहें और आपस में इसकी चर्चा किया करें. जब किसी को अज्ञानवश कुछ बुरा लग जाय, तब उसे यह

बात कहकर सावधान कर देना चाहिये. हमारी इस बात को नित्यप्रति दिन में एक बार करते रहना चाहिये, ऐसी हमारी आज्ञा है. इसे भूलना नहीं. इसे निश्चित रूप से विस्मृत नहीं करना.' इतना कहकर श्रीजीमहाराज समस्त हरिभक्तों से 'जय स्वामिनारायण' कहकर हँसते हुए अपने निवासस्थान पर पधारे. इस प्रकार श्रीजीमहाराज की वार्ता को सुनकर सभी साधुओं तथा हरिभक्तों ने श्रीजीमहाराज को समस्त अवतारों का कारण अर्थात् अवतारी जानकर उनके स्वरूप में दिव्यभाव को अत्यन्त सुदृढ़ बना लिया.

॥ इति वचनामृतम् ॥१८॥ ॥१२६॥

॥ श्रीलोया-प्रकरणं समाप्तम् ॥

।। श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ।।

श्रीपंचाला प्रकरण के वचनामृत

वचनामृत १ : 'भगवान सदा साकार हैं'

संवत् १८७७ में फाल्गुन शुक्ल *चतुर्थी को श्रीजीमहाराज श्रीपंचाला ग्रामस्थित झीणाभाई के राजभवन में चबूतरे पर पलंग बिछवाकर विराजमान थे. उन्होंने मस्तक पर सफेद फेंटा बाँधा था, श्वेत अंगरखा पहना था, सफेद दुपट्टा धारण किया था, श्वेत पिछौरी ओढ़ी थी और मस्तक के फेंटा का पेच दायीं ओर लटक रहा था. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस समय सन्ध्याकालीन आरती हो चुकी थी. श्रीजीमहाराज तकिया पर विराजमान होकर बोले कि 'हम आप सब बड़े परमहंसों तथा बड़े हरिभक्तों से प्रश्न पूछते हैं कि 'भगवान के प्रति प्रेम और धर्म में दृढ़ता होने पर भी यदि कोई भक्त विचारवान न हो, तो अतिश्रेष्ठ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक पंचविषय बहुत बुरे शब्दादिक पंचविषयों के समान नहीं माने जाते अथवा उनसे कुत्सित विषयों के समान नहीं होते. इसलिए, विचारणीय बात यह है कि किस प्रकार का विचार प्राप्त करने पर अति श्रेष्ठ पंचविषय अतिशय कुत्सित पंचविषयों के समान हो जायँ ?' आप लोगों में से जिस-जिसने जिस विचार द्वारा उन श्रेष्ठ पंचविषयों को कुत्सित पंचविषयों के समान जाना हो अथवा अत्यन्त बुरा माना हो, उसे यह विचार हमें बताना चाहिये.'

उन समस्त परमहंसों तथा हरिभक्तों ने अपने-अपने विचार प्रकट किये. तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'आप सबके विचार तो हमने सुन लिये, अब हम आपको अपना विचार बताते हैं. जब परदेश से किसी का कोई पत्र आता है तब पत्रलेखन की बुद्धि का पता चल जाता है. जैसे पाँच पाँडवों, द्रौपदी, कुन्तीजी तथा रुक्मिणी, सत्यभामा एवं जांबवती आदि भगवान की पटरानियों तथा भगवान के सांब नामक पुत्र आदि भक्तों के

---

* गुरुवार, ३ मार्च, १८२१.

रूपों एवं वचनों का उल्लेख शास्त्रों में किया गया है. उनका श्रवण करने से उनके रूपों का प्रमाण दर्शन समान ही होता है और उनके वचनों से उनकी बुद्धि का प्रमाण मिलता है, वैसे ही पुराणों तथा महाभारत आदि ग्रन्थों द्वारा यह सुना जाता है कि भगवान ही इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कर्ता हैं तथा सदा साकार हैं. यदि वे साकार नहीं हों, तो उनमें कर्तृत्व रहने की बात नहीं कही जा सकती. जो अक्षरब्रह्म है, वह तो उन भगवान के रहने का धाम है. ऐसे दिव्य मूर्ति, प्रकाशमय, सुखरूप भगवान प्रलयकाल में कारणशरीर सहित माया में लीन रहे हुए जीव को उत्पत्तिकाल में बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन तथा प्राण उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ विषयों के भोग तथा मोक्ष के लिये अर्पण करते हैं. अतएव, उन भगवान ने ही उन जीवों के लिये ऐसे भोगों एवं भोगप्रद स्थानों की रचना की है. उनमें उन्होंने जो उत्तम पंचविषय उत्पन्न किये हैं, वे बुरे पंचविषयजन्य दुःखों के परित्याग के लिये हैं.

जैसे कोई बड़ा साहूकार (धनवान पुरुष) गरीबों की भलाई के लिये सड़क की दोनों ओर छाया के लिये वृक्षारोपण करता है, पानी पिलाने के लिये जगह-जगह प्याऊ की व्यवस्था करता है, खाने की चीजें देने के लिये खाद्यान्न-भंडार खुलवाता है और ठहरने के लिये धर्मशाला बनवाता है, वैसे ही ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्रादि देव तो उन भगवान के सामने संवत् १८४७ में पड़े अकाल के समय के उन दीनजनों जैसे हैं, जो पीपल वृक्ष के फल पकाकर खाते रहे हैं. उन ब्रह्मादि देवों तथा मनुष्यों के सुख के लिये भगवान ने ऐसे उत्तम पंचविषयों की रचना की है. ऐसा लगता है कि जिन धनवान पुरुषों ने गरीबों की सुविधा के लिये भोजनालय (सदाव्रत) तथा धर्मशाला आदि की व्यवस्था कर रखी है उनकी अपेक्षा उनके घरों में अति-उत्तम सुख होंगे, वैसे ही बुद्धिमान पुरुष को इस बात की जानकारी हो जाती है कि उन भगवान ने ब्रह्मादि देवों के लिये जैसे सुखों की व्यवस्था की है उनकी अपेक्षा भगवान के धाम में उपलब्ध सर्वोत्कृष्ट सुखों का आभास हो जाता है. इस कारण अच्छे विषय भी बुरे मालूम होने लगते हैं.

संसार में पशुओं, मनुष्यों, देवताओं तथा भूतों आदि में जहाँ कहीं भी पंचविषयों सम्बन्धी जो सुख दिखायी पड़ता है, वह सुख धर्मसहित भगवान

वचनामृत २ : सांख्य योग

संवत् १८७७ में फाल्गुन शुक्ल *सप्तमी को श्रीपंचाला ग्राम-स्थित झीणाभाई के राजभवन में चबूतरे पर पलंग बिछा हुआ था. उस पर श्रीजीमहाराज विराजमान थे. उन्होंने सिर पर श्वेत फेंटा बाँधा था, सफेद दुपट्टा धारण किया था तथा श्वेत पिछौरी ओढ़ी थी. उस समय श्रीजीमहाराज के मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'मोक्षधर्म की पुस्तक मँगवाइये, तो सांख्य के अध्याय तथा योग के अध्याय की कथा करवायेंगे. इस वचन को [1]सुनकर पुस्तक मँगवायी गयी.' नित्यानन्द स्वामी ने कथा करना प्रारम्भ किया. श्रीजीमहाराज बोले कि 'योगमत में जीव और ईश्वर तत्त्व को पच्चीसवाँ कहते हैं और परमात्मा को छब्बीसवाँ बताते हैं. सांख्यमत में चौबीस तत्त्वों में जीव और ईश्वर की गणना करते हैं और पच्चीसवाँ परमात्मा को कहते हैं. उनमें योगमतानुयायियों का ऐसा मत है कि आत्मा-अनात्मा के सम्बन्ध में चाहे कैसा ही विचार करें, साधना करें, परन्तु प्रत्यक्ष भगवान का आश्रय ग्रहण किये बिना मोक्ष नहीं होता. सांख्यमत का यह सिद्धान्त है कि जो पुरुष देवमनुष्यादि की [2]गतियों को जानकर और विषयों मे वैराग्य प्राप्त करके तीन देहों से परे आत्मा को जान लेता है, तभी वह मुक्त हो सकता है. ये दो प्रकार के जो मत हैं, उनमें जो दूषण है उसका निवारण करने के लिये युक्ति ग्रहण करनी चाहिये.

योगमत में यह दूषण है कि जीव और ईश्वर को पचीसवाँ बताया गया है तथा जीव एवं ईश्वर का भी चौबीस तत्त्वों का शरीर कहा गया है, ताकि इन दोनों में तुल्यभाव आ जाय कि स्थूल और विराट, सूक्ष्म एवं सूत्रात्मा, कारण तथा अव्याकृत, जाग्रत और स्थिति अवस्था, स्वप्न एवं उत्पत्ति अवस्था, सुषुप्ति और प्रलय अवस्था, विश्व-तेजस और प्राज्ञ तथा विष्णु, ब्रह्मा और शिव तुल्य हैं. ऐसा समझकर वे छब्बीसवें परमात्मा को

---

* रविवार, १० मार्च, १८२१.

१. शुकानन्दमुनि से.

२. काल से अन्यथा होनेवाली अवस्थाएँ.

भजते हैं. इस प्रकार जीव और ईश्वर में तुल्यभाव रूप से दोष है, उसे टालने के लिये किसी तत्त्वज्ञानी के पास से युक्ति सीखनी चाहिये कि 'ईश्वर की देह में जो पंचभूत रहे हैं, उनकी महाभूत संज्ञा है. वे भूत समस्त जीवों के शरीरों को धारण कर रहे हैं. जीव की देह में जो पंचभूत हैं, वे अल्प हैं और दूसरों को धारण करने में समर्थ नहीं हैं. जीव अल्पज्ञ है तथा ईश्वर सर्वज्ञ हैं.' ऐसी युक्ति सीखकर जीव तथा ईश्वर में समता नहीं समझनी चाहिये. यदि ऐसी युक्ति न सीखी हो और कोई प्रतिवादी प्रश्न पूछे, तो उसको उत्तर देने में कठिनाई हो सकती है तथा बुद्धि-विभ्रम हो जाता है. यदि और कोई प्रश्न करें, उसमें तो जीव और ईश्वर में समानता नहीं रहने पाती. इसलिए, ऐसी युक्ति सीखनी चाहिये, ताकि जीव और ईश्वर में समभाव न आने पावे. उसी प्रकार के वचन भी सुनने चाहिये.

सांख्यमत में यह दोष है कि 'उसमें चौबीस तत्त्व कहे गये हैं तथा परमात्मा को पचीसवाँ तत्त्व बताया गया है. उन चौबीस तत्त्वों को मिथ्या कहा गया है और परमात्मा को सत्य बताया गया है. तब, उन परमात्मा को कौन प्राप्त करता है ? क्योंकि, उन्हें प्राप्त करनेवाले जीव को तत्त्वों से भिन्न नहीं कहा गया है, अतएव, इस दोष को मिटाने के लिये किसी तत्त्वज्ञानी से युक्ति सीखनी चाहिये कि जो ये चौबीस तत्त्व कहे गये हैं, वे जीव-विहीन नहीं हो सकते. इसलिए, उन तत्त्वों के साथ ही जीव और ईश्वर को बताया गया है. वे जीव और ईश्वर उन तत्त्वों से पृथक् हैं तथा परमात्मा को पाते हैं. यदि यह युक्ति न सीखी हो और कोई प्रतिपक्षी प्रश्न पूछ बैठे, तो यह संशय हो जाता है कि 'तत्त्व तो मिथ्या हैं.' तब परमात्मा को प्राप्त करने के लिये ब्रह्मचर्य आदि जो धर्म बताये गये हैं तथा श्रवण, मनन और निदिध्यास आदि जो साधन कहे गये हैं, उन्हें किस प्रयोजन से कहा गया है ? इसलिए, तत्त्वों के [1]तादात्म्य-भाव को प्राप्त जीव एवं ईश्वर को तत्त्वरूप में बताया गया है. परन्तु, वे [2]तत्त्वों से अतिविलक्षण हैं और वे परमात्मा को प्राप्त करते हैं. सांख्यमतानुयायियों को ऐसी युक्तियाँ बड़े सन्त से सीखनी चाहिये.

योगमतानुयायी तो ऐसी युक्ति ग्रहण करते हैं कि 'भगवान के प्रत्यक्ष

---

१. लौह-पिंड में अग्नि के समान तादात्म्य-भाव.

२. तत्त्वों के प्रकाशक भाव द्वारा.

मूर्तिमान मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, राम तथा कृष्णादिक जो अवतार हैं, उनका ध्यान करने से मोक्ष हो जाता है.' सांख्यमतानुयायी तो यह युक्ति ग्रहण करते हैं कि '[१]**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**' इत्यादि 'श्रुतिशास्त्रों द्वारा भगवान का जो स्वरूप बताया गया है, उसका अनुभव से यथार्थ रूप में ज्ञान होने पर ही मोक्ष होता है.' ये दोनों मत [२]अच्छे हैं और [३]तत्त्वज्ञानियों ने इन्हें मान्य किया है. जो पुरुष इन दोनों मतों का यथार्थ रूप से पालन करता है उसे परमगति की प्राप्ति हो जाती है. इन दोनों मतों में साधन समान बताये गये हैं. परन्तु, उपासना की रीति समान नहीं है, वह तो अत्यन्त पृथक् है.'

ऐसी वार्ता कहने के बाद श्रीजीमहाराज परमहंसों से बोले कि 'अब तो कीर्तन करिये.' इसके पश्चात् मुक्तानन्द स्वामी आदि परमहंस वाद्ययन्त्र लेकर कीर्तन करने लगे. बाद में श्रीजीमहाराज पुनः बोले कि 'अब कीर्तन बंद करिये. जब तक आप कीर्तन करते रहे थे तब तक हमने सांख्य तथा योग के सिद्धान्तों पर विचार किया, उन्हें सुनिये. योगमतानुयायियों का मन्तव्य यह है कि आत्यन्तिक प्रलय के समय अक्षरधाम में भगवान की जो तेजोमय दिव्यरूप मूर्ति रही है वह ध्यान करने योग्य है. उससे [४]बढ़कर प्रकृतिपुरुषरूप भगवान ध्यान करने योग्य हैं. [५]उसके पीछे प्रकृत्ति-पुरुष के कार्यमूलक चौबीस तत्त्वरूपी भगवान ध्यान करने योग्य हैं. उसके बाद हिरण्यगर्भ और उसके पश्चात् चौबीस तत्त्वों से उत्पन्न विराट ध्यान करने योग्य हैं. उसके बाद ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा पृथ्वी पर अवतरित भगवान के मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, वराहादि अवतार एवं शालिग्राम आदि प्रतिमाएँ ध्यान करने योग्य हैं. ऐसा योगमत का तात्पर्य है और सांख्यमत में यह विचार ज्ञात हुआ कि उसमें आकारमात्र का खंडन कर दिया गया है और ऐसा प्रतीत हुआ कि 'इस सबका विचार करनेवाला जो यह जीव है, उसके समान अन्य कोई शुद्ध नहीं है, इसलिए जीव का ध्यान करना ठीक है.'

---

१. अर्थः – मनसहित वाणी परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकती है, अर्थात् परमात्मा मन और वाणी से अगोचर हैं.

२. पाशुपतादिक मत की अपेक्षा.

३. व्यास आदि मुनियों ने.

४. अर्वाचीन.

५. क्योंकि उनमें भगवान पुरुषोत्तम का अन्वय है.

सांख्यमत के ऐसे विचार का समाधान करने के लिये पुनः योगमत का आश्रय लिया कि ऐसे परात्पर पुरुषोत्तम भगवान का प्रकृतिपुरुषादि में अन्वय-भाव है. इसलिए, वे सब भगवान ही हैं और दिव्यरूप, सत्य एवं ध्येय हैं.

इस बात को सुदृढ़ करने के लिये श्रुति है कि '[1]**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**', '[2]**नेह नानास्ति किंचन**' तथा '[3]**इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसंभवाः ।**' इस प्रकार के योगमार्ग का अनुसरण करनेवाले मुमुक्षु के मार्ग में कोई विघ्न उपस्थित नहीं होता, क्योंकि वह स्थूल मार्ग है और उसमें प्रत्यक्षमूर्ति भगवान का आलम्बन है. इसलिए, सामान्य प्रकार का मुमुक्षु भी उस मार्ग द्वारा निर्विघ्न होकर मोक्ष को प्राप्त होता है.

परन्तु, उस मार्ग में एक दोष है कि उन सबसे परे जो पुरुषोत्तम भगवान हैं, उन्हें तथा प्रकृतिपुरुषादि को अंश-अंशीभाव आ जाता है. उदाहरणार्थ – 'भगवान के अंश प्रकृति-पुरुष हैं तथा उनके अंश हिरण्यगर्भ और विराट आदि हैं.' यदि इस प्रकार समझा जाय, तो बड़ा दोष होता है, क्योंकि भगवान अच्युत, निरंश, निर्विकार, अक्षर एवं अखंड हैं. अतएव, ऐसा दोष नहीं आने देना चाहिये कि उनमें च्युत तथा अंशअंशी भाव आता है. इसलिए, ऐसे दोष को दूर कर देना चाहिये और ऐसा समझना चाहिये कि 'उन भगवानसदृश तो भगवान ही हैं तथा अन्य प्रकृतिपुरुष आदि तो उनके भक्त हैं और उनका ध्यान करते हैं. इसलिए, वे भी भगवानरूप हैं. जैसे कोई बड़े सन्त हों और वे भगवान का ध्यान करते हों, तो उन्हें भगवानरूप माना जाता है, वैसे ही वे प्रकृतिपुरुषादि भी भगवानरूप हैं, और उन सबसे परे पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्धरूप होते हैं तथा राम, कृष्ण आदि अवतारों को ग्रहण करते हैं, इसलिए वे ही ध्यान करने योग्य हैं.' यदि ऐसा समझा जाय, तो यह योगमार्ग अतिशय निर्विघ्न तथा श्रेष्ठ है.

---

१. अर्थ – यह समस्त जगत ब्रह्म-ब्रह्मात्मक है.

२. अर्थ – इस जगत में कोई भी भिन्न नहीं है, समस्त जगत ब्रह्मात्मक है.

३. यह समग्र विश्व भगवानरूप है, भगवानस्वरूप स्वभाव से विश्व से विलक्षण है तथा यह कि भगवान से जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है, अर्थात् भगवान से जगत की उत्पत्ति आदि होती है, इसलिए जगत भगवान है, ऐसा कहा जाता है वस्तुत भगवान विश्व से विलक्षण हैं

सांख्यमत में यह दोष है कि वह ऐसा कहता है कि 'अन्तःकरण तथा इन्द्रियों द्वारा जो-जो पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं वे सब मिथ्या हैं तथा अनुभव द्वारा जो कुछ ग्रहण किया जाता है वह सब सत्य है.' इस प्रकार, वह आकारमात्र को मिथ्या कर डालता है तथा उसके साथ जीव के कल्याण के लिये प्रकट हुए भगवान के रूप को और अनिरुद्ध, प्रद्युम्न एवं संकर्षण के रूपों को भी मिथ्या कर देता है और केवल निर्गुण वासुदेव को ही ग्रहण करता है. ऐसा यह बड़ा दोष है. इसलिए वे सांख्यमतानुयायी यदि ऐसा समझ लें तो ठीक रहेगा कि 'सांख्यविचार को ग्रहण करके प्रकृतिपुरुष से जो-जो उत्पन्न हुआ उसे मिथ्या करके अपनी आत्मा को सबसे पृथक् शुद्ध ब्रह्मरूप मानने के बाद जीव के कल्याण के लिये प्रकट हुए भगवान के रूप को सत्य जानकर उनका ध्यान करना चाहिये.' दो प्रकार के जो ऐसे जो विचार हैं उन्हें कोई भी यदि हमारे जैसे बुद्धिशालियों के साथ सीखेगा, तो तभी वे समझ में आ सकते हैं, अन्यथा शास्त्रों को पढ़ने और सुनने पर भी ये समझ में नहीं आ पाते. यथार्थतः बात तो ऐसी है कि प्रथम सांख्यविचार द्वारा जो ब्रह्मरूप हुआ हो, उसके लिये योग का यह उपदेश बताया गया है कि –

'[१]ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥'

तथा

'[२]आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥'
'[३]परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया ।
गृहीतचेता राजर्षे ! आख्यानं यदधीतवान् ॥'

---

१. लोया के सातवें वचनामृत की टिप्पणी में इस श्लोक का अर्थ दिया गया है.
२. अर्थः– आत्माराम तथा रागद्वेषादिरूप ग्रन्थियों से रहित मुनि भी भगवान की निष्काम भक्ति करते हैं. ऐसे भगवान में कारुण्य, सौशील्य एवं वात्सल्यादि गुण रहे हैं.
३. अर्थः– हे राजर्षे! सत्त्वादि गुणों के कार्यभूत तीन देहों से विलक्षण आत्मस्वरूप में सम्यक् रूप से निष्ठा प्राप्त करके भी मैं (शुक) उत्तमश्लोक भगवान की लीला से आकृष्ट होकर श्रीमद् भागवत को पढ़ता था.

इस प्रकार सांख्यमत को योग की अपेक्षा रहती है, क्योंकि ये सांख्यमतानुयायी विचार करके अपनी आत्मा से व्यतिरिक्त इन पँच इन्द्रियों तथा चार अन्तःकरणों द्वारा भोग्य विषयभोगों को अतिशय तुच्छ जानते हैं. इसीलिए, वे किसी भी पदार्थ के बन्धन में नहीं रहते. जब कोई उनके पास आकर यह कहता है कि 'यह पदार्थ तो बहुत अच्छा है,' तब वे ऐसा विचार करते हैं कि यह पदार्थ 'चाहे कितना ही अच्छा होगा, फिर भी यह इन्द्रियों तथा अन्तःकरण द्वारा ग्राह्य होगा. अतएव, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण द्वारा ग्राह्य पदार्थ तो असत्य और नाशवान है.' ऐसी दृढ़ समझ सांख्यमतानुयायियों में रहा करती है और वे अपनी आत्मा को शुद्ध मानते हैं. ऐसे सांख्यमतानुयायियों को योगमार्ग द्वारा भगवान की उपासना, ध्यान तथा भक्ति करनी चाहिये. यदि वे ऐसा नहीं करते हैं, तो उनमें अतिन्यूनता आती है.

इस प्रकार सांख्यशास्त्र तथा योगशास्त्र के जो सनातन सिद्धान्त हैं, उन पर हमने यथार्थ रूप से विचार करके उन्हें बताया है. जो आधुनिक योग और सांख्यमतानुयायी हैं, उन्होंने तो इन दोनों मार्गों को दूषित कर दिया है. जो योगमतानुयायी हैं, वे जब भगवान को साकार समझते हैं तब वे अन्य जीवों तथा ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं रामकृष्णादि अवतारों के समान भगवान के आकार को मानते हैं, और सांख्यमतानुयायी जब आकार को मिथ्या समझते हैं तब वे तीर्थ, व्रत, प्रतिमा, यम, नियम, ब्रह्मचर्यादि धर्म तथा ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं रामकृष्णादि अवतारों का भी खंडन कर डालते हैं. इसलिए, ये आधुनिक सांख्य और योगमतानुयायी इन दोनों मार्गों को छोड़कर कुमार्गगामी हो जाते हैं. इस कारण वे नारकी होते हैं.'

॥ इति वचनामृतम् ॥२॥ ॥१२८॥

वचनामृत ३ : स्नेह द्वारा भगवान का भजन

संवत् १८७७ में फाल्गुन शुक्ल *अष्टमी को श्रीजीमहाराज श्रीपंचाला ग्राम में झीणाभाई के राजभवन में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत फेंटा बाँधा था, सफेद दुपट्टा धारण किया था और श्वेत दोहर ओढ़ी थी.

* सोमवार, ११ मार्च, १८२१.

उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'सब परमहंस परस्पर प्रश्नोत्तर-कार्यक्रम करें.' तब मुनिबाबा ने ब्रह्मानन्द स्वामी से प्रश्न पूछा कि 'ऐसे सत्संग तथा भगवान का योग मिला है, अन्य समस्त विकार भी नष्ट हो गये हैं, और सत्संग की इच्छा होने पर भी मान, ईर्ष्या के भाव क्यों रह जाते हैं ?'

ब्रह्मानन्द स्वामी इसका उत्तर देने लगे, किन्तु यथार्थ उत्तर न दे सके. बाद में श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो [१]ऐसा पुरुष होता है, उसमें बुद्धि नहीं होती. जो पुरुष बुद्धिमान होता है, वह अपने सभी अवगुणों और गुणों को भी जानता है. उसे दूसरे के गुणों तथा अवगुणों की भी जानकारी रहती है. परन्तु, बुद्धिहीन पुरुष केवल अपने गुणों को ही जानता है, अवगुणों को नहीं. ऐसा पुरुष स्वयं को सनकादिसदृश मानता है और अन्य महान सन्तों को अपने से हीन समझता है. बुद्धिमान पुरुष अपने अवगुणों को जानता है कि 'मुझमें इतने अवगुण हैं.' इसके पश्चात् वह उन अवगुणों पर दृष्टि रखकर उन्हें दूर कर डालता है. जब अन्य सन्त उन अवगुणों को टाल देने के सम्बन्ध में कोई वार्ता करते हैं, तो वह उसे हितकारी मानता है. इसीलिए, उसमें मान, ईर्ष्या आदि अवगुण नहीं रहते. यदि कोई बुद्धिमान हो और वह यदि अपने अवगुणों पर ध्यान न देता हो, तो उसकी बुद्धि को लौकिक मानना चाहिये. ऐसी बुद्धि बाहर से तो बहुत अच्छी दीख पड़ती है, फिर भी ऐसे पुरुष को बुद्धिमान नहीं कहा जाना चाहिये, बल्कि उसे तो अतिमूर्ख समझना चाहिये, क्योंकि उस पुरुष की ऐसी बुद्धि उसके मोक्ष के कार्य में उपयोगी नहीं होती. किसी पुरुष में यदि अल्पबुद्धि भी हो और अपने अवगुणों को जानकर उन्हें टाल देने के उपाय करता है, तो उसकी अल्पबुद्धि भी मोक्ष के लिये उपयोगी हो जाती है. वस्तुतः ऐसे पुरुष को ही बुद्धिमान कहना चाहिये, जो पुरुष कभी भी अपने अवगुणों को तो नहीं देखता और स्वयं के गुणों पर ही जिसकी दृष्टि रहती है, उसे मूर्ख कहते हैं. किन्तु, जो पुरुष अपने अवगुणों को देखता रहता है उसे बुद्धिमान कहा जाता है.'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने सबको आज्ञा दी कि वे कीर्तन करें.

---

१. मान और ईर्ष्यावाला.

तब परमहंस "[१]सखि, आज मोहन दीठा रे सेरिये आवता रे' यह कीर्तन करने लगे. तब पुनः श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब कीर्तन बन्द करें. जो यह कीर्तन किया गया, उसमें स्नेह का भाव अधिक दिखाई पड़ता है. उस स्नेह पर हमने विचार किया कि स्नेह करना एक बड़ी बात है. इस प्रकार के स्नेह द्वारा भगवान का भजन करना ही ठीक है. परन्तु, भलीभाँति विचार करने पर ऐसा मालूम हुआ कि '[२]स्नेह ही भगवान की माया है,' क्योंकि जब स्त्रियाँ परस्पर बोलती हों, देखती हों और स्पर्श करती हों, तब उसमें अन्य प्रकार का स्नेह रहता है, और पुरुष भी जब परस्पर बोले, देखे और स्पर्श करे तो उसमें दूसरे प्रकार का स्नेह रहता है, और पुरुष भी जब स्त्री को देखता हो, आलिंगन करता हो, उसकी वार्ता सुनता हो, उसके शरीर की सुगन्ध ग्रहण करता हो और उससे बात करता हो, तो उसके साथ उसका अन्य प्रकार का स्नेह रहता है और उसके फलस्वरूप स्त्री के प्रति पुरुष का मन आकर्षित हो जाता है, किन्तु वैसा स्नेह किसी पुरुष को अन्य पुरुष के प्रति नहीं होता. इसी प्रकार, जब कोई स्त्री किसी पुरुष को देखती हो या आलिंगन आदि करती हो तब उसे उसके साथ ऐसे सम्बन्ध रहने से उस पुरुष से जैसा प्रेम हो जाता है और उसका मन उसके (पुरुष के) प्रति समग्र रूप से जितना अधिक आकृष्ट हो जाता है, वैसा आकर्षण उस स्त्री को अन्य स्त्री के प्रति नहीं होता. जिससे जगत का प्रवाह होता है और जो जीव को संसृति और बन्धनयुक्त करती है, भगवान की वही माया स्नेहरूपी है.

बाद में ऐसा विचार हुआ कि 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक जो पंचविषय हैं, उन्हें यदि अन्य स्थान से मिथ्या करके एकमात्र भगवान में ही आत्यन्तिक सुख मानते हुए जोड़ दिया हो, तब तो वे ठीक हैं और माया नहीं हैं.' इसके पश्चात् उसके सम्बन्ध में यह विचार भी हुआ कि यह बात भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि यदि किसी दूसरे में भगवान के रूप से अधिक रूप, अधिक स्पर्श, अधिक रस, अधिक गन्ध तथा अधिक शब्द दीख पड़ते हैं, तो भगवान को छोड़कर उसके प्रति स्नेह हो जाता है. [३]उदाहरणार्थ – श्रीकृष्ण भगवान की सोलह हज़ार एक सौ स्त्रियाँ थीं. वे

---

१. नरसिंह मेहता रचित. देखिये परिशिष्ट ३.

२. भगवान को छोड़कर अन्य पुरुष से जो स्नेह होता है, वही.

३. यह कथा हरिवंश में है.

जन्मान्तर में अप्सराएँ थीं. उन्होंने ब्रह्मा से वर माँगा कि 'हे महाराज ! हमने देवों, दैत्यों और मनुष्यों का तो स्पर्श किया है, परन्तु नारायणपुरुष का पति-भाव से स्पर्श नहीं किया है. अतएव, ऐसी कृपा कीजिये कि वे हमारे पति हो जायँ.' तब ब्रह्मा ने कहा कि 'तुम सब तप करो, उसके फलस्वरूप नारायण तुम्हारे पति हो जायेंगे.' तब उन्होंने भारी तप किया. इसके बाद उन पर अष्टावक्र ऋषि तथा नारद मुनि प्रसन्न हो गये और उन्होंने यह वरदान दिया कि नारायण तुम्हारे पति होंगे. इस प्रकार, जन्मान्तर में उन्होंने भारी तप करके श्रीकृष्ण भगवान को प्राप्त कर लिया था. फिर भी, जब उन्होंने भगवान की अपेक्षा साम्ब में अधिक रूप देखा, तो वे उसके प्रति मोहित हो गयीं. इसीलिए, यह कहना पड़ेगा कि जिसमें स्थिर मति न रहती हो, उसे पंच इन्द्रियों के सुख-सम्बन्धों द्वारा भगवान से प्रीति करना उचित नहीं है. जिसकी मति केवल निस्तर्क भाव से रहा करती है, उसके लिये तो यह बात ठीक है.

जिसे बुद्धि हो उसे भगवान से स्नेह कैसे करना चाहिये ? सुनिये, चौबीस तत्त्वों से अपने जीव को पृथक् जानना चाहिये और उस जीव में पनपी हुई पंच इन्द्रियों की वृत्तियों को मूलतः हटा देना चाहिये तथा इन्द्रियों की वृत्तियों से मुक्त होकर जीवसत्तारूप से रहते हुए निर्गुण भाव द्वारा भगवान से यथासम्भव स्नेह करते रहना चाहिए. यह निर्गुण भाव कैसा है ? ध्यान दीजिये, दस इन्द्रियाँ रजोगुण की सम्पत्ति हैं तथा अन्तःकरण एवं देवता सत्त्वगुण की सम्पत्ति हैं और पंचभूत तथा पंचविषय तमोगुण की सम्पत्ति हैं. तीन गुणों की इन सम्पत्तियों तथा तीनों गुणों को पृथक् मानकर केवल जीवसत्तारूप से रहने की जीवनप्रणाली को ही निर्गुण-भाव कहते हैं. इस प्रकार निर्गुण-भाव प्राप्त करके भगवान से स्नेह करना चाहिये. यही कहा गया है कि '[१]नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः' तथा '[२]परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया । गृहीतचेता राजर्षे ! आख्यानं यदधीतवान् ॥' इस प्रकार के ज्ञानीजन क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के रूप को जानकर और स्वयं क्षेत्रज्ञरूप होकर भगवान से प्रीति करते हैं. वह क्षेत्र

---

१. अर्थः– गुणातीत ब्रह्मभावपन्न तथा स्वात्मस्वरूप में रहनेवाले मुनि भी भगवान के गुणानुवाद में व्याप्त रहते हैं.

२. पंचाला के दूसरे वचनामृत की टिप्पणी में इसका अर्थ दिया गया है.

क्या है ? सुनिये. स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक तीनों देह तथा जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्तिद्योतक तीनों अवस्थाएँ, ये सभी जो क्षेत्र हैं वे उन्हें अपनी आत्मा से पृथक् जानते हैं कि 'वे मुझमें कभी भी नहीं हो सकते, मैं तो उनका ज्ञाता, अतिशुद्ध, अरूप, अलिंग एवं चेतन हूँ, किन्तु वे क्षेत्र तो अतिमलिन, जड़ और नाशवंत हैं.' यह बात दृढ़तापूर्वक समझकर और इन सबसे वैराग्य ग्रहण करते हुए स्वधर्मसहित भगवान की भक्ति करने की मनोवृत्ति को ही एकान्तिकी भक्ति कहते हैं और उसी पुरुष को ज्ञानी कहा जाता है. वह ज्ञानी सबसे श्रेष्ठ है. यही बात भगवान ने भी कही है :-

'[1]तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥'

ऐसा विवेक रखकर तथा जीव में से इन्द्रियों, अन्तःकरण और पंचविषयों की जड़ों को उखाड़कर भगवान से स्नेह करना ही उचित है. जब तक इनकी जड़ों को नष्ट न कर दिया गया हो तब तक इन इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से भगवान का दर्शन एवं स्पर्शादिरूपी काम लेते रहना चाहिये, परन्तु इन्हें अपना हितैषी नहीं मानना चाहिये, बैरी समझना चाहिये और उनके गुणों को ग्रहण नहीं करना चाहिये कि 'वे भगवान की भक्ति में सहायक होते हैं,' क्योंकि नेत्रों द्वारा भगवान के दर्शन होते हैं, श्रवणेन्द्रिय द्वारा भगवान की कथा सुनी जाती है, त्वचा द्वारा भगवान का स्पर्श होता है, नासिका द्वारा भगवान की माला तथा तुलसी की सुगन्ध ली जाती है, मुख द्वारा भगवान का कथा-कीर्तन किया जाता है और जिह्वा द्वारा भगवान की प्रसादी का रसास्वादन किया जाता है. इस रूप में वे भगवान की भक्ति में सहायक हैं, ऐसा मानकर उनके गुण नहीं लेने चाहिए और उनका विश्वास भी नहीं करना चाहिए, उन्हें तो शत्रु ही समझते रहना चाहिये. क्या जानें कि

---

१. चार प्रकार के आर्तादि भक्तों में ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ है, क्योंकि वह सदैव मेरे साथ ही सम्बद्ध रहता है तथा एकमात्र मेरी ही भक्ति करता है. अवशिष्ट अन्य तीनों भक्त उसके सदृश नहीं हैं तथा ज्ञानी तो मुझे अत्यन्त प्रिय है कि मैं सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होने पर भी यह नहीं कह सकता कि ज्ञानी मुझे इतना प्रिय है. यह प्रेम अमाप है. तीन प्रकार के आर्तादि भक्त उदार (महान) हैं. ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है, इस कारण वह मेरे लिये आत्मवत् प्रिय है, मैं ऐसा मानता हूँ.

वे, भगवान के दर्शन एवं स्पर्शादि द्वारा सुख मानते रहने से स्त्री आदि के दर्शन और स्पर्शादि के जरिये सुख मनवा दें, तो अनिष्ट हो जाय. इसीलिए, उस पंच इन्द्रियरूपी शत्रु को अपनी कैद में रखकर उससे भगवान का भक्तिरूपी काम लेते रहना चाहिये.

जिस प्रकार किसी राजा ने अपने शत्रु को पकड़ लिया हो और वह उसके पैरों में बेड़ी डालकर उसे बन्धनयुक्त करते हुए उससे अपना काम लेता है, किन्तु उसे मुक्त नहीं करता और न उसका विश्वास ही करता है, क्योंकि उसे छोड़ देने तथा उसका विश्वास करने पर वह बैरी उस राजा को निश्चित रूप से मार डालेगा. उसी प्रकार यदि इन्द्रियरूपी बैरी का विश्वास कर लिया जाय, उसे छोड़ दिया जाय और नियन्त्रण में न रखा जाय, तो वह उस भक्तजन को भगवान के भक्तिमार्ग से निश्चित रूप से च्युत कर डालता है. इसलिए, उसका विश्वास नहीं करना चाहिये. जिस तरह अंग्रेज शासक किसी अपराधी को पकड़कर उसे जेल में डालकर उससे पूछताछ करता है, लेकिन उसको छोड़ता नहीं है और उसका विश्वास भी नहीं करता, उसी प्रकार भक्त को उन इन्द्रियों और अन्तःकरण को पंचव्रतों की नियमरूपी जेल के सीखचों में बन्दकर बेड़ी डाल देनी चाहिये और उनसे भगवान की भक्ति करानी चाहिये, परन्तु उनके गुण नहीं लेने चाहिये, शत्रु-भाव ही रखना चाहिये. यदि उनको भगवान की भक्ति में उपयोगी मानकर अपना हितैषी समझा जायगा और उनके गुण लिये जायेंगे, तो कदाचित् वे भगवान के दर्शनस्पर्शादिजन्य सुख की आड़ लेकर स्त्री आदि के सुख की ओर अपना ध्यान आकृष्ट करा दें, तो उसका किया-कराया सबकुछ व्यर्थ हो जायगा. यदि बारूद के किसी ढेर में आग की एक चिनगारी गिर जाय, तो वह सब बारूद भस्म हो जाती है और उसका कोई ठिकाना नहीं रहता. इसलिए, केवल आत्मारूप होते हुए भगवान से स्नेह हो जाय, वही ठीक है, यही हमारा सिद्धान्त है. इस प्रकार जो भक्तजन भगवान से प्रेम करते हैं, उन्हींको हम पसन्द करते हैं. यह विचार भी करना चाहिये कि 'भगवान में जैसा रूप है वैसा कोई अन्य रूप नहीं है, भगवान का जैसा स्पर्श है वैसा कोई अन्य स्पर्श नहीं है, भगवान में जैसी सुगन्ध है वैसी कोई अन्य सुगन्ध नहीं है, भगवान के श्रवण में जैसा सुख है वैसा कोई अन्य सुख नहीं है तथा भगवान में जैसा रस है वैसा कोई अन्य रस

नहीं है.' इस प्रकार इन्द्रियों तथा अन्तःकरण को लोभ दिखाकर अन्य विषयों से पीछे हटाने की युक्ति भी ठीक है.'

स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! यह जो समूचा विचार है वह किस स्थान में रहकर करना चाहिये ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अपने हृदय में ऐसा विचार करते रहना चाहिये कि 'मैं स्थूलदेह, सूक्ष्मदेह तथा कारणदेह में से कोई भी देह नहीं हूँ. जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति नामक तीन अवस्थाओं में से भी मैं परे हूँ. पंचज्ञानेन्द्रियों, पंचकर्मेन्द्रियों, चार अन्तःकरणों तथा उनके देवताओं में से भी मैं कोई भी नहीं हूँ. मैं इन सबसे पृथक् हूँ, चैतन्य हूँ तथा भगवान का भक्त हूँ.' यदि इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण किसी प्रकार कुचेष्टा करें, तो उनसे यह कहना चाहिये कि 'क्या तुम्हें एकमात्र भगवान का ही रूप देखना है या किसी अन्य का भी रूप देखना है ? क्या तुम्हें केवल भगवान का ही शब्द सुनना है तथा गन्ध लेनी है या दूसरों के भी शब्द सुनने हैं और गन्ध लेनी है ? यदि तुम भगवान को छोड़कर अन्य विषयों में लिप्त हो जाओगे तो मेरा तुमसे क्या सम्बन्ध है ? भाई, तुम कौन हो और मैं कौन हूँ ? मुझे तुमसे कुछ भी लेना-देना नहीं है. तुम जैसा करोगे वैसा तुम्हें भोगना पड़ेगा.' इस प्रकार इन्द्रियों तथा अन्तःकरणों को उपदेश देकर भगवान से यह प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे महाराज ! हे स्वामिन् ! हे भक्तवत्सल ! हे दयानिधे ! इन्द्रियों तथा अन्तःकरणों का यह दोष है. मैं तो उनसे पृथक् हूँ. वे तो मेरे शत्रु हैं. इसलिए, उनसे रक्षा करियेगा.' इस प्रकार निरन्तर प्रार्थना करते रहना चाहिये और स्वयं को क्षेत्रज्ञ चैतन्यरूप मानकर भगवान से प्रीति और भक्ति करनी चाहिये.' ॥ इति वचनामृतम् ॥३॥ ॥१२६॥

वचनामृत ४ : दिव्य भाव

संवत् १८७७ में फाल्गुन कृष्ण *तृतीया को श्रीजीमहाराज श्रीपंचाला ग्राम स्थित झीणाभाई के राजभवन में चबूतरे पर पलंग बिछवाकर विराजमान थे. उन्होंने मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था, सफेद दुपट्टा धारण किया था तथा श्वेत पतली पिछौरी ओढ़ी थी. वे अपने हस्तकमल में माला

* गुरुवार, २१ मार्च, १८२१.

फेर रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'सभी परमहंस परस्पर प्रश्नोत्तर-कार्यक्रम प्रारम्भ करें.' तब मुनिबाबा ने ब्रह्मानन्द स्वामी से प्रश्न पूछा कि 'पहले तो भक्त को भगवान के सम्बन्ध में निश्चय हो जाता है और वह भजन-स्मरण करता रहता है, किन्तु इसके पश्चात् भगवान के मनुष्य-चरित्र को देखकर उसका भगवान के स्वरूप के उस निश्चय में संशय हो जाता है, इसका क्या कारण है ?'

इस प्रश्न का उत्तर ब्रह्मानन्द स्वामी देने लगे, परन्तु वे यथार्थ रूप से उत्तर न दे सके. तब श्रीजीमहाराज काफी देर तक विचार करने के पश्चात् बोले कि 'इस प्रश्न का उत्तर हम देते हैं कि [१]वेदों, पुराणों, महाभारत तथा स्मृतियों आदि शास्त्रों में भगवान के अक्षरधाम में स्थित भगवान के सनातन, अनादि, दिव्य मूलरूप का वर्णन किया गया है. वस्तुतः भगवान कैसे हैं ? सुनिये, इस चक्षु-इन्द्रिय द्वारा जो-कुछ रूप दिखायी पड़ता है, वैसा रूप भगवान का नहीं है, श्रवणेन्द्रिय द्वारा जो शब्द सुने जाते हैं, वैसे शब्द भगवान के नहीं हैं, त्वचा द्वारा जो स्पर्श किया जाता है, वैसा स्पर्श उनका नहीं है, नासिका द्वारा जो सुगन्ध सूँघी जाती है, वैसी सुगन्ध उनकी नहीं है, जिह्वा द्वारा जो वर्णन किया जाता है, वैसे भी वे भगवान नहीं हैं, मन के संकल्प से भी भगवान ग्राह्य नहीं हो सकते, चित्त भी भगवान के स्वरूप का वैसा चिन्तन नहीं कर सकता, बुद्धि भगवान के स्वरूप का निश्चय नहीं कर सकती, अहंकार द्वारा भी कि 'मैं इन भगवान का हूँ और वे मेरे हैं,' वैसा अहंभाव भी नहीं हो सकता. इस प्रकार ये भगवान इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से अगोचर रहे हैं.

इन भगवान का जैसा रूप है वैसा रूप इस ब्रह्मांड में ब्रह्मादि-स्तम्बपर्यन्त किसी का भी नहीं है. वस्तुतः उनके रूप से किसी के भी रूप की उपमा नहीं की जा सकती. उनका जैसा शब्द, सुगन्ध, स्पर्श और रस इस ब्रह्मांड में अन्य किसी का भी नहीं है, इसलिए वे अनुपमेय हैं. उन

---

१. निश्चय में जो संशय होता है वह निश्चय अपक्व है और उसमें दृढ़ता नहीं है, ऐसा समझना चाहिये. भगवान के दिव्य एवं मनुष्यस्वरूप, दोनों रूपों के समुचित एकत्वज्ञान से संशय मिट जाता है.

भगवान का जैसा धाम है, वैसा स्थान इस ब्रह्मांड में अन्य किसी का भी नहीं है, जिससे उसकी उपमा की जा सके. सप्तद्वीपों, नौ खंडों में जो-जो स्थान हैं तथा मेरु के ऊपर ब्रह्मादि के अत्यन्त शोभायुक्त जो स्थान हैं, लोकलोकाचल में जो अनेक स्थल हैं; इन्द्र, वरुण, कुबेर, शिव, ब्रह्मा के जो स्थान हैं और जो भी अन्य अनेक स्थान हैं, उन सबमें ऐसा एक भी स्थान नहीं है, जिसके साथ भगवान के धाम की उपमा दी जा सके. उन भगवान के धाम में निवास करनेवाले भगवद्भक्तों के लिये जैसा सुख उपलब्ध है, वैसा सुख इस ब्रह्मांड में अन्यत्र कहीं भी नहीं है, जिससे उसकी उपमा की जा सके. उन भगवान का जैसा आकार है, वैसा आकार इस ब्रह्मांड में और किसी का नहीं है, वे अनुपमेय हैं, क्योंकि इस ब्रह्मांड में पुरुष-प्रकृति से उत्पन्न हुए जितने भी आकार हैं, वे सब मायिक हैं, किन्तु भगवान तो [१]दिव्य एवं अमायिक हैं, इस कारण उन दोनों में अतिशय विलक्षणता है, इसलिए मायिक और अमायिक में सादृश्य कैसे हो सकता है ? जैसे किसी मनुष्य के सम्बन्ध में यह कहा जाय कि 'यह मनुष्य भैंस, साँप, चकवा, गधा, कुत्ता, कौवा और हाथी जैसा है,' तो ऐसी उपमा मनुष्य के लिये सम्भव नहीं है, क्योंकि मनुष्य से भिन्न जो ये अन्य सब हैं, वे विजातीय हैं तथा मनुष्य-मनुष्य में भी अतिशय सदृशता नहीं होती, जिसके लिये ऐसी उपमा दी जा सके कि 'यह तो इसके समान ही है,' फिर भी यदि वह वैसा ही मनुष्य सजातीय हो, तो उसकी पहचान कैसे हो सकती है ? इसलिए, मनुष्य-मनुष्य में सदृशता होने पर भी विलक्षणता है. देखिये, ये दो भक्त भगा और मूला, दोनों ही एकसमान हैं, फिर भी ये यदि अधिक दिनों तक साथ में रहें, तो उनमें से प्रत्येक को पहचाना जा सकता है कि 'यह भगा है और यह मूला है. यदि विलक्षणता न हो तो किसी को किस प्रकार पहचाना जा सकता है ? जब मनुष्य-मनुष्य में भी अतिसादृश्य भाव नहीं है तो मायिक-अमायिक के सम्बन्ध में सदृशता कैसे हो सकती है, जिसकी उपमा भगवान को दें और भगवान के धाम को दें, क्योंकि ये जो भगवान हैं वे इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के लिये अगोचर हैं.' ऐसा समस्त शास्त्रों में कहा गया है. वे भगवान जब जीव को अपना दर्शन न देने की इच्छा करते हैं

---

१. अलौकिक.

तब उक्त प्रकार से दिव्य रूप एवं अगोचर होकर अपने अक्षरधाम में रहते हैं. वे भगवान महाराजाधिराज हैं तथा दिव्यरूप असंख्य समृद्धि एवं अगण्य पार्षदों से युक्त हैं तथा अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के स्वामी हैं. जैसे कि इस लोक में कोई बड़ा चक्रवर्ती राजा हो, उसका सूर्योदय और सूर्यास्तपर्यन्त राज्य हो तथा वह राजा अपने तपोबल द्वारा देवताओं के सदृश ऐश्वर्यों को प्राप्त करके स्वर्गलोक, मृत्युलोक और पाताललोक नामक तीनों लोकों का राज्य करता है, जैसे कि अर्जुन सदेह स्वर्ग में इन्द्रासन पर कई वर्षों तक आसीन रहे थे तथा नहुषराजा भी इन्द्र हुआ था, ऐसे प्रतापी चक्रवर्ती राजा के आधीन इतने अधिक गाँव होते हैं कि उनकी गणना ही नहीं हो पाती, क्योंकि ये तो असंख्य हैं तथा इसी प्रकार ऐसे गाँव-गाँव के पटेलों की भी गिनती नहीं हो सकती, ऐसे गाँव-गाँव के असंख्य पटेल उनके राजभवन में उनका अभिवादन करने आते हैं और उस राजा के धन, माल, भोगों, स्थानों तथा समृद्धियों की भी जिस प्रकार गणना नहीं हो पाती वैसे ही भगवान असंख्यकोटि ब्रह्मांडरूप गाँवों के राजाधिराज हैं तथा ब्रह्मांडरूप गाँवों के मुख्य पटेल तो ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं. जैसे एक गाँव में एक बड़ा पटेल होता है, उसे उस गाँव के सभी लोग आकर नमस्कार करते हैं और उसकी आज्ञा का पालन करते रहते हैं और वह पटेल राजा को नमस्कार करता है, वैसे ही प्रत्येक ब्रह्मांड के मुखिया ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं तथा अन्य ब्रह्मांडों के देव, दैत्य, मनुष्य, ऋषि और प्रजापति उनका भजन-स्मरण करते हैं तथा उनकी आज्ञा का पालन करते हैं और ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव भगवान पुरुषोत्तम को भजते हैं तथा उनकी आज्ञा का पालन करने में तत्पर रहते हैं. प्रत्येक ब्रह्मांड के ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव भगवान की प्रार्थना करते हैं कि 'हे महाराज ! कृपा करके आप हमारे ब्रह्मांड में पधारिये.' जिस प्रकार किसी गाँव का पटेल चक्रवर्ती राजा के समक्ष उपस्थित होकर प्रार्थना करता है कि 'हे महाराज ! मैं गरीब हूँ. आप मेरे घर पधारें. मुझसे आपकी जो-कुछ सेवा-चाकरी बनेगी, वह मैं करूँगा.' उसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव भगवान की प्रार्थना करते हैं कि 'हे महाराज ! आप दया करके हमें दर्शन दीजिये और हमारे ब्रह्मांड में पधारिये.' तब वे भगवान उस ब्रह्मांड में देह-धारण करते हैं. उन्हें जहाँ जैसा कार्य करना होता है, वहाँ वे वैसी देह धारण करते हैं और तदनुसार आचरण करते हैं. यदि वे देवाकृतिवाली

देह धारण करते हैं, तो देव-सदृश चेष्टा करते हैं तथा पशु-शरीर धारण करने पर पशु जैसा आचरण करते हैं. जब भगवान ने वराहरूप देह-धारण की, तब उन्होंने सूँघकर पृथ्वी को खोज डाला, हयग्रीवरूप धारण करने पर वे घोड़े की तरह हिनहिना ने लगे. जब उन्होंने मत्स्यकच्छपादि जलजन्तुओं की देहों को धारण किया तब वे जल में ही घूमते रहे, किन्तु उन्होंने पृथ्वी पर भ्रमण नहीं किया. नृसिंहरूप धारण करने पर उन्होंने सिंह की तरह आचरण किया, परन्तु मनुष्यसदृश चेष्टा नहीं की. इस तरह से वे भगवान जब मनुष्यदेह धारण करते हैं तब मुष्यसदृश ही क्रिया करते हैं. जब सत्ययुग आता है तब मनुष्य की एक लाख वर्ष की आयु होती है. तब भगवान भी एक लाख वर्ष तक देह-धारण करते हैं. उस सत्ययुग के मनुष्य जब मनोवांछित भोगों का उपभोग करते हैं तब भगवान भी उनके समान भोग भोगते हैं, किन्तु अधिक नहीं. त्रेतायुग में मनुष्य की आयु दस हज़ार वर्ष की होती है. तब भगवान भी उतने वर्षों तक ही देह धारण करते हैं. द्वापरयुग में मनुष्य की आयु एक हज़ार वर्ष की होती है तथा तत्कालीन मनुष्य में दस हज़ार हाथियों का बल होता है. तब भगवान में भी उतना बल होता है और उतना आयुष्य भी होता है. कलियुग में जब भगवान देह धारण करते हैं तब वे कलियुगीन प्रमाण के अनुसार आयुष्य एवं बल धारण करते हैं. जिस प्रकार बालक गर्भ में आता है और गर्भ के बढ़ने पर उसका जन्म होता है तथा उसके पश्चात् उसकी क्रमशः बाल्यावस्था, युवावस्था एवं वृद्धावस्था होती है और इसके बाद उसकी मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार भगवान भी वैसी ही मनुष्यसदृश चेष्टा करते हैं. जैसे मनुष्य में काम, क्रोध, लोभ, स्वाद, मान, स्नेह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, राग, भोग, सुख, दुःख, भय, निर्भयता, शूरता, कायरता, भूख, प्यास, आशा, तृष्णा, निद्रा, पक्षपात, पराया, अपना, त्याग एवं वैराग्य आदि सूचक स्वभावगत गुण होते हैं वैसे ही ये सभी स्वाभाविक गुण भगवान द्वारा मनुष्य-देह धारण करने पर उनमें भी दिखायी पड़ते हैं.

समस्त शास्त्रों में भगवान के उस मनुष्य-स्वरूप का तथा उनके मूल दिव्यस्वरूप का भी वर्णन किया गया है. जिसने भगवान के इन दोनों स्वरूपों का यथार्थ रूप से श्रवण-मनन करके दृढ़ निश्चय कर लिया है, उसको तो भगवान के मनुष्य-स्वरूप में किसी भी प्रकार का संशय नहीं

होता, किन्तु जिसकी इस प्रकार की समझ में कोई कसर रह गयी है, उसे तो इस बात में संशय उत्पन्न हो जाता है कि वे दिव्यरूप भगवान मनुष्य-शरीर को धारण करते हैं और मनुष्य-जैसा स्वभाव रखते हैं. किन्तु, बुद्धिमान पुरुष में तो इतना विवेक अवश्य रहता है कि 'उन भगवान में यद्यपि काम, क्रोध, लोभ, स्वाद, मान आदि जो स्वभाव है, वह अन्य मनुष्यों जैसा नहीं हैं,' फिर भी उनमें कोई दिव्यभाव अवश्य है. यह बात बुद्धिमान पुरुष समझ जाता है और तदनुसार उसको भगवान के स्वरूप का निश्चय हो जाता है.

यद्यपि [१]शंकराचार्य ने शृंगार-रस की बात जानने के लिये राजा के शरीर में प्रवेश किया था, उस समय राजा के सदृश शृंगारिक हावभाव प्रकट किये थे और दैहिक चेष्टा की थी, किन्तु उस राजा की रानी बुद्धिशाली थी, इसलिए उसने यह भाँप लिया कि 'मेरे पति में तो ऐसा चमत्कार नहीं था, इससे प्रतीत होता है कि इस देह में किसी अन्य जीव ने प्रवेश किया है.' वैसे ही मनुष्यरूपी उन भगवान में दिव्यभाव प्रतीत होता है, उससे इस स्वरूप में भगवान का निश्चय हो जाता है.

तब आप यह कहेंगे कि भगवान ने 'किंचित् दिव्यभाव दिखाया और उससे मनुष्य को भगवान के स्वरूप का निश्चय हो गया. तब यदि अधिकाधिक दिव्यभाव दिखलाया जाय, तो अनेक मनुष्यों को ऐसा निश्चय हो जाय.' इसका तात्पर्य तो ऐसा है कि सूर्य को समस्त शास्त्रों में नारायण बताया गया है और वह सूर्य समस्त मनुष्यों को दृष्टिगोचर भी होता है, सभी मनुष्य प्रतिदिन उसका दर्शन करते हैं. फिर भी, उसके दर्शन से मनुष्य को आत्म-कल्याण का निश्चय नहीं होता कि 'मेरा कल्याण हो गया.' किन्तु, मनुष्याकार धारण करनेवाले रामकृष्णादि अवतारों तथा नारदशुकादि सन्तों के दर्शन करने से मनुष्य को ऐसा निश्चय हो जाता है कि 'मेरा कल्याण निश्चित रूप से हो गया और मैं कृतार्थ हुआ हूँ.' यद्यपि उन भगवान तथा सन्त में तो कुछ प्रकाश नहीं और दीपक प्रज्ज्वलित करने पर उनका दर्शन होता है, तो भी उसे ऐसे कल्याण का निश्चय हो जाता है. अग्नि भी साक्षात् भगवान हैं, क्योंकि भगवान ने यह कहा भी है :-

---

१. शंकरदिग्विजय में यह आख्यान दिया गया है.

'[१]अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥'

ऐसे अग्नि के भी सबको दर्शन होते हैं, परन्तु मनुष्य को उससे आत्मकल्याण का निश्चय नहीं होता, जब कि भगवान तथा सन्त के दर्शन से उसे ऐसा निश्चय हो जाता है. इसका क्या कारण है ? बात यह है कि 'मनुष्य में तथा सूर्य एवं अग्नि में विलक्षणता है,' इसलिए उनके दर्शन करने से कल्याण होने का निश्चय नहीं होता, क्योंकि मनुष्य यदि अग्नि का स्पर्श करे, तो वह जलकर मर जाय. सूर्य को कुन्तीजी ने दुर्वासा के दिये गये मन्त्र द्वारा जब बुलाया, तो सूर्य उनके पास मनुष्यरूप से आये. तब उनके अंगसंगजन्य सुख के उपलब्ध होने से कर्णरूप गर्भ रहा. परन्तु, सूर्य तो प्रकाशवान हैं. यदि वे अपने प्रकाशसहित वहाँ आये होते, तो कुन्तीजी उससे जलकर मर जाती और उन्हें स्पर्शजन्य सुख भी नहीं मिल पाता. सत्राजित यादव के पास सूर्य मनुष्यरूप धारण करके ही आते थे. जब सूर्य कुन्तीजी और सत्राजित के पास भी आये थे. तब क्या वे आकाश में नहीं थे ? वे आकाश में भी थे और स्वयमेव अन्य रूप द्वारा कुन्तीजी और सत्राजित के पास भी आये थे. सूर्य का जैसा प्रकाश है, वह सब-कुछ उनमें अवश्य था, फिर भी वे उसका संकोचन करके वहाँ मनुष्य जैसे होकर आये थे. वैसे ही, वे जो भगवान हैं, वे यदि स्वयं अपने दिव्यभावसहित जीव को दर्शन दें, तो मनुष्य को यह ठीक नहीं लगेगा और ऐसी स्थिति में वह यह समझ बैठेगा कि 'यह क्या भूत होगा या और क्या होगा ?' वस्तुतः वे भगवान अपने ऐश्वर्यों का संकोचन करके और मनुष्य-सदृश ही होकर भक्त को दर्शन देते हैं. वे स्वयमेव अपने धाम में भी विराजमान हैं और तब मनुष्य दर्शन, स्पर्श तथा नौ प्रकार की भक्ति कर सकते हैं. यदि भगवान मनुष्य-सदृश न होवें और दिव्यभाव से ही प्रकट होते रहें, तो उनके प्रति मनुष्यों को स्नेह नहीं होता और सुख भी नहीं मिलता, क्योंकि मनुष्य-मनुष्य में ही स्नेह होता है और सुख मिलता है. परन्तु, पशु और मनुष्य में स्नेह नहीं होता और सुख भी नहीं मिलता. पशु-पशु को परस्पर

---

१. अर्थः – 'मैं वैश्वानर (जठराग्नि) बनकर समस्त प्राणियों की देहों में रहता हूँ और प्राणियों द्वारा खाये गये चार प्रकार के अन्नों को प्राणापानवृत्ति से समायुक्त होकर पचाता हूँ.'

स्नेह हो जाता है और सुख भी मिलता है, क्योंकि सजातीय में ही स्नेह होता है, विजातीय में यह नहीं होता. वैसे ही, भगवान भी अपने दिव्यभाव का संकोचन करके अपने भक्त को अपने प्रति स्नेह कराने के लिये मनुष्यरूप धारण करते हैं, किन्तु उसे दिव्यभाव नहीं दिखलाते. यदि वे दिव्यभाव दिखलावें, तो विजातीय भाव उत्पन्न हो सकता है, जिससे भक्त को उनके प्रति स्नेह नहीं होता और सुख भी नहीं मिल पाता. इसलिए, भगवान मनुष्यरूप धारण करते हैं और तब वे अपने दिव्यभाव को छिपाकर रखने पर ही अपनी दृष्टि जमाये रखते हैं. अपने इस स्वरूप को छिपाकर रखते-रखते जब कभी वे अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक कोई कार्य करने में संलग्न हो जाते हैं तब उनका दिव्यभाव प्रकट हो जाता है. कभी-कभी तो वे अपनी इच्छा से ही अपने किसी भक्त को अपना दिव्यभाव दिखला देते हैं. [१]जब श्रीकृष्ण भगवान भीष्म को मारने के लिये सन्नद्ध हुए तब वे अपने मनुष्यभाव को भूल गये और उनमें दिव्यभाव उत्पन्न हो गया. इस कारण पृथ्वी अपने भार को सहन करने में असमर्थ हो गयी. तभी भगवान ने अर्जुन को अपना [२]दिव्यभाव दिखलाया. उन्होंने अपना दिव्यभाव उन्हें अपनी इच्छा से ही दिखाया. परन्तु, उस दिव्यभाव को देखकर अर्जुन को कोई सुख नहीं मिला और वे अत्यन्त व्याकुल हो गये. बाद में श्रीकृष्ण भगवान ने अर्जुन को अपने मनुष्य-स्वरूप के दर्शन कराये. तब अर्जुन आश्वस्त हुए और उन्होंने यह उद्‌गार प्रकट किया :—

'[३]दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन !
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥'

इसका सारांश यह है कि भगवान का मनुष्यरूप ही जीव के लिये अनुकूल और सुखद रहता है. इसी कारण वे भगवान स्वयं को मनुष्यरूप में प्रकट करते रहते हैं. जो जीव इस प्रकार नहीं समझता है, उसको मनुष्यभाव देखकर भ्रान्ति हो जाती है. यदि वे भगवान अपना दिव्यभाव ही

---

१. इसका अर्थ भागवत में 'धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गुः' श्लोक में बताया गया है.
२. विश्वरूप.
३. अर्थः– 'हे जनार्दन ! अब मैं आपके इस अतिसौम्य मनुष्यरूप के दर्शन करके सचेत (प्रसन्नचित्त) हुआ हूँ और अपनी प्रकृति (स्वभाव) को प्राप्त हुआ हूँ.'

प्रकट करते रहें, तो वह मन एवं वाणी से अगोचर होने के कारण जीव के लिये बोधगम्य नहीं हो सकता. इसीलिये, शास्त्रों में भगवान के स्वरूप का दो प्रकार से वर्णन किया गया है. तदनुसार उन्हें जिसने यथार्थ रूप से जान लिया है, उसको कोई संशय नहीं होता है, किन्तु जो ऐसा नहीं समझता, उसे सन्देह जरूर हो जाता है.

जो पुरुष यह कहता है, कि 'मैंने भगवान को जान लिया है और मुझे निश्चय भी है,' उसने यदि इस बात को नहीं समझा है, तो यही कहना पड़ेगा कि उसका यह निश्चय अपरिपक्व है. यदि किसी पुरुष ने श्लोक और कीर्तन सीखा हो और उससे यह पूछा जाय, कि 'क्या तूने यह श्लोक तथा कीर्तन सीख लिया ?' तो वह यही कहेगा कि उसने यह सीख लिया है तथा वह कंठ से उसका पाठ करके भी बता देता है. परन्तु, कुछ दिनों के बाद वह उस श्लोक तथा कीर्तन को भूल जाता है, तो क्या यह मान लिया जाय कि उसने वह श्लोक और कीर्तन, जिसे उसने कंठस्थ किया था, यथार्थ रूप में नहीं सीखा था, क्योंकि श्रवण-मनन द्वारा दृढ़ अभ्यास करके उसने इस श्लोक और कीर्तन को हृदयंगम नहीं किया था, इसी कारण वह विस्मृत हो गया. किसी-किसी बात का तो बाल्यावस्था में ही इतना अच्छा अभ्यास हो जाता है कि युवावस्था तथा वृद्धावस्था में भी उसका काम पड़ने पर उसकी याद आ जाती है, वैसे ही उसने जब भगवान सम्बन्धी निश्चय किया था, तभी उसके निश्चय में कसर रह गयी थी. यदि उसमें कोई कसर नहीं रही होती तो इस प्रकार पहले से ही श्रवण करके उसका मनन कर उसका दृढ़ अभ्यास उसके जीव में हो गया होता, तो उसे कभी भी संशय होता ही नहीं.'　॥ इति वचनामृतम् ॥४॥ ॥१३०॥

वचनामृत ५ : निर्मानी-भाव

संवत् १८७७ में फाल्गुन कृष्ण *अष्टमी को श्रीजीमहाराज श्रीपंचाला ग्राम स्थित झीणाभाई के राजभवन में चबूतरे पर बिछे हुए पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, गरम पोस की लाल बगलबंडी पहनी थी, मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था और सफेद चादर

---

* बुधवार, २१ मार्च, १८२१.

ओढ़ी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'किस स्थान पर मान रखना उचित है और किस जगह उचित नहीं है तथा किस ठिकाने पर निर्मानी-भाव अच्छा है और किस स्थान पर उचित नहीं है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो पुरुष सत्संग का द्रोही हो तथा परमेश्वर एवं बड़े सन्त के विरुद्ध अशोभनीय बातें करता हो, उसके आगे तो मान रखना ही अच्छा है और उसके अभद्र व्यवहार पर उसके प्रति तीखे बाण जैसा वचन बोलना ही ठीक है, किन्तु विमुख के सामने निर्मानी-भाव नहीं रखना ही उचित है. परन्तु, भगवान एवं भगवान के सन्त के समक्ष तो मान रखना उचित नहीं है. वास्तव में उनके आगे तो मान छोड़कर और दासानुदास होकर निर्मानीभाव से आचरण करना ही उचित है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥५॥ ॥१३१॥

वचनामृत ६ : 'श्रीकृष्ण-जैसा अन्य अवतार नहीं'

संवत् १८७७ में फाल्गुन कृष्ण *नवमी को रात्रि के समय श्रीजीमहाराज श्रीपंचाला ग्राम-स्थित झीणाभाई के राजभवन में चबूतरे पर पलंग बिछवाकर विराजमान थे. उन्होंने सिर पर श्वेत फेंटा बाँधा, सफेद अंगरखा सहित गरम पोस की लाल बगलबंडी पहनी थी, सफेद दुपट्टा धारण किया था तथा श्वेत पिछौरी ओढ़ी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'हमने बहुत देर तक विचार किया और समस्त शास्त्रों पर दृष्टि डालकर देखा तो हमें ऐसा ज्ञात हुआ कि 'श्रीकृष्ण-जैसा सर्वशक्तिसम्पन्न कोई अन्य अवतार नहीं हुआ,' क्योंकि अन्य जो सब उनकी अनन्त मूर्तियाँ भिन्न-भिन्न रूप से रही हैं, उन सबका भाव श्रीकृष्ण भगवान ने अपने स्वरूप में दिखलाया. वह किस प्रकार ? सुनिये, सर्वप्रथम स्वयं श्रीकृष्ण भगवान ने जब देवकी की कोख से जन्म लिया तब शंख, चक्र, गदा, पद्म धारणकर उन्हें चतुर्भुज-रूप में दर्शन दिया.

---

* गुरुवार, २८ मार्च, १८२१.

इसके द्वारा उन्होंने लक्ष्मीपति वैकुंठनाथ का भाव अपने स्वरूप में दिखलाया. उन्होंने माता यशोदा को अपने मुख में विश्वरूप दिखाया. इससे उन्होंने सहस्रशीर्षरूप द्वारा अनिरुद्धभाव स्वयं के स्वरूप में दिखाया तथा अक्रूर को यमुना की धारा में दर्शन दिया, इससे शेषशायीभाव दिखाया तथा युद्धस्थल में अर्जुन को विश्वरूप दिखलाया कि –

'[१]पश्य मे पार्थ ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ॥'

इस प्रकार अनन्त ब्रह्मांड दिखलाकर पुरुषोत्तमभाव बताया तथा स्वयं श्रीकृष्ण ने कहा कि –

'[२]यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥'

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने स्वयं अपना पुरुषोत्तमभाव दिखाया. गोलोकवासी राधिकासहित श्रीकृष्ण भी स्वयमेव थे. वे जब ब्राह्मणबालक को लेने गये, तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को भूमापुरुषरूप में अपना दर्शन कराया तथा श्वेतद्वीपवासी वासुदेव ने तो स्वयं ही यह अवतार धारण किया था. नरनारायण को तो समग्र भारत तथा भागवत में उन श्रीकृष्ण को ही बताया गया है. इसलिए, उन श्रीकृष्ण-अवतार में तो भिन्न-भिन्न रूप से रहीं उन भगवान की मूर्तियाँ, शक्तियाँ तथा ऐश्वर्य समग्र रूप से विद्यमान हैं. इसलिए, वही अवतार अति महान हुआ है. अन्य मूर्तियों में तो थोड़ा ऐश्वर्य है, परन्तु उसमें तो सम्पूर्ण ऐश्वर्य है. इस दृष्टि से भी कृष्णावतार-जैसा कोई अवतार नहीं है. वस्तुतः यही अवतार सर्वोपरि है. अन्य अवतार द्वारा तो थोड़ी ही शक्ति प्रकट की गयी है, किन्तु इस अवतार द्वारा सम्पूर्ण ऐश्वर्यों तथा शक्तियों को प्रकट किया गया है. इसलिए, यह अवतार सर्वोत्कृष्ट है. इस प्रकार प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण के स्वरूप में जिसकी अचल मति सदैव बनी रहती है, वह मति कभी भी व्यभिचार की दलदल में नहीं फँसती. यदि उससे किसी कुसंगवश कभी कुछ अनुचित आचरण हो गया हो, तो भी उसका कल्याण-मार्ग से पतन नहीं होता, उसका तो कल्याण ही होता है. इसलिए, आप सब परमहंस हरिभक्त भी यदि इस प्रकार भगवान

---

१. इस श्लोक का अर्थ लोया के वचनामृत की टिप्पणी में दिया गया है.
२. 'मैं क्षर से अतीत हूँ और अक्षर से भी परे हूँ, इसलिए लोक तथा वेद में पुरुषोत्तम नाम से विख्यात हूँ.'

में उपासना की दृढ़ता रखते रहेंगे, तो कदाचित् कोई अनुचित आचरण हो जाने पर भी अन्त में कल्याण ही होगा.'

इस वार्ता को सुनकर समस्त साधुओं तथा हरिभक्तों ने श्रीजीमहाराज में सर्वकारण भाव जानकर उपासना की दृढ़ता की.

॥ इति वचनामृतम् ॥६॥ ॥१३२॥

वचनामृत ७ : भगवान की योगमाया

संवत् १८७७ में फाल्गुन कृष्ण *एकादशी को ६ घड़ी दिन चढ़ने पर श्रीजीमहाराज श्रीपंचाला ग्राम-स्थित झीणाभाई के राजभवन में चबूतरे पर पलंग बिछवाकर विराजमान थे. उन्होंने सिर पर श्वेत फेंटा बाँधा था, गरम पोस की लाल बगलबंडी पहनी थी, श्वेत दुपट्टा धारण किया था और सफेद पतली पिछौरी ओढ़ी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज नित्यानन्द स्वामी से श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध की कथा करवा रहे थे. उसमें '[१]जन्माद्यस्य यतः', यह श्लोक प्रथम आया, उसका अर्थ किया. इसके पश्चात् '**यत्र त्रिसर्गो मृषा**' श्लोक के पद का अर्थ स्वयं श्रीजीमहराज करने लगे कि 'माया के तीन गुणों का सर्ग जो पंचभूत इन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा देवता हैं, वे भगवान के स्वरूप में त्रिकाल में हैं ही नहीं,' ऐसा समझना चाहिये तथा इस श्लोक के पद '**धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्**' का अर्थ यह है कि जिसने अपने स्वरूपतुल्य धाम द्वारा उस माया के सर्गरूप कपट को नष्ट कर दिया है, वही भगवान का परम सत्यस्वरूप है और आत्यन्तिक प्रलय के अन्त में अक्षरधाम में भगवान का जैसा स्वरूप अनन्त ऐश्वर्य तथा तेज से युक्त रहता है, वैसा का वैसा ही प्रत्यक्ष मनुष्यरूप भगवान में जिसने जान लिया है, वह तत्त्वतः भगवान को जाननेवाला कहलाता है. उन्हीं प्रत्यक्ष भगवान को मूढ़ जीव मायिक दृष्टि से देखता है, अर्थात् वह उन्हें अपने सदृश मनुष्य मानता है और यह समझता है कि जिस प्रकार उसका जन्म होता है और जिस तरह वह बालक, युवा तथा वृद्ध होकर मर जाता है, वैसी ही स्थितियाँ भगवान

---

* रविवार, ३१ मार्च, १८२१.

१. अर्थः– इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय परमब्रह्म परमात्मा से होती है.

की भी होती हैं. किन्तु, जब वह भगवान के एकान्तिक सन्त के वचन में विश्वास करके निष्कपट भाव से भगवान के चरणकमलों को भजता है तब उसकी मायिक दृष्टि मिट जाती है. इसके बाद वह भगवान की उसी मूर्ति को परम-चैतन्य, सत्, चित तथा आनन्दमय मानने लगता है. यह बात भी भागवत में कही गयी है :-

'स [१]वेद धातुः पदवीं परस्य,
दुरन्तवीर्यस्य रथांगपाणेः ।
योऽमायया संततयानुवृत्त्या,
भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ॥'

उन भगवान में जो बालकभाव, युवाभाव, वृद्धभाव तथा जन्ममरणभाव दिखायी पड़ता है, वह तो उनकी योगमाया द्वारा दीखता है, परन्तु वास्तव में तो भगवान जैसे हैं वैसे के वैसे ही हैं.

जैसे नटविद्याविद् कोई पुरुष शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर आकाश में इन्द्र के शत्रु असुरों के योद्धाओं से लड़ने जाता है, बाद में वह टुकड़े-टुकड़े होकर नीचे पड़ता है, इसके पश्चात् उस नट की स्त्री उन टुकड़ों को इकट्ठा करके जल मरती है. इसके बाद थोड़ी देर में ही वह नट आकाश में से पूर्ववत् हथियारों से लैस होकर नीचे आ जाता है और राजा से इनाम माँगता है और यह कहता है कि 'मेरी स्त्री लाइये.' नट की ऐसी माया को भी जब कोई नहीं जान पाता, तो भगवान की योगमाया किस प्रकार समझ में आ सकती है ? जो पुरुष नट की माया को जानता है वह तो ऐसा मानता है कि 'वह नट न तो मरा है और न जला ही है. वास्तव में वह तो जैसा है वैसा का वैसा ही है.' वैसे ही जो पुरुष भगवान के स्वरूप को तत्त्वरूप से समझता है वह तो भगवान को यथावत् अखंड, अविनाशी ही मानता है. जब श्रीकृष्ण भगवान ने देहत्याग किया तब उन भगवान की रुक्मिणी आदि पत्नियाँ उनकी देह को लेकर जल मरीं. तब अज्ञानी पुरुषों ने तो ऐसा जाना कि 'अब उनका नाश हो गया.' किन्तु, जो ज्ञानी पुरुष थे उन्होंने ऐसा जाना कि 'वे यहाँ से अन्तर्धान होकर अन्य स्थान में दिखायी

---

१. अर्थः- जो भक्त निष्कपट, अविच्छिन्न अनुवृत्ति से भगवान के चरणकमलों को भजता है, वह भक्त सर्वाधार, अपरिमित ऐश्वर्यवाले चक्रपाणि परमात्मा की पदवी को जानता है, अर्थात् उसको प्राप्त करता है.

पड़े हैं.' इस प्रकार भगवान को अखंड समझना चाहिये. स्वयं श्रीकृष्ण ने भी यह कहा है :–

'[१]अवजानन्ति मां मूढाः मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ।।'

मूर्ख पुरुष यदि भगवान को साकार समझता है, तो वह उन्हें केवल मनुष्यसदृश ही मानता है. यदि वह उन्हें निराकार समझता है, तो अन्य आकार को वह जिस तरह मायिक जानता है, वैसे ही भगवान के आकार को भी मायिक मान बैठता है तथा भगवान के स्वरूप की ऐसी अरूप कल्पना करता है. इस तरह मूर्ख को तो यह बात दोनों तरीकों से उलटी ही पड़ती है. यदि भगवान का आकार नहीं होता तो आत्यन्तिक प्रलय के समय श्रुति द्वारा यह कैसे कहा जाता कि 'स ऐक्षत,' अर्थात् 'वे भगवान देखते थे.' जब उन भगवान ने देखा तो उनका नेत्रश्रोत्रादि अवयवसहित साकार दिव्यस्वरूप ही था. यह भी कहा गया कि–

'पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान् ।'

ऐसे पुरुषरूप होकर उन पुरुषोत्तम ने माया में वीर्य धारण किया. इसलिए, वे भगवान पहले से ही साकार थे. वे पुरुषोत्तमनारायण जब किसी कार्य के लिये [२]पुरुषरूप होते हैं तब वह पुरुष पुरुषोत्तम के प्रकाश में लीन हो जाता है, तब केवल पुरुषोत्तम ही रहते हैं. वैसे ही, जब वे मायारूप होते हैं तब माया भी पुरुषोत्तम के तेज में विलीन हो जाती है. तब तद्रूप भगवान ही रहते हैं. इसके पश्चात् वे भगवान महत्तत्त्वरूप होते हैं, वैसे ही महत्तत्त्व में से प्रकट हुए अन्य तत्त्व तद्रूप होते हैं. इसके पश्चात् इन तत्त्वों के कार्यभूत विराट तद्रूप होते हैं. इन विराट पुरुष से प्रकट हुए ब्रह्मादि तद्रूप हो जाते हैं तथा नारदसनकादिरूप होते हैं. इस रीति से अनेक प्रकार के कार्यों के लिये जिस-जिस में उन पुरुषोत्तम भगवान का प्रवेश होता है, उस उसको वे अपने प्रकाश द्वारा लीन करके स्वयमेव तद्रूप से सर्वोत्कर्ष भाव के साथ विराजमान होकर रहते हैं. जिनमें वे स्वयं विराजमान रहते हैं, उनके प्रकाश को स्वतः ढँककर अपना प्रकाश प्रकट करते हैं. जिस प्रकार

---

१. लोया के १८ वें वचनामृत की टिप्पणी में इस श्लोक का अर्थ दिया गया है.
२. अपनी शक्ति से अनुप्रवेश करके.

लोहे में रहनेवाली अग्नि लोहे में विद्यमान शीतलता के गुण और काले वर्ण को दूर करके स्वयं अपने गुण को प्रकट कर देती है, जब सूर्योदय होता है, तब उसके प्रकाश में समस्त तारागणों एवं चन्द्रमादि का तेज विलीन हो जाता है, तब एकमात्र सूर्य का ही प्रकाश रहता है, वैसे ही उन भगवान का जिस-जिसमें प्रवेश होता है, तब उस-उसके तेज को तिरोहित करके वे अपने प्रकाश को ही अधिकाधिक दिखाते हैं. जिस कार्य के लिये जिसमें उन्होंने स्वयं प्रवेश किया हो, उस कार्य को सम्पन्न करने के बाद वे उसमें से स्वतः अलग निकल जाते हैं. तब वह पुरुष जैसा होता है वैसा ही रहता है. उसमें जो अधिक प्रकाश (तेज) दिखायी पड़ता था, वह तो पुरुषोत्तम नारायण का तेज था, ऐसा समझना चाहिये. इस प्रकार सबके कारण सदा दिव्य साकार प्रत्यक्ष पुरुषोत्तमनारायण की मूर्ति में शक्कर के रस की मूर्ति की तरह त्यागभाग नहीं समझना चाहिये, बल्कि जैसी मूर्ति देखी हो, उसका ध्यान, उपासना एवं भक्ति करनी चाहिये, परन्तु उससे कुछ पृथक् नहीं समझना चाहिये.

उन भगवान में जो देहभाव दीखता है, उसे तो नट की माया की तरह समझना चाहिये. जो इस प्रकार से समझता है उसको उन भगवान के सम्बन्ध में किसी भी तरह का मोह नहीं होता. यह वार्ता किसकी समझ में आती है ? सुनिये, जिस पुरुष को ऐसी दृढ़ प्रतीति हो जाती है कि 'आत्यन्तिक प्रलय के समय भी भगवान तथा भगवान के भक्त दिव्य साकार रूप द्वारा अक्षरधाम में दिव्य भोगों को भोगते हुए रहते हैं तथा उन भगवान का रूप एवं भगवद्भक्तों का रूप अनन्त सूर्यचन्द्रों के प्रकाशसदृश तेजोमय बना रहता है,' वही इस वार्ता को समझ सकता है.

ऐसे तेजोमय दिव्यमूर्ति भगवान जीवों के कल्याण के लिये तथा जीवों से अपनी नवधा भक्ति कराने के लिये कृपापूर्वक अपनी समस्त शक्तियों, ऐश्वर्यों तथा पार्षदों को साथ में लेकर ही मनुष्यरूप में प्रकट होते हैं. तब भी मर्मवेत्ता पुरुष यही समझते हैं कि अक्षरधाम में भगवान का जैसा स्वरूप रहा है वैसा ही पृथ्वी पर भी भगवान का मनुष्यस्वरूप रहता है. वे तो उस स्वरूप तथा इस स्वरूप में लेशमात्र भी अन्तर नहीं समझते. जिन्होंने इस प्रकार भगवान को जान लिया है, उन्हें ही भगवान को तत्त्वतः जाननेवाला कहा जाता है तथा उनके सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि

उनकी माया की निवृत्ति हो चुकी है. जिन्हें इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है उन्हें ही ज्ञानी एवं एकान्तिक भक्त भी कहते हैं.

इस प्रकार जिन पुरुषों में भगवान के प्रत्यक्ष स्वरूप की दृढ़ उपासना-भावना उत्पन्न हो चुकी है, उन्हें भगवान के स्वरूप के सम्बन्ध में मायिक भाव रहने का कभी भी संशय नहीं होता. यदि उनसे कभी किसी कुसंगवश अथवा प्रारब्धकर्म के योग से कुछ अनुचित आचरण हो जाता है, तो भी उनका कल्याण होता है. इस प्रकार भगवान को समझने में जिसको संशय बना रहता है वह यदि ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो या महात्यागी हो, तो भी उसका कल्याण होना अत्यन्त कठिन होता है. जिसने सर्वप्रथम ऐसा दृढ़ निश्चय कर लिया हो और हृदय में ऐसी दृढ़ ग्रन्थि पड़ गयी हो कि 'आत्यन्तिक प्रलय की समाप्ति होने पर भी भगवान साकार रूप में विद्यमान रहते हैं,' उसे शास्त्रोक्त तेजोमय अलिंगभाव का श्रवण होने तथा किसी भी ऐसी वार्ता को सुनने पर भी संशय नहीं होता, क्योंकि उसने तो यह बात समझ ली है कि 'भगवान तो सदैव साकार ही हैं, परन्तु निराकार नहीं है और वे ही भगवान रामकृष्णादि मूर्तियों को धारण करते हैं.' जिसमें ऐसा दृढ़ ज्ञान रहे, उसके सम्बन्ध में यह मान लेना चाहिये कि उसकी निष्ठा परिपक्व हो चुकी है.'

इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने अपने भक्तजनों की शिक्षा के लिये अपने स्वरूप की अनन्य निष्ठा सम्बन्धी जो वार्ता की, उसे सुनकर समस्त परमहंसों तथा हरिभक्तों ने श्रीजीमहाराज के स्वरूप की उसी प्रकार विशेष दृढ़ता की. ॥ इति वचनामृतम् ॥७॥ ॥१३३॥

॥ श्रीपंचाला-प्रकरणं समाप्तम् ॥

भक्तराज सुराखाचर के राजभवन लोया गाँव के पास, श्रीनागडका

यहाँ पर विराजमान होकर श्रीजीमहाराज ने अमृतवचन कहे थे ।

भक्तराज झीणाभाई का राजभवन, श्रीपंचाला

यहाँ पर विराजमान होकर श्रीजीमहाराज ने वचनामृत उद्बोधित किये थे ।

॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ॥

श्रीगढडा मध्य प्रकरण के वचनामृत

वचनामृत १ : मोह का स्वरूप

संवत् १८७७ में ज्येष्ठ शुक्ल *पूर्णिमा को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने सफेद दुपट्टा धारण किया था, श्वेत चादर ओढ़ी थी, सिर पर सफेद पाग बाँधी थी तथा श्वेत पुष्पों का हार धारण किया था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनिमंडल तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. उस समय परमहंस झाँझ, मृदंग द्वारा भक्तिगान कर रहे थे.

श्रीजीमहाराज ने कीर्तन करनेवालों से कहा कि 'अब कीर्तन स्थगित रखिये तथा प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ करिये.' मुक्तानन्द स्वामी ने करबद्ध प्रणाम करके श्रीजीमहाराज से यह प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! मोह का कैसा स्वरूप है तथा मोह निवारण करने का कौन-सा उपाय है ?'

श्रीजीमहाराज थोड़ी देर तक विचारमग्न रहने के बाद बोले कि 'ऐसा प्रतीत होता है कि मोह का स्वरूप तो मन में भ्रान्तितुल्य बना रहता है और पुरुष के हृदय में जब मोह बढ़ जाता है तब मन में विशेष भ्रम हो जाता है. तब उसमें कर्तव्याकर्तव्य का विवेक विद्यमान नहीं रहता. ऐसे मोह की उत्पत्ति होने के कारण पर तो हमने आज ही विचार[१] किया है. आज अर्धरात्रि के समय जब हमारी नींद[२] उचट गयी थी तब[३] हम उत्तर दिशा की ओर मुख करके लेटे हुए थे. उस समय ध्रुवतारा दिखायी पड़ने पर हमने यह विचार किया कि 'यह तो उत्तरी ध्रुव है, परन्तु शास्त्रों[४] में दक्षिण

---

* शनिवार, १५ जून, १८२१.

१. अपना अनुभव प्रमाणों से निश्चित किया है.

२ समाधि.

३. नक्षत्रों के आधाररूप शिशुमारचक्र को देखने के पश्चात्.

४ सूर्यसिद्धान्त ग्रन्थ तथा सिद्धान्तशिरोमणि ग्रन्थ में दो ध्रुवों का वर्णन किया गया है.

ध्रुव का भी वर्णन किया गया है, किन्तु प्रश्न यह है कि वह कहाँ होगा ?' बाद में हमने दक्षिण ध्रुव की खोज की, वह भी हमें दिखायी दिया. जिस प्रकार कुएँ पर पानी खींचने की रहट होती है, वैसे ही दोनों ध्रुवों के बीच एक बड़ी रहट देखी. उस रहट के मेरु की दो धारें दोनों ओर ध्रुव-सी लगी हुई हैं. ये उसी प्रकार हैं, जैसे लकड़ी के खम्भों में लोहे की कीलें लगी हुई हों. उस रहट पर जैसे सूत की रस्सी लिपटी रहती है और उस रहट के साथ पीतल की जैसी फुल्लियाँ जड़ी होती हैं वैसे ही समस्त तारागण, देवता तथा नवग्रह आदि अपने स्थानरूपी रहट का आश्रय लेकर रहते हैं. उन सबको देखा. इसके पश्चात् सूर्य और चन्द्र के उदय एवं अस्त को भी, जो एक ही[१] स्थान से होता है, देखा. बाद में अन्तर्दृष्टि द्वारा यह भी देखा कि जितने ध्रुव आदि ब्रह्मांड में हैं, वे सब पिंड में भी हैं. इस देह में स्थित क्षेत्रज्ञ को भी देखा. उन क्षेत्रज्ञ में स्थित पुरुषोत्तमभगवान को भी देखा. उन भगवान के दर्शन करके हमारा मन उनके स्वरूप में पूर्णतः तन्मय हो गया. यह समाधि किसी भी प्रकार से भंग नहीं हुई. इसके पश्चात् कोई भक्त पुरुष आया और उसने हमारी बहुत स्तुति की. इस कारण, उस पर दया करके हमें पुनः शरीर में स्थित होना पड़ा. जब हमारे अन्तःकरण में यह विचार हुआ कि 'समाधि में से हम तो दयावश बाहर निकल कर आये हैं, परन्तु जिन अन्य[२] पुरुषों को समाधि में से बाहर निकलना पड़ता है, उसका क्या कारण होगा ?'

बाद में हमें ऐसा प्रतीत हुआ कि 'किसी भी विषय में इसकी आसक्ति रही है, इसी कारण इसे समाधि में से पुनः बाहर आना पड़ा है.' मोह का कारण भी पंचविषय का द्योतक है. ये विषय भी तीन प्रकार के हैं, जो उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ नामक हैं. इनमें से उत्तम विषय की प्राप्ति होने पर उसमें जब अन्तराय-द्योतक कोई वस्तु रोड़े अटकाती है तब उस पर क्रोध और उससे मोह उत्पन्न होता है. सामान्यतः श्रोत्रेन्द्रिय तथा शब्द का त्वगिन्द्रिय और स्पर्श का सदैव सम्बन्ध रहता है. इस प्रकार पंचविषयों का पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के साथ सम्बन्ध बना हुआ है. जिस पदार्थ को सामान्य रूप से देखा हो उसमें से अपनी वृत्ति को तोड़कर यदि उसे भगवान के

---

१. मुख्य.

२. समाधि में प्राप्त होनेवाले भगवान सम्बन्धी सुख का परित्याग करके.

स्वरूप में रखना हो, तो उसके लिये कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता और सहज ही तद्रूपक विषयों से वृत्ति टूट कर भगवान के स्वरूप में तल्लीन हो जाती है. यदि स्त्रियों आदि का अतिशय रमणीय रूप दिखायी पड़ गया हो और उसमें चित्तवृत्ति तन्मय हो गयी हो, तो भगवान के स्वरूप में ध्यान लगाने पर भी मन नहीं लग पाता और वह भी एक ही ठिकाने पर नहीं रहता. जब तक चित्त रमणीय पंचविषयों में मग्न रहेगा तब तक मोह नहीं मिट सकता. ऐसे पुरुष का मन जब उसके प्रिय विषय में लगा हुआ हो, उस समय यदि सन्त, गुरु एवं अपने इष्टदेव भगवान द्वारा उसका निषेध किया जाय, तो वह उन पर कुपित हो जाता है और उनसे द्रोह करने लगता है, परन्तु उनके वचनों का पालन नहीं करता. जिसके अन्तःकरण में ऐसी वृत्ति बनी हुई हो, उसे मोह कहा जाता है. यह बात भगवान ने गीता में कही है.

'ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥'[१]

श्रीकृष्ण भगवान द्वारा कहे गये ये वचन परम सिद्धान्त-द्योतक हैं. जब

---

१. अर्थ : जो पुरुष विषयों का ध्यान करता है, उसका इन विषयों के साथ संग और अधिक बढ़ जाता है, तब इस प्रकार के संग से काम की उत्पत्ति हो जाती है. संग की विकृत दशा को काम कहा गया है, अर्थात् पुरुष जिस दशा को प्राप्त कर विषयों का भोग किये बिना नहीं रह सकता, उसे काम कहा जाता है. काम में से क्रोध उत्पन्न होता है. काम-भावना रहने पर विषयों के समीप न होने के समय उसके निकट जो पुरुष उपस्थित रहते हैं उनके प्रति उस मनुष्य की यह धारणा हो जाती है कि 'इन्होंने मेरे अभीष्ट का नाश कर दिया है,' ऐसा मानकर वह कुपित हो जाता है, अर्थात् काम ही क्रोध का रूप धारण कर लेता है. तब क्रोध से सम्मोह हो जाता है. उस समय में पापकर्म कर डालता है. सम्मोह से, इन्द्रियजयादि के लिये प्रारम्भ किये गये प्रयत्नों में स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है. स्मृतिभ्रंश होने पर बुद्धि का नाश हो जाता है, अर्थात् उसने आत्मज्ञान के सम्पादन के लिये जो प्रयास किया था उसका नाश हो जाता है. बुद्धि के नष्ट होने से उसका विनाश हो जाता है, यानी फिरसे वह संसारचक्र में फँस जाता है.

शब्दादि विषयों में से किसी भी विषय में चित्त लगा रहता है तब चाहे कैसा ही बुद्धिमान पुरुष क्यों न हो, उसकी बुद्धि का ठिकाना नहीं रहने पाता और वह पशु के समान हो जाता है. मोह की उत्पत्ति होने के कारण विषयों में आसक्ति का रहना ही है.

जो पुरुष इन विषयों में से अपने मन को हटाने का इच्छुक हो, उसे सर्वप्रथम आत्मनिष्ठा को अत्यन्त सुदृढ़ कर लेना चाहिये कि 'मैं आत्मा हूँ, परन्तु देह नहीं हूँ.' एक तो इस विचार को दृढ़ कर लेना चाहिये तथा जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय की बात को भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिये. इसी प्रकार भगवान के स्वरूप के माहात्म्य को भी खूब अच्छी तरह जान लेना चाहिये. भगवान का यह माहात्म्य क्या है ? तब उसे ऐसा विचार करना चाहिये कि 'पंचविषयों का निर्माण तो भगवान द्वारा किया गया है, इसलिए भगवान में तो उनकी अपेक्षा अत्यधिक सुख समाया हुआ है. उदाहरणार्थ शब्द में केवल शब्द सम्बन्धी सुख ही रहता है, किन्तु अन्य अवशिष्ट चार विषयों का सुख शब्द से नहीं मिलता, वैसे ही स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध का सुख क्रमशः स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से ही प्राप्त होता है, परन्तु एक ही विषय में पंचविषयों का इकट्ठा सुख अन्तर्निहित नहीं रहता.' किन्तु, भगवान के स्वरूप में तो समस्त सुख इकट्ठे रहे हैं. यदि भक्त केवल भगवान के दर्शन ही कर ले, तो भी उसकी मनोकामना पूर्ण हो जाती है. इसी तरह भगवान का स्पर्शादिक भी भक्त को पूर्णकाम करता है. विषय सम्बन्धी जो मायिक सुख है वह तो नाशवान है, किन्तु भगवान सम्बन्धी सुख अखंड बना रहता है.

भगवान के ऐसे स्वरूप के माहात्म्य के विचार को भी अत्यन्त सुदृढ़ कर लेना चाहिये. ये जो तीन विचार बताये गये हैं उनके माध्यम से विषयों में से आसक्ति मिट जाती है. विषयों से आसक्ति मिटने पर विषयों के अच्छे या बुरे होने का कोई भेद ही नहीं रह जाता. तब रूपवती और बदसूरत स्त्री दोनों एकसमान प्रतीत होती हैं. उसी तरह पशु, पक्षी, लकड़ी, कंडे, पत्थर और सोने को वह पुरुष समान भाव से देखता है, परन्तु अच्छा पदार्थ देखकर उससे मोहित नहीं होता. वह पंचविषयों के प्रति इस प्रकार का रुख अपना लेता है, परन्तु उसमें अच्छे या बुरे का बुद्धिभेद नहीं रहता. इस प्रकार का आचरण करनेवाले पुरुष को निर्मोही कहा जाता है. श्रीकृष्ण

भगवान ने यही बात गीता में कही है :–

'समलोष्टाश्मकांचनः'

जिन पुरुषों के ऐसे लक्षण हों, उनके सम्बन्ध में यह मान लेना चाहिये कि उन्होंने भगवान के स्वरूप को तत्त्वतः जान लिया है. ऐसे पुरुषों को ही अनन्य भक्त कहा जाता है. उनको ही पतिव्रता के अंगवाले अनन्य भक्त तथा ज्ञानी जानना चाहिये. भगवान भी ऐसे पुरुष से प्रसन्न हो जाते हैं. भगवान को भी ऐसा भक्त अतिशय प्यारा लगता है. भगवान ने गीता में कहा है :–

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'

पतिव्रता के अंगवाले जो भगवद्भक्त हैं, वे ही भगवान को अत्यन्त प्रिय हैं. ऐसी बात नहीं है कि पतिव्रता के अंगवाले चतुर व्यक्ति ही हों, वस्तुतः ऐसी आकांक्षा रखनेवाले सभी लोगों को ऐसी भक्ति प्राप्त हो जाती है. इस संसार मे भोली स्त्रियाँ पतिव्रता होती हैं और कुछ स्त्रियाँ चतुर होने पर भी व्यभिचारिणी होती हैं. इस कारण चतुर स्त्री और भोली स्त्री का कोई तालमेल नहीं मिल सकता. वास्तविकता तो यह है कि कल्याण का इच्छुक पुरुष ही पातिव्रत अंग धारण करके भगवान की भक्ति करता है. जहाँ तक अच्छे और बुरे विषयों का प्रश्न है, कोई भी व्यक्ति एक ही दिन में शीघ्रतापूर्वक अपने इस विचार को मूर्त रूप नहीं दे सकता कि 'मैं ऐसा कर लूँ और निर्मोही हो जाऊँ.' यह काम तो आदर-भावना रखकर धीरे-धीरे ही हो सकता है. जैसे कुएँ के किनारे पर लगे हुए पत्थर पर से भीतर से पानी खींचते रहने से रस्सी यद्यपि नरम पड़ जाती है, फिर भी बहुत दिनों से ऐसा करते रहने के कारण उस पत्थर पर काई लग जाती है. यदि लोहे की सांकल द्वारा कुएँ में से पानी खींचा जाय, तो भी ऐसी काई नहीं लग पाती. अतएव, कल्याण के लिये प्रयत्न करनेवाले पुरुष को विषयों के प्रति रहनेवाली आसक्ति को टाल देना चाहिये, परन्तु उसके सम्बन्ध में व्याकुल रहकर विह्वल नहीं रहना चाहिये. गीता में भी कहा गया है :–

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।'

इसीलिए, यह चिन्तन करते रहना चाहिये कि 'इस जन्म में विषयों में जितनी आसक्ति टल सकती है, उतनी टाल देनी चाहिए. इतना प्रयास करने पर भी यदि कुछ हद तक आसक्ति रह गयी हो, तो उसे दूसरे जन्म

में टालना पड़ेगा, किन्तु भगवान के भक्त होने की दृष्टि से हमें चौरासी लाख योनियों में तो नहीं जाना है.' भगवान के भक्त को इस प्रकार हिम्मत रखकर धीरे-धीरे मोह की जड़ को उखाड़ फेंक देने के लिये प्रयत्न करते रहना चाहिये. जब तक अच्छे-बुरे विषयों के सम्बन्ध में समता का भाव उत्पन्न न हो जाय तब तक भगवान के भक्त की इस स्थिति को साधनदशा कहा जाता है. जब श्रेष्ठ-कनिष्ठ निषयों में समता प्रतीत होती हो, तब वह भक्त सिद्धदशा को प्राप्त हो चुका है, ऐसा समझ लेना चाहिये. जब कोई भक्त विषयों के प्रति रहनेवाली आसक्ति का परित्याग करके सिद्धदशा को प्राप्त कर लेता है तब उसे कृतार्थ हुआ मान लेना चाहिये. वेदों, शास्त्रों, पुराणों तथा इतिहास सम्बन्धी ग्रंथों का यही निष्कषार्थ है. हमने जो यह बात कही है, वह समस्त शास्त्रों का रहस्य है, इसलिए सभी हरिभक्तों को इस वार्ता पर दृढ़तापूर्वक ध्यान देते रहना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१॥ ॥१३४॥

वचनामृत २ : विषयों की उत्पत्ति

संवत् १८७८ में श्रावण शुक्ल *तृतीया को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे रेशम की गादी पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. उस समय मुनि झाँझ और मृदंग लेकर कीर्तन कर रहे थे.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब कीर्तन का कार्यक्रम स्थगित कर दीजिये. हम वार्ता करते हैं.' श्रीजीमहाराज ने बताया कि 'जिस पुरुष को आत्यन्तिक कल्याण प्राप्त करना हो तथा नारदसनकादि-जैसा साधु बनना हो, उसको इस प्रकार विचार करना चाहिये कि इस देह में जीव है तथा इन्द्रियाँ और अन्तःकरण जीव के साथ बने हुए हैं तथा इन्द्रियाँ और अन्तःकरण बाहर भी पंचविषयों से जकड़े हुए हैं. इसलिये, जीव अज्ञानवश इन्द्रियों एवं अन्तःकरण को अपना स्वरूप मानता है. वस्तुतः जीव इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से भिन्न है और पंचविषय अन्तःकरण से अलग हैं, परन्तु इन विषयों का अभ्यास

* गुरुवार, १ अगस्त, १८२१.

करते रहने से अन्तःकरण में पंचविषयों की एकता दिखायी पड़ती है.

विषयों की उत्पत्ति अन्तःकरण से नहीं बल्कि इन्द्रियों से होती है. जैसे बहुत तेज धूप या कड़ाके की ठंड का सबसे पहला असर बाह्य रूप से इन्द्रियों पर होता है, उसके बाद इन्द्रियों द्वारा उसका प्रवेश शरीर के भीतर होता है. उसकी उत्पत्ति भीतर से नहीं होती. वे तो बाहर से उत्पन्न होकर भीतर प्रवेश करते हैं. उसी प्रकार पंचविषय प्रथम अंतःकरण में उत्पन्न नहीं होते, वरन् सर्वप्रथम इन्द्रियों को विषयों का सम्बन्ध बाह्य रूप से होता है. इसके पश्चात् ये विषय अन्तःकरण में प्रवेश करते हैं. जैसे शरीर में बाहर जब फोड़ा होता है तब उस पर दवा लगाने से ही आराम होता है, केवल बातचीत सुनने से आराम नहीं होता. जैसे भूख और प्यास भोजन तथा पानी पीने से ही मिटती है, किन्तु अन्न एवं जल की चर्चा करने मात्र से पेट नहीं भरता और प्यास नहीं बुझती, वैसे ही पंचविषयरूपी रोग का शमन औषधि द्वारा ही हो सकता है.

अब रोगोपचार का प्रकार बताते हैं. जब त्वचा को स्त्री आदि विषयों का स्पर्श होता है तब त्वचा द्वारा अन्तःकरण में और अन्तःकरण द्वारा जीव में उनका प्रवेश होता है. वास्तविकता तो यह है कि विषयों की उत्पत्ति का मूल स्थान जीव तथा अन्तःकरण में से कोई भी नहीं है. अन्तःकरण में जिन-जिन विषयों की स्फुरणा होती है, वे भी पूर्वजन्म में इन्द्रियों द्वारा बाहर से ही आये हैं. इसलिए विषयों को टालने का एकमात्र उपाय यही है कि त्वचा द्वारा स्त्री आदि पदार्थों का स्पर्श नहीं करना चाहिये, नेत्रों से उनका रूप नहीं देखना चाहिए. जिह्वा द्वारा उनकी बात नहीं करनी चाहिए, कान द्वारा उनकी बात नहीं सुननी चाहिये तथा नासिका से उनकी गन्ध नहीं लेनी चाहिये. इस प्रकार, पंच इन्द्रियों द्वारा दृढ़तापूर्वक विषयों का परित्याग कर डालना चाहिये. तभी बाहर से विषयों का प्रवाह अन्दर की ओर नहीं हो सकेगा. जिस प्रकार, कुएँ में आनेवाली जलधारा कपड़े का डाट लगाने से बन्द हो जाती है और कुएँ का पानी साफ हो जाता है, वैसे ही बाह्य इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने से अन्तःकरण में बाहर के विषयों का प्रवेश नहीं हो पाता. जैसे पेट में पैदा हुई बीमारी उदर में औषधि जाने पर ही मिट सकती है, वैसे ही अन्तःकरण में इन्द्रियों द्वारा पहले से ही प्रविष्ट हुए विषयों का निवारण आत्मविचार द्वारा कर देना चाहिये. वह आत्मविचार ऐसा होना

चाहिये कि 'मैं आत्मा हूँ और मुझसे इन्द्रियों तथा अन्तःकरण का कोई भी सम्बन्ध नहीं है.' इस प्रकार दृढ़ विचार रखकर और उस चैतन्य में भगवान की मूर्ति को धारण करके स्वात्मसुख द्वारा परिपूर्ण रहना चाहिये. जैसे पानी से लबालब भरे हुई कुएँ का जल वहाँ बाहर से आनेवाली पानी की धाराओं का प्रवेश नहीं होने देता, उलीचने से खाली हो जाने पर ही इन धाराओं का पानी बाहर से भीतर आता है, वैसे ही आत्मसुख द्वारा आन्तरिक रूप से परिपूर्ण रहना और बाहर पंच इन्द्रियों द्वारा विषयों के मार्ग को बंद रखना ही कामादि को जीतने का सुदृढ़ उपाय है. किन्तु, ऐसा आचरण किये बिना केवल उपवास द्वारा कामादि को पराजित नहीं किया जा सकता. इसलिये, इस विचार को सुदृढ़ रखियेगा.' ॥ इति वचनामृतम् ॥२॥ ॥१३५॥

वचनामृत ३ : रसिक मार्ग

संवत् १८७८ में श्रावण शुक्ल *चतुर्थी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे गादी पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. उस समय परमहंस उनके सामने झाँझ-मृदंग लेकर कीर्तन कर रहे थे.

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने अपने नेत्रकमलों से संकेत करके सबको चुप कर दिया और वे बोले कि 'बड़े परमहंस आगे आवें, हमें बात करनी है.' इतना कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो पुरुष भगवान का भजन करते हों उनके लिये बड़ा पद प्राप्त करने के दो उपाय हैं और पतन के भी दो तरीके हैं, वही बात बताते हैं. इनमें से पहला तो यह है कि रसिक मार्ग द्वारा भगवान की भक्ति करनी तथा दूसरा आत्मज्ञान का उपाय है. ये दोनों मार्ग महत्ता प्राप्त करने तथा पतन के कारण होते हैं.

रसिक मार्ग में तो हज़ारों-लाखों लोग गिर चुके हैं और इनमें से कोई पुरुष मुश्किल से भगवान को पा सका होगा. बड़े आचार्यों ने भी रसिक मार्ग द्वारा भक्ति करायी है. उससे अहित तो बहुत-से लोगों का हुआ है

---

* शुक्रवार, २ अगस्त, १८२१.

और मलाई किसी की ही हुई है, क्योंकि जब रसिकतापूर्वक भगवान के स्वरूप का वर्णन करते हैं तब भगवान के साथ-साथ राधिकाजी, लक्ष्मीजी तथा उनकी सखियों के सौन्दर्य का भी वर्णन किया जाता है और जब अंग-अंग का वर्णन होता है तब वर्णन करनेवाले का मन निर्विकार कैसे रह सकता है ? इन्द्रियों का स्वभाव भी यही है कि वे अच्छे विषय की ओर आकृष्ट हो जाती हैं.

तीनों लोकों में राधिकाजी तथा लक्ष्मीजी जैसा सौन्दर्य किसी भी स्त्री का होता ही नहीं है, उनकी जैसी मृदु-मधुर वाणी भी नहीं होती और उनके देहों की सुगन्ध भी अत्यन्त चित्ताकर्षक होती है. तब ऐसे लावण्य को देखकर अथवा उसके सम्बन्ध में कोई बात सुनकर मोह क्यों नहीं उत्पन्न हो सकता ? यह तो अवश्य होता ही है. यदि मन में लेशमात्र भी विकार उत्पन्न हो गया, तो कल्याण-मार्ग से उस पुरुष का पतन हो जाता है. यदि कोई पुरुष रसिकतापूर्ण भावना के साथ भगवान की उपासना करता है, तो उसके लिये यह तरीका अत्यन्त विघ्नकारी हो जाता है.

ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में तो इसके विपरीत प्रतीति होती है कि 'जो ब्रह्म है, वही प्रकृति-पुरुषरूप होता है. बाद में वही ब्रह्म ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूप हो जाता है. आगे चलकर वही ब्रह्म स्थावरजंगम का रूप धारण कर लेता है और स्थावरजंगमरूपी आकार में रहनेवाले जीवों के रूप से भी ब्रह्म होता है.' इस प्रकार ब्रह्मज्ञान को उलटा समझकर बाद में समझनेवाला पुरुष अपने जीव को भी भगवान समझने लगता है. तब उसकी उपासना भंग हो जाती है. इसलिए, वह भी भगवान की आराधना के मार्ग से भटक जाता है. ऐसे ब्रह्मज्ञान में भी उपासना खंडित हो जाती है. यह बड़ा विघ्न है, क्योंकि ऐसा समझकर सबके कारण तथा समस्त जीवों के स्वामी भगवान का ही खंडन हो जाता है. अतएव, यह समझ लेना चाहिये कि ऐसी समझवाला भी कल्याण-मार्ग से गिर जाता है.

'ये दोनों मार्ग कल्याणकारी हैं, परन्तु इन दोनों मार्गों में बहुत बड़े विघ्न भी आ जाते हैं. ऐसी स्थिति में कल्याण की इच्छा रखनेवाले पुरुष को क्या करना चाहिये, यह प्रश्न है. उसका उत्तर दीजिये.'

समस्त परमहंस विचार करने लगे, किन्तु कोई भी परमहंस इसका उत्तर नहीं दे सका. तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका उत्तर तो यह है कि

जिस तरह अपनी माता अथवा बहन और पुत्री के परमरूपवती होने पर भी उन्हें देखने, उनके साथ बातचीत करने और उनका स्पर्श करने पर भी मन में लेशमात्र विकार उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही भगवान की भक्त स्त्रियों में माँ, बहन और पुत्री की भावना रहने पर किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हो सकता तथा रसिक मार्ग द्वारा भगवान का भजन करने से अभयपद की प्राप्ति होती है. यदि कोई पुरुष ऐसा नहीं समझे और भगवान की महान भक्त स्त्रियों को देखकर उन्हें जब विकार-दृष्टि से देखने लगता है तब उसे भारी दोष लग जाता है. अन्य स्त्री को देखने से जो दोष लगता है, वह भगवान के भक्त का दर्शन करने से टल जाता है, किन्तु भगवान के भक्त को विकार-दृष्टि से देखने के कारण जो दोष लगता है, उसे टालने का उपाय शास्त्रों में नहीं बताया गया है. उसी प्रकार भगवान के भक्त पुरुष को देखकर यदि कोई भी स्त्री अनुचित भावना रखने लगती है, तो वह भी उस पाप से कभी भी मुक्त नहीं हो पाती. इस प्रसंग में यह श्लोक उल्लेखनीय है :–

'अन्यक्षेत्रे कृतं पापं तीर्थक्षेत्रे विनश्यति ।
तीर्थक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति ॥'

इस श्लोक का अर्थ यह है कि 'अन्य स्थान में किया गया पाप भगवान अथवा भगवद्भक्त के सान्निध्य में जाने से मिट जाता है, परन्तु भगवान या उनके भक्त के पास जाकर किया गया पाप तीर्थक्षेत्र में किया गया पाप माना जाता है और वह वज्रलेप हो जाता है.' जिसको रसिकमार्ग द्वारा भगवान की भक्ति करनी हो, उसे तो हमारी बतायी गयी बात के अनुसार [१]निर्दोष बुद्धि रखनी चाहिये.

ब्रह्मज्ञान के मार्ग में तो यह समझना चाहिये कि 'जो ब्रह्म है, वह निर्विकार तथा निरंश है, इसीलिए वह विकार को नहीं प्राप्त होता और उसका अंश भी नहीं पड़ता.' उस ब्रह्म को जो सर्वरूप बताया गया है, वह इस प्रकार है कि 'यह ब्रह्म प्रकृति-पुरुष आदि सबका कारण तथा आधार है और अन्तर्यामी शक्ति द्वारा सबमें व्यापक बना हुआ है. जो कारण आधार और व्यापक हो, वह कार्य से पृथक् हो ही नहीं सकता. ऐसी समझ से शास्त्रों में ब्रह्म को स्वरूप बताया गया है,' किन्तु ऐसा नहीं मानना चाहिये

---

१. भगवान और भगवान के भक्त दिव्य हैं, ऐसी बुद्धि.

कि यह ब्रह्म ही विकार को प्राप्त कर चराचर जीवरूप हो गया. इस ब्रह्म से परब्रह्मरूपी जो पुरुषोत्तम नारायण हैं, वे भिन्न हैं और उस ब्रह्म के भी कारण, आधार तथा प्रेरक हैं. ऐसा समझकर उस ब्रह्म के साथ अपनी जीवात्मा का तादात्म्य स्थापित करके परब्रह्म की स्वामी-सेवक भाव से उपासना करनी चाहिये. इस प्रकार का विवेक ही ब्रह्मज्ञान है. वह भी परमपद को प्राप्त करने का निर्विघ्न मार्ग है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥३॥ ॥१३६॥

वचनामृत ४ : भगवान का अखंड चिन्तन

संवत् १८७८ में श्रावण शुक्ल *पंचमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. परमहंस दुकड़, सरोद और सितार बजाकर मल्हार राग में कीर्तन कर रहे थे.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'कीर्तन-गान स्थगित कर दीजिये. अब परमेश्वर की वार्ता करते हैं.' परमहंसों ने कहा, 'अच्छा महाराज !' इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने प्रश्न किया कि यदि 'कोई पुरुष शास्त्रों में बताये गये धर्म का पालन करता हो तथा भगवान की भक्ति भी करता हो, तब यदि उसके समक्ष ऐसा आपत्काल उपस्थित हो जाय कि भक्ति रखने पर धर्म चला जाय और धर्म रखा जाय, तो भक्ति चली जाय, तब किसे रखना चाहिये और किसका त्याग [1]कर देना चाहिये ?'

ब्रह्मानन्द स्वामी बोले कि 'यदि भगवान भक्ति रखने से प्रसन्न रहें, तो भक्ति रखनी चाहिये और धर्म का पालन करने से उन्हें प्रसन्नता रहे, तो धर्म का पालन करते रहना चाहिये.'

---

* शनिवार, ३ अगस्त, १८२१.

१. धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति से भगवान सम्बन्धी एकान्तिकता बनी रहती है. उसमें, ज्ञान वैराग्य में अन्तःसाधना की अपेक्षा रहती है. इसलिए, विषम देशकालादि से भी उसकी निवृत्ति का भय नहीं है. श्रवणादिक भक्ति तथा धर्म में तो बाह्य साधना की अपेक्षा है, अतएव देशकालादि की विषमता होने पर धर्म का त्याग करके भक्ति रखनी या धर्म का पालन कर भक्ति छोड़ देना चाहिये, इन दोनों बातों में से कौन-सी बात उचित है, यह बताइये. प्रश्न का इतना तात्पर्य है.

श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'जिसे प्रकट भगवान मिले हों, उसे तो वही काम करना चाहिये, जिससे भगवान प्रसन्न रहें. वह बात तो ठीक है, परन्तु जब भगवान का परोक्षभाव रहे, तब [१]क्या करना चाहिये ?'

मुक्तानन्द स्वामी इस प्रश्न का उत्तर देने लगे, परन्तु वे यथार्थ उत्तर न दे सके.

श्रीजीमहाराज बोले कि जब 'भगवान परोक्षरूप में अपने धाम में विराजमान हों और आपत्तिकाल उपस्थित हो जाय तो कोई न रहे, तब तो भगवान का अखंड रूप से चिन्तन करते रहना चाहिये. ऐसा करने से वह पुरुष भगवत्पथ से [२]नहीं गिरता.'

श्रीजीमहाराज ने पुनः प्रश्न पूछा कि 'जो पुरुष भगवान की महिमा अतिशय समझता हो और यह मानता हो कि चाहे कितने ही पाप किये हों, फिर भी यदि भगवान का नामस्मरण किया हो, तो सभी पाप जलकर भस्म हो जाते हैं, तो उसे किस प्रकार की समझ रखनी चाहिये, ताकि वह धर्म से च्युत न होने पावे ?' मुक्तानन्द स्वामी प्रश्न का उत्तर देने लगे, फिर भी वे यथार्थ उत्तर न दे सके.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो पुरुष भगवान की महिमा को अधिकाधिक समझता हो, उसमें तो इस प्रकार की समझ हो तब वह धर्म का पालन कर सके कि 'मुझे तो भगवान का अखंड रूप से चिन्तन करके एकान्तिक भक्त होना [३]है. यदि कामक्रोधलोभादि विकारों में मेरी वृत्ति जितनी अधिक बनी

---

१. इन दोनों में से किसका त्याग करना चाहिये और किसको रखना चाहिये.

२. भक्ति तथा धर्म का साहचर्य रहने के कारण इनमें से एक का लोप होने से दोनों का लोप हो जाने की संभावना बनी रहती है. इसलिए, ऊपर से इन दोनों का त्याग कर अन्तःकरण में दोनों को, भगवान का चिन्तन करते हुए बनाये रखना चाहिये. जो मनुष्य भगवान का अखंड चिन्तन करता रहता है, उसने भक्ति तथा धर्म दोनों को बनाये रखा है, इस बात में लेशमात्र भी संशय नहीं है, क्योंकि भगवान की मूर्ति धर्म एवं भक्ति का आधाररूप है. अतएव, एकाग्रतापूर्वक भगवान का चिन्तन करते रहने से दोनों का रक्षण होता है. इतना भावार्थ समझना चाहिये.

३. इसमें धर्मादिक चार निमित्तकारण हैं, जिनमें धर्म मुख्य है. वह धर्म भगवान को अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि भगवान धर्म की रक्षा के लिये युग-युग में प्रकट होते हैं तथा धर्मद्रोहियों का नाश करते हैं. भगवान को धर्म प्रिय है, इसीलिए मुझे धर्माचरण ही करना है.

रहेगी, उतनी ही हद तक मुझे भगवान के चिन्तन में विक्षेप बना रहेगा.' ऐसा समझकर वह कुमार्ग से अत्यन्त भयभीत रहता है और अधर्माचरण में कभी भी प्रवृत्त नहीं होता. इस प्रकार की समझ रखकर यदि वह भगवान के माहात्म्य को बहुत अच्छी तरह समझता रहे, तो वह धर्ममार्ग से कभी भी च्युत [१]नहीं हो सकता. भगवान का अखंड चिन्तन होना भी कोई साधारण बात नहीं है. यदि ऐसा पुरुष भगवान का चिन्तन करते-करते देहोत्सर्ग करता है, तो वह अत्यन्त महान पद को प्राप्त करता है.'

ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि 'ऐसा जानते हैं, तो भी अखंड चिन्तन नहीं हो पाता, इसका क्या कारण है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अखंड चिन्तन करते रहने के लिये ऐसी श्रद्धा होनी चाहिये. यदि ऐसी श्रद्धा नहीं रही तो उतना माहात्म्य जानने में भी न्यूनता बनी रहती है. यदि माहात्म्य जानने में कमी रही, तो भगवान के स्वरूप सम्बन्धी निश्चय में भी उतनी ही न्यूनता बनी रहेगी. यदि भगवान के स्वरूप का माहात्म्य रहा तथा श्रद्धा बनी रही, तो अखंड चिन्तन होता रहेगा. वह माहात्म्य इस प्रकार जानना चाहिये कि '[२]भगवान तो जिस प्रकार प्रकृति-पुरुष से परे हैं, वैसे ही प्रकृति-पुरुष में आये हैं, फिर भी वे प्रतापयुक्त हैं. वे प्रकृति-पुरुष के कार्यरूपी ब्रह्मांड में आये हैं, फिर भी वे प्रतापयुक्त हैं. माया भगवान की मूर्ति का लेशमात्र भी स्पर्श नहीं कर सकती. जैसे अन्य धातुओं तथा सोने को इकट्ठा करके पृथ्वी में गाड़ दिया जाय, तो लम्बा अर्सा होने पर सोने के सिवाय अन्य सभी धातुएँ मिट्टी के साथ मिट्टी हो जाती हैं. परन्तु, सोना तो पृथ्वी में जितने अधिक समय तक रहेगा उतना बढ़ता रहेगा, लेकिन घटेगा नहीं, वैसे ही भगवान तथा अन्य ब्रह्मादिक देवता एवं मुनि एकसमान नहीं हैं, क्योंकि जब विषयरूपी मिट्टी का योग उपस्थित होता है तब भगवान के सिवा अन्य देवादिक, भले ही वे कितने ही बड़े क्यों न हों, विषय में एकरस हो जाते हैं. परन्तु, भगवान यद्यपि मनुष्य-जैसे दिखायी पड़ते हैं, फिर भी उनके समक्ष कोई भी मायिक पदार्थ बाधा डालने में समर्थ नहीं हो पाता तथा वे किसी भी प्रकार के विषयों में कभी भी लिप्त नहीं होते.' इस प्रकार भगवान का माहात्म्य जानने

---

१. और अन्तकाल में भगवान के धाम को प्राप्त होता है.

२. सर्वदा अतिशुद्ध, स्वतन्त्र एवं निर्विकार हैं और.

पर भगवान के भक्त को भगवान का अखंड चिन्तन होता रहता है. जब तक विषयासक्ति बनी रहती है तब तक यही मानना चाहिये कि वह भक्त भगवान की अलौकिक महिमा को समझ ही नहीं पाता है. भगवान ने उद्धवजी से यह कहा था कि 'हे उद्धव ! मुझ से तुम अणुमात्र भी न्यून नहीं हो.' इसका कारण क्या है ? उद्धवजी ने भगवान का अलौकिक माहात्म्य जान लिया था. वे पंच विषयों के प्रति आकर्षित भी नहीं होते थे. जो पुरुष भगवान की महिमा को समझ लेता है, उसे यदि राज्य-वैभव हो या दीनता से भिक्षा माँगनी हो, फिर भी वह इन दोनों स्थितियों में समान भाव रखता है. इसी प्रकार, वह बालिका, युवती तथा अस्सी वर्ष की स्त्री के प्रति भी समदृष्टि रखता है. संसार में जो अच्छे-बुरे पदार्थ हैं उन सबके सम्बन्ध में वह समतापूर्ण भावना ही रखता है. फिर भी, वह अच्छे पदार्थों को देखकर परवाना की तरह आकृष्ट नहीं होता तथा भगवान के सिवा अन्य किसी भी पदार्थ में आसक्त नहीं होता. वह तो एकमात्र भगवान की मूर्ति में ही तन्मय रहता है. जो भक्त इस प्रकार का आचरण करता है, वह किसी भी प्रकार के बड़े विषयों से आबद्ध नहीं होता. यदि यह मर्म समझ में न आया हो, तो फटी लंगोटी और तोमड़ी से भी मन को हटाना बहुत मुश्किल हो जाता है. इसलिए, इस प्रकार भगवान की मूर्ति का माहात्म्य जाने बिना ही यदि कोई पुरुष कोटिशः अन्य उपाय करता है, तो भी भगवान की मूर्ति का अखंड चिन्तन नहीं हो पाता. वस्तुतः जिस पुरुष को भगवान के ऐसे स्वरूप की महिमा का ज्ञान हो जाता है उसी का मन भगवान का अखंड चिन्तन करने में लगा रहता है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥४॥ ॥१३७॥

वचनामृत ५ : पतिव्रता का धर्म

संवत् १८७८ में श्रावण शुक्ल *सप्तमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के सामने चबूतरे पर गद्दी बिछवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. उस समय मुनिगण तालमृदंग द्वारा भक्तिगीतों का गान कर रहे थे.

---

* सोमवार, ५ अगस्त, १८२१.

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने अपने नेत्रकमलों के संकेत से कीर्तन बन्द करा दिया, फिर वे बोले कि 'सब लोग सुनिये एक बात करते हैं और वह यह है कि भगवान के भक्त को पतिव्रता के धर्म का पालन करना चाहिये और [१]शूरवीर की भावना रखनी चाहिये. जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति के सिवा, भले ही वह वृद्ध, रोगी, निर्धन तथा कुरूप क्यों न हो, किसी अन्य पुरुष के अच्छे गुणों को देखकर अपना मन नहीं डुलाती और यदि गरीब की औरत पतिव्रता हुई, तो वह किसी बड़े राजा को देखकर भी अपना मन चलायमान नहीं करेगी, उसी प्रकार भगवान के भक्त को भी भगवान के प्रति पतिव्रता-धर्म का पालन करना चाहिये. ऐसी पतिव्रता स्त्री अपने पति के सम्बन्ध में बोले गये किसी निन्दा वचन को कायर की तरह नहीं सुन सकती, बल्कि दृढ़ता के साथ उसका प्रतिकार करती है. वैसे ही भगवान के भक्त को ऐसे निंद्य पुरुष का वचन सुनकर उसका प्रतिकार करना चाहिये, किन्तु उसे दबाना नहीं चाहिये. इस प्रकार की शूरवीरता रखनी चाहिये.

संसार में लोग ऐसा कहते हैं कि 'साधु को समदृष्टि रखनी चाहिये.' परन्तु, यह शास्त्रों का मत नहीं है, क्योंकि नारदसनकादिक तथा ध्रुव एवं प्रह्लाद आदि ने भी भगवान तथा उनके भक्तों के पक्ष का ही समर्थन किया है, किन्तु विपक्षी लोगों का बचाव नहीं किया. जो पुरुष विपक्षियों का पक्षधर बनेगा, वह इस जन्म में अथवा दूसरे जन्म में अवश्य ही विमुख हो जायगा. इसलिए, भगवान के भक्तों को निश्चिय रूप से भगवद्भक्त के पक्ष का ही समर्थन करना चाहिये, किन्तु विपक्षी लोगों का साथ नहीं देना चाहिये. हमारी इस वार्ता के सम्बन्ध में सब लोग अत्यन्त दृढ़ता रखना.'

॥ इति वचनामृतम् ॥५॥ ॥१३८॥

वचनामृत ६ : नास्तिकजनों का कुतर्क

संवत् १८७८ में श्रावण शुक्ल *अष्टमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के सामने चबूतरे पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये

---

* मंगलवार, ६ अगस्त, १८२१.

१. इन्द्रियों तथा अन्तःकरण पर दृढ़तापूर्वक रखना तथा मृत्यु से न डरना ही शूरवीर का लक्षण है.

थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. परमहंस तालमृदंग द्वारा कीर्तन कर रहे थे.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'कीर्तन बन्द करिये. अब भगवद् वार्ता करते हैं.' तब समस्त मुनिगण हाथ जोड़ कर बैठ गये.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस संसार में यवन-सदृश ऐसे कितने ही जीव हैं, जो यह कहते हैं कि 'गंगाजी का जल और दूसरा पानी, दोनों ही एकसमान हैं, शालिग्राम तथा दूसरे पत्थर एक ही तरह के हैं, तुलसी और अन्य वृक्ष एक ही प्रकार के हैं, ब्राह्मण तथा शुद्र भी एक-सरीखे हैं, ठाकुरजी का प्रसादी-अन्न तथा अन्य खाद्य-वस्तुएँ एकसमान हैं. एकादशी के दिन भूखे रहने और किसी अन्य दिन भूखे रहने में समानता ही है तथा साधु और दुर्जन एक ही स्तर के हैं. तब महापुरुष कहे जानेवाले लोगों ने शास्त्रों मे यह विधिनिषेध किस कारण किया होगा,' ऐसा मत दुर्मतिवाले व्यक्त करते हैं. इसीलिए, हम समस्त सन्तों से यह प्रश्न पूछते हैं कि 'महापुरुषों ने शास्त्रों में विधिनिषेध का जो प्रावधान रखा है, वह सत्य है या कल्पित ?' छोटे परमहंसों को इस प्रश्न का उत्तर देना चाहिये.

छोटे परमहंस बोले कि 'विधिनिषेध का भेद सत्य है. यदि ऐसा न हो, तो स्वर्ग-नरक का वर्गीकरण किसके लिये किया जाय ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यद्यपि आप छोटी उम्र के हैं, फिर भी आपका दृष्टिकोण श्लाघ्य है.' इतना कहने के पश्चात् श्रीजीमहाराज प्रश्न का उत्तर देने लगे कि 'महापुरुषों ने शास्त्रों में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है वह पूर्णतः सत्य है. इस प्रसंग में एक दृष्टान्त विचारणीय है. वह यह है कि जब कोई बड़ा धनी पुरुष किसी व्यक्ति को हुंडी लिखकर देता है तब उस कागज़ में तो एक रुपया भी नज़र नहीं आता, परन्तु उल्लिखित रकम बिलकुल सच्ची है. इसका रहस्य यह है कि जिस धनाढ्य पुरुष के नाम यह हुंडी लिखी गयी है, उसको जब इसे सौंप दिया जाय तब उसके द्वारा रकम का भुगतान किये जाने से रुपयों का ढेर लग जाता है. वैसे ही महापुरुष की आज्ञा से धर्म का पालन करनेवाले व्यक्ति को सबसे पहले विधिनिषेध में यद्यपि कोई विशेषता नहीं दिखायी पड़ती, परन्तु महापुरुष की आज्ञा का पालन करनेवाले मनुष्य का अन्त में उसी प्रकार कल्याण ही होता है जैसे हुंडी के भुगतान से रुपये प्राप्त हो जाते हैं. जिस समर्थ धनवान

व्यक्ति ने जो हुंडी लिखी है, उस पर विश्वास न करनेवाले मनुष्य को मूर्ख समझना चाहिये, क्योंकि उसे उस धनवान पुरुष के प्रताप की जानकारी ही नहीं है.

इसी प्रकार, जिस पुरुष को नारदसनकादिक एवं व्यास, वाल्मीकि आदि महापुरुषों के वचनों में विश्वास नहीं है, उसे नास्तिक और घोर पापी मानना चाहिये. नास्तिक बुद्धिवाला पुरुष तो यह समझता है कि 'अन्य पाषाण और ठाकुरजी की मूर्ति में क्या अन्तर है ? सभी पत्थर एक ही तरह के होते हैं. इसी प्रकार विवाहित स्त्री और अविवाहित स्त्री में क्या फर्क है ? सभी स्त्रियाँ एकसमान हैं. घर की औरत तथा माता और बहन में क्या अन्तर है ? इन सबका एक-जैसा ही आकार है. भगवान की रामकृष्णादि सम्बन्धी सभी मूर्तियाँ भी मनुष्याकार हैं. अधिक न्यूनता का भाव तो मनुष्य ने अपनी कल्पना द्वारा प्रस्तुत किया है. फिर भी, क्या किया जाय, मनुष्य समाज में रहता है, इसलिए सबकी 'हाँ' में 'हाँ' मिलानी चाहिये, परन्तु विधिनिषेध का मार्ग असत्य है.' पापी नास्तिकजन अपने मन में ऐसा समझते हैं. इसलिए जिसकी ऐसी बात सुनी जाय, उसे पापी तथा नास्तिक समझना चाहिये और उसे चांडाल मानते हुए उसका किसी भी तरह से संग नहीं करना चाहिये.

श्रीजीमहाराज ने पुनः अन्य वार्ता भी कही कि 'मनुष्यमात्र का चित्त कैसा होता है.' उन्होंने बताया कि 'शहद या गुड़, शक्कर और चीनी मिला पानी एक ही तरह का होता है. शहद या गुड़, शक्कर और चीनी के पानी में अगर मक्खी, चींटी और चींटा पड़ जाय, तो वे सब वहीं चिपक जाते हैं. यदि कोई मनुष्य वहाँ हाथ लगावे, तो उसकी उँगली में भी वह पानी लग जाता है. उसी तरह, चित्त का भी ऐसा स्वभाव है कि जिस-जिस पदार्थ के सम्बन्ध में वह जो-कुछ सुनता है, उस-उस पदार्थ में वह लग जाता है. पत्थर, कूड़ा-कचरा और कुत्ते का मल आदि जो निकम्मी चीजें हैं वे यद्यपि लेशमात्र भी सुखदायी नहीं हैं, फिर भी उनमें मन लग जाता है. यदि कभी भी उनकी याद आ गयी, तो वह उनका ही चिन्तन करने लगता है. ऐसा उसका चिपकने का स्वभाव है. जिस प्रकार बड़े दर्पण के सामने खड़े होने पर बड़े सन्त का प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ता है और कुत्ता, गधा, चांडाल आदि का भी प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है, वैसे ही चित्त में भी

अतिनिर्मलता रहती है. इसलिये, उसमें जिस पदार्थ की स्मृति आ जाती है वही दिखायी पड़ने लगता है. उसमें अच्छे-बुरे का कोई मेल नहीं रहता. अतएव, किसी भी मुमुक्षुजन को ऐसा विचार नहीं करना चाहिये कि 'मुझे वैराग्य नहीं है, इसलिये मेरे चित्त में स्त्री आदि पदार्थों की स्फुरणा होती रहती है.' वस्तुतः बात यह है कि वैराग्यवान पुरुष के चित्त में भी जब जिस पदार्थ की स्मृति जाग उठती है, तो सहज ही उसका स्वरूप सामने उभर आता है. इसलिये, वैराग्य तथा [१]राग का कोई कारण नहीं है. वास्तव में चित्त का स्वभाव ही ऐसा है कि वह 'सुनी हुई भली-बुरी बात का चिन्तन करता रहता है.' जब वह जिस पदार्थ का चिन्तन करता है, तब वही पदार्थ दर्पण के समान उसके सामने उभर आता है. इसलिये, यह समझ लेना चाहिये कि 'मैं तो इस चित्त से भिन्न हूँ तथा मैं इसको देखनेवाली आत्मा हूँ.' यह जानते हुए अच्छे-बुरे संकल्पों द्वारा ग्लानि को उत्पन्न होने का मौका नहीं देना चाहिये और स्वयं को चित्त से पृथक् जानकर भगवान का भजन करते रहना चाहिये और सदैव आनन्दमग्न रहना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥६॥ ॥१३९॥

वचनामृत ७ : विकारों का उन्मूलन

संवत् १८७८ में श्रावण शुक्ल *एकादशी को रात्रि में स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के सामने विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि यदि 'भगवान के भक्त के मन में ऐसा विचार हो कि भगवान के भजन में विघ्न डालनेवाला कोई स्वभाव नहीं रखना चाहिये, फिर भी अनुचित स्वभाव रह जाता है, इसका क्या कारण है?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'वैराग्य में जिस पुरुष की दुर्बलता बनी रहती है, उसे टालने की भावना रहने पर भी वह स्वभाव उसी प्रकार नहीं टल

---

* शुक्रवार, ९ अगस्त, १८२१.

१. प्रिय या अभीष्ट वस्तु के प्रति मन में होनेवाला भाव या झुकाव.

पाता, जिस तरह दरिद्री मनुष्य को स्वादिष्ट भोजन तथा अच्छे वस्त्रों की चाह रखने पर भी ये वस्तुएँ नहीं मिल पातीं. ये वस्तुएँ उसे मिलें भी कहाँ से ? वैसे ही वैराग्यहीन पुरुष के हृदय में इच्छा रहने पर भी साधुता के गुण आना दुर्लभ है.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पुनः यह प्रश्न किया कि 'जिस पुरुष में वैराग्य की भावना नहीं हो, उसे ऐसा कौन-सा उपाय करना चाहिये, जिससे उसके मनोविकार मिट जायँ ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'वैराग्यहीन पुरुष को तो किसी बड़े सन्त की खूब सेवा करनी चाहिये तथा परमेश्वर की आज्ञा में यथार्थ रूप से रहना चाहिये. उस पर परमेश्वर की ऐसी कृपादृष्टि हो सकती है कि 'वह बिचारा वैराग्यरहित है और उसे कामक्रोधादि विकार अत्यन्त पीड़ित कर रहे हैं, इसलिए इसके समस्त विकार मिट जाने चाहिये.' परमेश्वर की कृपा से ये विकार तुरन्त मिट जाते हैं, किन्तु अनेक उपायों द्वारा तो दीर्घकाल तक साधना करते रहने पर ही इस जन्म अथवा दूसरे जन्म में वे मिटते हैं. समस्त विकारों का तत्काल उन्मूलन तो केवल परमेश्वर की कृपा से ही सम्भव हो सकता है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥७॥ ॥१४०॥

वचनामृत ८ : एकादशी व्रत

संवत् १८७८ में श्रावण शुक्ल *द्वादशी को प्रातःकाल स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे गद्दी पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. परमहंस ताल मृदंग द्वारा कीर्तन कर रहे थे.

श्रीजीमहाराज साधुओं से बोले कि 'एकादशी व्रत करने का विवरण यह है कि एक बार जब भगवान दस इन्द्रियों और ग्यारहवें मन को अन्तर-सन्मुख करके सो रहे थे, तभी नाड़ीजंघ का लड़का मुरदानव युद्ध करने के लिये आया. तब भगवान की एकादश इन्द्रियों के तेज में से एक कन्या

* शनिवार, १० अगस्त, १८२१.

उत्पन्न हुई. तब मुरदानव कन्या से बोला कि 'तू मुझसे विवाह कर ले ?' कन्या बोली कि मेरी तो ऐसी प्रतिज्ञा है कि 'जो कोई मुझे युद्ध में जीत लेगा, उसीके साथ विवाह करूँगी.' इसके पश्चात् मुरदानव का मस्तक काट डाला.

इस पर भगवान ने प्रसन्न होकर कन्या से कहा कि 'तू वरदान माँग ले.' कन्या ने यह वरदान माँगा कि 'मेरे व्रत के दिन किसी भी मनुष्य को अन्नाहार नहीं करना चाहिये. मैं आपकी एकादश इन्द्रियों के तेज में से प्रकट हुई हूँ, इसीलिए, मेरा नाम एकादशी है. मैं तपस्विनी हूँ, अतएव मेरे व्रत के दिन मन आदि एकादश इन्द्रियों का आहार किसी को नहीं करना चाहिये.' एकादशी के ऐसे वचन को सुनकर भगवान ने यह वरदान दे दिया. ऐसी पौराणिक कथा है.

धर्मशास्त्रों में भी ऐसा कहा गया है कि 'एकादशी के व्रत के दिन काम, क्रोध, लोभादि सम्बन्धी बुरे संकल्प मन में बिलकुल नहीं करने चाहिये. इसी प्रकार, शारीरिक क्रियाओं द्वारा भी कोई अनुचित आचरण नहीं करना चाहिये.' शास्त्रों के यही वचन हैं. उन्हीं शास्त्रों के अनुसार ही हम भी यह बात कहते हैं कि 'एकादशी के दिन [1]ढोरलंघन नहीं करना चाहिये तथा एकादश इन्द्रियों के आहार का भी त्याग कर डालना चाहिये. वही एकादशी व्रत वास्तविक रहेगा, अन्यथा वह कैसा ही रहेगा, जैसा कि पशु आहार न मिलने पर निराहार रह जाता है.' जिस प्रकार प्राणों का आहार अन्न है, वैसे ही श्रोत्रेन्द्रिय का आहार शब्द, त्वचा का आहार स्पर्श, नेत्रों का आहार रूप, जिह्वा का आहार रस, नासिका का आहार सुगन्ध तथा मन का आहार संकल्प-विकल्प है, वैसे ही ग्यारह इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न आहार हैं. इन समस्त आहारों के त्याग को ही एकादशी व्रत कहा जाता है. यदि ये ग्यारहों इन्द्रियाँ कुमार्गगामी होकर अपना-अपना आहार ग्रहण करने लगें, तो उस क्रिया को शास्त्रसम्मत एकादशी व्रत नहीं कहा जा सकता. अतएव, जिस दिन एकादशी व्रत करना हो, तब ग्यारहों इन्द्रियों को अपना आहार करने का मौका नहीं दिया जाना चाहिये. ऐसा व्रत १५ दिनों में एक बार आता है, जिसे सावधान होकर करना चाहिये. तभी व्रतकर्ता से भगवान प्रसन्न होते हैं, किन्तु ढोरलंघन से भगवान प्रसन्न नहीं होते.

---

१. अन्य नियमों का पालन किये बिना केवल उपासनामात्र करने को ही ढोरलंघन कहा जाता है.

श्वेतद्वीप में जो निरन्नमुक्त कहलाते हैं, वे तो सदैव यह करते हैं और कभी भी इस व्रत का उल्लंघन नहीं होने देते, इसीलिए, उन्हें निरन्न कहा जाता है. हम लोगों को भी ऐसी ही इच्छा रखनी चाहिये कि 'श्वेतद्वीप में जैसे निरन्नमुक्त हैं, उनके समान ही हमें भी होना है.' किन्तु, इस बात के बारे में पस्तहिम्मत नहीं होना चाहिये. हिम्मत रखकर यदि पूर्वोक्त प्रकार से एकादशी व्रत रखा जाय तथा भगवान की कथा एवं कीर्तनादि किया जाय और श्रवण तथा जागरण किया जाय, तो वही व्रत सच्चा है. शास्त्रों में भी उसी का नाम एकादशी कहा गया है.' इतनी बात करके श्रीजीमहाराज मौन रहे और सन्त कीर्तन करने लगे.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'ब्रह्मा ने जब सर्वप्रथम सृष्टि-रचना की तब उन्होंने समस्त प्रजाजनों से कहा कि 'आप सब यज्ञ करना. उस यज्ञ द्वारा आपके लिये समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि होगी तथा सृष्टि की भी वृद्धि होगी. अतएव यज्ञ अवश्य करना.' बाद में ब्रह्मा ने वेदों में बताये गये अनेक प्रकार के यज्ञों की विधिवत् जानकारी दी. प्रवृत्तिमार्गी लोगों को उन्होंने प्रवृत्तिमार्ग के राजसी, तामसी यज्ञ बताये. निवृत्तिमार्गी लोगों को उन्होंने सात्त्विक यज्ञों का विधान बताया. श्रीकृष्ण भगवान ने इन यज्ञों का विवरण भगवद्गीता में बताया है. हम तो निवृत्तिमार्गी हैं, इसलिये हमें तो सात्त्विक यज्ञ करने चाहिये. परन्तु, जिनमें पशुओं का वध किया जाता हो ऐसे राजसिक-तामसिक यज्ञ हमें नहीं करने चाहिये.

सात्त्विक यज्ञ की विधि यह है कि 'दस इन्द्रियों और ग्यारहवें मन को उन विषयों से, जिनसे वे आबद्ध रहते हैं, हटा लेना चाहिये और उन्हें ब्रह्माग्नि में होम देना चाहिये.' इसका नाम योगयज्ञ बताया गया है. इस प्रकार होम करते रहने पर जैसे यज्ञकर्ता को भगवान दर्शन देते हैं, वैसे ही उस योगयज्ञ के करनेवाले के हृदय में अपना स्वरूप जो ब्रह्म है उसमें वे परब्रह्म पुरुषोत्तम प्रकट हो जाते हैं. यह योगयज्ञ का फल है.

भगवान का जो भक्त अन्तर्दृष्टि से आचरण करता है, उसे [1]ज्ञानयज्ञ

---

१. योगयज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है. 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि,' ऐसा गीता में कहा गया है तथा 'एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः । यद्भक्त्या पुंडरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा', इस प्रकार विष्णुसहस्रस्तोत्र में बताया गया है.

कहा जाता है. अब कोई यह पूछ सकता है कि 'अन्तर्दृष्टि क्या है ?' इसका उत्तर यह है कि 'बाहर अथवा भीतर भगवान की मूर्ति के समक्ष चित्तवृत्ति' स्थिर रखने की क्रिया को अन्तर्दृष्टि कहा जाता है और इसके बिना यदि अन्तर्दृष्टि करके जो बैठा है, वह बाह्य दृष्टि ही है, इसलिए यह बताया गया है कि बाहर भगवान का दर्शन एवं पूजन तथा कथा कीर्तन आदि भगवान सम्बन्धी जो क्रियाएँ हैं, वे ही अन्तर्दृष्टि हैं. इन सभी क्रियाओं को ज्ञानयज्ञ कहा जाता है. भगवान की उसी मूर्ति को अन्तःकरण में धारण करके उसका पूजन एवं वन्दन आदि क्रिया को अन्तर्दृष्टि तथा ज्ञानयज्ञ बताया गया है. सत्संगीमात्र के यहाँ ऐसा अखंड ज्ञानयज्ञ होता रहता है.

समाधि तो किसी को लगती है और किसी को नहीं. परमेश्वर की इच्छा से ऐसा होता है. कहीं-कहीं भक्त की अपरिपक्वता के कारण भी ऐसी स्थिति हो जाती है. कितने ही मूर्ख लोग ऐसा कहते हैं कि 'गोपिकाओं के अंगों को लक्ष्य करके किया जानेवाला कीर्तन मत करिये, किन्तु निर्गुण कीर्तन-गान करिये.' जो मनुष्य निर्वस्त्र घूमते-फिरते हैं, उन्हें मूर्ख लोग निर्गुण कहते हैं. यदि निर्वस्त्र होकर भ्रमण करने को निर्गुण माना जाय, तो कुत्ते, गधे आदि सभी निर्गुण कहलाते. यह तो मूर्खों की अपनी समझ है. ज्ञानी भक्त तो यह मानता है कि 'भगवान का स्वरूप ही निर्गुण है तथा भगवान के साथ जिस-जिसका सम्बन्ध हुआ है, वे सब निर्गुणमार्गी हैं. जिस-जिस कथा-कीर्तन में भगवान के स्वरूप का सम्बन्ध है, वह निर्गुण कहलाता है. जिस कथा-कीर्तन से भगवान का सम्बन्ध न रहे, वह मायिक गुणों से युक्त है, अतएव वह सगुण कहलाता है. यदि भगवान की प्राप्ति नहीं हुई हो और वह पुरुष निर्वस्त्र घूमता रहे, उसे निर्गुण नहीं कहा जा सकता. जिस पुरुष को भगवान की प्राप्ति हो चुकी है, वह गृहस्थाश्रमी होने पर भी निर्गुण कहलाता है. यदि कोई त्यागी हो, वह भी निर्गुण कहलाता है.' इसलिये, भगवान को प्राप्त करने का मार्ग ही निर्गुण मार्ग है. वह पुरुष जो कुछ भी क्रिया करता है उसे निर्गुणात्मक कहते हैं. जिस पुरुष का भगवान के साथ सम्बन्ध हो गया है, उस पुरुष के भाग्य का पार ही नहीं रहता. भगवान के साथ सम्बन्ध एक ही जन्म के पुण्यों से सम्भव नहीं होता. श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में कहा है :-

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।'

इस श्लोक का अर्थ यह है कि 'अनेक जन्मों के संचित पुण्यों से संसिद्ध हुआ पुरुष परमपद को प्राप्त कर लेता हैं.' वह परमपद क्या है ? प्रत्यक्ष भगवान की प्राप्ति ही परमपद है. श्रीकृष्ण भगवान ने यह भी कहा है :–

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥'

इस श्लोक का अर्थ यह है कि 'इस संसार में भगवान के अंशरूपी जो जीव हैं, वे मनसहित पंच ज्ञानेन्द्रियों को पंचविषयों से खींचकर अपने वश में रखते हैं. जो जीव भगवान के अंश नहीं हैं, उन्हें इन्द्रियाँ आकृष्ट करके अपनी इच्छा के अनुसार नचाती हैं.' हम सब तो इन्द्रियाँ द्वारा खीचे जाने से उनके प्रति आकृष्ट नहीं होते, इसलिए भगवान के अंश हैं. ऐसा मानकर आनन्दमग्न रहते हुए भगवान का भजन करते रहना चाहिये तथा इन्द्रियों की समस्त वृत्तियों को भगवान के स्वरूप में होम देना चाहिये. सदैव ज्ञान यज्ञ करना चाहिये.

यज्ञरहित पुरुष का किसी भी तरह से कल्याण नहीं होता. चारों वेदों, सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र, धर्मशास्त्र, अठारह पुराणों, महाभारत, रामायण तथा नारदपंचरात्र आदि समस्त शास्त्रों का यही सिद्धान्त है कि 'यज्ञरहित का कल्याण नहीं होता.' इसलिए, हमारी भी यही आज्ञा है कि 'समस्त परमहंस तथा सभी सत्संगी ज्ञानयज्ञ करते रहना.' इस प्रकार ज्ञानयज्ञ करते-करते अपना स्वरूप जो ब्रह्म है उसमें जब परब्रह्म भगवान का साक्षात्कार हो जाय, तो वही ज्ञानयज्ञ का फल है. ऐसा ज्ञानयज्ञ करते करते जब श्वेतद्वीप-स्थित निरन्नमुक्तों के सदृश हो जायँ, तब ज्ञानयज्ञ की विधि की अवधि पूरी हो जाती है. जब तक ऐसा न हो जाय, तब तक यह समझ लेना चाहिये कि यह कार्य अधूरा रह गया. फिर भी, निरन्नमुक्त तुल्य होने की तीव्र इच्छा रखनी चाहिये किन्तु श्रद्धारहित नहीं होना चाहिये और स्वयं में अपूर्णता नहीं माननी चाहिये. यह समझकर स्वयं को कृतार्थ मानना चाहिये कि भगवान की प्राप्ति हुई है और सावधान रहकर ज्ञानयज्ञ करते रहना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥८॥ ॥१४१॥

वचनामृत ९ : स्वरूपनिष्ठा

संवत् १८७८ में श्रावण शुक्ल *चतुर्दशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे मशरू की गद्दी पर विराजमान थे. उस समय आनन्दानन्द स्वामी ने पूजा की थी, इसलिए लाल किमखाब का चूड़ीदार पायजामा पहना था, लाल किमखाब की बगलबंड़ी पहनी थी, मस्तक पर सुनहरे पल्ले का कुसुम्भी फेंटा कन्धे पर रखा था, कमर पर जरीवाला शेला कस रखा था, गाढ़े आसमानी रंग का फेंटा कन्धे पर रखा था और हाथों में राखियाँ बाँधी थीं. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'क्या कीर्तन करें.' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब परमेश्वर की वार्ता करेंगे.' श्रीजीमहाराज बोले कि 'ज्ञानमार्ग को तो ऐसा समझना चाहिये कि 'किसी भी तरह भगवान के स्वरूप के सम्बन्ध में द्रोह नहीं हो सकता और किसी भी समय भगवान की आज्ञा का लोप होता हो, तो उसकी चिन्ता नहीं, परन्तु भगवान के स्वरूप के प्रति द्रोह नहीं होने देना चाहिये.' यदि भगवान की आज्ञा का कुछ उल्लंघन हो गया हो, तो भगवान से प्रार्थना द्वारा भी उससे छुटकारा मिल जाता है किन्तु भगवान के स्वरूप के प्रति किये गये द्रोह के परिणामस्वरूप उसका कोई प्रतिकार नहीं हो सकता. इसलिए, विवेकशील पुरुष को यथासामर्थ्य भगवान की आज्ञा का पालन अवश्यमेव करते रहना चाहिये, परन्तु भगवान की मूर्ति का अतिशय संबल ही अपने पास रहना चाहिये कि 'सर्वोपरि, सदा दिव्य, साकार मूर्ति एवं समस्त अवतारों के अवतारी भगवान का स्वरूप मुझे प्राप्त हुआ है.'

जो पुरुष ऐसा समझता हो, वह यदि कभी सत्संग से किसी कारणवश हट गया हो तो भी भगवान की मूर्ति में से उसका अनुराग नहीं मिटता. अभी तो वह सत्संग से बाहर है, किन्तु देहान्त होने के पश्चात् अन्ततः अक्षरधाम में भगवान के सान्निध्य में पहुँच जायगा.

---

* सोमवार, १२ अगस्त, १८२१.

अभी जो वह सत्संग में रहता होगा और शास्त्रों के वचनों का भी पालन करता होगा, फिर भी उसे यदि भगवत्स्वरूप में निष्ठा सुदृढ़ नहीं होती और संबल नहीं होता तो वह देहत्याग करने के पश्चात् ब्रह्मा के लोक में या किसी अन्य देवता के लोक में जायगा परन्तु वह पुरुषोत्तम भगवान के धाम में नहीं जा सकेगा. इसलिए, उसे यह जान लेना चाहिये कि अपने को साक्षात् प्राप्त भगवान का स्वरूप सदा दिव्य साकार मूर्ति है तथा समस्त अवतारों का कारण अवतारी है. यदि वह ऐसा न जानकर उसको निराकार तथा अन्य अवतार-सदृश जानेगा, तो उसका यह आचरण उस स्वरूप को अन्य अवतार-सदृश भी नहीं समझना चाहिये.

श्रीजीमहाराज ने यह भी बताया कि अर्जुन को तो भगवान के स्वरूप का संबल था तथा युधिष्ठिर राजा को शास्त्रों के वचनों में विश्वास था. बाद में जब महाभारत का युद्ध हुआ, तब श्रीकृष्ण भगवान ने अर्जुन से कहा कि :-

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥'

इस श्लोक का अर्थ यह है कि 'हे अर्जुन ! तुम समस्त धर्मों को छोड़कर केवल मेरी ही शरण में आ जाओ, मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा. तुम किसी भी प्रकार की चिन्ता मत करो.' अर्जुन ने इस वचन को मान लिया. यद्यपि अर्जुन ने युद्ध में अनेक हिंसात्मक कार्य किये, फिर भी वे मन में लेशमात्र भी क्षुब्ध नहीं हुए, क्योंकि उन्हें भगवान के आश्रय का संबल था. यद्यपि युधिष्ठिर ने कोई पाप नहीं किया था, फिर भी उन्हें भगवान की आज्ञा की अपेक्षा शास्त्रों के वचनों में अधिक विश्वास था. इन वचनों से उन्होंने मान लिया कि 'कभी भी मेरा कल्याण नहीं होगा.' सभी ऋषियों, व्यासजी तथा स्वयं श्रीकृष्ण भगवान ने युधिष्ठिर को समझाया, फिर भी उनको दुःख तो बना ही रहा. इसके पश्चात् श्रीकृष्ण भगवान युधिष्ठिर को भीष्म के पास ले गये, जहाँ उन्होंने उनसे उन्हें शास्त्र सम्बन्धी कथा सुनवायी, तब उन्हें कुछ विश्वास हुआ, फिर भी वे अर्जुन के समान निःसंशय नहीं हुए. अतएव, बुद्धिमान पुरुष को तो भगवत्स्वरूप का अतिशय संबल रखना चाहिये. यदि भगवान का अल्प आश्रय भी हो, तो उसके फलस्वरूप भीषण भय से भी रक्षा हो जाती है. यही बात श्रीकृष्ण

भगवान ने गीता में कही है :–

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।'

इस श्लोक का अर्थ यह है कि 'भगवत्स्वरूप का थोड़ा-सा भी संबल हो, तो वह भी भीषण भय से रक्षा करता है.' अर्जुन को महाभारत के युद्ध में कितने ही प्रकार के अधर्मों के अवरोध उपस्थित हुए, फिर भी भगवत्स्वरूप का सर्वाधिक आश्रय रहता है, वही एकान्तिक भक्त कहलाता है और उसे ही दृढ़ सत्संगी भी कहते हैं.

श्रीमद्भागवत में भी यही बात प्रधान है कि भले ही 'श्रुतिस्मृतियों की धर्म सम्बन्धी आज्ञा को छोड़ना पड़े, तो भी उसकी कोई चिन्ता नहीं, किन्तु भगवान का आश्रय बिलकुल नहीं छोड़ना चाहिये.'

कितने ही लोग ऐसा मानते हैं कि 'इस प्रकार की बातों से धर्म का खंडन हो जायगा, परन्तु यह वार्ता धर्म का खंडन करने के लिये नहीं, बल्कि इसीलिए है कि देश, काल, क्रिया, संग, मन्त्र, शास्त्र, उपदेश तथा देवता सभी शुभ एवं अशुभ, दो प्रकार के होते हैं. उनमें से यदि अशुभ का योग हो जाय और भक्त के मार्ग में कुछ विघ्न पड़ जाय, तो भी भगवान के स्वरूप में यदि उसकी निष्ठा दृढ़ हो, तो वह मोक्षमार्ग से कभी भी नहीं गिरता. यदि भगवत्स्वरूप के प्रति उसकी निष्ठा में अपरिपक्वता रह जाय, तो जिस दिन से वह धर्मच्युत हो जाय, तबसे यह मानने लगता है कि 'मैं नरक में गिर चुका हूँ.' इसीलिए, जिसे भगवत्स्वरूप का आश्रय रहता है, वही दृढ़ सत्संगी कहलाता है. ऐसे आश्रयरहित जो पुरुष हों वे तो केवल गुणग्राहक ही रहते हैं, किन्तु भगवत्स्वरूप में जिनकी निष्ठा सुदृढ़ बनी हुई है, उन्हें ही शास्त्रों में भी एकान्तिक भक्त कहा गया है.

इस समय सत्संग में जैसी वार्ता होती है, उसे यदि नारदसनकादि तथा ब्रह्मादि देवता सुनें, तो उसे सुनकर वे यही कहेंगे कि 'ऐसी वार्ता कभी सुनी भी नहीं है और सुन भी नहीं पायेंगे. यह वार्ता तो 'न भूतो न भविष्यति' की उक्ति को ही सार्थक करता है.' यद्यपि यह अतिशय सूक्ष्म वार्ता है, तो भी अत्यन्त जड़बुद्धिवाले के लिये भी यह बोधगम्य हो जाती है. ऐसी मूर्तिमान यह वार्ता होती है. इसलिए, 'इस समय जिन्हें सत्संग में दृढ़ता हो चुकी है, उनके पुण्य अपार रहते हैं.' ऐसा समझकर सत्संगी को अपने सम्बन्ध में कृतार्थभावना मान लेना चाहिये. जिसको भगवान में अतिशय प्रीति रही हो

भले ही उसे यह वार्ता समझ में आवे या नहीं, तो भी वह कृतार्थ हो चुका है, परन्तु जिसको परमेश्वर में अतिशय प्रीति न हो, उसे तो भगवान के स्वरूप की महिमा को अवश्य समझ लेना चाहिये. बुद्धिमान पुरुष को यह वार्ता समझकर भगवान के आश्रय को अत्यन्त दृढ़ कर लेना चाहिये. यही मत अत्यन्त सारांशपूर्ण है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥९॥ ॥१४२॥

वचनामृत १० : साकार ब्रह्म

संवत् १८७८ में श्रावण कृष्ण *तृतीया को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में [१]घोड़ी पर सवार होकर श्रीलक्ष्मीवाड़ी में पधारे थे. उस फुलवाड़ी में वे आम्रवृक्ष के नीचे की वेदी पर उत्तर की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. श्रीजीमहाराज ने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले [२]कि 'श्रीमद्भागवत में साकार ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है. फिर भी, श्रीमद्भागवत का पाठ करनेवाले यदि परमेश्वर की भक्ति से रहित हों, तो भी उसमें से भी भगवान का स्वरूप निराकार ज्ञात होता है. द्वितीय स्कन्ध में भी, जहाँ आश्रय का रूप प्रतिपादित किया गया है, भगवान का स्वरूप भक्तिरहित पुरुष को निराकार प्रतीत होता है, परन्तु भगवान का स्वरूप निराकार नहीं है, क्योंकि भगवान से ही समस्त स्थावर-जंगम की सृष्टि होती है. यदि भगवान निराकार हों, तो उनसे साकार सृष्टि कैसे हो सकती थी ? जैसे आकाश निराकार है, तो उससे पृथ्वी द्वारा घटादि आकार नहीं होते, वैसे ही ब्रह्मादिसृष्टि साकार है तथा उसके कर्ता परमेश्वर भी साकार ही हैं.

भागवत में अध्यात्म, अधिभूत तथा अधिदेव का जो आधार है, उसे ही भगवान का स्वरूप बताया गया है. वही बात करते हैं. सुनिये, विराट पुरुष की अध्यात्मरूपी इन्द्रियाँ, उनके अधिभूतात्मक पंचमहाभूत तथा उनकी अधिदेवरूपी इन्द्रियों के देवता, सभी विराट में आये, तो भी विराट जागृत

---

* शुक्रवार, १६ अगस्त, १८२१.

१. माणकी.

२. इस समय भरतखंड में श्रीमद्भागवत पुराण को सर्वोपरि माना गया है.

नहीं हुए. इसके पश्चात् जब वासुदेव भगवान ने पुरुषरूप द्वारा विराटपुरुष में प्रवेश किया, तब विराटपुरुष [1]उठकर खड़े हो गये. वे भगवान विराटपुरुष के अध्यात्म, अधिभूत तथा अधिदेव में [2]तादात्म्य भाव से निवास करते हैं, किन्तु [3]स्वरूप से तो वे विराटपुरुष से भिन्न हैं. वही [4]स्वरूप आश्रय करने योग्य बताया गया है. अग्नि यद्यपि प्रकाशस्वरूप की दृष्टि से अरूप है, तथापि वह स्वयं तो मूर्तिमान है. जब अग्नि को अजीर्ण हुआ तब मूर्तिमान अग्नि श्रीकृष्ण भगवान तथा अर्जुन के पास आया था. जब वह इन्द्र का खांड़व वन जलाने गया, तब वही अग्नि ज्वालारूप होकर समग्र वन में व्याप्त हो गया. उसी प्रकार पुरुषोत्तम भगवान अपनी ब्रह्मरूप अन्तर्यामी शक्ति द्वारा समस्त प्राणियों में व्यापक बने हुए हैं तथा मूर्तिमान होकर सबसे भिन्न भी हैं. ब्रह्म तो पुरुषोत्तम भगवान का किरणरूप है, किन्तु स्वयं भगवान तो सदैव साकार मूर्ति ही हैं. अतएव, कल्याण के इच्छुक पुरुष को तो भगवान को मूर्तिमान समझकर उनका आश्रय दृढ़ रखना चाहिये और बात भी ऐसी करनी चाहिये कि यदि 'किसी को भी भगवान का आश्रय है, तो वह इस बात से मिट न जाय. जिस प्रकार स्त्री के उदरस्थ गर्भ में से पुत्ररूप फल का उदय होता है वैसे ही जिसे भगवान के स्वरूपमूलक निश्चयरूप गर्भ हो, उसको भगवान के अक्षरधामरूपी फल की प्राप्ति होती है. इसलिए, उपाय ऐसा किया जाय, जिससे निश्चयरूपी इस गर्भ को विघ्न उपस्थित न हो जाय,' और दूसरों से भी ऐसी बात करनी चाहिये, जिससे भगवान सम्बन्धी निश्चितरूप गर्भ का पात न हो जाय.'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज वाड़ी से दादाखाचर के राजभवन में पधारे और पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान हुए. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने छोटे-छोटे परमहंसों को बुलाकर परस्पर चर्चा करने की आज्ञा दी. अचिन्त्यानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'ज्ञान, वैराग्य तथा

---

१. अपनी प्रवृत्ति प्रारम्भ करने में समर्थ हुए.

२. उनके अन्तर्यामी रूप में.

३. दिव्यमूर्ति से तो.

४. वासुदेव भगवान.

भक्ति में से विशेष कारण कौन-सा है, जिसके परिणामस्वरूप भगवान के स्वरूप में प्रीति उत्पन्न हो जाती है ?' इन परमहंसों में से कोई भी परमहंस इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका. तब, श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस प्रश्न का उत्तर हम देते हैं तथा ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति के रूपों का पृथक्-पृथक् विवेचन करते हैं.

जीवमात्र का ऐसा स्वभाव है कि जब वह कोई 'अच्छा पदार्थ देखता है तब हलके पदार्थ में से उसका मन सहज ही हट जाता है. वस्तुतः भगवान के अक्षरधाम में जो सुख है, उसके आगे यह मायिक सुख तो कृत्रिम लगता है. अचल सुख तो भगवान के धाम में ही है. इसलिए, परमेश्वर की बात सुनते-सुनते यदि भगवान सम्बन्धी सुख का मूल्यांकन किया जाय, तो माया से उत्पन्न सुख तुच्छ प्रतीत होगा. यदि किसी पुरुष के हाथ में तांबे का पैसा हो और उसके बदले में उसे कोई मनुष्य सोने की मोहर दे दे, तब तांबे का पैसा उसे तुच्छ लगेगा, वैसे ही भगवान सम्बन्धी सुख में दृष्टि पहुँचने पर मायिक सुख से वैराग्य हो जाता है और एकमात्र भगवान की मूर्ति से ही प्रेम हो जाता है. इसे ही वैराग्य का स्वरूप बताया गया है.

अब ज्ञान का स्वरूप बताते हैं. ज्ञाननिरूपण में दो शास्त्र हैं, जिनमें एक सांख्यशास्त्र तथा दूसरा योगशास्त्र है. सांख्यशास्त्र का मत यह है कि जिस प्रकार आकाश स्वयं पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु में व्याप्त है और आकाश के सिवाय एक भी अणु कहीं भी खाली नहीं है, तो भी पृथ्वी आदि के विकार से आकाश अलिप्त रहता है, वैसे ही पुरुषोत्तम भगवान को कोई भी मायिक विकार आकाश की तरह स्पर्श नहीं करता. कृष्णतापनीयोपनिषद् में इस सिद्धान्त का वर्णन किया गया है कि 'जब दुर्वासा ऋषि वृन्दावन में आये, तब श्रीकृष्ण भगवान ने गोपियों से कहा कि 'दुर्वासा भूखे हैं, इसलिए, तुम सब उनके लिये खाद्यपदार्थों के थाल लेकर जाओ.' गोपियों ने पूछा कि 'यमुनाजी बीच में हैं, इस कारण उन्हें किस प्रकार पार किया जा सकेगा.' तब श्रीकृष्ण भगवान ने कहा कि यमुनाजी से तुम ऐसा कहना कि 'श्रीकृष्ण यदि सदैव ब्रह्मचारी रहे हों, तो मार्ग दे देना.' यह वचन सुनकर गोपियाँ हँसती-हँसती यमुना-तट पर जा पहुँची और उन्होंने इसी बात को दोहराया. तब, यमुनाजी ने तत्काल मार्ग

दे दिया और वे ऋषि के पास पहुँच गयीं. उन्होंने ऋषि को भोजन कराया. ऋषि उनके लाये हुए थालों के सभी खाद्यपदार्थ खा गये. बाद में गोपियों ने उनसे कहा कि 'हम अपने घर कैसे जायें, बीच में यमुनाजी हैं.' तब ऋषि ने पूछा कि 'वहाँ से यहाँ किस प्रकार आयी थीं.' गोपियों ने बताया कि श्रीकृष्ण ने हमसे यह कहा था कि 'यमुनाजी से कहना कि यदि हम सर्वदा बालब्रह्मचारी रहे हों, तो वे मार्ग दे दें.' बाद में यमुनाजी ने मार्ग दे दिया, जिससे हम सब आपके पास आ गयीं. यह बात सुनकर ऋषि बोले कि अब यमुनाजी से यह कहना कि 'यदि दुर्वासा सदैव उपवासी रहे हों, तो मार्ग दे देना.' गोपियाँ हँसती-हँसती वहाँ गयीं और उन्होंने यही बात कह दी. तब यमुनाजी ने उन्हें तत्काल मार्ग दे दिया. इन दोनों घटनाओं को देखकर गोपियों को अत्यन्त आश्चर्य हुआ. अतएव, भगवान का स्वरूप तो आकाश के समान निर्लेप है तथा समस्त क्रियाओं को करते हुए भी भगवान अकर्ता हैं. वे सबके संगी होते हुए भी असंगी हैं. इस प्रकार, सांख्यशास्त्र भगवान के स्वरूप को निर्लेप बताता है, यह सांख्यमतानुसार ज्ञान है.

अब योगशास्त्र का मत बताते हैं, उसे सुनिये. योगशास्त्र का मत यह है कि जिसे भगवान का ध्यान करना हो, उसे सर्वप्रथम अपनी दृष्टि स्थिर रखनी चाहिये. दृष्टि को स्थिर करने के लिये भगवान की प्रतिमा अथवा किसी अन्य पदार्थ में दृष्टि को एकाग्र रखना चाहिये. इस प्रकार एक ही आकार को देखते रहने पर दृष्टि स्थिर हो जाती है और उसके साथ-साथ अन्तःकरण भी स्थिर हो जाता है. अन्तःकरण के स्थिर हो जाने पर भगवान की मूर्ति को हृदय में धारण करना चाहिये. ऐसा करनेवाले योगी को प्रयास नहीं करना पड़ता. मूर्ति को आसानी से हृदय में धारण कर लिया जाता है. यदि पहेले से ही अभ्यास द्वारा अन्तःकरण को स्थिर न कर लिया गया, तो भगवान का ध्यान करते समय कितनी ही दूसरी उलझनें भी रोड़े अटकाने के लिये खड़ी हो जाती हैं. अतएव, योगशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि सबसे पहले अभ्यास द्वारा चित्त-वृत्ति को स्थिर कर लेना चाहिये, इसके पश्चात् उसे भगवान के साथ सम्बद्ध कर देना चाहिए. इस बात को समझ लेना चाहिए कि यह योगशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान है. इस प्रकार, इन दो शास्त्रों के मतानुसार अपनी समझ को सुदृढ़ बनाने का नाम ही ज्ञान है.

अब भक्ति की रीति बताते हैं. जब समुद्र-मन्थन किया गया तब समुद्र में से लक्ष्मीजी प्रकट हुईं. बाद में लक्ष्मीजी ने हाथ में वरमाला लेकर यह विचार किया कि 'वरण करने योग्य कौन है, जिसका वरण मैं कर सकूँ.' बाद में लक्ष्मीजी ने इस बात का पता लगा लिया कि जिसमें रूप है उसमें गुण नहीं है और जिसमें कुछ गुण है, उसमें रूप नहीं है. इस प्रकार उन्होंने अनेकों में बड़े-बड़े कलंक देखे. उन्होंने सभी देवताओं तथा दैत्यों को कलंकपूर्ण देखा. इसके पश्चात् उन्होंने केवल भगवान को ही सर्वगुणसम्पन्न, सर्वदोषों से रहित तथा सर्वसुखनिधान पाया. भगवान में लक्ष्मीजी की भक्ति सुदृढ़ हो गयी. तब उन्होंने अत्यन्त प्रेमपूर्वक भगवान को वरमाला पहनाकर उनसे विवाह कर लिया. इस प्रकार, कल्याणकारी गुणों को परखने और परमेश्वर का दृढ़ आश्रय ग्रहण करने की क्रिया को ही भक्ति कहते हैं.'

इस वार्ता को सुनकर मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से पूछा कि 'हे महाराज ! परमेश्वर से प्रीति होने के सम्बन्ध में ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति में से किसका अधिक प्रधान बल रहता है, यह बात हम नहीं समझ पाये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भक्ति में अधिक बल है. ज्ञान-वैराग्य में यद्यपि बल तो है, परन्तु वह भक्ति-जितना नहीं है. भक्ति तो अतिदुर्लभ है. भक्तिमान पुरुषों के लक्षण ये हैं कि जब जीवों के कल्याण के लिये भगवान मनुष्याकार मूर्ति धारण करके पृथ्वी पर विचरण करते हैं, तब भगवान के कितने ही चरित्र दिव्य तथा कितने ही चरित्र प्राकृत चरित्र-जैसे होते हैं. जब भगवान ने कृष्णावतार लिया तब उन्होंने देवकी तथा वसुदेव को चतुर्भुज-रूप में दर्शन दिया, गोवर्धनपर्वत उठाया और कालीय नाग को निकालकर यमुनाजी का जल निर्विष कर दिया. उन्होंने ब्रह्मा का मोह निवारण किया, अक्रूरजी को यमुना-जल में दर्शन दिया तथा मल्ल, हस्ति और कंसादि दुष्टों को मारकर समस्त यादवों के कष्टों को दूर किया. उसी प्रकार, रामावतार के समय उन्होंने धनुष तोड़ा तथा रावणादि दुष्टों का संहार कर समस्त देवताओं का कष्ट-निवारण किया. ऐसे पराक्रम भगवान के दिव्य चरित्र कहलाते हैं.

सीताहरण के समय रघुनाथजी रोते-रोते पागल-जैसे हो गये तथा कृष्णावतार के अवसर पर वे कालयवन के आगे से भाग गये, जरासंध के

समक्ष पराजित हो गये और अपनी राजधानी मथुरा को छोड़कर समुद्री द्वीप में जाकर बस गये. भगवान के ऐसे चरित्र प्राकृत-जैसे ज्ञात होते हैं.

दिव्य चरित्रों में तो पापीजनों तक को दिव्यता प्रतीत होती है. तथापि, भगवान के प्राकृत चरित्रों में भी जिसको दिव्यता दिखायी पड़े, वही परमेश्वर का सच्चा भक्त है. भगवान ने गीता में कहा है :-

'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन !'

इस श्लोक का अर्थ यह है कि 'हे अर्जुन ! मेरे जन्म एवं कर्म दिव्य हैं. जो पुरुष उनकी दिव्यता को समझ लेता है, उसका देहत्याग के पश्चात् पुनर्जन्म नहीं होता, बल्कि वह मुझे ही प्राप्त कर लेता है. भगवान जो दिव्य चरित्र दिखाते हैं, वे तो भक्तों तथा अभक्तों को दिव्य प्रतीत होते हैं, परन्तु जब भगवान मनुष्यों-जैसे प्राकृत चरित्र प्रकट करते हैं, तब भी उनमें जिसे दिव्यता दिखायी पड़े और भगवान के उन चरित्रों में किसी प्रकार का दुर्भाव न रहे, अर्थात् जिसकी ऐसी बुद्धि रहे, उसे ही परमेश्वर की भक्ति कहा जाता है.' ऐसा भक्तिमान पुरुष ही भक्त कहलाता है. उक्त श्लोक में प्रतिपादित फल भी ऐसे भक्त को ही मिलता है.

गोपियाँ भगवान की भक्त थीं, इसलिए उन्होंने भगवान के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के दुर्विचार नहीं रखे. राजा परीक्षित ने तो गोपियों की बात सुननेमात्र से ही भगवान के चरित्र के सम्बन्ध में संशय कर लिया. बाद में शुकजी ने उन्हें भगवान की सामर्थ्य दिखाकर उस संशय को नष्ट कर दिया. अतएव, भगवान जो-जो भी चरित्र प्रकट करें उन्हें भक्त पुरुष को गोपियों के समान दिव्य मान लेना चाहिये, परन्तु उन्हें किसी भी प्रकार से प्राकृतभावयुक्त समझकर दुर्भाव नहीं रखना चाहिये. ऐसी भक्ति महादुर्लभ है. यह भक्ति एक-दो जन्मों के पुण्यों से नहीं मिलती. अनेक जन्मों के संचित शुभ संस्कारों से ही गोपियों-जैसी भक्ति का उदय होता है. ऐसी भक्ति ही परमपद है. इसलिए, इस प्रकार की भक्ति ज्ञान-वैराग्य से भी अधिक महत्वपूर्ण रहती है. जिसके हृदय में ऐसी भक्ति हो, उसे भगवान से प्रीति होने में क्या खामी रह जाती है ? कुछ भी नहीं रहती.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१०॥ ॥१४३॥

वचनामृत ११ : कर्मफल

संवत् १८७८ में श्रावण कृष्ण *पंचमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के सामने नीमवृक्ष के नीचे पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जितने ग्रन्थ हैं उन सबको सुनकर कितने ही जीव अपनी यह धारणा बना लेते हैं कि ये ग्रन्थ धर्म, अर्थ तथा काम के निमित्त हैं. ऐसा समझकर ये जीव स्वयं भी धर्म, अर्थ और काम की उद्देश्यपूर्ति के लिये ही यज्ञव्रतादि शुभकर्म करते हैं. बाद में वे उन कर्मों का फल देवलोक अथवा ब्रह्मलोक या मृत्युलोक में भोग कर वहाँ से गिरते हैं और चौरासी लाख योनियों में जाते हैं. इसलिए, जो जीव धर्म, अर्थ और काम से प्रीति रखकर जो-जो सुकृत करते हैं, वे सब सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक होते हैं और उन कर्मों का फल उन्हें स्वर्गलोक, मृत्युलोक तथा पाताललोक में रहकर भोगना पड़ता है, परन्तु वे भगवान के गुणातीत धाम को नहीं पाते. इस कारण, जब तक मोक्ष नहीं होता, तब तक जन्म, मरण एव नरकजन्य दुःख भी नहीं मिट पाते. इसलिए धर्म, अर्थ तथा काम सम्बन्धी फल की इच्छा का परित्याग कर यदि वे ही शुभ कर्म भगवान की प्रसन्नता के लिये किये जायें, तो वे शुभ कर्म भक्तिरूप होकर केवल मोक्ष के लिये फलदायी हो जाते हैं. इस प्रसंग में यह श्लोक है :–

'आमयो येन भूतानां जायते यश्च सुव्रत !
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम् ॥
एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः ।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे ॥'[१]

---

* रविवार, १८ अगस्त, १८२१.

१. अर्थः – हे सुव्रत ! जिस प्रकार घृतादि वस्तुओं का अतिभक्षण करने से मनुष्यों में जो रोग उत्पन्न हो जाता है, उसका निवारण उन पदार्थों द्वारा नहीं होता, बल्कि उनके कारण रोग और अधिक बढ़ जाता है. यदि घृतादि वस्तुओं में ताम्रभस्मादि को मिश्रित किया जाय, तो वे उस रोग का पूर्णतः

पूर्वोक्त बात के समान इस श्लोक का भी यही भाव है. यह वार्ता बड़ी अटपटी है. यदि यह वार्ता पूर्ण रूप से समझ में न आयी हो, तो भगवान के भक्त को अज्ञानी जीव जैसा सारा दैहिक व्यवहार देखकर उसके प्रति भी दुर्भाव उत्पन्न हो जाता है. इस प्रकार की कुत्सित भावना रखनेवाला पुरुष नारकी होता है. भगवान के भक्त तथा विमुख जीव की क्रिया में तो बड़ा अन्तर रहता है, क्योंकि विमुख जीव जो-जो क्रिया करता है, वह तो अपनी इन्द्रियों के पोषण के लिये करता है, जबकि भगवान का भक्त केवल भगवान तथा भगवद्भक्त की सेवा के लिये ही समस्त क्रियाएँ करता है. अतएव, हरिभक्त की सभी क्रियाएँ भक्तिरूप रहती हैं तथा भक्ति नैष्कर्म्य ज्ञान का रूप है. इस कारण, हरिभक्त की समस्त क्रियाएँ [1]नैष्कर्म्यरूप बनी रहती हैं. इस सन्दर्भ में भगवद्गीता का यह श्लोक है :–

'कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥'

इस श्लोक का अर्थ यह है कि 'भगवान का भक्त भगवान की प्रसन्नता के लिये जो-जो कर्म करता है, उसमें वह अकर्मात्मक ज्ञान देखता है और विमुख निवृत्तिमार्ग को अपनाकर अकर्मभाव से रहते हुए भी उसको कर्ममग्न देखता रहता है. इसलिए इस प्रकार देखनेवाला भक्त सभी मनुष्यों में बुद्धिमान एवं सिद्ध ज्ञानी होता है और वही युक्त अर्थात् मोक्षयोग्य है तथा 'कृत्स्नकर्मकृत' अर्थात् सब कर्मों को करनेवाला है.' इसलिए, भगवान के भक्त भगवान की आज्ञा से परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये जो-जो कर्म करते रहते है, उनके सम्बन्ध में यदि कोई पुरुष किसी भी प्रकार से दुर्विचारपूर्ण धारणा बना लेता है, तो उसके हृदय में अधर्म सर्वप्रकार से उत्पन्न हो जाता है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥११॥ ॥१४४॥

मूलोच्छेद कर डालती हैं, वैसे ही मनुष्यों की समस्त क्रियाएँ (व्रतयज्ञदानादि) उनके फलभोग के अन्त में संसृति का कारण होती हैं. फिर भी, यदि उन क्रियायोगों को भक्ति का स्वरूप देकर परमेश्वर में उनकी परिकल्पना की जाय, तो वे अनादि अज्ञान की निवृत्ति करने के साथ-साथ मोक्ष को सुलभ बना देते हैं.

१. अबन्धक.

वचनामृत १२ : राजनीति

संवत् १८७८ में श्रावण कृष्ण *षष्ठी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के सामने विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'एक वार्ता करते हैं, उसे आप सब सुनिये. इस वार्ता में कल्याण के लिये एक ही साधन बतायेंगे. उस एक साधन में समस्त साधन आ जाते हैं. कल्याण का ऐसा एक प्रबल साधन बताते हैं.

देह में जो जीव है, वह यह जानता है कि 'कामक्रोधादि बुरी प्रकृतियाँ मेरे जीव के साथ जुड़ी हुई हैं.' इस प्रकार, जो कामादि प्रवृतियाँ जिसमें मुख्य रूप से रहती हैं, उन प्रकृतियों के योग से वह अपने जीव को काम, क्रोध तथा लोभ आदि कुलक्षणों से युक्त मानता है. परन्तु, जीव में तो उनमें से यह एक भी कुलक्षण नहीं है. वास्तव में जीवने मूर्खता के कारण उन्हें अपने में समाया हुआ मान लिया है.

इसीलिए, जिसको परमपद प्राप्त करने की इच्छा हो, उसे अपने में कुछ पौरुष रखना चाहिये, किन्तु बिल्कुल बलहीन होकर नहीं बैठना चाहिये. यह विचार भी करना चाहिये कि 'जिस प्रकार इस देह में चार अन्तःकरण, दस इन्द्रियाँ तथा पाँच प्राण हैं उसी तरह मैं जीवात्मा हूँ, मैं भी इस देह में हूँ, सबसे अधिक हूँ और सबका नियन्ता हूँ.' परन्तु, उसे ऐसा नहीं मानना चाहिये कि 'मैं तो तुच्छ हूँ तथा अन्तःकरण एवं इन्द्रियाँ बलवान हैं.'

जिस प्रकार, किसी बुद्धिहीन राजा की आज्ञा का पालन उसके कुटुम्ब के मनुष्य भी नहीं करते और जब इस बात की खबर गाँव के लोगों को मिलती है तब गाँव में भी कोई भी पुरुष उसकी आज्ञा नहीं मानता, देशभर के मनुष्य भी इस बात को सुनते ही उसका हुक्म नहीं मानते, बाद में वह राजा ग्लानिवश असमर्थ हो जाता है और किसी पर भी अपना हुक्म नहीं चलाता, वैसे ही राजा के स्थान में जीव है, कुटुम्ब के स्थान में अन्तःकरण

---

* सोमवार, १९ अगस्त, १८२१.

है, गाँव और देश के लोगों के स्थान में इन्द्रियाँ हैं, और जब यह जीव पुरुषार्थहीन होकर बैठ जाने के पश्चात् अन्तःकरण पर हुक्म चलाकर उसे परमेश्वर के सम्मुख रखना चाहता है तब अन्तःकरण उसका कहना नहीं मानता तथा इन्द्रियों को वश में रखना चाहता है, परन्तु इन्द्रियाँ उसके वश में नहीं रहतीं. यद्यपि यह जीव कायानगर में राजा है, तो भी रंक की तरह गरजमंद होकर रहता है. जब राजा पौरुषहीन हो जाता है तब उसके नगर में लोग साँढ़ की तरह जमकर बैठ जाते हैं और राजा की किसी भी आज्ञा की अवहेलना करते हैं, वैसे ही इस जीव के कायानगर में जो कामादि राजा नहीं हैं वे राजा होकर बैठ जाते हैं और उस जीव की सत्ता की विड़ंबना करते हैं.

अतएव, कल्याण के इच्छुक पुरुष को ऐसी पुरुषार्थहीनता नहीं रखनी चाहिये और वही उपाय करना चाहिये, जिससे अपनी इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण सब अपनी आज्ञा का पालन करते रहें. जिस प्रकार राजा राजनीति के ग्रन्थों का अध्ययन कर अपने राज्य में अपना शासन चलाता रहता है, परन्तु प्रजा द्वारा दबाव डाले जाने से नहीं दबता. यदि उसे राजनीति की जानकारी न हो, तो प्रजा उसका हुक्म नहीं मानती और उसका सामना करती है. ऐसी स्थिति में या तो उसका राज्य उजड़ जाता है या प्रजा उसकी आज्ञा की अवहेलना करने लगती है. तब वह दुःखी होता है. इस तरह राजनीति जाने बिना ऐसी दोनों बातों से विनाश होता है, वैसे ही जीव भी यदि राजनीति की जानकारी प्राप्त किये बिना काया-नगर में अपना शासन चलाने जायगा, तो उससे उसे सुख नहीं मिलेगा.'

मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से पूछा कि 'कल्याण की इच्छा रखनेवाले पुरुष को राजनीति का अध्ययन किस प्रकार करना चाहिये ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह राजनीति इस तरह पढ़नी चाहिये कि सबसे पहले उसे भगवान का माहात्म्य अच्छी तरह जान लेना चाहिये. बाद में भगवान की मूर्ति का ध्यान करके मन को वश में कर लेना चाहिये. इसके पश्चात् भगवान की कथा सुनकर उसे अपनी श्रोत्रेन्द्रिय को वश में कर लेना चाहिये, परन्तु लौकिक वार्ता नहीं सुननी चाहिये. इसी प्रकार अपनी त्वचा द्वारा भगवान तथा उनके भक्तजनों का स्पर्श करते रहना चाहिये, अपने नेत्रों द्वारा परमेश्वर तथा उनके सेवकों का ही दर्शन करना चाहिये,

अपनी रसना (जीभ) द्वारा अखंड रूप से भगवान के गुणों का ही गान करना चाहिये, भगवान के प्रसाद का ही रसास्वादन करना चाहिये, अपनी नासिका द्वारा भगवान के प्रसादी-पुष्पादि की सुगन्ध लेनी चाहिये, परन्तु किसी भी इन्द्रिय को कुमार्गगामी नहीं होने देना चाहिये. जो पुरुष ऐसा आचरण करता है, उसके देहरूपी नगर में उसकी आज्ञा की कोई भी अवहेलना नहीं कर सकता. जो पुरुष इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक आचरणशील रहता है तथा पुरुषार्थहीनता का अच्छी तरह परित्याग कर देता है, वही कल्याणपथ पर अग्रसर हो जाता है. अपने स्वभाव को काबू में लाने का यही बहुत बड़ा उपाय है और यह पुरुषप्रयत्नरूपी उपाय सावधान होकर करना चाहिये. कल्याण के लिये जितने साधन बताये गये हैं, वे सर्वसाधन पुरुषप्रयत्नरूपी साधन में समाविष्ट हो जाते हैं. इसलिए, पुरुषप्रयत्न को ही कल्याण के लिये सबसे बड़ा साधन माना गया है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१२॥ ॥१४५॥

वचनामृत १३ : अक्षरधाम की मूर्ति

संवत् १८७८ में श्रावण कृष्ण *अमावास्या को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के बरामदे में गद्दी पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सफेद चादर ओढ़ी थी तथा मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने अपनी दोनों भुजाओं को ऊँचा उठाकर सबको मौन कर दिया. श्रीजीमहाराज ने अपने मुखारविन्द के समक्ष स्तुति करके बैठे हुए सन्तों को सम्बोधित करते हुए यह कहा कि 'हे सन्तो ! आप लोगों में जो बड़े-बड़े सन्त हों और बात समझते हों, उन्हें आगे बैठ जाना चाहिये और मैं जो एक बात कहता हूँ उसे सबको ध्यान देकर सुनना चाहिये. मुझे यह बात किसी प्रकार के दम्भ, मान के कारण अथवा अपने बड़प्पन को बढ़ाने के लिये नहीं करनी है. वास्तव में हम तो यह जानते हैं कि 'यदि यह बात

---

* मंगलवार, २७ अगस्त, १८२१.

इन समस्त साधुओं तथा हरिभक्तों में से किसी को भी समझ में आ जाय, तो उसके जीव का बहुत कल्याण होगा.' इस प्रयोजन से ही मैं यह बात कर रहा हूँ, जो मैं देख चुका हूँ तथा अपने अनुभव में भी मैंने जिसे सिद्ध कर दिया है और वह समस्त शास्त्रों से भी सम्मत है. यद्यपि यह [१]बात सभा में चर्चा करने योग्य नहीं है फिर भी हम इसका जिक्र कर रहे हैं.

मुझे सहज स्वाभाविक रूप से ऐसा सिद्ध है कि इस संसार में जो अतिसुन्दर शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस एवं रूप नामक जो पंचविषय हैं, उनसे यदि मैं आसक्त होने की इच्छा भी करूँ, तो भी उनमें आसक्ति नहीं हो सकती तथा मेरा मन उनसे अत्यन्त उदासीन रहता है. मुझे तो अच्छे और बुरे पंचविषयों में समान भाव ही रहता है. मेरे लिये तो राजा और रंक, त्रिलोकी का राज्य करना, भिक्षा माँग कर खाना, हाथी के होद्दे पर बैठना तथा पैदल चलना एकसमान है तथा भले ही कोई चन्दन-पुष्प, अच्छे वस्त्र तथा आभूषण अर्पित करे और कोई धूल फेंके, कोई सम्मान करे तथा कोई अपमान करे, फिर भी इनमें मेरी समता विचलित नहीं होती. इसी तरह सोना, चाँदी, हीरा और कचरे में भी मेरा समान भाव रहता है. मुझे तो ऐसा नहीं लगता कि यह हरिभक्त बहुत बड़ा है और अमुक हरिभक्त छोटा है. मैं तो समस्त हरिभक्तों को समान भाव से देखता हूँ.

मेरे अन्तःकरण में अतितीव्र वैराग्य है, फिर भी मुझे उसका अहंभाव नहीं है. जैसे किसी ने सिर पर पत्थर उठाये हों तथा रुपयों, सोना तथा मुहरों की थैली बाँधी हो और उनका उसको वजन मालूम होता हो, वैसे ही मुझ में जो तीव्र वैराग्य, ब्रह्म होने का ज्ञान तथा जो सद्धर्म है, उन गुणों का भार मुझ पर दबाव नहीं डालता. बाह्य रूप से मैं किसी पदार्थ की प्रशंसा करता हूँ और किसी पदार्थ की आलोचना भी करता हूँ. वह तो मैं जानबूझकर करता हूँ. मैं जिस-जिस पदार्थ में इन्द्रियों की वृत्ति को बलपूर्वक जोड़ता हूँ तब वे मुश्किल से पदार्थ में जाती हैं और जब मैं इन्हें ढीला करता हूँ तब वे तुरन्त लौटकर आ जाती हैं. जिस प्रकार आकाश की ओर हाथ के जितने जोर से पत्थर फेंका जाता है वहाँ तक वह आकाश में जाता है और बाद में पृथ्वी पर आकर गिर जाता है, जैसे बहुत कमजोर

---

१. भगवान स्वामिनारायण ने अपने स्वरूप को समझाने के लिये यह बात कही. किसी को भी यह आत्मश्लाघा न लगे, इसीलिए यह संकेत किया.

पशु को मनुष्य जब तक बलपूर्वक ऊँचा उठाकर रखता है तब तक वह उसी दशा में रहता है और हाथ हटा लेने पर नीचे गिर पड़ता है. जैसे कोई बलवान पुरुष दाँतों से पूरी सुपारी को तोड़ डालता है और वही जब दस-बीस जंबीरी नीबू चूस लेता है तब वह भूने हुए चने को भी धीरे-धीरे ही चबा सकता है, वैसे ही विषय के साथ वृत्ति को बलपूर्वक जोड़ने से वह उससे मुश्किल से जुड़ पाती है. तब मेरी ऐसी वृत्ति कैसे रह सकती है ?

मेरी इन्द्रियों की वृत्ति प्रतिलोम होकर हृदय में स्थित आकाश में सदैव व्याप्त रहती है. उस हृदयाकाश में अतिशय तेज दिखायी पड़ता है. जैसे वर्षाकाल में बादल आकाश में छाये रहते हैं, वैसे ही मेरे हृदय में तेज ही तेज व्याप्त रहा है. उस तेज में एकमात्र भगवान की मूर्ति ही दिखायी पड़ती है, जो अत्यन्त प्रकाशमय है. यद्यपि वह घनश्याम मूर्ति है तथापि वह अतिशय तेज के कारण श्याम नहीं प्रतीत होती, बल्कि अत्यन्त श्वेत दीख पड़ती है. वह मूर्ति द्विभुज है. उस मूर्ति के दो चरण हैं. वह अतिशय मनोहर है. परन्तु, उस मूर्ति की चार भुजाएँ या अष्ट भुजाएँ अथवा सहस्र भुजाएँ नहीं हैं. वह मूर्ति तो अतिसौम्य, मनुष्याकार तथा किशोरस्वरूप है. वह मूर्ति उस तेज में कभी खड़ी, कभी बैठी हुई और कभी घूमती-फिरती दिखायी पड़ती है. उस मूर्ति के चारों ओर मुक्तों के मंडल बैठे हुए हैं. वे सब मुक्त एकदृष्टि से उन भगवान की मूर्ति के सामने देख रहे हैं. उस मूर्ति को हम प्रकट प्रमाणरूप में अभी भी देखते हैं, सत्संग में नहीं आये थे, तब भी देखते थे, माता के गर्भ में स्थित रहने पर भी देखते थे, गर्भ में आने के पहले भी उसे देखा करते थे. हम बोलते हैं, यह भी वहाँ बैठे हुए ही बोलते हैं, आप सब भी वहाँ ही बैठे हैं, ऐसा मैं देखता हूँ, परन्तु यह गढडा शहर या यह बरामदा बिल्कुल नहीं दिखायी पड़ता. जब जिस पुरुष को इस स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब उसको हमारे समान किसी भी विषय-सुख में आसक्ति नहीं रहती. उस स्वरूप को तो आप भी देखते हैं, परन्तु वह पूर्णतः आपकी समझ में नहीं आता, इसीलिए जब यह स्वरूप यथार्थ रूप से समझ में आ जायगा, तब पंचविषयों या कामक्रोधादि स्वभाव पर विजय प्राप्त करने में प्रयास नहीं करना पड़ेगा, बल्कि उन्हें सहज ही जीत लिया जायगा.

जो यह एकरस तेज है, उसे आत्मा, ब्रह्म तथा अक्षरधाम कहते हैं.

उस प्रकाश में भगवान की जो मूर्ति दिखायी पड़ती है, उसे आत्मा का तत्त्व, परब्रह्म तथा पुरुषोत्तम कहते हैं, वे ही भगवान अपनी इच्छा से जीवों का कल्याण करने के लिये रामकृष्णादि के रूप धारण करके युग-युग में प्रकट होते हैं. यद्यपि वे भगवान इस लोक में मनुष्य-सदृश दिखायी पड़ते हैं तथापि वे मनुष्यवत् नहीं हैं. वे तो अक्षरधाम के स्वामी हैं. यही बात श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में कही है :–

'न [1]तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥'

अतएव, श्रीकृष्ण भगवान यद्यपि मनुष्य-सदृश दिखायी पड़ते थे, तथापि वे अक्षरातीत कैवल्यमूर्ति ही हैं. भगवान जो मनुष्यदेह धारण करते हैं, उनकी उस मूर्ति का जब कोई पुरुष ध्यान करता है, तब उस ध्यान के करनेवाले को वह मूर्ति अक्षरधाम में तेजोमय एवं कैवल्यस्वरूप प्रतीत होती है तथा ध्यान के करनेवाले का जीव माया को पार कर परमपद को प्राप्त कर लेता है. इसीलिए, भगवान तो मनुष्यदेह धारण करने पर भी कैवल्यरूप ही रहते है. भगवान जिस जगह विराजते हों वह जगह भी निर्गुण रहती है, उन भगवान के वस्त्र, अलंकार, वाहन, परिचर्या करनेवाले सेवक तथा खानपानादिक जो-जो पदार्थ भगवान के सम्बन्ध में आते हैं वे सब निर्गुण रहते हैं. इस प्रकार जिसने भगवान के स्वरूप को पहचान लिया है उसको हमारी तरह पंचविषयों में कहीं भी आसक्ति नहीं रहती और वह स्वतन्त्र हो जाता है.

ये अक्षरातीत जो पुरुषोत्तम भगवान हैं, वे ही समस्त अवतारों के कारण हैं और ये सभी अवतार पुरुषोत्तम में से प्रकट होते हैं तथा पुरुषोत्तम में ही पुनः लीन हो जाते हैं. वे भगवान जब मूर्ति धारण करके पुनः अन्तर्धान हो जाते हैं, तब भगवान की वह मूर्ति कभी तो मनुष्य की तरह इस पृथ्वी में पड़ी रहती है, जैसे रुक्मिणीजी श्रीकृष्ण की मूर्ति को गोदी में लेकर जल मरी तथा ऋषभदेव की देह दावानल में जल गयी, ऐसा भी होता है. कभी तो वह मूर्ति अस्थिमांससहित दिव्य भाव को प्राप्त करके अन्तर्धान हो जाती है. भगवान जब प्रकट होते हैं, तब वे कभी तो स्त्री के उदर से जन्म लेते हैं

---

१. अर्थ : जिस धाम को प्राप्त करने पर संसार में पुनरागमन नहीं होता, जिस धाम को सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि आलोकित नहीं करते, वही मेरा परमधाम है.

और कभी स्वेच्छानुसार अपने इच्छित स्थान से प्रकट होते हैं. इस प्रकार इन भगवान की जन्म लेने एवं देहोत्सर्ग करने की रीति तो अलौकिक है. जब भगवान का ऐसा स्वरूप है, तो उसे दृढ़तापूर्वक समझ लेने पर आपको किसी भी प्रकार का विघ्न कल्याण के मार्ग में नहीं आने पायगा. उन भगवान के ऐसे स्वरूप की दृढ़ता रखे बिना भले ही कितने ही उपवास क्यों न करें, फिर भी रहनेवाली खामी किसी भी प्रकार से पूरी नहीं हो पायगी. तब आप यह कहेंगे कि यद्यपि 'हममें तो आपके कथानुसार उस स्वरूप की दृढ़ता बनी हुई है, तो भी प्राण और इन्द्रियाँ उसमें लीन क्यों नहीं होतीं.' तब यह समझना चाहिये कि यह स्थिति तो परमेश्वर की इच्छा से रही है. परन्तु, उसे कुछ करना शेष नहीं है. वह तो कृतार्थ हो चुका है तथा उसने समस्त साधनों के अन्त को प्राप्त कर लिया है.

यदि भगवान के स्वरूप की ऐसी दृढ़ता रहे तथा निर्मान, निर्लोभ, निष्काम, निःस्वाद और निःस्नेह रहने की स्थितियों में से यदि किसी भी स्थिति में अपरिपक्वता रह जाय, तो उसकी कोई चिन्ता नहीं, परन्तु भगवान के स्वरूप को समझने में यदि किसी प्रकार की कसर रह गयी, तो किसी भी रीति से यह खामी नहीं हट पायगी. इसलिए, अपने जीवनकाल में जैसे भी बने वैसे ऐसे रहस्य को समझ लेने का उपाय कर लेना चाहिये. यदि यह वार्ता यथार्थ रूप में समझ ली हो, किन्तु किसी प्रारब्धकर्मवश किसी नीच-उच्च देह की प्राप्ति हो जाय, तो भी [१]वृत्रासुर की तरह ज्ञान का लोप नहीं होगा. [२]भरतजी को मृग का शरीर मिला, तो भी पूर्वजन्म का ज्ञान नहीं मिट सका. इस ज्ञान का ऐसा अतिशय माहात्म्य है. नारदसनकादिक तथा ब्रह्मादि देवों की सभा में भी निरन्तर यही वार्ता होती रहती है. भगवत्स्वरूप सम्बन्धी ऐसी वार्ता शास्त्रों में से भी अपने-आप समझ में नहीं आती. सद्ग्रन्थों में ऐसी वार्ता तो हो, फिर भी सत्पुरुष के प्रकट होने पर उनके मुख द्वारा ही यह बात समझ में आती है, परन्तु स्वबुद्धिबल से तो यह

---

१. यह कथा भागवत में षष्ठ स्कन्ध के ११ वें अध्याय में है.

२. भागवत के पंचम स्कन्ध के १२ वें अध्याय में जड़भरत ने रहूगणराजा से कहा है कि 'सा मां स्मृतिर्मृगदेहेऽपि वीर ! कृष्णार्चनप्रभवा नो जहाति.' 'हे वीर ! श्रीकृष्ण का पूजन-अर्चन करने से मुझे जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसने मुझे मृग-देह मिलने पर भी मेरा त्याग नहीं किया था, अर्थात् पशु-जन्म लेने पर भी मुझ में विद्यमान उस ज्ञान का नाश नहीं हो सका था.'

सद्ग्रन्थों में से भी समझ में नहीं आती. जिसको भगवान का यथार्थ स्वरूप उक्त प्रकार से समझ में आ गया है, उसकी भूत, भविष्य तथा वर्तमानसूचक तीनों कालों में भी यदि दृष्टि पहुँचती हो तो भी उसको उस बात का कुछ भी गर्व नहीं होता. ऐसा पुरुष किसी को भी वर या शाप नहीं देता. यदि वह किसी ठिकाने पर वर या शाप दे भी दे और वह किसी स्थान पर निर्भय रहता है और किसी जगह डर भी जाता है, परन्तु उस कारण वह अपने मन में स्वयं हर्षोत्फुल्ल या शोकाभिभूत नहीं होता. जिसको भगवान का इस रीति से बताया गया दृढ़ आश्रय हो जाता है, वह जानबूझकर तो अशुभ कर्म करता ही नहीं है, परन्तु कदाचित् अशुभ देशकालादि के संयोग से यदि उससे कोई अशुभ कर्म हो भी जाता है, तो भी दृढ़ आश्रयवाले उस पुरुष का कल्याण-मार्ग से पतन नहीं होता. भगवान का जो दृढ़ आश्रय है वैसा अन्य कोई भी निर्विघ्न मार्ग नहीं है. जिसको यह बात समझ में आ चुकी हो, उसका तो महान आशय है. देखिये, परमहंसों तथा सत्संगिजनों से यद्यपि हमें कोई स्वार्थ नहीं साधना है, तो भी हम किसी को बुलाते हैं, किसी को डाँटते हैं और किसी को निकाल भी देते हैं. इसका एकमात्र यही प्रयोजन है कि 'किसी भी प्रकार से यह बात समझ में आ जाय, तो इसका कल्याण हो जाय. इसलिए, आप सब इस स्वरूप-ज्ञान को दृढ़तापूर्वक रखियेगा.'

यब बात भी समझ लें कि 'तेजपुंज में जो मूर्ति है, वे ही ये प्रत्यक्ष महाराज हैं.' यदि इस बात को न माना जाय, तो इतना तो जरूर जान लेना चाहिए कि 'अक्षररूप तेज में जो मूर्ति है, उसे महाराज देखते हैं.' यदि ऐसा जान लेंगे तो भी हमारे प्रति आपका स्नेह बना रहेगा तथा उससे आपका परमकल्याण होगा. इस बात को प्रतिदिन ताजा बनाये रखना, लेकिन गाफिल होकर इसे भूल मत जाना. आज यह जैसी स्मृति में है वैसी की वैसी कल भी और जीवन का अन्त होने तक भी इसे दिन-प्रतिदिन बिल्कुल अखंड बनाये रखना. हमारी यह आज्ञा भी है कि भगवान की जो-जो बात करें, उस-उस बात में भी यह रहस्य लाते रहना. यह तो एक ऐसी जीवंत वार्ता है कि देह रहने तक भी इसे प्रतिदिन करते रहना चाहिये तथा देहत्याग के बाद भागवती तनु द्वारा भी इसी बात को करना है. हमने आपको जो यह बात बतायी है, वह समस्त शास्त्रों का सिद्धान्त है तथा

अनुभव में भी इस बात की दृढ़ता है. हमने प्रत्यक्षरूप से देखकर ही आपको यह बात बतायी है. यदि हमने इसे प्रत्यक्षरूप से नहीं देखा हो, तो हमें समस्त परमहंसों की कसम है.'

इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने अपने भक्तजनों को शिक्षा देने के लिये अपने पुरुषोत्तम होने की वार्ता परोक्षरूप से कही. यह बात सुनकर समस्त साधुओं तथा हरिभक्तों ने यह मान लिया कि 'तेजपुंज में जिस मूर्ति के रहने की जो बात कही गयी है, उसके प्रत्यक्ष प्रमाण ये श्रीजीमहाराज ही है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१३॥ ॥१४६॥

वचनामृत १४ : निर्विकल्प समाधि

संवत् १८७८ में भाद्रपद शुक्ल *प्रतिपदा को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के समीप उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सफेद चादर ओढ़ी थी, मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था, उस फेंटे के ऊपर लाल कर्णिकार पुष्प का तुर्रा सुशोभित लग रहा था. उनके भाल में कुंकुम का सुन्दर टीका लगा हुआ था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनिमंडल तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान के स्वरूप में जो सन्त तदात्मक हो जाते हैं, वे समाधि द्वारा होते हैं या उसका कोई उपाय भी है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'कल हमने जैसा बताया था, उस प्रकार जिसने भगवान का स्वरूप जान लिया हो और उसमें उसे किसी तरह का संकल्प-विकल्प न रह गया हो, वही इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है. जैसे नीमवृक्ष के सम्बन्ध में एक बार जान लेने पर मन में किसी प्रकार का संकल्प ही नहीं हो पाता कि यह पेड़ 'नीम का होगा या नहीं ?' इसी प्रकार, चाहे किसी का संग हो जाय और चाहे कैसे ही शास्त्र का श्रवण किया जाय, किन्तु फिर भी जिसका मन भगवान के स्वरूप के सम्बन्ध में किये गये निश्चय से नहीं डगमगा, ऐसे भगवान सम्बन्धी निरुत्थान निश्चय को ही हम तदात्मकता कहते हैं. ऐसी तदात्मकता तो केवल एकान्तिक भक्त के प्रसंग से ही होती है. परन्तु, यह तदात्मकता केवल समाधि से नहीं होती.

* बुधवार, २८ अगस्त, १८२१.

ऐसी तदात्मकता को ही निर्विकल्प समाधि कहते हैं. जिसे इस प्रकार की निर्विकल्प समाधि हो गयी हो, उस सन्त का स्वरूप भी [१]निर्गुण ब्रह्म ही होता है. ऐसा अड़िग निश्चयवाला सन्त भले ही निवृत्ति-मार्ग पर चले अथवा प्रवृत्ति-मार्ग पर, फिर भी उसका स्वरूप निर्गुण ही रहता है. जैसे नारद एवं सनकादिक ऋषि निवृत्ति-मार्ग की ओर प्रवृत्त हुए तथा सप्त ऋषि और जनकादि राजा प्रवृत्ति-मार्ग पर चले, तो भी उन सबको भगवान सम्बन्धी निश्चय रहा, इसलिए उन्हें निर्गुण जानना चाहिये. जो निवृत्ति-मार्ग में प्रवृत्त हुए हों और जिन्हें भगवान सम्बन्धी निश्चय न हो, उन्हें मायिक गुणयुक्त होने के कारण सगुण समझना चाहिये.

इसीके साथ-साथ यह भी जान लेना चाहिये कि यद्यपि यह अतिशय त्यागी दिखायी पड़ता है, फिर भी उसे भगवान सम्बन्धी निश्चय नहीं है, इस कारण वह अज्ञानी है, अतएव अवश्य ही नरक में जायगा. जिसको भगवान के स्वरूप का ऐसा निश्चय हो चुका है और उसमें यदि कुछ [२]कमी रह गयी होगी, तो भी उसकी असद्गति नहीं होगी. वह तो अन्त में निर्गुणभाव को ही प्राप्त कर लेगा. जिसे भगवान के स्वरूप का तो ऐसा निश्चय नहीं हैं, उसके पूर्णतः त्यागी रहने और कामक्रोधलोभादि को टालने में पूरी सावधानी बरतने पर भी उसके मिटाये कामादिक नहीं मिटेंगे और अन्त में दुर्दशाग्रस्त होकर नरक में ही जायगा. जिसको भगवान के स्वरूप का ऐसा ज्ञान हो चुका हो, उसकी अल्पबुद्धि होने पर भी उसे महान बुद्धिमान जानना चाहिये. किन्तु, जिसे भगवान के स्वरूप का ऐसा ज्ञान नहीं हो पाया हो उसे, उसमें अधिक बुद्धि होने पर भी बुद्धिहीन समझना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१४॥ ॥१४७॥

वचनामृत १५ : स्वभाव पर अंकुश

संवत् १८७८ में भाद्रपद शुक्ल *द्वितीया को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के बरामदे में गद्दी बिछवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र

---

* गुरुवार, २९ अगस्त, १८२१.

१. 'ऐसा सन्त निर्गुण ब्रह्मस्वरूप है,' ऐसा वाक्यार्थ चाहिये.

२ देहासक्ति का कोई भाव.

धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने समस्त परमहंसों से प्रश्न पूछा कि 'चाहे कैसा ही जड़ स्वभाव हो, किन्तु फिर भी एक विचार करे, तो उस स्वभाव का नाश हो जाय तथा उस विचार को छोड़कर दूसरे हज़ारों विचार करे, तो भी वह बुरा स्वभाव नहीं मिटे, ऐसा कौन-सा विचार है ?'

यह बात जिसको जैसी समझ में आती हो उसको वैसा उत्तर देना चाहिये. परमहंसों में से जिसको जैसी समझ थी, उसने उसका वैसा उत्तर दिया, परन्तु यथार्थ उत्तर किसी से भी नहीं बन पड़ा. श्रीजीमहाराज बोले कि 'हम बताते हैं कि 'जैसे अपना कोई शत्रु बनता हुआ कोई काम बिगाड़ दे अथवा हमारी माता और बहन को कोई गाली दे तब जितना अत्यधिक क्रोध आता है और जिस उपाय द्वारा उसका अनिष्ट हो जाय वैसा उपाय किया जाता है अथवा कोई अन्य पुरुष उस शत्रु से प्रतिशोध लेता है, तो भी अत्यन्त प्रसन्नता होती है,' वैसे ही जो कोई मोक्ष के लिये यत्न करता हो, उसमें कामक्रोधादि आन्तरिक शत्रु विघ्न डालें, तो उनके प्रति भी वैसी ही वैर-बुद्धि हो जाय तथा उनकी ओर से भय कभी नहीं मिटता, वैसा ही विचार जिसके हृदय में सुदृढ़ हो जाय और वह उस विचार द्वारा शत्रुमात्र को टाल दे तथा जब कोई सन्त उन कामादि शत्रुओं की निन्दा और भर्त्सना करे, जिनके प्रति जिसे पूर्वोक्त विचार हो उसको साधु के प्रति कोई दुर्भाव नहीं होता, बल्कि वह उस साधु का गुण अतिशय रूप से ग्रहण कर लेता है और ऐसा समझता है कि 'ये साधु मेरे शत्रुओं को मारने का उपाय करते हैं, इसलिए, ये मेरे परम हितकारी हैं.' जिसके हृदय में इस प्रकार का विचार उत्पन्न हो चुका हो, तो वह शत्रुमात्र का नाश कर डालता है तथा कोई बुरा स्वभाव उसके हृदय में नहीं रह सकता. इसके सिवा चाहे जितने ही प्रकार के विचार उत्पन्न हो जायँ, किन्तु उनसे उसके कामादिस्वभावरूपी शत्रु नष्ट नहीं होते. इसलिए, ऐसे स्वभाव पर शत्रु-भाव रखना ही समस्त विचारों में श्रेष्ठ विचार है.'

श्रीजीमहाराज ने पुनः प्रश्न किया कि 'जो भक्त 'धर्म, वैराग्य, आत्मज्ञान तथा माहात्म्यसहित परमेश्वर के भक्तिसूचक चार मार्गों से कभी भी च्युत न हो, उसकी किन लक्षणों से पहचान की जानी चाहिये ?'

समस्त सन्तों में से जिसे जैसा समझ में आया उसने वैसा बताया, किन्तु कोई भी इसका यथार्थ उत्तर न दे सका. तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसका बाल्यावस्था से ही ऐसा स्वभाव हो कि वह किसी की भी छाया में दबे नहीं और जहाँ वह बैठा हो वहाँ कोई भी पुरुष उससे हँसी-मज़ाक नहीं कर सके तथा उससे कोई हल्का वचन भी नहीं कहा जा सके. जिस पुरुष के ऐसे लक्षण हों वह धर्म, वैराग्य, ज्ञान एवं भगवान की भक्ति से कभी भी नहीं डिग सकता. यदि उसका किसी मानी पुरुष-जैसा स्वभाव हो तो भी वह कल्याण की इच्छा रखता है, इस कारण वह सत्संग से कभी भी नहीं डिगता.' ॥ इति वचनामृतम् ॥१५॥ ॥१४८॥

वचनामृत १६ : स्वरूप एवं धर्मनिष्ठा

संवत् १८७८ में भाद्रपद शुक्ल *दशमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के समीप चौकी पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनिमंडल तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'एक भक्ति में तो अर्जुन की तरह स्वरूपनिष्ठा है तथा दूसरे भक्त में युधिष्ठिर राजा की तरह धर्मनिष्ठा है. इस प्रकार दो तरह की निष्ठाएँ हैं. इनमें से यदि स्वरूपनिष्ठा का बल रखा जाय, तो सम्बन्धित पुरुष की धर्मनिष्ठा शिथिल हो जाती है और यदि धर्मनिष्ठा का बल रखा जाय, तो स्वरूपनिष्ठा मन्द पड़ जाती है. [1]इसलिए, ऐसा कौन-सा उपाय किया जाना चाहिये, जिससे इन दोनों निष्ठाओं में से कोई भी निष्ठा शिथिल न पड़ सके ?'

श्रीजीमहाराज [2]बोले कि 'श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में पृथ्वी और

---

* शनिवार, ७ दिसम्बर, १८२१.

१. स्वरूपनिष्ठा बलवान है, इसलिए एकमात्र उसे ही रखना चाहिये, धर्मनिष्ठा का क्या प्रयोजन है ? यह बात भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि आपने तो बहुधा यह कहा है कि धर्मनिष्ठा के साथ ऐसी स्वरूपनिष्ठा की श्रेष्ठता भी रहती है. इसलिए, इन दोनों की अपेक्षा भी रहती है.

२. स्वरूपनिष्ठा को सुदृढ़ रखने से धर्मनिष्ठा भी दृढ़ रहती है, क्योंकि.

धर्म का जो संवाद है, उसमें यह बताया गया है कि 'भगवान का स्वरूप सत्य, शुचिता आदि उन चालीस गुणों से युक्त है.' अतएव, समस्त धर्म भगवान की मूर्ति पर आधारित रहते हैं. इसलिये, भगवान को धर्मधुरन्धर कहा गया है. श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में शौनकादिक ऋषियों ने पौराणिक ऋषि सूतजी से पूछा है कि 'धर्म के [1]कवचस्वरूप श्रीकृष्ण भगवान के अन्तर्धान होने के पश्चात् धर्म किसकी शरण में रहा था ?' वास्तव में धर्म भगवान की मूर्ति के आश्रय में ही रहता है. इसलिए, जो पुरुष भगवान की मूर्ति में निष्ठा रखता है, उसके हृदय में भगवान का स्वरूप भी बना रहता है. इस प्रकार, उसके हृदय में धर्म भी रहता है. जो पुरुष स्वरूपनिष्ठा रखता है, उसकी धर्मनिष्ठा भी सहज भाव से बनी रहती है. यदि उसने एकमात्र धर्मनिष्ठा ही रखी, तो स्वरूपनिष्ठा शिथिल पड़ जायगी. इस कारण बुद्धिमान पुरुष को तो स्वरूपनिष्ठा ही दृढ़ करके रखनी चाहिये, जिससे उसके साथ-साथ धर्मनिष्ठा भी सुदृढ़ बनी [2]रहेगी.'

मुक्तानन्द स्वामी ने दूसरा प्रश्न पूछा कि 'पंचविषयों को वैराग्य द्वारा जीता जाता है या कोई अन्य उपाय भी है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'वैराग्य हो अथवा न हो, परन्तु परमेश्वर द्वारा बताये गये नियमों का यदि सावधानी से पालन किया जाय तो पंचविषयों पर विजय प्राप्त की जा सकती है. यदि शब्द से वैराग्य द्वारा वृत्ति को लौटाया जाय, तो भारी प्रयास करने पर भी शब्द सुनायी पड़ता है. यदि कानों को बन्द कर लिया जाय, तो सहज ही शब्द नहीं सुना जा सकता. उसी प्रकार, यदि अनुचित पदार्थ का त्वचा से स्पर्श न किया जाय, तो सहज ही स्पर्श को जीत लिया जाता है. वैसे ही अनुचित वस्तु को नेत्रों से न देखा जाय, तो सहज ही रूप को जीत लिया जाता है. इसी प्रकार,

---

१. 'ब्रह्मण्ये धर्मवर्मणि', ऐसा कहा गया है तथा 'धर्मस्य प्रभुरच्युतः' ऐसी स्मृति भी है.

२. इस बात में संशय नहीं कि श्रीमद्भागवतादि सत्शास्त्रों में धर्मनिष्ठा का स्वर्गादि लोकों की प्राप्तिरूप फल कहा गया है, जबकि स्वरूपनिष्ठा का मोक्षरूप फल बताया गया है. यदि अपने अन्तःकरण में केवल धर्मनिष्ठा का ही गौरव आ जाय, तो उसीसे कल्याणमति हो जाती है, परन्तु भगवत्स्वरूपनिष्ठा में ऐसा नहीं होता, इतनी बाधा उपस्थित है, इस कारण स्वरूपनिष्ठा को ही सुदृढ़ करके रखना चाहिये, ऐसा अभिप्राय है.

स्वादिष्ट खाद्यपदार्थों को उनमें पानी मिलाकर खाया जाय तथा उपयुक्त आहार करे, तो सहजभाव से रसना पर विजय प्राप्त कर ली जाती है. वैसे ही अनुचित गन्ध को न सूँघने की दृष्टि से यदि नासिका को बन्द कर लिया जाय, तो सहज ही गन्ध को जीत लिया जाता है. इस प्रकार नियमों का पालन कर पंचविषयों को जीत लिया जाता है. यदि नियमों का पालन न किया गया तो उत्कृष्ट वैराग्यवान तथा ज्ञानी पुरुष भी पथच्युत हो जाता है. वस्तुतः विषयों को काबू में करने के साधन तो परमेश्वर द्वारा प्रतिपादित नियम ही हैं. मन्द वैराग्यवाले के लिये तो नियमबद्ध रहना ही अभय मार्ग है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि बीमार पुरुष परहेज करते हुए औषध-सेवन करने से रोगमुक्त हो जाता है.'

अखंडानन्द स्वामी ने पूछा कि 'रोगी पुरुष को तो परहेज रखने के लिये यह नियम होता है कि इतने दिन तक परहेज रखा जाय, वैसे ही कल्याण की साधना का भी कोई नियम है या नहीं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसकी श्रद्धा मन्द होती है उसकी साधना की समाप्ति तो अनेक जन्मों में होती है. यही बात भगवद्गीता में भी कही गयी है :–

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।'

इस श्लोक में यह बताया गया है कि 'अनेक जन्मों द्वारा संसिद्ध हुआ योगी परमपद को प्राप्त करता है.' यह पक्ष मन्द श्रद्धावाले का है, किन्तु जिसकी श्रद्धा बलवती होती है, वह तो तत्काल सिद्ध हो जाता है. यह बात भी गीता में कही गयी है :–

'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।'

इस श्लोक का यह अर्थ है कि 'जिसकी इन्द्रियाँ नियमानुकूल हैं, ऐसा श्रद्धावान पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है. इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करके वह तुरन्त ही परमपद को प्राप्त कर लेता है.' इसीलिए, अतिशय श्रद्धावान की साधना की समाप्ति शीघ्र ही हो जाती है. किन्तु मन्द श्रद्धावान की साधना की समाप्ति तो अनेक जन्मों के बाद ही होती है. जैसे कोई पुरुष काशी-यात्रा के लिये जाता हो और वह सारे दिन केवल दो कदम ही चल पाता हो, तो उसे काशी जाने में बहुत दिन लग जाते हैं, किन्तु जो पुरुष दिनभर में

बीस-बीस कोस चलता है, वह तो यहाँ से थोड़े ही दिनों में काशी पहुँच जाता है, वैसे ही जिस पुरुष की श्रद्धा बलवती होती है, वह तुरन्त सत्संगी होने पर भी अतिशय श्रेष्ठ हो जाता है, परन्तु जिसकी श्रद्धा मन्द होती है, वह दीर्घकाल से सत्संगी होने पर भी शिथिल ही रह जाता है.'

श्रीगुरुचरणरतानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जब मन्द श्रद्धावान पुरुष का अनेक जन्मों के पश्चात् कल्याण होता है तब तक वह कहाँ रहता होगा ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'ऐसा पुरुष सुन्दर देवलोक में जाकर रहता है. जब वह भक्त भगवान का ध्यान करते समय भगवान के सामने देखता था उस समय भगवान भी उसके सामने देखते थे. वह भक्त भगवान का ध्यान करते समय जिन-जिन विषयों का चिन्तन किया करता था तथा जिन-जिन विषयों में उसे अनुराग था, उन सबको भगवान दृष्टिगत रखते हैं और उसके देहत्याग करने पर उस भक्त को वे उसके प्रिय भोग भोगने के लिये उस लोक में पहुँचाते हैं तथा काल को यह आज्ञा प्रदान करते हैं कि 'तुम इस भक्त के भोगों में रुकावट मत डालना.' इसीलिए, वह भक्त निरन्तर देवलोक में रहता हुआ, भोगों को भोगता रहता है और इसके पश्चात् मृत्युलोक में आकर अनेक जन्मों के बाद मोक्ष को प्राप्त करता है.'

अखंडानन्द स्वामी ने अन्य प्रश्न पूछा कि 'तीव्र श्रद्धावान् पुरुष के लक्षण कैसे होते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'तीव्र श्रद्धावान् पुरुष तो भगवान के दर्शनों के लिये आने अथवा भगवत्कथावार्ता सुनने तथा भगवान की मानसी पूजा करने आदि भगवान सम्बन्धी समस्त क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिये अपनी स्नानादि दैहिक क्रियाओं को बड़ी उतावली से निपटा डालता है और पत्र लिखकर यदि हमने कोई नवीन व्रत नियम के पालन करने का आदेश दे दिया हो, तो उसका पालन करने के लिए भी वह बालक की तरह व्याकुलता प्रकट करने लग जाता है. जिसके ऐसे लक्षण हों उसको तीव्र श्रद्धावान समझना चाहिये. ऐसी श्रद्धा रखनेवाला पुरुष अपनी समस्त इन्द्रियों को तत्काल वश में कर लेता है. जिसको भगवान के मार्ग में मन्द श्रद्धा होती है, उसकी इन्द्रियाँ अत्यन्त तीक्ष्ण रूप से विषयोन्मुख होकर उनसे संलग्न हो जाती हैं. ऐसा पुरुष इनके सम्बन्ध में चाहे कितनी ही गोपनीयता बरतने का प्रयास करे, तो भी सबको उसकी सभी बातें मालूम

हो जाती हैं कि 'इस पुरुष की इन्द्रियाँ तीक्ष्ण रूप से विषयोन्मुख हो चुकी हैं.' इन्द्रियों का रूप तो वायु के वेग जैसा है. जैसे वायु यद्यपि दिखायी नहीं पड़ता, फिर भी वह वृक्षों को हिला डालता है, जिससे पता चलता है कि हवा चल रही है, वैसे ही इन्द्रियों की वृत्तियाँ यद्यपि दिखायी तो नहीं पड़तीं, किन्तु उनके विषयोन्मुख होने पर सबको उनकी जानकारी हो जाती है. यदि कोई पुरुष कपटपूर्वक इस बात को छिपाने की कोशिश करता है तो सभी लोग उसको कपटी समझकर उसके प्रति दुर्भाव प्रकट करते हैं. इसलिए, यह कहा जा सकता है कि जिसकी इन्द्रियों में विषयों को भोगने की तीक्ष्णता बनी रहती है वह किसी भी प्रकार से गुप्त नहीं रह पाती.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'इन्द्रियों की तीक्ष्ण विषयोन्मुखता को टालने का क्या उपाय है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इन्द्रियों की तीक्ष्णता को टालने का यही उपाय है कि परमेश्वर ने त्यागी तथा गृहस्थ पुरुषों के लिये जिन नियमों का प्रतिपादन किया है, उनके अनुसार यदि सभी इन्द्रियों पर अंकुश रखा जाय, तो सहज ही इन्द्रियों की तीक्ष्णता मिट सकती है. जब श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना तथा घ्राणेन्द्रियों (पाँच इन्द्रियों) को यदि कुमार्ग पर नहीं जाने दिया जाय तो इन्द्रियों के आहार शुद्ध हो जाते हैं और बाद में अन्तःकरण भी शुद्ध हो जाता है. वैराग्य का बल हो या न हो, तो भी यदि इन्द्रियों को वश में करके परमेश्वर के बताये गये नियमों में रखा जायगा, तो तीव्र वैराग्य द्वारा विषयों को जीतने की विधि की अपेक्षा इन नियमों का पालन करनेवाला पुरुष इनपर विशेष रूप से विजय प्राप्त कर लेता है. इसलिए, परमेश्वर द्वारा प्रतिपादित नियमों का अत्यन्त दृढ़ता के साथ पालन करते रहना चाहिये.'

अखंडानन्द स्वामी ने पुनः यह प्रश्न पूछा कि 'जिस पुरुष को मन्द श्रद्धा हो, उसकी श्रद्धा में किस प्रकार वृद्धि हो सकती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि भगवान का माहात्म्य जान लिया जाय, तो मन्द श्रद्धा में भी वृद्धि हो सकती है. जिस प्रकार पानी पीने का मिट्टी का पात्र सहज ही पसन्द नहीं आता है और यदि वह स्वर्णपात्र हो, तो अत्यन्त रुचिकर प्रतीत होता है, वैसे ही भगवान के तथा भगवान की कथा एवं कीर्तनादि के माहात्म्य का ज्ञान हो जाय, तो भगवान तथा कथाकीर्तनादि

में श्रद्धा सहज स्वाभाविक रूप से बढ़ जाती है. इसलिए, वही उपाय किया जाना चाहिये, जिससे भगवान का माहात्म्य समझ में आ जाय. यदि ऐसा उपाय किया जाय, तो श्रद्धा न रहने पर भी श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है. यदि मन्द श्रद्धा हो तो उसमें वृद्धि हो जाती है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१६॥ ॥१४९॥

वचनामृत १७ : 'मामेकं शरणं व्रज'

संवत् १८७८ में आश्विन कृष्ण *एकादशी को रात के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के समीप कमरे के बरामदे में सिंहासन पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके सामने दो मशालें जल रही थीं. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'कीर्तन बन्द करिये. अब प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ करते हैं.' समस्त मुनिजन बोले कि 'बहुत अच्छा महाराज!' श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'कोई भक्त तो भगवान के स्वरूप को माया के चौबीस तत्त्वों सहित समझता है तथा कोई भक्त भगवान के स्वरूप को माया के तत्त्वों से रहित केवल चैतन्यमय ही मानता है. इन दोनों प्रकार के भक्तों में किसकी समझ ठीक है और किसकी समझ ठीक नहीं है ?'

मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'जो भक्त भगवान के सम्बन्ध में मायिक चौबीस तत्त्वों को समझता है उसकी समझ ठीक नहीं है. जो भक्त भगवान को माया के तत्त्वों से रहित केवल चैतन्यमय समझता है, उसकी समझ ठीक है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'सांख्यमत में चौबीस तत्त्व बताये गये हैं. उस मतानुसार मूलतः तेवीस तत्त्व हैं और चौबीसवाँ तत्त्व क्षेत्रज्ञ जीव ईश्वररूप चैतन्य है. इस प्रकार चौबीस तत्त्व कहे गये हैं, क्योंकि क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ का तो अन्योन्याश्रय-भाव है और क्षेत्रज्ञ को क्षेत्र के बिना बतलाया ही नहीं जा सकता और क्षेत्र के बिना क्षेत्रज्ञ नहीं हो सकता. इसीलिए जीव-ईश्वर को

---

* सोमवार, २१ अक्तूबर, १८२१.

तत्त्वों के साथ ही बताया गया है. भगवान तो क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ दोनों के ही आश्रयदाता हैं. इस कारण, मायिक तत्त्वों को भगवान से भिन्न कैसे कहा जा सकता है ? जिस प्रकार आकाश में चार तत्त्व रहे हैं, फिर भी आकाश इन चार तत्त्वों से निर्लेप है, वैसे ही परमेश्वर के स्वरूप को मायिक तत्त्वों का एक भी दोष नहीं छू पाता. ऐसा ही भगवान का स्वरूप है और उसमें यदि चौबीस तत्त्व कहे गये हैं तो उसमें क्या बाधा है ? यदि उसे तत्त्वरहित बताया गया है तो उसमें क्या निर्बाध-भाव आ गया ? हमें तो ऐसा लगता है.'

दीनानाथ भट्ट ने पूछा कि 'जिसे भगवान की मूर्ति का ध्यान करना हो, उसको भगवान का स्वरूप तत्त्वसहित समझना चाहिये अथवा तत्त्वरहित ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो भक्त भगवान के स्वरूप को तत्त्वसहित समझता है, वह भी पापी है और जो पुरुष भगवान के स्वरूप को तत्त्वरहित जानता है, वह भी पापी है. भगवान के भक्त को भगवान के स्वरूप में तत्त्व होने या न होने के प्रश्न पर वाद-विवाद करना बिल्कुल अच्छा नहीं लगता. ऐसा भक्त तो यह जानता है कि 'भगवान तो भगवान ही हैं. उनके स्वरूप के सम्बन्ध में मायिक-अमायिक भाव के लिये कोई भी गुंजाइश नहीं है. वे भगवान तो समग्र रूप से दिव्य हैं तथा अनन्त ब्रह्मांडों की आत्मा हैं.' जिस भक्त को भगवान के स्वरूप में किसी प्रकार का तर्क-वितर्क नहीं होता, उसे निर्विकल्प स्थितिवाला जानना चाहिये. जिसकी ऐसी स्थिर मति हो, उसे स्थितप्रज्ञ समझना चाहिये. भगवान के सम्बन्ध में जिस पुरुष की ऐसी दृढ़ मति रहती है, उसको भगवान समस्त पापों से मुक्त करे देते हैं. यही बात भगवान ने भगवद्गीता में अर्जुन से कही है कि –

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।'

इस संसार में भी ऐसी रीति है कि जिससे अपना बड़ा स्वार्थ सिद्ध होता हो, उसके दोषों पर बुद्धिमान पुरुष ध्यान नहीं देता. जिस प्रकार स्त्री अपने स्वार्थ के कारण पति के दोषों की उपेक्षा कर देती है तथा यदि अतिशय स्वार्थ हो तो अन्य गृहस्थ भी अपने भाइयों, भतीजों और लड़कों आदि सम्बन्धीजनों के दोषों पर ध्यान नहीं देते, वैसे ही जिसने भगवान के

साथ अपना बड़ा स्वार्थ सिद्ध होना जान लिया हो कि 'भगवान तो अपने भक्त को पाप तथा अज्ञान से मुक्त करके अभयपद प्रदान करते हैं,' तो उसे भगवान के सम्बन्ध में कोई दोष दिखायी ही नहीं पड़ता. जिस प्रकार शुकजी ने रासपंचाध्यायी का वर्णन किया तब राजा परीक्षित को संशय हुआ कि 'भगवान ने परस्त्री का संग क्यों किया,' परन्तु शुकजी को लेशमात्र भी संशय नही हुआ. गोपियों के साथ भगवान ने जो विहार किया, उसके सम्बन्ध में गोपियों को भी संशय नहीं हुआ कि 'भगवान हों तो ऐसा क्यों करें.' जब भगवान कुब्जा के घर गये तब वे उद्धवजी को भी अपने साथ ले गये थे. तब भी उद्धवजी को किसी भी प्रकार का संशय नहीं हुआ. जब उद्धवजी को ब्रज में भेजा गया, तब गोपियों की वाणी सुनकर भी उन्हें किसी भी प्रकार का संशय नहीं हुआ, वरन उन्होंने गोपियों का माहात्म्य और अच्छी तरह समझ लिया.

जिसको भगवान का अचल आश्रय प्राप्त हो चुका हो, वह चाहे अतिशय शास्त्रवेत्ता हो अथवा भोला ही क्यों न हो, फिर भी उसकी मति भ्रमित नहीं होती. भगवान के जो दृढ़ भक्त हैं, उनका माहात्म्य भी भगवान के भक्त ही जान सकते हैं. चाहे शास्त्रवेत्ता हो या भोला, परन्तु भगवान में जिसकी दृढ़ मति होती है वही भगवान के भक्त का माहात्म्य जान सकता है तथा दृढ़ मतिवाले भक्तों को पहचान भी लेता है. परन्तु, उसके बिना तो जगत के विमुख जीव, भले ही पंडित हो या मूर्ख, भगवान में दृढ़मति नहीं रख सकते, दृढ़मतिवाले भक्तों नहीं पहचान सकते तथा हरिभक्तों का माहात्म्य भी नहीं जान सकते. भगवान का केवल भक्त ही भगवद्‌भक्त को पहचान सकता है और वही उसका माहात्म्य भी जान सकता है. जिस प्रकार उद्धवजी ने गोपियों का अतिशय माहात्म्य समझा था, वैसे ही गोपियों ने भी उद्धवजी का माहात्म्य समझ लिया था.

पुरुषोत्तम भगवान तो समस्त क्षेत्रज्ञ हैं, फिर भी वे निर्विकार हैं. माया आदि विकारवान पदार्थों का विकार पुरुषोत्तम भगवान को स्पर्श नहीं करता. स्थूल, सूक्ष्म और कारणजन्य विकार आत्मनिष्ठ पुरुष का भी स्पर्श नहीं करते, तब वे पुरुषोत्तम भगवान का स्पर्श न करें, इसके सम्बन्ध में क्या कहा जाय ? भगवान तो निर्विकार तथा निर्लेप ही हैं. जो पुरुष इस रीति से भगवान के स्वरूप को समझ लेते हैं, उन्हें ही भगवान का भक्त

और स्थितप्रज्ञ समझना चाहिये. जिसकी अपनी आत्मा में स्थिति होती है वह भी स्थितप्रज्ञ कहलाता है. जिसको भगवान के स्वरूप के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का संकल्प न हुआ हो और जो भगवान की सामर्थ्य और असमर्थता का गान करता हो और भगवान के उचित चरित्रों तथा अनुचित जैसे प्रतिभासित होनेवाले चरित्रों का भी वर्णन करता हो, किन्तु भगवान के चरित्र के सम्बन्ध में उचित एवं अनुचित जैसी कोई परिकल्पना नहीं करता, भगवान के ऐसे भक्त को ही पुरुषोत्तम भगवान के स्वरूप के सम्बन्ध में स्थितप्रज्ञ समझना चाहिये. जिस पुरुष को पुरुषोत्तम भगवान के स्वरूप के सम्बन्ध में ऐसी दृढ़ निष्ठा हो चुकी हो, उसको इससे आगे और कुछ समझना शेष ही नहीं रह जाता.' ।। इति **वचनामृतम्** ।।१७।। ।।१५०।।

वचनामृत १८ : नास्तिक तथा शुष्क वेदान्ती

संवत् १८७८ में मार्गशीर्ष *षष्ठी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने ठहरने के स्थान में गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था तथा सफेद चादर ओढ़कर उसपर बूटादार रजाई ओढ़ी थी. उनके मस्तक पर श्वेत फेंटा सुशोभित हो रहा था. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी और प्रागजी दवे कथा कर रहे थे.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'हमने तो सब तरह से विचार कर देखा कि इस संसार में जितने कुसंग कहलाते हैं, उन सब कुसंगों में सर्वाधिक गर्हणीय कुसंग कौन-सा है ? वास्तव में, 'जिस पुरुष को परमेश्वर की भक्ति नहीं है तथा जिसके हृदय में समस्त प्राणियों के स्वामी, भक्तवत्सल, पतितपावन, अधमोद्धारक भगवान में विश्वास नहीं है,' वही अत्यन्त निन्दनीय कुसंग है. इस संसार में इस प्रकार के दो मत हैं, जिनमें से एक मत तो नास्तिकों का तथा दूसरा मत [१]शुष्क [२]वेदान्तियों का है. ये दोनों घोर गर्हित कुसंग हैं. अगर कोई पुरुष पंच महापाप से युक्त हो, फिर भी

---

* शनिवार, ७ दिसम्बर, १८२१.

१. भगवान की भक्ति से रहित होने के कारण शुष्क हैं.

२. नाममात्र से वेदान्ती.

यदि उसे भगवान का विश्वास हो, तो कभी उसका कल्याण हो भी सकता है. इसी प्रकार बालहत्या, गौहत्या तथा स्त्रीहत्या आदि घोर पाप करनेवालों का भी किसी समय छुटकारा अवश्य हो सकता है, परन्तु जिसको उक्त दोनों मतों में विश्वास हो गया हो, उसका कभी भी छुटकारा नहीं होता, क्योंकि उसकी समझ वेदों, शास्त्रों और पुराणों से विपरीत रहती है.

उनमें नास्तिक मतानुयायी तो ऐसा समझते हैं कि 'रामचंद्रजी तथा श्रीकृष्ण भगवान तो राजा थे. श्रीकृष्ण ने दैत्यों को मार डाला और परस्त्रियों का संग किया, इसलिए वे तीसरे नरक में पडे हैं.' इस प्रकार इन नास्तिकों की ऐसी बुद्धि ही नहीं है कि वे अधमोद्धारक, पतितपावन श्रीकृष्ण भगवान को परमेश्वर समझ सकें. इन नास्तिकों का यह मत भी है कि यदि 'हम कर्म करेंगे, तो हमारा आत्मकल्याण हो जायगा.' इनका यह कथन भी है कि कर्म करते-करते जब केवल ज्ञान प्रकट होता है तब कोई भी भगवान बन जाता है. इस तरह उन्होंने अनन्त भगवान माने हैं, किन्तु उनके मतानुसार कोई अनादि परमेश्वर है ही नहीं, जिनका भजन करने से जीव भवबन्धन से मुक्त हो जाता है. इस कारण, उनका यह मत वेदों के विरुद्ध है.

शुष्कवेदान्ती तो ऐसा मानते हैं कि 'ब्रह्म ही जीवरूप हुए हैं तथा सूर्य के प्रतिबिम्ब के सदृश ब्रह्म स्वयं जीवरूप है.' इसलिए, जब ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाय कि 'मैं ब्रह्म हूँ,' तब से किसी भी प्रकार की साधना करने की आवश्यकता नहीं रह जाती. जब स्वयमेव परमेश्वर हो गये तब किसी का भजन भी करना नहीं रह जाता. ऐसा मानते हुए ये शुष्कवेदान्ती पाप करने से भी नहीं डरते और अपने मन में यह धारणा बना लेते हैं कि 'हम निर्गुण मार्ग को प्राप्त हो चुके हैं, इसलिए हमें फिर से जन्म नहीं लेना पड़ेगा.' परन्तु, वे शुष्कवेदान्ती इस बात की खोज नहीं करते कि मायापर जो निर्गुण ब्रह्म है, उसके लिये भी उनकी अपनी समझ के अनुसार जन्म-मरण निश्चित हुआ है, क्योंकि वे ऐसा कहते हैं कि 'ब्रह्म ही स्थावरजंगमरूप हुआ है.' तब जो जीव हो, उसके माथे पर तो जन्म-मरण का चक्र घूमता ही रहता है. वह जन्म-मरण ब्रह्म के माथे पर आ गया. फिर भी, वे तो ऐसा मानते हैं कि 'हम जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जायेंगे.' परन्तु, वे यह विचार नहीं करते कि अपने मतानुसार ब्रह्म के सिर

पर जन्म-मरण की बात सिद्ध हो चुकी है, तब हम भी स्वयं को अधिकाधिक समझ सकेंगे और अपने-आपको ब्रह्मस्वरूप मान लेंगे तो भी जन्म-मरण नहीं टलेगा. इसलिए, उन्होंने अपने मतानुसार ही जो मोक्ष माना है वह मिथ्या हो जाता है, तो भी आत्मनिरीक्षण द्वारा वे यह नहीं देखते और जिह्वा से तो वे यह बकवास करते रहते हैं कि 'हम तो ब्रह्मरूप हैं, तो फिर किसका भजन करें और किसको नमस्कार करें ?' ऐसा मानकर वे अत्यन्त अहंकारी हो जाते हैं. कोई भी बात उनकी समझ में तो आयी नहीं, फिर भी वे ज्ञानी होने की अहंमन्यता लेकर बैठ गये हैं, किन्तु यह विचार नहीं करते कि 'उनके मतानुसार ही उनकी मोक्ष-धारणा मिथ्या हो चुकी है.' जो कोई उनका संग करता है, उसको भी वे मूर्ख बना देते हैं. सच्चे ज्ञानी नारदसनकादिक, शुकजी तो निरन्तर भगवान का ध्यान, नामोच्चारण और कीर्तन करते रहते हैं तथा श्वेतद्वीप में स्थित जो निरन्नमुक्त हैं. वे तो ब्रह्मस्वरूप हैं और काल के भी काल हैं. वे भी परमेश्वर का ध्यान, नामरटन, कीर्तन, पूजन और अर्चन-वन्दन करते रहते हैं. वे स्वयं अक्षरस्वरूप हैं, फिर भी अक्षरातीत पुरुषोत्तम भगवान के सेवक होकर कार्यरत रहते हैं. बदरिकाश्रमवासी उद्धव एवं तनुऋषि आदि मुनि भी तप करते हैं और निरन्तर भगवान की भक्ति करते रहते हैं. शुष्कवेदान्ती तो केवल देहाभिमानी जीव हैं, तो भी भगवान का ध्यान, स्मरण या वन्दन नहीं करते. नारदसनकादिक तथा शुकजी, श्वेतद्वीपवासी निरन्नमुक्तों तथा बदरिकाश्रमवासी ऋषियों में जैसी सामर्थ्य और जैसा ज्ञान है, उनके करोड़वें भाग की सामर्थ्य तथा ज्ञान भी उनमें नहीं है, तो भी परमेश्वर के प्रतिद्वन्द्वी होकर बैठे हैं. इसलिए, वे पक्के अज्ञानी हैं तथा जितने अज्ञानी कहलाते हैं, उनके वे सरदार हैं. ऐसे लोग तो करोड़ों कल्पों तक नरककुंड में पड़े रहेंगे और उन्हें यम-यातना भोगनी पड़ेगी, तो भी उनका छुटकारा नहीं होगा. ऐसे लोगों का संग ही कुसंग है. जिस प्रकार सत्पुरुष के संग से बढ़कर कोई अधिक पुण्य नहीं है, वैसे ही अज्ञानी शुष्कवेदान्तियों के संग से बढ़कर कोई अधिक पाप नहीं. इसलिए, आत्मकल्याण के इच्छुक पुरुषों को नास्तिकों तथा शुष्कवेदान्तियों का संग ही नहीं करना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१८॥ ॥१५१॥

वचनामृत १९ : शुष्कज्ञानियों का शास्त्र

संवत् १८७८ में मार्गशीर्ष कृष्ण *चतुर्दशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में परमहंसों के ठहरने के स्थान में सूर्योदय के समय पधारे थे. वहाँ आकर वे गद्दी-तकिया पर उदास होकर बैठ गये. उन्होंने न तो किसी को बुलाया और न किसी के सामने देखा ही. उन्होंने मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था, जो खुलकर ढ़ीला पड़ गया था, उसे भी संभाला नहीं. इस प्रकार वे एक घड़ी तक अत्यन्त उदास होकर बैठे रहे. उसी स्थिति में उनके नेत्रों से आँसू पड़ने लगे.

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज परमहंसों से बोले कि 'हमने शुष्कज्ञानियों का मत जानने के लिये उनके शास्त्र का श्रवण किया. उसके श्रवणमात्र से हमारे अन्तःकरण में ऐसी उद्विग्नता हो गयी, क्योंकि शुष्कवेदान्त शास्त्र के श्रवण से जीव की बुद्धि में से भगवान की उपासना की भावना लुप्त हो जाती है तथा अन्तःकरण में समभाव आ जाता है. इसलिए, अन्य देवों की भी उपासना हो जाती है. जो पुरुष उन शुष्कवेदान्तियों के वचनों को सुनते हैं, उनसे उनकी बुद्धि बिल्कुल भ्रष्ट हो [१]जाती है. हमने तो [२]किसी प्रयोजन से शुष्कवेदान्ती की बात सुनी, उससे भी हमें अति दुःख हुआ,' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज फिर उदास हो गये.

इस प्रकार वे बहुत देर तक खिन्न रहे और अपने हाथों से नेत्रों के आँसू पोंछकर ऐसा बोले कि 'भगवद्गीता पर जो रामानुज भाष्य है, उसकी कथा सुनकर हम आज रात्रि में जब सो रहे थे तब हमने एक स्वप्न देखा कि हम गोलोक में गये, जहाँ भगवान के अनन्त पार्षदों को देखा. उनमें से कितने ही पार्षद भगवान की सेवा में थे. वे तो स्थिर-से दिखायी पड़े तथा कितने ही पार्षद परमेश्वर का कीर्तन कर रहे थे. वे कीर्तन भी मुक्तानन्द स्वामी तथा ब्रह्मानन्द स्वामी द्वारा रचित थे. कीर्तन-गान करते करते वे हिलडोल भी रहे थे, मानो वे मस्ती में पागल जैसे हो गये हों और उनके शरीर का अंग-अंग हिल रहा हो तथा वे गा रहे हों. वैसे ही वे पार्षद भी

---

* सोमवार, २३ दिसम्बर, १८२१.

१. इसीलिए, शुष्कज्ञानी के वचन नहीं सुनने चाहिये.

२. खंडन करने के लिये.

कीर्तन करते हुए हिलडोल रहे थे. बाद में हम भी कीर्तन करनेवाले उन पार्षदों में जाकर मिल गये और कीर्तन करने लगे. कीर्तन करते-करते हमें ऐसा विचार हुआ कि परमेश्वर की ऐसी प्रेमभक्ति तथा परमेश्वर की ऐसी उपासना का परित्याग करके जो मिथ्याज्ञानी ऐसा मानता है कि 'हम ही भगवान हैं', वह महादुष्ट है.'

ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस प्रकार धर्म तथा भगवान की भक्ति से किसी भी तरह विचलित न हों तथा अपने इष्टदेव श्रीकृष्णनारायण से बुद्धि किसी प्रकार डिगे नहीं, इस आशय का एक पत्र लिखकर देशभर के सत्संगियों के पास भेजें.'

'स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज समस्त परमहंसों तथा सभी सत्संगी स्त्री-पुरुषों को यह पत्र लिखा रहे हैं. 'नारायण' बांचियेगा. हमारी यह आज्ञा है कि श्रीकृष्णनारायण जो पुरुषोत्तम भगवान हैं उनके अवतार धर्म की स्थापना करने तथा ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा आदि धर्म, आत्मनिष्ठा, वैराग्य और माहात्म्यसहित भक्ति करते रहने के इन चार गुणों से सम्पन्न अपने एकान्तिक भक्तों को दर्शन देने, उनकी रक्षा करने तथा अधर्म का मूलोच्छेद करने के लिये देवों और मनुष्यों आदि में होते हैं. इन अवतारों के प्रति अनन्यभाव से पतिव्रता जैसी निष्ठा रखनी चाहिये, ठीक उसी तरह से जिस प्रकार सीताजी ने निर्दोष भाव से श्रीरामचन्द्रजी के प्रति निष्ठा रखी थी. वैसी ही निष्ठा रखनी चाहिये. ऐसे जो भगवान हैं, उनकी प्रेमपूर्वक मानसी पूजा करनी चाहिये. यदि उन श्रीकृष्णनारायण के अवतार पृथ्वी पर प्रकट न हुए हों तो उनकी प्रतिमा की पूजा चन्दन, पुष्प, तुलसी आदि सामग्री द्वारा मनोयोगपूर्वक शारीरिक रूप से करनी चाहिये. परन्तु, उन भगवान के सिवा अन्य किसी भी देव की उपासना नहीं करनी चाहिये. यदि ऐसी कोई उपासना की गयी तो उससे बड़ा दोष लगता है और पतिव्रताभाव भी नष्ट हो जाता है तथा वेश्या-जैसी भक्ति हो जाती है. इसलिए, भगवान की भक्ति सीता तथा रुक्मिणी के समान करनी चाहिये. उन भगवान का ही ध्यान करना चाहिये. उनके सिवा, अन्य किसी भी देवता का ध्यान नहीं करना चाहिये. जो साधु सिद्धगति को प्राप्त हो और समाधिनिष्ठ हो, उसका भी ध्यान नहीं करना [१]चाहिये. और, सबको अपने-

---

१. और शुष्कवेदान्तियों तथा उनके ग्रन्थों का प्रसंग समस्त प्रकार से नहीं करना चाहिये.

अपने वर्णाश्रमधर्म का पालन दृढ़तापूर्वक करते रहना चाहिये.

जो पुरुष हमारी इस आज्ञा का दृढ़तापूर्वक पालन करेगा, उसको श्रीकृष्णनारायण में नारद जैसी दृढ़ भक्ति हो जायगी. जो स्त्री हमारी इस आज्ञा को मानेगी, उसको श्रीकृष्णनारायण में लक्ष्मीजी तथा राधिकाजी आदि गोपियों के सदृश भक्ति हो जायगी. जो हमारे इस वचन का उल्लंघन करेंगे, उनकी भक्ति वेश्या जैसी व्यभिचारिणी हो जायगी. संवत् १८७८ में मार्गशीर्ष कृष्ण चतुर्दशी को यह पत्र लिखा है.' श्रीजीमहाराज ने ऐसा पत्र लिखकर देशभर के सत्संगियों के पास भिजवाया.

॥ इति वचनामृतम् ॥१९॥ ॥१५२॥

वचनामृत २० : ज्ञानशक्ति

संवत् १८७८ में पौष कृष्ण *चतुर्दशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के सामने विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सफेद चादर ओढी थी, उस पर छींटकी रजाई ओढ़ी और मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. उस समय परमहंस तालमृदंग बजाते हुए कीर्तन कर रहे थे.

श्रीजीमहाराज परमहंसों से बोले कि 'आज तो हमने अपने मुकाम में हमारे पास रहनेवाले सोमला खाचर आदि हरिभक्तों से एक प्रश्न पूछा है, उसका उत्तर सब परमहंस मिलकर दें.' परमहंसों ने कहा कि 'हे महाराज ! यह प्रश्न हमें सुनाइये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'समाधिनिष्ठ पुरुष की स्थिति तो [१]माया से परे हो जाती है तथा उससे भगवान के स्वरूप का भी दृढ़ सम्बन्ध रहता है. इसलिए, इस समाधिनिष्ठ की ज्ञानशक्ति तथा देहेन्द्रियों की शक्ति बढ़नी चाहिये, क्योंकि माया से जिन चौबीस तत्त्वों की उत्पत्ति हुई है वे जड़चैतन्यरूप हैं, किन्तु वे अकेले जड़ भी नहीं कहलाते और अकेले चैतन्य भी नहीं कहे जाते, उन तत्त्वों में शक्ति भी एकसमान ही नहीं होती. इन्द्रियों

---

* बुधवार, २२ जनवरी, १८२२.

१. तीन देहरूपी.

की अपेक्षा अन्तःकरण में विशेष ज्ञान रहता है अन्तःकरण की अपेक्षा इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के द्रष्टा जीव को विशेष ज्ञान होता है. जीव को जब समाधि लग जाती है तब इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के द्रष्टाभाव का परित्याग करके वह जीव मायापर ब्रह्म के सदृश चैतन्य हो जाता है और उससे भगवान के स्वरूप का सम्बन्ध भी रहता है. कितने ही लोग समाधिवाले के सम्बन्ध में यह धारणा बना लेते हैं कि 'जिसको समाधि लग जाती है उसको तो पहले-जैसी समझ भी नहीं रहती.' इसलिए, 'ऐसे समाधिवाले के ज्ञान तथा देहेन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है या नहीं,' यह प्रश्न है.'

परमहंसों में से जिसकी जैसी बुद्धि थी, उसने वैसा ही इस प्रश्न का उत्तर दिया, परन्तु कोई भी परमहंस श्रीजीमहाराज के प्रश्न का यथार्थ उत्तर न दे सका.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब हम इस प्रश्न का उत्तर देते हैं. इस प्रश्न का उत्तर तो यह है कि जो साक्षी ब्रह्म है वह तो माया में से उत्पन्न चौबीस तत्त्वात्मक ब्रह्मांड में प्रवेश करके उसको चैतन्यमय बना देता है और उसे समस्त क्रियाएँ करने की सामर्थ्य प्रदान करता है. उस ब्रह्म का स्वभाव तो यह है कि काष्ठ और पाषाण जैसे जड़ तत्त्वों में जब वह प्रवेश करता है तब उनकी गतिविधि प्रारम्भ हो जाती है. जब यह जीव समाधि द्वारा ब्रह्म के साथ तुल्यभाव को प्राप्त हो जाता है, तभी वह ब्रह्मरूप कहलाता है और उसके ज्ञान की वृद्धि होती [१]है.

जब उसे तप, निवृत्ति धर्म तथा वैराग्ययुक्त योगाभ्यास हो जाता है तब उसे शुकजी के समान सिद्धदशा प्राप्त हो जाती है. जिसको तप, निवृत्ति-धर्म और वैराग्य भाव सामान्य रूप से होता है तथा जो धर्म, अर्थ एवं कामरूपी प्रवृत्तिमार्ग में रहा होता है, उसे समाधि लगने पर भी एकमात्र ज्ञान की ही वृद्धि होती है, किन्तु इन्द्रियों की शक्ति बढ़ने पर सिद्धदशा प्राप्त नहीं होती. जिस प्रकार जनकराजा ज्ञानी थे, वैसा ज्ञानी वह हो जाता है, परन्तु प्रवृत्तिमार्गवाले को तो नारदसनकादिक तथा शुकजी जैसी सिद्धदशा प्राप्त नहीं होती. जो सिद्ध होता है वह तो भगवान के श्वेतद्वीप आदि धामों में इसी शरीर द्वारा पहुँच जाता है तथा लोक-अलोक जैसे सभी

---

१. इस देह से ही अन्य लोक में गमन, दूरश्रवण और दर्शन सम्बन्धी इन्द्रियों की शक्ति के आधिक्य को समाधि का फल नहीं माना गया है.

स्थानों में उसकी गति हो जाती है. प्रवृत्तिमार्गवाले को तो जनक के समान केवल ज्ञान की ही वृद्धि होती है, परन्तु ज्ञान कम नहीं होता. श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में जैसा कहा है वैसा तो होता है. वहाँ यह श्लोक है :–

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥'

इस श्लोक का अर्थ यह है कि 'जिस रात्रि में भूत यानी प्राणीमात्र सोये रहते हैं उसमें संयमी पुरुष जागते रहते हैं तथा जिस रात्रि में भूत अर्थात् सभी प्राणी जागते रहते हैं, उस निशा में संयमी पुरुष सोये रहते हैं.' इसलिए, जिस पुरुष की अन्तरात्मा के सन्मुख दृष्टि होती है उसका देह, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के प्रति शून्यभाव रहता है. उसे देखकर अज्ञानी पुरुष यह समझ बैठता है कि 'समाधिवाले का ज्ञान कम हो जाता है.' बाद में रजोगुण, तमोगुण तथा मलिन सत्त्वगुण के भाव से यदि इस प्रश्न का उत्तर दिया जाय, तो उसे भी यही दीख पड़ता है कि 'समाधिवाले का ज्ञान कम हो जाता है.' परन्तु, वह यह नहीं जानता कि 'मैं देहाभिमानी हूँ, इसीलिए मूर्खतावश ऐसी बात कह रहा हूँ.' वास्तव में समाधिवाला तो देह, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से भिन्न स्थिति में गतिशील रहता है, तो भी उसे ज्ञान की वृद्धि होती है. यदि वह पुनः इन्द्रियों तथा अन्तःकरण में आकर गतिशील होता है, तो भी उसका समाधिकालीन ज्ञान नष्ट नहीं होता. यदि वह तप, निवृत्तिधर्म तथा वैराग्य को ग्रहण करके प्रवृत्तिमार्ग का त्याग कर देता है, तो उसके अपने ज्ञान में हुई वृद्धि के समान ही उसकी इन्द्रियों तथा अन्तःकरण की शक्तियों में भी वृद्धि हो जाती है और वह नारदसनकादिक एवं शुकजी जैसी सिद्धगति को भी प्राप्त होता है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥२०॥ ॥१५३॥

वचनामृत २१ : प्रत्यक्ष सन्त ही कल्याणकर्ता

संवत् १८७८ में फाल्गुन शुक्ल *पूर्णिमा को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सफेद चादर ओढ़ी थी और श्वेत पाग मस्तक पर बाँधी थी. श्रीजीमहाराज के

* शुक्रवार, ७ मार्च, १८२२.

मुखारविन्द के समक्ष प्रेमानन्द स्वामी आदि समस्त परमहंस विष्णुपद[१] बोल रहे थे.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब कीर्तन बन्द कर दीजिये. एक वार्ता करते हैं, उसे सब लोग ध्यान देकर सुनें कि व्यासजी ने जनकल्याण के लिये जितने ग्रन्थों का निर्माण किया है, उन्हें हमने ध्यान देकर सुना है. उन सभी शास्त्रों में एकमात्र यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है तथा जीव के कल्याण के लिये भी इतनी ही बात है कि इस समस्त जगत के कर्ता-हर्ता एकमात्र भगवान हैं. इन समस्त शास्त्रों में भगवान के जो चरित्र हैं या भगवान के सन्त के चरित्र हैं तथा वर्णाश्रमधर्म की जो वार्ता है और धर्म, अर्थ एवं कामरूपी जो उसका फल है, उनसे कोई कल्याण नहीं होता. केवल वर्णाश्रम धर्म द्वारा संसार में कीर्ति मिलती है तथा दैहिक रूप से जीव सुखी रहता है. मात्र इतना ही फल है. कल्याण के लिये तो जीव को यह समझना आवश्यक है कि भगवान ही सबके कर्ता और हर्ता हैं.

जो जीव परोक्ष रूप से भगवान के रामकृष्णादिक अवतारों तथा इसी तरह अप्रत्यक्ष रूप से नारदसनकादि, शुकजी, जड़भरत, हनुमान और उद्धव आदि साधुओं के माहात्म्य को समझ जाता है तथा जो इसी प्रकार प्रत्यक्ष भगवान और उन भगवान के भक्त साधु के माहात्म्य को जान लेता है, उसको कल्याण के मार्ग में कुछ भी समझना बाकी नहीं रह जाता. भले ही यह वार्ता एक बार कहने से समझें अथवा लाख बार कहने से समझें, आज समझें या एक लाख वर्षों के बाद समझें, परन्तु इस बात को समझने से ही छुटकारा होता है. नारदसनकादि, शुकजी, ब्रह्मा तथा शिव से पूछिये, वे भी बुद्धिमान हैं, इसलिए वे अनेक बातों के जरिये युक्तियाँ प्रस्तुत करके प्रत्यक्ष भगवान तथा प्रत्यक्ष सन्त को ही कल्याणकर्ता बताते हैं. जिस प्रकार परोक्ष भगवान तथा परोक्ष सन्त का माहात्म्य होता है वैसा ही माहात्म्य वे प्रत्यक्ष भगवान और प्रत्यक्ष सन्त का बताते हैं. जिसको उतना दृढ़ निश्चय हो चुका है, उसने सभी रहस्य समझ लिये हैं और वह कल्याण के मार्ग से कभी भी नहीं गिरता. यद्यपि ब्रह्मा, शिव, बृहस्पति तथा पराशरादि कामादि द्वारा धर्मच्युत हो गये थे, तथापि उन्हें प्रत्यक्ष भगवान एवं प्रत्यक्ष सन्त का

---

१. देखिये परिशिष्ट ३.

परोक्ष सदृश जो माहात्म्ययुक्त निश्चय था उसके परिणामस्वरूप वे कल्याणमार्ग से वंचित नहीं हुए, इसीलिए समस्त शास्त्रों की रहस्यद्योतक यह वार्ता है.'

उसी दिन सायंकाल, स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में घोड़ी पर सवार होकर श्रीलक्ष्मीवाड़ी में पधारे थे. वहाँ वे आम्रवृक्ष के नीचे चबूतरे पर बिछाये गये पलंग पर विराजमान हुए. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सफेद चादर ओढ़ी थी, सिर पर श्वेत पाग बाँधी थी. उस पाग में पीले पुष्पों के तुर्रे लगे हुए थे तथा कानों पर मोगरा के पुष्पगुच्छ सुशोभित हो रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले, 'सुनिये, आपसे प्रश्न पूछते हैं कि 'जीव को स्वप्नावस्था में आनेवाले स्वप्नों में जो-जो सृष्टि दिखायी पड़ती है तथा जीव उस स्वप्नसृष्टि के जो भोग भोगता है, तो क्या जीव स्वयं ही उस सृष्टि का स्वरूप होता है या वह जीव आत्मसंकल्प द्वारा स्वप्न में उस सृष्टि का सृजन करता है ? जिस प्रकार जीव की यह स्थिति है वैसे ही क्या समस्त ब्रह्मादि ईश्वरों की भी स्वप्न-सृष्टि है, तो क्या वे स्वयं उस सृष्टि के रूप होते हैं अथवा स्वयं संकल्प द्वारा सृष्टि का सृजन करते हैं या इस जीव और ईश्वर से परे जो परमेश्वर हैं वे ही क्या स्वप्न-सृष्टि का सृजन करते हैं ?' इन प्रश्नों का उत्तर दीजिये.' इसके पश्चात् सभी साधुओं में से प्रत्येक साधु ने अपनी बुद्धि के अनुसार उत्तर दिया, परन्तु कोई भी यथार्थ उत्तर न दे सका.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जीव तथा ईश्वर में से कोई भी स्वप्न-सृष्टि का सृजन नहीं करता और स्वयं भी स्वप्न-सृष्टिरूप नहीं होता. वास्तविक बात तो यह है कि जीव और ईश्वर से परे जो परमेश्वर हैं वे ही कर्मफलदाता हैं तथा जीव एवं ईश्वर के कर्मानुसार उस स्वप्न-सृष्टि का [1]सृजन करते हैं. उस स्वप्न-सृष्टि में जो अस्थिरता तथा भ्रान्त भाव है,

---

१. श्रुति में कहा गया है कि 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते.' अर्थात्, स्वप्न में रथ नहीं, रथ में जोड़ने के लिये अश्व नहीं, जाने के मार्ग भी नहीं हैं, फिर भी सर्वशक्तिमान परमात्मा रथों, रथों के अश्वों तथा मार्गों का सृजन करते हैं, इत्यादि.

वह तो देश के योग से बना रहता है, क्योंकि कंठप्रदेश ऐसा स्थल है, जहाँ अनन्त प्रकार की ऐसी सृष्टि दीख पड़ती है. जिस प्रकार दर्पण लगे हुए मन्दिर में एक दिशा में रखे हुए दीपक से अनेक दीपक दिखायी पड़ते हैं, वैसे ही कंठप्रदेश के योग से एक संकल्प भी अनन्त प्रकार से दीख पड़ता [१]है.

ज्ञानीजन की समझ तो यह है कि जहाँ देश, काल, कर्म तथा परमेश्वर की प्रधानता अलग-अलग भाव से रहती है वहाँ वह वैसा ही समझता है. किन्तु, मूर्ख की समझ में तो एक ही बात की प्रधानता रहती है, क्योंकि जो भी एक बात उसकी समझ में आ गयी हो, उसीको ही वह मुख्य समझता है. यदि उसे काल की बात समझ में आ गयी हो तो वह काल की बात को ही मुख्य समझ लेता है. यदि वह कर्म की बात को समझ गया है, तो वह कर्म को ही सबकुछ मान बैठता है. यदि माया की बात उसकी समझ में आ गयी है, तो वह माया को ही मुख्य जान लेता है, परन्तु जहाँ जिसकी प्रधानता रहती है, वह सब बात मूर्ख को पृथक्-पृथक् रूप से समझ में नहीं आती. किन्तु, ज्ञानी पुरुष तो जिस स्थान पर जिसकी प्रधानता रहती है वहाँ उसीकी प्रधानता मानता है. परमेश्वर तो देश, काल, कर्म तथा माया के प्रेरक हैं और अपनी इच्छा से ही देशकालादि की प्रधानता रहने देते हैं, परन्तु इन सबके आधार परमेश्वर हैं. जैसे शिशुमारचक्र ध्रुवमंडल पर आधारित रहता है तथा जैसे समस्त प्रजा का आधार राजा रहता है, वहाँ दीवान और वजीर भी होता है, उसकी सत्ता राजा की इच्छा से चलती है, यदि राजा की इच्छा न हो तो उसकी सत्ता लेशमात्र भी नहीं चल सकती, वैसे ही परमेश्वर भी देश, काल, कर्म और माया की सत्ता को जितना चलने देते हैं, उतनी हद तक ही उनकी गतिविधि रहती है, किन्तु परमेश्वर की इच्छा के प्रतिकूल किसी का भी आदेश लेशमात्र भी नहीं चल पाता. इसलिए, सबके कर्ता परमेश्वर ही हैं.' इतनी वार्ता करने के बाद श्रीजीमहाराज पुनः राजभवन में पधारे.

॥ इति वचनामृतम् ॥२१॥ ॥१५४॥

---

१. देश के प्रसंग में दूसरों की उस-उस क्रिया में प्रधानता भी कही गयी है.

वचनामृत २२ : नरनारायण की प्रतिष्ठा

संवत् १८७८ में फाल्गुन कृष्ण *दशमी को श्रीजीमहाराज अर्धरात्रि के समय जागे और गढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे दक्षिण की ओर मुखारविन्द करके पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उस समय उन्होंने समस्त साधुओं तथा हरिभक्तों को बुलाया. इस अवसर पर उनके मुखारविन्द के समक्ष उन सबकी सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज साधुओं से बोले कि 'एक वार्ता कहते हैं, उसे सुनिये. जब दो सेनाएँ परस्पर लड़ने के लिये तैयार खड़ी हों और दोनों के निशान आमने-सामने लगे हों तब दोनों पक्षों में से प्रत्येक पक्ष यह विचार करता है कि 'अपना निशान दूसरे पक्ष के निशान के स्थान में लगा दें और उसका निशान लें आवें. परन्तु, कोई भी पक्ष ऐसा विचार नहीं करता कि जब उसका निशान लेने के लिये जायेंगे तब तक कितने ही सिर धड़ से अलग हो जायेंगे और खून की नदी बहने लगेगी.' इस बात का भय उसे नहीं रहता, क्योंकि शूरवीर को मरने का डर तो रहता ही नहीं. जो कायर होता है वह तो भागने के हज़ारों विचार करता रहता है. वह यह विचार भी करता है कि यदि 'अपनी फौज की जीत हुई, तो किसी के धन और हथियारों को ही लूट लेंगे.' परन्तु दोनों पक्षों के राजाओं के शूरवीरों को न तो मरने का ही डर रहता है और न माल लूटने का ही लोभ होता है. किन्तु, दोनों पक्षों में से प्रत्येक पक्ष के सैनिकों का तो संकल्प ही यही रहता है कि दूसरी ओर का निशान हथिया लेना चाहिये और अपनी जीत होनी चाहिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह तो दृष्टान्त है. इसका सिद्धान्त तो यह है कि निशान के स्थान पर तो भगवान का धाम है और राजा के शूरवीरों की जगह भगवान के दृढ़ भक्त हैं. उनके हृदय में तो इस संसार में मान या अपमान, दैहिक सुख या दुःख, शरीर के रोगग्रस्त रहने या उसके नीरोग रहने तथा देह का अस्तित्व रहने या उसके निर्जीव हो जाने का किसी भी प्रकार का संकल्प नहीं रहता कि 'अपने को इतना दुःख होगा या अपने को इतना सुख

---

* मंगलवार, १९ मार्च, १८२२.

होगा.' इन दोनों तरह के विचारों में से किसी भी विचार का संकल्प उनके मन में नहीं होता. ऐसे भक्तजनों के हृदय में तो यही दृढ़ निश्चय होता है कि 'इस देह द्वारा ही भगवान के धाम में निवास करना है, परन्तु बीच में कहीं भी लोभग्रस्त नहीं होना है.' कायर पुरुषों की जगह जो देहाभिमानी भगवद्भक्त हैं, उन्हें तो भगवान का भजन करने में हजारों तरह के संकल्प-विकल्प होते रहते हैं कि 'यदि कठोर व्रत-नियमों का पालन करना होगा, तो सत्संग में नहीं रह सकेंगे तथा नियम-पालन में यदि ढिलाई कर सके तो रह सकेंगे.' ऐसे पुरुष यह विचार भी करने लगते हैं कि अगर 'ऐसा उपाय करेंगे, तो संसार में भी सुखी होंगे और यदि यह बात निभ जायगी, तो धीरे-धीरे सत्संग में निभते चलेंगे.' ऐसे भक्तों को तो कायर पुरुषों का प्रतीक ही समझना चाहिये. शूरवीरों के प्रतीक भगवान के जो दृढ़ भक्त हैं, उन्हें तो किसी प्रकार का [१]पिंड ब्रह्मांड सम्बन्धी सुख का कोई संकल्प होता ही नहीं है.'

बाद में श्रीजीमहाराज ने अपने [२]वृत्तान्त की वार्ता कहनी शुरू की कि 'जब हम अहमदाबाद में श्रीनारायणदेव की प्रतिष्ठा करने के लिये गये थे तब हजारों मनुष्यों का समुदाय इकट्ठा हुआ था. जब श्रीनारायणदेव की प्रतिष्ठा हो चुकी और अहमदाबाद के ब्राह्मण भोजन कर चुके तब हम तैयारी करके वहाँ से निकल पड़े और रात में जैतलपुर जाकर रहे. वहाँ जाकर हम ऐसा विचार करने लगे कि हमने 'जितने मनुष्य देखे हैं तथा जितनी प्रवृत्ति देखी है उसके संस्मरणों को टाल देना चाहिये.' उन्हें भुलाने की चेष्टा करते समय हृदय में अत्यन्त दुःख हुआ. इस कारण शारीरिक रूप से भी अस्वस्थ हो गये, बाद में हम वहाँ से रवाना होकर रात में धोलका जाकर रहे. उसी विचारधारा में मग्न रहते हुए हम धोलका से भी चल पड़े और गाँव कोठ्य के निकट गणेश धोलका के पास खिरनी के जंगल में जाकर रात में रहे. उस समय हम ऐसा विचार करने लगे कि देह की स्मृति ही नहीं रही. बाद में विचार करते-करते हमने समस्त प्रवृत्तियों को विस्मृत कर दिया. जैसे, जब हम कांकरिया तालाब के तट पर नहीं उतरे थे और जनसमुदाय भी इकट्ठा नहीं हुआ था, तब हमें किसी भी प्रकार का संकल्प नहीं हुआ था, वैसे ही हमने समस्त संकल्पों को टाल दिया.

---

१. मनुष्य शरीर.

२. उदाहरण के लिए.

जब लौकिक संकल्प मिट गये तब अन्तर्दृष्टि रहने लगी और इसके पश्चात् अलौकिक आश्चर्य, देवताओं के उपयुक्त भोग, अनेक प्रकार के विमान, अनेक प्रकार की अप्सराएँ, अनेक तरह के वस्त्र तथा मृत्युलोक जैसे अनेक प्रकार के अलंकार वहाँ दिखायी पड़ने लगे. फिर भी, हमारे अन्तःकरण में तो भगवान के सिवा अन्य कोई भी वस्तु रुचिकर नहीं लगी. जिस प्रकार यहाँ के पंच विषय हमें तुच्छ प्रतीत हुए और उनके प्रति हमारा मन आकृष्ट नहीं हुआ वैसे ही देवलोक तथा ब्रह्मलोक पर्यन्त कहीं भी हमारा मन नहीं लुभाया. यह देखकर सभी देवता हमारी प्रशंसा करने लगे कि 'आप भगवान के सच्चे एकान्तिक भक्त हैं, क्योंकि आपका मन भगवान के सिवा किसी भी ओर आकृष्ट नहीं होता.' उनके वचनों को सुनकर हमारे हृदय में बड़ी हिम्मत पैदा हो गयी. बाद में हमने अपने मन को संबोधित करके कहा कि तेरा जैसा रूप है, वह मैं जानता हूँ. यदि तूने भगवान के सिवा किसी अन्य पदार्थ का संकल्प किया तो तेरी धज्जियाँ उड़ा दूँगा. वैसे ही बुद्धि से भी कहा कि अगर तूने भगवान के सिवा कोई अन्य निश्चय किया तो तेरी शामत आ जायगी. उसी प्रकार चित्त से भी कहा कि यदि तूने भगवान के सिवा कोई अन्य चिन्तन किया तो तुझे भी चूर-चूर कर डालूँगा. वैसे ही अहंकार से भी कहा कि अगर तूने भगवान के दासत्वभाव के सिवा किसी प्रकार अन्य अभिमान किया तो तेरा नाश कर डालूँगा. जिस प्रकार हमें इस लोक के पदार्थों की अत्यन्त विस्मृति हो गयी थी वैसे ही देवलोक एवं ब्रह्मलोक के पदार्थों का भी अत्यन्त विस्मरण हो गया. जब वे सब संकल्प मिट गये तब संकल्पों की बीमारी भी मिट गयी. भगवान के भक्तों को इस प्रकार आचरणशील रहना चाहिये.' श्रीजीमहाराज ने अपना ऐसा वृत्तान्त भक्तजनों के कल्याण के लिये कहा. स्वयं तो वे साक्षात् श्रीकृष्ण भगवान पुरुषोत्तमनारायण हैं.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'वासुदेव-माहात्म्य में एकान्तिक भक्त का धर्म बताया गया है कि 'एकान्तिक भक्त को तो अपना स्वरूप देह को नहीं मानना चाहिये, किन्तु स्वयं को चैतन्यरूप समझना चाहिये. उसे तो स्वधर्म, ज्ञान तथा वैराग्यसहित भगवान की भक्ति करनी चाहिये और एकमात्र भगवान के सिवा अन्य किसी भी पदार्थ की वासना नहीं रखनी चाहिये.' जब वह उन भगवान का भजन करके इस प्रकार का साधु हुआ तब साधु

से कोई अन्य बड़ी पदवी नहीं होती. जैसे कोई राजा हो तथा उसकी रानी हो, तब जितनी परिधि में राजा का राज्य होगा, उतनी ही परिधि में रानी का राज्य भी कहलायगा और राजा के हुक्म के समान रानी का भी हुक्म चलेगा, वैसे ही भगवान का जैसा प्रताप है वैसा ही साधु का भी प्रताप रहेगा. इसीलिए, साधु को संसार के तुच्छ सुखों की इच्छा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वह साधु जब भगवान के धाम को पा लेता है तब अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के अधिपति ब्रह्मादिक ईश्वर भगवान के लिये जिस प्रकार अनेक प्रकार की भेंट-सामग्रियाँ लाते हैं, उसी तरह वैसी ही वस्तुएँ साधु के लिये भी लाया करते हैं. इस प्रकार भगवान के प्रताप से वह साधु अलौकिक ऐश्वर्य एवं सामर्थ्य को प्राप्त कर लेता है. हृदय में ऐसा महान विचार रखकर एकमात्र भगवान के सिवा मन में किसी भी अन्य वस्तु की इच्छा नहीं करनी चाहिये. जब हाथ में चिन्तामणि आ चुकी हो तब उसको यत्नपूर्वक अपने पास रखना चाहिये, क्योंकि हाथ में चिन्तामणि रहने पर जिस पदार्थ की इच्छा की जायगी, वह उस पदार्थ को सुलभ कर देगी. वैसे ही भगवान के भक्त को भगवान की मूर्तिरूपी चिन्तामणि को संभालकर रखना चाहिये, लेकिन उसे छोड़ना नहीं चाहिये. तब उस पुरुष को सब बातों की सिद्धि हो जायगी.' ॥ इति वचनामृतम् ॥२२॥ ॥१५५॥

वचनामृत २३ : मन जीव से भिन्न नहीं

संवत् १८७८ में जयेष्ठ शुक्ल *एकादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे विराजमान थे. उन्होंने मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी, सफेद दुपट्टा धारण किया था और श्वेत चादर ओढ़ी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज इस प्रकार बोले कि 'आज तो हमने मन के स्वरूप पर विचार करके देखा तो वह मन जीव से भिन्न नहीं दीख पड़ा. मन तो जीव की ही कोई एक [१]किरण है, परन्तु वह जीव से भिन्न नहीं है. जिस प्रकार ग्रीष्मकाल में लू रहती है और शीतकाल में हिम रहता है उसी तरह मन का

---

* शनिवार, ३१ मई, १८२२.

१. ज्ञातृताविशिष्टवृत्ति.

स्वरूप दिखायी पड़ा. जैसे मनुष्य के शरीर पर जब लू या हिम का असर होता है तब वह मनुष्य मर जाता है वैसे ही वह मन इन्द्रियों द्वारा विषयों के समक्ष जाता है, तब वे विषय यदि दुःखदायी हुए तो मन तप्त हो जाता है और वह ग्रीष्मकाल की लू के समान हो जाता है तथा वही विषय यदि सुखदायक हुए, तो उनमें मन शीतकाल के हिमसदृश हो जाता है. जब मन दुःखद विषय को भोगकर और लू की भाँति तप्त होकर जीव के हृदय में बैठता है तब वह जीव को अत्यन्त दुःखी करके कल्याण के मार्ग से गिरा देता है. तब यह समझना चाहिये कि यह पुरुष लू लगने से मर गया. जब वह मन सुखदायक विषयजन्य सुख भोगता है तब वह हिमसदृश ठंडा होकर जीव के हृदय में बैठ जाता है और जीव को सुखी बनाकर कल्याण-मार्ग से गिरा देता है. तब, यह समझ लेना चाहिये कि हिमालयी वायु के प्रहार से उसकी मृत्यु हो गयी.

जिनका मन बुरे विषयों को देखकर तप्त नहीं होता और अच्छे विषय देखकर हिम-जैसा नहीं होता, इस प्रकार जिनका मन अविकारी रहता हो, उन्हें ही परम भागवत सन्त समझना चाहिये. ऐसा मन होना कोई छोटी बात नहीं है. मन का जैसा स्वभाव होता है, वह बताते हैं. जैसे कोई बालक सर्प, अग्नि और नंगी तलवार पकड़ना चाहता है, किन्तु यदि उसे उन्हें न पकड़ने दिया जाय, तो भी वह दुखी होगा और अगर उसे उन्हें पकड़ने दिया जाय तो भी दुःखानुभूति होगी, वैसे ही यदि मन को विषयों को भोगने का मौका न दिया जाय, तो भी वह दुखी होगा और यदि उसे उन्हें भोगने दिया जाय, तो भी वह विमुख होकर अतिशय दुःखित हो जायगा. इसीलिए, साधु तो उसीको मानना चाहिये, जिसका मन भगवान में आसक्त हो चुका है, किन्तु वह विषयों के योग से ठंडा और गरम नहीं होता.' ॥ इति वचनामृतम् ॥२३॥ ॥१५६॥

वचनामृत २४ : 'अन्य देवों के वैभव नाशवंत'

संवत् १८७९ में श्रावण शुक्ल *अष्टमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन से घोड़ी पर चढ़कर श्रीलक्ष्मीवाडी में पधारे थे. वहाँ चबूतरे पर वे उत्तर की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कंठ में मोगरा के

* शनिवार, २६ जुलाई, १८२२.

पुष्पों का हार पहना था और पाग में मोगरा पुष्पों का तुर्रा धारण किया था. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! भगवान में जो भक्त अचल निष्ठा रखते हैं उनके लिये कोई विक्षेप बाधक बनता है या नहीं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'एक तो योगनिष्ठा है तथा दूसरी सांख्यनिष्ठा है. उनमें योगनिष्ठावाला भगवान का भक्त भगवान के स्वरूप में अपनी अखंड वृत्ति रखता है तथा सांख्यनिष्ठावाला भगवान का भक्त तो मनुष्यों के सुखों और सिद्धों, चारणों, विद्याधरों, गन्धर्वों तथा देवताओं के सुखों की जानकारी रखता है. चौदह लोकों के भीतर जो सुख सुलभ हैं, उन सबको भी वह परिमित जानता है कि वहाँ 'ये सुख इतने ही हैं.' उन सुखों के उपभोग में जो दुःख अन्तर्निहित रहते हैं, उनके परिमाण का ज्ञान भी उसे रहता है. बाद में उसे दुःखमूलक इन सुखों से वैराग्य हो जाता है. तब वह एकमात्र परमेश्वर में ही दृढ़ प्रीति रखने लगता है. इस प्रकार सांख्यनिष्ठा-वाले को तो ज्ञान का बल रहता है.

योगनिष्ठावाले को तो भगवान के रूप में अखंड वृत्ति रहने का ही बल रहता है. परन्तु, कभी किसी विषम देशकालादि के योग द्वारा कुछ विक्षेप हो जाय, तो भगवान के स्वरूप में रहनेवाली वृत्ति कहीं अन्यत्र भी लग सकती है, क्योंकि योगनिष्ठावाले के पास ज्ञान का बल थोड़ा रहने से कोई न कोई विघ्न अवश्य उपस्थित हो सकता है. यदि एक ही भक्त में सांख्यनिष्ठा तथा योगनिष्ठा बनी रहे तो कोई भी बाधा नहीं रह सकती.

भगवान का जो ऐसा भक्त हो वह तो भगवान की मूर्ति के सिवा अन्य किसी भी पदार्थ में लोलुप दृष्टि नहीं रख सकता और यही समझता रहता है कि 'भगवान के अक्षरधाम तथा उस धाम में स्थित भगवान की मूर्ति और उस धाम में रहनेवाले भगवान के भक्तों के सिवा जो अन्य लोक हैं और उन लोकों में निवास करनेवाले देवों और उन देवों के जो वैभव हैं वे सब नाशवंत हैं.' ऐसा समझकर वह एकमात्र भगवान में ही दृढ़ प्रीति रखता है. इसलिए, ऐसे भक्त के मार्ग में किसी भी प्रकार का विक्षेप आता ही नहीं है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥२४॥ ॥१५७॥

वचनामृत २५ : वासनिक त्यागी भक्त

संवत् १८७९ में श्रावण कृष्ण *षष्ठी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में दक्षिणवर्ती द्वार के कमरे के बरामदे में पलंगपर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने समस्त परमहंसों से कहा कि 'सुनिये, हम एक प्रश्न पूछते हैं कि 'एक तो भगवान का त्यागी भक्त है, जो देह से तो समस्त व्रतनियमों को सुदृढ़ रखता है, फिर भी अन्तःकरण में विषय-भोगों की वासना अतिशय तीव्र बनी रहती है, तो भी दैहिक रूप से भ्रष्ट नहीं होता, ऐसा त्यागी है वह, जबकि अन्य भक्त तो गृहस्थाश्रमी है, जिसके लिये शारीरिक रूप से धन एवं स्त्री-सुख सुलभ है, फिर भी वह हृदय में प्रत्येक प्रकार से निर्वासनिक बना रहता है. अब बताइये कि ये दोनों भक्त जब देहत्याग करेंगे तब इन दोनों को कैसी गति प्राप्त होगी ? वे दोनों समान गति को प्राप्त होंगे या उसमें अधिकता तथा न्यूनता रहेगी ?' इन दोनों के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से अलग-अलग उत्तर दीजिये.'

गोपालानन्द स्वामी बोले [1]कि 'वह त्यागी भक्त जब देहत्याग करेगा तब भगवान उसको विषयोपभोग की हृदय में तीव्र वासना रहने के कारण मृत्युलोक अथवा देवलोक में बड़ा गृहस्थ बनायेंगे और उसे प्रचुर विषयभोगों की प्राप्ति होगी. भगवद्‌गीता में योगभ्रष्ट पुरुष के लिये जिन योग्य भोगों का उल्लेख किया गया है उन भोगों को वह देवलोक में [2]भोगेगा. परन्तु, गृहस्थ हरिभक्त तो निर्वासनिक होने के कारण देहत्याग करने पर भगवान के ब्रह्मपुर धाम को प्राप्त कर लेगा. वहाँ वह भगवान के चरणारविन्दों में निवास करता रहेगा. किन्तु, पूर्वोक्त त्यागी भक्त तो जब विषयोपभोग से तृप्त होने के बाद विषयभोगों से विरक्त होकर मन में पश्चात्ताप करते हुए भगवान का भजन करने लगेगा, तब वह निर्वासनिक

---

* शुक्रवार, ८ अगस्त, १८२२.

१. दोनों की गति भिन्न-भिन्न होगी.

२. परन्तु, ब्रह्मधाम को नहीं पा सकेगा.

होकर भगवान के धाम में जा सकेगा.' श्रीजीमहाराज बोले कि 'आपने ठीक बताया. इस प्रश्न का यही उत्तर है.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'यदि 'ऐसी दृढ़ वासना हो और उसे टालने की जिसकी इच्छा भी हो, तो वह कौन-सा उपाय करने से टल सकती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'उकाखाचर को सन्त की सेवा करने का जैसा व्यसन पड़ चुका है वैसा ही भगवान तथा भगवान के सन्त की सेवा करने का जिसका व्यसन बना हुआ है और उसके बिना एक क्षण भी न रहा जाय, तो उसके अन्तःकरण की मलिन वासना पूर्णतः नष्ट हो जाती है.'

स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! ऐसा कौन-सा साधन है कि जिससे भगवान अतिशय प्रसन्न हो जायँ ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'घर में एक मन अन्न के रहने पर सन्त के प्रति जैसी प्रीति तथा दीनता जिसको रही हो तथा उसके बाद भी जिसको एक गाँव या पाँच गाँव, पचास गाँव या सौ गाँव अथवा समस्त पृथ्वी का भी राज्य मिल जाय, तो भी जो सन्त के समक्ष पूर्ववत् प्रीतिपूर्वक कंगाल व दीन-अधीन बना रहे तथा उसी प्रकार इन्द्रलोक एवं ब्रह्मलोक का राज्य प्राप्त होने पर भी सन्त के प्रति अपनी दीनता एवं अधीनता की भावना बनाये रखे तथा त्यागी भक्त भी यदि पहले की गरीबी की हालत की तरह सभी सन्तों की सेवा-चाकरी स्वयं को भगवान सदृश ऐश्वर्य प्राप्त होने पर भी करता रहे, किन्तु साधुओं के समान पैतृक दावा पेश न करे और समानता का भाव भी प्रकट न करे, उसपर ही, अर्थात् ऐसे लक्षणसम्पन्न भक्त पर ही भगवान अतिप्रसन्न हो जाते हैं.'

॥ इति वचनामृतम् ॥२५॥ ॥१५८॥

वचनामृत २६ : भक्ति में अन्तराय

संवत् १८७९ में भाद्रपद शुक्ल *एकादशी को रात्रि के समय श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो

* गुरुवार, २९ अगस्त, १८२२.

रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान का जो भक्त हो, उसे तो वह कार्य नहीं करना चाहिये, जो भगवान तथा भगवान के भक्तों को अप्रिय लगता हो. यदि सगे-सम्बन्धी स्नेहीजन भगवान का भजन करने में अन्तरायस्वरूप लगते हों, तो उनका भी त्याग कर देना चाहिये. यदि किसी प्रकार का अपना ऐसा कोई स्वभाव हो, जो भगवान को अच्छा न लगता हो, तो उसकी भी शत्रु की तरह त्याग कर डालना चाहिये, परन्तु भगवान से विमुख रहनेवाले पुरुष का पक्ष नहीं लेना चाहिये, जैसा कि भरतजी ने अपनी [१]माता का पक्ष नहीं लिया.

भगवान के भक्त को तो सबसे बढ़कर अपने में ही दोष दिखायी पड़ा करते हैं. जो पुरुष दूसरे में तो दोष देखता है और अपने में गुण देखा करता है, वह सत्संगी होने पर भी आधा विमुख ही रहता है.

यदि भगवान के भक्त को आत्मज्ञान, वैराग्य तथा धर्म भगवान की भक्ति करने के मार्ग में बाधक बनते हों, तो उन्हें भी कम करके भगवान की भक्ति को ही प्रधानता देनी चाहिये. यदि वे सब भक्ति में सहायक होते हों, तब तो ठीक है. ऐसा ज्ञान रखनेवाला पुरुष ही भगवान का पूरा भक्त कहलाता है. जो पुरुष दूसरे में दोष और अपने में गुण देखता है, वह चाहे कितना ही बड़ा हो, तो भी उसके कल्याण के मार्ग में विघ्न उपस्थित हो जाता है. जैसे राधिकाजी बहुत बड़ी थीं और भगवान में उनका अत्यधिक प्रेम भी था, परन्तु जब उन्होंने अपने में गुण तथा श्रीकृष्ण भगवान में दोष मान लिया, तब उनके प्रेम में तमोगुण का अंश आ गया. बाद में उन्होंने श्रीकृष्ण भगवान तथा श्रीदामा से झगड़ा किया. इस कारण श्रीदामा ने उन्हें शाप दिया, जिसके फलस्वरूप उन्हें गोलोक में से गिरकर गूजर के घरमें अवतार लेना पड़ा. उन पर ऐसा बड़ा भारी कलंक भी लगा कि उन्होंने भगवान को छोड़कर परपुरुष को अपना पति बनाया. श्रीदामा ने भी अपने में गुण माना तथा राधिका में दोष देखा. इस कारण राधिका ने उसे शाप दिया, जिससे उसे दैत्य होना पड़ा.

उस धाम में से गिरने की यह रीति नहीं है. जो वहाँ से गिरे थे, उनके सम्बन्ध में तो भगवान की इच्छा ही वैसी थी. फिर भी, भगवान ने

---

१. कैकेयी.

ऐसा दिखलाया कि 'राधिकाजी जैसी बड़ी शक्ति भी यदि अपने में गुण मानकर भगवान के भक्त में दोष देखती हैं और इस कारण अगर वे गिर जाती हैं, तो दूसरे की क्या गणना हो सकती है ?' इसलिए, भगवान के भक्त को तो सभी सत्संगियों में गुण ही देखना चाहिये और अपने में तो दोष ही देखना चाहिये. जो भक्त ऐसा समझता है, उसकी थोड़ी बुद्धि होने पर भी उसके सत्संग में दिन-प्रतिदिन वृद्धि होती जाती है. इस भावना को छोड़कर यदि किसी की बुद्धि अधिक हो तो भी वह सत्संग में दिन-प्रतिदिन पीछे ही हटता जाता है और अन्त में अवश्य ही विमुख हो जाता है. यह रीति तो सभी स्थानों पर अपनायी जाती है. यदि किसी सेवक या शिष्य से राजा अथवा गुरु डाँटते-फटकारते हुए बात करने लग जायँ और उसे यदि वह सद्भावपूर्वक सहन कर ले, तब तो उस पर राजा या गुरु का अतिशय स्नेह हो जाता है. जिससे सीख की बात कही जाय, उसे यदि वह उलटा समझे तो उस पर स्नेह नहीं होता. इसी प्रकार, भगवान की भी यह रीति है कि जिससे सीख की बात कही जाय, उसे यदि वह सद्भाव से ग्रहण कर ले, तब तो उसपर स्नेह हो जाता है और उसे उलटा समझने पर उससे स्नेह नहीं होता.' ॥ इति वचनामृतम् ॥२६॥ ॥१५९॥

वचनामृत २७ : 'क्रोध क्यों आता है ?'

संवत् १८७९ में कार्तिक शुक्ल *एकादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में दक्षिणी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कंठ में गुलदावदी के सफेद और पीले पुष्पों के हार पहने थे तथा पाग में दोनों ओर तुर्रे लटक रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने मुक्तानन्द स्वामी से प्रश्न पूछा कि 'आपको किस कारण क्रोध होता है और कितना निमित्त होने पर क्रोध होता है ? यदि कोई एक रुपये से लेकर एक लाख रुपये तक का हमारा कोई नुकसान कर डाले, तो भी हमें अपने लिये तो क्रोध नहीं आता. धर्म का लोप होने या

---

* मंगलवार, २५ नवम्बर, १८२२.

किसी बलवान पुरुष द्वारा किसी गरीब व्यक्ति को पीड़ित किये जाने अथवा अन्याय का पक्ष लिये जाने पर हमें किसी के प्रति मामूली-सा गुस्सा आता है, किन्तु अपने लिये तो लेशमात्र भी क्रोध नहीं आता. यदि किसी पर क्रोध आ गया, तो भी वह क्षणमात्र भी नहीं रहता तथा उस कारण कड़ी ग्रन्थि भी नहीं पड़ती. अब आप बताइये कि आपको क्रोध क्यों आता है और किस प्रकार टल जाता है ?'

मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'किसी पदार्थ के योग से और किसी की धृष्टता दीख पड़ने पर मुझे थोड़ा क्रोध आता है, परन्तु तत्काल ही उसका शमन हो जाता है.' श्रीजीमहाराज बोले कि 'आपको इस प्रकार विचार का जो बल रहता है, वह किस योग के कारण बना रहता है ?'

मुक्तानन्द स्वामी ने बताया कि 'सबसे पहले तो भगवान के माहात्म्य पर विचार करने पर यह बात समझ में आ जाती है कि 'कोई ऐसा स्वभाव नहीं रखना चाहिये, जिससे भगवान अप्रसन्न हो जायँ.' इसके अलावा शुकजी तथा जड़भरत जैसे सन्तों का मार्ग देखकर ऐसा विचार रहता है कि 'साधु में इस प्रकार का अनुचित स्वभाव नहीं रहना चाहिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'कामक्रोधादि के जोर को हटानेवाला विचार तो गुणों से परे है और वह आपके जीव में रहा है. कामक्रोधादिक गुणों को हटाने का जो जोर है वह भी पूर्वजन्म का संस्कार है. आपके सम्बन्ध में इतना तो हमें ज्ञात होता है कि आपके लिये जिन-जिन मायिक पदार्थों का योग उपस्थित होता है उनके चक्कर में आप पहले तो आ जाते हैं, परन्तु अन्त में उस चक्कर में से आप आसानी से निकल जाते हैं.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'प्रथम ऐसा आवरण (बन्धन) होने की जो अपरिपक्वता रहती है, वह किस योग से होती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो आठ देशकालादि हैं, उनके पूर्वसंस्कार में जैसा जोर है, वैसा ही इनमें से एक-एक में भी है. इसलिए, जब उनका योग होता है तब बन्धन जरूर हो जाता है. इस प्रकार के योग पूर्व के संस्कारों का जोर नहीं रहने देते. यदि संस्कारों में उल्लिखित उतने ही सुकृत-दुष्कृत हों, तो वेदों, शास्त्रों और पुराणों में बताये गये विधिनिषेध के ये सभी भेद कि 'यह करना है और यह नहीं करना है,' मिथ्या हो जायेंगे. महान ऋषियों ने जो शास्त्र बनाये हैं, वे तो मिथ्या होते ही नहीं हैं.

अनुचित क्रिया करने पर एक ओर जहाँ जय-विजय को भगवान के धाम से, जहाँ काल, कर्म और माया का कोई भी अस्तित्व नहीं रहता, गिरना पड़ा, वहाँ दूसरी ओर नारदजी को प्रसन्न कर देने के कारण प्रह्लाद के लिये देशकालादि अशुभ होने पर भी बाधा नहीं डाल सके. सनकादि को कोपायमान कर देने के कारण देशकालादि के शुभ होने पर भी जय-विजय का पतन हो गया था. इसलिए, कल्याण के इच्छुक व्यक्ति को तो वही कार्य करना चाहिये, जिससे महापुरुष प्रसन्न हो जायँ. वे महापुरुष तो तभी प्रसन्न हो सकते हैं, जब अन्तःकरण में किसी भी प्रकार की मलिन वासना न रहे. जिसको गरीब पर क्रोधादि का संकल्प हो जाता हो तो उसे यह बड़े पर भी हो सकता है और अपने इष्टदेव पर भी क्रोधादि का मलिन संकल्प हो जाता है. इसलिए जिसे कल्याण की इच्छा हो, उसे तो किसी के प्रति मलिन संकल्प नहीं करना चाहिए. यदि उसने किसी के प्रति मलिन संकल्प किया, तो उसको भगवान के भक्त तथा भगवान के प्रति भी मलिन संकल्प हो जाया करता है. यदि हमारे द्वारा एक भी गरीब पुरुष दुःखित हो गया हो, तो हमारे अन्तःकरण में ऐसा विचार आता है कि 'भगवान सर्वान्तर्यामी हैं और वे एक स्थान पर रहकर भी सबके अन्तःकरण की बातें जानते रहते हैं. जब हमने जिसको दुःखित किया तब वे उसीके अन्तःकरण में विराजमान होंगे. ऐसी स्थिति में हमने इस प्रकार भगवान के सम्बन्ध में ही अपराध किया.' ऐसा जानकर उसके पाँव पड़कर हम उसे वह देते हैं, जो कुछ वह चाहता हो और जिस प्रकार वह प्रसन्न होता है वैसा करते हैं.

हमने और भी विचार कर देखा है कि जो अतिशय त्याग करता है अथवा दया रखता है, उससे भी भगवान की भक्ति नहीं हो सकती. तब उपासना का भंग होता है. अतीतकाल में जो अतिशय त्यागी पुरुष हो चुके हैं, उनके मार्ग में उपासना का नाश हो गया था. इसलिए, हमने यह विचार करके परमेश्वर की उपासना करते रहने के लिये त्याग को शिथिल करके मन्दिर बनवाये हैं. उनमें यदि थोड़ा त्याग रहेगा, तो उपासना बनी रहेगी. इससे अधिकाधिक जीवों का कल्याण होगा. जिसको भगवान की भक्ति करनी हो, उसको तो नास्तिक की तरह दया रखने से कैसे ठीक पड़ेगा ? उसको तो परमेश्वर के लिये पुष्प लाने चाहिये, तुलसी लानी चाहिये, भाजी-तरकारी लानी चाहिये, ठाकुरजी के वास्ते बाग-बगीचे बनवाने चाहिये और

मन्दिरों का निर्माण करना चाहिये. जो अत्यन्त त्याग तथा अतिशय दया की भावना रखते हुए मुट्ठी बाँधकर बैठा रहेगा, उससे भगवान की भक्ति नहीं हो सकती. भक्तिरहित होने पर उपासना का भी नाश हो जाता है. इसके पश्चात् अन्धपरम्परा चल पड़ती है. इसलिए, हमने मन्दिर बनवाये हैं. मन्दिरों का निर्माण भगवान की अखंड उपासना करते रहने के लिये कराया गया है. जो उपासक होता है वह अपने धर्म से भ्रष्ट हो ही नहीं सकता. वस्तुतः हमारा यह सिद्धान्त है कि अपने-अपने धर्म में रहकर भगवान की भक्ति और उपासना करते रहना चाहिये.' ।। इति वचनामृतम् ।।२७।। ।।१६०।।

वचनामृत २८ : श्रीवासुदेव-माहात्म्य

संवत् १८७९ में फाल्गुन *द्वितीया को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में ठहरने के स्थान पर निर्मित वेदी पर पश्चिम की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सफेद चादर ओढ़ी थी तथा मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

दवे प्रागजी ने कहा कि 'श्रीमद्भागवत के समान अन्य कोई भी ग्रन्थ नहीं है.' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'श्रीमद्भागवत तो अच्छी ही है, परन्तु स्कन्दपुराण में जो श्रीवासुदेवमाहात्म्य है, उसके समान कोई ग्रन्थ ही नहीं है, क्योंकि उस ग्रन्थ में धर्म, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति तथा अहिंसा का अतिशय प्रतिपादन किया गया है.'

ऐसा कहने के पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि 'वाल्मीकि रामायण तथा हरिवंश में हिंसा का अतिशय प्रतिपादन किया गया है. रघुनाथजी ने भी क्षत्रिय की प्रकृति को अपनाया है. यद्यपि रघुनाथजी में शरणागतवत्सलता तो थी तथापि वे शरणागत पुरुष में थोड़ा-सा भी दोष दीख पडने पर उसका परित्याग कर दिया करते थे. सीताजी पर तनिक-सा लोकापवाद (आक्षेप) होते ही उन्होंने अतिप्रिय होने पर भी उनका तत्काल परित्याग कर दिया था.'

मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'ऐसी तो रामानन्द स्वामी की प्रकृति थी.'

---

* शुक्रवार, २३ फरवरी, १८२३.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'हमारी प्रकृति तो ऐसी नहीं है. हममें तो परमेश्वर के भक्त पर अतीव दया रहती है. पांडवों में भी अर्जुन का स्वभाव बड़ा दयालु था. पुरुषमात्र में रामचन्द्रजी तथा अर्जुन जैसे पुरुष नहीं हैं. स्त्रियों में भी सीताजी तथा द्रौपदी-जैसी स्त्रियाँ नहीं हैं. अब हम अपनी प्रकृति बताते हैं कि हमारा दयालु स्वभाव है, तो भी हम हरिभक्त से द्वेष करनेवाले पुरुष को पसन्द नहीं करते. यदि किसीने हरिभक्त की निन्दा करने का वचन बोल दिया हो और उसे यदि मैं सुन लूँ, तो उसके साथ बहुत बोलने की इच्छा होने पर भी उससे बोलने के लिये मेरा मन राजी ही नहीं होता. जो पुरुष भगवान के भक्त की सेवा-चाकरी करता है, उस पर तो हमें अतिशय प्रसन्नता होती है. हमारा स्वभाव तो ऐसा है कि 'हम न तो छोटी-सी बात पर अप्रसन्न ही होते हैं और न मामूली-सी बात पर प्रसन्न ही हो जाते हैं.' मैं जब जिसमें प्रसन्न होने या अप्रसन्न होने का स्वभाव बहुत दिनों तक देखता रहता हूँ, तब प्रसन्नता या अप्रसन्नता होती है. परन्तु, किसी के कहने-सुनने से किसी पर प्रसन्नता या अप्रसन्नता नहीं होती. जिसका जितना गुण मेरे मन में ज्ञात होता है उसके उतने गुण की मैं कद्र किया करता हूँ. वास्तव में मेरा तो यही स्वभाव है कि 'भगवान का जो यथार्थ भक्त हो, तो मैं तो भगवान के उस भक्त का भी भक्त रहता हूँ और मैं भगवान के भक्त की भक्ति करता हूँ.' यही मुझ में बड़ा गुण है. जिसमें इतना गुण न हो, उसमें किसी भी प्रकार की महत्ता शोभित नहीं होती.

जिस-जिसको भगवान के भक्त के प्रति दुर्भाव हुआ है, वे बहुत बड़े होने पर भी अपने स्थान से गिर गये हैं. जिसका भला होता है वह भी भगवान के भक्त की सेवा से ही सम्भव होता है और जिसका बुरा होता है वह भी भगवद्भक्त से द्वेष के कारण होता है. यदि जीव भगवान को प्रसन्न करना चाहता है, तो उसका उपाय यही है कि उसे मन, कर्म और वचन द्वारा भगवान के भक्त की ही सेवा करनी चाहिये तथा भगवान के भक्त से द्वेष करना ही भगवान को अप्रसन्न करने का कारण बन जाता है.

इसलिए, हमारा तो यही सिद्धान्त है कि 'भगवान की प्रसन्नता बनी रहे तथा भगवान के भक्त का संग होता रहे तो भगवान से अनन्त वर्षों तक दूर रहने पर भी मन में किसी भी प्रकार का दुःख नहीं होता और भगवान के पास रहने पर भी यदि भगवान की प्रसन्नता न रहे, तो मैं उसे अच्छा

नहीं समझता.' समस्त शास्त्रों का भी सार यही है कि 'भगवान की जिस प्रकार प्रसन्नता बनी रहे, वैसा ही आचरण करना चाहिये.' भगवान जिस प्रकार प्रसन्न रहते हों, वैसा ही आचरण यदि कोई पुरुष नहीं कर पाता है, तो उसे भगवान के मार्ग से गिरा हुआ समझ लेना चाहिये. जिसको भगवान तथा भगवान के भक्त का संग उपलब्ध है और भगवान की प्रसन्नता बनी हुई है, तो वह मृत्युलोक में रहता हुआ भी भगवान के धाम का निवासी बना हुआ है, क्योंकि जो पुरुष सन्त की सेवा करता है और भगवान का कृपापात्र बना हुआ है, वह भगवान के समीप जाकर ही निवास करेगा. यदि वह भगवान के धाम में है और भगवान की प्रसन्नता नहीं है तथा वह भगवान के भक्त से ईर्ष्या करता है, तो ऐसा भक्त भगवान के धाम में से भी जरूर नीचे गिर जायेगा. इसलिए, हमें तो भगवान की प्रसन्नता के लिये जन्म-जन्मान्तर तक में भगवान के भक्त की ही सेवा करनी है. इस प्रकार का जैसा हमारा निश्चय है, वैसा ही निश्चय आपको भी करना चाहिये.'

इसके पश्चात् मुक्तानन्द स्वामी आदि समस्त हरिभक्तों ने हाथ जोड़कर निवेदन किया कि 'हे महाराज ! हमें भी यही निश्चय रखना है.' ऐसा कहकर सभी हरिभक्तों ने विनयपूर्वक श्रीजीमहाराज का चरणस्पर्श किया.

श्रीजीमहाराज पुनः बोले कि 'पृथ्वी में कल्याण के लिये वेद, शास्त्र, पुराण आदि जो शब्द मात्र हैं, उन सबका श्रवण करके और उनका सारांश निकाल करके हमने यह वार्ता कही है. वह एक परम रहस्य है और सार का भी सार है. इससे पहले जिन-जिन भक्तों ने मोक्ष को प्राप्त कर लिया है और अब जिनको मोक्षप्राप्ति होगी तथा अभी जो भक्त मोक्ष-मार्ग पर चल पड़े हैं, उन सबके लिये यह वार्ता जीवन के लिये पथप्रदर्शन अर्थात् प्राण समान है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥२८॥ ॥१६१॥

वचनामृत २९ : भगवान में दृढ़ आसक्ति

संवत् १८७९ में फाल्गुन शुक्ल *अष्टमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की

* बुधवार, १८ फरवरी, १८२३.

सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'श्रीकृष्ण भगवान के स्वरूप में जिस भक्त का चित्त अत्यन्त आसक्त हो चुका हो, उसके ऐसे लक्षण हैं कि 'वह स्वयं लम्बा रास्ता तय करने के कारण बहुत ज्यादा थक गया हो और शरीर में बैठने तक की भी शक्ति नहीं रह गयी हो, तो भी उस समय यदि भगवान की वार्ता का कोई प्रसंग छिड़ गया हो, तो वह इतना सावधान होकर उस वार्ता को करने और सुनने में अत्यन्त तत्पर हो जाता है कि उसे एक कोस भी नहीं चलना पड़ा अथवा चाहे किसी भी प्रकार के रोगादि से पीड़ित हो रहा हो, या चाहे जैसा अपमान हुआ हो, फिर भी वह उसी समय यदि भगवान की वार्ता सुन ले, तो तुरन्त ही समस्त दुःखों से रहित हो जाता है और चाहे वह कैसी भी राज्य-समृद्धि को प्राप्त करके उसमें आसक्त हो गया दीखता हो, तो भी वह जिस क्षण भगवान की वार्ता सुन लेगा, वैसे ही भगवान की वार्ता सुनने में सावधान हो जायगा, मानो उसका किसी के साथ संग ही नहीं हुआ था.' जिस भक्त में इस तरह के लक्षण हों, उसके सम्बन्ध में यह जान लेना चाहिये कि भगवान में उसकी दृढ़ आसक्ति हो गयी है.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'उन भगवान में इस प्रकार की दृढ़ आसक्ति किस प्रकार होती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'या तो पूर्वजन्म का अतिबलवान संस्कार हो अथवा जिस सन्त को भगवान में ऐसी दृढ़ आसक्ति रही हो, उसको सेवा द्वारा प्रसन्न कर लिया जाय, तो भगवान में ऐसी दृढ़ आसक्ति हो सकती है. इन दोनों उपायों द्वारा ही भगवान में इस प्रकार की दृढ़ आसक्ति हो जाती है, परन्तु इनके सिवा इसके लिये कोई अन्य उपाय नहीं है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥२९॥ ॥१६२॥

वचनामृत ३० : स्वर्ण तथा सौन्दर्य बन्धनकारी

संवत् १८७९ में चैत्र शुक्ल *नवमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के बरामदे में गद्दी-तकिया पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सफेद चादर ओढ़ी थी, काले पल्लेवाली धोती मस्तक पर

---

* सोमवार, १९ अप्रैल, १८२३.

बाँधी थी, श्वेत पुष्पों का हार पहना था और सफेद फूलों का तुर्रा पाग में लटक रहा था. उनके मुखारविन्द के समक्ष साधुओं तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'श्रीमद्भागवत आदि जो सत्शास्त्र हैं, वे सत्य हैं और उन शास्त्रों में जो कुछ कहा गया है वैसा ही होता है, परन्तु उसके विपरित कुछ भी नहीं होता. देखिये, श्रीमद्भागवत में स्वर्ण (सोने) में कलिका निवास बताया गया है, इसलिए उस सोने को देखना भी हमें रुचिकर नहीं लगता. जैसा बन्धनकारी सोना है वैसा ही बन्धनकारी रूप भी है. जब कोई रूपवती स्त्री सभा में आती है तब धीरजवाले पुरुष की भी दृष्टि उसके रूप पर लगे बिना नहीं रहती. इसलिए, सोना और स्त्री, दोनों बन्धनकारी हैं. जब कोई भक्त प्रकृति-पुरुष से परे शुद्ध चैतन्य ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य समझ लेगा तथा उस ब्रह्म को ही अपना स्वरूप मान लेगा और वैसे ही ब्रह्मरूप होकर परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान का भजन करने लग जायगा तथा प्रकृति एवं प्रकृति के कार्यमात्र को असत्य और नाशवन्त जान लेगा तथा तुच्छ समझने लगेगा और मायिक नाम-रूप में अतिशय दोष दृष्टि रखने लगेगा तथा उन सब नाम-रूपों में अतिशय वैराग्य रखने लग जायगा, तभी इन दोनों पदार्थों से बन्धन नहीं होगा. ऐसी स्थिति होने पर ही उसके लिये सोना और स्त्री बन्धनकारी नहीं हो सकेंगे. दूसरे को तो इनका बन्धन जरूर हो जायगा.' ॥ इति वचनामृतम् ॥३०॥ ॥१६३॥

वचनामृत ३१ : मनन द्वारा ब्रह्म का संग

संवत् १८८० में श्रावण शुक्ल *चतुर्थी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने ठहरने के स्थान पर निर्मित वेदिका पर गद्दी-तकिया लगवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे और काले पल्लेवाली धोती मस्तक पर बाँधी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस समय श्रीजीमहाराज प्रागजी दवे से श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत कपिलगीता की कथा बंचवा रहे थे. कथा समाप्त होने पर श्रीजीमहाराज परमहंसों से बोले कि 'सब कारणों के भी कारण एवं अक्षरातीत पुरुषोत्तम

---

* सोमवार, १० अगस्त, १८२३.

जो वासुदेव भगवान हैं वे ही [१]महापुरुषरूप द्वारा महामाया में वीर्य को धरते हैं. वह पुरुष अक्षरात्मक तथा मुक्त है. उसे ब्रह्म कहते हैं. उस पुरुष ने माया में वीर्य धरा. तब उस माया से प्रधानपुरुष द्वारा वैराजपुरुष उत्पन्न हुए और वे उस पुरुष के पुत्र कहलाये. जिस प्रकार इस जगत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि प्राकृत मनुष्यों की स्त्रियों से पुत्र होते हैं, वैसे ही वैराजपुरुष होते हैं. ऐसे जो वैराजपुरुष हैं, वे इस जीव के सदृश ही हैं तथा उनकी क्रिया भी जीव की क्रिया की भाँति ही होती है. उन वैराजपुरुष की द्विपरार्धकाल तक आयु होती है. इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयरूपी उनकी तीन अवस्थाएँ हैं. जिस प्रकार जीव की जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति नामक तीन अवस्थाएँ होती हैं, वैसे ही उन वैराजपुरुष के विराट, सूत्रात्मा तथा अव्याकृत नामक तीन शरीर होते हैं. वे शरीर अष्टावरणयुक्त हैं. वे शरीर महत्तत्वादि चोबीस तत्त्वों द्वारा हुए हैं. उस विराट में इन्द्रियों, अन्तःकरण तथा देवताओं ने प्रवेश किया और वे उसे जगाने लगे. यद्यपि विराट का जीव भी अन्दर था, फिर भी वह विराट नहीं उठा. जब क्षेत्रज्ञ वासुदेव भगवान पुरुषरूप द्वारा उसमें प्रविष्ट हुए तब वह विराट शरीर उठ गया. इस प्रकार वे वैराजपुरुष अपनी क्रिया में समर्थ हो गये.

वे ही भगवान इस जीव को प्रकाशमय बनाने के लिये सुषुप्तिरूप माया से परे रहते हुए भी जीव में साक्षीरूप होकर रहे हैं. फिर भी, जीव को देह, इन्द्रियों तथा विषयों का अधिक संग हुआ है. इसलिए, संगदोष के कारण यह जीव देहादिरूप हो गया है. जब यह जीव उनके संग को छोड़कर यह समझने लगता है कि 'मेरा स्वरूप तो माया से मुक्त तथा परे रहनेवाला ब्रह्म है' और वह इसी प्रकार निरन्तर मनन करते हुए यदि ब्रह्म का संग करता है, तो उस ब्रह्म का गुण उस जीव में आ जाता है. यद्यपि उसने यह वार्ता सुनी हो, तो भी निरन्तर स्मृति नहीं रहती. यह एक बड़ा दोष है. इस प्रकार, ईश्वररूपी वैराजपुरुष तथा इस जीव को प्रकाशमय बनानेवाले पुरुषरूपी पुरुषोत्तम वासुदेव ही हैं.

वे वैराजपुरुष भी जीव के समान रहते हैं और द्विपरार्धकालपर्यन्त अपने आयुष्य को भोगते हैं. तब तक वे बद्ध रहते हैं. उनका प्रलय होने

---

१. महापुरुषरूप में अपनी विशिष्ट शक्ति द्वारा प्रवेश करते हैं.

पर उन्हें उन पुरुष का साक्षात् सम्बन्ध हो जाता है. उनके पिता वे पुरुष सामर्थ्यवान हैं. इसलिए, वे उनकी उतनी रक्षा करते रहते हैं. वैराजपुरुष का माया के साथ सम्बन्ध रहा है. इसलिए, प्रलय के अन्त में वे पुनः माया में से उत्पन्न होते हैं और यह जीव जितना बन्धनयुक्त और असमर्थ रहता है उतना ही उसका पिता भी बन्धनयुक्त और असमर्थ होता है. इसलिए, ऐसा बाप लड़के की क्या सहायता कर सकता है ! अतएव, उनसे सुषुप्तिरूप माया का सम्बन्ध निरन्तर बना रहता है. वह सम्बन्ध नहीं मिटता. वह तो पूर्वोक्त ढंग से, अपने प्रकाशदाता ब्रह्म का मनन द्वारा संग करने से ही टल सकता है.

वे विराट पुरुष भी संकर्षण, अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न की उपासना करते रहते हैं. वे प्रलयरूपी अवस्था में संकर्षण, स्थितिरूप अवस्था में प्रद्युम्न तथा उत्पत्तिरूपी अवस्था में अनिरुद्ध की उपासना करते रहते हैं. वे तीन संकर्षणादि वासुदेव भगवान के सगुण स्वरूप हैं. उनकी उपासना के बल से वे वैराजपुरुष उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयरूपी क्रिया में सामर्थ्य प्राप्त करते हैं. जब तक वे उन तीनों की उपासना करते हैं, तब तक उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयरूपी माया के साथ का उनका सम्बन्ध समाप्त नहीं होता. किन्तु, जब वे [१]निर्गुण वासुदेव भगवान की उपासना करते हैं तब वे वैराजपुरुष माया का त्याग करके ब्रह्मरूप हो जाते हैं. जैसे यह जीव जब ब्रह्मादि देवरूपी भगवान की उपासना करता है तब वह धर्म, अर्थ एवं कामरूपी फल प्राप्त कर लेता है. जब वह भगवान के अवतारों राम, कृष्ण आदि की उपासना करता है तब वह ब्रह्मरूप हो जाता है और उसकी मुक्ति हो जाती है, वैसे ही उन विराट पुरुष की भी स्थिति होती है.

शास्त्रों में ऐसा कहा गया है कि उन वैराजपुरुष द्वारा अवतार होते हैं. इस बात को तो इस प्रकार समझ लेना चाहिये कि 'वे वासुदेवनारायण जब पुरुष रूप द्वारा वैराजपुरुष में प्रविष्ट होकर विराजमान हो जाते हैं, तब अवतारों को वस्तुतः अवतार कहा जाता है.' वास्तव में वे सब अवतार तो वासुदेव भगवान के ही हैं. वे वासुदेव भगवान जब प्रतिलोम रूप द्वारा उन वैराजपुरुष से पृथक् हो जाते हैं तब केवल उन वैराजपुरुष से अवतार होने

---

१. अपने दिव्य धाम में स्थित जो स्वरूप है वह माया के गुणों से परे है, इसलिए उसे निर्गुण कहा जाता है.

की कोई सम्भावना नहीं रहती. वैराजपुरुष में वासुदेव का प्रवेश होने से ही उनके द्वारा अवतार होने की बात कही गयी है. जब तक क्षेत्रज्ञ वासुदेव ने वैराजपुरुष में प्रवेश नहीं किया था तब तक वे वैराजपुरुष अपनी क्रिया सम्पन्न करने में भी समर्थ नहीं हुए थे. इससे पहले जिन पुरुषों का उल्लेख किया गया है, वे जब माया में गर्भ रखते हैं तब प्रधानपुरुष द्वारा एक वैराजपुरुष जैसा पुत्र उत्पन्न होता है. इसी प्रकार उसी माया में से अनेक प्रधानपुरुषों द्वारा दूसरे भी अनेक वैराजपुरुषरूपी ब्रह्मांड होते हैं. वे पुरुष तो निरन्नमुक्त तथा ब्रह्म हैं और माया के कारण है. यद्यपि वे माया में [१]लोमरूप से रहते हैं, फिर भी उनके समक्ष मायाजन्य बाधा उपस्थित नहीं होती. माया में उन्हें भोग की इच्छा भी नहीं होती. वे तो ब्रह्मसुख से सुखी एवं पूर्णकाम रहते हैं. जो वैराजपुरुष ईश्वर हैं, वे तो माया के भोगों को भोगकर प्रलयकाल में माया का परित्याग कर डालते हैं. जो जीव हैं, वे तो माया के भोगों को भोगने के पश्चात् दुःखी होकर माया में ही विलीन हो जाते हैं.'

इस प्रसंग में शुकमुनि ने पूछा कि 'पुरुषोत्तम वासुदेव ही पुरुषरूप द्वारा अनेक ब्रह्मांडों की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के कर्ता हैं. इसीलिए, शास्त्रों में पुरुषोत्तम को प्रायः पुरुषरूपात्मक ही बताया गया है. तब, पुरुष तथा वासुदेव में कैसा भेद हो सकता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस प्रकार इस जीव तथा वैराजपुरुषरूपी ईश्वर में भेद है और जिस तरह ईश्वर तथा पुरुष में भेद है वैसे ही पुरुष एवं पुरुषोत्तम वासुदेव भगवान में इस प्रकार का भारी भेद रहता है. पुरुषोत्तम वासुदेव तो सबके स्वामी हैं. ऐसे ब्रह्मरूपी अनेक अक्षरात्मक पुरुष हैं, जो वासुदेव के चरणारविन्दों की उपासना तथा स्तुति करते हैं. इस प्रतिकार पुरुषोत्तम, पुरुष, ईश्वर, जीव और माया ये पाँच भेद अनादि हैं. इस प्रकार की वार्ता हमने कई बार की है, परन्तु कोई भी भक्त उसका मनन करके अपने अन्तःकरण में उस पर दृढ़तापूर्वक निश्चय नहीं कर पाता. इस कारण शास्त्रों के शब्दों को सुनकर समझ में स्थिरता नहीं होती. यदि दृढ़ता से निश्चय हो चुका हो, तो उसकी समझ उन शब्दों को सुनने

---

१. लयभाव से.

से कभी भी विचलित नहीं हो सकती. इसलिए इस वार्ता पर व्यवस्थित रूप से विचार करना चाहिये.' इस प्रकार, श्रीजीमहाराज ने जो यह वार्ता कही है उसको उसी तरह लिया गया है. ॥ इति वचनामृतम् ॥३१॥ ॥१६४॥

वचनामृत ३२ : कुटुम्बीजनों का सम्बन्ध

संवत् १८८० में श्रावण शुक्ल *पंचमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने ठहरने के स्थान में विराजमान थे. श्रीजीमहाराज ने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, मस्तक पर काले पल्ले की सफेद धोती बाँधी थी, कंठ में पुष्पों के हार पहने थे, कानों पर पुष्पगुच्छ लगे हुए थे और मस्तक पर फूलों के तुर्रे लटक रहे थे. श्रीजीमहाराज के मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज सब हरिभक्तों से बोले कि 'इस संसार में अपने कुटुम्बीजनों के साथ का सम्बन्ध तो थूहर के वृक्ष अथवा वट (बड़) या पीपल की शाखा की तरह है, जिसे एक स्थान से काटकर जिसका दूसरे ठिकाने पर रोपण किया जाय, तो उगकर वृक्ष हो जाता है, अगर आम और नीम को एक बार काट दिया जाय, तो वह फिर नहीं उठता. वैसे ही कुटुम्बीजनों से भिन्न अन्य व्यक्तियों का जो सम्बन्ध है, वह भी आम्रवृक्ष के समान है, जिसे एक बार काट दिया जाय, तो दूसरी बार नहीं लगता. किन्तु, कुटुम्बियों का सम्बन्ध तो थूहर और बड़ के पेड़ की भाँति है, जो काट दिये जाने पर भी धरती पर पड़े-पड़े भी पल्लवित हुए बिना नहीं रहता. यदि स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक तीन शरीरों से भिन्न अपनी देह में रहनेवाली जीवात्मा को अपना स्वरूप समझकर और उसमें भगवान की मूर्ति को धारण करके तथा जाति, वर्ण एवं आश्रम के मान को छोड़कर केवल भगवान के स्मरण में तल्लीन हो जाय, तो कुटुम्बीजनों का सम्बन्ध भली भाँति मिट सकता है. इसके सिवा, इस सम्बन्ध की समाप्ति के लिये अन्य कोई भी उपाय नहीं है.

यदि जीव का कल्याण हो जाता है और वह माया को पार करके

---

* मंगलवार, ११ अगस्त, १८२३.

ब्रह्मरूप हो जाता है, तो इसके कारण भी पुरुषोत्तम वासुदेव भगवान के प्रत्यक्ष स्वरूप का ज्ञान, ध्यान, कीर्तन तथा कथादिक ही हैं. सारांश यह है कि इन उपायों के द्वारा ही यह जीव माया को पार करके अति महत्ता को प्राप्त कर लेता है और उसे भगवान के अक्षरधाम की प्राप्ति हो जाती है. आत्मनिष्ठा, वैराग्य और धर्म तो भगवान की भक्ति में सहायता करनेवाले उपकरणमात्र हैं. किन्तु, भगवान की भक्ति के बिना अकेले वैराग्य, आत्मनिष्ठा तथा धर्मरूपी साधनों का अवलम्बन करने मात्र से ही यह जीव माया को पार करने में समर्थ नहीं हो सकता. यदि अतिशय धर्म, आत्मनिष्ठा तथा वैराग्य न भी हो, तो भी अकेली भगवान की भक्ति करने से भी जीव का कल्याण हो सकता है और वह माया को पार कर सकता है. धर्मादि की अपेक्षा भक्ति की ही इतनी अधिक विशेषता है. फिर भी, यदि धर्मादि अंगों की सहायता मिल जाय, तो भगवान की भक्ति करने में किसी भी प्रकार का विघ्न उपस्थित नहीं हो सकता. यदि धर्मादि अंगों की सहायता न मिली, तो विषम देशकालादि रहने पर भक्ति के मार्ग में विघ्न जरूर पड़ जाता है. इसलिए, धर्मादि अंगों के सहित भगवान की भक्ति करनी चाहिये. यदि अशुभ देश, काल, क्रिया और संग में प्रवृत्ति हो गयी, तो इस प्रकार की भक्ति करनेवाले भगवान के भक्त का भी अन्तःकरण मलिन हो जाता है और उसके स्वभाव में अस्थिरता बनी रहती है. इसलिए, अशुभ काल, अशुभ क्रिया और तथा बुरे संग का परित्याग करके शुभ देश, शुभ क्रिया में ही प्रवृत्त रहना चाहिए, परंतु अशुभ देशकालादि का संग नहीं करना चाहिये.' ॥ इति वचनामृतम् ॥३२॥ ॥१६५॥

वचनामृत ३३ : निष्काम व्रत

संवत् १८८० में श्रावण कृष्ण *त्रयोदशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थिति दादाखाचर के राजभवन में अपने ठहरने के स्थान में पलंग पर गद्दी-तकिया लगवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

---

* गुरुवार, ३ सितम्बर, १८२३.

श्रीजीमहाराज समस्त सन्तों तथा हरिभक्तों से इस प्रकार बोले कि 'सबसे पहले हम अपनी रुचि की बात कहते हैं. बाद में आप सब भी यह बताना कि आपके मतानुसार किस प्रकार मोक्ष होता है तथा यह कि यदि 'हम इस तरह का आचरण करेंगे तो इस लोक और परलोक में भगवान हम पर प्रसन्न रहेंगे.' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज अपनी रुचि की बात बताने लगे.

'जिस पदार्थ में प्रीति दिखायी पड़ती है, उसका परित्याग कर देने पर ही हमें सुख होता है. यदि मन में भगवान के भक्तों के सिवा अन्य मनुष्यों तथा पदार्थों के सम्बन्ध में स्मृति रह गयी हो, तो उसको अच्छी तरह दूर कर देने पर ही सुख मिलता है. भगवान के भक्त के प्रति तो हमारे हृदय में किसी भी तरह का दुर्भाव नहीं होता. हमारी इच्छा न होने पर भी जब पंचविषय जबरन आकर उपस्थित हो जाते हैं. तो भी हम उन्हें नहीं चाहते और उन्हें पैरों से ठेलकर ठुकरा देते हैं.

जिस दिन से हमने जन्म लिया है, उस दिन से लेकर आज तक हमें किसी भी दिन जाग्रत अथवा स्वप्नावस्था में द्रव्य या स्त्री के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का अशुभ संकल्प नहीं हुआ. यह बात हम समस्त परमहंसों की कसम खाकर कहते हैं. इस प्रकार हम सदैव निर्दोष रहे हैं. जो पुरुष हमारे प्रति दोषबुद्धि रखेगा, तो उसे जाग्रत तथा स्वप्नावस्था में अशुभ संकल्प होंगे और देहत्याग के समय अत्यन्त कष्ट होगा. हमारे अन्तःकरण में तो एकमात्र भगवान के स्वरूप का ही चिन्तन होता रहता है. बाह्यरूप से तो हम सबसे इसीलिए घुलमिलकर रहते हैं कि भगवान के भक्तों के जीवों की भलाई हो. फिर भी, जिस दिन हमारे हृदय में भगवान या भगवान के भक्तों के सिवा और कहीं स्नेह दीख पड़ेगा, तो हम ऐसा मानेंगे कि 'हम अपनी स्थिति से डिग गये हैं.' परन्तु, हमें ऐसा निश्चय है कि 'हम इस स्थिति से कभी भी नहीं डिगेंगे.' इस प्रकार, हमने अपनी रुचि की बात बता दी है. अब आप सब भी अपनी-अपनी रुचि की बात बताइये.

इसके पश्चात् समस्त सन्तों और हरिभक्तों ने अपनी-अपनी रुचि की बात बतायी कि इस लोक तथा परलोक में यदि हम इस प्रकार की रुचि के अनुसार बर्ताव करेंगे तो हम पर भगवान प्रसन्न रहेंगे. उन सब हरिभक्तों ने अपनी रुचि का जो विवरण प्रस्तुत किया उसके अनुसार किसी हरिभक्त ने भगवान के सिवा अन्य किसी भी वस्तु आदि के सम्बन्ध में वैराग्यभाव

रखने, किसीने आत्मनिष्ठा बनाये रखने, किसीने भगवान में प्रीति रखने, तो किसीने धर्माचरण करते रहने की बातें कहीं. इस प्रकार, उन्होंने अपने विभिन्न विचार प्रकट किये. परन्तु, श्रीजीमहाराज के मन में जो धारणा बनी हुई थी, उसे कोई भी न बता सका.

इसके पश्चात् श्रीजीमहराज बोले कि 'किसी को यदि निष्काम व्रत में दृढ़ता हो जाय, तो उसके लिये इस लोक तथा परलोक में किसी भी स्थान पर भगवान से पृथक्ता रहेगी ही नहीं तथा उस पर हमारे स्नेह में भी कभी भी कमी नहीं होगी. यहाँ के हरिभक्तों में निष्काम व्रत के प्रति जैसी अतिशय दृढ़ता बनी हुई है, उसे देखकर ही हम यहाँ टिके हुए हैं. उस व्रत के प्रति जिसकी दृढ़ता बनी हुई है, उससे हज़ार कोस दूर रहने पर भी हम उसके पास ही बने रहते हैं. जिसका इस व्रत में कच्चापन बना रहता है, वह हमारे पास रहते हुए भी हमसे एक लाख कोस दूर रहता है. वास्तव में निष्कामी भक्त के हाथ की सेवा ही हमें प्रिय लगती है. ये मूलजी ब्रह्मचारी अतिशय दृढ़ निष्कामी हरिभक्त हैं, इसीलिए उनके द्वारा की हुई सेवा हमें अत्यन्त प्रिय लगती है. यदि कोई अन्य पुरुष सेवा-चाकरी करता है, तो वह हमें पसन्द नहीं आती. हम जो-जो वार्ता करते हैं, उसमें भी निष्काम व्रत का पालन करते रहने की बात का ही प्रतिपादन होता है. जिस दिन से हम प्रकट हुए हैं, उस दिन से ही हम निष्काम व्रत रखे जाने की दृढ़ता का ही प्रतिपादन करते रहे हैं. कभी सभा में किसी स्त्री अथवा पुरुष को यदि देखने में कोई दुर्वासना आ जाती है तो वह उसको छिपाने के लिये चाहे कितनी ही युक्ति करे, तो भी हमें उसकी जानकारी मिल जाती है. तब, हम उस मनुष्य पर अत्यन्त कुराजी हो जाते हैं, हमारे मुख पर भी श्यामलता छा जाती है और उसके लिये घोर दुःख होता है, किन्तु प्रेमवश कुछ ज्यादा नहीं कहते. फिर भी, साधुतावश हृदय में ही इस बात को समझते रहते हैं. यदि राजा जैसे तौरतरीके अपनाये जायँ, तो उसको कठोर दंड मिल सकता है. इसलिए, हमने पहले से ही समस्त बड़े परमहंसों और सभी बड़ी स्त्री-भक्तों से यह बात कह रखी है कि यदि 'सत्संग में किसी पुरुष तथा स्त्री को कभी निष्काम व्रत का पालन करने में चूक हो जाय, तो ऐसी बात वह हमें न सुनावे,' क्योंकि ऐसी बात सुनने पर हमें उतना ही शोक होता है, जितना कि बन्ध्या स्त्री को अपने नवजात पुत्र की मृत्यु से शोक हो सकता है.

ऐसी हालत में हमारे मन में यह विचार तक उत्पन्न हो जाता है कि हमें 'समूचे सत्संग को छोड़कर चले जाना चाहिये.' वास्तव में निष्काम व्रत का पालन करनेवाला पुरुष ही हमें प्रिय लगता है और इस लोक तथा परलोक में उसका और हमारा सुदृढ़ मिलाप होता रहता है.'

हरजी ठक्कर ने प्रश्न पूछा कि 'निष्काम व्रत कौन-से उपाय से अतिशय सुदृढ़ हो जाता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'उसके लिये एक प्रकार का ही उपाय नहीं है. उसके लिये तो तीन प्रकार के उपाय अपनाये जाते हैं. जिस तरह हाँकनेवाले, बैलों, पहियों, धुर, गाड़ी के जुआ तथा बैठने के लिये ऊँचे स्थान आदि बहुत से सामानों को मिलाकर एक गाड़ी कहलाती है, वैसे ही निष्काम व्रत को सुदृढ़ बनाने के लिये भी प्रचुर सामग्री की जरूरत रहती है. उसमें भी तीन उपाय अत्यन्त मुख्य हैं.

उनमें से सबसे पहला उपाय मन को वश में करना है, अर्थात् मन में अखंड रूप से ऐसा मनन करना चाहिये कि 'मैं आत्मा हूँ, देह नहीं' तथा भगवान की कथाश्रवणादि नवधा भक्ति में मन को अखंड रूप से लगाये रहना चाहिये, किन्तु मन को क्षणमात्र के लिये भी बेकार नहीं रहने देना चाहिये. जैसे किसी पुरुष ने भूत को वश में कर लिया हो और जब वह पुरुष भूत को कोई काम नहीं बताता है तब भूत उसे खाने को तैयार हो जाता है, वैसे ही यह मन भी है. वस्तुतः मन भी भूत-सदृश है. जब मन को भगवद्भक्ति में नहीं लगाया जायगा, तब वह अधर्म के संकल्प करेगा और भूत की तरह जीव को खाने के लिये तत्पर हुआ कहलायगा. इसलिए, मन को भगवान के अखंड कथाकीर्तनादि में लगाये रखना चाहिये. तभी यह कहा जाता है कि मन वश में हो गया.

दूसरा उपाय यह है कि प्राण को नियमबद्ध रखना चाहिये. गीता में भगवान ने यही बात कही है कि 'आहार-विहार समान रूप से रखना चाहिये, किन्तु खाने की अतिशय लोलुपता नहीं रखनी चाहिये.' इस प्रकार का आचरण करते रहना चाहिये, तभी यह कहा जा सकता है कि प्राण नियमबद्ध हो गया. यदि प्राण को नियमबद्ध न किया गया हो, तो मन में खाने की अधिक तृष्णा बनी रहेगी. इसके बाद रसनेन्द्रिय अनेक प्रकार के रसों की ओर दौड़ती फिरेगी. तभी, वशीभूत अन्य इन्द्रियाँ भी स्वच्छंद हो

जायेगी. इसीलिए, आहार को नियमबद्ध रखकर प्राण को नियमानुकूल बनाना चाहिये.

तीसरा उपाय यह है कि इस सत्संग में जिस-जिसको जो-जो नियम बताये गये हैं, उनके अनुसार शरीर को चलाकर शरीर को नियमानुकूल बना लेना चाहिये. इस प्रकार जो पुरुष इन तीन नियमों को सुदृढ़ बनाये रखता है, उसको निष्काम व्रत का पालन करने में अतिशय दृढ़ता बनी रहती है. परन्तु, ऐसी धारणा नहीं रखनी चाहिये कि 'इस प्रकार नियम रखना अत्यन्त कठिन है.' क्योंकि जो वस्तुतः साधु होता है, उसे तो ऐसे नियमों का पालन करने में कोई कठिनाई नहीं होती. साधु को तो कामक्रोधलोभादि शत्रुओं का बल होने पर भी भगवान को प्रसन्न करने के लिये उनका परित्याग कर डालना चाहिये. तभी वह पक्का साधु कहलाता है. मनुष्य-देह द्वारा यह न हो सके, ऐसा क्या है ? यदि कोई नित्य अभ्यास द्वारा ऐसा करता है तो वह हो जाता है. जैसे कुएँ के किनारे पर बड़ा भारी पत्थर रहता है, उस पर से नित्य पानी खींचते रहने से नरम डोरी भी उसे (पत्थर को) काट देती है, वैसे ही साधु की भी स्थिति है. यदि वह साधु जिस स्वभाव को टालने के लिये सदैव अभ्यास करता हो, तो वह स्वभाव कब तक टिक सकेगा ? उसका तो निश्चय रूप से नाश हो जायगा. इसलिए, जिसको निष्काम व्रत रखना हो, उसे तो इन तीन उपायों को दृढ़तापूर्वक अपना लेना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥३३॥ ॥१६६॥

वचनामृत ३४ : 'चौबीस तत्त्व जड़ या चैतन्य ?'

संवत् १८८० में भाद्रपद शुक्ल *प्रतिपदा को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत धोती पहनी थी, सफेद चादर ओढ़ी थी और काले पल्लेकी धोती मस्तक पर बाँधी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. परमहंस दुक्कड़ सरोद लेकर कीर्तन कर रहे थे.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब कीर्तन बन्द करिये और प्रश्नोत्तर का

---

* शनिवार, ५ सितम्बर, १८२३.

कार्यक्रम प्रारम्भ करें, तो आलस्य मिट जायगा.' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'सबसे पहले मैं एक प्रश्न पूछता हूँ कि इस जीव में माया की कार्यरूपी इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि जो चौबीस तत्त्व रहे हैं, वे तत्त्व जड़ हैं या चैतन्य ?' परमहंसों ने कहा कि 'वास्तव में ये तत्त्व चैतन्य हैं.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'ये तत्त्व जब चैतन्य हैं तब शरीरस्थ जीव के साथ चौबीस तत्त्वों के भी चौबीस जीव हुए. इस प्रकार जब इस जीव का जो कल्याण होगा, वह सबके हिस्से के अनुसार मिलेगा और जो पाप किये जायेंगे, वे भी सबको हिस्से में मिलेंगे. तब यह नहीं कहा जायगा कि सुख-दुःख का भोक्ताभाव एकमात्र जीव में ही है. तब संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण नामक तीन प्रकार के कर्म अकेले जीव से ही सम्बन्धित नहीं कहलायेंगे. इससे पहले नारदसनकादि जो मुक्त हो चुके हैं उनका एकमात्र अपना-अपना जीव ही मुक्त हुआ है, परन्तु उसके साथ-साथ चौबीस तत्त्वों के भी मुक्त हो जाने की बात नहीं कही गयी है.' इस प्रकार आशंका प्रकट करके श्रीजीमहाराज ने इन तत्त्वों को निर्जीव प्रमाणित कर दिखाया. इस तरह, परमहंस यथार्थ उत्तर न दे सके.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका उत्तर हम देते हैं कि ये तत्त्व कार्य-कारण भेद से दो प्रकार के हैं. उनमें [१]कारणरूप जो तत्त्व है वह चैतन्य है, किन्तु कार्यरूप तत्त्व जड़ है और यह जीव स्वयं विशेष सत्ता द्वारा हृदय में रहा है तथा अपनी सामान्य सत्ता से वह देह, इन्द्रियों और अन्तःकरण में तदात्मक हो गया है. इस कारण वे देहादि चैतन्य-से दिखायी पड़ते हैं, परन्तु वास्तव में वे जड़ ही हैं. जब यह जीव भगवान का भक्त होकर भगवान के धाम में जाता है तब जड़ तत्त्व पड़े ही रह जाते हैं. वे चौबीस तत्त्व माया में से हुए हैं, इसीलिए वे मायारूप और जड़ हैं तथा देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण रूप से पृथक्-पृथक् दिखायी पड़ते हैं. जिस प्रकार एक पृथ्वी ही त्वचा, मांस, मज्जा, अस्थियों एवं स्नायुओं के पाँच रूपों से बनी हुई है और करनेवाले की कला से वह काँचरूप भी हुई है वैसे ही वह माया भी परमेश्वर की इच्छा से देहादिरूप में भिन्न-भिन्न प्रकार से दिखायी पड़ती है.' ॥ **इति वचनामृतम्** ॥३४॥ ॥१६७॥

---

१. कार्यरूप जड़तत्त्वों के अभिमानी जो देवता हैं, वे कारणरूप तत्त्व कहलाते हैं.

वचनामृत ३५ : भगवान के चरित्रों का गान

संवत् १८८० में भाद्रपद शुक्ल *एकादशी को रात्रि की पिछली ६ घड़ी शेष रहने पर श्रीजीमहाराज नींद से उठ बैठे और श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में ज्वार-भंडार के ऊपरी भाग में पलंग बिछवाकर विराजमान हुए थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, सफेद दोहर ओढ़ी थी और श्याम पल्ले की धोती मस्तक पर बाँधी थी.

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने परमहंसों तथा हरिभक्तों को बुलवाया और वे उनसे यह बोले कि 'आज तो हमें बहुत नींद आयी और हमने उठने की बहुत कोशिश की, लेकिन उठा नहीं गया. निद्रावस्था में हमने बहुत विचार किया है और उस विचार से जो निर्णय किया है वह बताता हूँ कि [१]मैं रामानन्द स्वामी के सान्निध्य में आने के पहले से आत्मा को साक्षात् देखता था और अब भी देखता हूँ. वह आत्मा सूर्य के समान प्रकाशयुक्त है. मुझे अपनी समस्त इन्द्रियों की क्रिया में आत्मा का क्षणमात्र भी विस्मरण नहीं होता, परन्तु वह आत्मदर्शन होना अत्यन्त कठिन है. ऐसा आत्मदर्शन तो पूर्व के अनेक जन्मों के सत्संस्कारवाले किसी बिरले ही पुरुष को होता है. यदि एक सौ वर्षों तक भी इस आत्मा पर विचार किया जाय, तो भी आत्मा का दर्शन नहीं होता. जब श्रीकृष्ण भगवान की मूर्ति का ध्यान किया जाय, तब उस आत्मा को देखने में कोई कठिनाई नहीं होती, किन्तु भगवान के ध्यान के बिना केवल आत्मविचार द्वारा आत्मा की जानकारी मिलती है या वह दिखायी पड़ती है, ऐसी आशा तो किसी को नहीं रखनी चाहिये.

भगवान की उपासना करने, भगवान के चरित्रों का गान करने, उन्हें सुनने, भगवान का नामस्मरण करने तथा अपने-अपने धर्म में रहने से अपने जीव का कल्याण होने में कोई कठिनाई नहीं होती. यह तो जहाज में बैठकर समुद्र को पार करने जैसा सुगम मार्ग है. किन्तु, आत्मदर्शन द्वारा कल्याण

---

* बुधवार, १६ सितम्बर, १८२३.

१. तत्त्वदर्शी ऋषियों ने यह निश्चय किया है कि दो प्रकार से, अर्थात् आत्मदर्शन और भक्ति से मनुष्यों का कल्याण होता है. उनमें भी आत्मदर्शन से होनेवाला कल्याण अति दुष्कर है.

करने का प्रयास तो तुम्बड़े को बाँधकर समुद्र को पार करने जैसा कठिन मार्ग है. हम आत्मज्ञान की जो वार्ता करते हैं, उससे तो मात्र इतना ही प्रयोजन है कि 'यदि अपनी आत्मा को देह से पृथक् माना जायगा, तो देह से प्रीति नहीं रहेगी और देह के सम्बन्धीजनों से भी स्नेह नहीं रहेगा तथा भगवान की भक्ति में कोई विघ्न उपस्थित नहीं होगा.' फिर भी, यह तो नहीं मानना चाहिये कि केवल उससे ही कल्याण हो जायगा. जगत में प्रचलित यह बात मिथ्या है कि 'मन होय चंगा तो कठौती में गंगा.' चाहे कैसा ही समाधिनिष्ठ अथवा विचारवान पुरुष हो, फिर भी यदि वह स्त्रियों के साथ रहने लगेगा, तो उसका धर्म किसी भी प्रकार से नहीं रह सकेगा. चाहे कैसी ही धर्माचरणवाली स्त्री हो, उसका यदि परम पुरुष के साथ सहवास हो जायगा, तो उसका भी धर्म नहीं रह जायगा. ऐसी तो आशा ही नहीं रखनी चाहिये कि ऐसे स्त्री-पुरुष का परस्पर सहवास होने पर भी उनका धर्म रह जायगा. यह बात तो वैसी ही है, परन्तु उसमें कोई भी संशय नहीं रखना चाहिये.

यदि परमहंस तथा ब्रह्मचारी हो और बताये गये ब्रह्मचर्यादि नियमों का पालन करता हो, तो वह धर्म में तत्पर रह सकता है. यदि स्त्री भी अपने नियमों का पालन करती रहे, तो वह भी धर्मानुकूल रह सकती है. यदि अन्य सत्संगी गृहस्थ भी अपने अपने नियमों का पालन करते रहें और युवावस्थावाली अपनी माता, बहन और पुत्री के साथ भी एकान्त में न बैठें तथा उनके सामने भी दृष्टि जमा कर न देखें, तो वे धर्मानुकूल रह सकते हैं. इस प्रकार धर्माचरण करते रहना चाहिये, भगवान के स्वरूप की उपासना करनी चाहिये, भगवान के अवतार-चरित्रों का श्रवण कीर्तन करना चाहिये तथा भगवान का नामस्मरण करते रहना चाहिये. ये चार बातें ही जीव के अतिशय कल्याण के लिये हैं.

यदि आप सब मुझे भगवान जानते हों, तो हमने जहाँ-जहाँ उत्सव किये हों, जिस स्थान पर परमहंस, ब्रह्मचारी तथा हरिभक्त सत्संगी स्त्री-पुरुष इकट्ठे हुए हों, हमने कीर्तनगान कराये हों, वार्ता की और हमारी पूजा हुई हो, आदि हमारी जो चरित्रलीलाएँ हैं, उनका वर्णन, श्रवण तथा मन में चिन्तन करते रहना चाहिये. जिस पुरुष को उनका चिन्तन अन्तकाल में हुआ हो, तो उसका जीव भगवान के धाम को अवश्य प्राप्त होगा. इसलिए, हमारे

ये सभी चरित्र, क्रिया एवं नामस्मरण कल्याणकारी हैं. इसी प्रकार, हमने स्वरूपानन्द स्वामी से वार्ता कही थी. उन्होंने जब उस वार्ता को हृदयंगम किया तब देहजन्य रोग का भारी दुःख मिट गया और उन्हें परम शान्ति प्राप्त हुई. यद्यपि वे आत्मा को देखते थे, फिर भी उसके द्वारा कोई सिद्धि नहीं हुई. हमने भगवान के श्रीकृष्ण एवं रामचन्द्रादि अवतारों के जिन चरित्रों का जहाँ-जहाँ वर्णन किया हो, उनका भी श्रवण तथा गान करना चाहिये. इन चार बातों को सुदृढ़ बनाये रखने के लिये हमने श्रीमद्भागवत आदि आठ ग्रन्थों का अतिशय प्रतिपादन किया है. इसलिए, इन ग्रन्थों का श्रवण तथा अध्ययन करना चाहिये और उन चार बातों की ही चर्चा करनी चाहिये. भगवान की मूर्ति की उपासना, भगवान के चरित्र-गान तथा भगवान के नाम स्मरण के बिना केवल धर्म द्वारा कल्याण होने की बात तो तुम्बड़े को बाँधकर समुद्र को पार करने के समान कठिन है.

जिसको भगवान की मूर्ति का आश्रय हो तथा जो भगवान के चरित्रों को गाता व सुनता हो और भगवान का नाम-स्मरण करता हो, फिर भी यदि उसमें धर्मपरायणता न हो, तो उसे सिर पर पैर रखकर समुद्र को पार करने की इच्छा रखनेवाला समझना चाहिये, और उसे चांडाल-जैसा मानना चाहिये. इसलिए, उन चार बातों द्वारा ही जीव का कल्याण अवश्य हो जाता है. परन्तु, उनके सिवाय ऐसा कोई अन्य साधन नहीं है, जिसके द्वारा कल्याण हो जाय. मुक्तानन्द स्वामी आदि साधुओं के काव्य एवं कीर्तन का गान एवं श्रवण करना चाहिये. इसी प्रकार, अन्य कवियों द्वारा विरचित भगवान के चरित्रयुक्त काव्य-कीर्तन का गान और श्रवण भी करना चाहिये. किन्तु, कबीर और अखा के काव्य-कीर्तन तथा उनके सदृश जिस-जिसके काव्य और कीर्तन हों, उनका न तो गान ही करना चाहिये और न उन्हें सुनना ही चाहिये.

आप सबका मुझ पर विश्वास है, फिर भी यदि मैं सबका ध्यान इधर-उधर की उलटी बात की ओर दिला दूँ, तो इसका मतलब सबको कुएँ में ढकेल कर उसके ऊपर एक शिला को ढक देना होगा, तब सबके बाहर निकलने की आशा ही नहीं रह जायगी. वैसे ही यदि आप भी मेरे वचनों का विश्वास करके उलटे मार्ग पर भटक जाओगे, तो इससे मेरा क्या भला होगा ? यह वार्ता आपके कल्याण के लिये है, जिसे मैंने आपको

स्नेहपूर्वक बता दिया है, इसीलिए आप सब अब इसे इसी प्रकार समझकर दृढ़ता बनाये रखना. ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज पुनः बोले कि यदि आप सबने हमारी इस बात के अनुसार आचरण करने का निश्चय कर लिया हो, तो एक-एक करके मेरा चरण-स्पर्श करते हुए शपथ लेकर यह प्रतिज्ञा करो कि 'हमें दृढ़ता के साथ ऐसा ही आचरण करना है.' इसके पश्चात् समस्त परमहंस तथा सत्संगी प्रसन्नतापूर्वक उठ गये और श्रीजीमहाराज के चरणकमलों का स्पर्श तथा प्रणाम करके पुनः अपनी-अपनी जगह पर बैठ गये. इसी तरह, श्रीजीमहाराज ने सभी स्त्रियों से भी दूर खड़े रहकर इसी प्रकार आचरण करने का निश्चय करके शपथ ली. बाद में श्रीजीमहाराज प्रसन्न होकर अपने ठहरने के स्थान पर पधारे.

।। इति वचनामृतम् ।।३५।। ।।१६८।।

वचनामृत ३६ : अखंड वृत्ति के चार उपाय

संवत् १८८० में भाद्रपद शुक्ल *पूर्णिमा को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'प्रश्नोत्तर-कार्यक्रम प्रारम्भ करिये.' मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'भगवान के स्वरूप में अखंड वृत्ति बनाये रखने का क्या उपाय है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'उसका उपाय तो चार प्रकार का है. उनमें पहला उपाय तो यह है कि चित्त का आसक्त होने का स्वभाव है, उसे जहाँ लगाया जाय वहाँ वह लग जाता है. जिस प्रकार चित्त पुत्रकलत्रादि में लगा रहता है वैसे ही परमेश्वर में भी उसे लगाना चाहिये. दूसरा उपाय है अतिशय शूरवीरता. जिसके हृदय में यह शूरवीरता हो, उसको यदि भगवान के सिवा कोई अन्य संकल्प हो जाता है, तो उसके स्वयं शूरवीर भक्त होने के कारण उसके हृदय में तीव्र विचार उत्पन्न हो जाता है, तो उस विचार

---

* रविवार, २० सितम्बर, १८२३.

द्वारा वह संकल्पमात्र को मिटाकर भगवान के स्वरूप में अखंड वृत्ति रखने लगता है. तीसरा उपाय भय है. जिसके हृदय में जन्म, मृत्यु तथा चौरासी लाख योनियों मे भटकने का भी भीषण भय बना रहता है, वह उस डर के कारण भगवान के स्वरूप में अखंड वृत्ति रखता है. चौथा उपाय वैराग्य है. जो पुरुष वैराग्यवान होता है, वह सांख्यशास्त्र के ज्ञान द्वारा अपनी आत्मा को देह से भिन्न समझता है और उस आत्मा के सिवा अन्य समस्त मायिक पदार्थों को असत्य समझकर उस आत्मा में परमात्मा को धारण करके उनका अखंड चिन्तन करता रहता है. इन चार उपायों के सिवा जिस पर भगवान की कृपा हो जाय, उसकी तो बात ही नहीं कहनी है. परन्तु, उसके सिवा यदि कितने ही अन्य अनेक उपाय किये जायँ, तो भी भगवान में अखंड वृत्ति नहीं रहती.

भगवान में अखंड़ वृत्ति रहे, यह तो बड़ा भारी काम है. जिसके अनेक जन्मों के सुकृतों (पुण्यों) का उदय हो चुका है, उसकी भगवान के स्वरूप में अखंड वृत्ति बनी रहती है. अन्य जनों को तो ऐसी अखंड वृत्ति रखना महा दुर्लभ है.

इस प्रकार भगवान के स्वरूप में अखंड वृत्ति रखने की बात करने के बाद श्रीजीमहाराज बोले कि इस संसार में जिसे माया कहते हैं, उस माया का स्वरूप हमने देख लिया है कि 'भगवान के सिवा अन्य स्थान पर जो स्नेह रहता है वही माया है.' इस जीव को अपने शरीर, शरीर के सगे-सम्बन्धी जनों तथा शरीर का भरण-पोषण करनेवाले के प्रति जो स्नेह है, वह पंचविषयों में जीव के अतिशय स्नेह से भी बढ़कर है. इसलिए देह, देह के सगे-सम्बन्धियों और देह का भरण-पोषण करनेवाले में से जिसका स्नेह टूट गया है, वह पुरुष भगवान की माया को पार कर चुका है. जिस पुरुष का भगवान के सिवा अन्य जनों में से स्नेह टूट जाता है उसको भगवान से स्नेह हो [१]जाता है. भगवान में स्नेह रहने पर उस पुरुष की भगवान में अखंड वृत्ति रहती है. जब भगवान में अखंड वृत्ति रहने लगी तब उसके लिये अन्य कोई भी काम करना बाकी नहीं रहता, वह तो कृतार्थ हो चुका है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥३६॥ ॥१६९॥

---

१. इसका अर्थ 'परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि' इस स्मृति से बताया गया है.

वचनामृत ३७ : स्वाभाविक प्रकृति

संवत् १८८० में भाद्रपद कृष्ण *प्रतिपदा को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'गीता में यह कहा गया है कि [1]ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार आचरण करता है तथा शास्त्रोक्त निग्रह का जोर नहीं चल पाता. इसलिए, वह स्वाभाविक प्रकृति कौन-से उपाय द्वारा टल सकती है ?'

समस्त मुनिमंडल ने इस प्रश्न पर विचार किया, परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान नहीं हुआ. बाद में श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका उत्तर इस प्रकार है कि इस स्वभाव से छुटकारा दिलाने के लिये जो सत्पुरुष उपदेश देते हों, उनके वचन में अतिशय विश्वास रखना चाहिये, उपदेशकर्ता पर श्रोताजनों की अत्यन्त प्रीति होनी चाहिये तथा उपदेश करनेवाला सत्पुरुष दुःखित करने के लिये चाहे कितने ही कटु वचन कहे, तो भी उनको हितकारी ही मानते रहना चाहिये. ऐसा करने से स्वाभाविक प्रकृति का भी नाश हो जाता है. परन्तु, इसके सिवा कोई अन्य उपाय नहीं है.

इसीलिए, जिसे अपनी प्रकृति को टालने की इच्छा हो, उसे परमेश्वर तथा सत्पुरुष इस स्वभाव को टालने के लिये चाहे कितना ही तिरस्कार करें और चाहे कितने ही कटु वचन कहें, तो भी किसी प्रकार का दुःख नहीं मानना चाहिये और वक्ता के गुणों को ग्रहण करना चाहिये. यदि ऐसा आचरण किया जाय, तो किसी भी रीति से न टलनेवाली प्रकृति भी टल जाया करती है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥३७॥ ॥१७०॥

---

* सोमवार, २१ सितम्बर, १८२३.

१. 'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि । प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥' इस गीता-वचन का यह अर्थ है.

वचनामृत ३८ : मांचा भक्त

संवत् १८८० में भादपद कृष्ण *षष्ठी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया लगवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि[१] 'संसारी जीव को तो कोई धन देनेवाला या लड़का देनेवाला मिलने पर उसके प्रति तुरन्त आकर्षण हो जाता है, किन्तु भगवान के भक्त को तो जन्त्र, मन्त्र, नाटक में से किसी के भी प्रति झुकाव नहीं होता. यदि हरिभक्त जन्त्र-मन्त्र में दिलचश्पी रखता है, तो उसे सत्संगी होने पर भी अर्धविमुख ही समझना चाहिये.

भगवान के सच्चे भक्तों की संख्या तो अधिक नहीं होती. भगवान के यथार्थ भक्त तो कारियाणी ग्राम के मांचा भक्त थे. वे सत्संगी होने के पहले वाममार्गी पंथ में थे, तो भी निष्काम व्रत का पालन करने में किसी भी प्रकार की चूक नहीं पड़ी थी. वे स्वयं बाल-ब्रह्मचारी रहे थे. एक कीमियागर उनके घर आकर उतरा था. उसने ताँबे में से चाँदी बनाकर दिखायी. बाद में उसने उन भक्त से कहा कि 'आप सदाव्रती हैं, इसीलिए आपको यह जड़ी-बूटी दिखाकर चाँदी बनाना सिखाता हूँ.' तब उन भक्त ने लाठी लेकर उस आदमी को गाँव के बाहर भगा दिया तथा उससे ऐसा कहा कि 'हमें तो भगवान के सिवा किसी भी अन्य पदार्थ की इच्छा नहीं है.' बाद में उन भक्त को जब सत्संग का अवसर प्राप्त हुआ तब वे भगवान के एकान्तिक भक्त बन गये.

जो भक्त होता है उसमें आत्मनिष्ठा, वैराग्य, स्वधर्म में दृढ़ता तथा श्रीकृष्ण भगवान में अत्यन्त भक्ति होती है. इस प्रकार एकान्तिक भक्त में ये चार लक्षण होते हैं. वह एकान्तिक भक्त जब देह-त्याग करता है तब उसका श्रीकृष्ण भगवान में प्रवेश होता है. जो एकान्तिक भक्त नहीं है,

---

* शनिवार, २६ सितम्बर, १८२३.

१. इस लोक में दो प्रकार के मनुष्य हैं, उनमें कितने ही भगवान के भक्त हैं तथा कितने ही अभक्त हैं, उनमें.

उसका तो ब्रह्मादि अथवा संकर्षणादि में प्रवेश होता है, परन्तु एकान्तिक भक्त हुए बिना श्रीकृष्ण वासुदेव में प्रवेश नहीं होता.

इस प्रवेश के सम्बन्ध में तो इस प्रकार समझना चाहिये कि अतिशय लोभी का धन में प्रवेश होता है, अतिकामी पुरुष का अपनी चहेती स्त्री में प्रवेश होता है तथा अधिक धनवान, किन्तु निःसन्तान व्यक्ति का पुत्रजन्म होने पर पुत्र में प्रवेश होता है. इस प्रकार जीव का जिसके साथ लगाव रहता है, उसका उसमें ही प्रवेश होता है, यह बात उक्त प्रकार से समझ लेनी चाहिये. फिर भी, जैसे जल में जल और अग्नि में अग्नि मिल जाती है, वैसा पूर्वोक्त जीवों का प्रवेश नहीं होता. वस्तुतः जिसका जिसमें प्रवेश होता है, उसको अपने इष्टदेव के सिवा अन्य किसी भी पदार्थ में स्नेह उत्पन्न नहीं होता. उसको तो एकमात्र उसीकी रटना लगी रहती है. यदि वह उसके बिना जीवित रहता है तो भी उसे घोर दुःखों के साथ अपना जीवन बिताना पड़ता है, परन्तु उसे सुख नहीं मिलता.'

॥ इति वचनामृतम् ॥३८॥ ॥१७१॥

वचनामृत ३९ : पदार्थों का संकल्प नहीं

संवत् १८८० में भाद्रपद कृष्ण *दशमी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में घोड़ी पर सवार होकर श्रीलक्ष्मीवाड़ी में पधारे थे. वहाँ वे चबूतरे पर पलंग बिछवाकर उस पर विराजमान हुए. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'देश, काल, क्रिया और संगादि से भी यदि अपने में ऐसा गुण आ जाये, जो जाये ही नहीं, ऐसा जिसमें स्वाभाविक गुण हो, वह बतायें.' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'हम में जो ऐसे स्वाभाविक गुण रहे हैं, उन्हें हम बताते हैं.

एक तो हमारी यह धारणा बनी रहती है कि पाँच प्रकार के विषयों से सम्बन्धित जो-जो पदार्थ हैं, उनका देह के साथ चाहे कितना ही योग हो, तो भी उनका हमारे मन में संकल्प नहीं होता तथा वे स्वप्न में भी दिखायी

---

* मंगलवार, २९ सितम्बर, १८२३.

नहीं पड़ते. दूसरी बात यह है कि बाह्य रूप से हम चाहे कितनी ही प्रवृत्तियों में क्यों न रहें, परन्तु, जब अन्तर्दृष्टि द्वारा हम अपनी आत्मा की ओर देखते हैं तब कछुवे के अंगों की तरह समस्त् वृत्तियाँ संकुचित होकर आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेती हैं, जिससे परम सुख का रूप बना रहता है. तीसरी बात यह है कि भगवान का चैतन्यरूप तथा तेजोमय जो अक्षरधाम है, उसमें सदा साकारमूर्ति श्रीकृष्ण वासुदेव विराजमान रहते हैं और साकाररूप से ही सबके कर्ता हैं, परन्तु निराकार से कुछ नहीं होता. इस प्रकार भगवान के साकार स्वरूप की दृढ़ प्रतीति रहती है. हमने [१]वेदान्त के कितने ही ग्रन्थ बाँचे और सुने हैं, तो भी यह प्रतीति नहीं मिटती. चौथी बात यह है कि जिस किसी स्त्री तथा पुरुष के सम्बन्ध में हमें यह ज्ञात हो जाय कि 'यह तो ऊपर से दम्भ करके भगवान की भक्ति करता है, परन्तु भगवान का सच्चा भक्त नहीं है,' तो उसे देखकर हमारे मन में प्रसन्नता नहीं होती तथा उसके साथ सुरुचि भी नहीं होती. भगवान का जो सच्चा भक्त होता है, उसे देखकर तो मन प्रसन्न होता है और उसीके साथ आनन्द भी प्राप्त होता है. हममें ये चारों ही गुण स्वाभाविक रूप से रहे हैं, जिन्हें हमने बता दिया है.' अब आप सब अपने-अपने गुण बतायें. बड़े-बड़े परमहंसों तथा महान हरिभक्तों में जैसे गुण विद्यमान थे उनकी जानकारी उन्होंने दी.

बाद में श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो बड़ा साधु हो उसमें निष्कामरूप धर्म अवश्य रहना चाहिये. दूसरी बातों में यदि कोई कच्चापन रह जाय तो वह निभ सकता है, किन्तु निष्काम व्रत की तो पूर्णतः दृढ़ता रहनी चाहिये, क्योंकि वह बड़ा है. इसलिए, उसकी स्थिति दृढ़ रहने पर सब अनुयायियों की स्थिति भी दृढ़ बनी रह सकती है.'

इस प्रकार वार्ता करने के पश्चात् श्रीजीमहाराज पुनः दादाखाचर के राजभवन में पधारे. वहाँ संध्या-आरती, नारायणधुन और स्तुति के बाद समस्त साधुओं तथा हरिभक्तों की सभा हुई. श्रीजीमहाराज ने बड़े-बड़े परमहंसों से पूछा कि 'हमने श्रीमद्भागवत में पंचम स्कन्ध तथा दशम स्कन्ध का अतिशय प्रतिपादन किया है. इसलिए, आपको इन दोनों ग्रन्थों

---

१. शुष्क अद्वैत वेदान्त के.

का जो रहस्य जिस प्रकार आपकी समझ में आया हो वह बतावें.' तब सभी बड़े परमहंसों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार जैसा ज्ञात हुआ वैसा बता दिया. श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब हम आपको इन दोनों ग्रन्थों का रहस्य बताते हैं. सुनिये, चाहे कैसा ही शास्त्री हो, पौराणिक हो तथा अतिशय बुद्धिवाला हो, वह भी सुनकर उसको निश्चित रूप से सत्य मान लेगा और सहमति प्रकट करेगा, परन्तु उसको किसी प्रकार का संशय नहीं रहेगा कि 'यह वार्ता ऐसी नहीं होगी.' ऐसा बताने का नाम ही रहस्य कहलाता है.

इन दोनों ग्रन्थों में दशम स्कन्ध का तो यह रहस्य है कि उपनिषद्, वेदान्त, श्रुतियों और स्मृतियों में जिनको परोक्ष रूप से ब्रह्म, ज्योतिःस्वरूप, ज्ञानरूप, तत्त्व, सूक्ष्म, निरंजन, क्षेत्रज्ञ, सर्वकारण, परब्रह्म, पुरुषोत्तम, वासुदेव, विष्णु, नारायण और निर्गुण नामों से बताया गया है, वे ही ये प्रत्यक्ष वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण वासुदेव हैं. जहाँ-जहाँ ऐसा स्तुति-भाग है, वहाँ-वहाँ ऐसे-ऐसे स्तुति-शब्दों को लेकर प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण भगवान का ही वर्णन किया गया है, परन्तु श्रीकृष्ण भगवान से अधिक और कुछ भी नहीं कहा गया. ऐसा भी कहा गया है कि समस्त जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कर्ता भी श्रीकृष्ण भगवान ही हैं.

पंचम स्कन्ध में तो उन श्रीकृष्ण भगवान का माहात्म्य कहा गया है. ऐसा भी कहा गया है कि वे श्रीकृष्ण भगवान इस जगत की स्थिति के लिये तथा अपने भक्तजनों को सुख देने के लिये अनेक प्रकार की मूर्तियों को धारण करके खंड-खंड में रहे हैं. जो लोग भगवान श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित मर्यादा का पालन करते हैं, वे अतिशय महत्ता को प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु जो मनुष्य मर्यादा का पालन नहीं करते वे बड़े होने पर भी अपनी स्थिति से गिर जाया करते हैं. यदि साधारण जीव उस मर्यादा का लोप कर देता है, तो उसकी अधोगति होती है, ऐसा कहा गया है. उन्हीं श्रीकृष्ण वासुदेव ने वसुदेव तथा देवकी को प्रत्यक्ष चतुर्भुज रूप में अद्भुत बालक होने पर भी दर्शन दिया. वे अनादि वासुदेवरूप हैं तथा वे श्रीकृष्ण भगवान धर्म, अर्थ और काम में प्रवृत्त रहे हैं. भगवान ने धर्म, अर्थ तथा काम के लिये जो-जो चरित्र प्रदर्शित किये, उनका गान अथवा श्रवण करनेवाले सभी जीव समस्त पापों से मुक्त होकर परमपद को प्राप्त कर लेते हैं. उन वासुदेव भगवान के जन्म, कर्म और मूर्ति, सब दिव्यस्वरूप हैं. वे वासुदेव

श्रीकृष्ण ही सर्वोपरि हैं. इस प्रकार, इन दोनों ग्रन्थों का यही रहस्य है.

जो शुकजी जैसी ब्रह्मस्थिति को प्राप्त हुए हों, उन्हें भी उन श्रीकृष्ण परब्रह्म की उपासना तथा भक्ति करनी चाहिये और दशम स्कन्ध में वर्णित श्रीकृष्ण भगवान के चरित्रों का गान और श्रवण शुकजी जैसे महर्षि को भी करना चाहिये. उन शुकजी ने ही यह कहा है :–

'परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया ।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥'

ऐसे जो वासुदेव भगवान हैं, उनके आकार में दृढ़ विश्वास रखना चाहिये. यदि भगवान के आकार में दृढ़ विश्वास हो जायगा तो उस जीव का कभी कुछ पाप करने पर भी उद्धार हो जायगा, क्योंकि पाप का प्रायश्चित्त तो बताया गया है, किन्तु भगवान को निराकार समझ ने के रूप में किया गया पाप तो पंच महापापों की अपेक्षा भी बहुत बड़ा पाप है. इस पाप का कोई भी प्रायश्चित्त नहीं है. यदि जीव ने भगवान को साकार मानकर निष्ठा रखी हो, तो कभी उससे कुछ पाप होने पर भी वह नगण्य रहता है. वह पाप तो भगवान के प्रताप से बिल्कुल जल जायगा और सम्बन्धित पुरुष का जीव भगवान को प्राप्त होगा. इसलिए, हम आप सबसे ऐसा कहते हैं कि भगवान के आकार में दृढ़ विश्वास रखकर दृढ़ता के साथ उनकी उपासना करनी चाहिये. आप सब इस वार्ता के सम्बन्ध में दृढ़ता बनाये रखना.' इस प्रकार श्रीजीमहाराज सबसे शिक्षात्मक वचन कहकर भोजन करने के लिये पधारे.

॥ इति वचनामृतम् ॥३९॥ ॥१७२॥

वचनामृत ४० : दंडवत् प्रणाम

संवत् १८८० में आश्विन कृष्ण *तृतीया को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने ठहरने के स्थान में विराजमान थे. वे स्नान करने के पश्चात् श्वेत वस्त्र धारण करके अपने आसनपर विराजमान हुए. उन्होंने अपने देव-अर्चनादि नित्यकर्म को सम्पन्न करने के बाद उत्तराभिमुख होकर श्रीकृष्ण भगवान को साष्टांग दंडवत् प्रणाम किया.

---

* गुरुवार, २२ अक्तूबर, १८२३.

वे प्रतिदिन जितने दंडवत् प्रणाम किया करते थे उसकी अपेक्षा उस दिन उन्होंने एक दंडवत् प्रणाम अधिक किया. यह देखकर शुकमुनि ने पूछा कि 'हे महाराज ! आज आपने एक प्रणाम अधिक क्यों किया ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'प्रतिदिन तो हम श्रीकृष्ण भगवान को प्रणाम करके यह निवेदन करते थे कि 'हे महाराज ! इस देहादि में यदि हमारा अहम्-ममत्व-भाव रहा हो, तो आप उसका मूलोच्छेद कर देना.' किन्तु, आज तो हमें ऐसा विचार हुआ कि यदि 'भगवान के भक्त के विरुद्ध मन, वचन तथा देह द्वारा जाने-अनजाने कोई द्वेष भावना उत्पन्न हो जाय और उसके फलस्वरूप इस जीव को जैसा दुःख होता है, वैसा दुःख किसी अन्य पाप से नहीं होता.' इसलिए, जाने-अनजाने मन, वचन एवं देह द्वारा भगवान के भक्त के विरुद्ध यदि कोई द्वेष-भाव हो गया हो, तो उसके दोष का निवारण करने के लिये ही हमने एक प्रणाम अधिक किया.

वास्तव में हम तो ऐसा मानते हैं कि 'भगवान के भक्त से द्वेष करने से इस जीव का जैसा अपकार होता है और उसे जितना कष्ट सहन करना पड़ता है, वैसा सन्ताप किसी अन्य पाप द्वारा नहीं होता. इसी प्रकार, यदि मन, वचन और शरीर द्वारा भगवान के भक्त की कोई सेवा बन जाय, तो उसके फलस्वरूप इस जीव की जैसी भलाई होती है और उसे जितना सुख मिलता है, वैसे आनन्द की अनुभूति किसी अन्य साधन द्वारा नहीं होती.' उन भगवान के भक्त से द्वेष वस्तुतः लोभ, मान, ईर्ष्या और क्रोध के कारण हुआ करता है. जिसमें ये चार दोष नहीं रहते, उसके द्वारा ही भगवान के भक्त का सम्मान होता है. इसलिए, जिसको इस शरीर द्वारा परमसुखी होना हो और देहत्याग के बाद भी परमसुख प्राप्त करना हो, उसे भगवान के भक्त से मन, वचन और देह द्वारा द्वेष नहीं करना चाहिये. यदि भगवान के भक्त से कुछ द्वेष हो जाय, तो उसके लिये वचन द्वारा प्रार्थना करनी चाहिये तथा मन और देह द्वारा उसे दंडवत् प्रणाम करना चाहिये तथा फिर से ऐसी भावना न होने देने के लिये नियमानुकूल रहना चाहिये. परन्तु, एक बार द्वेष करने पर दंडवत् प्रणाम करने का आचरण नहीं करना चाहिये. इस वार्ता को चिरस्मरणीय रखना चाहिये. इसलिए, आज से समस्त सन्तों तथा हरिभक्तों को ऐसा नियम रखना चाहिये कि 'भगवान की पूजा करके अपने नित्यनियमानुसार दंडवत् प्रणाम आदि करना चाहिये. इसके पश्चात् दिनभर

में जाने-अनजाने मन, वचन और देह द्वारा भगवान के भक्त के प्रति जो दुर्भाव हुआ हो, उसका निवारण करने के लिये प्रतिदिन एवं दंडवत् प्रणाम करना चाहिये.' हमारी ऐसी आज्ञा है, सबको उसका पालन करना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥४०॥ ॥१७३॥

वचनामृत ४१ : भगवान एवं भगवद्भक्त की सेवा

संवत् १८८० में कार्तिक कृष्ण *एकादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंगपर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कंठ में पीले पुष्पों के हार पहने थे और पाग में पीले पुष्पों के तुर्रे खोंसे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज अपने भक्तजनों को उपदेश देते हुए बोले कि 'जो पुरुष परमेश्वर का भजन करने का इच्छुक हो, उसको यदि भगवान अथवा भगवान के भक्त की सेवा चाकरी करने का अवसर मिले, तो उसके लिये उसे अपना बड़ा भाग्य मानकर सेवा करनी चाहिये. यह सेवा भगवान की प्रसन्नता तथा आत्मकल्याण के लिये ही भक्तिपूर्वक करनी चाहिये, किन्तु किसी के द्वारा अपनी प्रशंसा की जाने के लिये नहीं करनी चाहिये. जैसे तो जीव का ऐसा स्वभाव ही होता है कि जिसमें अपने को मान मिले वही करना अच्छा लगता है. परन्तु, बिना मान के भगवान की अकेली भक्ति करना भी अच्छा नहीं लगता. जैसे श्वान सूखी हड्डी को एकान्त में ले जाता है और उसे काटकर खाता है, उससे उसका मुँह भी छिल जाता है, फिर भी वह खून से सनी हुई उस हड्डी को चाटकर प्रसन्न होता है, परन्तु मूर्ख यह नहीं जानता कि 'यह तो मेरे ही मुँह का खून है, जिसमें मैं इतना स्वाद समझता हूँ.' वैसे ही भगवान का भक्त भी मानरूपी हड्डी को नहीं छोड़ पाता. वास्तव में वह जिन-जिन साधनों का उपयोग करता है उन्हें वह मान के वश में होकर ही उपयोग में लाता है, परन्तु केवल भगवान की भक्ति मानकर भगवान की प्रसन्नता के लिये ही ऐसा नहीं करता. यदि वह भगवान की भक्ति करता भी है तो उसमें भी जब उसे मान का स्वाद

---

* शनिवार, २८ नवम्बर, १८२३.

आता है तभी करता है, परन्तु केवल भगवान की प्रसन्नता के लिये ही यह भक्ति नहीं करता. वास्तव में निर्मान तथा एकमात्र भगवान की प्रसन्नता के लिये भगवान की भक्ति तो रतनजी और मीयांजी जैसे कोई विरले पुरुष ही करते हैं. लेकिन, दूसरे सब लोग तो मानरूपी स्वाद को नहीं छोड़ पाते. इसपर मुक्तानन्द स्वामी ने तुलसीदास की यह साखी कही :–

'कनक तज्यो कामिनी तज्यो, तज्यो धातु को संग ।
तुलसी लघु भोजन करी, जीवे मान के रंग ॥'

यह साखी सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'जीव को मान में जैसा स्वाद आता है, वैसा स्वाद उसे किसी अन्य पदार्थ में नहीं मिलता. इसलिए, जो जीव मान का परित्याग करके भगवान का भजन करता है, उसे तो समस्त हरिभक्तों में अतिशय महान हरिभक्त समझना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥४१॥ ॥१७४॥

वचनामृत ४२ : अक्षरधाम

संवत् १८८० में मार्गशीर्ष कृष्ण *द्वादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

भगवदानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! भगवान के एक-एक रोम में जो अनन्तकोटि ब्रह्मांड रहते हैं, वे किस प्रकार रहते हैं तथा ब्रह्मांड के कौन-कौन से स्थान में भगवान के अवतार होते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'पुरुषोत्तम भगवान का जो अक्षरधाम है, उसके दो भेद हैं. इनमें एक सगुण भाव तथा दूसरा निर्गुण भाव है. पुरुषोत्तम-नारायण को न तो सगुण ही कहा जा सकता है और न निर्गुण ही. वास्तव में सगुण-निर्गुण भेद तो अक्षर में है. वह अक्षर निर्गुण भाव द्वारा अणु से भी अतिसूक्ष्म स्वरूपवाला है तथा सगुण स्वरूप से तो वह कहे जानेवाले सभी बड़े पदार्थों से भी अतिशय महान है. उस अक्षर के एक-एक रोम में अणु की तरह अनन्त कोटि ब्रह्मांड हैं. वे ब्रह्मांड अक्षर में छोटे नहीं हो

---

* मंगलवार, २९ दिसम्बर, १८२३.

जाते. उनके तो अष्टावरण सह वर्तमान होने पर भी अक्षर की अतिशय महत्ता बनी रहती है. उसके आगे ब्रह्मांड एकदम छोटे दिखायी पड़ते हैं. जैसे गिरनार पर्वत मेरु के आगे अत्यन्त लघु तथा लोकालोक पर्वत के आगे मेरु पर्वत बिल्कुल छोटा दिखायी पड़ता है, वैसे ही ब्रह्मांड तो इतने के इतने ही बड़े रहते हैं, फिर भी अक्षर की अतिशय महत्ता रहती है. वे ब्रह्मांड तो उसके आगे बिल्कुल छोटे दिखायी पड़ते हैं. इसलिए, उन्हें अणु-सदृश कहा जाता है. अक्षरब्रह्म तो सूर्य के मंडल के समान है. वह सूर्य जब आकाश के मध्य में आता है तब सूर्य के योग से दस दिशाओं की कल्पना की जाती है. वैसे ही अक्षरधाम भी है और उस अक्षर के ऊपर-नीचे चारों ओर सभी दिशाओं में अनन्त कोटि ब्रह्मांड हैं.

भगवान पुरुषोत्तम तो अक्षरधाम में सदैव विराजमान रहते हैं. वे सत्यसंकल्प हैं तथा अक्षरधाम में रहते हुए ही जिस ब्रह्मांड में जिन-जिन रूपों से प्रकट होने की आवश्यकता रहती है वे उन-उन रूपों को प्रकट करते हैं. जब श्रीकृष्ण भगवान ने रासक्रीड़ा की तब यद्यपि वे स्वयं एक ही थे, फिर भी उस समय जितनी गोपांगनाएँ उपस्थित थीं उनके सामने उनके उतने ही रूप हो गये थे. उसी प्रकार, पुरुषोत्तम भगवान को ब्रह्मांड-ब्रह्मांड में जहाँ-जहाँ जैसा रूप प्रकट करना होता है वहाँ-वहाँ वे वैसे ही रूप को प्रकट करते हैं. स्वयं तो वे सदैव अक्षरधाम में रहते हैं और जहाँ उन पुरुषोत्तम की मूर्ति है वहीं अक्षरधाम का मध्यभाग रहता है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥४२॥ ॥१७५॥

वचनामृत ४३ : ब्रह्म रूपिणी प्रीति

संवत् १८८० में पौष शुक्ल *चतुर्थी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अयोध्यावासी के घर पर गद्दी-तकिया पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी और प्रेमानन्द स्वामी सरोद लेकर कीर्तन कर रहे थे.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ करते हैं.' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'भगवान का जो भक्त गुणातीत हो

* मंगलवार, ५ जनवरी, १८२४.

और केवल आत्मसत्तारूप में ही रहता हो, उसमें वैराग्यरूप सत्त्वगुण, विषयोन्मुख प्रीतिरूप रजोगुण तथा मूढ़तारूप तमोगुण के भाव तो नहीं रहते. वास्तव में वह तो केवल अपनी स्थिति में स्थित रहते हुए शून्य भाव से सुषुप्ति जैसी अवस्था में रहता है. इस प्रकार आत्मसत्तारूप में रहनेवाले निर्गुण भक्त को भगवान में प्रीति होती है या [1]नहीं ?'

मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'जो आत्मसत्तारूप में रहता है, उसको भगवान में प्रीति तो [2]होती है.' तब श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'आत्मसत्तारूप में रहनेवाले भक्त को भगवान में जो प्रीति रहती है वह आत्मा की [3]सजातीय है अथवा [4]विजातीय है ?'

मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'वह प्रीति तो आत्मा की [5]सजातीय है. श्रीजीमहाराज बोले कि मध्वाचार्य, निम्बार्क तथा वल्लभाचार्य ने यह बताया है कि आत्मरूप रहकर भगवान में जो प्रीति की जाती है, वह प्रीति [6]ब्रह्मस्वरूप होती है. इसलिए, जो भक्त गुणातीत होकर भगवान में प्रीति करता है, वही ब्रह्मस्वरूप है, बड़े-बड़े आचार्यों का यह सिद्धान्त है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥४३॥ ॥१७६॥

वचनामृत ४४ : दैवी-आसुरी जीव

संवत् १८८० में पौष शुक्ल *अष्टमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके

---

* शनिवार, ९ जनवरी, १८२४.

१. जिसका राग पर्याय है, ऐसी प्रीति रजोगुण का कार्य होने से गुणातीत भक्त में सम्भव नहीं होती, ऐसा समझकर ही यह संशय किया है.

२. परन्तु, उस निर्गुण भक्त की जो प्रीति है, वह तो भगवान सम्बन्धी माहात्म्यज्ञानमूलक होने के कारण निर्गुण है.

३. आत्मा के साथ एकीभूत हुई, अर्थात् पृथक् नहीं रहनेवाली.

४. आत्मा से पृथक् भाव से रहनेवाली.

५. निर्गुण भक्त की प्रीति भगवान की महिमामूलक है. जो महिमा है, उसका आधार आत्मा है, इसलिए वह प्रीति आत्मा के साथ एकीभूत हो चुकी है, वह पृथक् नहीं है.

६. ब्रह्मरूप प्रीति अपनी आत्मा से अपृथक् सिद्ध है, इसलिए उसे ब्रह्मस्वरूप कहा गया है.

मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने मुक्तानन्द स्वामी से पूछा कि 'जब कोई हरिभक्त में कोई अवगुण देखता है, तब उसे उसमें पहले जितने दोष दिखायी पड़ते थे, वे उतने ही दिखायी पड़ते हैं या उनसे अधिक दीख पड़ते हैं ?'

मुक्तानन्द स्वामी ने बताया कि 'अनुमान से तो यही प्रतीत होता है कि पहले जितने दोष दीख पड़ते थे उतने ही दोष बाद में भी दिखायी पड़ते हैं.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'उस बात पर आपकी दृष्टि नहीं पहुँची कि यदि उतने के उतने ही दोष दीखते हों, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि अवगुण आ गया ? वास्तव में अशुभ देश, काल, क्रिया तथा संग आदि के योग द्वारा बुद्धि विकृत हो जाती है, इस कारण अवगुण अधिक दिखायी पड़ते हैं. तब इस प्रकार समझना चाहिये कि 'बुद्धि में अशुभ देशकालादि का दूषण लगा है.'

हम तो ऐसा मानते हैं कि 'जिस पुरुष को पहले सत्पुरुष का संग रहा होगा अथवा भगवान का दर्शन हुआ होगा, उसको तो अन्य हरिभक्त का नहीं, बल्कि अपना ही अवगुण प्रतीत होता है.' जिसके ऐसे लक्षण हों उसे दैवी जीव समझना चाहिये. किन्तु, आसुरी जीव को तो अपने में एक भी अवगुण नहीं दीख पड़ता. उसे तो केवल अन्य हरिभक्तों में ही अवगुण दिखायी पड़ते हैं. जिसकी ऐसी बुद्धि हो, उसको आसुरी जीव समझना चाहिये. ऐसा आसुरी जीव तो, भले ही वह सत्संग में रहा हो या सन्तों के मंडल में, कालनेमि एवं रावण तथा राहु के सदृश रहता है, किन्तु वह सन्त के संग से लाभान्वित नहीं हो सकता. इसलिए, परिपक्व हरिभक्त को तो अन्य हरिभक्तों में नहीं, बल्कि अपने में ही अवगुण दिखायी पड़ते हैं.'

॥ इति वचनामृतम् ॥४४॥ ॥१७७॥

वचनामृत ४५ : अशुभ कर्म का नाश

संवत् १८८० में पौष कृष्ण *प्रतिपदा को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके

* रविवार, १७ जनवरी, १८२४.

मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'समस्त मुनिमंडल, ब्रह्मचारी, गृहस्थ सत्संगी, पार्षद तथा अयोध्यावासी, आप सभी मेरे आत्मीयजन [१]कहलाते हैं. इसलिए, यदि मैं सावधानी रखकर आपके आचरण को नियन्त्रित न करूँ और आप भी अपने आचरण में कुछ शिथिलता रखें, तो वह हमसे देखा नहीं जायगा. इसलिए, जो-जो पुरुष मेरे आत्मीयजन कहलाते हैं, उनमें मैं एक तिलमात्र भी कसर नहीं रहने देना चाहता. आप भी सावधान रहना. यदि आपने तनिक भी शिथिलता रखी, तो सत्संग में आपके पैर स्थिर नहीं रहेंगे. मैं तो भगवान के आप जैसे भक्तों के हृदय में किसी भी प्रकार की वासना और किसी भी तरह का अनुचित स्वभाव नहीं रहने देना चाहता. माया के तीन गुणों, दस इन्द्रियों, दस प्राणों, चार अन्तःकरणों, पंचभूतों, पंचविषयों तथा चौदह इन्द्रियों के देवताओं में से किसी का भी संग नहीं रहने देना चाहिये. हमें तो सबको इस प्रकार तैयार करना है, ताकि सब लोग मायिक झंझट से रहित सत्तामात्र आत्मा के रूप होकर भगवान की भक्ति करने लगें. ऐसी स्थिति सबकी करनी है. परन्तु, किसी भी प्रकार से माया का गुण नहीं रहने देना है.

यदि इस जन्म में सब कसर न टली, तो बदरिकाश्रम में जाकर और तप करके समग्र वासना को जलाकर भस्म करना है. इसी प्रकार श्वेतद्वीप में जाकर निरन्नमुक्तों के साथ तपस्या करके समूची वासना को जलाकर भस्म कर डालना है. परन्तु, भगवान के सिवा किसी भी अन्य पदार्थों में प्रीति नहीं रहने देना है. इसीलिए, समस्त हरिभक्त तथा मुनिमंडल 'सावधान रहना.' इतनी वार्ता कहने के पश्चात् श्रीजीमहाराज अपने ठहर ने के स्थान में पधारे.

श्रीजीमहाराज उसी दिन सायंकाल पुनः सभा का आयोजन करके विराजमान हुए. जब आरती हो चुकी तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जीव

---

१. और मैं आप सबका गुरु हूँ, गुरु की क्रिया का उद्देश्य शिष्यों को शिक्षा देना है. शिष्यों की क्रिया का उद्देश्य गुरु की आज्ञा का पालन करना है. इस प्रकार धर्मशास्त्र में गुरु-शिष्य के कर्तव्यों की व्यवस्था की गयी है.

[१]सात्त्विक कर्म करके देवलोक में जाते हैं, उन्हें राजस कर्म द्वारा मध्यलोक की प्राप्ति होती है, तथा तामस कर्म करके वे अधोगति को प्राप्त करते हैं. इस सम्बन्ध में यदि कोई शंका करे कि राजस कर्म करने से जब मनुष्यलोक की प्राप्ति होती है तब तो समस्त मनुष्यों को सुख-दुःख एकसमान होना [२]चाहिये,' तो इसका यह उत्तर है कि रजोगुण के देशकालादि के योग द्वारा अनेक प्रकार के भेद होते हैं. इस कारण राजस कर्म का एकसमान आधार नहीं रहता, ठीक उसी तरह, जिस प्रकार देश, काल, संग और क्रिया का योग होने पर वैसा ही कर्म होता है. उनमें भी [३]यदि कुछ ऐसा कर्म हो जाय, जिससे भगवान के भक्त, सन्त तथा भगवान के अवतार अप्रसन्न हो जायँ तो इसी देह से मृत्युलोक में ही यमपुरी जैसे दुःख भोगने पड़ते हैं. यदि जीव के ऐसे किसी कर्म से भगवान तथा भगवान के भक्त प्रसन्न हो जायँ, तो वह इसी देह से परमपद को प्राप्त होने जैसा सुख भोगता है. यदि उसने भगवान तथा भगवान के सन्त को अप्रसन्न कर दिया है, तो स्वर्ग में जाने योग्य कर्म करने पर भी उसका नाश हो जाता है और उसे नरक में गिरना पड़ता है. यदि उसने अपने किसी कर्म द्वारा भगवान तथा भगवान के सन्त को प्रसन्न कर दिया है, तो उसका नरक में जाने योग्य प्रारब्ध होने पर भी उसके अशुभ कर्म का नाश हो जाता है और वह परमपद को प्राप्त कर लेता है.

इसलिए, ज्ञानी पुरुष को तो वैसा ही आचरण करना चाहिये, जिससे भगवान और भगवान के भक्त प्रसन्न हो जायँ. उसे तो अपने सम्बन्धी जनों को भी यही उपदेश देना चाहिये कि 'अपने को वही आचरण करना चाहिये, जिससे भगवान तथा भगवान के भक्त अपने पर प्रसन्न हो जायँ और कृपा करें.' जब अग्नि ने भगवान तथा भगवान के सन्त को प्रसन्न किया होगा, तभी अग्नि को ऐसा प्रकाश प्राप्त हुआ है. इसी प्रकार,

---

१. इस लोक में रहनेवाले लोग गुणात्मक हैं और उनके कर्म भी गुणात्मक हैं, उनमें.

२. वह क्यों नहीं ?

३. इसलिए सुख-दुःख में भेद हैं. इस देह से भोग्य जो कर्म है, उसे प्रारब्ध कहा गया है. जो कर्म जन्मान्तर से भोग्य है उसे क्रियमाण कहा गया है. उस क्रियमाण कर्म में जो विशेषता है उसे कहते हैं.

प्रकाशवान सूर्यचन्द्रादि ने भी शुभ कर्म द्वारा भगवान तथा भगवान के सन्त को प्रसन्न किया होगा, तभी उन्हें ऐसा प्रकाश प्राप्त हुआ है. देवलोक तथा मृत्युलोक में निवास करनेवाले जो सुखी जीव हैं, उन सबने निश्चय ही भगवान तथा भगवान के सन्त को प्रसन्न किया होगा, तभी तो वे उस प्रताप द्वारा सुखी बने हुए हैं. जो पुरुष अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहता हो, उसको तो सद्ग्रन्थों में बताये गये स्वधर्म में रत रहकर भगवान तथा भगवान के सन्त की प्रसन्नता के लिये यही उपाय करना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥४५॥ ॥१७८॥

वचनामृत ४६ : धर्म की स्थापना के लिये अवतार

संवत् १८८० में पौष कृष्ण *एकादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे और पीली छींटकी रजाई ओढी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. सन्त झाँझ-मृदंग लेकर कीर्तन कर रहे थे.

जब कीर्तन हो चुका तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस संसार में जो [१]सत्पुरुष है उन्हें तो किसी जीव के लौकिक पदार्थ की हानि अथवा वृद्धि देखकर उसकी तरफ का दुःख या हर्ष नहीं होता. किन्तु, जब किसी का मन भगवान के मार्ग से च्युत होता है, तब उन्हें (सत्पुरुष को) वस्तुतः दुःख होता है, क्योंकि मनुष्यजीवन अल्प है और वह जीव मोक्ष से वंचित हो जायगा. इसीलिए, उसकी बड़ी हानि होगी.

पृथ्वी पर भगवान के जो अवतार होते हैं, वे धर्म की स्थापना के लिये होते हैं. वे केवल वर्णाश्रमधर्म की स्थापना के लिये नहीं होते, क्योंकि प्रवृत्ति-धर्म के आचार्य सप्तर्षि आदि भी वर्णाश्रमधर्म की स्थापना करते हैं. इसीलिए, केवल इस प्रयोजन से ही भगवान के अवतार नहीं होते. भगवान

---

* मंगलवार, २६ जनवरी, १८२४.

१. वे तो अपने एकान्तिक धर्म का ही प्रयत्लपूर्वक रक्षण करते हैं तथा दैहिक मरण को मरण नहीं मानते, परन्तु अपने एकान्तिक धर्म में से भ्रष्ट होने को ही मरण मानते हैं और पुनः.

के अवतार तो अपने एकान्तिक भक्त के धर्म का प्रसारण करने के लिये होते हैं. जो एकान्तिक भक्त हैं, उनका दैहिक मरण वस्तुतः मरण नहीं होता. उनका वास्तविक मरण तो एकान्तिक धर्म में से च्युत होने से होता है. जब किसी भक्त के हृदय में भगवान अथवा भगवान के सन्त के सम्बन्ध में दुर्भाव उत्पन्न हो जाता है, तब यह मान लेना चाहिये कि वह भक्त एकान्तिक धर्म से च्युत हो गया. यह भी समझ लेना चाहिये कि यदि वह क्रोध द्वारा इस मार्ग से च्युत हुआ हो तो उसको सर्प की देह मिलेगी. यदि काम द्वारा उसका पतन हुआ है, तो उसे यक्ष राक्षस की योनि में जन्म मिलेगा. एकान्तिक धर्म में से च्युत होकर जो पुरुष ऐसे शरीरों को प्राप्त हुए हैं, वे यदि धर्मात्मा अथवा तपस्वी हैं, तो उनकी धर्म तथा तप द्वारा देवलोक में गति होती है. किन्तु, जिस पुरुष ने भगवान तथा भगवान के सन्त के सम्बन्ध में दुर्भाव रखा है, वह तो भगवान के धाम को कभी भी प्राप्त नहीं होता. पंच महापापों से मुक्त होने पर भी जिसने भगवान और भगवान के सन्त के प्रति दुर्भाव नहीं रखा हो, तो उसके पाप नष्ट हो जाते हैं तथा भगवान के धाम में उसका निवास होता है. यदि भगवान तथा भगवान के भक्त के प्रति अवगुणात्मक दुर्भाव रखा, तो यह पंचमहापापों से भी बड़ा पाप होता है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥४६॥ ॥१७९॥

वचनामृत ४७ : मोक्ष की आकांक्षा

संवत् १८८० में माघ कृष्ण *दशमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे और पीली छींटकी रजाई ओढ़ी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस सन्त के पास चार साधु रहते हों, उसे यदि मन लगा कर उन्हें मानवतापूर्वक रखना आता हो, उसके पास साधु प्रसन्नतापूर्वक रहते हैं. किन्तु, जिसे साधुओं को रखना नहीं आता हो, उसके पास साधु नहीं रहते. जिस साधु को मोक्ष की आकांक्षा हो उसको तो चाहे

---

* बुधवार, २४ फरवरी, १८२४.

कितना ही दुःखित किया जाय और विषय का खंडन किया जाय, तो भी वह अत्यन्त प्रसन्न रहेगा. इन मुक्तानन्द स्वामी को क्षयरोग हुआ है. यह रोग इन्हें दही, दूध, मिठाई और घी-तेल आदि पदार्थों में से कोई भी पदार्थ नहीं खाने देता. जो ज्ञानी पुरुष है, उसे तो ऐसा लगता है कि 'इस रोग ने तो उसे अच्छे स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ खाने से बिल्कुल वंचित कर दिया है. इसलिए, क्या इस क्षयरोग के रूप में किसी बड़े सन्त का समागम हुआ है ?' उसे ऐसा प्रतीत होता है. शिश्न और उदर के सम्बन्ध में जीव को जो आसक्ति रहती है, यही असद्भाव है. यह क्षयरोग इन दोनों प्रकार के दोषों को दूर कर देता है. इस रोग की भाँति जो सत्पुरुष विषय का खंडन करते हों, उससे मुमुक्षु को दुःखी नहीं होना चाहिये. जो पुरुष खाने-पीने की चीजों की लालसा अथवा वस्त्र पाने की लालसा या अपने मनचाहे पदार्थों को प्राप्त करने के लालच से किसी बड़े सन्त के साथ रहता हो, उसे तो साधु ही नहीं मानना चाहिये, उसे तो लम्पट और श्वान-सदृश समझना चाहिये. ऐसे मलिन आशयवाला तो अन्त में विमुख हो जाता है.

यदि कोई पुरुष सन्त को कोई अच्छा पदार्थ देता है, उससे जो व्यक्ति ईर्ष्या करता है वह और पंचविषयों का लालची पुरुष दोनों ही पंच महापापियों से भी अत्यन्त दुष्ट होते हैं. इसलिए, विवेकशील पुरुष को सन्त के समागम में रहकर अन्तःकरण में ऐसा मलिन आशय नहीं रखना चाहिये, क्योंकि यह सभा तो बदरिकाश्रम तथा श्वेतद्वीप में आयोजित सभा जैसी है. वहाँ बैठकर जब मलिन वासना नहीं टली तब उसको मिटाने के लिए दूसरा स्थान कहाँ ? जो पंचविषय हैं, उन्हें तो अपना जीव देवमनुष्यादिक अनेक देहों द्वारा भोग चुका है, तो भी उसे अभी तक उन विषयों से तृप्ति नहीं हुई, तो अब भगवान का भक्त होकर एक वर्ष, दो वर्ष या पाँच वर्षों तक विषयों को भोगकर भी उसकी इच्छा पूरी नहीं हो सकेगी. जैसे पाताल तक पृथ्वी फटी हुई हो और उसे अगर पानी से भरा जाय, तो वह कभी भी नहीं भर सकेगी. वैसी ही स्थिति इन्द्रियों की भी है. उन्हें विषयों से कभी भी तृप्ति नहीं हुई और होगी भी नहीं. इसलिए, अब तो विषयों के प्रति आसक्ति का परित्याग करके साधु के कथनानुसार, भले ही वें डाँटकर क्यों न कहें, गुण ग्रहण करना चाहिये, किन्तु दुर्भाव नहीं रखना चाहिये. यह बात मुक्तानन्द स्वामी ने अपने कीर्तन में भी कही है :—

'सूली ऊपर शयन करावे, तोय साधु ने संग रहिवे रे.'

इसलिए, ऐसा अवसर प्राप्त करने पर तो अशुभ वासना को मिटाकर ही मरना चाहिये, किन्तु अशुभ वासना के साथ नहीं मरना चाहिये. वास्तव में जीव को तो ऐसी वासना रखनी चाहिये कि 'इस देह में से निकलकर नारदसनकादि और शुकजी के सदृश ब्रह्मरूप होकर भगवान की भक्ति करनी है.' ऐसा करने पर भी यदि ब्रह्मलोक अथवा इन्द्रलोक में निवास हो जायगा, तो भी कोई चिन्ता नहीं है. शौचालय में शौच के लिये जाने पर यदि माथे के बल गिर जायेंगे, तो स्नान करके पवित्र हो जायेंगे, परन्तु उसमें पड़ा नहीं रहना है. वैसे ही शुभ वासना रखते-रखते यदि ब्रह्मलोक अथवा इन्द्रलोक में जाना पड़ा तो ऐसा मानना चाहिये कि 'माथेभर नरक के गड्ढे में गिरे हुए हैं,' फिर भी शुभ वासना के बल पर ब्रह्मलोक तथा इन्द्रलोक के भोगों का परित्याग करके भगवान के धाम में पहुँचना है, परन्तु बीच में कहीं भी नहीं रहना है. ऐसा निश्चय रखना चाहिये.

जिस प्रकार अपनी सेवा गृहस्थ और त्यागीजन करते हैं, वैसे ही हमें भी हरिभक्त का माहात्म्य जानना चाहिये. जैसे मूलजी ब्रह्मचारी माहात्म्य जानकर हमारी सेवा करते हैं, वैसे ही हम भी ब्रह्मचारी का माहात्म्य जानते हैं. जिस प्रकार गृहस्थजन अन्न-वस्त्र द्वारा अपनी सेवा करते हैं वैसे ही हमें भी उनका माहात्म्य समझकर बातचीत द्वारा उनकी सेवा करनी चाहिये. इस प्रकार परस्पर माहात्म्य समझकर हरिभक्तों के संग रहना चाहिये.'

।। इति वचनामृतम् ।।४७।। ।।१८०।।

वचनामृत ४८ : मुख्य हरिभक्त

संवत् १८८० में माघ कृष्ण *चतुर्दशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कंठ में तुलसी की नवीन श्वेत कंठियाँ पहनी थीं और पाग में पीले पुष्पों का तुर्रा लगा हुआ था. उन्होंने कंठ में पीले पुष्पों के हार धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो

* रविवार, २८ फरवरी, १८२४.

रही थी.

उस समय साधु प्रेमानन्द स्वामी भगवान के ध्यान में अंग की गरबी 'वन्दुँ सहजानन्द रसरूप अनुपम सारने रे लोल' गा रहे थे. जब वे यह गा चुके तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'बहुत अच्छा कीर्तन-गान किया. इस कीर्तन को तो सुनकर हमारे मन में ऐसा विचार हुआ कि 'इन्हें भगवान की मूर्ति का इस प्रकार का चिन्तन बना हुआ है. इसलिए, इन साधु को तो उठकर साष्टांग दंडवत् प्रणाम करना चाहिये.' जिसके अन्तःकरण में भगवान का ऐसा चिन्तन होता हो और यदि वह ऐसी वासना रखकर देह-त्याग करे, तो उसे पुनः गर्भवास नहीं करना पड़ेगा. जो पुरुष भगवान का ऐसा चिन्तन करते हुए जीवित रहता है, तो भी उसने परमपद को प्राप्त कर लिया है. जैसे श्वेतद्वीप में निरन्नमुक्त हैं वैसे ही वह भी निरन्नमुक्त हो चुका है. जितनी देहक्रिया उचित होती है, वह तो सहजभाव से हो ही जाती है. जिसको भगवान के स्वरूप का इस प्रकार चिन्तन होता है वह तो कृतार्थ हो चुका है और उसके लिये कुछ भी करना बाकी नहीं रहा है. जो पुरुष भगवान के सिवा अन्य पदार्थों का चिन्तन करते हुए देह-त्याग करेगा, उसके दुःखों का अन्त कोटिकल्पों में भी नहीं हो सकेगा.

अभी जैसा सुअवसर प्राप्त हुआ है उसका सदुपयोग करके भगवान से भिन्न अन्य पदार्थों का चिन्तन छोडकर केवल भगवान के स्वरूप का ही चिन्तन करना चाहिये. यदि भगवान के स्वरूप का चिन्तन न हो सके, तो भी धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं भक्तिपूर्ण इन साधु का सत्संग करते रहना चाहिये. हमारे अन्तःकरण में भी यही वासना है कि इस देह का त्याग करने के पश्चात् किसी प्रकार का जन्म होने का तो कोई भी निमित्त नहीं है, फिर भी हम अपने हृदय में ऐसा विचार करते हैं कि 'जन्म लेने का कोई कारण उत्पन्न करके भी सन्तों के मध्य में जन्म लेना चाहिये.' हम ऐसा भी चाहते हैं.

जो पुरुष कीर्तन में बताये गये प्रकार से चिन्तन करता रहता है, वह तो काल, कर्म तथा माया के पाश से मुक्त हो चुका है. जिनके घर में ऐसे पुरुष ने जन्म लिया हो, उनके माँ-बाप भी कृतार्थ हुए जानने चाहिये. जो पुरुष भगवान से भिन्न अन्य विषयों का चिन्तन करता है उसे तो अत्यन्त भूला हुआ प्राणी समझना चाहिये. जीव जिस-जिस योनि में जाता है वहाँ

उसे स्त्री, पुत्र और धनादि पदार्थ मिलते रहते हैं. परन्तु, ऐसे ब्रह्मवेत्ता सन्तों का संग तथा श्रीवासुदेवभगवान का साक्षात्कार, दर्शन एवं चिन्तन तो अत्यन्त दुर्लभ रहता है. जिस प्रकार विषयी जनों के अन्तःकरण में पंच विषयों का चिन्तन हुआ करता है, वैसे ही जिस पुरुष के हृदय में यदि भगवान का अखंड रूप से चिन्तन हुआ करे, तो इससे बढ़कर मनुष्य-देह का अन्य कोई लाभ नहीं मिल सकता. ऐसा पुरुष तो समस्त हरिभक्तों में मुख्य हरिभक्त होता है. यदि ऐसे भक्त के शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध नामक पंचविषय होते हैं, तो भी वे भगवान सम्बन्धी होते हैं. उसके श्रवण (कान) भगवान की अखंड रूप से कथा सुनने के लिये इच्छुक रहते हैं. उसकी त्वचा भगवान का स्पर्श करने की इच्छा रखती है, उसके नेत्र भगवान और भगवान के सन्त का दर्शन करने के इच्छुक रहते हैं, उसकी रसना भगवान के महाप्रसाद का रसास्वादन करने के लिये लालायित रहती है और उसकी नासिका भगवान के लिए समर्पित पुष्पों तथा तुलसी की सुगन्ध ग्रहण करने की इच्छुक रहती है, परन्तु वह परमेश्वर के सिवा अन्य किसी भी वस्तु को सुखदायी जानता ही नहीं है. जो पुरुष इस प्रकार आचरण करता है, वही भगवान का एकान्तिक भक्त कहलाता है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥४८॥ ॥१८१॥

वचनामृत ४९ : अभय पद

संवत् १८८० मे फाल्गुन शुक्ल *द्वितीया को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के बड़े कमरे के बरामदे में पलंग पर गद्दी बिछवाकर और तकिया लगवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे और पाग में श्वेत पुष्पों का हार लटकता हुआ रखा था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनिमंडल तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'प्रत्यक्ष भगवान की मूर्ति तथा अन्य मायिक आकार में तो बहुत अन्तर रहता है. परन्तु, जो पुरुष अज्ञानी तथा अतिशय

* मंगलवार, १ मार्च, १८२४.

मूर्ख है, वह तो भगवान तथा मायिक आकार को एकसमान समझते है. जो पुरुष मायिक आकार को देखते हैं और उसका (मायिक आकार का) चिन्तन करते रहते हैं, वे तो अनन्तकोटि कल्प पर्यन्त चौरासी लाख योनियों में भटकते फिरेंगे. जो पुरुष भगवान के स्वरूप का दर्शन करते हैं तथा उसका चिन्तन करते रहते हैं, वे तो काल, कर्म और माया के बन्धन से छूटकर अभय पद को प्राप्त कर लेते हैं और भगवान के पार्षद होते हैं. इसलिए, हमारे मन को तो भगवान की कथा, कीर्तन या वार्ता अथवा ध्यान में से कभी भी तृप्ति होती ही नहीं है. आप सबको भी इसी प्रकार आचरणरत रहना चाहिये.' ॥ इति वचनामृतम् ॥४९॥ ॥१८२॥

वचनामृत ५० : तेजोमय अक्षरब्रह्म

संवत् १८८० में चैत्र कृष्ण *द्वितीया को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के बड़े कमरे के बरामदे में रात्रि के समय विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'आज हम अपना रहस्य आप सबको अपना समझकर बताते हैं. जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में विलीन हो जाती हैं, सती और पतंगा अग्नि में भस्म हो जाते हैं और शूरवीर रण में अपने प्राण न्यौछावर कर देते हैं, वैसे ही हमने भी अपनी आत्मा को एकरस, परिपूर्ण ब्रह्मरूप में विलीन कर रखा है. हमने उस तेजोमय अक्षरब्रह्म में मूर्तिमान पुरुषोत्तम भगवान तथा उन भगवान के भक्तों के साथ अखंड प्रीति जोड़ रखी है. उनके सिवा अन्य किसी भी पदार्थ में हमारी प्रीति नहीं है. हम अखंड रूप से ऐसा व्यवहार करते हैं. यद्यपि बाह्य रूप से तो हम अपने अतिशय त्याग का प्रदर्शन नहीं करते, परन्तु, अपने अन्तर-सम्मुख देखते के पश्चात् जब हम अन्य हरिभक्तों के अन्तर-सन्मुख देखते हैं, तब हमें ऐसा लगता है कि बड़े-बड़े परमहंस और बड़ी-बड़ी सांख्ययोगी स्त्रियाँ भले ही जगत के प्रति कुछ आकृष्ट हो जायँ, किन्तु हमारे अन्तःकरण में तो

* शुक्रवार, १५ अप्रैल, १८२४.

कभी स्वप्न में भी जगत की ओर का संकल्प नहीं होता तथा कोई भी हमें भगवान तथा भगवान के भक्तों की भक्ति से गिराने में समर्थ नहीं है. ऐसा ज्ञान होता है.

जब भगवान की प्राप्ति नहीं हुई थी तब भी भगवान की शक्ति का द्योतक काल और कर्म भी इस जीव का नाश नहीं कर सका तथा माया भी उसको अपने में विलीन नहीं कर सकी. परन्तु, अब तो भगवान मिल चुके हैं, तब फिर काल, कर्म और माया का क्या भार रहेगा ? ऐसा समझकर ही अब हमने ऐसी हिम्मत की है कि 'अब तो भगवान और भगवान के भक्तों के सिवा अन्य किसी से भी प्रीति नहीं रखनी है.' जो भक्तजन हमारी सोबत में रहेंगे उनके हृदय में भी कोई सांसारिक उलझन नहीं रहने देनी है. मेरे अन्तःकरण की दृढ़ता के समान जिसकी आन्तरिक दृढ़ता बनी हुई है, उसीके साथ हमारी पटती है. जिसके हृदय में सांसारिक सुख की वासना बनी रहती है, उसके साथ स्नेहका प्रयास करनेपर भी हमारा स्नेह नहीं होता. हमें तो भगवान के निर्वासनिक भक्त ही प्रिय लगते हैं. यह हमारे अन्तःकरण का रहस्य है, जो हमने बता दिया है.' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने अपने भक्तजनों की शिक्षा के लिये यह वार्ता की.

॥ इति वचनामृतम् ॥५०॥ ॥१८३॥

वचनामृत ५१ : आत्मसत्तारूप रहने से सुख

संवत् १८८० में चैत्र कृष्ण *नवमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा स्थित दादाखाचर के राजभवन में दक्षिणी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंगपर गद्दी-तकिया लगवाकर विराजमान थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने परमहंसों से प्रश्न पूछा कि 'किसी समय जीव जब सुषुप्ति-अवस्था में रहता है तब उसे अतिशय सुख होता है और किसी समय सुषुप्ति अवस्था में रहने पर भी उसका उद्वेग नहीं मिटता. इसका क्या कारण है ?' बड़े-बड़े सन्तों ने इस प्रश्न का समाधान करने का प्रयास किया, परन्तु वे यथार्थ रूप से समाधान न कर सके.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब रजोगुण का बल बढ़ जाता है, तब

---

* रविवार, २४ अप्रैल, १८२४.

सुषुप्ति-अवस्था में भी तमोगुण के साथ रजोगुण का विक्षेप रहता है, इस कारण सुषुप्ति में भी सुखाभाव रहता है, जब तक गुण का संग रहता है तब तक कोई भी जीव सुखी नहीं रहता. केवल आत्मसत्तारूप रहने पर ही उसे सुख मिलता है.'

मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'आत्मसत्तारूप रहनेवाले के क्या लक्षण हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'शिव, ब्रह्मा जैसे कोई अन्य बड़े देव नहीं हैं. वे तो नारद जैसे महर्षियों के भी गुरु हैं. वे जिस प्रकार ब्रह्मस्वरूप में रहते हैं, वैसा रहना दूसरों के लिए मुश्किल रहता है. यदि देश, काल, क्रिया, संग, मन्त्र, शास्त्र, दीक्षा और ध्यान अशुभ हुए, तो उनके योग से शिव-ब्रह्मा जैसे बड़े देवों तक को भी अन्त में अत्यन्त दुःख हुआ. कोई चाहे कैसा ही निर्गुण हो और आत्मसत्तारूप से रहता हो, तो भी यदि उसके लिए अशुभ देशकालादि का योग उपस्थित हो जाय, तो अन्तःकरण में उसको दुःख अवश्य होता है.

वास्तविक बात तो यह है कि महापुरुषों ने जो मर्यादा निर्धारित की है उसका लोप करके कोई भी सुखी नहीं हो सकता. जितने त्यागी हैं उन्हें तो त्यागियों के धर्मानुसार आचरण करना पड़ता है. इसी तरह गृहस्थ हरिभक्तों को अपने गृहस्थ धर्मानुसार और हरिभक्त स्त्रियों को नारियों के उपयुक्त अपने धर्मानुसार आचरण करना पड़ता है. यदि उससे न्यून आचरण किया जाय, तो भी सुख नहीं होता, उससे अधिक आचरण करने पर भी सुख नहीं मिलता. उसका कारण यह है कि परमेश्वर द्वारा प्रतिपादित धर्मानुसार ही ग्रन्थ में लिखा है और उसका आचरण करने में किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हो सकती. उसका अच्छी तरह पालन किया जा सकता है. उससे न्यूनाधिक आचरण करने पर आचरणकर्ता को दुःख अवश्य होता है.

सत्पुरुष की आज्ञा के अनुसार आचरणरत रहनेवाले मनुष्य ही शुभ देशकालादि में रहे हैं. जिन मनुष्यों ने सत्पुरुष की आज्ञा के विपरीत आचरण किया उनका ही पतन हो गया. ऐसी स्थिति को ही अशुभ देशकालादि का योग हुआ कहा जाता है. सत्पुरुषों की आज्ञा के अनुसार आचरण करनेवाला मनुष्य ही आत्मसत्तारूप में रहा करता है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥५१॥ ॥१८४॥

वचनामृत ५२ : त्यागी और गृहस्थ

संवत् १८८० में चैत्र कृष्ण *एकादशी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में घोड़ी पर सवार होकर श्रीलक्ष्मीवाड़ी में पधारे थे और वहाँ वेदी पर विराजमान हुए थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कंठ में पुष्पों का हार पहना था और पाग में फूलों का तुर्रा लगा हुआ था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजी के समक्ष मुनिमंडल झाँझ-मृदंग लेकर कीर्तन-गान कर रहे थे. जब सभी मुनि कीर्तन कर चुके तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब वार्ता करते हैं, उसे सुनिये. इस संसार में गृहस्थाश्रमी तथा त्यागी के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं. जो वस्तु गृहस्थ को शोभारूप होती है, वही त्यागी के लिए दूषणरूप हो जाती है और जो त्यागी को शोभारूप होती है, वही गृहस्थ के लिये दूषणरूप हो जाती है. जो बुद्धिमान पुरुष होता है वही इस रहस्य को जान पाता है, अन्य मनुष्य को इसकी जानकारी नहीं होती. इसी बात को अब विस्तारपूर्वक कहते हैं.

जो गृहस्थाश्रमी है, उसके लिये तो धन, दौलत, हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस, कोठी, हवेली, स्त्री, लड़के, कीमती वस्त्र तथा आभूषण, ये सभी वस्तुएँ शोभारूप होती हैं, जबकि ये सभी चीज़ें त्यागी के लिये दोषरूप बन जाती हैं. त्यागी को वन में रहना, वस्त्र बिना उघाड़े हुए एक कौपीनमात्र रहना, माथे पर टोपी होना, दाढ़ी-मूँछ मुँड़वा डालना, भगवा वस्त्र रखना और किसी के भी द्वारा दी गयी गालियों और डाली गयी धूल जैसे अपमान को सहन करना ही त्यागी के लिये परम शोभारूप होता है. त्यागी की यही शोभा गृहस्थ के लिये परम दोषरूप बन जाती है. इसलिए, संसार से विरक्त होकर निकले हुए त्यागी पुरुष को तो यह विचार करना चाहिये कि 'मैं कौन-से आश्रम में रहा हूँ.' बुद्धिमान को ऐसा विचार करना चाहिये. किन्तु मूर्ख की तरह विचार किये बिना ही कोई व्यवहार नहीं करना चाहिये.

ज्ञानी पुरुष से यदि कोई डाँट-फटकारकर भी बात करता है, तो भी

---

* रविवार, २४ अप्रैल, १८२४.

वह उसका गुण ही ग्रहण करता है, किन्तु मूर्ख से अगर कोई हितकारी बात भी करता है तो वह उद्विग्न हो जाता है. मुकुन्द ब्रह्मचारी तथा रतनजी तो बिल्कुल उद्विग्न नहीं होते, इसलिए इनके साथ हमारी खूब पटती है. जो भक्त श्रद्धापूर्वक सेवा-चाकरी करता है, वह हमें प्रिय लगता है. यदि कोई भक्त श्रद्धा के बिना भोजन-पदार्थ लाता है, तो वह भोजन हमें प्रिय नहीं लगता. कोई भी व्यक्ति यदि अश्रद्धा से वस्त्र लाता है तो ऐसे वस्त्र धारण करना हमे रुचिकर नहीं लगता. यदि कोई बिना श्रद्धा के पूजा सामग्री लाता है, तो वह भी हमें प्रिय नहीं लगती. फिर भी, श्रद्धापूर्वक जो-कुछ सेवा की जाती है, वह हमें प्रिय लगती है. यदि कोई श्रद्धापूर्वक भक्ति करता है और इस बीच अगर कोई अन्य पुरुष भक्ति करने चला आता है और उस पर ईर्ष्या करता है, तो वह भी हमें प्रिय नहीं लगता. जो कोई भक्त श्रद्धा के साथ ईर्ष्यारहित होकर भक्ति करता है, वह हमें अतिशय प्रिय लगता है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥५२॥ ॥१८५॥

वचनामृत ५३ : बुद्धिमत्ता का अभिमान

संवत् १८८० में वैशाख शुक्ल *पंचमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने ठहरने के स्थान में गद्दी-तकिया लगवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि, 'शास्त्रों में वर्णित मोह का रूप यह है कि 'हृदय में मोह व्याप्त होने पर इस जीव को अपना अवगुण प्रतीत नहीं होता. इसलिए, अपना अवगुण न दीख पड़ना ही मोह का रूप है. जीवमात्र को अपनी बुद्धिमत्ता का अत्यन्त अभिमान रहता है, परन्तु वह यह विचार नहीं करता कि 'मुझे अपने जीव की खबर नहीं है कि इस शरीर में जीव रहा है और वह काला है कि गोरा, लम्बा है कि ठिगना ?' फिर भी, वह महापुरुष अथवा भगवान में भी दोष देखता है तथा यह समझता है कि 'अवश्य ही ये महापुरुष अथवा भगवान हैं, परन्तु इतना ठीक नहीं करते.' किन्तु, वह मूर्ख

---

* मंगलवार, ३ मई, १८२४.

ऐसा नहीं जानता कि 'ये भगवान तो अनन्तकोटि ब्रह्मांडों में रहे हैं तथा वे जीव और ईश्वर को हथेली में जल की बूँद के समान देखते हैं. वे तो अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के आधार हैं, लक्ष्मी के पति हैं, अनन्तकोटि ब्रह्मांड के कर्ता-हर्ता हैं; शेष, शारदा एवं ब्रह्मादि देव भी जिनकी महिमा का पार नहीं पाते. निगम भी जिनकी महिमा को 'नेति-नेति' बताता है.' इसलिए यह जीव परमेश्वर तथा उनके चरित्र और उन भगवान की समझ के सम्बन्ध में जो दोष देखता है, इस कारण उसे विमुख, अधर्मी तथा घोर मूर्ख समझना चाहिये.

वास्तव में भगवान तथा भगवान के भक्त की अलौकिक समझ होती है. उसे देहाभिमानी जीव कैसे समझ सकता है ? इसलिए, वह अपनी मूर्खता से भगवान तथा उनके भक्तों में अवगुण देखकर विमुख हो जाता है. उन भगवान के वास्तविक भक्त जो सत्पुरुष हैं, वे तो अलौकिक दृष्टि से व्यवहार करते रहते हैं.' ॥ इति वचनामृतम् ॥५३॥ ॥१८६॥

वचनामृत ५४ : सत्संग की महिमा

संवत् १८८० में जयेष्ठ शुक्ल *सप्तमी को तृतीय प्रहर के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में घोड़ी पर सवार होकर श्रीलक्ष्मीवाड़ी में पधारे थे. वहाँ बहुत देर तक तो घोड़ी घुमायी, इसके बाद वे उस वाड़ी के मध्य में स्थित वेदी पर विराजमान हुए. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, मस्तक पर काले पल्ले की धोती बाँधी थी और कंठ में मोगरे के पुष्पों का हार पहना था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनिमंडल तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने मुनियों से प्रश्न पूछा कि 'श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के बारह वें अध्याय में श्रीकृष्ण भगवान ने उद्धवजी से कहा कि '[१]अष्टांगयोग, सांख्य, तप, त्याग, तीर्थ, व्रत, यज्ञ और दानादि द्वारा मैं इतना वश में नहीं होता, जितना कि सत्संग द्वारा वश में हो जाता हूँ.' भगवान ने ऐसा बताया है. इसीलिए, समस्त साधनों की अपेक्षा सत्संग का महत्व

---

* शुक्रवार, ३ जून, १८२४.

१. 'न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥ व्रतानि यज्ञाश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः । यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम् ॥' इस श्लोक का यह अर्थ है.

अधिक हुआ. जिसे समस्त साधनों की अपेक्षा सत्संग की विशेषता अधिक प्रतीत होती हो, उस पुरुष में कैसे लक्षण होते हैं ?'

इसके पश्चात्, जिसको जैसा समझ में आया उसने वैसा बताया, किन्तु कोई भी यथार्थ उत्तर न दे सका. तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस प्रयोजन से भगवान के सन्त में ही आत्मबुद्धि होना आवश्यक है. उन्होंने बताया कि जैसे कोई राजा निःसन्तान हो और बाद में उसकी वृद्धावस्था में उसके यहाँ पुत्र-जन्म हो जाय तथा बड़ा होने पर वही लड़का जब उसे गालियाँ दे और मूँछ ताने, तो भी उसको उसका यह दुर्गुण प्रतीत न हो और वही लड़का किसी लड़के को मारे-पीटे और किसी पर अत्याचार करे, फिर भी उसको उसमें किसी भी प्रकार का अवगुण दिखायी न पड़े, तो यह समझना चाहिये कि उस राजा को अपने लड़के में आत्मबुद्धि हो गयी है. जिसको भगवान के भक्त में इस प्रकार की आत्मबुद्धि हो चुकी है, उसी ने वस्तुतः सत्संग को समस्त साधनों की अपेक्षा अधिक कल्याणकारी समझ लिया है. यह वार्ता भागवत में कही गयी है.

'[१]यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके,
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्,
जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥'

इस श्लोक में वार्ता को यथार्थ रूप से बताया गया है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥५४॥ ॥१८७॥

वचनामृत ५५ : 'मायिक गुणों की मिलावट नहीं'

संवत् १८८० में ज्येष्ठ शुक्ल *एकादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के

* मंगलवार, ७ जून, १८२४.

१. जिस पुरुष को वात, पित्त तथा श्लेष्मरूप त्रिधातुमय शरीर में आत्मबुद्धि है, स्त्रीपुत्रादि में आत्मीय-बुद्धि है तथा भूमि के विकारभूत प्रतिमादिक में पूजनीय देवताबुद्धि है और जल में तीर्थबुद्धि है, वैसी ही उस पुरुष की आत्म-बुद्धयादिक बुद्धियाँ भगवान के एकान्तिक ज्ञानी भक्त में न हों तो उसे पशुओं में भी कनिष्ठ खर जानना चाहिये.

बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने मस्तक पर नवानगर की सुनहरे पल्ले की श्वेत पगिया बाँधी थी, सफेद पिछौरी ओढ़ी थी तथा श्वेत दुपट्टा धारण किया था. श्रीजीमहाराज के मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. उस समय मुनि झाँझ-मृदंग लेकर कीर्तन कर रहे थे.

जब वे मुनि कीर्तन-भक्ति कर चुके तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसका आज जैसा अंग हो वैसा सत्संग होने के पहले भी कुछ थोड़ा-सा जरूर रहा होगा. इसलिए, आज तो जिनका जैसा 'अंग' हो, वे सब वैसा बतावें. हमारा अपना जैसा 'अंग' है, वह वार्ता हम सबसे पहले कहते हैं, उसे सुनिये.

जब हमारी बाल्यावस्था थी, तब भी हमारे लिये यह बात प्रिय लगती थी कि हम देव-मन्दिर में दर्शन के लिये जायँ, कथा-वार्ता सुनें, साधुओं का समागम करें तथा तीर्थयात्रा करने के लिये जायँ. उस समय भी हम ऐसा किया करते थे. गृह-त्याग करके वहाँ से निकल आने के बाद तो अब हमें वस्त्र रखना भी प्रिय नहीं लगता, वन में ही रहना अच्छा लगता है, भय तो लेशमात्र भी नहीं लगता. वन में बड़े-बड़े सर्प, सिंह तथा हाथी आदि अनेक प्रकार के जानवर दिखायी पड़े, परन्तु हमारे हृदय में तो मृत्यु का किसी भी तरह से बिल्कुल डर नहीं लगता था. इस प्रकार, महावन में सदैव निर्भय रहा करते थे. इसके पश्चात् तीर्थों में घूमते-फिरते श्रीरामानन्द स्वामी के पास आये. बाद में जब श्रीरामानन्द स्वामी अन्तर्धान हो गये तब हम सत्संग के हित की दृष्टि से सबसे हिलमिलकर रहने लगे, परन्तु अन्तःकरण में अखंड रूप से यह विचार बना रहा कि जब किसी मनुष्य को मृत्यु के समय भूमिपर सुला देते हैं, तब उस मनुष्य में से सबकी निजी स्वार्थ-वासना टल जाती है और उस मरणोन्मुख मनुष्य का भी मन संसार से उदास हो जाता है, वैसे ही अपने और दूसरों के सम्बन्ध में भी ऐसी अन्तकालीन जैसी मनोदशा बनी रहती है. जितने मायिक पदार्थ हैं वे सब नाशवान तथा तुच्छ ज्ञात होते रहते हैं, परन्तु ऐसी प्रतीति नहीं होती, कि 'अमुक पदार्थ अच्छा है और अमुक पदार्थ खराब है.' जितने मायिक पदार्थ हैं, वे सब एकसमान दिखायी पड़ते हैं. जैसे कांख के रोम (रोएँ) हैं, उनमें से किस रोम को अच्छा और किस रोम को बुरा कहा जा सकता है ?

वास्तव में ये रोम तो अच्छे-बुरे सब एकसमान लगते हैं. वैसे ही मायिक पदार्थ भी सब एकसदृश प्रतीत होते हैं. यदि कुछ भी अच्छा कहा जाता है तो वह भगवान के भक्त को अच्छा लगने के लिये कहा जाता है कि यह अच्छा भोजन है, यह अच्छा वस्त्र है, यह अच्छा गहना है, यह अच्छा घर है, यह अच्छा घोड़ा है, ये सुन्दर पुष्प हैं. भक्त को रुचिकर लगने की दृष्टि से ही इन सबको अच्छा कहा जाता है.

हमारी समस्त क्रिया तो भगवान के भक्त के लिये है. परन्तु, अपने सुख के लिये हम एक भी क्रिया नहीं करते. भगवान के एकान्तिक भक्त का मन तो भगवान के स्वरूप का ही चिन्तन करता रहता है, वाणी भगवान के यश का ही गान करती रहती है, हाथ भगवान तथा भगवान के भक्त की सेवा-परिचर्या में ही लगे रहते हैं, कान भगवान के यश को अखंड रूप से सुनते रहते हैं. इस प्रकार भगवान की भक्ति को जानकर जो-जो क्रिया करते हैं, वह होती रहती है. उन भगवान की भक्ति के सिवा हमें तो अन्य सभी पदार्थों में उदासीनता ही बनी रहती है. जैसे कोई बड़ा राजा हो और उसका एक ही लड़का हो. उस राजा की उम्र साठ-सत्तर वर्ष की हो जाने के बाद जब उसका लड़का मर जाय तब उस राजा का मन जिस तरह समस्त पदार्थों से उदास हो जाता है, वैसे ही हमें भी खाते-पीते, घोड़े पर चढ़ते और प्रसन्न-अप्रसन्न रहते समय मन सदैव उदास ही बना रहता है और अन्तःकरण में ऐसा विचार होता है कि 'हम तो देह से पृथक् आत्मा हैं, परन्तु देह-सदृश नहीं हैं.'

यह विचार भी बना रहता है कि आत्मा में कभी मायाजन्य रजोगुण एवं तमोगुण आदि का कुछ अंश शामिल न हो जाय. इसीलिए, हर घड़ी इस बात से सावधान रहते हैं. जैसे कोई पुरुष किसी प्रयोजन से साढ़े सोलह अंशवाला अपना सोना सुनार की दुकान पर ले जाय और वहाँ यदि उसकी नज़र तनिक-सी भी चूक जाय, तो सुनार कुछ सोना निकालकर उसमें चाँदी मिला देते हैं. वैसे ही, हृदय के रूप में यह सुनार की दुकान है और उसमें मायारूपी सुनार स्वयं बैठा हुआ है और वह संकल्परूपी हथौड़ा लगातार चलाता रहता है. उसी तरह सुनार की स्त्री और लड़के हों और उन्हें यदि थोड़ा-सा भी मौका मिल जाय तो वे जिस तरह छल-प्रपंच करके हाथ में आये हुए सोने में से कुछ सोना चुरा लेते हैं वैसे ही अन्तकरण

तथा इन्द्रियाँ, ये सब मायारूपी सुनार और उसके लड़के हैं, जो सोनारूपी चैतन्य में तीन गुणों तथा पंच विषयों में आसक्ति, देहाभिमान तथा कामक्रोधलोभादिरूपी चाँदी को मिलाकर ज्ञानवैराग्यादि गुणरूप सोने को निकाल लेते हैं. इस प्रकार, वे जिस स्वर्णराशि में से सोना निकालकर चाँदी मिला देते हैं तब वह सोना केवल बारह अंश ही रह जाता है. उस सोने को तपा-तपा करके पुनः सोलह अंश किया जाता है.

उसी प्रकार, इस जीव में रजोगुण एवं तमोगुणरूपी जो चाँदी मिली हुई है उसे गलाकर निकाल देना चाहिये. उसके पश्चात् स्वर्णरूपी जो आत्मा है वही रहनी चाहिये. इस प्रकार का विचार करने में ही हम रात-दिन लगे रहते हैं. इस प्रकार का हमारा जो 'अंग' है वह हमने आपको बता दिया. उसी तरह, जिस-जिसका जो 'अंग' हो, वह बतावे. तब सन्तमंडल ने यह निवेदन किया कि 'हे महाराज ! आप में तो मायिक गुणों की मिलावट हो ही नहीं सकती. आप तो कैवल्यमूर्ति हैं. आपने जो यह सारी बात कही है, वह तो हमारे 'अंग' की है. आपने जो विचार प्रकट किया है वह हम सबको हृदयंगम करना चाहिये.' इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपने ठहरने के स्थान में पधारे.

॥ इति वचनामृतम् ॥५५॥ ॥१८८॥

वचनामृत ५६ : आत्मनिरीक्षण

संवत् १८८१ में आषाढ़ शुक्ल *पंचमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया लगवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनिमंडल तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

सभी साधु दुक्कड़सरोद लेकर कीर्तन कर रहे थे. कीर्तन-भक्ति हो जाने के बाद श्रीजीमहाराज इस प्रकार बोले कि 'इस कीर्तन को सुनने से तो हमारी आत्मा विचारों में तल्लीन हो गयी और उससे ऐसा प्रतीत हुआ कि 'भगवान में अतिशय प्रीति रखना बहुत बड़ी बात है.' बाद में, तो भगवान

---

* शुक्रवार, १ जुलाई, १८२४.

में प्रीति रखनेवाले गोपालानन्द स्वामी आदि हरिभक्तों की याद आ गयी और उन सबके अन्तःकरण तथा जीव और भगवान में उनकी प्रीति दिखायी पड़ने लगी. हमने आत्मनिरीक्षण भी किया तो हमें ऐसा आभास हुआ कि भगवान में हमारी जितनी प्रीति बनी हुई है वैसी प्रीति दूसरों में नहीं दीख पड़ी, क्योंकि जब कुछ अशुभ देशकालादि का योग उपस्थित होता है तब उनके बड़े होने के बावजूद उनकी बुद्धि में फरक पड़ जाया करता है. उस समय ऐसा मालूम होता है कि 'अन्तिम आधार कच्चा दीख पड़ता है.' यदि अशुभ देशकालादि का योग पूरी तरह बन जाय, तो भगवान में लगी हुई प्रीति का कोई ठिकाना नहीं रह जाता. इसलिये, इन सब बातों को दृष्टिगत रखते हुए हमें अपना यह दृष्टिकोण ही उचित लगता है कि 'चाहे कैसा भी अशुभ देशकालादि का योग उपस्थित हो जाय, तो भी हमारा अन्तःकरण किसी भी प्रकार से नहीं बदल सकता.'

वास्तव में भगवान में उसी पुरुष की प्रीति सच्ची समझी जायगी, जिसको भगवान के सिवा अन्य किसी भी पदार्थ से लगाव नहीं रहता. समस्त सद्ग्रन्थों का भी यही रहस्य है कि [१]भगवान ही परम सुखदायक हैं और वे ही परम सार भी हैं. उन प्रभु के सिवाय जो-जो अन्य पदार्थ हैं वे अत्यन्त तुच्छ तथा सारहीन हैं.

जिसका अन्य पदार्थों में भी भगवान जैसा लगाव बना रहता है, उसका आधार तो बहुत ही ज्यादा कच्चा रहता है, जैसे कुसुम्भी वस्त्र देखने में तो अतिसुन्दर दीख पड़ता है, परन्तु जब उस पर पानी पड़ जाता है और उसे धूप में सुखाने के लिये रख दिया जाता है, तब वह बिल्कुल निरुपयोगी हो जाता है और सफेद कपड़े जैसा भी नहीं रह जाता, वैसे ही जिसका पंचविषयों में लगाव बना रहे और बाद में उसके लिये कुसंग का योग भी उपस्थित हो जाय तो उसका कोई भी ठिकाना नहीं रह पाता. इसीलिए, भगवान के भक्त को तो भगवान को प्रसन्न करने के निमित्त पंचविषयों का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये, किन्तु भगवान में विद्यमान प्रीति के मार्ग में बाधक बननेवाले किसी भी पदार्थ से लगाव नहीं रखना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥५६॥ ॥१८९॥

---

१. भगवान से ही सर्वाधिक प्रीति सभी प्रकार से करनी चाहिये, क्योंकि.

वचनामृत ५७ : माया का आवरण नहीं

संवत् १८८१ में आषाढ़ शुक्ल *षष्ठी को सन्ध्या-आरती के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उनके मस्तक पर श्वेत पाग पुष्पों के तुर्रों सहित सुशोभित लग रही थी. उन्होंने श्वेत चादर ओढ़ी थी और सफेद दुपट्टा धारण किया था. श्रीजीमहाराज के मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. उस समय मशाल का प्रकाश हो रहा था. मुनिमंडल दुक्कड़ सरोद लेकर भगवान का कीर्तन कर रहा था.

श्रीजीमहाराज बोले : 'सुनिये, एक वार्ता करते हैं. जब आप लोग कीर्तन कर रहे थे तब हमने उसे सुना. उस कीर्तन को सुनते समय हमने जो विचार किया, उसे बताते हैं.

भगवान में प्रीति आत्मसत्तारूप रहकर ही करनी चाहिये. वह आत्मा कैसी है ? सुनिये. जिस आत्मा में माया एवं मायाजन्य कार्य तीन गुणों और देह, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण का कोई आवरण नहीं रहता, फिर भी आत्मा में जो कुछ भी आवरण-सा दिखायी पड़ता है उसका आभास अज्ञान द्वारा होता है, परन्तु जिसने ज्ञान-वैराग्य द्वारा उन सबका निवारण कर दिया है, उसके लिये तो उस आत्मा में किसी भी प्रकार के आवरण की प्रतीति ही नहीं होती. वस्तुतः आत्मारूप आचरणशीलता केवल ब्रह्म होकर मस्त होने के लिये ही नहीं है. उसका तो स्वयं को आत्मारूप रहने देने के लिये यह प्रयोजन है कि 'मैं आत्मा हूँ, इसलिए मुझमें माया का किसी भी तरह का आवरण नहीं है, तो आत्मा से परे रहनेवाले परमात्मा नारायण वासुदेव में माया के लेशमात्र भी अंश किस प्रकार हो सकता है ?' इस रीति से भगवान के प्रति किसी भी प्रकार की दोषभावना न रहने देने के लिये आत्मनिष्ठा को सुदृढ़ करके रखना चाहिये.

इस आत्मा के प्रकाश में विचार को स्थापित करके जो कोई भी आत्मा को दूषित करने के लिये आवे, तो उसका विनाश कर डालना

---

* शनिवार, २ जुलाई, १८२४.

चाहिये. जिस प्रकार दीपक के प्रकाश में छिपकली अपने सामने आनेवाले प्रत्येक जन्तु का नाश कर डालती है, वैसे ही आत्मा के प्रकाश में रहनेवाला ज्ञानरूपी विचार आत्मेतर अन्य पदार्थों का नाश कर डालता है.

जिसे परमेश्वर में प्रीति होती है उसको तो परमेश्वर के सिवा अन्य किसी भी पदार्थ से लगाव नहीं रहता. यदि परमेश्वर के सिवा जिस-जिस पदार्थ में अधिक प्रीति होती हो, तो उस पदार्थ का सर्वथा परित्याग ही वास्तविक त्याग कहलाता है. पदार्थ-परित्याग करने की क्रिया को ही त्याग कहा जाता है, भले ही वह पदार्थ छोटा या बड़ा ही क्यों न हो. जो पदार्थ भगवान के भजन में बाधक बनता हो उसको न छोड़कर यदि ऊपर से चाहे कितना ही अधिक त्याग कर दिया हो तो भी उसका वह त्याग वृथा ही रहता है.

यह नहीं समझना चाहिये कि 'अच्छा पदार्थ ही भगवान के भजन में बाधक बनता है, किन्तु खराब पदार्थ बाधा नहीं डालता.' यह तो जीव का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि किसी को मीठी, किसी को नमकीन (खारी) किसी को खट्टी और किसी को कड़वी चीज़ें भाती हैं. वैसे ही, जीव की तो ऐसी तुच्छ बुद्धि है कि वह मामूली पदार्थ को भी भगवान की अपेक्षा अधिक अच्छा समझता है. यदि भगवान की महत्ता को हृदयंगम किया जाय, तो यह बात अच्छी तरह समझ में आ सकती है कि ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो उनकी कोटि में के एक भाग का भी पासंग हो सके. यदि ऐसे भगवान को यथार्थ रूप से जानकर उनसे स्नेह किया जाय, तो पिंड-ब्रह्मांडादि मायिक पदार्थों में कहीं भी प्रीति रहेगी ही नहीं और समस्त मायिक पदार्थ तुच्छ होकर रह जायेंगे.

जब चित्रकेतु राजा को भगवान की महिमा का यथार्थ रूप से ज्ञान हो गया तब उसने एक करोड़ स्त्रियों तथा समस्त पृथ्वी के चक्रवर्ती राज्य का परित्याग कर दिया. राजा ने यह महसूस किया कि 'इन भगवान की भक्ति से प्राप्त होनेवाले सुख के आगे एक सौ लाख स्त्रियों से मिलनेवाले सुख की क्या गणना की जा सकती है ? चक्रवर्ती राज्य के सुख की भी क्या गणना हो सकती है ? भगवद्भक्तिजन्य सुख से इन्द्रलोक तथा ब्रह्मा के लोक से मिलनेवाले सुख की क्या तुलना की जा सकती है.' जो कोई जीव ऐसे भगवान के साथ के प्रेम को छोड़कर अन्य पदार्थों में मोह रखता है,

वह तो अतिशय तुच्छ बुद्धिवाला है. जिस तरह कुत्ता सूखी हड्डी को एकान्त में ले जाकर उसे काटकर खाने की कोशिश करने में सुख मानता है, वैसे ही मूर्ख जीव दुःख में सुख मानकर तुच्छ पदार्थों में अनुरक्त रहता है.

जिसे भगवान का भक्त कहा जाता हो वह यदि भगवान की अपेक्षा अन्य पदार्थों से अधिक लगाव रखता हो, तो वह केवल बगुलाभगत ही सिद्ध होगा. जो पुरुष भगवान का यथार्थ भक्त होगा, वह तो किसी भी अन्य पदार्थ को भगवान से अधिक महत्त्व नहीं देगा. भगवान का जो भक्त ज्ञान, वैराग्य, भक्ति एवं धर्म से युक्त है वह तो यह समझता है कि जो 'शूरवीर होता है वह युद्ध करते समय शत्रु के सम्मुख चला जाता है, किन्तु भयभीत नहीं होता. वही सच्चा शूरवीर कहलाता है. जो लड़ाई में काम नहीं आता उसका जीवन वृथा है. इसी प्रकार गाँठ में काफी धन होने पर भी जो पुरुष उसे खर्च करने से हिचकता है वह भी वृथा है. वैसे ही मुझे भगवान मिले हैं और जो कोई जीव मेरा संग करता है उसके सामने यदि मैं कल्याणकारी बात नहीं करता हूँ, तो मेरा ज्ञान किस काम आयगा ?' ऐसा विचार करके, उपदेश करते समय यदि कोई उलझन पैदा हो जाय, तो भी परमेश्वर की बात करने में किसी भी प्रकार की भीरुता नहीं रखनी चाहिये.'

ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज ने तुलसीदास के तीन पदों का गान कराया. ये तीनों पद क्रमशः इस प्रकार हैं – 'जाकी लगन राम सों नाहीं,' 'एही कह्यो सुनु वेद चहूँ' तथा 'जाके प्रिय न राम वैदेही.' इन तीनों पदों[१] का गान कराने के पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि जो बातें इन पदों में बतायी गयी हैं उन्हीं के अनुसार हमें आचरण करना चाहिये. ऐसा करते-करते यदि कोई काम अधूरा रह जाय और इतने में ही शरीरान्त हो जाय, तो भी मरकर चौरासी लाख योनियों में नहीं जाना पड़ेगा और भूत-प्रेत की योनियों में भी नहीं रहना पड़ेगा. यदि खराब से खराब भी शरीर मिला, तो भी इन्द्र या ब्रह्मा जैसा शरीर तो मिलेगा ही, किन्तु उससे निम्न देह नहीं मिलेगी. इसलिए, निर्भय रहकर भगवान का भजन करते रहना चाहिये.' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज मुकुन्द ब्रह्मचारी के साथ भोजन करने के लिये पधारे, जो उन्हें बुलाने के लिये आये थे. ॥ इति वचनामृतम् ॥५७॥ ॥१९०॥

---

१. देखिये परिशिष्ट ३.

वचनामृत ५८ : सम्प्रदाय की पुष्टि

संवत् १८८१ में श्रावण शुक्ल *चतुर्थी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया लगवाकर विराजमान थे. श्रीजीमहाराज ने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनिमंडल तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'जो-जो आचार्य हुए हैं उनके सम्प्रदायों की पुष्टि दीर्घकाल तक किन उपायों द्वारा होती रही है ?'

मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'सम्प्रदाय सम्बन्धी ग्रन्थ, शास्त्रोक्त वर्णाश्रम धर्म तथा अपने इष्टदेव में अतिशय दृढ़ता-द्योतक इन तीन उपायों के योग द्वारा अपने सम्प्रदाय की पुष्टि होती रहती है.' श्रीजीमहाराज ने ब्रह्मानन्द स्वामी तथा नित्यानन्द स्वामी से भी पूछा, तो उन्होंने भी इसी प्रकार उत्तर दिया.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस प्रश्न का उत्तर हम देते हैं. सम्प्रदाय की पुष्टि तो इस प्रकार होती है कि जिस सम्प्रदाय के जो इष्टदेव हों, उनका जिस प्रयोजन से पृथ्वी पर जन्म हुआ हो तथा जन्म-धारण करके उन्होंने जो-जो चरित्र किये हों और जो-जो आचरण किये हों उन आचरणों में धर्म भी सहज भाव से आ जाता है और उन इष्टदेव की महिमा भी आ जाती है. इसलिए, अपने इष्टदेव के जन्म से लेकर देहोत्सर्ग पर्यन्त के चरित्रों के शास्त्र द्वारा सम्प्रदाय की पुष्टि होती है. वह शास्त्र संस्कृत में हो या किसी अन्य भाषा में, परन्तु वही ग्रन्थ सम्प्रदाय की पुष्टि करता है, किन्तु उसके सिवा कोई अन्य ग्रन्थ अपने सम्प्रदाय की पुष्टि नहीं करता. जैसे, रामचन्द्र के उपासकों के लिये वाल्मीकि रामायण द्वारा ही अपने सम्प्रदाय की पुष्टि होती है तथा श्रीकृष्ण भगवान के उपासकों के लिये भागवत के दशम स्कन्ध द्वारा ही स्वसम्प्रदाय की पुष्टि होती है, परन्तु रामचन्द्र के उपासकों तथा श्रीकृष्ण के उपासकों के लिये वेदों द्वारा निजी सम्प्रदाय की पुष्टि नहीं होती. इसीलिए, अपने सम्प्रदाय की रीति का शास्त्र ही सम्प्रदाय की पुष्टि करता है.'

---

* शुक्रवार, २९ जुलाई, १८२४.

ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज ने मुक्तानन्द स्वामी को सम्बोधित करके कहा कि 'आप भी स्वसम्प्रदाय तथा अपने इष्टदेव सम्बन्धी वाणी तथा शास्त्र की ही जीवन पर्यन्त रचना करते रहना. जब तक आपका शरीर बना रहे तब तक आपके लिये यही आज्ञा है.' श्रीजीमहाराज के इस वचन को मुक्तानन्द स्वामी ने अत्यन्त आदरपूर्वक शिरोधार्य किया तथा दोनों हाथ जोड़कर श्रीजीमहाराज को प्रणाम किया. ।। इति वचनामृतम् ।।५८।। ।।१९१।।

वचनामृत ५९ : परम कल्याण

संवत् १८८१ में श्रावण शुक्ल *द्वादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के बरामदे में पलंग पर पूर्वाभिमुख होकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'चारों वेदों, पुराणों तथा इतिहासों में यही बात कही गयी है कि 'भगवान तथा भगवान के जो साधु हैं वे कल्याणकर्ता हैं और भगवान के जो सन्त हैं, वे भवब्रह्मादि देवों से भी अधिक महिमामय हैं. जब इस जीव के लिये भगवान तथा भगवान के सन्त की प्राप्ति हो जाती है तब उसके लिये उससे बढ़कर दूसरा कोई भी कल्याण नहीं हो सकता. यही परम कल्याण है.

भगवान के सन्त की सेवा करने का सुअवसर तो महान पुण्यात्मा को ही प्राप्त होता है, परन्तु अल्पपुण्यवाले को यह मौका नहीं मिलता. इसलिए, भगवान के सन्त के प्रति तो ऐसा स्नेह-भाव रखना चाहिये, जैसा कि अपनी स्त्री या पुत्र अथवा माता-पिता और भाई के प्रति रहता है. तब ऐसे स्नेह से जीव कृतार्थ हो जाता है. यद्यपि अपने स्त्री-पुत्रादि तो कुपात्र तथा कुलक्षणवाले होते हैं, फिर भी यह जीव उनके दुर्गुणों पर किसी भी प्रकार से ध्यान नहीं देता. भगवान के जो भक्त हैं वे तो समस्त शुभगुणों से युक्त होते हैं. यदि वे कभी तनिक-सा भी कटु वचन बोल देते हैं तो इस जीव के लिये यह बात काँटे की तरह चुभती रहती है. जिसकी ऐसी वृत्ति बनी

---

* शुक्रवार, ६ अगस्त, १८२४.

हुई है, उसके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता है कि अपने सम्बन्धीजनों पर उसका जो स्नेह है वैसा ही स्नेह भगवान के उन भक्तों पर भी है. इसलिए, उसका कल्याण भी नहीं होता. सन्त की पूर्वोक्त महिमा तो इतनी महान है कि उन सन्त तथा भगवान की प्राप्ति होने पर भी क्या किसी को ऐसी दुविधा रही है कि 'मेरा कल्याण होगा या नहीं ?' इसका क्या कारण है ? वस्तुतः उस जीव के लिये पूर्वजन्म में भगवान या भगवान के सन्त की प्राप्ति हुई ही नहीं है तथा उनकी सेवा भी उसने नहीं की है. उसके लिये तो इस जन्म में ही सत्संग का प्रारम्भ हुआ है, जो अग्रिम जन्म में फलीभूत होगा. जिसको पूर्वजन्म में भगवान या भगवान के भक्त की प्राप्ति हुई होगी तथा उसने उनकी सेवा की होगी. उसके लिये तो इस जन्म में भगवान या भगवान के भक्त में से स्नेह दूर ही नहीं होगा तथा निश्चय में भी अस्थिरता नहीं रहेगी, भले ही उसमें काम, क्रोध तथा लोभ सम्बन्धी संकल्प कदाचित् बना रहे, किन्तु भगवान सम्बन्धी निश्चय तो किसी भी रीति से नहीं मिट पायगा. वह किसी के वचन से नहीं मिटे, इसके सम्बन्ध में क्या कहना ? उसके लिये तो उसका मन यदि संशय उत्पन्न करेगा, तो भी सन्देह नहीं होगा. जैसी दृढ़ता [१]नाथभक्त की है या जैसी [२]विष्णुदास की थी जैसी [३]हिमराज शाह की थी या जैसी [४]काशीदास की है या जैसी [५]भालचन्द्र सेठ की थी या जैसी [६]दामोदर की है, वैसी दृढ़ता यदि उसमें रहे तो समझना चाहिये कि यह भगवान का पूर्वजन्म का भक्त है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥५९॥ ॥१९२॥

वचनामृत ६० : अखंड सुखानुभूति

संवत् १८८१ में श्रावण कृष्ण *चतुर्थी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे

---

* शनिवार, १३ अगस्त, १८२४.

१. कणभा गाँव के वैश्य भक्त.
२. डभाण के वैश्य भक्त.
३. सुन्दरीयाणा के वणिक भक्त.
४. बोचासण के वैश्य भक्त.
५. सुरत के वणिक भक्त.
६. अहमदाबाद के वैश्य भक्त.

के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत पाग बाँधी थी, सफेद पिछौरी ओढ़ी थी तथा श्वेत दुपट्टा धारण किया था. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ करिये.' तब मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! इस संसार में तो कितने ही प्रकार के विक्षेप उपस्थित होते हैं. उनके सम्बन्ध में भगवान के भक्त को किस प्रकार की समझ रखनी चाहिये, ताकि उसके अन्तःकरण में अखंड सुखानुभूति होती रहे.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसके सम्बन्ध में हमसे जैसा आचरण होता है वैसे हम इसका उत्तर देते हैं. स्वयं के शरीर से भिन्न अपने आत्मस्वरूप की निरन्तर अनुभूति, मायिक पदार्थमात्र के नश्वर होने की समझ तथा भगवान के माहात्म्य के ज्ञान से कोई भी विक्षेप बाधक नहीं बनने पाता. जब किसी प्रकार के विक्षेप का योग उपस्थित होता है तब चित्त की प्रवृत्ति के अनुसार बाह्य रूप से तो वह विक्षेप-सा दिखायी पड़ता है, किन्तु उस विक्षेप का अपनी आत्मा में तो दाग नहीं लगता. उसका स्वरूप कैसे मालूम होता है ? सुनिये, मनुष्य जब सोते हैं तब बाह्य विक्षेप स्वप्न में भी नहीं दिखायी पड़ता. यदि चैतन्यावस्था में विक्षेप पैठा हो तो वह तीनों अवस्थाओं में प्रतीत होता है. इसलिए, स्वप्न में किसी भी तरह से विक्षेप की प्रतीति नहीं होती. इस कारण ऐसा मान लेते हैं कि 'चैतन्यावस्था में विक्षेप किसी भी प्रकार से लागू नहीं होता.'

यदि भगवान के भक्त को किसी भी प्रकार के दुःख का विक्षेप हुआ हो, तो वह अन्तःकरण में अच्छी तरह प्रतीत होता है. परन्तु, उसकी प्रतीति न होती हो, ऐसी बात नहीं है. यदि रघुनाथदास जैसा कोई विमुख पुरुष हो, तो उसे यह प्रतीत नहीं होता. जब रामानन्द स्वामी ने देहोत्सर्ग किया तब समस्त सत्संगीजन तो रोने लगे, किन्तु रघुनाथदास को तो लेशमात्र भी शोक नहीं हुआ. उस समय भी वह हँस रहा था और दूसरों से बात कर रहा था. जब भगवान के भक्त को दुःख होता है तब चांडाल और विमुख पुरुष को उससे भले ही दुःख न हो, परन्तु भगवान का भक्त तो किसी भी हरिभक्त के दुःख से अवश्य ही व्याकुल हो जाया करता है. यदि भगवान के भक्त को कोई मार डालता हो या उसे कोई दुःख देता हो, तो ऐसी स्थिति में यदि

कोई पुरुष भगवान के उस भक्त के बीच में आकर मर जाता हो या घायल हो जाता हो तो उसके सम्बन्ध में शास्त्रों में ऐसा कहा गया है कि इस प्रकार प्राणाहुति देने तथा आहत होने से 'उसके ब्रह्महत्यादि पंचमहापाप मिट जाते हैं.' भगवान के भक्त का पक्ष रखने का ऐसा प्रताप है.

जिस पुरुष को भगवान के भक्त का वचन बाण की तरह हृदय में चुभता हो और वैर-भाव से उसका मनमुटाव हो जाय, तो उसके जीवित रहने के समय तक वह नहीं मिट पाता. ऐसे चांडाल-सदृश जीव का धर्मयुक्त, त्यागयुक्त तथा तपयुक्त होना वृथा है. अन्य कोटि उपाय करने पर भी उस पुरुष के जीव का कभी भी कल्याण नहीं होगा. इस संसार में जैसे कोई स्त्री अपने पति तथा अन्य पुरुष के प्रति समान रूप से स्नेह-भाव रखती है तो उसे वेश्या की भाँति दुष्ट स्त्री कहा जाता है, वैसे ही इस संसार में जो पुरुष ऐसा कहता है कि 'अपने लिये तो सभी साधु एकसमान हैं, इनमें से किसको अच्छा और किसको बुरा कहें,' वह यदि सत्संगी कहलाता है तो भी उसे विमुख ही समझना चाहिये. कोई पुरुष ऐसा मानता है कि 'यदि हम कुछ उलटा-सुलटा बोलेंगे, तो मनुष्य हम पर आक्षेप करेंगे.' इस प्रकार यदि कोई पुरुष अपनी सज्जनता जताने के लिये भगवान या भगवान के भक्त के विरुद्ध कोई अनुचित वचन बोलता है और उसे वह सुनता रहता है, तो सत्संगी कहलाने पर भी उसे विमुख समझना चाहिये. जिस प्रकार अपने सम्बन्धियों एवं स्नेहीजनों अथवा माता-पिता के प्रति पक्षपात की भावना रहती है, वैसे ही भगवान के भक्त का भी पक्ष दृढ़तापूर्वक रखना चाहिये. यदि भगवान के भक्त के साथ किसी प्रकार का विक्षेप हो जाय तो जल में लकीर की तरह उसको समाप्त करके उसके साथ पुनः एकता बद्ध हो जाना चाहिये, किन्तु वैर-भाव नहीं रखना चाहिये. ऐसा आचरण करनेवाला पुरुष ही भगवान का यथार्थ भक्त कहलाता है.'

इतनी वार्ता करने के पश्चात् श्रीजीमहाराज इस प्रकार बोले कि 'मैं तो दत्तात्रेय, जड़भरत, नारद तथा शुकजी के सदृश दयावान हूँ. पूर्वदेश (जगन्नाथपुरी) में एक समय जब मैं नागाबाबाओं और बैरागियों की जमात के साथ रहा था तब सभी बैरागियों ने मुझसे यह कहा कि 'चौलाई की हरी भाजी तोड़ो.' तब मैंने कहा कि 'इसमें तो जीव है, उसे हम नहीं तोड़ेंगे.' इस पर एक आदमी ने म्यान से तलवार निकालकर घुड़की दी. फिर भी, हमने

हरी भाजी नहीं तोड़ी. ऐसा हमारा दयामय स्वभाव है. यदि कोई पुरुष भगवान के भक्त को क्रूर दृष्टि से देखता हो और वह अपना सगा तथा स्नेही व्यक्ति ही क्यों न हो, तो भी ऐसी भावना उत्पन्न होती है कि 'उसकी आँखें फोड़ डालें और यदि वह हाथ द्वारा भगवान के भक्त को दुःखित करता है तो उसका हाथ काट डालें.' इस प्रकार उसका दोष दीख पड़ता है, परन्तु वहाँ दयाभाव नहीं रहता. जिसके हृदय में भगवान तथा भगवान के भक्त के प्रति इस प्रकार की पक्षपात की भावना रहती है, उसे ही भगवान का पूर्ण भक्त कहा जाना चाहिये.' ॥ इति वचनामृतम् ॥६०॥ ॥१९३॥

वचनामृत ६१ : पक्का सत्संगी

संवत् १८८१ में श्रावण कृष्ण *सप्तमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने मस्तक पर सुनहरा पल्लेदार श्वेत शेला बाँधा था, दूसरा सफेद शेला ओढ़ा था, श्वेत दुपट्टा धारण किया था और मोगरे के फूलों के हार पहन थे. उसके मुखारविन्द के समक्ष देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसमें तीन गुण हों वह पक्का सत्संगी कहलाता है. वे तीन गुण कौन-से हैं ? सुनिये, इनमें से पहली बात तो यह है कि अपने इष्टदेव ने जो नियम धारण करवाये हों, उन्हें शिरोधार्य करके उनका पालन करते रहना चाहिये, परन्तु इस धर्म का कभी भी परित्याग नहीं करना चाहिये. दूसरी बात यह है कि भगवान के स्वरूप का निश्चय अत्यन्त दृढ़तापूर्वक होना चाहिये. उसमें यदि कोई संशय उत्पन्न करे, तो भी सन्देह उत्पन्न न हो सके. यदि अपना मन भी संशय उत्पन्न करे, तो भी कोई संशय न रहे. भगवान सम्बन्धी ऐसा अडिग निश्चय होना चाहिये. तीसरी बात यह है कि अपने इष्टदेव का भजन करनेवाले सत्संगी वैष्णवजनों का पक्ष ही ग्रहण करना चाहिये. जैसे माता-पिता अपने लड़का-लड़की का, पुत्र अपने पिता का और स्त्री अपने पति का पक्ष रखती है, वैसे ही भगवान के भक्त का पक्ष रखना चाहिये. जिसमें ये तीन गुण

* बुधवार, १७ अगस्त, १८२४.

परिपूर्ण रूप से रहें वही पक्का सत्संगी कहलाता है.

हरिभक्तों की सभा में जो पुरुष अग्रस्थान में आकर बैठता हो, तो दूसरों को यह मालूम पड़ता है कि 'यह बड़ा सत्संगी है.' परन्तु, बहुत बड़े की कसौटी तो यह है कि गृहस्थ अपना सर्वस्व केवल भगवान तथा भगवान के भक्त के लिये ही सुरक्षित रखता है. सत्संग के लिये यदि अपने प्राण न्यौछावर करने की जरूरत पड़ जाय तो उसके लिये वह अपने प्राण अर्पित कर देता है. अपने इष्टदेव जिस क्षण यह आज्ञा दें कि 'तू परमहंस बन जा,' तो वह तुरन्त परमहंस बन जाता है. जिसके ऐसे लक्षण हों, वह हरिभक्तों की सभा में आगे बैठे या पीछे, परन्तु उसी को समस्त हरिभक्तों में अग्रगण्य समझना चाहिये. जो त्यागी हो वह जब देश-परदेश में जाय और उसके समक्ष यदि कभी कनक कामिनी का योग उपस्थित हो जाय, तो भी वह उससे किसी भी प्रकार से विचलित नहीं होता. जो पुरुष अपने निर्धारित नियमों को दृढ़तापूर्वक बनाये रखता है वही समस्त त्यागीजनों में बड़ा कहलाता है.

संसार में जो कोई बड़ा रजोगुणी मनुष्य कहलाता हो, वह जब सभा में आवे तब उसे आदरपूर्वक सभा के अग्रस्थान में बैठाना चाहिये. ज्ञानी तथा त्यागी को भी यह व्यवहार करना चाहिये. यदि वह ऐसा व्यवहार नहीं करता है, तो उसके परिणामस्वरूप अनिष्ट हो जाता है. एक बार राजा परीक्षित शामिक ऋषि के आश्रम में गये. उस समय ऋषि समाधि में थे. इस कारण राजा का स्वागत-सत्कार न हो सका. तब राजा अत्यन्त कुपित हो गया और उसने ऋषि के गले में एक मरा हुआ साँप डाल दिया. इस कारण उन ऋषि के पुत्रने राजा को शाप दे दिया. इस शाप के फलस्वरूप सात दिन में ही राजा की मृत्यु हो गयी.

एक बार ब्रह्मा की सभा में दक्षप्रजापति आये, तब शिवजी खड़े न हुए और न उन्होंने वचन द्वारा ही उनका कोई सम्मान किया. इससे दक्ष क्रुद्ध हो गये और उन्होंने शिव को यज्ञ में से मिलने वाले उनके भाग से वंचित कर दिया. बाद में नन्दीश्वर तथा भृगु ऋषि ने भी परस्पर शाप दिया. उस शाप के फलस्वरूप सती ने दक्ष के यज्ञ में स्वयं को भस्म कर दिया. इस कारण वीरभद्र ने दक्ष का मस्तक काटकर यज्ञाग्नि में झोंक दिया. तब दक्ष का मुख बकरे का मुँह हो गया.

इसीलिए, गृहस्थों तथा त्यागीजनों को सदैव इस नियम को बनाये रखना चाहिये कि 'संसार के व्यावहारिक जीवन में जो मनुष्य बड़ा आदमी कहलाता हो, सभा में उसका किसी भी तरह से अपमान नहीं करना चाहिये.' जो कोई मनुष्य ऐसे पुरुष का अपमान करेगा, उस कारण उसे अवश्य ही दुःखित होना पड़ेगा तथा भगवान के भजन एवं नाम-स्मरण में भी बाधा पड़ जायगी. इसीलिए, समस्त सत्संगी गृहस्थों तथा सभी त्यागीजनों को इस वार्ता का दृढ़तापूर्वक पालन करते रहना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥६१॥ ॥१९४॥

वचनामृत ६२ : एकाग्रतापूर्ण भजन

संवत् १८८१ में मार्गशीर्ष शुक्ल *द्वितीया को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी, सफेद चादर ओढ़ी थी और श्वेत दुपट्टा धारण किया था. श्रीजीमहाराज के मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने अपने भतीजों अयोध्याप्रसादजी तथा रघुवीरजी को बुलवाया और उनसे वे यह बोले कि 'आप हमसे प्रश्न पूछिये. सबसे पहले अयोध्याप्रसादजी ने प्रश्न पूछा कि इस संसार में ऐसा पुरुष भी होता है, जो आठों प्रहर तो संसार की विड़ंबनाओं से ग्रस्त रहता है और जब-तब उचित-अनुचित कर्म भी कर बैठता है. फिर भी, यदि वह एक घड़ी या दो घड़ी तक भगवान का भजन करता हो, तो क्या उस भजन के फलस्वरूप उसके सारे दिन के किये हुए पाप भस्म हो जाते हैं या नहीं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'सारे दिन प्रवृत्ति-मार्ग में रहकर चाहे कैसी भी क्रिया क्यों न की हो, फिर भी यदि वह पुरुष भगवान का भजन करने बैठ जाय और भजन करते समय उसकी इन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा जीव, ये सब एकाग्र होकर भजन करने जुट जायँ और वे यदि इस प्रकार एक घड़ी आधी घड़ी भगवान का भजन करने में तत्पर हो जायँ तो समग्र पाप भस्म हो

* मंगलवार, २२ नवम्बर, १८२४.

जाते हैं. यदि इन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा जीव एकाग्रतापूर्वक भगवान का भजन करने में तत्पर नहीं होते तो उस पुरुष द्वारा किये गये घड़ी आधी घड़ी के भजन से पाप भस्म नहीं हो सकते. उस पुरुष का कल्याण तो भगवान के प्रताप से होता है. इस प्रश्न का यही उत्तर है.'

इसके पश्चात् रघुवीरजी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! इस जीव का मोक्ष किस प्रकार का कर्म करने से होता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसको आत्मकल्याण की इच्छा हो, उसको अपनी देह धन, धाम तथा कुटुम्ब-परिवार को भगवान की सेवा में लगा देना चाहिये तथा भगवान की सेवा में जो पदार्थ काम में न आवें उनका परित्याग कर डालना चाहिए. जो पुरुष इस प्रकार भगवत्पारायण होकर आचरण करता रहता है, वह गृहस्थाश्रमी होने पर भी मरणोपरान्त भगवान के धाम में नारदसनकादि की पंक्ति में स्थान प्राप्त करता है और उसका परम मोक्ष हो जाता है. इस प्रश्न का यही उत्तर है.'

इस प्रकार, श्रीजीमहाराज वार्ता करने के पश्चात् पुनः स्वेच्छा से यह बोले कि 'जिस दिन से हमने विचार किया है, तबसे हमारी नज़र में यह बात आती रही है कि जीव के कल्याण के लिये तीन अंग (अपने स्वाभाविक गुण) हैं और वे अति सुखदायी हैं.

उनमें से पहला अंग तो यह है कि अतिशय आत्मनिष्ठापूर्वक शुकजी की तरह आत्मरूप होकर परमेश्वर का भजन करना, दूसरा अंग पतिव्रता का अंग है कि गोपियों की तरह पतिभाव से भगवान का भजन करना, तथा तीसरा अंग दासभाव का है कि हनुमानजी और उद्धवजी की तरह दासभाव से भगवान का भजन करना. इन तीनों अंगों के बिना अन्य किसी भी रीति से जीव का कल्याण नहीं हो पाता. हम तो इन तीनों अंगों को सुदृढ़ करके रखते हैं. इन तीनों अंगों में से जिसका एक भी अंग सुदृढ़ बना रहे तो वह कृतार्थ हो जाता है. अब इन तीनों अंगोंवालों के लक्षणों को अलग-अलग करके बताते हैं.

इनमें आत्मनिष्ठावाले का तो यह लक्षण है कि एक ओर तो आत्मा है और दूसरी ओर देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, तीन गुण तथा पंचविषय आदि माया की टोली है. इन दोनों के बीच जो विचार रहे वह विचार ज्ञानस्वरूपी है. जिस प्रकार वायुरहित स्थान में दीपशिखा (दीपक की लौ) बिल्कुल

स्थिर रहती है, वैसे ही वह विचार भी स्थिर होकर रहता है. वह विचार देह, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण को आत्मा के साथ एकात्मभाव स्थापित नहीं करने देता. आत्मा के साथ भी वह विचार एकात्म नहीं हो पाता. जब जीव उस विचार को प्राप्त होता है तब उस जीव की वृत्ति, जो काशी जितनी दूरी तक रहती है, पास में वरताल तक आ जाती है. वही विचार जब और सुदृढ़ हो जाता है तब वही वृत्ति वरताल से इस [१]गढडा तक आ जाती है. फिर गढडाव्यापी लम्बी वृत्ति सिमटकर अपने देहव्यापी स्थान में बनी रहती है. इसके बाद यही वृत्ति देह में से भी और संकुचित होकर इन्द्रियों के गोलक में ही रहती है. इसके पश्चात् इन्द्रियों के गोलक से इन्द्रियों की वृत्तियाँ अन्तःकरणोन्मुख हो जाती हैं. इसके उपरान्त इन्द्रियों तथा अन्तःकरण की वृत्तियाँ आत्मा में विलीन हो जाती हैं. तभी यह कहा जाता है कि इस जीव की वासनामय लिंगदेह का विनाश हो गया. वही विचार जब इस जीव के साथ मिल जाता है तब उस जीव के हृदय में प्रकाश होता है तथा अपनी आत्मा का ब्रह्मरूप से दर्शन होता है. उस ब्रह्म में परब्रह्म नारायण का भी दर्शन होता है. तब उस दर्शन के करनेवाले भक्त को ऐसा अनुभव होता है कि 'मैं आत्मा हूँ तथा मुझ में परमात्मा अखंड रूप से व्याप्त रहे हैं.' इस रीति की अखंड स्थिति आत्मनिष्ठा की अत्युत्तम दशा है.

पतिव्रता का जो अंग है वह तो व्रज की गोपियों जैसा होना चाहिये. जिस प्रकार गोपियों ने जिस दिन से श्रीकृष्ण भगवान के चरणारविन्दों का स्पर्श किया उस दिन से उनके लिये संसार सम्बन्धी सभी सुख विष-सदृश हो गये, वैसे ही जिसको पतिव्रता के अंग की भक्ति हो जाय, तो इन्द्र जैसे रूपवान पुरुष, देवता के समान सुन्दर मनुष्य और किसी भी राजा पर नज़र पड़ जाने पर भी वह भक्तजन सड़े हुए कुत्ते या विष्ठा को देखने की तरह अत्यन्त ग्लानि होने के कारण वहाँ से अपनी दृष्टि को ही समेट लिया करता है. इस प्रकार दृष्टि समेटना ही उत्तम पतिव्रता की रीति है. इस प्रकार एकमात्र भगवान में ही पतिभाव से जिस पुरुष की वृत्ति जम गयी है उनका मन परपुरुष को देखकर प्रसन्न होता ही नहीं है.

---

१. चित्तवृत्ति की जो व्यापकता है वह प्रतिलोम भाव से संकुचित होकर आत्मा में स्थिर हो जाती है. यह समझाने के लिये दूरवर्ती काशी तथा उसके निकटस्थ वरताल एवं गढडा का दृष्टान्त दिया गया है.

इसी तरह, जिसको तीसरा अंग अर्थात् दासभाव से भक्ति का अंग है, उसके लिये भी केवल अपने इष्टदेव के दर्शन प्रिय लगते हैं, उन्हीं की वार्ता सुननी प्रिय लगती है तथा अपने इष्टदेव का स्वभाव ही प्रिय लगता है और पास में रहना रुचिकर लगता है. ऐसी प्रीतिवाला होने पर भी वह अपने इष्टदेव की सेवा तथा प्रसन्नता के लिये रात-दिन यही इच्छा करता रहता है कि 'मेरे इष्टदेव यदि मेरे लिये कोई आज्ञा प्रदान करें, तो मैं अतिशय हर्षपूर्वक उसका पालन करूँगा.' यदि अपने इष्टदेव आज्ञा करें, तो दूर जाकर रहने पर भी प्रसन्नता का अनुभव करता रहे, किन्तु उसके अन्तःकरण में किसी भी तरह की खिन्नता नहीं रहती तथा आज्ञा का पालन करने में ही उसके लिये आनन्द की अनुभूति होती रहती है. यह दासत्व भक्ति करने की उत्तम दिशा है. इस प्रकार की दासत्व भक्ति करनेवाले तो आज गोपालानन्द स्वामी हैं और दूसरे मुक्तानन्द स्वामी है.

भगवान के इन तीनों अंगोंवाले भक्तों में उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ स्तर के भी भक्त होते हैं. इनसे भिन्न जन तो केवल पामर कहलाते हैं. इसलिए, यही उचित है कि इन तीनों अंगों में से किसी भी एक अंग के परिपूर्ण होने पर ही शरीरान्त हो, परन्तु इन तीनों में से जिसका एक भी अंग परिपक्व न हुआ हो और इसी अवधि में यदि उसका मरण हो जाता है तो वह उचित नहीं होता. भले ही वह पाँच दिन ज्यादा जीवित रहे और अपने अज्ञान को दूर करके यदि इन तीनों अंगों में से किसी भी एक अंग को सुदृढ़ करके प्राणोत्सर्ग करे, तो यही ठीक रहता है.

इस जीव का तो ऐसा ही स्वभाव दीख पड़ता है कि 'जब वह गृहस्थाश्रम में रहता है तब उसके लिये संसार का त्याग करना प्रिय लगता है, किन्तु संसार का परित्याग कर देने के पश्चात् उसके हृदय में संसार सम्बन्धी सुख के संकल्प होते रहते हैं.' इस रीति से इस जीव का उलटा स्वभाव ही दीख पड़ता है. इसलिए, भगवान के दृढ़ आश्रित भक्त को तो इस प्रकार के उलटे स्वभाव का परित्याग करके अपनी समूची मनमानी छोड़कर भगवान का भजन करते रहना चाहिये तथा भगवान के सिवा अन्य समस्त वासनाओं को दूर करके ही प्राण छोड़ना ठीक रहता है. जिसको भगवान में अतिशय प्रीति न हो, उसको तो सद्विचारों द्वारा आत्मनिष्ठा को ही सुदृढ़ करते रहना चाहिये. भगवान के भक्त के लिये वस्तुतः यह बात

जरूरी है कि या तो उसमें आत्मनिष्ठा सुदृढ़ होनी चाहिये या भगवान में अतिशय दृढ़ प्रीति बनी रहनी चाहिये. इन दोनों अंगों में से जिसका एक भी अंग अतिशय सुदृढ़ नहीं है, उसको तो सत्संग के इन नियमों का ही दृढ़तापूर्वक पालन करते रहना चाहिये. तभी वह सत्संगी रह सकेगा अन्यथा सत्संग से विमुख होकर पथभ्रष्ट हो जायगा.

वास्तविक बात तो यह है कि भगवान के भक्त को जिस-जिस प्रकार के दुःखों का सामना करना पड़ता है उन दुःखों को देनेवाला काल, कर्म और माया में से कोई भी नहीं है, किन्तु स्वयं भगवान ही अपने भक्त का धैर्य देखने के लिये इन दुःखों को प्रेरित करते हैं. जैसे कोई पुरुष पर्दे के पीछे रहकर आगे की ओर देखता है, वैसे ही भगवान भी भक्त के हृदय में रहकर उसके धैर्य को देखते रहते हैं. 'फिर, भला काल, कर्म और माया की क्या मजाल कि वे भगवान के भक्त को पीड़ित कर सकें ? यह बात तो भगवान की इच्छा पर निर्भर रहती है.' ऐसा समझकर भगवान के भक्त को आनन्दमग्न रहना चाहिये.'

यह बात सुनकर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! आपने इन तीनों अंगों की जो बात बतायी है वह तो अतिसूक्ष्म होने के कारण दुर्बोध हो सकती है. यह बात कुछ पुरुषों की ही समझ में आ सकती है और कुछ पुरुष ही इस बात पर चल सकते हैं. सभी लोग न तो यह बात समझ सकते हैं और न उसके अनुसार आचरण ही कर सकते हैं. इस सत्संग में तो लाखों मनुष्य हैं, जिनके लिये बात समझ में आना मुश्किल है. इसीलिए, उन्हें क्या करना चाहिये, जिससे उनका कल्याण होता रहे.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इन तीनों अंगवालों में का जो हरिभक्त हो, उसका दासानुदास होकर यदि कोई पुरुष उसकी आज्ञा में रहे, तो वह कुछ भी नहीं समझने पर भी जीवित रहते ही भगवान का पार्षद हो चुका होता है और कृतार्थ हो जाता है. इस संसार में भगवान तथा भगवान के भक्त की महिमा तो अत्यन्त महत्वपूर्ण है. चाहे कैसा ही पामर और पतित जीव क्यों न हो, फिर भी भगवान तथा भगवान के भक्त का आश्रित होने पर वही जीव कृतार्थ हो जाता है. भगवान तथा भगवान के भक्त की ऐसी महान महिमा है. जिसको भगवान के भक्त की सेवा प्राप्त हुई है, उसे तो निर्भीक रहना चाहिये.

हमने इन तीनों अंगों की जो वार्ता कही है, वह तो बहुधा इन मुक्तानन्द स्वामी के लिये कही है. मुक्तानन्द स्वामी पर हमें बड़ा स्नेह है. उनके शरीर में रोग है, इस कारण किसी बात की समझ में खामी न रहने देने के लिये ही हमने यह वार्ता कही है.' मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'हे महाराज ! मैंने भी यह जान लिया है कि मेरे लिये ही आपने यह वार्ता कही है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥६२॥ ॥१९४॥

वचनामृत ६३ : द्रष्टा एवं दृश्य

संवत् १८८१ में मार्गशीर्ष कृष्ण *द्वितीया को श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने ठहरने के स्थान पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष भजनानन्द स्वामी श्रीमद्भागवत का पाठ कर रहे थे. उस समय परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! द्रष्टा (आत्मा) तथा दृश्य (देह और इन्द्रियों) के मध्य जो विचार रहा है, वह द्रष्टा तथा दृश्य को अलग-अलग रखने में जीव एवं इन्द्रियों तथा अन्तःकरण की जानकारी कितनी-कितनी जाननी चाहिये ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'हमें तो ऐसा ज्ञात होता है कि जिसका जीव अतिशय बलवान हो, उसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ जीव की ही वृत्तियाँ हैं. उसकी चार क्रियाओं (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) द्वारा चार विभाग प्रतीत होते हैं. उस अन्तःकरण तथा इन्द्रियों में जो जानकारी है, वह जीव की जानकारी है. वे इन्द्रियाँ अन्तःकरण के लिये जहाँ घटित हों, वहाँ उन्हें वह जीव चलने देता है. जहाँ ये घटित न हों वहाँ उन्हें वह नहीं चलने देता. जिसका जीव अतिशय बलवान हो उसके लिये तो बुरा स्वप्न भी नहीं आता.

जिसका भाव निर्बल होता है उसके लिये तो सांख्यमतानुसार अपनी आत्मा जो द्रष्टा है उस भाव से ही रहना चाहिये. इसलिए, उसे तो आत्मसत्तारूप से ही रहना चाहिये, किन्तु इन्द्रियों तथा अन्तःकरण का

---

* गुरुवार, ८ दिसम्बर, १८२४.

भावरूप नहीं होना चाहिये. इस प्रकार आत्मसत्तारूप रहने से उसका जीव बलवान होता है.

इससे भी अधिक बल प्राप्त करने का एक बहुत बड़ा उपाय यह है कि भगवान तथा भगवान के सन्त में प्रीति रहनी चाहिये, उनकी सेवा में प्रगाढ़ श्रद्धा होनी चाहिये तथा भगवान की नवधा भक्ति भी करनी चाहिये. जो पुरुष इस प्रकार प्रीति, श्रद्धा तथा भक्तिपरायण रहता है, उसके जीव को तत्काल अतिशय बल प्राप्त हो जाता है. जीव को सबल बनाने के लिये भगवान तथा भगवान के भक्तों की सेवा करने से बढ़कर कोई भी अन्य उपाय नहीं है.

हम अपने रहस्य की और भी वार्ता कहते हैं कि जब हम आषाढ़ी संवत् १८६९ में बीमार पड़ गए थे तब हमें कैलास तथा वैकुंठ दृष्टिगोचर हुए थे. हमने नन्दीश्वर और गरुड़ की सवारी भी की. हमें ऐसा दिखायी पड़ा. परन्तु, उस सामर्थ्य में हमारे लिये कोई भी रुचि नहीं रही. इसके पश्चात् हम केवल आत्मसत्तारूप रहने लगे. तब सभी झंझटों का अन्त हो गया. फिर भी, हमें ऐसा विचार हुआ कि 'आत्मसत्तारूप रहने से भी बढ़कर श्रेष्ठ जीव भगवान तथा भगवान के भक्त के साथ में देह-धारण करके रहना है.' इस कारण, हमें ऐसा भय हुआ कि 'आत्मसत्तारूप रहने से कभी देह धारण करना असंभव न हो जाय.' इसलिए, हमें यही उचित लगा कि देह-धारण करके भगवान तथा भगवान के भक्त के साथ में रहने पर उनकी जो कुछ भी सेवा बन जाय, वही अत्यन्त श्रेष्ठ साधन है. जब जीव का अन्त समय उपस्थित होता है तब अनेक प्रकार की आधिव्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं. बाद में जब भगवान तथा भगवान के सन्त के दर्शन होते हैं तब समस्त दुःखों का नाश हो जाता है. भगवान तथा भगवान के भक्त की ऐसी महान महिमा है. भगवान के भक्त तो वास्तव में ब्रह्म की ही मूर्ति हैं. उनके सम्बन्ध में तो मनुष्यभाव रखना ही नहीं चाहिये. जिस प्रकार हम अपने दैहिक कुटुम्बीजनों के हित के लिये उन्हें डाँटते हैं और वे हमें डाँटते हैं फिर भी मन में किसी भी तरह का मनमुटाव नहीं रहता, वैसे ही भगवान के भक्तों के साथ आचरण करना चाहिये.

जो पुरुष भगवान तथा भगवान के भक्तों के साथ मनमुटाव रखता है, उसको देखना भी हमें बिल्कुल अच्छा नहीं लगता. इसलिए, उस पर

उत्पन्न रोष भी कभी भी शान्त नहीं होता. इस संसार में पंच महापाप करनेवालों का कभी छुटकारा हो जाता है, किन्तु भगवान के भक्तों से द्वेष करनेवाले पुरुषों को तो कभी भी छुटकारा नहीं मिलता. इसलिए, भगवान के भक्तों की सेवा करने से बढ़कर कोई भी अन्य पुण्य नहीं हो सकता. भगवान के भक्तों से द्वेष करने से बढ़कर कोई दूसरा पाप नहीं होता. जिसे अपने जीव को सबल बनाने की इच्छा हो उसको तो भगवान तथा भगवान के भक्तों की मन, कर्म और वचन द्वारा शुद्ध भाव से सेवा करनी चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥६३॥ ॥१९३॥

वचनामृत ६४ : 'श्रीकृष्ण भगवान अवतार नहीं, अवतारी हैं'

संवत् १८८१ में पौष शुक्ल *सप्तमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के बरामदे में गद्दी-तकिया रखवाकर अपने मुखारविन्द को उत्तराभिमुख करके विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

स्वयम्प्रकाशानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! भगवान के जो अवतार हैं वे सब एक समान हैं अथवा उनमें न्यूनाधिक भाव हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'हमने व्यासजी द्वारा विरचित समस्त ग्रन्थ सुने हैं और उन पर पूर्वापर विचार करने से हमें ऐसा प्रतीत हुआ कि भगवान के जो मत्स्य, कच्छ, वाराह, नृसिंहादि अवतार हैं, उन समस्त अवतारों के अवतारी श्रीकृष्ण भगवान हैं. परन्तु, अन्य अवतारों के समान श्रीकृष्ण भगवान अवतार नहीं, बल्कि अवतारी ही हैं. ऐसे जो श्रीकृष्ण भगवान हैं वे अपने इष्टदेव हैं. उन श्रीकृष्ण भगवान के चरित्रों का सम्पूर्ण वर्णन श्रीमद्भागवत पुराण के दशम स्कन्ध में किया गया है. इसलिए, हमने अपने उद्धव-सम्प्रदाय में दशम् स्कन्ध को अत्यन्त प्रामाणिक माना है. अन्य सभी अवतार भी भगवान श्रीकृष्ण के ही हैं. इसीलिए, हमें इन अवतारों तथा इनका (अवतारों का) प्रतिपादन करनेवाले सभी ग्रन्थों को मानना चाहिये. किन्तु विशेषतः श्रीकृष्ण भगवान तथा उनका प्रतिपादन

* मंगलवार, २७ दिसम्बर, १८२४.

करनेवाले ग्रन्थों को ही मानना चाहिये.'

पुरुषोत्तम भट्ट ने प्रश्न पूछा कि 'भगवान जीवों के कल्याण के लिये इस जगत का सृजन करते हैं. यदि विश्व की रचना न की गयी हो और भगवान यदि माया के उदरस्थ जीवों का कल्याण कर दिया करें, तो क्या कुछ नहीं हो सकता कि जिसके लिये भगवान को विश्व की रचना करने के निमित्त इतना भारी प्रयास करना पड़ता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम तो राजाधिराज तथा अखंड मूर्ति हैं. वे अपने अक्षरधामरूपी सिंहासन पर सदैव विराजमान रहते हैं. उस अक्षरधाम के आश्रय में अनन्तकोटि ब्रह्मांड रहे हैं. जैसे किसी चक्रवर्ती राजा के असंख्य ग्राम हों और उनमें एक दो गाँव उजड़े हुए हों अथवा लोग वहाँ जाकर बस गये हों, उन पर तो राजा का कोई ध्यान ही नहीं जाता, वैसे ही श्रीकृष्ण भगवान अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के स्वामी हैं. उन ब्रह्माडों का एकसाथ कोई प्रलय नहीं होता. यदि उनमें से किसी एक ब्रह्मांड का प्रलय हो भी जाय, तो वह भगवान की दृष्टि में नगण्य ही रहता है.

उन श्रीकृष्ण भगवान का देवकीजी से जन्म तो कथनमात्र है. वे श्रीकृष्ण तो सदा अजन्मा हैं. उन श्रीकृष्ण भगवान का जो अक्षरधाम है, वह व्यतिरेकभाव से प्रकृतिपुरुष से परे है तथा अन्वयभाव से तो वह सभी स्थानों पर हैं. जिस प्रकार आकाश अन्वयभाव से सर्वत्र विद्यमान रहता है तथा व्यतिरेकभाव से तो वह चार भूतों से परे है, उसी तरह श्रीकृष्ण भगवान का अक्षरधाम है. उस अक्षरधाम में भगवान अखंड रूप से विराजमान रहते हैं. उस धाम में स्थित अनन्तकोटि ब्रह्मांडों में जहाँ जिसको जैसा दर्शन देना उचित होता है वहाँ वे उसको वैसा दर्शन देते हैं, जिसके साथ बोलना उचित होता है, उससे बोलते हैं और जिसका स्पर्श करना उचित लगता है, उसका स्पर्श करते हैं. जैसे कोई सिद्ध पुरुष किसी एक ही स्थान पर बैठे रहकर भी हज़ारों कोस दूर तक देखता रहता है और हज़ारों कोस दूर की बात सुनता रहता है, वैसे ही भगवान अपने अक्षरधाम में रहते हुए अनन्तकोटि ब्रह्मांडों में जहाँ जैसा दृष्टव्य होता है वहाँ वैसे दिखायी पड़ते हैं. वे स्वयं तो सदा अक्षरधाम में ही निवास करते हैं.

वे एक ठिकाने रहते हुए भी अनेक स्थानों में दीखते रहते हैं. यह तो उनकी योगकला है. जैसे रासमंडल में जितनी गोपियाँ थीं, उनके साथ

उन्होंने उतने ही स्वरूप धारण कर लिये थे. एक ही स्थान में रहते हुए अनेक स्थानों में दीखते रहना भगवान की योगकलात्मक व्यापकता है, परन्तु आकाश की तरह अरूपभाव से व्यापकता नहीं है. भगवान की योगमाया द्वारा ही पचास करोड़ योजन का पृथ्वी मंडल प्रलयकाल में परमाणुरूप हो जाता है और वह पृथ्वी फिर से सृष्टिकाल में परमाणु में से पचास करोड़ योजन हो जाती है और वर्षाकाल आने पर गड़गड़ाट होती है तथा आकाश में मेघ की घटाएँ छा जाती हैं. इस प्रकार की आश्चर्यजनक सभी घटनाएँ भगवान की योगमाया द्वारा घटित होती हैं.

ऐसे जो श्रीकृष्ण भगवान हैं वे मुमुक्षुओं के लिये सभी प्रकार से भजने योग्य हैं, क्योंकि अन्य अवतारों में तो एक या दो कलाओं का ही प्रवेश होता है, जबकि श्रीकृष्ण भगवान में तो सभी कलाएँ विद्यमान रहती हैं. वे श्रीकृष्ण भगवान तो रसिक भी हैं और त्यागी भी हैं, ज्ञानी भी हैं और राजाधिराज भी हैं, कायर भी हैं और शूर-वीर भी हैं, अतिशय कृपालु भी हैं और योगकला में प्रवीण भी हैं तथा अतिशय बलवान भी हैं और अत्यन्त छली भी हैं. इस प्रकार समस्त कलाओं से सम्पन्न तो एकमात्र श्रीकृष्ण भगवान ही हैं. उन श्रीकृष्ण भगवान के अक्षरधामाश्रित अनन्तकोटि ब्रह्मांडों में से जिसकी एक सौ वर्ष की आयु पूरी हो जाती है तब उस ब्रह्मांड का नाश हो जाता है, परन्तु समस्त ब्रह्मांडों का कभी भी नाश नहीं होता. अतएव, प्रलयकाल में किसलिए कल्याण करना चाहिये, साथ में सभी ब्रह्मांडों का अस्तित्व तो रहता ही है. इस प्रकार, इस प्रश्न का यह समाधान है.'

श्रीजीमहाराज ने इस तरह परोक्षभाव से अपने पुरुषोत्तमभाव की ही वार्ता की. इस वार्ता को सुनकर समस्त हरिभक्तों ने यह जान लिया कि ये ही जो श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम हैं वे ही भक्ति-धर्म के पुत्र ये श्रीजीमहाराज हैं.

॥ इति वचनामृतम् ॥६४॥ ॥१९७॥

वचनामृत ६५ : भक्तिरहित ब्रह्मज्ञान निरर्थक

संवत् १८८१ में पौष शुक्ल *एकादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के

* रविवार, १ जनवरी, १८२५.

मन्दिर के समीप पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'सुनिये, भगवान की वार्ता करते हैं.' इस पर, ताल पखावज लेकर कीर्तन कर रहे साधुओं ने कीर्तन बन्द कर दिया तथा वे सब हाथ जोड़कर वार्ता सुनने कि लिये बैठ गये.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जीव के कल्याण के लिये भगवान के जो रामकृष्णादि अवतार होते हैं, उन्हें तो मायाजन्य कार्यरूप इस जगत में किसी भी स्थान पर मोह नहीं रहता तथा वे अपने अलौकिक प्रताप द्वारा निःशंक रूप से कार्यरत रहते हैं. वे अपने भक्तजनों की भक्ति को अंगीकार करने के लिये पंचविषयों को भी अच्छी तरह भोगते रहते हैं. उन्हें देखकर तर्कवितर्क करनेवाले लोग परमेश्वर में दोष की कल्पना कर डालते हैं और ऐसा जानते हैं कि 'ये तो परमेश्वर कहलाते हैं, तो भी इनको अपनी अपेक्षा संसार में विशेष आसक्ति बनी हुई है.' ऐसा जानकर वे भगवान को भी अपने जैसा मनुष्य समझ ने लगते हैं. परन्तु, वे भगवान की अलौकिक महिमा को नहीं जानते. यही भगवान की माया है.

ब्रह्मस्थिति को प्राप्त हुए आत्मदर्शी साधुओं को भी इस संसार में किसी भी प्रकार का मोह नहीं रहता, तो ब्रह्म से भी परे परब्रह्मस्वरूपी श्रीकृष्ण भगवान यदि माया तथा मायाजन्य कार्य से निर्लिप्त रहें तो इसके सम्बन्ध में कहने की क्या बात है ? वे तो इसी प्रकार रहते ही हैं. आत्मनिष्ठावाले सन्त में तो आत्मनिष्ठा एवं तीव्र वैराग्य रहता है. उनके कारण उन्हें किसी भी प्रकार का बन्धन नहीं रहता, फिर भी यदि उनमें भगवान की भक्ति न रहे तो उनका यह आचरण ठीक उसी प्रकार निरर्थक होता है, जिस तरह विविध भोजन तथा अनेक प्रकार के व्यंजन नमक के न रहने पर स्वादरहित लगते हैं. वैसे ही, भगवान की भक्ति से रहित अकेला ब्रह्मज्ञान तथा वैराग्य भी निरर्थक रहता है और वह सदैव अकल्याणकारी ही होता है. ऐसा जानकर ही शुकदेवजी ब्रह्म स्वरूप होने पर भी श्रीमद्भागवत का पाठ किया करते थे तथा श्रीकृष्ण भगवान में दृढ़ भक्तिभाव रखा करते थे. यदि आत्मनिष्ठा रखनेवाले को भगवान की भक्ति न रहे, तो उसमें यह एक बड़ा दोष होता है.

जिसको भगवान में भक्ति होने पर भी यदि आत्मनिष्ठा एवं वैराग्य न रहे, तो भगवान से होनेवाली प्रीति के समान किसी अन्य पदार्थ में भी प्रीति हो सकती है. यह बात भक्तिवाले के लिये भी एक बड़े दोष की तरह होती है. जो पुरुष भगवान का परिपक्व भक्त होता है, वह तो भगवान की महिमा को यथार्थ रूप से जान लेता है, इसलिए उसको तो परमेश्वर के सिवा अन्य सभी वस्तुएँ तुच्छ प्रतीत होती हैं. इसलिए, वह किसी भी पदार्थ पर मोहित नहीं होता. अतएव, एकसाथ आत्मनिष्ठा, वैराग्य तथा भगवान में भक्ति रहने पर ही किसी भी तरह का दोष नहीं रहता. इन गुणों से युक्त पुरुष ही भगवान का ज्ञानी भक्त, एकान्तिक भक्त तथा अनन्य भक्त कहलाता है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥६५॥ ॥१९८॥

वचनामृत ६६ : 'जीव साकार है या निराकार ?'

संवत् १८८१ में पौष कृष्ण *प्रतिपदा को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, पीले पुष्पों और लाल गुलदावदी के फूलों के हार कंठ में पहने थे और उनकी पाग में पीले पुष्पों का तुर्रा लगा हुआ था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनिमंडल तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उनके समक्ष सन्तमंडल सरोद और दुक्कड़ लेकर विष्णुपद गा रहा था. कीर्तन भक्ति के पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि 'आज तो हमें अपने बड़े-बड़े सन्तों से प्रश्न पूछना है.' ऐसा कहकर उन्होंने सर्वप्रथम आनन्द स्वामी से यह प्रश्न पूछा कि क्या 'कोई ऐसा पुरुष भी होता है कि जो अल्पबुद्धिवाला होने पर भी अपने में दोष देखता रहता है और अन्य हरिभक्तों में दोष रहने पर भी उन्हें नहीं देखता, बल्कि उनके गुणों को ही देखा करता है. उधर ऐसा अन्य पुरुष भी है, जो अधिक बुद्धिमान होने पर भी अपने अवगुणों को देखता ही नहीं है तथा अन्य हरिभक्तों के गुणों की उपेक्षा करके केवल उनके दोष को ही देखा करता है. इसका क्या कारण

* गुरुवार, ५ जनवरी, १८२४.

होगा कि एक पुरुष तो अल्पबुद्धि होने पर भी अपने दोषों को देखता है, जबकि अधिक बुद्धिमान पुरुष को अपने दोष नहीं दिखायी पड़ते ?'

इस पर आनन्द स्वामी को यह प्रश्न जैसा समझ में आया वैसा उन्होंने इसका उत्तर दिया, किन्तु प्रश्न का यथेष्ट समाधान न हो सका. तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका उत्तर यह है कि अधिक बुद्धिवाले पुरुष ने इस जन्म अथवा किसी जन्मान्तर में भगवान के भक्त के विरुद्ध कोई बड़ा अपराध किया है, जिसका पाप लगने के कारण उसकी बुद्धि दोषयुक्त है. इस कारण उसे हरिभक्तों के दोष दिखायी पड़ते हैं, किन्तु अपने दोष नहीं दीखते.'

ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज ने नित्यानन्द स्वामी से प्रश्न पूछा कि 'भगवान को प्राप्त करने का एक ही साधन है अथवा अनेक साधनों द्वारा ही भगवान प्राप्त किये जाते हैं ?' तब आप यह कहेंगे कि 'ज्ञान, वैराग्य, भक्ति तथा धर्म के साधनों द्वारा भगवान प्राप्त किये जाते हैं. जब इन चार साधनों द्वारा भगवान की प्राप्ति होती है, तब भगवान का एकमात्र आश्रय ग्रहण करने से ही कल्याण हो जाय, ऐसे अनन्य भाव का आधार रहा ही नहीं.' नित्यानन्द स्वामी ने अनेक प्रकार से उत्तर दिया, किन्तु प्रश्न का समाधान नहीं हुआ.

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'कल्याण तो भगवान के एकमात्र आश्रय से ही होता है. फिर भी, भगवान अतिसमर्थ हैं तथा समग्र ब्रह्मादिदेव उनकी आज्ञा का पालन करते रहते हैं. इसी प्रकार समस्त ब्रह्मांडों के कारण कालमायादि भी भगवान के भय से सावधान होकर भगवान की आज्ञा में रहते हैं. इसलिए, भगवान के भक्त को भगवान की आज्ञा को दृढ़तापूर्वक मानते रहना चाहिये. भगवान के भक्त का यही लक्षण है. इसलिए, सभी साधन सुदृढ़ करके रखें, अर्थात् एकमात्र भगवान द्वारा ही कल्याण होता है. जो साधन हैं, वे तो भगवान की प्रसन्नता के लिये हैं.'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने ब्रह्मानन्द स्वामी से पूछा कि 'इस देह में जीव साकार है या निराकार ?' ब्रह्मानन्द स्वामी ने कहा कि 'जीव तो साकार है.'

श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'यदि जीव साकार हो तो वह करचरणादि-युक्त हुआ तब श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में वेदस्तुति के अध्याय में

ऐसा कहा गया है कि 'भगवान ने जीव के कल्याण के लिये उस जीव की बुद्धि, इन्द्रियों, मन एवं प्राण का सृजन किया.' यदि वह जीव साकार ही हो तो उसके लिये बुद्धि, इन्द्रियों, मन तथा प्राण का सृजन करने का क्या काम है ? इसलिए, इस प्रकार के शास्त्र-वचनों को देखने से यही निष्कर्ष निकलता है कि जीव स्वरूप-स्वभाव से तो सत्तामात्र तथा चैतन्य तत्त्व है और अनादि-अज्ञानरूप कारणशरीर से युक्त है. जैसे चुम्बक लोहे को खींचकर उसके साथ चिपक जाता है वैसे ही उस जीव का भी चिपक ने का स्वभाव है. इसलिए, मायिक स्थूल सूक्ष्म-द्योतक दोनों शरीर उसके साथ चिपक जाते हैं और वह जीव अज्ञानवश उन शरीरों में अपनापन मान बैठता है, परन्तु, वास्तव में यह जीव शरीर जैसा नहीं है.'

ब्रह्मानन्द स्वामी ने कहा कि 'जब भगवान की भक्ति द्वारा इस जीव के अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तब इस जीव के साथ स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण नामक तीनों मायिक देहों का सम्बन्ध नहीं रहता. तब यह जीव भगवान के धाम में जाकर किस प्रकार के आकार से युक्त होकर रहता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब इस जीव के अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तब इसका इन तीनों मायिक देहों के साथ संग छूट जाता है. बाद में यह जीव केवल चैतन्य सत्ता मात्र रहता है. इसके पश्चात् भगवान की इच्छा से ही इस जीव के लिये भगवान की भूमि आदि आठ प्रकार की प्रकृतियों से भिन्न चैतन्य प्रकृतिजन्य देह का निर्माण होता है. उस देह से युक्त होकर ही वह भगवान के अक्षरधाम में रहता है.'

गोपालानन्द स्वामी से श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'जो [१]अष्टांगयोग सिद्ध होता है अथवा आत्मदर्शन होता है, वह तो भगवान तथा भगवान के सन्त की कृपा से होता [२]है. इस योग तथा आत्मदर्शन की सिद्धि होने के कारणरूप जो भगवान तथा भगवान के सन्त हैं उनके प्रति तो वृत्ति गौण हो जाती है, किन्तु अष्टांग योग तथा आत्मदर्शन में अधिकाधिक लगन लगी रहती है, उसका क्या कारण होगा ?'

गोपालानन्द स्वामी ने कहा कि 'उसको योगाभ्यास करते हुए योग

---

१. इस लोक में पुरुष भगवान का भजन करते हैं, जिनमें से कई भक्तों को.
२. इसलिए, उन भक्तों को भगवान तथा उनके सन्त में ही सर्वदा लगन लगाये रहना उचित है. तथापि, कुछ भक्तों ने.

सिद्ध हो जाता है, जिसका उसे कुछ अभिमान हो जाता है. इस कारण भगवान के प्रति उसकी वृत्ति कुछ गौण हो जाती है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'सिद्धदशा को प्राप्त कर लेने पर वह योगी ब्रह्मरूप हो जाता है. किन्तु, उस ब्रह्म में तो किसी प्रकार का [१]अभिमान नहीं रहता. इसलिए यह उत्तर यथार्थ नहीं हो सकता.'

गोपालानन्द स्वामी बोले कि 'हे महाराज ! यह बात तो कुछ भी समझ में नहीं आती. आप कृपा करके बताइये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसके सम्बन्ध में तो ऐसा समझना चाहिये कि [२]जब अपनी खामी दूर करनी हो, तब उसे बड़ों के वचनों की साक्षी लेकर दूर रहना चाहिये. जिस प्रकार किसी व्यावहारिक कार्य को पूर्ण रूप से सिद्ध करने लिये भद्र पुरुषों की साक्षी लेनी पड़ती है, वैसे ही यहाँ भी यह साक्षी है कि शुकदेवजी ब्रह्मस्वरूप होने पर भी श्रीमद्भागवत का अत्यन्त प्रीतिपूर्वक पाठ करते थे और आज तक भी भगवान की भक्ति ही करते हैं. शौनकादि अठासी हज़ार ऋषि ब्रह्मस्वरूप हैं, फिर भी वे सूत पुराणी के मुख से भगवान की कथा सुनते हैं. इस प्रकार के वचनों की सीख भक्ति की दृढ़ता के लिये लेनी चाहिये. जो खामी अपने में जानने में न आती हो उसके लिये भगवान के समक्ष प्रार्थना करनी चाहिये कि मुझ में जो-जो दोष हों, उनका कृपा करके नाश कर दीजिये. जैसे किसी के सिर पर दोष लगा हो और उस दोष को मिटाने के लिये कोई साक्षी न हो, तब वह लोहे के तपे हुए लाल गोले को उठाकर अपने दोष को मिटा डालता है, वैसे ही अपना जो दोष नहीं दीख पड़ता हो, उस दोष को दूर करने के लिये भगवान की स्तुति करनी चाहिये. यह स्तुति लोहे का गोला रखने-जैसी है. ऐसा करके अपना दोष मिटा डालना चाहिये.'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने मुक्तानन्द स्वामी से प्रश्न पूछा कि

---

१. देहाभिमानानियों में ही अभिमानजन्य दोष रहना सम्भव है.

२. वैसे भक्तों ने योग सिद्धिवालों तथा आत्मदर्शनवालों की आचरण-पद्धति को ही नहीं समझा है. पुरातन शुकादि योगी ब्रह्मरूप होने पर भी उस स्थिति को अन्त न मानकर भगवान की भक्ति ही करते रहते थे, ऐसा वृत्तान्त नहीं जानने के कारण भगवान तथा उनके सन्त के प्रति वृत्ति गौण हो जाती है और आत्मदर्शन में ही अधिकाधिक लगन लगी रहती है.

'यद्यपि भगवान को यथार्थ रूप से जान लिया हो और भगवान यदि चमत्कार न दिखाते हों, किन्तु जन्त्र-मन्त्रवाले अन्य पुरुष अगर चमत्कार दिखलाते हों तो उन्हें देखकर भगवान के भक्त का मन भगवान से कुछ डिग जाता है या नहीं डिगता ?'

मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'हे महाराज ! जिस पुरुष को भगवान सम्बन्धी यथार्थ निश्चय हो गया है उसको तो भगवान के सिवा और कहीं भी मन लगता ही नहीं है. यदि किसी अन्य स्थान में उसका मन लग गया है, तो उसको भगवान के सम्बन्ध में निश्चय ही नहीं हुआ है. वह तो [1]गुणबुद्धिवाला हरिभक्त कहलाता है, किन्तु उसे भगवान का यथार्थ भक्त नहीं कहा जाता.'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने शुकमुनि से पूछा कि 'भगवान के जिस भक्त ने भगवान तथा भगवान के सन्त का साक्षात्कार प्राप्त कर लिया हो उसको जीवित रहते क्या प्राप्ति होती है तथा मृत्यु होने के बाद क्या प्राप्ति होती है ?'

शुकमुनि बोले कि 'हे महाराज ! इसका उत्तर तो आप ही देंगे, तभी यह सम्भव होगा.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसको भगवान तथा भगवान के सन्त की प्राप्ति हो चुकी है उस जीव का दिन और रात्रि का समय तो आजीवन भगवान की कथा तथा कीर्तन करते-करते ही व्यतीत हो जाता है और तीनों अवस्थाओं से परे उसकी जीवात्मा का ब्रह्मरूप से साक्षात् दर्शन हो जाता है. ऐसे भक्त पुरुष को तो भगवान के सिवा अन्य पदार्थमात्र से वैराग्य हो जाता है और वह अधर्म का परित्याग करके धर्माचरण में ही प्रवृत्त रहता है. भगवान ऐसे भक्त का शरीरान्त होने पर उसको अपना जैसा स्वरूप ही प्रदान कर देते हैं, जैसा कि भगवान ने ब्रह्मा से कहा है कि 'हे ब्रह्मा ! जैसा मैं हूँ, जैसी मेरी महिमा है तथा जैसे मेरे गुण एवं कर्म हैं वैसे ही मेरे अनुग्रह से आपको विज्ञान हो.' जैसा कि ब्रह्मा से कहा गया है, वैसे ही भगवान अपने समस्त अनन्य भक्तों को भी ऐसी प्राप्ति कराते हैं. जिस प्रकार भगवान काल, कर्म तथा माया से रहित वैसे ही भगवान के भक्त भी

---

१. वह तो भगवान को भगवान न मानकर केवल इतना ही समझता है कि उनमें शुभ गुण हैं.

काल, कर्म और माया से रहित हो जाते हैं तथा भगवान की अखंडरूप से सेवा करने में लगे रहते हैं. देहान्त होने पर भक्त को ऐसी प्राप्ति होती है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥६६॥ ॥१९१॥

वचनामृत ६७ : स्वामीसेवक-भाव

संवत् १८८१ में माघ कृष्ण *तृतीया को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने ठहरने के स्थान में गंगाजलिये कुएँ के पास चबूतरे पर रखे हुए पलंग पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज के समक्ष साधु दुक्कड़-सरोद लेकर विष्णुपद[1] गा रहे थे. कीर्तन-भक्ति हो जाने के बाद श्रीजीमहाराज बोले कि 'हम सब सन्तों से यह प्रश्न पूछते हैं कि भगवान का जो भक्त देहोत्सर्ग करने के पश्चात् ब्रह्मरूप होकर भगवान के धाम में जाता है तब उसमें तथा भगवान में ऐसा कौन-सा अन्तर रहता है, जिसके कारण स्वामीसेवक-भाव का नाता बना रहता है. जिस प्रकार भगवान स्वतंत्र तथा काल, कर्म एवं माया के आवरण से रहित हैं वैसे ही भगवान का यह भक्त भी वैसा ही हो जाता है. इसलिए, इनके बीच ऐसा कौन-सा भेद रहता है, जिसके द्वारा स्वामीसेवक-भाव कायम रहता है ?'

परमहंसों में से जिसे भी जैसा समझ में आया वैसा उसने उत्तर दिया, फिर भी श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान न हो सका. तब सभी सन्तों ने यह निवेदन किया कि 'हे महाराज ! कृपया आप ही अपने इस प्रश्न का उत्तर दीजिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भगवान के जिस भक्त ने भगवान को ऐसा जान लिया हो कि भगवान इतनी सामर्थ्य एवं शोभा से युक्त हैं तथा ऐसे सुखरूप हैं और उसने उनकी जितनी महिमा जान ली है तथा भगवान को जितने प्रताप से युक्त समझा हो, वही

---

* सोमवार, ६ फरवरी, १८२४.

१. देखिये परिशिष्ट ३.

भक्त जब देहत्याग करके भगवान के धाम में जाता है तब भक्त का रूप एवं सामर्थ्य भी भगवान सदृश हो जाती है. फिर भी, उस भक्त को भगवान की सामर्थ्य एवं सुन्दरता आदि प्रताप तो भगवान में अत्यधिक प्रतीत होते हैं, तब वह भक्त यह समझने लगता है कि मुझे भगवान के जितने प्रताप तथा सौन्दर्य की प्रतीति हुई है, उतना ऐश्वर्य तथा सुन्दरता तो भगवान ने मुझे भी प्रदान की है, फिर भी भगवान का ऐश्वर्य तथा भगवान की सुन्दरता तो अतिशय अपार दिखायी पड़ती है. इसलिए, मेरे जैसे अनेक पुरुष भगवान के साधर्म्य-भाव को प्राप्त हो चुके हैं, तथापि कोई भी भक्त भगवान सदृश होने में समर्थ नहीं हो पाता, क्योंकि भगवान की जो महिमा है और भगवान में जैसे गुण, कर्म, जन्म, सामर्थ्य, सौन्दर्य तथा सुखदायक भाव आदि जितने अनेक कल्याणकारी गुण विद्यमान हैं, उनका पार पाने में तो शेष, शारदा, ब्रह्मादि देवता तथा चारों वेद भी समर्थ नहीं हो पाते, भगवान भी स्वयं अपनी महिमा का पार नहीं पाते हैं, क्योंकि वे अनन्त हैं. इसलिए, भगवान तो समस्त सामर्थ्यों से अपार हैं.

उन भगवान का भजन करके अनन्त कोटि वैष्णवजन भगवान-सदृश हो गये हैं. फिर भी, भगवान में से उनका किसी भी प्रकार का प्रताप अणुमात्र भी कम नहीं हुआ है. जैसे पेय (मीठे) जल का सागर लबालब भरा हुआ हो, उसमें से मनुष्य, पशु, पक्षी सभी अपनी इच्छा के अनुसार पानी पी लेते हैं तथा जल से पात्र भी भर लिये जाते है, तो भी उसका पानी कम नहीं होता, क्योंकि समुद्र तो अगाध है, वैसे ही भगवान की महिमा भी अतिशय अपार है, जो किसी भी प्रकार से न्यूनाधिक नहीं होती, इसीलिए, भगवान के जो भक्त ब्रह्मस्वरूप हो चुके हैं, वे भी भगवान के दृढ़ सेवक होकर भगवान का भजन करते रहते हैं. इस प्रकार, भगवान के भक्त भगवान के साधर्म्य-भाव को प्राप्त करते हैं. फिर भी, स्वामीसेवक-भाव तो बना ही रहता है.' ।। इति वचनामृतम् ।।६७।। ।।२००।।

।। श्रीगढडा-मध्यप्रकरणं समाप्तम् ।।

।। श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ।।

श्रीवरताल प्रकरण के वचनामृत

वचनामृत १ : 'मन के साथ वैर करना चाहिये'

सम्वत् १८८२ में कार्तिक शुक्ल *एकादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर से उत्तर की ओर गोमतीजी के तट पर आम्रकुंज में सिंहासन पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत चूड़ीदार पायजामा और सफेद अंगरखा पहना था, गाढ़े रंग का दुपट्टा कमर में बाँधा हुआ था और मस्तक पर सुनहरे तारों के पल्लेवाला कुसुम्भी दुपट्टा बाँधा था. उनके कन्धे पर जरी के पल्लेवाला कुसुम्भी दुपट्टा पड़ा हुआ था, कंठ में गुलाब के पुष्पों के हार थे, मस्तक पर गुलाब के फूलों के तुर्रे थे और भुजाओं में गुलाब के गजरे और बाजूबन्द थे. ऐसी शोभा को धारण किये हुए वे उत्तर की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

वड़ोदरा निवासी शोभाराम शास्त्री ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! मुमुक्षु पुरुष निर्विकल्प समाधि को प्राप्त होने पर गुणातीत तथा भगवान का एकान्तिक भक्त हो जाता है, किन्तु जिसे निर्विकल्प समाधि न लगे, उसकी कैसी गति होती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'प्राण का निरोध होने पर ही निर्विकल्प समाधि लगे, [1]ऐसी बात नहीं है. वास्तव में निर्विकल्प समाधि की तो रीति दूसरी [2]है, उसे कहते हैं, सुनिये. श्रीमद्भागवत में कहा गया है :—

'अत्र[3] सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः ।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ।।'

---

* मंगलवार, २१ नवम्बर, १८२५

१. केवल.

२. प्रकारान्तर से भी.

३. सर्गः— महदादि पृथिव्यन्त तत्त्वों की उत्पत्ति, अर्थात् वैराजपुरुष तक की

इस श्लोक का अर्थ यह है कि विश्व के सर्गविसर्गादि ९ लक्षणों द्वारा विज्ञात आश्रयरूप श्रीकृष्ण भगवान के स्वरूप में जिस मुमुक्षु की अचल मति हो गयी हो, जिस तरह आम के वृक्ष की एक बार अच्छी तरह जानकारी हो जाने के बाद काम, क्रोध तथा लोभ के होने के बावजूद आम के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की भ्रान्ति नहीं होती कि 'आम का वृक्ष होगा या नहीं', वैसे ही जिसे प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण भगवान के स्वरूप का दृढ़ निश्चय हो गया हो और उसमें किसी भी प्रकार का कुतर्क न हो, तो उस पुरुष के प्राण लीन न होने पर भी निर्विकल्प समाधि रहती है और प्राणों के लीन होने पर भी निर्विकल्प समाधि रहती है.

जिसे भगवान के स्वरूप में संकल्प-विकल्प रहता हो कि 'ब्रह्मपुर, श्वेतद्वीप तथा वैकुंठ में भगवान का स्वरूप कैसा होगा तथा उस स्वरूप का दर्शन कब होगा ?' परन्तु प्रकट रूप से भगवान के मिलने पर उन्हें ही सबका कारण जानकर उससे स्वयं को कृतार्थ नहीं माने तथा ऐसे पुरुष को यदि दैव-[1]इच्छा से समाधि हो जाये और फिर भी संकल्प-विकल्प नहीं मिटे तथा समाधि में जो कुछ दिखायी पड़े, उससे नया-नया देखने की इच्छा तो हो, किन्तु मन का विकल्प नहीं मिटे और समाधि हो, तो भी सविकल्प रहे तथा समाधि न रहने पर भी सविकल्प स्थिति बनी रहे. यदि ऐसी दशा हो, तो उसे गुणातीत एकान्तिक भक्त नहीं कहा जा सकता. जिसे भगवान के स्वरूप का दृढ़ निश्चय हो गया हो, उसे समाधि रहने अथवा न रहने पर भी उसकी निर्विकल्प समाधि की स्थिति बनी रहती है.'

सृष्टि. विसर्गः– ब्रह्मा द्वारा की हुई सृष्टि. स्थानम्ः– भगवान की सर्वोत्कृष्ट शत्रुविजयादिरूप स्थिति. पोषणम्ः– जगत का रक्षणरूप भगवान का अनुग्रह. ऊतयः– कर्मवासना. मन्वन्तरकथाः– सद्धर्म, भगवान द्वारा अनुग्रहीत मन्वन्तराधिपोंका का धर्म. ईशानुकथाः– भगवान के अवतारचरित्रों की कथा तथा उनके एकान्तिक भक्तों के नानाविध आख्यानों की सत्कथा. निरोधः– जीवसमुदाय का अपनी-अपनी कर्मशक्तियों के साथ सूक्ष्मावस्थावाली प्रकृति में रहना. मुक्तिः– देवमनुष्यादिरूप का त्याग करके स्वरूप से (अपने अपहतपाप्मत्वादि गुणाष्टकवाले विशिष्ट रूप से) रहना. आश्रयः– जिनसे जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय होता है, जिनका श्रुतिस्मृतियों द्वारा 'परब्रह्म परमात्मा' इत्यादि शब्दों से वर्णन किया जाता है.

१. भगवान की इच्छा या पूर्वजन्म के संस्कार के फलस्वरूप.

दीनानाथ भट्ट ने प्रश्न पूछा कि 'मन में होनेवाले संकल्प-विकल्पों को टालने का उपाय करने पर भी यदि मन को नहीं जीता जा सके, तो उसकी कैसी गति होती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब कौरवों और पांडवों में युद्ध प्रारम्भ हुआ, तब कौरवों तथा पांडवों ने यह विचार किया कि 'हमें ऐसे स्थान पर युद्ध करना चाहिये, जहाँ किसी के भी मरने पर उसके जीव का कल्याण हो.' ऐसा विचार करके दोनों पक्षों ने कुरुक्षेत्र में युद्ध किया. उसमें जिनकी जीत हुई उनका भी भला हुआ और संग्राम में मारे गये लोगों को भी देवलोक की प्राप्ति हुई तथा राज्य से अधिक सम्मान प्राप्त हुआ.

इसी प्रकार जो कोई पुरुष मन के साथ संघर्ष करता है और उसे जीत लेता है, तो उसकी निर्विकल्प स्थिति हो जाती है और वह भगवान का एकान्तिक भक्त हो जाता है. यदि मन के आगे उसकी हार हो गयी, तो वह [१]योगभ्रष्ट होता है तथा एक या दो जन्मों में अथवा अनेक जन्म लेने पर एकान्तिक भक्त होता है. वास्तव में उसने जो प्रयास किया है वह निष्फल नहीं होता. इसीलिए, बुद्धिमान पुरुष को अपने कल्याण के लिये मन के साथ वैर करना चाहिये. ऐसा होने पर यदि वह मन को जीत लेगा, तो अच्छा है. यिद मन से उसकी हार हो गयी, तो भी योगभ्रष्ट होगा. उसमें अन्ततः कल्याण ही होता है. अतएव, कल्याण के इच्छुक पुरुष को मन के साथ जरूर वैर करना चाहिये.' ॥ इति वचनामृतम् ॥१॥ ॥२०१॥

वचनामृत २ : निरन्नमुक्तों को भगवान के दर्शन

सम्वत् १८८२ में कार्तिक शुक्ल *त्रयोदशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल के मध्य स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण मन्दिर से उत्तर दिशा की ओर गोमती के तट पर आम के वृक्ष के नीचे पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने पीला तास का चूड़ीदार पायजामा पहना था, लाल किमखाब की

---

* गुरुवार, २३ नवम्बर, १८२५

१. इसका अर्थ श्रीकृष्ण भगवान ने गीता मे इस प्रकार बताया है :– 'पार्थ ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते । न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात ! गच्छति ॥ प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः । शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥'

बगलबंडी पहनी थी, मस्तक पर जरीदार पल्लेकी कुसुम्भी पाग बाँधी थी और जरीदार पल्ले का कुसुम्भी शेला कन्धे पर डाला था, पाग में ऊपर चम्पा के पुष्पों के हार लगे हुए थे. कंठ में वे श्वेत पुष्पों के हार पहने हुए थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'कुछ प्रश्नोत्तर-कार्यक्रम प्रारम्भ करिये.' बुवा गॉव के पटेल कानदासजी ने हाथ जोड़कर पूछा कि 'हे महाराज ! भगवान किस प्रकार प्रसन्न होते हैं ?' श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि भगवान से द्रोह न किया जाय, तो वे प्रसन्न हो जाते हैं. तब आप कहेंगे कि द्रोह क्या है ? वस्तुत· समस्त जगत के कर्ता-हर्ता भगवान हैं. उन्हें इस प्रकार न समझकर यदि काल, माया, कर्म अथवा स्वभाव को विश्व का कर्ता-हर्ता समझा जायेगा, तो उससे भगवान के विरुद्ध द्रोह होता है, क्योंकि भगवान ही सबके कर्ता-हर्ता है और उनका त्याग करके केवल इन सबको (काल, कर्म, स्वभाव और माया को) ही ऐसा मानना भगवान के विरुद्ध अतिद्रोह है.

[१]इस प्रसंग मे एक दृष्टान्त है कि जिस प्रकार आप गाँव के पटेल हैं और यदि कोई पुरुष आपकी मुखियागिरी नहीं रहने दे, तो उसे आपका द्रोही कहा जायगा. यदि चक्रवर्ती राजा की आज्ञा का उल्लंघन करके किसी अन्य व्यक्ति का, जो राजा न हो, आदेश माना जाय, तो वह पुरुष राजा का द्रोही कहलाता है. यदि कोई पुरुष इस तरह के पत्र लिख-लिखकर भेजे कि 'हमारे राजा के नाक-कान अथवा हाथ-पैर नहीं हैं,' तो इस प्रकार का कथन

---

१ ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हे शास्त्रों का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि 'ज्ञः कालकालः' इत्यादि श्रुतिस्मृतियों में कालादि का भगवान की शक्ति के रूप मे वर्णन किया गया है जगत्सर्गादि में कालादि की स्वतन्त्रता नहीं है, क्योंकि वे तो भगवान की प्रेरणा से ही विश्वसर्गादि क्रियाएँ करते हैं यही बात भागवत में कही गयी है कि – 'द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च । यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया ॥' जिस तरह चक्रवर्ती राजा की आज्ञा से पराधीन नरेश प्रजा पर प्रशासन करते हैं, उसी प्रकार भगवान की आज्ञा के अनुसार ही विश्वसर्गादि मे कालादि का कर्तृत्व है. इस प्रकार जो मनुष्य भगवान को सर्वनियन्ता तथा सर्वकर्ता जानता है, वही भक्त कहलाता है. जो पुरुष भगवान को इस प्रकार नहीं जानता, उसको भगवान से विद्रोह करनेवाला कहा जाता है.

राजा के सम्पूर्ण शरीर को खंडित करके बतलाना सिद्ध हो जायगा और उसे राजा का द्रोही कहा जायगा, वैसे ही भगवान हैं, जिनके करचरणादि समग्र अंगों से परिपूर्ण हैं और उनका कोई अंग लेशमात्र भी खंडित नहीं है. वे सदैव मूर्तिमान ही रहते हैं. यदि उन्हें अकर्ता तथा अरूप कहा जायगा और उनकी अवहेलना करके अन्य कालादि को कर्ता बताया जायगा, तो इसे ही भगवान के विरुद्ध द्रोह माना जायगा. जिस पुरुष ने भगवान से ऐसा द्रोह नहीं किया है, उसके सम्बन्ध में यही कहा जायगा कि उसने वास्तव में भगवान की सम्पूर्ण रूप से पूजा कर ली है. इसके बिना यदि उसने सम्पूर्ण चन्दनपुष्पादि द्वारा पूजा की, तो भी उसे भगवान का द्रोह माना जायगा. अतएव, भगवान को ही जगत का कर्ता-हर्ता तथा मूर्तिमान मानना चाहिये. ऐसा आचरण करने से ही भगवान प्रसन्न होते हैं.

वेदों में, नारायण ने अपने श्रीमुख से स्वयमेव भगवान के स्वरूप का विभिन्न प्रकार से वर्णन किया है, परन्तु यह बात किसी की समझ में नहीं आयी. सांख्यशास्त्र में चौबीस तत्त्व बताये गये हैं और पच्चीसवें तत्त्व को भगवान का स्वरूप बताया गया है. इस पर सांख्याचार्य कपिलमुनि ने यह विचार प्रकट किया कि 'जीव स्थूल, सूक्ष्म और कारण में ऐक्यभाव से रहता है. जीव इनसे भिन्न नहीं रह सकता. इसी प्रकार, ईश्वर भी विराट, सूत्रात्मा तथा अव्याकृत नामक उपाधि(देह)में ऐक्य भाव से रहता है. उसके बिना वह नहीं रह सकता. इस प्रकार सांख्यशास्त्र ने चौबीस तत्त्वों में जीव तथा ईश्वर की एकसाथ गणना की है और पच्चीसवें तत्त्व को परमात्मा बताया है.'

योगशास्त्र के आचार्य हिरण्यगर्भ ऋषि ने चौबीस तत्त्व बताये हैं और पच्चीसवें तत्त्व को जीव बताया है, वैसे ही ईश्वर को भी पच्चीसवाँ तत्त्व बताकर परमात्मा को छब्बीसवाँ तत्त्व बताया है. इस प्रकार सांख्यशास्त्र तथा योगशास्त्र ने भगवान का स्वरूप बताया, तो भी भगवान के साक्षात्कार स्वरूप का ज्ञान नहीं हुआ. अनुमान के अनुसार तो यह ऐसा हुआ कि 'सांख्यशास्त्र के मतानुसार चौबीस तत्त्वों से परे जो वस्तु है वह सत्य है तथा योगशास्त्र का मन्तव्य यह है कि चौबीस तत्त्वों से परे जीव एवं ईश्वर हैं और उनसे परे परमात्मा हैं, जो सत्य है.' इस प्रकार इन दोनों शास्त्रों में अनुमानानुसार परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान हुआ, परन्तु वे भगवान काले हैं या पीले, लम्बे हैं या ठिगने, साकार है या निराकार, इन प्रश्नों के सम्बन्ध

में कोई जानकारी नहीं हुई.

स्वयं वासुदेव भगवान ने पंचरात्र नामक तन्त्र का निर्माण किया, जिसमें इस बात का प्रतिपादन किया कि 'श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम भगवान अपने अक्षरधाम में सदा दिव्य साकार और मूर्तिमान होकर रहते हैं. वे ही भगवान श्वेतद्वीपवासी अनन्त निरन्नमुक्तों को पाँच बार अपने दर्शन देते हैं. वैकुंठलोक में वे ही भगवान चतुर्भुज मूर्ति द्वारा लक्ष्मीजी सहित हैं और वहाँ वे शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण करके रहे हैं. वहाँ विष्वकसेनादि पार्षद भगवान की सेवा करते रहते हैं. वे ही भगवान पूजनीय, भजनीय तथा प्राप्त करने योग्य हैं. वे ही भगवान रामकृष्णादि अवतारों को धारण करते हैं तथा वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध नामक चतुर्व्यूहरूप से रहते हैं.' इस प्रकार उन्होंने साकार मूर्ति का प्रतिपादन किया है. इसके पश्चात् नारदजी ने उसी पंचरात्र तन्त्र का निर्माण किया. तब, वह 'नारद पंचरात्र' कहलाया. उसमें नारदजी ने भगवान के स्वरूप का इस प्रकार प्रतिपादन किया कि 'किसी भी तरह का संशय नहीं रहा.' इसीलिए, श्रीमद्भागवत में कहा गया है

'[१]नारायणपरा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः।
नारायणपरा लोका नारायणपरा मखाः ॥
नारायणपरो योगो नारायणपरं तपः।
नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरा गतिः ॥'

---

१. अर्थ : वेदादि शास्त्रों का तात्पर्य साकार वासुदेव भगवान में ही है. अर्थ :- समस्त वेद नारायण के अस्तित्व का ही प्रतिपादन करते हैं. 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति,' 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः', 'तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः', इत्यादि श्रुतिस्मृतियों में यही अभिप्राय प्रकट किया गया है. इन्द्रादि देवता नारायण के अंग से उत्पन्न हुए हैं, इसीलिए वे उनके शरीरभूत हैं. 'चन्द्रमा मनसो जातः', 'स आत्मा अंगान्यन्ये देवताः', इत्यादि श्रुतियाँ भी भगवान का गुणगान करती हैं. इनमें यह भी बताया गया है कि स्वर्गादि विभिन्न लोक नारायण के ही अधीन रहते हैं. यज्ञों का आयोजन भी नारायणप्रधान होता है. योगशास्त्र भी नारायण को ही जीवन का ध्येय बताता है. तप को भी नारायण की प्राप्ति का साधनस्रोत बताया गया है. ज्ञान के आधार भी नारायण हैं, अर्थात् नारायण ही शास्त्रजन्य ज्ञान के ज्ञेय स्वरूप माने गये हैं. योगफलरूप अर्चिरादि गति भी नारायण की प्राप्ति की द्योतक हैं.

तथा

'[१]वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः ।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ॥
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः ।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ॥'

इस प्रकार इन चार शास्त्रों द्वारा श्रीकृष्ण नारायण के स्वरूप का ही प्रतिपादन किया गया है. इन चार शास्त्रों द्वारा जो पुरुष भगवान के स्वरूप को समझ लेता है वही पूर्ण ज्ञानी कहलाता है. जैसे दूध नेत्रों से देखने पर सफेद दिखायी पड़ता है, नाक से सूँघने पर सुगन्धमय लगता है, उंगली से छूने पर ठंडा या गरम मालूम होता है और जिह्वा से चखने पर स्वादिष्ट प्रतीत होता है, परन्तु केवल एक ही इन्द्रिय द्वारा दूध के स्वरूप का सम्पूर्ण रूप से बोध नहीं होता, वरन सभी इन्द्रियों द्वारा पता लगाने पर ही उसकी पूरी जानकारी मिलती है.

वैसे ही कोई पुरुष जब वेदादि चार शास्त्रों द्वारा भगवान के स्वरूप को समझ लेता है तभी उसे भगवान के सम्पूर्ण स्वरूप का ज्ञान होता है. ऐसी जानकारी को ही सम्पूर्ण ज्ञान कहते हैं. ऐसा समझ ने से ही भगवान भी प्रसन्न हो जाते हैं. परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिये इसके सिवा अन्य कोई भी उपाय नहीं है. अतएव, ऐसा विवेकशील पुरुष ही पूर्ण ज्ञानी कहलाता है तथा भगवान भी उस पर ही अतिशय प्रसन्न होते हैं.'

॥ इति वचनामृतम् ॥२॥ ॥२०२॥

---

१. अर्थ : वेद वासुदेव के महत्व का ही प्रतिपादन करते हैं, अग्नि आदि देवताओं के पूजारूप यागादि द्वारा वासुदेव को ही आराध्य माना गया है, अर्थात् यज्ञादि भी वासुदेवप्रधान होते हैं. इन्द्रादि के उपासनारूप योग-विषय भी मुख्यतः वासुदेव ही हैं, अर्थात् समस्त वेदों से ज्ञातव्य एकमात्र वासुदेव भगवान ही हैं. स्मृतिप्रोक्त क्रियाएँ भी वासुदेवपरायण बतायी गयी हैं. प्रकृतिपुरुष का विवेकरूप ज्ञान भी वासुदेवप्रधान है. कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप भी वासुदेव की ही आराधना का रूप है. वर्णाश्रमविहित श्रौतस्मार्त धर्म के आधार भी वासुदेव ही हैं, अर्थात् धार्मिक प्रकृतियों के केन्द्र बिन्दु भी वासुदेव हैं. धर्मप्राप्य स्वर्गादिप्राप्तिरूप गति के आधार भी वासुदेव ही हैं, अर्थात् एकमात्र ही प्राप्तव्य हैं.

वचनामृत ३ : नियमों का पालन

सम्वत् १८८२ में कार्तिक कृष्ण *एकादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर में सिंहासन पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कंठ में गुलाब-पुष्पों के हार पहने थे तथा मस्तक पर पाग में तुर्रे लगे हुए थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष समस्त मुनिमंडलों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अपने उद्धव-सम्प्रदाय में उसे ही एकान्तिक भक्त कहा जाता है, जिसमें ज्ञान, वैराग्य, धर्म तथा भक्ति की चार बातें रहें. ऐसा पुरुष ही अपने सत्संग में अग्रगण्य बनाने योग्य होता है. जिस पुरुष में ये चारों बातें सम्पूर्ण रूप से न हों तथा मुख्यतः एक ही बात रहे और उसमें अवशिष्ट तीनों बातों का समावेश हो जाय, ऐसी कौन-सी एक बात इन चारों में श्रेष्ठ है ?' गोपालानन्द स्वामी तथा मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'हे महाराज ! ऐसा एकमात्र धर्म ही है. जिस पुरुष में यह धर्म रहे उसमें तीनों बातें भी स्वतः आ जाती हैं.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'धर्म तो कितने ही [१]विमुख मनुष्यों में भी होता है, तो क्या सत्संग में उन्हें भी अग्रगण्य मान लेंगे ?' यह बात सुनकर कोई भी इसका उत्तर न दे सका. श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो पुरुष माहात्म्यसहित भगवान की भक्ति करता हो और उसमें सामान्यतः आत्मनिष्ठा, धर्म तथा वैराग्य की भावना बनी रहे, तो भी वह कभी भी धर्मच्युत नहीं हो सकता, क्योंकि भगवान के माहात्म्य का ज्ञाता भक्त तो यही विचार करता है कि 'भगवान की आज्ञा में जब ब्रह्मा आदि समस्त देव रहे हैं तब मुझसे भगवान की आज्ञा का कैसे लोप हो सकता है ?' ऐसा जानकर वह भगवान के नियमों का पालन निरन्तर करता रहता है.

शुकमुनि ने पूछा कि 'जब माहात्म्यसहित एकमात्र भक्ति द्वारा ही सभी बातें सम्पूर्ण हो जाती हैं तब केवल भक्ति का ही प्रतिपादन क्यों नहीं किया गया और ये चार बातें ही क्यों कही गयीं ?'

---

* बुधवार, ६ दिसम्बर, १८२५.

१. कर्ण तथा जरासंध आदि में भी धर्म था.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि भगवान में [१]अतिशय माहात्म्यसहित भक्ति बनी रहे, तो केवल भक्ति में ही तीनों बातें आ जाती हैं. यदि सामान्य भक्ति रहे, तो ऐसी एकमात्र भक्ति में ही तीनों बातों का समावेश नहीं हो पाता. इसीलिए 'जिसमें चार बातों सहित यह भक्ति रहती है उसीको एकान्तिक भक्त कहा जाता है.' ऐसा कहा गया है. ऐसी असाधारण भक्ति तो पृथुराजा किया करते थे. जब भगवान ने उनसे वर माँगने के लिये कहा तब पृथुराजा ने भगवान की कथा सुनने के लिये दस हज़ार [२]कान माँग लिये, किन्तु कोई भी अन्य वर नहीं माँगा. जिन गोपियों को रासक्रीडा में नहीं जाने दिया गया था वे देह-त्याग करके श्रीकृष्ण के पास चली गयी थीं. यदि ऐसी असाधारण भक्ति हो तो ज्ञानादि तीनों बातें अकेली भक्ति में ही आ जाती [३]हैं.'

ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि 'ऐसी असाधारण भक्ति किस उपाय द्वारा होती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'ऐसी भक्ति तो महापुरुष की सेवा करने से हो जाती है. ऐसे महापुरुष भी चार प्रकार के होते हैं. इनमें सबसे पहले तो दीपसदृश, दूसरे मशालसदृश, तीसरे बिजलीसदृश और चौथे बड़वानल अग्निसदृश होते हैं. उन महापुरुषों में जो दीपसदृश होते हैं वे तो विषयरूपी वायु से बुझ जाते हैं. जो मशाल-जैसे होते हैं वे भी उससे अधिक विषयरूपी वायु लगने से बुझ जाते हैं. जो बिजली-जैसे होते हैं वे तो मायारूपी वर्षा के पानी से भी नहीं बुझ पाते. जो वड़वानल अग्निसदृश होते है उनकी स्थिति भिन्न होती है. जिस प्रकार बड़वानल समुद्र में रहने पर भी समुद्र के जल से बुझाये जाने पर भी नहीं बुझ पाता और समुद्र के जल को पीकर उसे मूलद्वार से निकाल डालता है, वह पानी मीठा होता है, उसे लाकर मेघ संसार में वर्षा करते हैं, उससे अनेक प्रकार के रस होते हैं,

१. भक्ति तो असाधारण तथा साधारण (परा एवं अपरा) रूप से दो प्रकार की होती है, उसमें.

२. '**विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः ।**' ऐसा भागवत में कहा गया है. 'दस हज़ार कानों द्वारा कथा-श्रवण करने से जितना आनन्द होता है उतना आनन्द दो कानों से कथा सुनने से हो जाय,' ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये.

३. जिस पुरुष को सामान्य भाव से भगवान में भक्ति हो उसको तो धर्मादि तीनों अंग सिद्ध कर लेने चाहिये.

वैसे ही जो महापुरुष होते हैं वे समुद्री जल-जैसे खारे जीवों को भी मीठा कर डालते हैं. इस प्रकार चार तरह के जो बड़े पुरुष कहे गये हैं उनमें से यदि बिजली-जैसे, अग्नि-जैसे तथा समुद्री अग्नि-जैसे बड़े पुरुषों की सेवा अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए मन, कर्म तथा वचन द्वारा की जाय, तो जीव के हृदय में माहात्म्यसहित भक्ति उत्पन्न हो जाती है. तब यह समझ लेना चाहिये कि बिजली की अग्निसदृश साधनदशावाले भगवान के एकान्तिक साधु हैं तथा बड़वानल अग्नि-जैसे सिद्धदशावाले भगवान के परम एकान्तिक साधु हैं.' ।। इति वचनामृतम् ।।३।। ।।२०३।।

वचनामृत ४ : वैचारिक भंवर

सम्वत् १८८२ में मार्गशीर्ष शुक्ल *दशमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'प्रश्नोत्तर-कार्यक्रम प्रारम्भ करिये.' मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान के भक्ति-मार्ग में प्रवृत्त भक्त के लिये एक ही ऐसा कौन-सा साधन है, जिसके उपयोग से कल्याण के लिये प्रतिपादित अन्य सभी साधन भी उसी एक साधन में समाविष्ट हो जायें ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'तीस लक्षणयुक्त सन्त का संग, मन, कर्म तथा वचन द्वारा करने से एक ही साधन में कल्याण के लिये सभी साधनों का समावेश हो जाता है.'

ऐसा उत्तर देने के पश्चात् श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'भगवान का एकान्तिक भक्त योगी तो यह जानता है कि सांख्यशास्त्र तथा योगशास्त्र का मत वासुदेवनारायण पर आधारित है. इसलिए, ऐसे योगी को भगवान के स्वरूप में किस प्रकार की वृत्ति रखनी चाहिये, वह अपने मन को कैसे नियन्त्रित करे, उस मन के साथ मूर्ति को किस तरह रखे, उसे अपने अन्तःकरण में तथा बाह्य रूप में किस प्रकार की वृत्ति रखनी चाहिये और स्वयं को निद्रारूप लय एवं संकल्प-विकल्परूपी विक्षेप से कैसी योग-कला

* मंगलवार, १९ दिसम्बर, १८२५

द्वारा [1]अलग रखना चाहिये ?' इसका उत्तर दीजिये.

मुक्तानन्द स्वामी तथा गोपालानन्द स्वामी ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर दिया, किन्तु कोई भी इसका यथेष्ट उत्तर न दे सका.

श्रीजीमहाराज [2]बोले कि 'जिस प्रकार जल की भारी फुहार के योग से भँवर पड़ने से पानी ऊपर की ओर उछलता है, वैसे ही अन्तःकरणरूपी फुहार में जीव की वृत्ति रहती है, जो वैचारिक भँवर पड़ने से पाँच इन्द्रियों द्वारा उछलती है. ऐसी स्थिति में योगी पुरुष को [3]दो प्रकार से अपनी वृत्तियों को बनाये रखना चाहिये. इनमें से एक वृत्ति द्वारा उसे अपने हृदय में साक्षीरूप रहे श्रीवासुदेव भगवान का चिन्तन करते रहना चाहिये तथा अन्य वृत्ति को तो दृष्टि द्वारा बाहर रखना चाहिये. उस वृत्ति द्वारा उसे बाह्य रूप से भगवान का चिन्तन नखशिखापर्यन्त समग्र मूर्ति के साथ में ही करना चाहिये, परन्तु उनके एक-एक अंग का अलग-अलग चिन्तन नहीं करना चाहिये. जिस प्रकार किसी बड़े मन्दिर को एक ही साथ समग्र दृष्टि से देखा जाता है, तथा किसी विशाल पर्वत को एकसाथ समूचा का समूचा ही देखा करते हैं, वैसे ही वह योगी पुरुष भगवान के स्वरूप को देखता है, किन्तु उनके प्रत्येक अंग को अलग-अलग नहीं [4]देखता.

जब उस योगी को अपनी दृष्टि के आगे कुछ दूरी पर उस मूर्ति को धारण करते समय उसकी(मूर्ति की) बगल की ओर कोई अन्य पदार्थ दीखने लग जाय, तो दूर धारण की हुई उस मूर्ति को निकट लाकर अपनी नासिका के अग्रभाग में उसे (मूर्ति को) रखना चाहिये. ऐसा करने पर भी अगर आसपास कुछ पदार्थ दिखायी पड़ते हों, तो अपनी भृकुटि के मध्यभाग में मूर्ति को धारण करना चाहिये. ऐसा करने पर भी यदि आलस्य अथवा निद्रा-सी दिखायी पड़े, तो फिर मूर्ति को दृष्टि के आगे दूर धारण करना चाहिये. जिस तरह लड़के पतंग उड़ाते हैं वैसे ही मूर्तिरूपी पतंग को अपनी वृत्तिरूपी मांजा(डोरी) द्वारा ऊँचा चढ़ाना चाहिये और फिर नीचे

---

१. इस प्रकार ६ प्रश्न हैं.

२. पहले, तीसरे और चौथे प्रश्नों का उत्तर देते हैं.

३. इसलिए.

४. दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हैं.

लाकर अगल-बगल में डुलाना चाहिये. इस प्रकार योगकला द्वारा जब वह सचेत हो जाय, तब मूर्ति को पुनः नासिका के अग्रभाग में धारण करना चाहिये. वहाँ से उसे भृकुटि में लाकर मूर्ति को हृदय में उतारना चाहिये तथा अन्तःकरण में साक्षीरूप रही मूर्ति और बाहर रही मूर्ति का एकीकरण करना चाहिये. इसके पश्चात् अन्तःकरण की दोनों प्रकार की वृत्तियाँ एक हो [१]जाती हैं.

ऐसा करते समय यदि आलस्य अथवा निद्रा-जैसी प्रतीत हो तो पुनः दोनों प्रकार की वृत्तियों द्वारा मूर्ति को बाहर ले आना चाहिये. इसी प्रकार श्रोत्र, त्वक्, रसना तथा घ्राण-इन्द्रियों द्वारा भी योगकला को सिद्ध कर लेना चाहिये. वैसे ही मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार द्वारा भी भगवान की मूर्ति को धारण करना चाहिये और इन्द्रियों तथा अन्तःकरण आदि सबको सांख्यविचार द्वारा पृथक् करके अकेले चैतन्य में ही भगवान की मूर्ति को [२]धारण करना चाहिये. उन भगवान की मूर्ति को अन्तःकरण में या बाहर धारण करते समय कोई व्यवहार सम्बन्धी विक्षेप आड़े आ जाय, तो उस विक्षेप का भी मूर्ति की धारणा द्वारा ही समाधान कर डालना चाहिये, परन्तु विक्षेपजन्य स्थिति में भी अपनी योगकला का परित्याग नहीं करना चाहिये. योगी पुरुष इस प्रकार की योगकला से युक्त होकर आचरण किया करता है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥४॥ ॥२०४॥

वचनामृत ५ : 'मम माया दुरत्यया'

सम्वत् १८८२ में मार्गशीर्ष कृष्ण *चतुर्थी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर से उत्तर दिशा में गोमतीजी के किनारे पर आम्रवृक्ष के नीचे की वेदी पर बिछे हुए पलंग पर उत्तराभिमुख होकर विराजमान थे. उन्होंने बहुत बारीक श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कंठ में अनेक गुलाब-पुष्पों के हार पहने थे, कानों के ऊपर बड़े दो-दो गुलाब-पुष्पों के गुच्छे धारण किये थे और पाग में गुलाब के फूलों के तुर्रे लगे हुए थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष समग्र मुनिमंडलों तथा

---

* शुक्रवार, २९ दिसम्बर, १८२५

१. पांचवें प्रश्न का उत्तर देते हैं.

२. छठे प्रश्न का उत्तर देते हैं.

देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'टेढ़े-मेढ़े प्रश्न पूछिये, ताकि सबका आलस्य समाप्त हो जाय.' ऐसा कहकर उन्होंने स्वयं तकिया पश्चिम की ओर करके करवट बदली. इसके बाद मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'यह श्लोक है कि –

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥'

इस श्लोक में श्रीकृष्ण भगवान ने यह कहा है कि 'जो पुरुष मुझे प्राप्त करता है वह कष्ट सहन करके भी न तरी जाने योग्य मेरी गुणमयी माया को तर लेता है.' जिसको भगवान की प्राप्ति हो चुकी है, उसके अन्तःकरण में भगवान का भजन करते समय संकल्प-विकल्प का जो विक्षेप उपस्थित हो जाता है, वैसे विक्षेप माया के सिवा और कौन डालता होगा, यह प्रश्न है.'

उस समय श्रीजीमहाराज लेटे हुए थे. वे उठ बैठे और अतिकरुणार्द्र होकर बोले कि 'माया के जो तीन गुण हैं उनमें तमोगुण के पंचभूत तथा पंच तन्मात्राएँ हैं, रजोगुण की दस इन्द्रियाँ, बुद्धि तथा प्राण हैं तथा सत्त्वगुण के मन, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण के देवता हैं. पहले जो भक्त हो गये हैं, उन सबमें इन तीनों गुणों के कार्यरूपभूत इन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा देवता रहे थे. इसलिए, इसका उत्तर यह है कि जिसने परमेश्वर को यथार्थ रूप से परमेश्वर जान लिया है, कि 'इन भगवान के स्वरूप में किसी भी प्रकार का मायिक भाव नहीं है तथा ये भगवान तो माया तथा माया के कार्यभूत तीनों गुणों से परे हैं,' और जिसको भगवान सम्बन्धी ऐसा दृढ़ निश्चय हो चुका है, वह माया को तर चुका है. यद्यपि उस भक्त में तो माया के गुण-कार्यरूपी भूत, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण एवं देवता अपनी-अपनी क्रिया में प्रवृत्त रहते हैं, फिर भी उसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसने माया को पार कर लिया है, क्योंकि उसमें माया का कार्य तो विद्यमान रहता है, किन्तु वह अपने भजनीय प्रकटप्रमाण श्रीवासुदेव भगवान को तो इस माया के गुणों से परे समझता है. इसलिए, उसको भी माया से परे समझना चाहिये. ब्रह्मादि देवों तथा वसिष्ठ, पराशर एवं विश्वामित्र आदि ऋषियों में भी इन गुणों का प्रवेश होने की जानकारी मिली है तथा शास्त्रों में भी इस बात का उल्लेख किया गया है, तो क्या वे मुक्त नहीं कहलायेंगे और उनके सम्बन्ध

में क्या यह नहीं कहा जायगा कि उन्होंने माया को पार कर लिया है ? वस्तुतः वे सब मुक्त हैं और उन सबने माया को पार कर लिया है. यदि इस प्रकार का उत्तर न दिया जाय, तो इस प्रश्न का कोई समाधान ही नहीं हो सकेगा. इसीलिए, इसका यही उत्तर है.'

नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! यह बात ठीक है कि भगवान के आश्रय में जाना चाहिये, परन्तु उस आश्रय का [१]स्वरूप कैसा है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान ने गीता में कहा है कि –

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥'

इस श्लोक में यह कहा गया है कि 'तू अन्य समस्त धर्मों का परित्याग करके एकमात्र मेरी शरण में ही आ जा, तो मैं तुझको समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत [२]कर.' जिसको भगवान का ऐसा दृढ़ आश्रय हो गया हो, उसको यदि महाप्रलय जैसे दुःख का सामना भी करना पड़े तो भी उसे यह मानना चाहिये कि कोई अन्य पुरुष नहीं, बल्कि एकमात्र भगवान ही इस दुःख से उसकी रक्षा करेंगे. उसको जिस-जिस सुख की इच्छा हो, उसके लिये कामना तथा प्रार्थना केवल भगवान से ही करनी चाहिये, किन्तु प्रभु के सिवा अन्य किसी को भी अपने लिये सुखदायक नहीं समझना चाहिये तथा प्रभु की इच्छा के अनुसार ही आचरण करना चाहिये. जो भक्त इस प्रकार का आचरण करता है उसे ही शरणागत जीव कहा जाता है और वही भगवान का अनन्य भक्त कहलाता है.'

नाजा भक्त ने पूछा कि 'जिसको भगवान का परिपूर्ण आश्रय न हो, फिर भी बोलचाल में पक्का हरिभक्त हो और उसके जैसा ही निश्चय का बल प्रकट करता हो, उसकी जानकारी किस प्रकार से प्राप्त होती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान के भक्त के श्रेष्ठ-कनिष्ठ निश्चय का परिचय तो साथ में रहने और साथ में व्यवहार करने से पूरी तरह मालूम पड़ जाता है. जिसका थोड़ा निश्चय होता है वह दुःखित होकर सत्संग में

---

१. शरणागत का क्या लक्षण है, ऐसा प्रश्नार्थ समझना चाहिये.
२. श्रीकृष्ण भगवान द्वारा कहे गये प्रपन्न भक्त के लक्षणों में जो न्यूनता रहती है, उसकी पूर्ति वे स्वयं करते हैं.

से अलग चला जाता है और एकान्त में रहकर जैसा बनता है वैसा भजन करता है, परन्तु वह हरिभक्तों की भीड़ में नहीं रहता. इस प्रकार, भगवान का आश्रय भी उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ रूप से तीन प्रकार का होता है तथा उसी प्रकार भक्त भी तीन प्रकार के होते हैं.'

नित्यानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'यह कसर मिट जाने पर कनिष्ठ भक्त को उत्तम भक्त का स्थान मिल पाता है या नहीं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जैसे भगवान की मानसी पूजा की जाती है वैसे ही जो उत्तम हरिभक्त हो उसकी भी भगवान की प्रसादी(भगवान को समर्पित पदार्थों) से भगवान के साथ में मानसी पूजा करनी चाहिये. जिस प्रकार भगवान के लिये थाल परोसा जाता है वैसे ही भगवान के उत्तम भक्त के लिये भी थाल परोसकर भोजन कराना चाहिये. जिस तरह भगवान के लिये पाँच रुपये खर्च किये जाते हैं वैसे ही ऐसी रकम बड़े सन्त के लिये भी खर्च करनी चाहिये. उसी प्रकार जो पुरुष भगवान तथा उत्तम लक्षणवाले सन्त की प्रगाढ़ प्रेमपूर्वक एकसमान सेवा करता है, वह दो जन्मों, चार जन्मों, दस जन्मों और एक सौ जन्मों द्वारा भी उत्तम भक्त सदृश होनेवाला हो, वह इसी जन्म में उत्तम भक्त हो जाता है. यह भगवान तथा उन भगवान के भक्त की एकसमान सेवा करने का फल होता है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥५॥ ॥२०५॥

वचनामृत ६ : जीव एवं कारणशरीर का नित्य सम्बन्ध

सम्वत् १८८२ में मार्गशीर्ष कृष्ण *एकादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर के आगे मंच पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कंठ में पुष्पहार पहने थे और पाग में तुर्रे लटक रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

चिमनरावजी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! जीव जब प्रथम प्रलयकाल में कारणशरीरयुक्त होकर माया में लीन हुए थे और उसके पश्चात् सृष्टिकाल में इन जीवों को स्थूल-सूक्ष्म देहों की प्राप्ति हुई तथा देव, मनुष्य, पशु, पक्षी

---

* गुरुवार, ४ जनवरी, १८२६.

आदि के रूपों में जो विचित्रता उजागर हुई, वह कर्म से हुई अथवा भगवान की इच्छा से हुई ? यदि ऐसा कहेंगे कि यह स्थिति कर्म द्वारा हुई, तो [1]जैनधर्म की सत्यता सिद्ध होगी, यदि यह कहेंगे कि ऐसा भगवान की इच्छा से हुआ तो भगवान के सम्बन्ध में विषमता तथा निर्दयता की बात कही जायगी. वह जिस प्रकार से यथार्थ हो वह कृपा करके बताइये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह प्रश्न आपको पूछना नहीं आया, क्योंकि यह जो कारण शरीर है, उसमें स्थित स्थूल-सूक्ष्म नामक दो शरीर बीजवृक्षन्याय से रहे हैं. इसीलिए इसको कारणशरीर कहते हैं. यह कारणशरीर अविद्यात्मक, अनादि और संचित कर्मों से युक्त है. जिस प्रकार बीज तथा फोतरे का नित्य सम्बन्ध है और भूमि तथा गन्ध का नित्य सम्बन्ध है, वैसे ही जीव तथा कारणशरीर का नित्य सम्बन्ध है. जैसे पृथ्वी में रहनेवाले बीज वर्षाकाल में जल का योग पाकर उग जाते हैं, वैसे ही माया में कारणशरीरयुक्त रहे हुए जीव उत्पत्तिकाल में फलप्रदाता परमेश्वर की दृष्टि को पाकर अपने-अपने कर्मों के अनुसार नाना प्रकार के [2]शरीरों को पाते हैं.

---

१. क्योंकि जैनमतानुयायी केवल कर्म से ही जगत की उत्पत्ति होना बताते हैं.

२. अभिप्राय इतना ही है कि जिस प्रकार बीज पृथ्वी एवं जलादि के सम्बन्ध के बिना अंकुरित नहीं होता, किन्तु उसका सम्बन्ध होने से ही अंकुरित होता है, इसलिए, अंकुर उत्पन्न होने में पृथ्वीजलादि को साधारण कारण गिना जाता है. अंकुरों में विचित्रता लाने की सामर्थ्य पृथ्वीजलादि में नहीं बल्कि अपने-अपने बीज में ही है. अतएव, विचित्रता में अपने-अपने बीज को ही विशेष कारण गिना जाता है. इसीलिए, आम्रादिक प्रत्येक बीज के अंकुरों में पृथ्वी जलादि का स्थान साधारण है, परन्तु जैसा बीज होता है वैसी ही विचित्रता अंकुरों में आती है. 'जहाँ तक साधारण कारण से निर्वाह होता हो वहाँ तक पृथ्वीजलादि को विशेष कारण मानने की कल्पना करना आवश्यक नहीं,' ऐसा न्याय है. इस प्रकार जगत की सृष्टि परमात्मा की इच्छा के बिना नहीं होती, परन्तु उनकी इच्छा से ही होती है. अतएव सृष्टि के होने में परमात्मा कारण हैं, परन्तु उनमें जो देवमनुष्यादि तथा सुखी-दुःखी आदि की विचित्रता हुई, उसमें परमात्मा कारण नहीं हैं. उसमें तो जीवगत अनादि कर्मविशेष ही विशिष्ट कारण है. इसीलिए परमात्मा में पक्षपात या निर्दयतारूपी दोष नहीं है. इसके सम्बन्ध में व्याससूत्र है कि – '**वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति ॥**' अर्थ : परमात्मा में किसी को देव, किसी को मनुष्य, किसी को पशु तथा किसी को स्थावर योनि प्रदान करके उत्कृष्ट, मध्यम तथा कनिष्ठ

नास्तिक-जैसे जैन तो केवल कर्म को ही कर्ता कहते हैं, परन्तु परमेश्वर को कर्मफल प्रदाता नहीं बताते. नास्तिकों का वह मत [१]मिथ्या है. यदि कोई कालका ही बल बतावे, तो वह भी प्रमाण नहीं है. अगर कोई अकेले कर्म का ही बल बताता है, तो वह भी प्रमाण नहीं हो सकता तथा यदि कोई अकेले परमेश्वर की इच्छा का ही बल बतावे, तो वह भी प्रमाण नहीं हो सकता. वास्तविक बात तो यह है कि जिस समय जिसकी प्रधानता रहती है, उस समय शास्त्रों में उसीकी प्रधानता बतायी जाती है, परन्तु सभी ठिकानों पर उसी को ही नहीं लेना चाहिये.

सर्वप्रथम जब इस विश्व की रचना की गयी थी तब सबसे पहले के सत्ययुग का उदय हुआ था. उस समय सत्ययुग में सभी मनुष्यों के संकल्प

भाव करने से पक्षपात या दुःखयोग उपस्थित करने से निर्दयता का दोष नहीं लगता, क्योंकि उसमें परमात्मा को कर्म की अपेक्षा है – विषमसृष्टि में क्षेत्रज्ञों के कर्म की अपेक्षा है. इसलिए, वे उन-उनके कर्मानुसार वैसी-वैसी योनि तथा सुख-दुःख प्रदान करते हैं. अतएव, वैषम्य-नैर्घृण्य नहीं है. यदि वे कर्म की अपेक्षा न रखकर स्वेच्छा से विचित्र सृष्टि करें तो वैषम्य-नैर्घृण्य आता है. वे वैसा तो करते नहीं है. विषमता में कर्म ही विशेष कारण है. यह बात श्रुति भी बताती है – '**साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति । पुण्यः पुण्येन कर्मणा पापः पापेन कर्मणा ॥**' इत्यादि. देवादि विचित्र भाव में प्रधान कारण तो सृज्यमान क्षेत्रज्ञों की प्राचीन कर्मशक्ति है, परमात्मा तो निमित्तमात्र है, ऐसा पराशरमुनि भी कहते हैं – '**निमित्तमात्रमेवासौ सृज्यानां सर्गकर्मणि । प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः ॥ निमित्तमात्रं मुक्त्वैव नान्यत्किंचिदपेक्षते । नीयते तपतां श्रेष्ठ स्वशक्त्या वस्तु वस्तुताम् ॥**' (क्षेत्रज्ञ तथा उनके कर्मप्रवाह अनादि हैं. इसीलिए, सृष्टिकाल में कर्म का विभाग नहीं था, ऐसी शंका के लिये कोई स्थान नहीं है.) इसलिए, उक्त हेतु से ही परमात्मा श्रीकृष्ण भगवान कर्ता होने पर भी स्वयं को अकर्ता कहते हैं – '**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः । तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥**' जिस प्रकार राजा प्रजा के प्रति निग्रह एवं अनुग्रह करता है और उसमें स्वयं कर्ता है तथापि वह उसके कर्मानुसार कार्रवाई करता है. इस कारण राजा अकर्ता है. इसलिए, राजा में विषमता तथा निर्दयतारूपी दोष नहीं है. वैसे ही, परमात्मा कर्ता तथा अकर्ता है. इसलिए वैषम्य-नैर्घृण्य नहीं है.

१. मतभेद से कही गयी कालादि की स्वतन्त्र कर्तृता का निषेध करके उसकी कैसी कर्तृता है, उसके प्रकार का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन करते हैं.

सत्य होते थे. सब लोग ब्राह्मण थे. जब वे लोग मन में संकल्प करते थे तब उनके उस संकल्पमात्र से ही पुत्र की उत्पत्ति हो जाती थी. सबके घर कल्पवृक्ष थे. जितने मनुष्य थे वे सब परमेश्वर का ही भजन करते थे. जब त्रेतायुग आया तब मनुष्यों के संकल्प सत्य नहीं रहे. उस समय जब लोग कल्पवृक्ष के नीचे जाते थे तब संकल्प सत्य होते थे तब स्त्री का स्पर्श करने पर पुत्र की उत्पत्ति होती थी और जब द्वापरयुग आया तब स्त्री का अंगसंग करने से पुत्र की प्राप्ति होती थी. इस प्रकार, सत्ययुग तथा त्रेतायुग की समूची रीति समस्त सत्ययुग तथा त्रेतायुग में प्रचलित नहीं होती. वह तो प्रथम सत्ययुग तथा त्रेतायुग में थी.

वैसे ही जब शुभकाल बलवान होकर प्रवृत्त होता है तब वह जीव के अशुभ कर्मों की सामर्थ्य को न्यून कर डालता है. जब अतिशय दुर्भिक्ष वर्ष आता है तब समस्त प्रजा को दुःख उठाना पड़ता है अथवा घमासान लड़ाई होने पर जब लाखों आदमी एक ही समय में मारे जाते हैं, तो क्या उन सबका शुभ कर्म एक साथ ही समाप्त हो जाया करता है ? वहाँ तो अशुभ काल की ही अतिशय सामर्थ्य रहती है और उसीने जीवों के शुभ कर्मों के बल को हटा दिया. जब बलवान काल का वेग प्रवृत्त होता है, तब कर्म का मेल नहीं रहता. कर्म में सुख लिखा हो, तो वह भी दुःख बन जाता है, यदि किसी के कर्म में जीवित रहना लिखा हो, तो भी वह काल के वेग से मर जाता है. जब बलवान काल का ऐसा वेग होता है, तब उस काल से ही सब कुछ है, ऐसा शास्त्रों में लिखा हो तथा जब बहुत-से मनुष्य भगवान के एकान्तिक भक्त होते हैं तब कलियुग में भी सत्ययुग होता है, परन्तु यदि वहाँ एकान्तिक भक्त के भगवान की भक्ति सम्बन्धी शुभ कर्मों का जोर होने की बात तो शास्त्रों में लिखी हो, लेकिन वहाँ काल का जोर बने रहने का जिक्र न किया गया हो तो, इस वार्ता को जाने बिना ही नास्तिक मतानुयायी केवल कर्म को ही सर्वकर्ता कहते हैं, परन्तु ऐसा नहीं जानते कि वह तो भगवान के एकान्तिक भक्त के कर्मों की सामर्थ्य बतायी गयी किन्तु विमुख जीव के कर्मों की ऐसी सामर्थ्य नहीं कही गयी है.

जब भगवान ऐसा संकल्प धारण करके प्रकट होते हैं कि 'इस शरीर द्वारा तो जिन जिन पात्र-कुपात्र जीवों के लिये मेरी मूर्ति का योग बन जाय, उन सबका कल्याण करना है,' उस स्थिति में काल तथा कर्म की कोई भी

सामर्थ्य नहीं रहती. तब तो अकेले परमेश्वर की ही सामर्थ्य रहती है. जब भगवान ने कृष्णावतार धारण किया था तब [१]घोर पापिनी पूतना ने भगवान को जहर पिलाया था, फिर भी श्रीकृष्ण भगवान ने उसको अपनी माता यशोदाजी के समान सद्‌गति प्रदान की. दूसरे भी [२]घोर पापी दैत्य थे, जो भगवान को मार डालने के लिये आये थे. उन्हें भी श्रीकृष्ण भगवान ने परम पद प्रदान कर दिया. अन्य भी जो-जो पुरुष भावपूर्वक श्रीकृष्ण भगवान के सम्बन्ध को प्राप्त हुए, उन सबका उन्होंने कल्याण किया. इस स्थान पर तो परमेश्वर का ही अतिशय बल कहा गया है, किन्तु काल या कर्म की कोई सामर्थ्य होने की बात नहीं कही गयी है. इसीलिए, जिस स्थान में जैसा प्रकरण आवे उस स्थान पर तदनुसार समझना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥६॥ ॥२०६॥

वचनामृत ७ : दैवी जीव भगवान के भक्त

सम्वत् १८८२ में मार्गशीर्ष कृष्ण *चतुर्दशी को श्रीजीमहाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर के आगे मंच पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

हरिभक्त परस्पर भगवद्‌वार्ता कर रहे थे. उसमें ऐसा प्रसंग आया कि [३]दैवी तथा [४]आसुरी नामक दो प्रकार के जीव हैं. उनमें दैवी जीव तो

---

* रविवार, ५ जनवरी, १८२६.

१. 'जिघांसयाऽपि हरये स्तनं दत्वाप सद्‌गतिम्', भागवत के दशम स्कन्ध, अध्याय ६ में कथा है.

२. 'वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्रशाल्वादयो... तत्साम्यमापुः', भागवत के एकादश स्कन्ध, अध्याय ५, श्लोक ४८ में यह कहा गया है.

३. 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः', इत्यादि वचनों से श्रीकृष्ण भगवान द्वारा बतायी गयी दैवी सम्पदा युक्त अथवा विष्णुभक्तिपरायण.

४. 'दम्भो दर्पोऽभिमानश्च', इत्यादि वचनों से गीता में कही गयी आसुरी सम्पदा से युक्त अथवा विष्णुभक्ति से विमुख. जो विष्णुभक्तिपरायण है वह दैवी जीव है और 'जो विष्णुभक्ति से विमुख है वह आसुरी जीव है.' यही बात अग्निपुराण में कही गयी है – 'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च । विष्णुभक्तिपरो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः ॥' इति.

भगवान के भक्त ही होते हैं, जबकि आसुरी जीव तो भगवान से विमुख ही रहते हैं.

तब चिमनरावजी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! आसुरी जीव किसी प्रकार से दैवी जीव हो सकते हैं या नहीं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'आसुरी[1] जीव तो दैवी जीव हो ही नहीं सकते, क्योंकि वे तो जन्म से ही आसुरी भाव से युक्त होते हैं. यदि आसुरी जीव किसी प्रकार से सत्संग में आ गया हो, तो भी उसका आसुर भाव तो समाप्त नहीं हो पाता. बाद में सत्संग में रहते हुए ही जब उसका शरीरान्त होता है तब वह [2]ब्रह्म में लीन हो जाता है और पुनः बाहर [3]निकलता है. इस प्रकार वह अनेक बार ब्रह्म में लीन होता है और पुनः बाहर निकलता है. तब उसका आसुर भाव नष्ट हो जाता है, परन्तु, उसके [4]बिना तो उसका आसुरभाव नष्ट नहीं हो पाता.'

शोभाराम शास्त्री ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! [5]भगवान का अन्वय-भाव तथा व्यतिरेकभाव कैसा है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अन्वय-व्यतिरेक की वार्ता तो इस प्रकार है कि भगवान आधे तो माया में अन्वयात्मक हुए हैं और आधे अपने धाम में व्यतिरेक-भाव से रहे हैं, ऐसी बात नहीं है. यह तो भगवान का स्वरूप ही ऐसा है कि माया में अन्वय होते हुए भी व्यतिरेक ही हैं. परन्तु, भगवान को ऐसा भय नहीं है कि 'यदि मैं माया में चला जाऊँगा तो अशुद्ध हो जाऊँगा.' किन्तु, वास्तविक बात तो यह है कि जब भगवान माया में आते हैं तब माया

---

१. आसुरी जीव का दैवी जीव होना दुर्लभ है. वे दो प्रकार के होते हैं. इनमें से पहले प्रकार के जीव आसुर भाव से युक्त होते हैं तथा अन्य प्रकार के जीव आसुर संग से आसुर भावयुक्त रहते हैं. दूसरे प्रकार के जीव उत्तम सत्पुरुषों की निष्कपट सेवा तथा सधर्म नवधा भक्ति करने से आसुर भाव का त्याग करके दैवी जीव बन जाते हैं तथा जन्म से.

२. अक्षरब्रह्मप्रकाश में.

३. भगवान की इच्छा से निकलकर भक्ति करने के पश्चात् फिर से ब्रह्म में लीन हो जाता है.

४. किसी अन्य उपाय से.

५. माया तथा माया के कार्य में.

भी [१]अक्षरधामरूप हो जाती है. यदि वे चौबीस तत्त्वों में प्रविष्ट होते हैं. तो चौबीस तत्त्व भी ब्रह्मरूप हो जाते हैं. श्रीमद्भागवत में कहा गया है –

'धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ।'

इस प्रकार के अनेक वचनों द्वारा भगवान के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है. जैसे वृक्ष के बीज में भी आकाश है और उसके बाद उस बीज में से जब वृक्ष हुआ तब इस वृक्ष की डालों, पत्तियों, फूलों और फलों आदि सबमें भी आकाश अन्वय हुआ. जब वृक्ष को काट डालते हैं तब वृक्ष के कट जाने पर भी उसके साथ आकाश नहीं कटता. इसी प्रकार वृक्ष को जलाने पर भी आकाश नहीं जलता. वैसे ही, भगवान भी माया तथा माया के कार्य में अन्वयात्मक होते हुए भी आकाश की तरह व्यतिरेक ही हैं. इस प्रकार, भगवान के स्वरूप में अन्वय-व्यतिरेक भाव रहता है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥७॥ ॥२०७॥

वचनामृत ८ : योगी की निद्रा

सम्वत् १८८२ में पौष शुक्ल *चतुर्थी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल में श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर के आगे मंच पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

मुनि दुक्कड़-सरोद लेकर कीर्तन कर रहे थे. उस समय श्रीजीमहाराज ने अन्तर्दृष्टि द्वारा ध्यानमुद्रायुक्त होकर थोड़े समय तक दर्शन दिये. इसके पश्चात् उन्होंने नेत्रकमलों को खोलकर समूची सभा को देखा और फिर वे यह बोले कि 'अब आप सब सुनिये, [२]वार्ता करते हैं.

नेत्रों की वृत्ति [३]अरूप है, फिर भी यदि उस वृत्ति के मार्ग में कोई स्थूल पदार्थ आता है तब वह वृत्ति रुक जाती है. इसीलिए, वह वृत्ति स्थूल

---

* शुक्रवार, १२ जनवरी, १८२६.

१. जिस प्रकार भगवान के लिये अक्षरधाम अबन्धक है वैसे ही माया भी अबन्धक है, ऐसा तात्पर्य इस स्थान पर समझना चाहिये. ब्रह्मरूप शब्द का भी वैसा ही तात्पर्य समझना चाहिये.

२. अध्यात्मवार्ता.

३ अरूप जैसी प्रतीत होती है. ऐसा वाक्यार्थ समझना चाहिये.

है तथा पृथ्वी-तत्त्वप्रधान है. जब परमेश्वर का भक्त उस वृत्ति को परमेश्वर के स्वरूप में रखता है, तब वह वृत्ति सबसे पहले पतली डोरी की भाँति [१]पीली दिखायी पड़ती है. जैसे मकड़ी अपनी लार को एक स्तम्भ से दूसरे स्तम्भ तक लम्बी करने के बाद कभी तो इस स्तम्भ पर तो कभी उस स्तम्भ के ऊपर चली जाती है, तो कभी दोनों स्तम्भों के मध्य बैठ जाती है, वैसे ही मकड़ी की जगह पर जीव है तथा एक स्तम्भ के स्थान पर भगवान की मूर्ति है और अन्य स्तम्भ के स्थान पर अपना अन्तःकरण है तथा लार के ठिकाने पर वृत्ति है, उसके द्वारा ध्यान का करनेवाला जो योगी है वह कभी तो भगवान के स्वरूप के साथ संलग्न हो जाता है और कभी अन्तःकरण में बना रहता है, कभी अन्तःकरण तथा भगवान के मध्य में बना रहता है. ऐसा आचरण करनेवाली पृथ्वी तत्त्वप्रधान जो पीली वृत्ति है वह जब जलतत्त्वप्रधान होती है तब श्वेत दिखायी पड़ती है. जब वह अग्नितत्त्वप्रधान होती है तब रक्त-जैसी प्रतीत होती है, वायु तत्त्वप्रधान होने पर हरी दीख पड़ती है, आकाशतत्त्वप्रधान होने पर श्याम दिखायी पड़ती है और इसके पश्चात् पंचभूतों की प्रधानता मिट जाने पर जब यह वृत्ति निर्गुण हो जाती है तब अतिशय प्रकाशयुक्त दिखायी पड़ती है और भगवान के स्वरूप का आकाररूप हो जाती है.

जो भक्त उक्त प्रकार से भगवान के स्वरूप में वृत्ति रखता हो उसको तो अत्यन्त पवित्रतापूर्वक रहना चाहिये. जैसे कोई भक्त देव-पूजन के लिये तत्पर हो और देव सदृश पवित्र होकर यदि देवपूजा करता है, तब देव उसकी पूजा को अंगीकार कर लेते हैं, वैसे ही परमेश्वर में वृत्ति रखनेवाले को भी सांख्यशास्त्र की रीति से अपने स्थूल सूक्ष्म तथा कारण नामक तीन देहों से अपने स्वरूप को भिन्न समझकर तथा केवल आत्मारूप होकर परमेश्वर के स्वरूप में वृत्ति रखनी चाहिये. बाद में इस प्रकार वृत्ति रखते-रखते जब वह वृत्ति भगवान के स्वरूप में लीन हो जाय, तब इसी को ध्यान करनेवाले योगी की निद्रा कहा जाता है, किन्तु सुषुप्ति में लीन होने की अवस्था तो योगी की निद्रा हो ही नहीं सकती.'

॥ इति वचनामृतम् ॥८॥ ॥२०८॥

---

१. और लम्बी.

वचनामृत ९ : समाधिजन्य सुख

सम्वत् १८८२ में पौष शुक्ल *अष्टमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर के आगे मंच पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने समस्त मुनिमंडल से प्रश्न पूछा कि 'राजसिक, तामसिक तथा सात्त्विक नामक तीन प्रकार के जो मायिक सुख हैं वे जिस प्रकार तीनों अवस्थाओं में प्रतीत होते हैं, वैसे ही भगवान सम्बन्धी निर्गुण [१]सुख किस प्रकार ज्ञात होता है ?'

इस प्रश्न का उत्तर समस्त मुनिमंडल मिलकर देने लगे, परन्तु उसका कोई समाधान न हो सका. तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'पृथ्वी आदि चार भूतों के बिना अकेला ही आकाश हो और उसमें जितने तारे रहते हैं उतने ही चन्द्रमा वहाँ हों तथा उन सबका जितना प्रकाश हो, वैसा ही [२]चिदाकाश का भी प्रकाश है. उस चिदाकाश में भगवान की मूर्ति सदैव विराजमान रहती है. उस मूर्ति में जब समाधि लग जाय और उसके बीच यदि एक क्षण के लिये भी भगवान के स्वरूप में स्थिति जम जाय, तब भजन करनेवाले को ऐसा प्रतीत होगा कि 'हज़ारों वर्ष पर्यन्त मैंने समाधिजन्य सुख का उपभोग किया है.' भगवान के स्वरूप के ऐसे निर्गुण सुख की अनुभूति होती है. भले ही मायिक सुख का उपभोग दीर्घकाल तक भी किया हो, तो भी अन्त में वह क्षणिक ही प्रतीत होता है. भगवान का स्वरूप सम्बन्धी निर्गुण सुख तो अखंड एवं अविनाशी है तथा मायिक सुख नाशवंत है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥९॥ ॥२०९॥

वचनामृत १० : जीव के कल्याण का उपाय

सम्वत् १८८२ में पौष शुक्ल *एकादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी

---

* मंगलवार, १६ जनवरी, १८२६.

* शुक्रवार, १९ जनवरी, १८२६.

१ भगवान के भक्त के लिये तीन अवस्थाओं में.

२ अक्षरधाम.

महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के राजभवन में नीम वृक्ष के नीचे चौकी पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस समय भादरण गाँव के पाटीदार भगुभाई आये. उन्होंने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! जीव का कल्याण किस प्रकार हो सकता है ?'

श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'इस पृथ्वी पर राजारूप तथा साधुरूप में भगवान के अवतार दो प्रकार के होते हैं. जब वे राजारूप में पृथ्वी पर प्रकट होते हैं तब तो उनतालीस लक्षणों से युक्त होते हैं और जब वे साधुरूप में प्रकट होते हैं तब वे तीस प्रकार के लक्षणों से युक्त रहते [1]हैं. राजारूप में भगवान चौंसठ प्रकार की कलाओं से युक्त होते हैं. वे साम, दाम, भेद तथा दंड नामक चार प्रकार के उपायों से भी युक्त रहते हैं. वे शृंगार आदि नवरसों से भी युक्त होते हैं. वे भगवान जब साधुरूप में रहते हैं तब उनमें ये लक्षण नहीं होते. यदि भगवान राजारूप हों तो आपत्काल आने पर वे शिकार (मृगया) करके भी जीते हैं, चोर की गर्दन भी काट डालते हैं और घर में स्त्रियाँ भी रखते हैं. जब भगवान साधुरूप में होते [2]हैं तब तो वे अतिशय अहिंसा का आचरण करते हैं, हरे तृण को भी नहीं तोड़ते तथा चित्रांकित स्त्री का भी [3]स्पर्श नहीं करते. इसलिए, साधुरूपी भगवान की मूर्ति तथा राजारूपी भगवान की मूर्ति की रीति एकसमान नहीं होती.

श्रीमद्भागवत में प्रथम स्कन्ध में पृथ्वी तथा धर्म के संवाद में भगवान के राजारूप श्रीकृष्णादि अवतारों के उनतालीस लक्षण कहे गये हैं. एकादश स्कन्ध में श्रीकृष्ण भगवान तथा उद्धव के संवाद में भगवान के

---

१. कल्याण के इच्छुक पुरुष को ये दोनों लक्षण सबसे पहले जान लेने चाहिये. इस लोक में साधुरूप तथा राजारूप अवतारों का देहक्रिया से तो साधर्म्य नहीं है, परन्तु आश्रितजनों का कल्याण करने में तो साधर्म्य है.

२. उनमें सर्वयोगकलाएँ होती हैं तथा त्याग एवं अष्टांगयोग होता है, रस तो एक शान्त नाम का ही होता है और.

३. तथा भगवान में दृढ़ भक्ति होती है.

साधुरूप दत्तात्रेय एवं कपिल आदि अवतारों के तीस लक्षण कहे गये हैं. जिसको अपने कल्याण की इच्छा हो उसको उन-उन लक्षणों द्वारा उन भगवान को पहचान कर उन भगवान की शरण में जाना चाहिये तथा उनका दृढ़ विश्वास रखना चाहिये और उनकी आज्ञा में रहकर उनकी भक्ति करनी चाहिये. यही कल्याण का उपाय है.

भगवान जब पृथ्वी पर प्रत्यक्ष रूप से प्रकट न हों तब भगवान से [१]मिले हुए (सम्बन्धवाले) साधुओं का आश्रय ग्रहण करना चाहिये. उनसे भी जीव का कल्याण होता है. जब ऐसा साधु भी न हों तब भगवान की प्रतिमा में दृढ़ प्रीति रखनी चाहिये तथा स्वधर्म में रहकर भक्ति करनी चाहिये. उससे भी जीव का कल्याण होता है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१०॥ ॥२१०॥

वचनामृत ११ : अभिमानी की भक्ति भी आसुरी

सम्वत् १८८२ में पौष शुक्ल *पूर्णिमा को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के राजभवन में नीमवृक्ष के नीचे चौकी पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कंठ में श्वेत पुष्पों के हार पहने थे, कानों के ऊपर पुष्पगुच्छ खोंसे थे तथा पाग में पुष्पों के तुर्रे लटक रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष समस्त मुनिमंडल तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'हमारा[२] तो ऐसा स्वभाव है कि एक तो भगवान, दूसरे भगवान के भक्तों, तीसरे ब्राह्मणों तथा चौथे गरीब मनुष्यों से हम बहुत ज्यादा डरते हैं कि 'कभी उनसे द्रोह न हो जाय.' इतने तो हम अन्य किसीसे भी नहीं ड़रते, क्योंकि इन चारों के सिवा यदि अन्य किसीसे द्रोह करेंगे तो उसकी देह का नाश हो जाता है, परन्तु जीव का नाश नहीं होता. यदि इन चारों में से किसी भी एक से द्रोह किया जायगा, तो उसका

---

* मंगलवार, २३ जनवरी, १८२६.

१. इस सन्दर्भ में गढडा प्रथम प्रकरण का ६२ वाँ वचनामृतम् देखिये.

२. मेरे आश्रितजनों को भगवान, भगवान के भक्तों, ब्राह्मणों तथा दीनजनों से कभी भी द्रोह नहीं करना चाहिये, क्योंकि.

जीव भी नाश को प्राप्त हो जाता है.'

यह बात सुनकर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! जीव को तो अविनाशी कहा गया है, उसका नाश कैसे जानना चाहिये ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'पर्वत की या ऐसी कोई अन्य जड़ देह मिले, तो उसमें जीव का कभी भी कल्याण नहीं हो पाता. यही उसके जीव का नाश हो गया समझना चाहिये. इसीलिए, जिसको अपने कल्याण की इच्छा हो, उसको तो इन चारों में से किसीसे भी द्रोह नहीं करना चाहिये. भगवान तथा भगवान के भक्तों के आगे किसी प्रकार का अभिमान भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि अभिमान तो क्रोध, मत्सर, ईर्ष्या तथा द्रोह का आधार है. अभिमानी की भक्ति भी आसुरी कहलाती है. जो पुरुष भगवान के भक्त को भयभीत करता हो, वह यदि प्रभु का भक्त हो, तो भी उसको असुर जानना चाहिये.

हमारा तो यह स्वभाव है कि जो पुरुष ब्राह्मणों, गरीबों और भगवान के भक्तों से द्रोह करता है उसको तो हम देखना भी पसन्द नहीं करते. इस लोक तथा परलोक में भी उसके साथ हमारा संग नहीं रहेगा. इतनी वार्ता कहने के पश्चात् श्रीजीमहाराज ने दो पदों का गान कराया - इनमें से पहला यह था कि 'मारा हरिजीशुं हेत न दीसे रे तेने घेर शीद जईये.'[१] दूसरा पद यह था कि 'मारा वहालाजीशुं वहालप दीसे रे तेनो संग केम तजिये.'[२] इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने प्रत्येक सत्संगी को इन दोनों पदों को सीखने की आज्ञा प्रदान करके यह कहा कि 'इन पदों में जो वार्ता है उसका नित्य गान करके उसका स्मरण करते रहना चाहिये.'

ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज श्रीलक्ष्मीनारायण मन्दिर के आगे एक मंच पर आकर विराजमान हो गये. इसके पश्चात् गोपालानन्द स्वामी ने पूछा कि 'इस संसार में जो पंडित है वह यद्यपि शास्त्रों तथा पुराणों को पढ़ता तो है, फिर भी उसे भगवान तथा उनके सन्त की यथार्थ महिमा समझ में क्यों नहीं आती ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'वह पंडित शास्त्रों तथा पुराणों को पढ़ता तो जरूर है, लेकिन उसको भगवान का आश्रय नहीं है, इसलिए काम, क्रोध,

---

१. देखिये परिशिष्ट ३.

२. देखिये परिशिष्ट ३.

लोभ, ईर्ष्या, मत्सर ने उसके जीव को पराभूत कर दिया है तथा कामादि शत्रु उसको कभी भी सिर नहीं उठाने देते. वह पंडित अपने समान ही भगवान तथा भगवान के सन्त को समझता है कि 'जिस प्रकार हमारे कामादि शत्रु कभी भी निवृत्त नहीं होते वैसे ही इनके भी कामादि शत्रुओं की निवृत्ति नहीं होती.' इस प्रकार, वह भगवान तथा भगवान के सन्त में दोष समझता है. इसी कारण, उसको शास्त्र तथा पुराण पढ़ने पर भी भगवान तथा भगवान के सन्त का यथार्थ माहात्म्य समझ में नहीं आता.'

श्रीजीमहाराज ने दीनानाथ भट्ट तथा समस्त मुनिमंडल से यह प्रश्न पूछा कि 'ब्रह्मस्वरूप सत्पुरुष तीनों शरीरों और तीनों अवस्थाओं से परे रहते हैं तथा वे अपने में चौदह इन्द्रियों की क्रियाओं में से एक भी क्रिया को नहीं मानते. उन्हें अज्ञानी जीव नहीं पहचान सकता. जब उसकी महान पुरुष-जैसी स्थिति हो जाती है तब महान पुरुष जैसा आचरण करता है, उसे सत्य माना जाता है. जब तक उसको उन सत्पुरुष की महिमा ज्ञात नहीं हो पाती तब तक ब्रह्मस्वरूप में उसकी स्थिति भी नहीं होती. आत्मा में स्थिति हुए बिना उसको सत्पुरुष की महिमा भी ज्ञात नहीं होती. इस कारण परस्पर विरोधाभास हो गया. इस विरोधाभास का उन्मूलन करने के लिये उपाय बताइये.'

इस प्रश्न को जिसने जैसा समझा, उसका उसने वैसा उत्तर दिया, फिर भी इस प्रश्न का समाधान न हो सका. तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब हम इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि इस पृथ्वी पर भगवान् के अवतार हुए हैं और उनसे सम्बन्धित जो साधु हैं, उनके साथ जब उस जीव की घनिष्ठ प्रीति हो जाती है तब उसको उन सत्पुष के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का दोषाभास नहीं होता. जिसको जिसके साथ दृढ़ स्नेह हो जाता है, उसको उसका कोई भी अवगुण नहीं दिखायी पड़ता. उसके वचन भी सत्य माने जाते हैं. लौकिक मार्ग तथा कल्याण मार्ग में भी ऐसी रीति है. इसलिए सत्पुरुष में दृढ़ प्रीति ही आत्मदर्शन का साधन है. सत्पुरुष की महिमा जानने का भी यही साधन है. परमेश्वर के साक्षात् दर्शन सुलभ होने का भी यही साधन है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥११। ॥२११॥

वचनामृत १२ : भगवान में दोषाभास नहीं

सम्वत् १८८२ में पौष कृष्ण *द्वितीया को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के राजभवन में नीम वृक्ष के नीचे चौकी पर गद्दी-तकिया लगे हुए पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत दुपट्टा धारण किया था, उसके अन्दर श्वेत पिछौरीयुक्त गुलाबी रंग की शाल ओढ़ी थी, मस्तक पर सफेद पाग बाँधी थी तथा कंठ में गुलाबपुष्पों का हार पहना था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनिमंडल तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस समय श्रीजीमहाराज अन्तर्दृष्टि करके काफी देर तक विराजमान रहे थे. इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने नेत्रकमलों को खोलकर समस्त हरिभक्तों की सभा के सामने करुणाकटाक्ष द्वारा देखा. वे यह बोले कि 'आज तो सबको निश्चय की बात करनी है. उसको आप सब सावधान होकर सुनें कि अनन्तकोटि सूर्य-चन्द्रमा एवं अग्निसदृश प्रकाशमान जो अक्षरधाम है उसमें श्रीपुरुषोत्तम भगवान सदैव दिव्यमूर्ति होकर विराजमान रहते हैं. वे ही भगवान जीवों के कल्याण के लिये पृथ्वी पर रामकृष्णादि अवतारों को धारण करते हैं. तब जिसको उन भगवान के स्वरूप का सत्समागम द्वारा दृढ़ निश्चय हो जाता है, उसका जीव द्वितीया के चन्द्रमा की तरह दिनों-दिन बढ़ता रहता है. जिस प्रकार चन्द्रमा में जैसे-जैसे सूर्य की कला आती रहती है वैसे-वैसे वह चन्द्रमा भी वृद्धि को प्राप्त होता रहता है तथा पूर्णमासी के आने पर चन्द्रमा सम्पूर्ण आकार में प्रकट हो जाता है, वैसे ही भगवान सम्बन्धी पूर्ण निश्चय होने के पूर्व तक वह जीव अमावास्या के चन्द्रमा की तरह कलारहित खद्योत के समान हो जाता है. इसके पश्चात् जब वह जैसे-जैसे परमेश्वर की महिमा के सहित निश्चय को प्राप्त करता है, वैसे-वैसे वृद्धि को प्राप्त होकर वह जीवात्मा पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान हो जाती है. बाद में उसको इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण उस निश्चय से डिगाने में समर्थ नहीं हो पाते. तब परमेश्वर चाहे जैसे भी चरित्र प्रकट करें, तो भी उसको भगवान में किसी भी प्रकार का दोषाभास नहीं

---

* गुरुवार, २५ जनवरी, १८२६.

होता. इस प्रकार जिसको महिमा सहित भगवान सम्बन्धी निश्चय हो जाता है तब वह भक्त निर्भय हो जाता है.

यदि उसी भक्त को कभी असत् देश, असत् काल, असत् संग तथा असत् शास्त्रादि के योग द्वारा अथवा देहाभिमान द्वारा भगवान के चरित्र में सन्देह हो जाता है तथा भगवान में दोषाभास होता है, तभी वह जीव, जो पहले पूर्णमासी के चन्द्रमा की तरह रहा था, अमावास्या के चन्द्रमा के समान हो जाता है. यदि अपने में कुछ न्यूनाधिक दोष रहे तो भी वह इस जीव के लिये अधिक बाधा नहीं डाल सकता, किन्तु परमेश्वर के चरित्र में किसी भी प्रकार का सन्देह उत्पन्न होने अथवा परमेश्वर का किसी भी तरह से अवगुण दिखायी पड़ने पर उस जीव का कल्याण-मार्ग से तत्काल पतन हो जाता है. जैसे वृक्ष की जड़ें कट जाने पर वह वृक्ष अपने आप सूख जाता है, वैसे ही जिसको भगवान में किसी भी रीति से दोषबुद्धि हो जाती है, तो वह जीव किसी भी ढंग से विमुख हुए बिना नहीं रहता.

जिसका निश्चय का अंग दुर्बल होता है, उसको सत्संग में रहने पर भी ऐसा संकल्प-विकल्प होता रहता है कि 'क्या मालूम कि मेरा कल्याण होगा या नहीं होगा और जब मैं मरूँगा तब देवता बनूँगा याँ राजा बनूँगा या भूत बन जाऊँगा ?' जिसको भगवान के स्वरूप का परिपूर्ण निश्चय नहीं होता, उसके हृदय में ही ऐसे संकल्प-विकल्प होते रहते हैं. जिसको भगवान के स्वरूप का परिपूर्ण निश्चय हो जाता है, वह तो ऐसा समझता है कि 'जबसे मुझे भगवान मिले हैं उस दिन से ही मेरा कल्याण हो चुका है और जो कोई मेरा दर्शन करेगा या मेरी वार्ता सुनेगा, वह जीव भी सभी पापों से मुक्त होकर परमपद को प्राप्त कर लेगा.' इसलिए, इस प्रकार से भगवान के सम्बन्ध में महिमासहित निश्चय रखते हुए अपने आपमें कृतार्थभाव मानना चाहिये. यह बात सबको सावधान होकर अपने ध्यान में रखनी चाहिये.'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने कहा कि – '**धन्य वृन्दावनवासी वटनी छाया रे ज्यां हरि बेसता**'[१] इस माहात्म्य का कीर्तन-गान करिये.' इसके पश्चात् वह कीर्तन-गान किया गया. बाद में श्रीजीमहाराज बोले कि 'श्रीकृष्ण भगवान ने भी भागवत में कहा है :–

---

१. नरसिंह मेहता का कीर्तन, देखिये परिशिष्ट ३.

'अहो[१] अमी देववरामरार्चितं पादाम्बुजं ते सुमनः फलार्हणम् ।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मनस्तमोपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम् ॥'

इस प्रकार, परमेश्वर का योग प्राप्त करके वृक्ष का जन्म भी कृतार्थ हो जाता है. इसलिए, जिस वृक्ष के नीचे भगवान बैठे हों, उस वृक्ष को भी परम पद का अधिकारी जानना चाहिये. जिसके हृदय में भगवान की महिमासहित ऐसा दृढ़ निश्चय न हुआ हो, उसको तो नपुंसक-जैसा समझना चाहिये. उसके वचनों से तो किसी भी जीव का उद्धार नहीं हो सकता. जैसे कोई राजा नपुंसक हो और उसका राज्य तथा वंश विनाशोन्मुख हो जाय, किन्तु उससे उसकी स्त्री को कोई पुत्र उत्पन्न न हो सके, तब वह सभी मुल्कों से अपने समान नपुंसकों को बुलवाकर उन्हें उस स्त्री के संग रखे, तो भी उस स्त्री को पुत्र उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही जिसको भगवान के सम्बन्ध में उनकी महिमा के सहित निश्चय नहीं हुआ है, उसके मुख से गीता-भागवत जैसे सद्ग्रन्थों का श्रवण करने पर भी किसी का कल्याण नहीं होता. जैसे शक्कर मिश्रित दूध में यदि सर्प की लार गिर पड़े और उसे यदि कोई पुरुष पी ले, तो उसका प्राणान्त हो जाता है, वैसे ही माहात्म्यसहित भगवान सम्बन्धी निश्चय से रहित जीव के मुख से गीता-भागवत सुनने से किसी का भी कल्याण नहीं होता, बल्कि उससे तो उसका जड़ से सत्यानाश हो जाता है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥१२॥ ॥२१२॥

वचनामृत १३ : भगवान की मूर्ति में चमत्कार

सम्वत् १८८२ में पौष कृष्ण *सप्तमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के राजभवन में नीम वृक्ष के नीचे चौकी पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कंठ में श्वेत पुष्पों के हार पहने थे और वे करकमलों से एक अनारफल को उछाल रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा

---

* मगलवार, ३० जनवरी, १८२६.

१. हे भगवन् ! ये वृक्ष पूजा के साधनरूपी पुष्पफलादि द्वारा अपने तरुरूप कनिष्ठ जन्म के कारण रूपी तम (अज्ञान) का नाश करने के लिये मस्तकरूपी अपनी शाखाओं द्वारा, देवों में श्रेष्ठ देवताओं द्वारा अर्चित आपके चरणारविन्दों को प्रणाम करते हैं. यह एक अत्यन्त आश्चर्य की बात है.

देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. श्रीजीमहाराज ऊपर स्वर्ण-कलशसहित छत्र लगा हुआ था. ऐसी शोभा को धारण किये हुए श्रीजीमहाराज विराजमान थे.

उस समय भादरण गाँव के पाटीदार भगुभाई श्रीजीमहाराज के पास आये थे. उन्होंने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! यह समाधि कैसे लगती [१]होगी ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जीवों के कल्याण के लिये इस भरतखंड में भगवान अवतार धारण करते हैं. वे भगवान जब राजारूप में होते हैं तब उनतालीस लक्षणों से युक्त होते हैं. जब भगवान दत्त एवं कपिल-सदृश साधुओं के रूप में होते हैं तब वे तीस लक्षणों से युक्त होते हैं. यद्यपि उन भगवान की मूर्ति देखने में मनुष्य-जैसी लगती है, फिर भी वह अतिशय अलौकिक मूर्ति होती है. जैसे पृथ्वी पर सब पत्थर हैं, वैसे ही चुम्बक भी पत्थर हैं. परन्तु, चुम्बक में सहज ही ऐसा चमत्कार रहा है कि यदि 'चुम्बक पर्वत के समीप जहाज जाय, तो उसके सब खूंटे चुम्बक पत्थर की ओर तन जाते हैं,' वैसे ही भगवान की राजारूपी तथा साधुरूपी जो मूर्तियाँ हैं, उनका जो जीव जब श्रद्धापूर्वक दर्शन करता है तब उसकी इन्द्रियाँ भगवान के सामने तन जाती हैं. तभी समाधि लग जाती है. जैसे श्रीकृष्ण भगवान का दर्शन करने के पश्चात् समस्त गोकुलवासियों को समाधि लग गयी थी, तभी भगवान ने उस समाधि में ही अपना धाम दिखाया था. उसी प्रकार जिस-जिस समय भगवान के अवतार हों उस-उस समय भगवान की मूर्ति में ऐसा चमत्कार अवश्य रहता है. उस समय जो कोई भक्त श्रद्धापूर्वक भगवान का दर्शन कर ले, तो उसकी इन्द्रियाँ भगवान के सामने तन जाती हैं और तत्काल समाधि भी लग जाती है. यदि किसी समय भगवान को अपने सम्मुख अनेक जीवों को करना हो, तब अभक्त जीवो अथवा पशुओं को भी भगवान को देखकर समाधि लग जाती है. तब यदि भगवान के भक्त को समाधि लग जाय, तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है ?'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'ब्रह्म तो सर्वत्र व्यापक है, ऐसा सब लोग कहते हैं. जो व्यापक रहे, उसे मूर्तिमान कैसे कह सकते हैं और जो

---

१. अष्टांगयोग सिद्ध होने के पश्चात् समाधि लगने का नियम है. उसके बिना भी आपके दर्शनमात्र से कितने ही भक्तों को समाधि लग जाती है. ऐसी समाधि लगने में क्या हेतु है, ऐसा प्रश्नार्थ समझना चाहिये.

मूर्तिमान हो उसे व्यापक कैसे कहा जाय ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'ब्रह्म तो एकदेशस्थ है. सर्वदेशीय नहीं है. वह ब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान हैं. वे एकदेशस्थ होते हुए भी सर्वदेशस्थ रहते हैं. जैसे किसी पुरुष ने सूर्य की उपासना की हो, उसे सूर्य अपनी-जैसी दृष्टि प्रदान करते हैं. तब वह पुरुष वहाँ तक देखने में सक्षम हो जाता है जहाँ तक सूर्य की दृष्टि पहुँचती हो. जैसे कोई सिद्धदशावाला पुरुष हजारों-लाखों कोस की दूरी पर हो रही किसी की वार्ता को समीप में होनेवाली बातचीत की तरह सुन लेता है, वैसे ही लाखों कोस दूर पड़ी हुई किसी वस्तु को मनुष्य जैसे हाथों से उठा लेता है, वैसे ही श्रीकृष्ण भगवान एक स्थान पर रहते हुए भी अपनी इच्छा से जहाँ दर्शन देना होता है वहाँ दर्शन देते हैं तथा एकरूप होने पर भी अनके रूपों में भासते हैं. जो सिद्धपुरुष होता है उसमें भी दूरश्रवण एवं दूरदर्शनरूपी चमत्कार रहता है, तब परमेश्वर में यदि यह चमत्कार रहे, तो इसमें क्या आश्चर्य है ? विभिन्न ग्रन्थों में भगवान को व्यापक बताया गया है. वे तो मूर्तिमान हैं. वे ही अपनी सामर्थ्य से एक स्थान पर रहते हुए भी सबको दर्शन देते हैं. इस प्रकार उनको व्यापक कहा गया है. फिर भी वे आकाश की तरह अरूप होकर व्यापक नहीं हैं. भगवान तो सदाय मूर्तिमान ही हैं. मूर्तिमान भगवान अक्षरधाम में निवास करने पर भी अनन्तकोटि ब्रह्मांडों में भासते रहते हैं.' ॥ इति वचनामृतम् ॥१३॥ ॥२१३॥

वचनामृत १४ : वर्णाश्रमधर्म

सम्वत् १८८२ में पौष कृष्ण *नवमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर के आगे विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशन्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

इस अवसर पर वड़ोदरा के वाघमोड़िया रामचन्द्र ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! जो कुपात्र जीव लगता हो, उसे भी समाधि लग जाती है, इसका क्या कारण है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'धर्मशास्त्रों में जो वर्णाश्रम धर्म बताया गया है

---

* गुरुवार, १ फरवरी, १८२६.

उसके विपरीत आचरण करनेवाले को सब लोग ऐसा मानते हैं कि 'यह कुपात्र मनुष्य है.' उस कुपात्र के हृदय में यदि भगवान या भगवान के सन्त के गुण आ जायँ, तो उसके लिये यह एक बड़ा पुण्य होता है. तथा वर्णाश्रम धर्म का लोप होने से उसको जो पाप लगा था वह नष्ट हो जाता है. इस प्रकार वह जीव जब अत्यन्त पवित्र हो जाता है तब उसका चित्त भगवान के स्वरूप में लग जाता है और उसको समाधि लग जाती है. जो पुरुष धर्मशास्त्रों में बताये गये वर्णाश्रमधर्म का पालन करता है उसको सब लोग धर्मवान कहकर सम्बोधित करते हैं. फिर भी, यदि वह भगवान तथा भगवान के साधुओं से द्रोह करता हो, तो उसको सत्पुरुष से द्रोह करने का पाप लग जाता है और वह 'वर्णाश्रमधर्म का पालन करने से प्राप्त होनेवाले पुण्य को नष्ट कर डालता है.' इसलिये, सत्पुरुष से द्रोह करनेवाला तो पंचमहापाप करनेवाले की अपेक्षा घोर पापी होता है. उसका कारण यह है कि जिसने पंचमहापाप किये हों वह यदि सत्पुरुष के आश्रय में चला जाय तो उन पापों से उसका छुटकारा हो जाता है, परन्तु सत्पुरुष से द्रोह करनेवाले का तो किसी भी स्थान पर छुटकारा मिल जाने का कोई उपाय नहीं हो सकता. यह कहा गया है कि अन्य स्थान में किये गये पाप से तीर्थ में जाने पर छुटकारा मिल जाता है, किन्तु तीर्थ में जाने पर जो पाप किया जाता है वह तो वज्रलेप हो जाता है.

सत्पुरुष का आश्रय ग्रहण करने पर किसी भी प्रकार का पापी भी अतिपवित्र हो जाता है और उसको समाधि लग जाती है. किन्तु, सत्पुरुष से द्रोह करनेवाला तो धर्मवान दिखायी पड़ने पर भी घोर पापी ही रहता है. उसको उसके हृदय में कभी भी भगवान का दर्शन होता ही नहीं है. जिसको विमुख जीव पापी मानते हैं वह वस्तुतः पापी नहीं होता तथा जिसको विमुख व्यक्ति धर्मात्मा समझते हैं वह वास्तव में धर्मवान नहीं होता.'

।। इति वचनामृतम् ।।१४।। ।।२१४।।

वचनामृत १५ : सत्पुरुष का अनुग्रह

सम्वत् १८८२ में पौष कृष्ण *एकादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी,

* शनिवार, ३ फरवरी, १८२६.

महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर के आगे नीम वृक्ष के नीचे मंच पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे. उन्होंने किमखाब का पायजामा पहना था और बगलबंडी पहनी थी, मस्तक पर बड़ा सुनहरा पल्लेदार भारी कुसुम्भी शेला बाँधा था, बड़े बड़े सुनहरे पल्लेदार भारी कुसुम्भी शेला को कन्धों पर डाला था तथा उनके मस्तक के ऊपर स्वर्ण कलशवाला छत्र लगा हुआ था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनिमंडल तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस समय शोभाराम शास्त्री ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! दैवी तथा आसुरी नामक दो प्रकार के जो जीव हैं वे [१]अनादिकाल के हैं या किसी योग द्वारा होते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'दैवी तथा आसुरी नामक दो प्रकार के जो जीव हैं वे सर्वप्रथम माया में लीन हुए थे. इसके पश्चात् जगत का सृजन होने पर ये दोनों प्रकार के जीव अपने-अपने भावों से युक्त होकर उत्पन्न होते हैं. अनेक साधारण जीव भी हैं, जो दैवी तथा आसुरी जीवों के संग से दैवी तथा आसुरी हो जाते हैं. और भी कितने ही दैवी और आसुरी जीव हैं, जो जैसे-जैसे कर्म करते जाते हैं वैसे-वैसे भावों को प्राप्त करते रहते हैं. उनमें आसुर भाव के बारे में और दैवी भाव के सम्बन्ध में मुख्य हेतु तो क्रमशः सत्पुरुषों का कोप तथा अनुग्रह है.

जैसे भगवान के जय-विजय नामक जो पार्षद थे वे सनकादि-जैसे सत्पुरुषों से द्रोह करने के कारण आसुर भाव को प्राप्त हो गये. प्रह्लादजी दैत्य थे. उन्होंने नारदजी का उपदेश ग्रहण किया, इसीलिए वे परम भागवत सन्त कहलाये. जिस पर महापुरुष का कोप हो जाता है वह जीव आसुरी हो जाता है तथा जिस पर महापुरुष प्रसन्न हो जाते हैं वह जीव दैवी हो जाता है, किन्तु दैवी तथा आसुरी होने का अन्य कारण नहीं है. इसलिये, जिसको अपने कल्याण की इच्छा हो उसे भगवान तथा भगवान के भक्त से किसी भी प्रकार का द्रोह नहीं करना चाहिये. उसको तो वही कार्य करना चाहिये, जिससे भगवान तथा भगवान के भक्त प्रसन्न बने रहें.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१५॥ ॥२१५॥

---

१. स्वभाव से हैं या निमित्त से, ऐसा भावार्थ समझना चाहिये.

वचनामृत १६ : 'त्याग तथा भक्ति का मद'

सम्वत् १८८२ में पौष कृष्ण *त्रयोदशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के राजभवन में नीमवृक्ष के नीचे मंच पर गद्दी तकिया रखवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनिमंडल तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस समय वड़ोदरा के शास्त्री बैठे थे. उन्होंने ऐसा कहा कि 'हे महाराज ! यदि आप किसी बड़े आदमी को चमत्कार दिखावें, तो बहुत समाधान हो जायगा.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'बड़े आदमियों के साथ हमारी बिल्कुल भी नहीं पटती क्योंकि उनमें राज्य तथा धन का मद होता है और हमें तो त्याग तथा भक्ति का मद है. इसलिए, कोई किसी को नमन करे, ऐसा काम नहीं है. हमारे हृदय में इस बात का कोई लालच नहीं है कि यदि हम किसी बड़े आदमी को समाधि लगवायेंगे, तो वह हमें कुछ गाँवों की जमींदारी दे देगा. गाँवों की जमींदारी लेने की इच्छा तो सुख की कामना से की जाती है. हमें तो नेत्र मींचकर भगवान की मूर्ति का चिन्तन करने से जो सुख मिलता है वैसा सुख तो चौदह लोकों का राज्य मिलने पर भी नहीं मिल सकता. यदि भगवान का भजन करने से प्राप्त होनेवाला सुख राज्य में मिलता होता तो स्वायम्भुव मनु आदि बड़े-बड़े राजा अपने राज्य का परित्याग करके वन में तप करने के लिये क्यों जाते ? यदि भगवान के भजन से प्राप्य सुख स्त्रियों में भी मिलता होता, तो चित्रकेतु राजा करोड़ों स्त्रियों को क्यों छोड़ देता ?

भगवान के भजनजन्य सुख के आगे तो चौदह लोकों के सुख को नरक-जैसा बताया गया है. जो भक्त पुरुष भगवान के भजनजन्य सुख से सुखी हो चुका है उसे तो ब्रह्मांड में विषय-सुख नरकतुल्य लगता है. हमारे लिए भी भगवान के भजन से प्राप्त होनेवाला सुख ही वास्तविक सुख प्रतीत होता है तथा अन्य सभी सुख दुःखरूप प्रतीत होते हैं. इसलिए, परमेश्वर का भजन-स्मरण करते हुए जिसको सहज भाव से सत्संग हो जाता

---

* रविवार, ४ फरवरी, १८२६.

है उसके लिये ही हम ऐसा सत्संग कराते हैं, परन्तु अन्तःकरण में किसी बात का आग्रह नहीं रहता. आग्रह तो केवल भगवान के भजन का तथा भगवान के भक्त का सत्संग करने का ही होता है. यह हमारे अन्तःकरण का रहस्य (अभिप्राय) था, जो हमने आपके समक्ष प्रकट किया.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१६॥ ॥२१६॥

वचनामृत १७ : जितेन्द्रिय-भाव

सम्वत् १८८२ में पौष कृष्ण *अमावास्या को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के सामनेवाली हवेली में गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष समस्त साधुओं तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'पंच ज्ञान-इन्द्रियाँ तथा पंच कर्म-इन्द्रियाँ हैं, जो अपने विषयों को यथार्थ रूप से जानती हैं. इसलिए ज्ञानी तथा अज्ञानी इन इन्द्रियों द्वारा एकसमान व्यवहार करते हैं. परन्तु, ज्ञानी की इन्द्रियाँ अज्ञानी की अपेक्षा पृथक् रूप से आचरण नहीं करतीं, तब ज्ञानी को जिस प्रकार से जितेन्द्रिय कहा गया है, इस बात को किस तरह से समझा जाय ?'

मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'निर्विकल्प समाधि होने पर जितेन्द्रिय हो सकता है, ऐसा प्रतीत होता है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'निर्विकल्प समाधिवाले के लिये भी पंचविषय सब लोगों की तरह इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होते हैं, तब जितेन्द्रिय-भाव किस प्रकार से रहता है ?'

मुक्तानन्द स्वामी ने इस प्रश्न का कई प्रकार से उत्तर दिया, किन्तु प्रश्न का समाधान न हो सका. तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'इसका उत्तर तो इस प्रकार है कि शब्दादि पंचविषयों में जो दोष रहे हैं उन्हें जानना चाहिये, भगवान की मूर्ति में जो कल्याणकारी गुण हैं उन्हें भी समझना चाहिये और मायिक पंचविषयों को भोगने से जीव को नरककुंड की प्राप्ति

* मंगलवार, ६ फरवरी, १८२६.

होती है तथा महादुःख भोगने पड़ते हैं, उन्हें भी जानना चाहिये. ऐसा जान लेने पर ही उन पंचविषयों से आसक्ति बिल्कुल मिट जाती है तथा उनमें वैर-बुद्धि हो जाती है. जिनके साथ जिसका वैर हो जाता है उनके साथ उसकी प्रीति कभी भी नहीं होती. ऐसा समझकर जिसका मन पंचविषयों की तरफ से बिल्कुल उचट जाता है तब वह जितेन्द्रिय पुरुष कहलाता है. इसके पश्चात् भगवान की श्रवणकीर्तनादि भक्ति द्वारा अपने जीवन को व्यतीत कर देना चाहिये, परन्तु विमुख जीव की तरह पंचविषयों में आसक्त नहीं होना चाहिये. ऐसा होने पर ही उसको जितेन्द्रिय कहा जाता है.'

श्रीजीमहाराज ने दूसरा प्रश्न पूछा कि 'जो एक त्यागी सन्त है, वह तो केवल निवृत्तिमार्गवाला होता है और वह ऐसा जानता है कि 'हम आत्मा हैं.' फिर भी वह देह को अपना रूप नहीं मानता तथा उसकी दैहिक रीति तो जड़ और उन्मत्त जैसी होती है. उस पुरुष को जाति, वर्ण, आश्रम का भी अभिमान नहीं होता. उसका खाना-पीना और उठना-बैठना भी उन्मत्त जैसा होता है, किन्तु संसार के व्यावहारिक क्षेत्र में ऐसा नहीं जताता. ऐसे त्यागी पुरुष को किसी का संग भी प्रिय नहीं लगता. ऐसा पुरुष तो वन के मृग की भाँति अकेला ही घूमता-फिरता रहता है और उसको किसी भी प्रकार का बन्धन भी नहीं होता.

दूसरा त्यागी सन्त है, जो निवृत्तिमार्गवाला होने पर भी प्रवृत्तिमार्ग में बना रहता है. जिस प्रवृत्ति के योग से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आशा, तृष्णा आदि दोष हृदय में बने रहते हैं, वैसी क्रिया में वह प्रवृत्त रहता है. तब उसके अन्तःकरण में किसी प्रकार का विकार भी उत्पन्न हो जाता है. इसलिए, उस त्यागी को उस प्रवृत्तिमार्ग में रहना उचित है या नहीं ? प्रवृत्तिमार्ग में रहते हुए वह किस प्रकार निर्विकार रह सकता है ? आप कहेंगे कि 'यदि वह परमेश्वर की आज्ञा से प्रवृत्तिमार्ग में रहता है, तो उसके लिये कोई बन्धन नहीं हो सकता.' इस बात पर यह आशंका है कि 'परमेश्वर की आज्ञा से यदि वह भाँग पी ले तो क्या वह पागल नहीं होगा ? वह जरूर पागल होगा. इसलिए, उस त्यागी को किस प्रकार से प्रवृत्तिमार्ग में रहना चाहिये, जिससे उसको बन्धन न हो सके.' यह प्रश्न है.

नित्यानन्द स्वामी तथा शुकमुनि इस प्रश्न का समाधान करने लगे, किन्तु वे इसका यथार्थ उत्तर न दे सके. तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो

केवल निवृत्तिधर्मवाले त्यागी हैं तथा उन्मत्त व्यक्ति के समान आचरण करते हैं, उन्हें तो केवल आत्मनिष्ठावाला जानना चाहिये. जो निवृत्तिधर्मवाले त्यागी पुरुष भगवान की भक्ति से युक्त हैं, उन्हें तो परमेश्वर द्वारा निर्दिष्ट नियमों का पालन करते हुए भगवान तथा भगवान के भक्त सम्बन्धी प्रवृत्तिमार्ग में सावधान होकर चलते रहना चाहिये. भगवान तथा भगवान के भक्त से सम्बन्धित प्रवृत्तिमार्ग में जुट जाने का नाम ही भक्ति है. ऐसी प्रवृत्तिवाले जो त्यागी पुरुष हैं उनकी कोटि में निवृत्तिमार्गगामी केवल आत्मनिष्ठ त्यागीजन नहीं आ सकता. इसका कारण यह है कि ये तो त्यागी तथा निवृत्तिमार्गवाले होने पर भी भगवान तथा भगवान के भक्तों की सेवा के लिये प्रवृत्ति में लगे रहते हैं. उधर, भगवान के जो त्यागी भक्तजन हैं, उन्हें तो परमेश्वर के नियमों का पालन करते हुए प्रवृत्तिमार्ग में रहना पड़ता है. उन्हें परमेश्वर के नियमों का पालन करने में न तो अतिरेक करना चाहिये और न इन नियमों के पालन में किसी तरह की न्यूनता ही रखनी चाहिये. यदि वे काम, क्रोध, लोभ, मोह, आशा, तृष्णा एवं स्वाद आदि विकारों का परित्याग करके भगवान तथा भगवान के भक्तों की सेवा में प्रवृत्त रहें तो उनके लिये किसी भी तरह का बन्धन नहीं रहता. वस्तुतः ये त्यागीजन केवल आत्मनिष्ठ त्यागी पुरुषों की अपेक्षा अतिशय श्रेष्ठ हैं तथा भगवान के कृपापात्र भी हैं.'　॥ इति वचनामृतम् ॥१७॥ ॥२१७॥

वचनामृत १८ : उद्धव सम्प्रदाय

सम्वत् १८८२ में माघ शुक्ल *प्रतिपदा को श्रीजीमहाराज श्रीवरताल में सन्ध्याकालीन आरती होने के पश्चात् श्रीलक्ष्मीनारायण के मंडप में गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके चारों ओर मंडप के ऊपर-नीचे सभी परमहंस तथा देश-देशान्तर के हरिभक्त बैठे हुए थे.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'आप सब बड़े-बड़े परमहंसों से हम यह प्रश्न पूछते हैं कि 'सत्संगीजन को कौन-कौन-सी वार्ता आवश्यक रूप से जाननी चाहिये, क्योंकि उससे यदि कोई पूछ बैठे अथवा अपने मन में कोई तर्क

---

* बुधवार, ७ फरवरी, १८२६

उपस्थित हो जाय, तो उस वार्ता के न जानने पर उसका समाधान कैसे हो सकेगा ?'

ऐसा प्रश्न पूछने के पश्चात् वे स्वयमेव बोले कि 'इस प्रश्न का उत्तर हम ही देते हैं कि पहली बात तो यह है कि अपना उद्धव सम्प्रदाय है, उसकी रीति जान लेनी चाहिये और दूसरी बात यह है कि गुरु परम्परा का ज्ञान भी होना चाहिये. उद्धवजी स्वयं रामानन्द स्वामी रूप थे. श्रीरंगक्षेत्र में उन रामानन्द स्वामी ने [१]स्वप्न में साक्षात् रामानुजाचार्य से वैष्णवी दीक्षा प्राप्त की. इसलिए, रामानन्द स्वामी के गुरु रामानुजाचार्य हैं. उन रामानन्द स्वामी के शिष्य [२]हम हैं. ऐसी [३]गुरुपरम्परा जाननी चाहिये.

हमने अपने धर्मकुल की स्थापना की है. उसकी रीति जाननी चाहिये.

तीसरी बात यह है कि हमारे सम्प्रदाय में अतिप्रमाणरूप जो शास्त्र हैं उनको जानना चाहिये. उन शास्त्रों के नाम ये हैं :– (१) वेद, (२) व्याससूत्र, (३) श्रीमद्भागवतपुराण, (४) महाभारत का विष्णुसहस्रनाम, (५) भगवद्-गीता, (६) विदुरनीति, (७) स्कन्दपुराण के विष्णुखंड का वासुदेवमाहात्म्य तथा (८) याज्ञवल्क्यस्मृति. इन आठों शास्त्रों का ज्ञान होना चाहिये.

चौथी बात यह है कि समस्त सत्संगीजनों के लिये जो नियम निर्धारित किये गये हैं, उन्हें जान लेना चाहिये.

पाँचवीं बात यह है कि अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण भगवान को जानना चाहिये. स्थान, सेवक तथा कार्यभेद से श्रीकृष्ण भगवान की मूर्तियों की जो विविधता है, उसको भी समझना चाहिये. श्रीकृष्ण भगवान के परोक्ष रूप तथा प्रत्यक्ष रूप को जानना चाहिये. उनमें परोक्ष रूप किस प्रकार का है, वह बताते हैं कि माया के तम से परे जो गोलोक है उसके मध्यभाग में स्थित अक्षरधाम में श्रीकृष्ण भगवान रहते हैं. वे द्विभुज हैं, तथा कोटि-कोटि सूर्यों के समान प्रकाशमान हैं, श्यामसुन्दर हैं राधिकाजी, एवं लक्ष्मीजी के सहित हैं, नन्द, सुनन्द तथा श्रीदामादि पार्षदों ने उनकी सेवा की है, वे

---

१. समाधि में.

२. और हमने धर्मवंशी अयोध्याप्रसाद तथा रघुवीर में अपना गुरुपद स्थापित किया है.

३. गुरुपरम्परा को ही सम्प्रदाय कहा जाता है. 'सम्प्रदायो गुरुक्रमः', ऐसा अमरकोश में भी कहा गया है.

भगवान अनन्तकोटि ब्रह्मांडों की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के कर्ता हैं और महाराजाधिराज भाव से विराजमान हैं. ऐसे जो ये भगवान हैं वे चतुर्भुजरूप, अष्टभुजरूप तथा सहस्रभुजरूप को भी धारण करते हैं. वे वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध एवं प्रद्युम्न नामक चतुर्व्यूहों तथा केशवादि चौबीस व्यूहों के रूपों और वाराह, नृसिंह, वामन, कपिल, हयग्रीव आदि अनेक अवतारों को धारण करते हैं. वे स्वयं तो सदैव द्विभुज रहते हैं. उपनिषदों, सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र तथा पंचरात्र में उनके इसी स्वरूप का वर्णन किया गया है. इस प्रकार, परोक्ष रूप से भगवान का स्वरूप [१]बताया गया है.

जो सभी आचार्य हुए हैं उनमें व्यासजी सबसे बड़े आचार्य हैं. उन व्यासजी के समान शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्क, विष्णुस्वामी तथा वल्लभाचार्य को नहीं कहा जाता, क्योंकि ये आचार्य जब व्यासजी के वचनों का अनुसरण करते हैं तभी लोक में उन आचार्यों के वचनों का प्रमाण मान्य होता है, अन्यथा नहीं होता. व्यासजी को तो किसी अन्य के वचनों की अपेक्षा भी नहीं रहती, क्योंकि व्यासजी तो वेदों के आचार्य तथा स्वयं भगवान हैं. इसीलिए, हमें तो व्यासजी के वचनों का अनुसरण करना चाहिये. उन व्यासजी ने जीवों के कल्याण के लिये [२]वेदों का विभाग किया है. उन्होंने सत्रह पुराणों तथा महाभारत की रचना की. फिर भी, उन व्यासजी के मन में ऐसा लगा कि 'जीवों के कल्याण का जैसा उपाय है, उसे यथार्थ रूप से नहीं बताया गया.' उससे उनको सन्तोष नहीं हुआ. तब उन्होंने अन्त में समग्र वेदों, पुराणों, इतिहासों, पंचरात्र, योगशास्त्र, सांख्यशास्त्र तथा उनके सारांशरूप श्रीमद्भागवत पुराण की रचना की.

भागवत में समस्त अवतारों की अपेक्षा श्रीकृष्ण भगवान का ही अधिकाधिक वर्णन किया गया है, क्योंकि समस्त अवतारों को धारण करनेवाले स्वयं श्रीकृष्ण भगवान ही हैं. उन श्रीकृष्ण भगवान ने उद्धव के प्रति गुण विभाग के अध्याय में कहा है कि 'मैं निर्गुण हूँ तथा जो

---

१. प्रत्यक्ष रूप तो धरातल में विद्यमान नराकार को मानना चाहिये, साक्षात् भगवान व्यासमुनि ने पुराणों आदि में नराकार श्रीकृष्ण भगवान के समग्र चरित्रों का वर्णन किया है. मुमुक्षुजनों को अतिभक्ति भाव से उनका श्रवण करना चाहिये.

२. ऋग्वेद आदि चार प्रकार से.

भक्तजन मेरे सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं वे भी निर्गुण हो जाते हैं.' इसलिए कामभाव, द्वेषभाव, भयभाव, सम्बन्धभाव तथा स्नेहभाव में से जिस-जिस भाव द्वारा जिन जीवों ने उन श्रीकृष्ण भगवान का आश्रय ग्रहण किया, वे निर्गुण हो गये. इसलिये, वे श्रीकृष्ण भगवान निर्गुण हैं. व्यासजी ने श्रीकृष्ण भगवान का वर्णन किया है. उन व्यासजी ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि –

'समस्त अवतारों को धारण करनेवाले जो परमेश्वर हैं, वे ही स्वयं श्रीकृष्ण भगवान हैं. जो अन्य अवतार हैं वे उन्हीं के हैं.' यदि कोई उन श्रीकृष्ण भगवान को निर्गुण न कहकर शुद्धसत्त्वात्मक कहेगा, तो यही कहना पड़ेगा कि उसको तो भगवान के पूर्वापर सम्बन्ध का ज्ञान ही नहीं है. इस कारण उसके सम्बन्ध में बड़ी बाधा उपस्थित हो जायगी, क्योंकि गोपियों ने श्रीकृष्ण को भगवान नहीं समझा, किन्तु कामभाव से उन्होंने उन्हीं श्रीकृष्ण भगवान का भजन किया. उसके फलस्वरूप वे गोपियाँ निर्गुण हो गयीं. तब उन श्रीकृष्ण भगवान को शुद्धसत्त्वात्मक कैसे कहा जा सकता है ? इसलिये, श्रीकृष्ण भगवान तो निर्गुण ही हैं. श्रीकृष्ण भगवान ने स्वयं अर्जुन से कहा है –

'जन्म[१] कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥'

उन श्रीकृष्ण भगवान ने अपने जन्म के समय वसुदेव-देवकी को परमेश्वरभाव की प्रतीति कराने के लिये चतुर्भुजस्वरूप दिखाया, ब्रह्मा को अनेक चतुर्भुजस्वरूप दिखाये, अक्रूर को शेषशायीरूप दिखाया तथा अर्जुन को विश्वस्वरूप दिखलाया. इन रूपों के भेद से श्रीकृष्ण भगवान की उपासना का जो भेद बताना है वह तो उचित है. फिर भी, वे श्रीकृष्ण भगवान व्रज में बालमुकुन्द स्वामी, मुरलीमनोहर तथा राधाकृष्ण कहलाये श्रीकृष्ण भगवान ने बछड़े चराये, गायें चरायीं, गोवर्धन पर्वत को धारण किया, गोपियों के साथ रासक्रीड़ा की, मथुरापुरी में आकर कंस को मारा, यादवों को सुख प्रदान किया, सांदीपिनी ब्राह्मण के घर विद्या पढ़ी, कुब्जा

---

१. अर्थ : 'हे अर्जुन ! पूर्वोक्त प्रकार से जो पुरुष मेरे जन्म-कर्म को यथार्थ रूप से दिव्य जानता है, वह पुरुष देहत्याग करने के पश्चात् फिर से जन्म नहीं लेता, बल्कि मुझ को ही प्राप्त कर लेता है.'

के साथ विहार किया, द्वारिकापुरी में निवास किया, रुक्मिणी आदि आठ पटरानियों से विवाह किया, सोलह हजार स्त्रियों से विवाह रचाया, हस्तिनापुर में निवास किया, पांडवों की सभी कष्टों से रक्षा की, द्रौपदी की लाज रखी और वे अर्जुन के सारथी भी बने. इस स्थानभेद से श्रीकृष्ण भगवान की जो भिन्न-भिन्न अनेक लीलाएँ हुई हैं उनके कारण उन श्रीकृष्ण भगवान के द्विभुज-स्वरूप में उपासना का भेद नहीं करना चाहिये. यदि कोई ऐसा भेद करेगा, तो वह वचनद्रोही तथा गुरुद्रोही होगा.

उन श्रीकृष्ण भगवान ने ग्वालों का उच्छिष्ट खाकर तथा रासक्रीड़ा आदि करके जो अनेक प्रकार के आचरण किये हैं उनके अनुसार श्रीकृष्ण भगवान के भक्तों को आचरण नहीं करना चाहिये. उन श्रीकृष्ण भगवान ने श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध, भगवद्गीता तथा वासुदेवमाहात्म्य में साधु के जैसे लक्षण कहे हैं, जैसा वर्णाश्रमधर्म बताया है तथा अपनी भक्ति करने की जो बात कही है उसी के अनुसार आचरण करना चाहिये, किन्तु उन श्रीकृष्ण भगवान के आचरणानुसार आचरण नहीं करना चाहिये. जो कोई ऐसा आचरण करेगा वह विमुख हो जायगा और हमारा सत्संगी नहीं हो सकेगा. जिस प्रकार हमारे इष्टदेव श्रीकृष्ण भगवान के आचरणों के अनुसार आचरण नहीं करना है वैसे ही आप सबका आचार्य, गुरु तथा उपदेष्टारूपी जो मैं हूँ वैसे मेरे दैहिक आचरण के अनुसार भी आप लोगों को आचरण नहीं करना चाहिये.

हमारे सम्प्रदाय में जिस प्रकार जिसके धर्म बताये गये हैं, उनका हमारे वचनानुसार आप सबको पालन करना चाहिये, परन्तु हमारे आचरण के अनुसार आचरण नहीं करना चाहिये. हमने यह जो वार्ता कही है उसे सभी परमहंसों तथा सत्संगियों को सीख लेना चाहिये तथा तदनुसार समझ कर वैसा ही आचरण करना चाहिये और दूसरों के साथ भी वैसी ही वार्ता करनी चाहिये.'

ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज भोजन करने के लिये पधारे. इस प्रकार की वार्ता को सुनकर सभी साधु तथा सत्संगीजन ऐसा समझे कि 'परोक्षरूप में जिन्हें श्रीकृष्ण भगवान कहा गया है वे ही ये भक्तिधर्म के पुत्र श्रीजीमहाराज हैं, परन्तु उनसे परे कोई नहीं है और वे ही हमारे इष्टदेव तथा गुरु भी हैं.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१८॥ ॥२१८॥

वचनामृत १९ : भगवान का पार्षद

सम्वत् १८८२ में माघ शुक्ल *द्वितीया को श्रीजीमहाराज सायंकाल श्रीवरताल स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर में पूर्व की तरफ की रूपचौकी पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

जब ठाकुरजी की सन्ध्याकालीन आरती हो चुकी तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'सुनिये, भगवान की वार्ता करते हैं कि इस जीव को जब भरतखंड में मनुष्यदेह मिलती है तब भगवान के अवतार या भगवान के साधु की, जो प्रगट होकर निश्चित रूप से पृथ्वी पर विचरण करते रहते हैं, उसे पहचान हो जाय, तो वह जीव भगवान का भक्त हो जाता है. जब वह भगवान का भक्त हो चुकता है तब उसको अन्य किसी भी पदार्थ में प्रीति रखना रुचिकर नहीं लगता. इसका कारण यह है कि भगवान के धाम के सुख के आगे मायिक पंचविषयों का सुख तो नरकतुल्य होता है. जो नरक के कीड़े हैं, वे तो नरक को परमसुखदायी समझते हैं. परन्तु, जो मनुष्य हैं, वे तो नरक को परमदुःखदायी समझते हैं.

वैसे ही जिसको भगवान की पहचान हो जाती है वह तो भगवान का पार्षद हो जाता है. तब उसको भगवान के पार्षदपद से हटकर विष्ठा के कीड़े की तरह मायिक पंचविषयों के सुख की इच्छा नहीं करनी चाहिये. जो पुरुष भगवान का भक्त हो जाता है वह जिस-जिस मनोरथ की कामना करता है, वह सब सत्य हो जाता है. जो पुरुष भगवान को छोड़कर अज्ञानवश अन्य पदार्थों की इच्छा करता है, वही उसका घोर अविवेक होता है. इसीलिए, भगवान के भक्त को तो चौदह लोकों के भोगसुखों को काकविष्ठा तुल्य समझना चाहिये. उसे तो मन, कर्म और वचन द्वारा भगवान तथा भगवान के भक्तों में ही दृढ़ प्रीति करनी चाहिये और यह समझना चाहिये कि 'भगवान के भक्त को कदाचित् भगवान के सिवा यदि कोई अन्य वासना रह गयी हो, तो वह भी इन्द्रपदवी या ब्रह्मलोक को प्राप्त

* गुरुवार, ८ फरवरी, १८२६.

कर सकता है, परन्तु प्राकृत जीव की तरह उसको चौरासी लाख योनियों में नहीं भटकना पड़ता. तब भगवान के यथार्थ भक्त की महिमा तथा उसके सुख का तो वर्णन ही कैसे किया जा सकता है !' इसलिये, भगवान के भक्त को तो भगवान में ही दृढ़ प्रीति रखनी चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१९॥ ॥२१९॥

वचनामृत २० : जनकजी का ज्ञान

सम्वत् १८८२ में माघ शुक्ल *तृतीया को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के राजभवन में नीमवृक्ष के नीचे वेदी पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कंठ में चमेली पुष्पों के हार पहने थे तथा मस्तक के ऊपर लाल अतलस का छत्र लगा हुआ था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने परमहंसों से प्रश्न पूछा कि 'रजोगुण में से काम की उत्पत्ति होती है तथा तमोगुण में से क्रोध और लोभ उत्पन्न होता है. इसीलिए, ऐसा कौन-सा एक साधन है, जिससे कि कामादि का बीज न रह सके ?'

शुकमुनि ने कहा कि 'जिस पुरुष को जब निर्विकल्प समाधि लग जाती है और आत्मदर्शन हो जाता है तभी उसके हृदय में से कामादि का बीज जल जाता है.'

श्रीजीमहाराज ने आशंका प्रकट की कि 'क्या शिव, ब्रह्मा, शृंगिऋषि, पराशर तथा नारद को निर्विकल्प समाधि नहीं लगी थी कि जो काम से वे सब विक्षेप को प्राप्त हुए. वस्तुतः वे सब निर्विकल्प समाधिवाले ही थे, तो भी इन्द्रियों की वृत्ति के अनुलोम हो जाने पर वे कामादि द्वारा विक्षेप को प्राप्त हो गये थे.' इसलिए, आपने जैसा बताया है वैसा इस प्रश्न का उत्तर नहीं हो सकता. जैसे ज्ञानीजन जब निर्विकल्प समाधि में चला जाता है तब निर्विकार रहता है, वैसे ही अज्ञानी पुरुष सुषुप्ति अवस्था में निर्विकार रहता है. जब इन्द्रियों की वृत्ति अनुलोम हो जाती है तब तो ज्ञानी और अज्ञानी

---

* शनिवार, १० फरवरी, १८२६.

दोनों ही कामादि द्वारा विक्षेप को प्राप्त होते हैं. इसमें तो ज्ञानी एवं अज्ञानी की कोई विशिष्टता प्रतीत नहीं होती. इसलिए, अब अन्य परमहंसों को इस प्रश्न का उत्तर देना चाहिये.'

इसके पश्चात् गोपालानन्द स्वामी, देवानन्द स्वामी, नित्यानन्द स्वामी तथा मुक्तानन्द स्वामी ने मिलकर जिसको जैसा ज्ञात हुआ वैसा उनमें से प्रत्येक ने उत्तर दिया, फिर भी श्रीजीमहाराज के प्रश्न का किसी से भी समाधान न हो सका.

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जनक विदेही थे. वे प्रवृत्तिमार्ग में रहने पर भी निर्विकार रहे थे. एक बार जब जनक की सभा में सुलभा नामक सन्यासिनी आयी तब जनक राजा सुलभा से बोले कि 'तू मेरे चित्त को मोहित करने का प्रयत्न कर रही है, किन्तु मैं मोहित नहीं हो सकता, क्योंकि मैं अपने गुरु पंचशिख ऋषि की कृपा से सांख्य तथा योगमतों का अनुसरण करता रहा हूँ. इसलिये, भले ही मेरे आधे शरीर में चन्दन लगा दिया जाय तथा आधे शरीर को तलवार से काट दिया जाय, तो भी ये दोनों क्रियाएँ मेरे लिये एक समान ही रहेंगी. भले ही यह मेरी मिथिलापुरी जल जाय, तो भी मेरा कुछ भी नहीं जल सकेगा. इस प्रकार मैं प्रवृत्ति में रहता हुआ भी असंगी और निर्विकार हूँ.' इस प्रकार राजा जनक ने सुलभा को सम्बोधित करते हुए कहा. राजा जनक शुकदेवजी के भी गुरु कहलाये. इसलिए, इस प्रश्न का यही उत्तर है कि किसी की इन्द्रियों की वृत्ति अनुलोमभाव से रही हो और वह प्रवृत्तिमार्ग में रहा हो, तो भी यदि उसके हृदय में राजा जनक की तरह ज्ञान की दृढ़ता हो जाय तो वह किसी भी प्रकार से विकारी नहीं हो सकता. जिसको जैसा जानना चाहिये, वैसा उसने यदि यथार्थ रूप से जान लिया हो, यह तो सार है और यह असार है, तथा केवल भगवान की मूर्ति के सिवा जितने मायिक आकार हैं वे सब अतिशय दुःखदायक तथा नाशवन्त हैं और स्वयं को देह, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से पृथक् आत्मारूप जान लिया हो, तो ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं रहेगा, जो उसको मोहित करने में समर्थ हो सके, क्योंकि वह तो समस्त मायिक आकारों को तुच्छ समझता है. जिसके हृदय में ज्ञान की ऐसी दृढ़ता बनी रहे और सभी इन्द्रियाँ अनुलोमभाव से रही हों, तो भी वह कामादि द्वारा क्षोभ को नहीं प्राप्त हो सकेगा.

ऐसे हरिभक्त के हृदय में से कामादि का बीज नष्ट हो जाता है, भले ही वह त्यागी अथवा गृहस्थ ही क्यों न हो. ऐसा पुरुष ही समस्त हरिभक्तों में श्रेष्ठ वैष्णव माना जाता है. इसलिए, गृही और त्यागी का कोई मेल नहीं है. जो अधिक ज्ञानी हो, उसीको सबसे बड़ा हरिभक्त समझना चाहिये. शिवब्रह्मादि में जो दोष बताया जाता है उसके सम्बन्ध में तो यही कहना है कि ऐसे देवों में से कई देवों में तो इस प्रकार के ज्ञान की कसर रहती है, जबकि कइयों में ऐसा ज्ञान होने पर भी अशुभ देश, काल, संग तथा क्रियादि के योग से उन पर कामादि विकाररूपी दोष छा जाता है. इसलिए, ऐसा ज्ञान होने पर भी किसी भी प्रकार से कुसंग तो करना ही नहीं चाहिये. यह सिद्धान्त वार्ता है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥२०॥ ॥२२०॥

॥ श्रीवरताल-प्रकरणं समाप्तम् ॥

॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ॥

श्रीअहमदाबाद प्रकरण के वचनामृत

वचनामृत १ : सिद्धदशा

सम्वत् १८८२ में माघ कृष्ण *एकादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीअहमदाबाद-स्थित श्रीनरनारायण के मन्दिर में पश्चिम की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके कंठ में गुलाब पुष्पों के हार, कानों के ऊपर गुलाब के फूलों के गुच्छे और पाग में गुलाब के पुष्पों के तुर्रे सुशोभित हो रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस सभा में श्रीजीमहाराज अन्तर्दृष्टि करके विराजमान थे. उन्होंने नेत्रकमलों को खोलकर सबके सामने देखा और बोले कि 'हमें ध्यान के अंग की एक वार्ता करनी है. यह वार्ता मोक्षधर्म में भी कही गयी है. हमने बहुत से उन महापुरुषों को भी देखा है, जो उस ध्यान द्वारा सिद्धदशा को प्राप्त हो गये हैं. हमने भी यह अनुभव किया है कि यद्यपि अनन्त प्रकार के ध्यान हैं, परन्तु जो यह वार्ता कहनी है, उसके समान अन्य कोई ध्यान नहीं है. जैसे किसी चमत्कारी मंत्र अथवा औषधि में स्वाभाविक चमत्कार रहता है, वैसे ही इस ध्यान में भी, जिसे हम बतानेवाले हैं, ऐसा स्वाभाविक चमत्कार है कि कोई भी जीव तत्काल सिद्धदशा को प्राप्त हो सकता है.

अब यह वार्ता करते हैं. जो पुरुष इस ध्यान को करनेवाला है, उसे दक्षिण नेत्र में सूर्य का ध्यान करना चाहिये और बायें नेत्र में चन्द्र का ध्यान करना चाहिये. इस प्रकार ध्यान करते समय आकाश में जैसे सूर्य-चन्द्र दिखायी पड़ते हैं वैसे ही नेत्रों में भी जब वे दीखने लगें, तब दक्षिण नेत्र तपने लगेगा और बायाँ नेत्र शीतल होने लगेगा. इसके पश्चात् सूर्य की धारणा वाम नेत्र में तथा चन्द्र की धारणा दक्षिण नेत्र में करनी चाहिये.

इस प्रकार धारणा करके सूर्य तथा चन्द्र को अन्तर्दृष्टि द्वारा हृदयाकाश

---

* रविवार, ४ मार्च, १८२६.

में देखते रहना चाहिये. ऐसे देखनेवाले अपने जीव के स्वरूप को भी देखना चाहिये. देखनेवाली जीवात्मा में परमात्मा का ध्यान करना चाहिये. इसके पश्चात् उसका वासनालिंग-शरीर अरहटचक्र में परिभ्रमण करनेवाले स्वरूप के समान आकाश में भी घूमता हुआ दिखायी देने लगेगा. ऐसा ध्यान करते-करते उस पुरुष को भगवान के विम्वरूप का दर्शन होता है. उस रूप में चौदह लोकों की रचना दिखायी पड़ती है. वह स्वरूप अत्यन्त महान भी नहीं दिखायी पड़ता. जैसे वटपत्रशायी भगवान ने बड़के एक पत्ते में छोटे बालक के समान शयन किया था, वैसे ही मार्कण्डेय ऋषि ने भगवान के उदर में समग्र ब्रह्मांड देखा था. इस प्रकार भगवान का ध्यान करते-करते वे सभी पदार्थ उसे दृष्टिगोचर होते हैं, जिनका वर्णन शास्त्रों में किया गया है. तब उसकी जीवात्मा में रहनेवाला अवशिष्ट नास्तिकभाव मिट जाता है और उसका जीव अतिबलवान हो जाता है. तब उसे इस बात की दृढ़ प्रतीति होती है कि शास्त्रों में जो कुछ कहा गया है वह सब सत्य है. अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ भी ध्यान करनेवाले उस पुरुष के समक्ष उपस्थित हो जाती हैं. तब उसकी दृष्टि वहाँ तक पहुँचने लगती है जहाँ तक सूर्य-चन्द्र की किरणें पहुँचती रहती हैं. ऐसी अनन्त सिद्धियाँ प्रकट होती हैं. परन्तु, परमेश्वर का भक्त होने के कारण वह पुरुष इन सिद्धियों में से किसी भी सिद्धि को ग्रहण नहीं करता, केवल परमेश्वर का ही ध्यान करता है. तब ध्यान करनेवाला वह पुरुष नारदसनकादि तथा शुकदेवजी के समान चरम सिद्धदशा को प्राप्त होता है. यद्यपि अनेक प्रकार के ध्यान हैं तथापि तत्काल सिद्धदशा को प्राप्त करनेवाला ध्यान तो यही है.'

जब श्रीजीमहाराज इतनी वार्ता कर चुके तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'ऐसा ध्यान तो अष्टांगयोग के मार्ग द्वारा प्राणायाम करनेवाले को सिद्ध होता है या दूसरों को भी सिद्ध होता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इससे प्राणायामवाले का कोई मेल नहीं है. इस ध्यान का अभ्यास करनेवाले परमेश्वर के एकान्तिक भक्त को ही यह ध्यान सिद्ध होता है. अन्य जीवों से तो इस मार्ग पर चला ही नहीं जाता. इस ध्यान के अधिकारियों के लिये बताये गये इस ध्यान से भिन्न कोई दूसरे ध्यान के तत्काल सिद्ध होने का कोई उपाय नहीं है.'

।। इति वचनामृतम् ।।१।। ।।२२१।।

वचनामृत २ : नित्य एवं निमित्त प्रलय

सम्वत् १८८२ में फाल्गुन शुक्ल *एकादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीअहमदाबाद में श्रीनरनारायण के मन्दिर के सामने स्थित वेदी पर गद्दी तकिया रखवाकर विराजमान थे. उन्होंने सफेद दुपट्टा धारण किया था, श्वेत चादर ओढ़ी थी तथा मस्तक पर गुलाबी रंग का फेंटा बाँधा था. पाग में गुलाब के पुष्पों के तुर्रे झुक रहे थे. उन्होंने कानों पर गुलाब के दो गुच्छ खोंसे थे, कंठ में गुलाब के पुष्पों के हार धारण किये थे, दोनों भुजाओं में गुलाब के बाजूबंद बाँधे थे और दोनों हाथों में गुलाब के पुष्पों के गज़रे पहने थे. इस प्रकार समस्त अंगों में गुलाब के पुष्प महक रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज समस्त परमहंसों से बोले कि एक प्रश्न पूछता हूँ कि 'परमेश्वर का एक भक्त तो जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति से परे रहकर मलिन रजोगुण, तमोगुण एवं सतोगुण का परित्याग करके शुद्ध सात्त्विक आचरण करता हुआ परमेश्वर का भजन करता है, जबकि अन्य भक्त त्रिगुणात्मक प्रवृत्ति रखते हुए भी परमेश्वर से अतिशय प्रीति करता है. इन दोनों भक्तों में कौन-सा भक्त श्रेष्ठ है ?' सन्तमंडल ने कहा कि 'भगवान से प्रीति करनेवाला भक्त ही श्रेष्ठ है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'एक भक्त तो स्नान करके पवित्र होकर भगवान की पूजा करता है तथा अन्य पुरुष अपवित्र रहकर ही भगवान का पूजन करता है. इन दोनों में कौन-सा पुरुष श्रेष्ठ है ?' मुनिमंडल ने कहा कि 'पवित्र होकर भगवान की पूजा करनेवाला भक्त ही श्रेष्ठ है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो मायिक आडम्बर को छोड़कर भगवान का भजन करता है, उसे तो आप कनिष्ठ बताते हैं तथा मायिक आचरण द्वारा भगवान से प्रीति करनेवाले पुरुष को आप श्रेष्ठ कहते हैं. वह किस प्रकार श्रेष्ठ है ?' जब इस प्रश्न का किसी से समाधान न हो सका तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'गीता में चार प्रकार के भक्त बताये गये हैं. उनमें

---

* मंगलवार, २० मार्च, १८२६.

ज्ञानी को ही भगवान ने अपनी आत्मा कहा है. जो पुरुष मायिक आचरण का त्याग कर और ब्रह्मरूप होकर भगवान का भजन करता है, वही भक्त श्रेष्ठ है, क्योंकि नित्यप्रलयात्मक सुषुप्ति, निमित्तप्रलयात्मक ब्रह्मा की सुषुप्ति तथा प्राकृत प्रलयात्मक प्रकृति के समस्त कार्य प्रकृति में लीन हो जाते हैं, आत्यन्तिक प्रलयात्मक ज्ञानप्रलय में प्रकृतिपर्यन्त समस्त तत्त्व ब्रह्म के प्रकाश में विलीन हो जाते हैं, नित्यप्रलय में जीव की उपाधि लीन हो जाती है, निमित्तप्रलय में ईश्वर की उपाधि विलीन हो जाती है, प्राकृत प्रलय में पुरुष की उपाधि लीन हो जाती है.

जब सृष्टि की रचना होती है, तब इन तीनों का अपनी-अपनी उपाधियों के साथ पुनः प्रादुर्भाव होता है. आत्यन्तिक प्रलयात्मक ज्ञानप्रलय द्वारा जिसने मायिक उपाधि का परित्याग कर दिया हो, उसे तो पुनः कभी मायिक उपाधि नहीं लगती. यदि उसे कभी भी शरीर धारण करना पड़ा, तो वह उसी प्रकार स्वाधीन देह धारण करता है, जिस तरह भगवान स्वतन्त्र होते हुए देह धारण करते हैं. ऐसा पुरुष काल, कर्म और माया के अधीन होकर देह धारण नहीं करता. इसलिये, ब्रह्मरूप होकर परमेश्वर का भजन करनेवाला भक्त ही श्रेष्ठ है. इस वार्ता को केवल वही पुरुष समझ सकता है, जो परमेश्वर का अनन्य भक्त है तथा एकान्तिक भक्तों के लक्षणों से युक्त है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥२॥ ॥२२२॥

वचनामृत ३ : जीवन का आधार

सम्वत् १८८२ में फाल्गुन कृष्ण *द्वितीया को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीअहमदाबाद में श्रीनरनारायण के मन्दिर के सामने चबूतरे पर बिछाये गये पलंग पर विराजमान थे. उनके मस्तक पर गुलाबी रंग की पाग सुशोभित हो रही थी. उस पाग में गुलाब और चमेली के हार लगे हुए थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने समस्त मुनिमंडल से यह प्रश्न पूछा कि 'सभी जीवों के जीवन का आधार पंचविषय हैं. वे या तो पंचविषयों को बाह्य रूप से भोगते हैं अथवा बाह्य पंचविषयों का योग न होने पर अन्तःकरण में

* रविवार, २५ मार्च, १८२६.

पंचविषयों का चिन्तन किया करते हैं, परन्तु वे जीव विषयों के चिन्तन तथा विषयों को भोगे बिना क्षणमात्र भी नहीं रह सकते. जैसे वटवृक्ष की जड़ें ही वृक्ष को हरा रखती हैं और दूसरी सब जडों के उखड़ जाने पर पृथ्वी में लगी रह गयी एक जड़ भी वटवृक्ष को हरा बनाये रखती है, वैसे ही बाह्यरूप से कदाचित् पंचविषयों का परित्याग कर देने पर भी अन्तःकरण में विषयों का चिन्तन बना रहता है, जो उसके जन्म-मरण का हेतु है. ऐसे पंचविषय परमेश्वर के भक्त को किस प्रकार जन्म-मरण के हेतु न बनें ?' यह प्रश्न है.'

मुक्तानन्द स्वामी ने इस प्रश्न का उत्तर अपनी समझ के अनुसार दिया, किन्तु यथार्थ रूप से समाधान नहीं हुआ.

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस प्रश्न का उत्तर हम देते हैं. वह यह है कि जो भक्त मायामय तीन शरीरों की भावना से रहित रहकर और केवल आत्मसत्तारूप होकर परमेश्वर की मूर्ति का चिन्तन करता हो तथा भगवान के चिन्तन के बल से जब उसकी उपशम अवस्था हो गयी हो, तब उस भक्त को उपशम के बल से ये पंचविषय जन्म-मरण के हेतु नहीं बनते. जैसे मही या साबरमती जैसी नदी के जल का प्रवाह दोनों किनारों पर जब पूर्ण वेग के साथ होता हो, तब उसमें हाथी, घोड़ा और वृक्ष सभी बह जाते हैं और वे वहाँ किसी भी प्रकार ठहर नहीं सकते, वैसे ही उपशमावस्थावाले पुरुष को भी चाहे कैसे ही रमणीय भोग इन्द्रियगोचर हो गये हों, परन्तु जब वह अन्तर्दृष्टि रखता है तब उसे उनकी उसी प्रकार विस्मृति हो जाती है, जिस तरह पूर्वजन्म में देखी हुई वस्तुओं का इस जन्म में विस्मरण हो जाया करता है. जिस भक्त की ऐसी स्थिति रहती हो, उसे ही उपशमावस्था कहा जाता है.

इस उपशम की महिमा अतिशय महान है. इस संसार में जिस अज्ञानी स्त्री-पुरुष में विवाह के पूर्व अत्यन्त प्रीति रही हो और विवाह के पश्चात् उन्हें तीन रात तथा तीन दिन तक जागरण कराया जाय तथा उन्हें काफी दूर तक चलाया जाय और इसके बाद जब वे इकट्ठे हों तब उन्हें निद्रा के कारण एक-दूसरे के रूप या स्पर्श का सुख भोगने की सामर्थ्य नहीं रहती और वे एक-दूसरे के साथ आलिंगनबद्ध होने पर भी इस तरह सोते रहते हैं, जैसे दो लकड़ियों को एकसाथ बाँधकर रख दिया हो, फिर भी उन्हें

पंचविषयों में से एक भी विषय का सुख नहीं प्राप्त होता. जब ये दोनों स्त्री-पुरुष अज्ञानकाल में सुषुप्ति-अवस्था में उपशमावस्था को प्राप्त हुए हैं, फिर भी उन्हें किसी भी प्रकार के विषय का भान नहीं रहता, तो ज्ञानी पुरुष को, जो परमेश्वर के स्वरूप का ध्यान करके उपशमदशा को प्राप्त हो चुका है, पंचविषय अपने बन्धन में किस प्रकार बाँध सकते हैं ? वे ऐसा नहीं कर सकते. जिसने उपशमदशा को प्राप्त कर लिया हो, उसके लिये पंचविषय जन्म-मरण के हेतु नहीं बनते.'

नित्यानन्द स्वामी ने कहा कि 'आपने उपशमदशा की प्राप्ति के लिये आत्मरूप होकर भगवान का ध्यान करने का जो उपाय बताया है, वह अत्यन्त कठिन है. इसलिए, इसके अतिरिक्त कोई अन्य सुगम उपाय बताइए.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान का जो भक्त परमेश्वर के माहात्म्य को अधिक से अधिक समझता हो तथा भगवान एवं भगवद्भक्तों की सेवा-चाकरी और उनके दर्शन करने में अत्यधिक अटूट श्रद्धा रखता हो, उसे ही उपशमदशा प्राप्त होती है, परन्तु हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि जो सेवक मानी होगा वह तो किसी को भी प्रिय नहीं लगेगा. वास्तव में मानी सेवक से सेवा-शुश्रूषा कराना वैसा ही है जैसे दुर्भिक्ष पड़ने पर बड़े-बड़े मनुष्य भी केवल कोदर खाकर जीवन-निर्वाह किया करते हैं. स्वामी अपने निर्मानी सेवक पर जितना प्रसन्न रहता है, उतनी प्रसन्नता उसे मानी सेवक से नहीं होती. इसलिये, वही सेवक सच्चा है, जो अपने स्वामी की इच्छा के अनुसार कार्य करता रहे.'

शुकमुनि ने पूछा कि 'जिसे विवेक और ज्ञान न हो, वह पुरुष स्वामी को कैसे प्रसन्न कर सकता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'मूलजी ब्रह्मचारी तथा रतनजी अधिक बुद्धिशाली कहाँ हैं ? फिर भी, इन्हें आत्मकल्याण की इच्छा अत्यधिक है. इसलिए, ये वास्तव में वही आचरण करते हैं, जिससे भगवान प्रसन्न हो जायँ. इस समय तो सभी अयोध्यावासी स्त्रीपुरुष हमारी इच्छा के अनुसार जैसा आचरण करते हैं, उस प्रकार की इच्छा का पालन परमहंस, सांख्ययोगी तथा कर्मयोगी सत्संगी भी नहीं कर पाते. अयोध्यावासियों ने तो अपने जीवन को अतिशय सत्संगपरायण बना लिया है. वस्तुतः भगवान को प्रसन्न

करने की जितनी क्षमता अयोध्यावासियों में है, वैसी कुशलता और किसी में नहीं दिखायी पड़ती. ये अयोध्यावासी तो सबका विश्वास कर लेते हैं. इस कारण कोई भी पुरुष उन्हें ठग सकता है. इसलिए, यदि इन्हें कोई कार्य आरम्भ करना हो, तो उन्हें वह अग्रगण्य परमहंसों तथा सत्संगी गृहस्थों से पूछकर ही करने देना चाहिये, किन्तु किसी एक पुरुष के कथनानुसार ही इसे नहीं करने देना चाहिये. इस प्रकार, त्यागी तथा गृहस्थ सत्संगी जनों को अयोध्यावासियों की देखरेख रखनी चाहिये, यह हमारी आज्ञा है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥३॥ ॥२२३॥

॥ श्रीअहमदाबाद-प्रकरणं समाप्तम् ॥

श्रीस्वामिनारायण मंदिर, श्रीवरताल
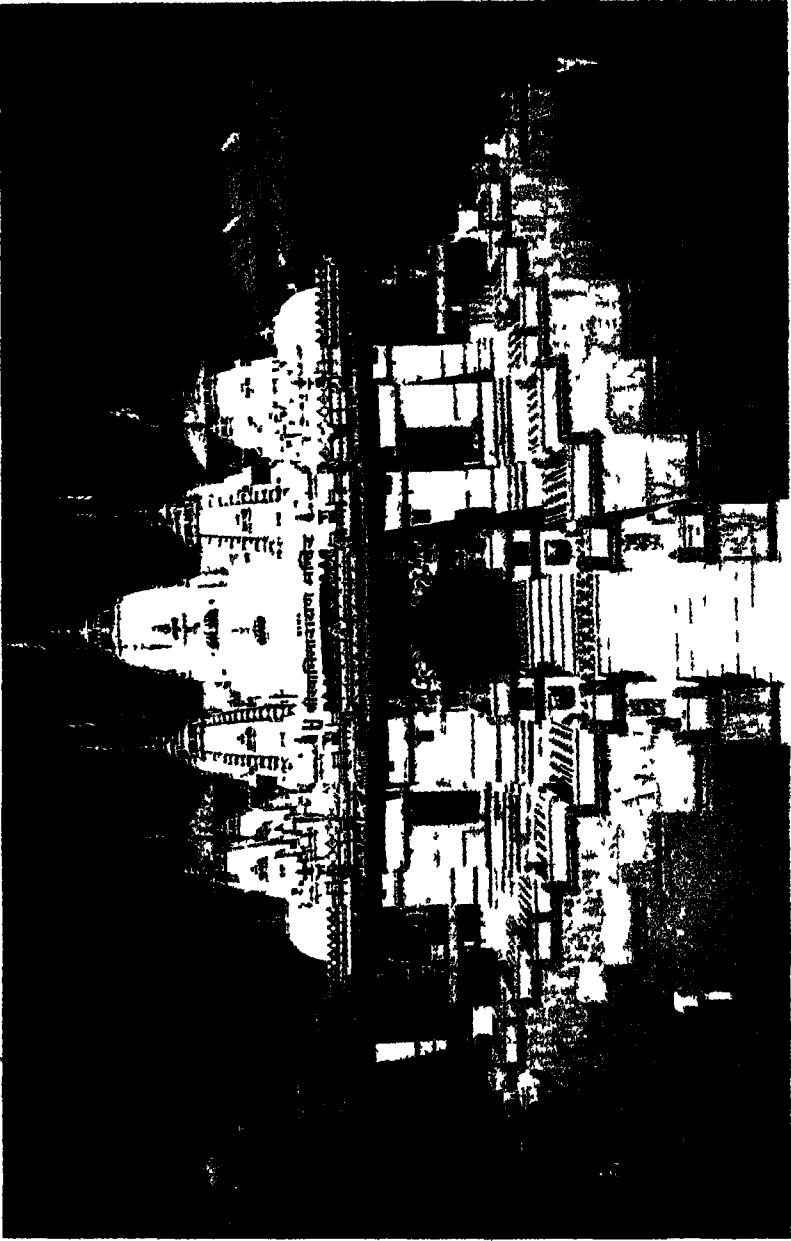
यहाँ पर चौक में विराजमान होकर श्रीजीमहाराज ने वचनामृत उद्‌बोधित किये थे ।

श्रीजीमहाराज का निवासस्थान - 'श्रीअक्षरओरडी', गढडा
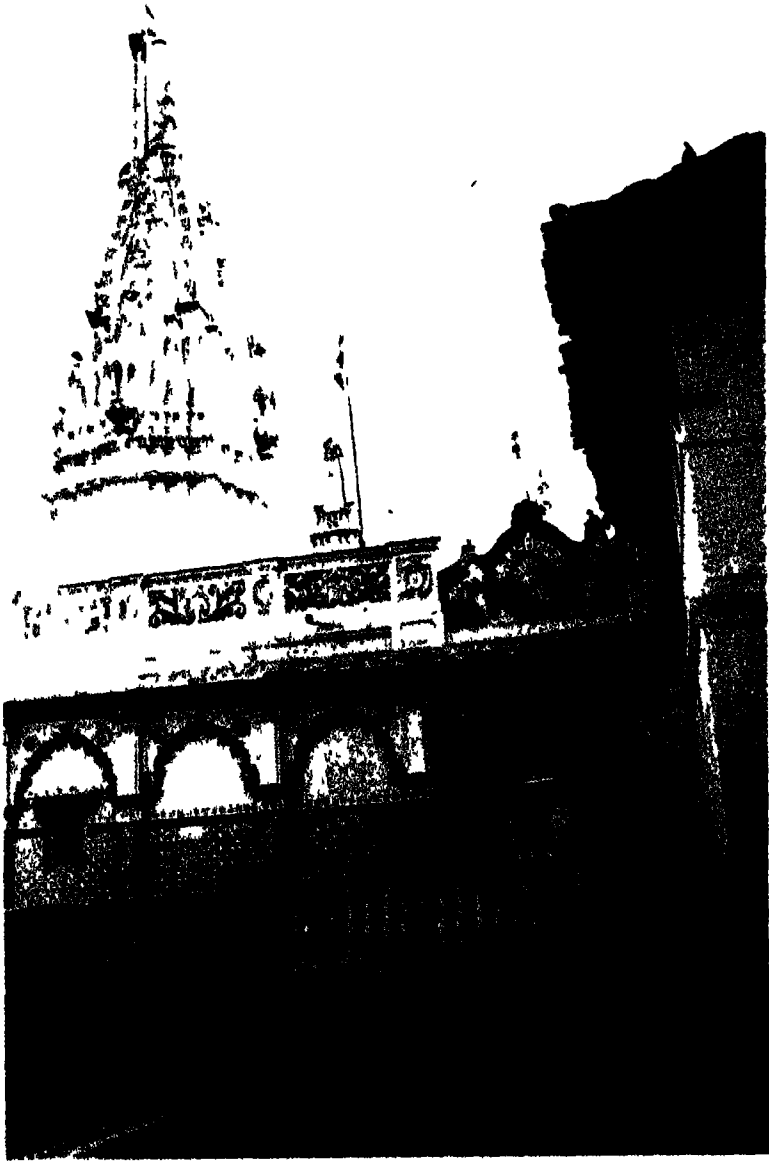
श्रीजीमहाराज ने यहाँ तीस वर्ष तक निवास किया था ।
यहाँ अनेकबार वचनामृत भी उद्‌बोधित किये थे ।

॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ॥

श्रीगढडा अंत्य प्रकरण के वचनामृत

वचनामृत १ : ज्ञान तथा स्नेह-भाव

सम्वत् १८८२ में वैशाख कृष्ण *एकादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण चौक के अन्दर पश्चिमी द्वार के कमरे के ऊँचे बरामदे में गद्दी-तकियायुक्त सुन्दर रंगीन पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे और उनके मस्तक पर बड़ी सफेद पाग में मोगरा के सुन्दर पुष्पों के तुर्रे लगे हुए थे. उन्होंने कंठ में मोगरा पुष्पों का हार धारण किया था. उनके दोनों हाथों में इन पुष्पों के गजरे सुशोभित हो रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने परमहंसों से पूछा कि 'परमेश्वर के भक्त को अशुभ देशकालादि का योग होने पर भी भगवान की भक्ति में विघ्न नहीं पड़े, ऐसी समझ कौन-सी है ?' तब परमहंसों ने जैसा समझ में आया वैसा बताया, परन्तु वे यथार्थ उत्तर नहीं दे सके.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान की आराधना करनेवाले में पहले तो दृढ़ वैराग्य होना चाहिये और आत्मनिष्ठा होनी चाहिये. उसमें यदि वैराग्य न हो तो मनचाहा पदार्थ मिलने पर दूसरे पदार्थ में भी भगवान जैसी प्रीति हो जाती है. यदि आत्मनिष्ठा न हो और देह में सुख-दुःख की अनुभूति हो, तो उस भक्त की वृत्तियाँ विचलित हो जाती हैं. इसके बाद तो वह सुख देनेवाली वस्तु में रुचि रखने लगता है और दुःखदायी वस्तु के साथ उसकी कटुता बढ़ जाती है. इस प्रकार उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाया करती है. इसलिए, भगवान के भक्त को आत्मनिष्ठा और वैराग्य, दोनों में अत्यन्त दृढ़ता रखनी चाहिये, क्योंकि वैराग्य द्वारा भगवान की मूर्ति के सिवा अन्य

---

* शुक्रवार, १ जून, १८२६

मायिक आकार असत् हो जाते हैं तथा आत्मनिष्ठा द्वारा मायिक सुख-दुःख मिथ्या हो जाया करते हैं. जिसे वैराग्य तथा आत्मनिष्ठा न हो तो उसे समाधिस्थ रहने तक सुख-शान्ति रहती है और समाधि से हट जाने पर नारायणदास की तरह अच्छे अच्छे पदार्थों को देखकर [१]तृष्णा बढ़ती रहती है.

जो भगवान के भक्त हैं उन्हें तो भगवान के स्वरूप का निश्चय या तो ज्ञान से होता है अथवा स्नेह से. उनमें से जो ज्ञानी हैं वे तो परमेश्वर का अतिशय माहात्म्य समझते हैं और जो भगवान की भक्ति स्नेहभाव से करते हैं उनके लिये तो भगवान के बिना आधी घड़ी भी चैन के साथ नहीं बीत सकती. ऐसे ज्ञानी भक्त तो झीणाभाई, देवराम और प्रभाशंकर हैं. इस प्रकार जो हरिभक्त भगवान के माहात्म्य को जान लेता है उसे ज्ञानी समझना चाहिये.

जिस प्रकार व्रज की गोपियों को भगवान के सम्बन्ध में स्नेह था वैसे ही हरिभक्तों को भगवान की स्नेहभाव से [२]भक्ति करनेवाले मानना चाहिये. ज्ञानी भक्त तो भगवान को अन्तर्यामी समझते हैं और यह जानते हैं कि 'भगवान किसी की कही हुई बात को नहीं सुनते. जिस भक्त का जैसा भाव होता है, उसे वैसा समझकर ही भगवान तदनुसार बात करते हैं. परन्तु, वे किसी के परामर्श पर नहीं चलते.'

जो भक्त यह समझता है कि 'मुझ में यद्यपि कोई दोष नहीं है, फिर भी भगवान किसी के सिखाने से मुझे ही दोषी बताते हैं, उसे वस्तुतः भगवान के स्वरूप का ज्ञान ही नहीं [३]है. इस संसार में भी जिस मनुष्य को जिससे स्वार्थ होता है, वह तो उसका किसी भी प्रकार से अवगुण नहीं मानता, क्योंकि उसे तो अपने स्वार्थ से स्नेह रहता है. जिसने जन्म-मरण के भय से छुटकारा पाने के लिये भगवान के साथ अपना स्वार्थ समझा हो, उसे तो भगवान में किसी भी प्रकार का अवगुण नहीं दिखायी पड़ सकता.

जो भक्त ऐसा समझता है कि 'भगवान किसी के सिखाने से बदल

---

१. तो दूसरे की क्या बात करनी ?

२. ऐसे स्नेहभाववाले सच्चिदानन्दमुनि, कृपानन्दमुनि तथा पूजो भक्त आदि हैं.

३. जिसे भगवान से स्नेहभाव होता है, वह तो भगवान के मनुष्य-चरित्र में कभी भी कोई दोष नहीं देखता और भगवान की मनुष्य-लीला को कल्याणरूपी समझता है.

जाते हैं.' और तद्नुसार भगवान के प्रति दोष-दृष्टि रखता है, वह न तो ज्ञानी है न प्रेमी ही है.'

इतना कह चुकने के बाद श्रीजीमहाराज ने बड़े-बड़े परमहंसों से यह कहा कि 'अब आप बताइये कि आप ज्ञान और स्नेह में से किस भाव से भगवान की भक्ति करते हैं.' तब समस्त परमहंसों ने बताया कि 'हम तो ज्ञानभाव से भगवान की भक्ति करते हैं.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो स्नेहभाव से भगवान की भक्ति करता है, वह अपने प्रियतम के लिये न करने योग्य कार्य भी करता रहता है. इस प्रसंग में एक उदाहरण उल्लेखनीय है कि जो चोर होता है उसे भी अपनी औरत और लड़के से प्रेम बना रहता है. वह चोरी करने जाता है और उसे दूसरे लोगों की हत्या के बाद वहाँ जो माल मिलता है उसे वह अपने घरवालों को सौंप देता है. चोर बड़ा निर्दय होता है, तो भी वह अपने घरवालों के साथ प्रेम-भावना ही रखता है. उनके साथ वह बेरहमी का बर्ताव नहीं करता. उसी प्रकार जिसे भगवान अथवा भगवद्भक्त से प्रेम रहता है उसे भगवान या भगवद्भक्त के प्रति क्रोध या ईर्ष्या का भाव नहीं रहता तथा उनमें कोई दोष भी नहीं दिखायी देता. जिसके हृदय में ऐसा प्रेम होता है उसे प्रीतिवाला या स्नेही भक्त कहा जाता है. भगवान के प्रति जिसके ज्ञान या स्नेह में से कोई भी भाव न हो उसको तो विचलित मनोदशावाला भक्त कहते हैं.' इतनी [१]वार्ता करने के बाद श्रीजीमहाराज अपने ठहरने के स्थान में पधारे.

इसके बाद उसी दिन सायंकाल दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में बिछे हुए पलंग पर, जिस पर गद्दी बिछी हुई थी और तकिया रखा हुआ था, श्रीजीमहाराज विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे और कंठ में मोगरापुष्पों का हार पहना था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज के सम्मुख साधु दुक्कड़-सरोद बजाकर कीर्तन कर रहे थे. जब वे कीर्तन-भक्ति कर चुके तब श्रीजीमहाराज ने यह आज्ञा दी कि 'हमारे आश्रित त्यागी साधुओं, ब्रह्मचारियों, गृहस्थ महिलाओं तथा भक्तों को

---

१. संगवकाल (गायों को चराने के लिये ले जाने के समय) में.

हमारी लिखी हुई शिक्षापत्री का नित्य पाठ करना चाहिये. जिसे पढ़ना न आता हो उसे शिक्षापत्री का नित्य श्रवण करना चाहिये, जिसे उसका श्रवण करने का योग नहीं आवे, उसे प्रतिदिन शिक्षापत्री की पूजा करनी चाहिये. इस प्रकार हमने शिक्षापत्री में भी लिखा है. यदि किसी को इन तीनों नियमों का पालन करने में विघ्न पड़ जाय तो उसे एक उपवास कर लेना चाहिये, ऐसी हमारी आज्ञा है.' श्रीजीमहाराज की इस आज्ञा का पालन करने का नियम सब लोगों ने ग्रहण किया. सब लोग बोले कि 'हे महाराज ! आपने जैसी आज्ञा दी है उसीके अनुसार हम सब नियम का पालन करेंगे.'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक समस्त साधुओं तथा ब्रह्मचारियों को आलिंगनबद्ध किया तथा सभी सत्संगियों के हृदय पर अपने चरणारविन्द रखे.

।। इति वचनामृतम् ।।१।। ।।२२४।।

वचनामृत २ : प्रकट गुरुरूप हरि

सम्वत् १८८२ में जयेष्ठ शुक्ल *षष्ठी को सायंकाल स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेवनारायण के मन्दिर के चौक में छोटी चौकी पर विराजमान थे. उन्होंने मस्तक पर श्याम पल्ले की सफेद पाग बाँधी थी, सफेद चादर ओढ़ी थी और सफेद दुपट्टा धारण किया था. उन्होंने पाग में मोगरा पुष्पों का तुर्रा खोंसा था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'यद्यपि जीव जगत को नाशवान समझता है और यह भी मानता है कि चैतन्य (जीव) देह का त्याग करके अलग हो जाता है. फिर भी, उसके (जीव के) हृदय में से जगत की प्रधानता नहीं मिटती. वह यद्यपि परमेश्वर को समस्त सुखों का सिन्धु मानता है, फिर भी परमात्मा में जीव का चित्त नहीं लग पाता. इसलिये उसके हृदय में सत्संग की भी प्रधानता नहीं रहती तथा धन, स्त्री आदि सांसारिक वस्तुओं से उसकी प्रीति नहीं मिटती, इसका क्या कारण है ?'

---

१. सोमवार, ११ जून, १८२६.

मुक्तानन्द स्वामीने कहा कि 'जीव के हृदय में वैराग्य न होने के कारण जगत की प्रधानता नहीं मिटती तथा भगवान से प्रीति नहीं होती.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह बात तो सच है कि वैराग्य की न्यूनता है, फिर भी हमें ऐसा आभास होता है कि सत्संग [१]होते-होते जिसका जैसा भाव बन जाता है वह सर्वदा यथावत् रहता है, परन्तु बदलकर दूसरा [२]नहीं होता. सत्संग द्वारा उस भाव की पुष्टि तो होती है, किन्तु भाव तो यथावत् रहता है.

सत्संग होने के समय जो भक्त जिस भाव से भगवान की भक्ति करता है, तब यह भाव पुष्ट होने के पूर्व उसका चित्त विभ्रान्त हो जाता है. जिस प्रकार कामी का चित्त काम से, क्रोधी का चित्त क्रोध से तथा लोभी का चित्त लोभ से भ्रमित हो जाता है, उसी तरह उसका चित्त भी भ्रान्तिमय हो जाता है. ऐसी विभ्रान्त दशा में जो भाव पुष्ट हो जाता है वही ज्यों का त्यों बना रहता है.

इसलिये, समझदार भक्त को तो अपना भाव समझ लेना चाहिये, ताकि कामक्रोधादि द्वारा अपने मन के विचलित होने पर निजी भाव का विचार करने से कामादि दुर्विकार क्षीण हो जाये. जिस प्रकार किसी गृहस्थ को अपनी माता, बहन और पुत्री को अतिरूपवती देखने पर बुरा संकल्प हो जाता है, किन्तु बाद में उसे उसका पश्चात्ताप होने लगता है, उसी तरह का पश्चात्ताप उसे सत्संग को छोड़कर अन्य बातों के महत्वपूर्ण लगने पर होना चाहिये. जब किसी को ऐसा पश्चात्ताप बुरी बातों के संकल्पों को देखकर न होता हो तो उसके हृदय में तब सत्संग की भी प्रधानता नहीं रहने पाती.

वास्तव में समस्त साधनों का फलरूप यह सत्संग ही है. श्रीकृष्ण भगवान ने यही मत उद्धवजी के समक्ष श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में व्यक्त किया है कि 'अष्टांगयोग, सांख्यविचार, शास्त्रों के पठन तथा तप, त्याग, योग, यज्ञ एवं व्रतादि से मैं उतना वशीभूत नहीं होता, जितना कि सत्संग द्वारा वश में हो जाता हूँ.'

इसलिये, हमें तो ऐसा लगता है कि पूर्वजन्म का संस्कार भी सत्पुरुष के मिलने से हुआ होगा. इस जीवन में भी जिसे अच्छा संस्कार मिला है

---

१. जब प्रत्यक्ष भगवान सम्बन्धी निश्चय होता है तब.

२. भगवान की भक्ति इन तीन भावों से की जाती है, वे आत्मनिष्ठा, दासत्व तथा पातिव्रत्य भाव हैं.

वह भी सत्पुरुष के सान्निध्य से प्राप्त होता है. किन्तु, ऐसे सत्पुरुष का सत्संग उपलब्ध होने पर भी जीव को यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता. इसलिये, उसे मन्द बुद्धिवाला समझा जाना चाहिये. वास्तव में यथार्थ बात तो यह है कि श्वेतद्वीप, गोलोक, वैकुंठलोक तथा बदरिकाश्रम में भक्तों की जो सभाएँ हैं उनसे भी अधिक इन सत्संगियों की सभा को मैं मानता हूँ और समस्त हरिभक्तों को अतिशय प्रकाशयुक्त देखता हूँ. यदि मैं यह बात लेशमात्र भी मिथ्या कहता होऊँ तो इस सन्त-सभा की शपथ है. यह शपथ क्यों लेनी पड़ती है ? इसका कारण यह है कि सबको इस प्रकार की अलौकिकता न तो समझ में आती है और न दिखायी ही पड़ती है. इसलिये शपथ लेनी पड़ती है.

ब्रह्मादि के लिये भी दुर्लभ ऐसा यह सत्संग प्राप्त होने पर यदि कोई भक्त परमेश्वर को छोड़कर अन्य बातों में अपना चित्त लगाये रखता है, तो इसका कारण यही है कि 'इस जीव को भगवान के परोक्षस्वरूप के सम्बन्ध में जैसी प्रतीति होती है, वैसी दृढ़तापूर्ण अनुभूति भगवान के प्रत्यक्षस्वरूप में नहीं हो पाती.' यही बात [१]श्रुति में बतायी गयी है कि परोक्षदेव के सम्बन्ध में जीव को जो प्रतीति होती है, वैसी अनुभूति यदि प्रत्यक्ष गुरुरूप हरि में हो जाय तो प्राप्त होनेवाले समस्त अर्थ उसको प्राप्त हो जाते हैं. जो ऐसा सन्त-समागम आपको प्राप्त हुआ है तब यह समझना चाहिये कि देहत्याग करके जो भगवान की प्राप्ति करनी है, वे भगवान आज प्रत्यक्ष प्राप्त हुए हैं. इसलिये, जिसको परमपद कहते हैं, मोक्ष कहते हैं वह तो इस जीवन में आज भी सदेह प्राप्त हो गया है.

कही गयी यह वार्ता यद्यपि स्थूल दिखायी पड़ती है, फिर भी वह अत्यन्त सूक्ष्म है. जो इस प्रकार बरतता हो उसे यह समझ में आ जाता है कि यह वार्ता अतिसूक्ष्म है. इसका इतना अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप है कि इसे दूसरे लोग नहीं समझ पाते.' ऐसी वार्ता करके श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपने ठहरने के स्थान में पधार गये.

॥ इति वचनामृतम् ॥२॥ ॥२२५॥

---

१. 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥'

वचनामृत ३ : दया-भाव

सम्वत् १८८३ में आषाढ़ कृष्ण *प्रतिपदा को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने ठहरने के स्थान पर विराजमान थे. उस दिन ठक्कर हरजी ने अपने घर पर श्रीजीमहाराज का स्वागत किया. उनकी 'पधरावणी' की. तब श्रीजीमहाराज वहाँ पधारे. उन्हें पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया रखवाकर और वहाँ श्रीजीमहाराज को विराजमान करने के बाद हरजी ठक्कर ने उनकी केसरचन्दनादि से पूजा की. उस समय श्रीजीमहाराज पूर्वाभिमुख होकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके कंठ में मोगरा-पुष्पों का हार तथा दोनों भुजाओं में इन फूलों के गजरे और पाग में इन पुष्पों के तुर्रे अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे. श्रीजीमहाराज के मुखारविन्द के समक्ष मुनिमंडल तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस समय श्रीजीमहाराज ने समस्त सन्त मंडल से प्रश्न पूछा कि 'जिस हरिभक्त के हृदय में दया और स्नेह स्वाभाविक रूप से हो तब स्नेह का स्वरूप तो शहद जैसा होता है और वह जहाँ-तहाँ चिपक जाता है, तथा दया का स्वभाव तो ऐसा है कि जहाँ-तहाँ दया करता रहे. भरतजी ने मृगी पर दया की थी, तो उसके उदर से जन्म लेना पड़ा. दयालु पुरुष जिस पर दया करता है उससे स्नेह हुए बिना नहीं रहता. इस दया और स्नेह को टालने का उपाय तो आत्मज्ञान तथा वैराग्य हैं. वह आत्मज्ञान ऐसा है कि उसमें कोई अन्य भाव नहीं आ सकता. वैराग्य तो नामरूपवाले समस्त पदार्थों को नाशवन्त बताता है. इस प्रकार आत्मज्ञान और वैराग्य द्वारा दया एवं स्नेह का नाश हो जाता है तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहों के भाव का नाश भी हो जाता है. तब जीव केवल ब्रह्मसत्तामात्र रहता है. इसके पश्चात् उसे भगवान एवं भगवद्भक्तों के सम्बन्ध में दया और स्नेह रहता है या नहीं ?'

इसके बाद मुक्तानन्द स्वामी, शुकमुनि तथा नित्यानन्द स्वामी आदि परमहंसों ने अपने विचार के अनुसार उन्हें उसका उत्तर दिया, परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का यथार्थ रूप से समाधान नहीं हुआ.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अच्छा, हम उत्तर देते हैं. ज्ञान और वैराग्य द्वारा

* शुक्रवार, २० जुलाई, १८२६.

तीन शरीरों, तीन अवस्थाओं और तीन गुणों जैसी मायिक उपाधियों से चैतन्य अलग हो जाता है और केवल सत्तामात्र रहता है, किन्तु मायिक व्याधि लेशमात्र भी नहीं रहती. जिस प्रकार दीपक अग्नि के स्वरूप से मिट्टी के दिये, तेल और बत्ती के संयोग से दिखायी पड़ता है और उसे ग्रहण किया जाता है, परन्तु जब इन तीनों का संग छूट जाता है, तब यह अग्नि न तो किसी को दृष्टिगोचर होती है और न उसे ग्रहण किया जाता है. वह तो इन तीनों वस्तुओं के संग से ही दिखायी पड़ती है और ग्रहण की जाती है.

उसी प्रकार ज्ञान-वैराग्य द्वारा जब समस्त मायिक भाव छूट जाते हैं, तब यह जीवात्मा केवल ब्रह्मसत्तामात्र रहती है. वह मन और वाणी से अगोचर रहती है तथा किसी भी इन्द्रिय से उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता. उस समय तो उसे यदि शुद्ध सम्प्रदाय द्वारा भगवान का ज्ञान प्राप्त हुआ हो और परमेश्वर एवं भगवद्भक्त का माहात्म्य यथार्थ रूप से समझाया गया हो तो उसके समस्त मायिक भावों का संग टल जाता है और अपनी जीवात्मा ब्रह्मरूप हो जाती है, तो भी भगवान तथा भगवद्भक्त के प्रति दया और प्रीति निरन्तर बनी रहती है. यहाँ एक दृष्टान्त है कि जब दीपक की ज्योति को इन तीनों का संग मिट जाने पर किसी भी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता और वह आकाश में रहती है, फिर भी उस अग्नि में सुगन्ध तथा दुर्गन्ध की महक नहीं टलती. जिस प्रकार वायु अग्नि से भी अधिक असंगी होता है, तो भी उससे सुगन्ध और दुर्गन्ध की महक लग जाती है, वैसे ही जीवात्मा को ज्ञान-वैराग्य द्वारा मायिक भाव का संग मिट जाने पर भी सत्संग प्राप्त हुआ सद्गुणों का भाव नहीं मिटता. यद्यपि वह ब्रह्मरूप होता है तो भी वह नारदसनकादिक और शुकजी की तरह भगवान तथा भगवद्भक्त के प्रति अतिशय दया और प्रीतियुक्त रहता है. यहाँ यह श्लोक है :–

'परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया ।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥'
'हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान्[१] बादरायणिः ।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥'

---

१. भगवान के गुणों से जिनकी बुद्धि आकर्षित हुई है और विष्णुजन जिन्हें प्रिय हैं, ऐसे भगवान शुकमुनि भागवतरूपी महान आख्यान का निरन्तर अध्ययन करते रहते थे.

तथा

'आत्मारामश्च मुनयो', 'प्रायेण मुनयो राजन्'

गीता में कहा गया है :—

'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥'

इस प्रकार के अनेक श्लोकों द्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि 'भगवान के जो भक्त ज्ञान-वैराग्य द्वारा मायिक भावों का त्याग करके ब्रह्मरूप हो गये हों, तभी वे भगवान तथा भगवद्भक्तों के प्रति दया और प्रीति से युक्त रहते हैं.'

जो भगवान का भक्त न हो और केवल आत्मज्ञान तथा वैराग्य द्वारा मायिक भावों को नष्ट करके सत्तामात्र रहता हो, उसे तो साधनादशा में भगवान की उपासना से रहित रहनेवाले आत्मज्ञानी के संगरूप कुसंग का पाप लगा हुआ है. इसलिये, वह भगवान और भगवद्भक्त के प्रति दया एवं स्नेह का भाव नहीं रखता. जिस प्रकार वायु और अग्नि को दुर्गन्ध की महक लगती है, उसी प्रकार उसे भी उस कुसंग का भाव लगा हुआ है. वह किसी भी तरह से नहीं मिट पाता. जिस प्रकार अश्वत्थामा ब्रह्मरूप हुए थे, फिर भी उन्हें कुसंग का भाव लग चुका था, इस कारण उन्होंने श्रीकृष्ण भगवान तथा उनके भक्त पांडवों के प्रति दया और स्नेह का भाव नहीं रखा. जो केवल आत्मज्ञानी है, वह यद्यपि ब्रह्मरूप हो जाता है, फिर भी उसमें से कुसंग का भाव नहीं मिट पाता और भगवान तथा उनके भक्तों से दया और स्नेह नहीं रहता. इसलिये, भगवान के भक्त के मायिक भावों का संग मिट जाने पर भी भगवान तथा भगवद्भक्त में अत्यन्त दया और प्रेम की वृद्धि होती रहती है, परन्तु किसी भी तरह दया तथा प्रीति का भाव नहीं मिट पाता और वह अखंड बना रहता है.'

इस प्रकार वार्ता करने के पश्चात् श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपने ठहरने के स्थान में पधारे.　॥ इति वचनामृतम् ॥३॥ ॥२२६॥

वचनामृत ४ : बाधितानुवृत्ति

सम्वत् १८८३ में श्रावण शुक्ल *तृतीया को स्वामी श्रीसहजानन्दजी

---

* सोमवार, ६ अगस्त, १८२६.

महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने ठहरने के स्थान पर बड़े कमरे में गद्दी-तकिया रखवाकर उत्तराभिमुख विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनिजनों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'ज्ञानवैराग्ययुक्त जिस भक्त ने अपनी विचारधारा से स्वयं को बन्धनकारी मायिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति को टाल भी दिया हो तो भी उसको निर्विकल्प समाधि लगने तक [१]बाधितानुवृत्ति रह जाती है. इसलिये, उसके मन में ऐसे विचार रहते हैं कि 'कदाचित् मुझे अपने माता-पिता, पत्नी, पुत्रों, द्रव्य, कुटुम्ब, देह तथा गृह में मोह रह न गया हो ?' उसके मन में ऐसा भय समाया रहता है. जैसे कोई शूरवीर पुरुष हो और उसने अपने समस्त शत्रुओं को मार डाला हो तो भी वह मृत शत्रुओं से कभी-कभी भयाक्रान्त हो जाया करता है और स्वप्न में उन दुश्मनों को देखकर भयभीत हो जाता है. उसी प्रकार जिस ज्ञानी भक्त ने जिन-जिन वस्तुओं को अपने मन से ठुकरा दिया हो और उनके प्रति अपने मोह को तोड़ दिया हो, तो भी उसे बाधितानुवृत्ति रहने के कारण हृदय में मायिक वस्तुओं के बन्धन से डर लगने लगता है, अथवा धनकलत्रादि की किसी समय याद आ जाती है. तब मन में भय समा जाता है कि 'कदाचित् मुझे उन बन्धनकारी वस्तुओं की, जिनका मैंने हृदय से त्याग कर दिया है, स्मृति हो जायगी.' इस प्रकार की भावना को बाधितानुवृत्ति कहा जाता है और वह निर्विकल्प समाधि के लगने पर ही नष्ट होती है. निर्विकल्प समाधि की स्थिति में उस पुरुष को खाने-पीने, दिन-रात और सुख-दुःख की कुछ भी खबर नहीं रहती और जब वह निर्विकल्प समाधि में से बाहर निकलता है, तब सविकल्प समाधि की स्थिति में रहने पर बाधितानुवृत्ति अवश्य रहती है. इसलिये, उस हरिभक्त के ज्वरग्रस्त रहने अथवा उसकी देह छूटने का समय आने पर बाधितानुवृत्ति के योग से भगवान को छोड़कर अन्य वस्तुओं की भी स्मृति होने लगती है. उस समय जो बोला जाता है, वह सन्निपात-जैसा होता है. उस अवसर पर 'अरे बाप, ओ माँ,' जैसे वचन भी बोले जाते हैं.

---

१. जो वस्तु, स्थल, जाति आदि सांख्यज्ञान से टल गया है – बाधित हो गया है फिर भी उसकी आवृत्ति यानी आवर्तन होता हो वह बाधितानुवृत्ति.

जो पुरुष बाधितानुवृत्ति के मर्म को नहीं समझता हो उसके मन में उस हरिभक्त के प्रति आक्षेपभाव आ जाता है कि 'यह भगवान का भक्त कहलाता था. अब अन्तकाल में इस प्रकार क्यों प्रलाप करता है ?' इस प्रकार का अवगुण बाधितानुवृत्ति का मर्म जाने बिना ही देखा जाता है.

इस संसार में ऐसे कितने ही पापी मनुष्य हैं, जो अन्त समय में बोलते-चलते और सावधान होकर देह-त्याग करते हैं अथवा कोई सिपाही या राजपूत हो और उसे शरीर में जख्म लगें हों, तो भी वह सावधानी के साथ बोलते-चलते मर जाता है. इसलिये, भगवान से विमुख रहते हुए यदि वह सतर्क होकर देह-त्याग करता है, तो भी क्या उसका कल्याण होता है ? नहीं, उसे तो नरक में ही रहना पड़ता है. उधर भगवान का भक्त यदि परमेश्वर के नामों का स्मरण करता हुआ देह-त्याग करता है या बाधितानुवृत्ति के योग से बेहोश होकर प्राणोत्सर्ग करता है, तो भी यह भगवद्भक्त भगवान के चरणारविन्दों को ही प्राप्त होता है.'

उसी दिन सन्ध्या के समय श्रीजीमहाराज अपने निवासस्थान के बड़े कमरे के बरामदे में विराजमान थे और उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके सम्मुख साधुओं तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

इस अवसर पर श्रीजीमहाराज ने बड़े-बड़े परमहंसों से प्रश्न पूछा कि 'इस देह में जो जीव है, वह एक ही स्थान में किस प्रकार रहता है और समस्त शरीर में किस तरह व्यापक होकर रहता है, यह बताइये.' जिसको जैसी प्रतीति हुई उसने वैसा ही उत्तर दिया, परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का निराकरण कोई भी न कर सका.

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस प्रकार देह में अन्नादि रसों का विकार वीर्य है, उसी तरह पंचमहाभूतों का विकाररूप जैसा एक मांसचक्र हृदय में रहता है, उसमें जीव रहा है. जिस प्रकार चिथड़े के पलीते को तेल में भिगो कर आग से सुलगाया जाय, उसी तरह यह जीव भी मांस के चक्र के साथ मिलकर रहा है. जिस तरह लोहे की कील में अग्नि व्याप्त हो वैसे ही मांसचक्र में यह जीव भी विशेष सत्ता से व्याप्त हो रहा है और सामान्य सत्ता से सारे शरीर में व्याप्त है. इसलिये, देह में जिस जगह पीड़ा होती है, वह समस्त दुःख जीव को ही होता है, परन्तु शरीर के सुख-दुःख से यह जीव भिन्न नहीं रहता.

कोई ऐसा पूछेगा कि 'जीव तो प्रकाशमान है, जबकि मांसचक्र तथा देह प्रकाशरहित है, उन दोनों को एक दूसरे से मिला हुआ कैसे कहा जाय ?'

इसका उत्तर तो यह है कि जिस प्रकार तेल, दीपक और बत्ती के साथ सम्बन्ध रखे बिना अकेली अग्नि की ज्योति आकाश में आधारहीन नहीं रहती, उसी तरह पंचभूतों के विकाररूप मांसचक्र से सम्पर्क रखे बिना जीव अकेला नहीं रह पाता. जिस प्रकार अग्नि दीपक, तेल और बत्ती से भिन्न है और उस दीपक के टूट जाने से अग्नि का नाश नहीं होता, उसी तरह मांसचक्र और देह में जीव के व्याप्त रहने पर भी देह के प्राणहीन होने से जीव नहीं मरता, परन्तु देह के साथ सुख-दुःख को अवश्य भोगता है, किन्तु देह के सदृश जीव का नाशवान स्वभाव नहीं है. इसी प्रकार जीव अविनाशी तथा प्रकाशरूप होकर देह में व्याप्त रहता है.

जिस प्रकार मन्दिर में एक स्थान पर रखे हुए दीपक की ज्योति विशेष रूप से बत्ती में व्याप्त होकर रहती है और सामान्यतः सारे घर में व्याप्त हो रही है, उसी तरह जीवात्मा भी पंचमहाभूतों के विकाररूप मांसचक्र में विशेष रूप से व्याप्त हो रही है. इस तरह इस देह में जीव रहता है तथा जीव में परमेश्वर भी साक्षी रूप में रहते हैं.'

॥ इति वचनामृतम् ॥४॥ ॥२२७॥

वचनामृत ५ : माहात्म्ययुक्त भक्ति

सम्वत् १८८३ में भाद्रपद शुक्ल *एकादशी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में गद्दी-तकिया पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. वे कंठ में मोगरा-पुष्पों के हार पहने हुए थे. उनकी पाग में मोगरा-फूलों के तुर्रे और हाथों में मोगरा-पुष्पों के गजरे सुशोभित हो रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनिमंडल तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'कोई प्रश्न पूछिये.' मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! भगवान की भक्ति में किसी भी प्रकार का विघ्न न हो, ऐसी कौन-सी भक्ति है तथा जिस भक्ति में कोई विघ्न पड़ता

---

* बुधवार, १२ सितम्बर, १८२६.

है, वह किस तरह की भक्ति है ?'

श्रीजीमहाराज [१]बोले कि 'श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में कपिल गीता में माता देवहूति ने कपिलजी से कहा है :-

'[२]यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कथं पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥
अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥'

इन दो श्लोकों में भगवान का माहात्म्य कहा गया है तथा कपिलजी ने माता देवहूति के प्रति अपना माहात्म्य कहा है :

'मद्भयाद्वाति[३] वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात् ।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात् ॥'

इस प्रकार यदि माहात्म्य सहित भगवान की भक्ति की जाय तो उसमें किसी तरह का विघ्न नहीं पड़ता, किन्तु माहात्म्य जाने बिना ही [४]प्राकृत बुद्धि से जो भक्ति की जाती है, उसमें विघ्न आता है.

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'इस प्रकार माहात्म्ययुक्त भक्तिभाव सम्पन्न करने का क्या साधन है ?'

---

१. माहात्म्यज्ञानयुक्त जो भक्ति की जाती है, वह तो समस्त प्रकार के विघ्नों से अप्रभावित रहती है, किन्तु माहात्म्यज्ञानरहित जो भक्ति की जाती है उसमें विघ्न पड़ते हैं. माहात्म्य का यही तात्पर्य है.

२. अर्थः- हे भगवन् ! कभी भी आपके नामों का श्रवण-कीर्तन करने, आपको प्रणाम करने तथा आपका स्मरण करने से यदि श्वपच तुरन्त यज्ञ करने में समर्थ और पवित्र हो जाता है, तो कोई प्राणी यदि आपके दर्शनमात्र से पवित्र और कृतार्थ हो जाय तो इसके सम्बन्ध में क्या कहना है ! यह एक आश्चर्य की बात है कि श्वपच की जिह्वा पर भी आपका नाम बना रहता है और वह भी आपके नामोच्चार से भक्तिरहित कर्मठ ब्राह्मणों से भी श्रेष्ठ हो जाता है. इसका अर्थ तो यह हुआ कि जिन भक्तों ने आपके नामों का उच्चारण किया है, उन्होंने ही तप, होम तथा तीर्थों में स्नान किया है और वे ही सदाचारी हैं तथा उन्होंने ही वेदों का अध्ययन किया है, ऐसा समझना चाहिये.

३. अर्थः- समस्त जगत को सुख देनेवाली यह हवा मेरे भय से चलती रहती है, मेरे भय से ही सूर्य प्रकाश प्रदान करता रहता है, इन्द्र वर्षा करता रहता है, अग्नि वस्तुओं का दहन करती है तथा मृत्यु प्राणियों में विचरण करती रहती है.

४. प्राकृत बुद्धि यानी कि दिव्यरूप भगवान के स्वरूप में भी मनुष्यभाव.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'शुकसनकादि जैसे महापुरुषों की सेवा तथा सत्संग से जीव के हृदय में माहात्म्य सहित भक्ति का उदय होता है.'

इसके बाद शुकमुनि ने पूछा कि 'भगवान के भक्त दो प्रकार के हैं. इनमें 'एक प्रकार का भगवद्भक्त तो वह है, जिसमें भगवान के अपरोक्ष स्वरूप के सम्बन्ध में परिपक्व निश्चय है तथा काम, क्रोध, लोभ और मोहादि विकारों में से कोई भी विकार उसके हृदय में नहीं रहता. दूसरी तरह का भक्त वह है, जो भगवान के अपरोक्ष स्वरूप में परिपक्व निष्ठावान है, फिर भी काम, क्रोध, लोभ तथा मोहादि विकारों से उसका अन्तःकरण क्षुब्ध हो जाता है. दोनों प्रकार के भक्त जब देह छोड़कर भगवान के धाम में जाते हैं, तब क्या उन्हें समान सुख की प्राप्ति होती है या उसमें (सुख में) अधिकता तथा न्यूनता रहती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो भगवद्भक्त भगवान के अपरोक्ष स्वरूप में पूर्ण निष्ठावान हो, काम-क्रोध एवं लोभादि से अप्रभावित रहता हो, अतिशय त्यागी, अतिवैराग्यवान तथा अत्यन्त आत्मनिष्ठावाला तो हो, किन्तु प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण भगवान की मूर्ति के चिन्तन को छोड़कर यदि वह किसी अन्य वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा करता हो तो उसे न्यून सुख की प्राप्ति होती है.

दूसरे प्रकार के भक्त के हृदय में भगवान के अपरोक्ष स्वरूप में पूर्ण आस्था रहने पर भी अन्तःकरण में जब काम, क्रोध, लोभ एवं मोहादि का विक्षेप होता है तब उसको परिताप होता है, परन्तु प्रत्यक्ष भगवान श्रीकृष्ण की मूर्ति के सिवा किसी भी अन्य वस्तु का इच्छुक नहीं है, उसे तो न्यून आत्मनिष्ठा तथा कम वैराग्य होने पर भी देह-त्याग करके भगवान के धाम में जाने पर उत्कृष्ट सुख की प्राप्ति होती है. इसका कारण यह है कि प्रथम प्रकार का भक्त तो बाह्य रूप से त्यागी और निष्कामी दिखायी पड़ता है, परन्तु भगवान की मूर्ति की आकांक्षा न रखकर हृदय में अन्य आत्मदर्शनादि की प्राप्ति की इच्छा रखता है. इसलिये, वह सकाम भक्त कहलाता है और उसे परलोक में न्यून सुख मिलता है, जबकि दूसरी तरह का भक्त बाहरी तौर पर सकाम दीखने पर भी हृदय में भगवान की मूर्ति के सिवा किसी अन्य वस्तु का इच्छुक नहीं रहता. फिर भी, यदि उसे भगवान की मूर्ति के सिवा किसी अन्य सुख की इच्छा का संकल्प हो जाय तो उसके मन में अत्यन्त पश्चात्ताप होता है, इसलिये उसे निष्काम भक्त

कहा जाता है तथा शरीर छूटने पर उसे अधिकाधिक सुख मिलता है. वह भगवान का पार्षद भी हो जाता है तथा श्रीकृष्ण भगवान की मूर्ति में उसे अतिशय प्रीति हो जाती है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥५॥ ॥२२८॥

वचनामृत ६ : जीव तथा मन की मैत्री

सम्वत् १८८३ में भाद्रपद कृष्ण *पंचमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवासस्थान पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज समस्त हरिभक्तों पर कृपादृष्टि करके बोले कि 'भगवान का कोई भक्त यदि किसी हरिभक्त के प्रति ईर्ष्याभाव रखकर परमेश्वर की कथा, कीर्तन तथा श्रवणादि नवधा भक्ति करता है, उससे भगवान अधिक प्रसन्न नहीं होते. यदि वह भक्त ईर्ष्या का त्याग करके लोगों को दिखाने के लिये नहीं, बल्कि मात्र अपने कल्याण के लिये भक्ति करता है तो उसकी भक्ति से भगवान प्रसन्न हो जाते हैं. अतएव, भगवान को प्रसन्न करने के इच्छुक भक्त के लिये यह आवश्यक है कि वह लोगों को रिझाने के लिये या किसी से ईर्ष्याभाव रखकर भक्ति न करे. उसे तो केवल आत्मकल्याण के लिये ही भक्ति करनी चाहिये.

यदि भगवान की भक्ति करते समय अपने से कोई अपराध हो जाय तो वह दोष दूसरे के सिर पर नहीं मढ़ना चाहिये. वस्तुतः जीवमात्र का ऐसा ही स्वभाव है कि वह स्वयं में कोई दोष होने पर यह बोल पड़ता है कि 'मुझे तो किसी अन्य मनुष्य ने गुमराह किया है, इसी कारण मुझ से यह भूल हो गयी, अन्यथा मुझ में कोई दोष नहीं है.' परन्तु ऐसा कहनेवाला महामूर्ख है, क्योंकि कोई अन्य भक्त यह कहेगा कि 'तू कुएँ में गिर पड़', तो क्या उसके कहने से उसे कुएँ में गिर जाना चाहिए ? इसलिये, दोष तो उस मनुष्य का ही है, जो उल्टा काम करता है, किन्तु दूसरे पर आक्षेप करता है. इसी प्रकार, इन्द्रियों और अन्तःकरण का दोष प्रकट करना भी जीव की मूर्खता ही है. वैसे जीव तथा मन तो एक-दूसरे के घनिष्ठ मित्र हैं. जिस

* गुरुवार, २१ सितम्बर, १८२६.

प्रकार दूध और पानी की मित्रता रहती है, उसी तरह जीव तथा मन की मैत्री बनी रहती हैं. जब दूध और पानी को मिलाकर अग्नि पर रखा जाता है, तब पानी दूध के नीचे बैठ जाता है, और स्वयं जल जाता है, किन्तु दूध को नहीं जलने देता. इसी तरह दूध भी पानी को बचाने के लिये स्वयं उफन कर आग को बुझा डालता है. ऐसा है दोनों का पारस्परिक मित्राचार.

उसी प्रकार जीव तथा मन की परस्पर मैत्री है. जो बात जीव को रुचिकर न हो, उसका मन में संकल्प भी नहीं हो पाता. जब कोई बात जीव को पसन्द हो तभी मन जीव को समझाता है. वह कैसे समझाता है ? जब जीव भगवान का ध्यान करता है तब मन यह कहेगा कि 'यदि भगवान की कोई स्त्री भक्त हो तो साथ में उसका भी ध्यान करना.' इसके बाद वह उसके समस्त अंगों का चिन्तन कराकर उसमें भी दूसरी स्त्री के प्रति उत्पन्न दुर्विचार जैसा दुःसंकल्प करा डालता है. उस समय यदि उस भक्त का जीव अतिनिर्मल हो तो वह उसका कहना नहीं मानता और अत्यन्त पश्चात्ताप करता है, ताकि मन पुनः कभी भी ऐसा संकल्प न कर सके.

यदि उसका जीव मलिन और पापयुक्त हुआ तो वह मन का कहना मान लेता है. तब मन उसमें अशुभ संकल्प उत्पन्न कराकर उसे कल्याण-मार्ग से विचलित कर देता है.

इसलिये, यदि मन अथवा कोई अन्य मनुष्य कल्याण-मार्ग के विपरीत अधर्म की बात करता है तो उसके साथ जो शुद्ध मुमुक्षु हो उसके साथ अत्यन्त वैरभाव हो जाता है. इसके पश्चात् अपना मन अथवा अन्य मनुष्य पुनः ऐसी बात नहीं करता.

मन तो जीव का मित्र ही है, इसलिये वह जीव के लिये अप्रिय लगनेवाला संकल्प नहीं कर सकता. फिर भी, जब मन में अनुचित संकल्प हो जाय तब उसके प्रति जीव के अत्यन्त कुपित होने पर मन में ऐसा संकल्प होने ही नहीं पाता. जब मन में सदैव अनुचित संकल्प होते रहते हों, तब उसे अपने जीव का ही दोष समझना चाहिये, किन्तु अकेले मन की ही त्रुटि नहीं समझनी चाहिये. जो कोई मनुष्य ऐसा समझकर ही भगवान की भक्ति करता है, तो किसी विमुख जीव तथा अपने मन का कुसंग उसका लेशमात्र भी स्पर्श नहीं कर सकता. तब वह निर्विघ्न रूप से भगवान का भजन करता रहता है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥६॥ ॥२२९॥

वचनामृत ७ : वज्र की कील

सम्वत् १८८३ में भादपद कृष्ण *षष्ठी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवासस्थान पर गद्दी-तकिया पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे और कंठ में मोगरा-पुष्पों का हार पहना था. उनकी पाग में मोगरा-फूलों के तुर्रे लगे हुए थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज समस्त हरिभक्तों से बोले कि 'हमारे अन्तःकरण का जो सिद्धान्त है उसे बताते हैं कि जो भक्त अपने कल्याण का इच्छुक हो उसके लिये तो भगवान और उनके साधु के सिवा जगत में दूसरा कुछ भी सुखदायी नहीं है. जिस प्रकार जीव को अपने शरीर के प्रति आत्मबुद्धि (ममत्व भावना) रहती है वैसी आत्मबुद्धि भगवान तथा उनके सन्त के सम्बन्ध में रखनी चाहिये और भगवद्भक्त का पक्ष सुदृढ़ बनाना चाहिये. यदि भगवान के भक्त का पक्षधर होने के कारण कीर्ति में वृद्धि हो या वह घट जाय, मान हो या अपमान, शरीर रहे या न रहे, किन्तु किसी भी प्रकार से भगवान और उनके भक्त का पक्ष नहीं छोड़ना चाहिये और भक्त से घृणित नहीं होना चाहिये. भगवान के भक्त में जैसी प्रीति है उससे अधिक देह और देह के सम्बद्ध सम्बन्धी जनों के साथ प्रीति नहीं रखनी चाहिये.

इस प्रकार जो हरिभक्त आचरणशील रहता है उसको अतिबलवान काम-क्रोधादि शत्रु भी पराजित नहीं कर सकते. भगवान का जो ब्रह्मपुर धाम है, उसमें भगवान सदैव साकार मूर्ति के रूप में विराजमान रहते हैं तथा भगवद्भक्त भी भगवान के धाम में मूर्तिमान हो कर परमेश्वर की सेवा में जुटे रहते हैं. जिसे इन भगवान का प्रत्यक्ष प्रमाण दृढ़ आश्रय प्राप्त हो गया हो उसे अपने मन में ऐसा भय नहीं रखना चाहिये कि 'मैं कभी अपनी मृत्यु के बाद भूत-प्रेत हो जाऊँगा या मुझे इन्द्रलोक अथवा ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो जायगी.' ऐसी शंका मन में नहीं रखनी चाहिये, क्योंकि भगवान का जो ऐसा भक्त होता है, वह तो उनके (भगवान के) धाम में ही

* शुक्रवार, २२ सितम्बर, १८२६.

जाता है. भगवान उसे बीच में कहीं भी नहीं रहने देते.

उस भक्त को भी अपना मन भगवान के चरणारविन्दों में ही सुदृढ़ रखना चाहिये. जिस प्रकार वज्र-जैसी पृथ्वी में लगी हुई वज्र की कील किसी भी तरह नहीं उखड़ पाती, उसी प्रकार भगवान के चरणकमलों में अपने मन को दृढ़तापूर्वक लगाये रखना चाहिये. इस प्रकार भगवान के चरणकमलों में जिसका मन दृढ़तापूर्वक लगा रहता है, वह मरकर ही भगवान के धाम में जावे, ऐसी बात नहीं है. वस्तुतः वह तो जीवित अवस्था में ही भगवान के धाम को प्राप्त कर लेता है.'

ऐसी वार्ता करने के बाद श्रीजीमहाराज ने 'जय सच्चिदानन्द' कहकर सभा को विसर्जित करने की आज्ञा दी.

॥ इति वचनामृतम् ॥७॥ ॥२३०॥

वचनामृत ८ : सदैव सुखी रहने की स्थिति

सम्वत् १८८३ में भाद्रपद कृष्ण *नवमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके कंठ में मोगरा-पुष्पों का हार और पाग में मोगरा-फूलों के तुर्रे सुशोभित हो रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने मुनिमंडल से प्रश्न पूछा कि 'ऐसा कौन-सा उपाय है, जिससे भगवान का भक्त सदैव सुखी रह सके ?' तब बड़े-बड़े साधुजनों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार उत्तर दिया.

बाद में श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका उत्तर तो इस प्रकार है कि भगवान के भक्त को पहले तो दृढ़ वैराग्य होना चाहिये और स्वधर्म में अत्यन्त दृढ़ता रखनी चाहिये. जिसने इन दोनों साधनों द्वारा समस्त इन्द्रियों को जीत कर अपने वश में कर लिया [१]है, जिसे भगवान और उनके भक्त से अतिशय प्रीति है, जो भगवान तथा भगवद्भक्त के प्रति अत्यन्त मित्रभाव रखता हो और कभी भी भगवान और उनके भक्त से उदासीन

---

* सोमवार, २५ सितम्बर, १८२६.

१. यह मुख्य साधन है.

नहीं रहता तथा जो परमेश्वर और उनके भक्त के साथ ही रहना पसन्द करे, परन्तु जिसे किसी विमुख जीव की सोहबत अच्छी न लगती हो, ऐसे लक्षण जिस हरिभक्त में हों, वह इस लोक तथा परलोक में सदैव सुखी रहता है.

जिसने वैराग्य तथा स्वधर्म द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं किया है, वह तो भगवान और उनके भक्त के साथ रहता हुआ भी दुःखी ही रहता है. इसका कारण यह है कि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त न करनेवाले जीव को किसी भी जगह सुख नहीं मिल पाता. भगवान की भक्ति करने पर भी यदि इन्द्रियाँ विषयों के चक्कर में पड़ जाती हैं तो उसके हृदय में अतिदुःख होता रहता है. इसलिये, अपनी समस्त इन्द्रियों को जीत कर वश में करनेवाला जीव ही हमेशा सुखी रहता है. जिसने इन्द्रियों को इस प्रकार अपने वश में कर लिया है, उसीको वैराग्यवान और धर्मात्मा समझना चाहिये. परन्तु, जिसकी इन्द्रियाँ वशीभूत नहीं हुई हैं, उसे वैराग्य एवं धर्मशील नहीं मानना चाहिये. वैराग्य और धर्मवान पुरुष की समस्त इन्द्रियाँ नियन्त्रित रहती हैं, इसलिये वह सदैव सुखी रहता है.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! कोई हरिभक्त जब भगवान की भक्ति करता है, तब उसके मार्ग में कौन-सा सबसे बड़ा विघ्न बाधक बन जाता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान के भक्त के मार्ग में बड़ा विघ्न यही है कि वह अपने विद्यमान दोषों को नहीं देखता और परमेश्वर तथा उनके भक्त से उसका मन विचलित हो जाता है और वह भगवान के भक्त के प्रति उपेक्षा करने लगता है. [१]यही उसका सबसे बड़ा विघ्न है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥८॥ ॥२३१॥

वचनामृत ९ : ज्ञातृत्वशक्ति

सम्वत् १८८३ में आश्विन शुक्ल *एकादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके कंठ में पुष्पहार तथा गजरे शोभायमान हो रहे थे. उनकी पाग पर

* गुरुवार, ११ अक्तूबर, १८२६.

१ ये तीन दोष.

पुष्पों के तुर्रे झुक रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने समस्त हरिभक्तों से कहा कि 'हम अपने बड़े-बड़े परमहंसों की स्थिति और समझ के सम्बन्ध में आप सबको बताते हैं. उसे [1]सुनने के बाद आप सभी अपने आचरण और स्थिति के सम्बन्ध में बतावें.'

ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'हमारे मुनिमंडल में जो बड़े-बड़े सन्त हैं, उनकी ऐसी धारणा है कि अपने हृदय में जो [2]ज्ञातृत्वशक्ति है, वह भगवान के धाम का द्वार है और उसके ऊपर सभी सन्त खड़े हुए हैं. समस्त सन्त ज्ञातृत्वशक्ति के आधार पर आचरणरत हैं. जिस प्रकार राजा के नौकर-चाकर उसके महल के दरवाज़े पर खड़े होकर चोरों आदि को उसके पास नहीं जाने देते और उनमें इतनी हिम्मत रहती है कि यदि कोई राजा के समक्ष विघ्न डालने के लिये जाय तो वे उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे, लेकिन उन्हें किसी भी तरह राजा के निकट नहीं पहुँचने देंगे. इस तरह वे ढाल-तलवार से लैस होकर खड़े रहते हैं.

उसी प्रकार की स्थिति इन सभी सन्तों की है, जो भगवान के ज्ञानरूपी धाम के द्वार पर रहते हैं तथा ज्ञानस्वरूप अक्षरधाम में जो भगवान रहे हैं उनके दर्शन करते हैं और उनके सान्निध्य में रहते समय अपने हृदय में धन, स्त्री आदि मायिक तत्त्वों को नहीं बैठने देते. यदि कोई मायिक तत्त्व जबरन हृदय में पैठने आता भी है तो वे उसका नाश कर डालते हैं, परन्तु हृदय के जिस स्थान में भगवान को प्रतिष्ठित किया है वहाँ तक उसे नहीं जाने देते और शूरवीर की तरह सावधान रहते हुए हानि, वृद्धि, सुख, दुःख तथा मान-अपमान आदि अनेक विघ्नों के उपस्थित होने पर भी अपने स्थान से विचलित नहीं होते.

तब कोई आशंका कर सकता है कि 'जब वे वहाँ से डिगते नहीं तब खानपान आदि क्रिया को किस प्रकार करते होंगे ?'

इसे दृष्टान्त देकर बताते हैं कि जब पानी भरनेवाली कुएँ पर जल

---

१. आप सब भक्तों को वैसी स्थिति अच्छी तरह सिद्ध करनी चाहिये.

२. आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान तथा धर्म, वैराग्य एवं भक्ति का यथार्थ बोध.

लेने के लिये जाती है तब वह पनघट (कुएँ के किनारे) पर रखे गये अपने पैरों तक का ध्यान रखती है कि 'कहीं कुएँ में गिर न पडूँ' और अन्य वृत्ति द्वारा कुएँ में से जल खींचती है.

अन्य दृष्टान्त भी है कि जब कोई पुरुष घोड़े पर सवार होता है तब वह उसके (घोड़े के) पावदान पर रखे गये अपने पैरों, घोड़े की लगाम और उसके दौड़ते समय आनेवाले वृक्षों, गड्ढों और पत्थरों तक का ध्यान रखता है. इसी प्रकार ये सब साधु हैं, जो अन्तरसम्मुख दृष्टि रखकर भगवान की सेवा में भी तत्पर रहते हैं और दैहिक क्रिया भी करते रहते हैं, किन्तु अपनी स्थिति से नहीं डिगते हैं.'

इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने बड़े-बडे सन्तों की स्थिति बता दी.

इसके बाद वे बोले कि 'आप सबको इसी तरह अन्तरसम्मुख दृष्टि रखकर निरन्तर भगवान की सेवा में जुटे रहना चाहिये और भगवान के सिवा किन्हीं भी अन्य वस्तुओं को प्रिय नहीं समझना चाहिये और इस बात की अत्यन्त सावधानी बरतनी चाहिये कि जिस प्रकार राजा का जो सेवक हो और वह अगर उसके पास गाफिल होकर खड़ा रहे, तब उसकी असावधानी के कारण कोई भी चोर और शत्रु राजा के पास पहुँच जाता है, तब उसकी चाकरी विफल हो जाती है. उसी तरह हरिभक्त को यदि भगवान के सिवा अन्य पदार्थों में आसक्ति हो जाय तो उसके हृदय में, जहाँ ज्ञानावस्था में भगवान रहते है, धन-स्त्री आदि अन्य तत्त्वों की पैठ हो जाया करती है और तब उसकी भक्ति मिथ्या हो जाती है. इसलिये, अपनी भक्ति को निर्विघ्न रखकर जो परमेश्वर के चरणारविदों को प्राप्त करने का इच्छुक हो, उसे ज्ञानस्वरूप भगवान के धाम के द्वार पर सावधान होकर रहना चाहिये और भगवान के सिवा अन्य तत्त्वों को वहाँ पैठने नहीं देना चाहिये. इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने समस्त भक्तजनों के समक्ष शिक्षा-वचन कहे.'

॥ इति वचनामृतम् ॥९॥ ॥२३२॥

वचनामृत १० : वृन्दावन तथा काशी

सम्वत् १८८३ में आश्विन कृष्ण *द्वादशी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-

---

* रविवार, २८ अक्तूबर, १८२६

स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष साधुओं तथा देश-देशान्तर के सत्संगी हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस समय श्रीजीमहाराज के पास माध्व सम्प्रदाय का एक विद्वान ब्राह्मण आया. उससे श्रीजीमहाराज ने पूछा कि आपके सम्प्रदाय के ग्रन्थों में वृन्दावन को ही भगवान का धाम बताया गया है और यह भी कहा गया है कि 'महाप्रलय में भी वृन्दावन का नाश नहीं होता,' जबकि शिवमार्गी ऐसा कहते हैं कि 'महाप्रलय में काशी का नाश नहीं होता.' यह बात हमारी समझ में नहीं आती, क्योंकि महाप्रलय में तो पृथ्वी आदि पंचभूतों का प्रलय हो जाता है तब वृन्दावन और काशी का अस्तित्व कैसे रहता होगा ? ये दोनों स्थान किसके आधार पर रहते होंगे ? इस प्रकार अत्यन्त संशय होता है.'

ऐसी वार्ता करने के बाद श्रीजीमहाराज ने श्रीमद्भागवत की पुस्तक मंगायी. उन्होंने श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध तथा द्वादश स्कन्ध में से चार प्रकार के प्रलयों के प्रसंग को पढ़कर सुनाया.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'श्रीमद्भागवत तथा भगवद्गीता में प्रतिपादित मत को देखने से तो यही प्रतीत होता है कि प्रकृति-पुरुष से जो कुछ उत्पन्न हुआ है, वह महाप्रलय में नहीं रहता. यदि महाप्रलय में वृन्दावन अखंड रहता हो तो उसका प्रमाण प्रस्तुत करने के लिये व्यासजी के ग्रन्थों में के श्लोक तथा वेदों की श्रुति सुनाइये, क्योंकि व्यासजी से बढ़कर अन्य कोई बड़े आचार्य नहीं हैं. दूसरे जो भी आचार्य हुए हैं, उन्होंने तो व्यासजीकृत ग्रन्थों का सहारा लेकर ही अपने-अपने सम्प्रदायों का संचालन किया है. इसलिये, आद्य आचार्य व्यासजी के वचन ही इन समस्त आचार्यों के वचनों की अपेक्षा सर्वोच्च प्रमाण हैं. यदि व्यासजी के वचनों तथा वेदों की श्रुति द्वारा यह प्रमाण सिद्ध हो जाय कि 'वृन्दावन महाप्रलय में नष्ट नहीं होता,' तो हमारे संशय का निवारण हो जायगा.

जो अन्य आचार्य हुए हैं, उन्होंने पद्मपुराण के वचनों से अपने मत स्थापित किये हैं. इन मतों की स्थापना तो पद्मपुराण में क्षेपक श्लोकों को ठूँस-ठूँस कर की गयी है. उन्हें तो अन्य पुरुष [१]नहीं बल्कि अपने

---

१. ऐसा कुछ विद्वान कहते हैं.

मतानुयायी ही मान सकते हैं. इसलिये, श्रीमद्भागवत जैसे प्रसिद्ध पुराण के वचन सुनाइये. उन्हींसे हमें प्रतीति हो जायगी, क्योंकि व्यासजी ने वेदों, पुराणों तथा इतिहास का सार ग्रहण करके ही श्रीमद्भागवत की रचना की है. अतएव श्रीमद्भागवत का प्रमाण अन्य पुराणों की अपेक्षा सर्वोच्च है. जैसे भगवद्गीता प्रमाण है वैसे ही समग्र महाभारत प्रमाण नहीं है. इसलिये, ऐसे उत्कृष्ट सारगर्भित शास्त्र का वचन कह सुनाइये, तो हमारे प्रश्न का समाधान हो जायगा.'

इस प्रकार श्रीजीमहाराज के वचनों को सुनकर वह ब्राह्मण बोला कि 'हे महाराज ! आपने जो प्रश्न किया वह सत्य है. इसका उत्तर देने में इस पृथ्वी पर कोई समर्थ नहीं है. मेरे मन में तो आपके स्वरूप की ऐसी दृढ़ प्रतीति हो गयी है कि 'आप तो समस्त आचार्यों के अग्रणी आचार्य हैं तथा ईश्वरों के भी ईश्वर हैं.' इसलिये, आप कृपया मेरे लिये [१]अपना सिद्धान्त बता दीजिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि[२] 'वेदों, पुराणों, इतिहास एवं स्मृतिशास्त्रों में से तो हमने यही सिद्धान्त निश्चित किया है कि जीव, माया, ईश्वर, ब्रह्म तथा परमेश्वर, सभी अनादि हैं और माया तो पृथ्वी के स्थान पर है. इसी प्रकार पृथ्वी में रहनेवाले बीजों के स्थान पर जीव हैं तथा ईश्वर मेघ के स्थान पर

---

१. आपके प्रश्न का उत्तर और.

२. भगवान श्रीकृष्ण ब्रह्मरूप बने हुए अनेक मुक्त पुरुषों के निवासस्थान बन वृन्दावन नामक अपने ब्रह्मधाम में सदैव विराजते हैं. श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द एवं दिव्यमूर्ति हैं. उनका अक्षरब्रह्म नामक दिव्यधाम सदैव अखंड बना रहता है. वे भगवान श्रीकृष्ण भूतल में प्रकट होकर व्रजभूमि स्थित वृन्दावन में निवास करते रहते हैं. जिस स्थान में श्रीकृष्ण हों, वहाँ वृन्दावन नामक ब्रह्मपुर भी अवश्य ही रहता है. जिन पुरुषों को भगवान की मात्र इच्छा से ही दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गयी हो, वे तो भगवान तथा उनके धाम को स्पष्ट रूप से देखते रहते हैं. दिव्यदृष्टि प्राप्त भक्तों को भूमिस्थ वृन्दावन में सनातन ब्रह्मपुराधिपति श्रीकृष्ण भगवान तथा सनातन वृन्दावन नामक ब्रह्मपुर दिखायी पड़ता है. इसलिये, वे उसकी नित्यता बताते हैं. वास्तव में भूमिस्थ वृन्दावन की नित्यता नहीं है. यह बात तो राजपुरुषों में राजाओं के उपचार-जैसी है. इस प्रकार आपके प्रश्न का शास्त्रसम्मत उत्तर मिल गया. अब हम अपना सिद्धान्त बताते हैं.

हैं. परमेश्वर की इच्छा से पुरुषरूप ईश्वर का माया से सम्बन्ध रहने से पृथ्वी में रहनेवाले बीज उग जाते हैं. उसी तरह माया में से अनादिकाल के जीवों का उदय हो जाता है, परन्तु नवीन जीवों की उत्पत्ति नहीं होती. जैसे ईश्वर अनादि हैं वैसे ही माया भी अनादि है, किन्तु वे जीव परमेश्वर के अंश नहीं हैं. वे तो अनादि जीव ही हैं. वे जीव जब परमेश्वर की शरण में जाते हैं तब वे माया के वशीभूत नहीं रहते. तब वे नारदसनकादि के समान ब्रह्मरूप होकर भगवान के धाम में जाते हैं और भगवान के पार्षद बनकर रहते हैं. यह हमारा सिद्धान्त है.'

श्रीजीमहाराज के ऐसे वचनों को सुनकर उस ब्राह्मण ने अपने वैष्णव सम्प्रदाय के मत का परित्याग कर दिया और श्रीजीमहाराज का आश्रय ग्रहण कर लिया तथा उद्धव सम्प्रदाय की दीक्षा ली.

॥ इति वचनामृतम् ॥१०॥ ॥२३३॥

वचनामृत ११ : सीताजी का विवेक

सम्वत् १८८४ में आषाढ़ शुक्ल *तृतीया को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'हम एक प्रश्न पूछते हैं कि 'इन्द्रियों तथा मन को जीतने का एक ही साधन है या भिन्न-भिन्न साधन हैं ?' इसके बाद बड़े-बड़े परमहंसों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार इसका उत्तर दिया, किन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान नहीं हुआ.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका उत्तर तो इस प्रकार है कि [१]वैराग्य, स्वधर्म, तप तथा नियम, इन चार साधनों द्वारा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की जाती है और भगवान की माहात्म्यसहित नवधा भक्ति के माध्यम से मन को जीता जाता है.'

---

* गुरुवार, २७ जून, १८२७.

१. इन्द्रियों तथा मन को जीतने के भिन्न-भिन्न साधन हैं, उनमें.

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान के भक्त को निर्विकल्प समाधि में जैसी शान्ति की अनुभूति होती है, वैसी शान्ति ऐसी समाधि के बिना भी रह सके, इसका क्या उपाय है ?'

श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'अपनी देह के प्रति जैसी आत्मबुद्धि तथा दृढ़ प्रीति रहती है, वैसी ही भावना यदि भगवान और उनके भक्त में रहे तो निर्विकल्प समाधि में रहनेवाली शान्ति इस समाधि के बिना भी सदैव रह सकती है. यही इसका उत्तर है.'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने परमहंसों से पुनः यह प्रश्न पूछा कि 'चाहे कैसा भी अशुभ देशकालादि प्राप्त हो तो भी किसी भी तरह कल्याण-मार्ग से पीछे न हटनेवाले हरिभक्त में ऐसी किस प्रकार की बुद्धि रहती है कि उसमें इतनी दृढ़ता बनी रहती है कि कोई भी विघ्न उसे प्रभावित नहीं कर पाता ?' बड़े बड़े सन्तों ने अपने-अपने विवेक के अनुसार इसका उत्तर दिया, परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का निराकरण नहीं हुआ.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका उत्तर तो इस प्रकार है कि जीव की अपनी देह के सम्बन्ध में जैसी आत्मबुद्धि रहती है, वैसी भगवान तथा उनके भक्त में रहे तो उसे किसी भी प्रकार का विघ्न पीड़ित नहीं कर सकता. चाहे देशकालादि कितने ही अशुभ हों, फिर भी वह भगवान तथा भगवद्‌भक्त से विमुख नहीं होता.'

श्रीजीमहाराज ने परमहंसों से पुनः प्रश्न पूछा कि 'जब रामचन्द्रजी ने जानकीजी को वनवास के लिये भेजा तब सीताजी अत्यन्त विलाप करने लगीं और लक्ष्मणजी को भी अतिदुःख हुआ. उस समय सीताजी लक्ष्मणजी से बोलीं कि 'मैं अपने दुःख के लिये नहीं बल्कि रामचन्द्रजी को होनेवाले दुःख के कारण रोती हूँ. रघुनाथजी अति कृपालु हैं तथा लोकापवाद के कारण ही उन्होंने मुझे वन में भेजा है, परन्तु अब वे ऐसा विचार करते होंगे कि 'सीता को मैंने बिना अपराध के वन में भेजा है.' ऐसा ख्याल करते हुए उन्हें कृपालु होने के कारण अत्यन्त दुःख होता होगा. इसलिये, रामचन्द्रजी से कह दीजिये कि 'सीता को तो कोई भी दुःख नहीं है और वह वाल्मीकि ऋषि के आश्रम में जाकर भक्तिभाव से आपका भजन करेगी. इसलिये, आप सीता के दुःख के कारण बिल्कुल भी दुःखी न हों.' इस प्रकार सीताजी ने लक्ष्मणजी द्वारा सन्देश कहला भेजा, किन्तु रामचन्द्रजी पर किसी

भी प्रकार का आक्षेप नहीं किया.

'एक हरिभक्त तो ऐसा होता है, जो भगवान और उनके भक्तों पर किसी भी तरह का दोष नहीं मढ़ता तथा उसमें वैराग्य एवं स्वधर्म सामान्य रूप से बना रहता है. दूसरा हरिभक्त वह है, जिसमें वैराग्य और धर्म की भावना तो अत्यधिक है, परन्तु सीताजी-जैसा विवेक नहीं है. ऐसे दो प्रकार के हरिभक्त हैं. उनमें से किसके साथ घनिष्ठ प्रीति रखकर संग करना चाहिये ?'

चैतन्यानन्द स्वामी ने कहा कि 'धर्म और वैराग्य सामान्य रूप से रहने पर भी अत्यन्त प्रीतिपूर्वक समागम तो उसीके साथ ही करना चाहिये, जिसमें जानकीजी जैसा विवेक हो, परन्तु अतिशय वैराग्य तथा धर्मात्मा होने पर भी जो पुरुष भगवान और उनके भक्तों में दोष देखता हो, उसका संग नहीं करना चाहिये.' श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'यह यथार्थ उत्तर है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥११॥ ॥२३४॥

वचनामृत १२ : 'सम्बन्धीजनों से अधिक स्नेह नहीं करें'

सम्वत् १८८४ में आषाढ़ कृष्ण *अष्टमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवासस्थान के बड़े कमरे के झरोखे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने अपने भक्तजनों को शिक्षा देने के उद्देश्य से यह वार्ता की कि 'जो भक्त आत्मकल्याण का इच्छुक हो, उसे किसी भी प्रकार का ऐसा अभिमान नहीं करना चाहिये कि 'मैंने उच्च कुल में जन्म लिया है या मैं धनाढ्य अथवा रूपवान या पंडित हूँ.' मन में इस प्रकार का मान नहीं रखना चाहिये और गरीब सत्संगी का भी दासानुदास होकर रहना चाहिये.

जो पुरुष भगवान और भगवद्भक्तों में दोष देखता हो, उस सत्संगी कहे जानेवाले भक्त को पागल कुत्ते के समान समझना चाहिये. जिस प्रकार किसी पुरुष पर पागल कुत्ते की लार लगने से पागलपन छा जाता है, उसी

---

* मंगलवार, १६ जुलाई, १८२७.

तरह जिसे भगवान और उनके भक्तों में दोष दिखायी देता हो, उसके साथ स्नेह रखने या उसकी बात सुननेवाला पुरुष भी श्रीहरि से विमुख रहनेवाले जीव-जैसा हो जाता है. जैसे क्षयरोग किसी भी औषध से नहीं मिट पाता, वैसे ही जिसे भगवान तथा भगवद्भक्तों में दोष दिखायी पड़ता हो, उसके हृदय में से आसुरी बुद्धि कभी भी नहीं मिट सकती. जिसने अगणित ब्राह्मणों, बालकों, स्त्रियों तथा गायों की हत्या की हो और अनेक बार गुरुपत्नी के साथ 'व्यभिचार' किया हो, उसके भी पापमुक्त होने के उपाय शास्त्रों में बताये गये हैं, किन्तु भगवान तथा उनके भक्तों के प्रति छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति रखनेवाले के लिये पापों से छुटकारा पाने का उपाय किसी भी शास्त्र में नहीं बताया गया है. यद्यपि विषपान करने अथवा समुद्र में गिरने या पर्वत पर से गिर जाने अथवा किसी राक्षस द्वारा खा लिये जाने से तो केवल एक ही बार मरना पड़ता है, परन्तु भगवान तथा उनके भक्तों का द्रोही होने पर उसे अनन्तकोटि कल्पों तक मरना और जन्म लेना पड़ता है. यद्यपि रोगग्रस्त होने से शरीर छूटने अथवा किसी शत्रु द्वारा देह का नाश कर दिये जाने पर भी जीव का नाश नहीं होता, किन्तु भगवान और उनके भक्तों का द्रोह करने से तो जीव का भी नाश हो जाया करता है.

तब कोई पुरुष यह कह सकता है कि 'जीव का नाश कैसे होता होगा,' तो इसके लिये एक दृष्टान्त भी है कि हिजड़े को न तो पुरुष ही कहा जाता है और न उसे स्त्री ही समझा जाता है, वह तो केवल नपुंसक कहलाता है. उसी प्रकार भगवान और उनके भक्तों से द्रोह करनेवाले पुरुष का जीव भी ऐसा निकम्मा हो जाता है कि वह कभी भी आत्मकल्याण का उपाय कर ही नहीं सकता. इसलिये उसके जीव को नष्ट हुआ समझ लेना चाहिये. ऐसा जानकर भगवान और उनके भक्तों का विरोध करना ही नहीं चाहिए. भले ही अपने सम्बन्धीजन सत्संगी हों, फिर भी उनसे अत्यधिक स्नेह नहीं रखना चाहिये.

जैसे चीनी-मिश्रित दूध में सर्प की लार पड़ जाय और उसे यदि कोई पी ले तो उसका प्राणान्त हो जाता है, वैसे ही उसके सम्बन्धीजनों के हरिभक्त होने के बावजूद उसमें देह-सम्बन्धरूपी साँप की लार पड़ने से उनके प्रति स्नेह रखनेवाले का निश्चित रूप से अकल्याण ही होता है. ऐसा समझ कर आत्मकल्याण के इच्छुक भक्त को अपने सम्बन्धीजनों के साथ

स्नेह नहीं करना चाहिये. इस प्रकार संसार से निस्पृह रहते हुए भगवान के चरणारविन्दों में प्रीतिपूर्वक श्रद्धा रखकर भगवद्भजन करते रहना चाहिये.

जो भक्त हमारी इस वार्ता को हृदयंगम कर लेता है, उसके कल्याणमार्ग में किसी भी प्रकार का विघ्न बाधक नहीं बनने पाता. वास्तव में यह वार्ता तो एक चमत्कार-जैसी है.' श्रीजीमहाराज ने यह कहकर वार्ता समाप्त कर दी. ।। **इति वचनामृतम्** ।।१२।। ।।२३५।।

वचनामृत १३ : एकान्तिक धर्म

सम्वत् १८८४ में आषाढ़ कृष्ण *नवमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके कंठ में मोगरा-पुष्पों के हार और पाग में तुर्रे सुशोभित हो रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी तथा आगे की ओर मुनिगण दुक्कड़-सरोद बजाते हुए कीर्तन कर रहे थे.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'कीर्तन समाप्त करिये, अब भगवद्वार्ता करते हैं.' इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने मुनियों से प्रश्न पूछा कि 'जीव की देह पूर्वकर्मों के अधीन है, इसलिये उसका कोई भरोसा नहीं रहता. कभी वह स्वस्थ रहता है, तो कभी कर्मवश रोगग्रस्त हो जाता है. वह कभी स्वतन्त्र रहता है तो कभी पराधीन हो जाता है. कभी उसका निवास अभीष्ट स्थान में होता है तो कभी वह उससे वंचित रहता है तथा कभी उसे हरिभक्तों के मंडल में रहते हुए भी कर्म अथवा कालयोग के फलस्वरूप वहाँ से हट जाना और अकेला ही रहना पड़ता है. तब जिस-जिस नियम को रखने की दृढ़ता होती है, उसमें कुछ तालमेल ही नहीं रह पाता, अथवा अंग्रेज शासकों जैसा कोई शासक उसे पराधीन बना देता है या अंग्रेज जैसा अपना मन और इन्द्रियाँ परवश कर देती हैं. तब सन्तों के मंडल में रहने तथा सत्संग की मर्यादा का पालन करने का कोई नियम नहीं रहता. शास्त्रों में तो ऐसा कहा गया है कि धर्म, ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के पूर्णतः रहने पर ही एकान्तिक भक्त कहलाते हैं तथा एकान्तिक की मुक्ति को प्राप्त करते हैं. कालकर्म के

---

* बुधवार, १७ जुलाई, १८२७.

योग से देह की व्यवस्था एक समान रहती है, ऐसा प्रतीत नहीं होता. इसलिये, भगवान के भक्त में एकान्तिकता कैसे रहती है, यह प्रश्न है.'

गोपालानन्द स्वामी, चैतन्यानन्द स्वामी, नित्यानन्द स्वामी, मुक्तानन्द स्वामी, ब्रह्मानन्द स्वामी तथा शुकमुनि आदि बड़े-बड़े साधुओं ने अपने-अपने विवेक के अनुसार उत्तर दिया, किन्तु इस प्रश्न का समाधान नहीं हो सका.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस प्रकार भगवान में हमारी निष्ठा रहती है, वही हम कहते हैं कि हमें तो चाहे कैसा भी सुख-दुःख तथा सम्पत्ति-विपत्ति आवे, फिर भी हम तो भगवान की अतिशय महत्ता जानते हैं, जिसके फलस्वरूप इस संसार में बड़े बड़े राजाओं की समृद्धि तथा राज्यलक्ष्मी को देखकर अन्तःकरण में उसका लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ता. हमें तो यह भी मालूम है कि भगवान से अधिक कोई पदार्थ नहीं है. हमने तो अपना मन भगवान के चरणारविन्दों में लगा रखा है और भगवान से ऐसी दृढ़ प्रीति कर रखी है कि उसे काल, कर्म और माया में से कोई भी मिटाने में समर्थ नहीं हो सकता. यदि हमारा मन भी इस प्रीति को मिटाने का प्रयास करे तो भी भगवान से हमारी प्रीति नहीं हट सकती. ऐसी दृढ़ता बनी हुई है. वह किसी भी तरह का सुख-दुःख आने पर नहीं मिट सकती.

स्वभावतः हमारी रुचि रहती है कि 'शहर हो या हवेली अथवा राजदरबार, वहाँ तो हमें अच्छा लगता ही नहीं है. हमें तो वन, पर्वत, नदी, वृक्ष तथा एकान्त स्थान ही अत्यन्त पसन्द आता है. हम यह जानते हैं कि 'एकान्त में बैठकर यदि भगवान का ध्यान किया जाय तो अच्छा होगा.' ऐसी रुचि सदैव रहती है. जब हमे रामानन्द स्वामी के दर्शन नहीं हुए थे तब हमने मुक्तानन्द स्वामी के समक्ष इस आशय का प्रस्ताव किया था कि 'मुझे रामानन्द स्वामी के दर्शन करा दीजिये तो हम दोनों वन में जाकर भगवान का अखंड ध्यान किया करेंगे और शहर में तो कभी भी नहीं आयेंगे.' मन का ऐसा निश्चय रहा था. अब भी मन वैसा का वैसा ही आचरण कर रहा है. वास्तव में भगवान और उनके भक्तों से तो हमारा इतना दृढ़ स्नेह बना हुआ है कि उसे काल, कर्म और माया में से कोई भी मिटाने में समर्थ नहीं हो सकता. यदि हमारा मन उसे मिटाने का प्रयत्न भी करे तो भी हृदय में से वह नहीं हट सकता. भगवान तथा भगवद्भक्तों के

प्रति हमारा इतना दृढ़ स्नेह बना हुआ है कि हम कई बार सत्संग में से चले जाने के लिये उद्यत हुए हैं, किन्तु भगवान के भक्तों के समूह को देखकर ही टिके हुए हैं. हम भगवद्भक्तों के समूह को किसी भी तरह छोड़कर नहीं जा पाते.

जिस पुरुष को मैं भगवान का भक्त नहीं समझता, उस जगह मुझे ठहराने के लिये यदि कोटि उपाय भी किये जायँ तो भी मैं नही ठहर सकता. भले ही हमारी कितनी भी सेवा-सुश्रूषा क्यों न की जाय, किन्तु अभक्त से हमारी नहीं पट सकती. इस प्रकार हमने अपने मन को भगवान तथा भगवद्भक्तों के साथ अत्यन्त प्रीतिपूर्वक जोड़ रखा है. जब भगवान के सिवा किसी भी अन्य वस्तु से हमारा लगाव नहीं रह गया है, तब परमेश्वर से प्रीति क्यों न रहे ?

जब हम भगवान की कथा तथा कीर्तनादि करते हैं, तब ऐसी मस्ती छायी रहती है 'मानो दीवाने हो जायेंगे.' फिर भी, जितना विवेक रहता है, वह तो किन्हीं भक्तजनों के हितार्थ रहा करता है, परन्तु मन में तो वैसी ही खुमारी बनी रहती है. तथापि बाह्यरूप से लौकिक व्यवहार करना पड़ता है.

वैसे तो भगवान ही इस देह का संचालन करते रहते हैं. वे चाहें तो इस देह को हाथी पर बैठा दें और चाहें तो इसे बंदीगृह में रखवा दें. यदि वे चाहें तो इस देह को भीषण रोग से ग्रस्त भी कर सकते है. फिर भी, भगवान से कभी भी ऐसी प्रार्थना नहीं करनी चाहिये कि 'हे महाराज ! मेरे इस दुःख को टाल दीजिये.' इसका कारण यह है कि हमें तो अपनी दैहिक क्रिया भगवान की इच्छा के अनुसार ही सम्पन्न करनी है. जो बात भगवान को अच्छी लगती हो, वही हमें भी पसन्द होती है. किन्तु भगवान की रुचि से अपनी दिलचस्पी को लेशमात्र भी भिन्न नहीं रखना चाहिये, क्योंकि जब हमने अपना तन-मन-धन भगवान को अर्पित कर दिया है, तब परमेश्वर की इच्छा ही हमारे प्रारब्ध का रूप ग्रहण कर लेती है. इसके अतिरिक्त कोई अन्य प्रारब्ध नहीं हो सकता. इसलिये, भगवान की इच्छा के अनुसार चाहे जैसे सुख-दुःख आवें, उनसे व्याकुल नहीं होना चाहिये. हमें तो भगवान की प्रसन्नता में ही स्वयं को प्रसन्न रखना चाहिये.

इस प्रकार भगवान के प्रति दृढ़ प्रीति रखनेवाले भक्त के धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति की रक्षा भगवान स्वयं ही करते हैं. कभी देश-काल की

विषमता के कारण यदि बाह्य रूप से धर्मादि का उल्लंघन प्रतीत होता हो तो भी उस भक्त के अन्तःकरण में धर्मादि का भंग होता ही नहीं है.' इस प्रकार, श्रीजीमहाराज ने अपने उपदेशों द्वारा भगवान के अत्यन्त दृढ़ भक्तों के समझने योग्य और परमेश्वर में दृढ़ प्रीति रखने के उपयुक्त वार्ता कह सुनायी. ॥ इति वचनामृतम् ॥१३॥ ॥२३६॥

वचनामृत १४ : लम्बकर्ण बनने की याचना

सम्वत् १८८४ में आषाढ़ कृष्ण *एकादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मस्तक पर पाग में पुष्पों के तुर्रे लटक रहे थे. वे कंठ में पुष्पों के हार पहने हुए थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. मुनिमंडल कीर्तन कर रहा था.

श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'कीर्तन-भक्ति का कार्यक्रम समाप्त करिये. अब हम प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ करते हैं.' मुक्तानन्द स्वामी ने हाथ जोड़कर पूछा कि 'हे महाराज ! परमेश्वर से भिन्न अन्य कोई भी सारपूर्ण तत्त्व नहीं है, तो भी परमेश्वर से इस जीव की दृढ़ प्रीति क्यों नहीं होती, यह प्रश्न है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'उसे [१]विवेक नहीं है. यदि विवेक हो तो ऐसा विचार उत्पन्न हो जाय कि मुझे तो ब्रह्मचर्य व्रत है, तो भी स्त्री के सुख की तृष्णा हृदय से नहीं मिटती, यह अत्यन्त अनुचित बात है. वस्तुतः स्त्री-सुख तो चौरासी लाख योनियों में जीवने जहाँ-जहाँ जन्म धारण किया था, वहाँ-वहाँ सर्वत्र प्राप्त हुआ. मनुष्य देह से तो उस सुख की अधिक प्राप्ति हुई है. यह जीव जब बकरा हुआ होगा तब वह हज़ार बकरियों के साथ स्वयं अकेला ही रमण करता होगा. जब वह घोड़ा या भैंसा या सांढ़ अथवा बूढ़ा वानर आदि पशु देहों को प्राप्त हुआ होगा तब उसे उनमें अपनी-अपनी जाति की अतिशय रूपवती और यौवनपूर्ण अनेक स्त्रियों में से प्रत्येक स्त्री

* शुक्रवार, १९ जुलाई, १८२७.

१. सार और असार का ज्ञान.

मिली होगी. उसमें प्रारब्ध कोई कारण नहीं है, भगवान की कृपा भी कारण नहीं है. वे तो उसे आसानी से मिल गयी थीं. अब भी यदि वह भगवान का भजन नहीं करेगा तो भी उसे विभिन्न योनियों में जाने पर अनेक स्त्रियाँ प्राप्त होंगी, जिनके लिये उस जीव को किसी देवता की सेवा-पूजा भी नहीं करनी पड़ेगी और किसी मन्त्र का जप भी नहीं करना पड़ेगा. उस स्थिति में भी उसे सहज स्त्री आदि के सुख प्राप्त हो जायेंगे.

इस जीवने कई बार तो देवता होकर देवलोक के भी सुख भोगे हैं और कई बार चक्रवर्ती राजा होकर पृथ्वी पर भी अनेक प्रकार के सुखों का उपभोग किया है. फिर भी, इस जीव की स्त्री आदि सुखों को भोगने की तृष्णा [१]नहीं मिटती. वह तो स्त्री आदि के सुखों को अत्यन्त दुर्लभ मानता है और उन्हें अत्यधिक महत्वपूर्ण समझ कर उनसे लगाव रखता है. उनमें उसकी यह अनुरक्ति कभी भी मिटाये नहीं मिटती. इसी पाप के कारण परमेश्वर से उसकी दृढ़ प्रीति नहीं हो पाती.

इस जीव में ऐसी मलिन वासना बनी रहती है, जिसे हमने प्रत्यक्ष रूप से देखा है. जब हम शैशवावस्था में थे तब अयोध्यापुरी-स्थित एक शिव-मन्दिर में जाकर सोते थे. तब एक कायस्थ प्रतिदिन शिव का पूजन करने के लिये आया करता था. वह शिव की पूजा करने के बाद गाल बजाकर शंकर से ऐसा वरदान माँगता था कि 'हे महाराज ! हे शिवजी ! मुझे कभी भी मनुष्य-जीवन मत देना, क्योंकि उसमें तो मैं ताम्रभस्म खाकर मर गया, परन्तु स्त्री का सुख अच्छी तरह नहीं भोग सका. इसलिये, हे शिवजी ! मुझे तो प्रत्येक जन्म में लम्बकर्ण (गधा) का ही जीवन देना, ताकि मैं लाज-मर्यादा छोड़कर स्त्री का सुख अच्छी तरह भोग सकूँ.' इस प्रकार वह

---

१. इसलिये मायिक सुख किसी के लिये कभी भी दुर्लभ नहीं होता. भगवान सम्बन्धी सुख तो समस्त सुखों की अपेक्षा अतिदुर्लभ है. भगवान के इस सुख की प्राप्ति के लिये बड़े-बड़े मुनि वन में जाकर अति तीव्र तपस्या करते रहते हैं. चक्रवर्ती राजा भी राज्य का परित्याग करके तप करने के लिये वन में जाते हैं. भगवान का वैसा सुख भी उनकी कृपा से ही अभी मुझे प्राप्त हुआ है. उस सुख का परित्याग करके अन्य तुच्छ विषयसुख की इच्छा क्यों की जाय ? इस प्रकार भक्त को यदि सार और असार का विवेक हो जाय, तो भगवान से ही उसकी अत्यधिक प्रीति हो जाती है और मायिक वस्तुओं से अत्यधिक लगाव कभी भी नहीं होता. जो सदसद्विवेकरहित होता है, वह.

प्रतिदिन शिवजी से वर माँगता था. इस जीव के हृदय में इस तरह की पापमयी वासना रहती है, जिसके फलस्वरूप परमेश्वर से उसकी किसी भी प्रकार से प्रीति नहीं हो पाती.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! जिसमें ऐसा अतिशय अविवेक हो, उसके हृदय में भगवान के प्रति प्रीति नहीं होती, परन्तु जिसे यह प्रतीत होता हो कि भगवान समस्त सुखों की निधि हैं तथा परमेश्वर के सिवा अन्य वस्तुएँ केवल दुःखमयी हैं, तो भी उसे भगवान से प्रेम क्यों नहीं होता, इसका क्या कारण है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'पूर्वजन्म अथवा इस जन्म में कोई अत्यन्त अशुभ देश, काल, संग तथा क्रिया के साथ इस जीव का सम्बन्ध रहा है, इस कारण इसके कर्म अत्यन्त तीक्ष्ण हो गये हैं तथा इसका चित्त इन दुष्कर्मों के बन्धन में पड़ा हुआ है. इसीलिये, यह जीव सार-असार का ज्ञान रहने पर भी असार का परित्याग करके परमेश्वर से दृढ़ प्रीति नहीं रख पाता.

जिस प्रकार अशुभ देश, काल, क्रिया और संग के योग से घोर दुष्कर्मों से चित्, विकृत हो गया है वैसे ही परमपवित्र देश, पवित्र काल, पवित्र क्रिया एवं पवित्र संगजन्य अत्यन्त उत्कृष्ट सुकृत कर्मों के संयोग से जब घोर दुष्कर्मों का नाश हो जाता है तब उसे परमेश्वर के प्रति दृढ़ प्रीति की प्राप्ति हो जाती है. इस प्रश्न का यही उत्तर है.'

अयोध्याप्रसादजी ने [१]पूछा कि 'एक भक्त तो ऐसा है, जिसकी बुद्धि भी अधिक है और शास्त्रों में भी अधिकाधिक दृष्टि पहुँचती है और अन्य भक्त वह है, जिसकी अल्पबुद्धि भी है तथा उसे शास्त्रों का भी अधिक ज्ञान नहीं है, फिर भी अधिक बुद्धिवाला सत्संग से विमुख हो जाता है, जब कि अल्पबुद्धिवाला दृढ़ता के साथ सत्संग में बना रहता है. इसका क्या कारण है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस संसार में दो प्रकार के जीव होते हैं, जिन्हें दैवी तथा आसुरी कहा जाता है. इनमें से आसुरी जीव अधिक बुद्धि होने पर भी सत्संग से विमुख ही रहता है, जबकि अल्पबुद्धि होने पर भी दैवी जीव सत्संग से कभी भी विमुख नहीं होता. यदि मिर्चों के बीजों, नीम के

---

१. इस लोक में आपके सत्संगी भक्त दो प्रकार के हैं, उनमें.

बीजों और [१]बछनाग के बीजों को प्रतिदिन चीनी-मिश्रित जल से सींचा भी जाय तो भी मिर्ची का तीखापन तथा नीम की कड़ुवाहट बनी ही रहती है और बछनाग जहरीला ही रहता है, क्योंकि उसके बीज ही खराब होते हैं. इसी तरह यदि गन्ने को बोकर उसमें नीम की पत्तियों का खाद डाला जाय और उसे कड़ुवे पानी से सींचा जाय, तो भी गन्ने का रस मीठा ही रहेगा. उसी प्रकार दैवी जीव भगवान के सम्मुख ही रहते हैं और आसुरी जीव उनसे विमुख रहते हैं.'

शुकमुनि ने पूछा कि 'दैवी तथा आसुरी जीवों को किस प्रकार पहचाना जाता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'दैवी जीव को कामक्रोधलोभादि दोष अशुभ देशकालादि के कारण होते हैं तथा शुभ देशकालादि का योग उपस्थित होने पर थोड़े ही समय में उनका विनाश हो जाता है. किन्तु, आसुरी जीव के कामक्रोधलोभादि दोषों का कभी भी नाश नहीं होता. उससे यदि एकबार भी कड़ी बात कह दी जाय, तो वह जीवित रहने तक उसे नहीं भूल सकता. यदि आसुरी जीव सत्संगी हुआ, तो सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ हरिभक्त दिखायी पड़ता है. जैसे भाल प्रान्त (सौराष्ट्र के एक भाग) में पहले समुद्र था और मिट्टी जम जाने से वहाँ की धूलि में मिठास फैल गयी. उस मिट्टी को जहाँ तक खोदा जायगा, वहाँ तक पानी मीठा निकलेगा. उसे अगर उससे ज्यादा गहरा खोदा जाय, तो वहाँ से समुद्र-जैसा खारा पानी निकलेगा. उसी प्रकार हरिभक्त हुए आसुरी जीव से यदि उसके स्वभाव के विपरीत थोड़ी भी छेड़छाड़ की जायगी तो वह अपने द्वारा पहले की गयी साधुजनों की सेवा से लाख गुना द्रोह करने पर उतारू हो जाता है. फिर भी उसके मन में सन्तोष नहीं होता.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! आपने ऐसा कहा है कि 'हरिभक्त हुए आसुरी जीव की रुचि के अनुकूल जब तक बर्ताव किया जाय तब तक तो वह सत्संगी रहता है और यदि उसकी इच्छा के अनुकूल कोई बात नहीं हुई, तो वह सत्संग से विमुख हो जाता है.' किन्तु, जब तक वह विमुख न हुआ हो और इस बीच यदि उसका शरीर छूट जाय तो वह

---

१. एक स्थावर विष जो पहाड़ी पौधे की जड़ है. इसे तेलिया, लींगिया और मीठा विष भी कहते हैं. इसे काकोल, गरल तथा दारद भी कहा जाता है.

आसुरी रहता है या दैवी बन जाता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'वह आसुरी जीव जब तक सदाचारी रहता है तब तक यदि उसका शरीरान्त हो जाय, तो वह दैवी बन जाता है और भगवान की भक्ति करके परमपद को प्राप्त करता है.'

नृसिंहानन्द स्वामी ने पूछा कि 'नवधा भक्ति में श्रेष्ठ भक्ति कौन-सी है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'नवधा भक्ति में से जिससे भी भगवान में दृढ़ स्नेह हो जाए, वही भक्ति उसके लिये श्रेष्ठ है.'

गोपालानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जिनकी [१]बाल्यावस्था अथवा युवावस्था हो उसे कैसे पुरुष का संग करना चाहिये ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो वयोवृद्ध भी हो तथा जिसमें धर्म, ज्ञान और वैराग्य दृढ़ हो तथा भगवान से प्रीति भी अटल हो, उस पुरुष का संग उन दोनों को स्नेहपूर्वक करना चाहिये.'

नाजा जोगिया ने पूछा कि 'एक भक्त का क्रोध द्वारा, दूसरे का भय से और तीसरे का स्नेह से भगवान में मन लगा हुआ है. इन तीनों में से कौन-सा भक्त श्रेष्ठ है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान में जिसका मन स्नेह से लग गया है, वही श्रेष्ठ है.'

शिवानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान का भक्त होने पर भी जिसे श्रीजीमहाराज के कथनुसार सार-असार का विवेक न हो और वैराग्य भी न हो, तो उसे वैसी विवेकशीलता तथा भगवान के सिवा अन्य वस्तुओं के प्रति वैराग्य-भाव कैसे हो सकता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'पहले से ही यदि भगवान से दृढ़ स्नेह हो जाय, तो विवेक एवं वैराग्य स्नेह के योग से प्रकट हो जाते हैं. जिसे जिस पदार्थ से लगाव हो जाता है उसे स्नेह या कामना कहा जाता है. जिस वस्तु से स्नेह हो जाय और उसमें यदि कोई बाधा उपस्थित करे तो उसके प्रति क्रोध उत्पन्न हो जाता है. वह मनुष्य शरीर में तो होता ही है, पशुओं को भी गुस्सा आ जाता है. जैसे कोई भैंसा कामनापूर्वक भैंस पर आसक्त हो

१. पन्द्रह वर्ष तक की किशोरावस्था.

जाय और उस समय यदि दूसरा भैंसा आ जाय तो वह उसे मार डालता है. इस प्रकार की स्थिति पशुपक्षियों में सर्वत्र दिखायी पड़ती है. उसी प्रकार जिसको भगवान से दृढ़ प्रीति हो जाय और तब कोई वस्तु यदि इस प्रीति में रुकावट डालने के लिये आवे, तो कुपित होकर उसका तत्काल त्याग कर डालता है. इसलिये, भगवान से यदि दृढ़ स्नेह हो जाय, तो वैराग्य एवं विवेक स्वयमेव उत्पन्न हो जाते हैं.'

शिवानन्द स्वामी ने पूछा कि 'दो भक्त हैं और वे दोनों ही बुद्धिशाली हैं. इनमें से एक भक्त तो परमेश्वर के वचनों को विश्वासपूर्वक यथावत् मान लेता है तथा दूसरा भक्त भगवान के वचनों का केवल उतना ही पालन करता है, जितना उसकी बुद्धि उसे मान्य करती है. तब इन दोनों में से कौन-सा भक्त श्रेष्ठ हो सकता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'विश्वास करनेवाला भक्त ही श्रेष्ठ है. यही बात रामकथा में रामचन्द्रजी ने कही है कि 'जो भक्त मुझ पर दृढ़ विश्वास के साथ निर्भर रहता है, उसकी रक्षा मैं उसी प्रकार करता हूँ, जिस तरह कोई माता अपने बच्चे की रक्षा करती है.' इसलिये, विश्वासी भक्त ही श्रेष्ठ है.'

आत्मानन्द स्वामी ने पूछा कि 'मन में तो यही निश्चय रहता है कि जीवनपर्यन्त हमें परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार चलना है. फिर भी ऐसा कौन-सा कार्य किया जाय, जिससे हम पर परमेश्वर तथा सन्त को विश्वास हो जाय ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'परमेश्वर तथा सन्त को तो विश्वास तब हो सकता है, जब बहुत ज्यादा बीमार रहने की स्थिति में अच्छी तरह सेवा-चाकरी न होने पर भी जो पुरुष न तो किसी को दोषी ठहराता है और न घबड़ाता ही है तथा परमेश्वर और सन्त द्वारा किसी दोष के बिना ही अपना अत्यन्त अपमान किये जाने पर भी उनके प्रति आक्रोश नहीं करता. तीसरा प्रकार यह है कि सत्संग के जितने नियम हैं, उनका यदि लेशमात्र भी उल्लंघन हो जाय, तो अत्यन्त दुःखी होकर उसका प्रायश्चित्त तत्काल कर डालता है. यदि मन में कोई कुसंकल्प उत्पन्न हो जाय, तो स्वयं को भी उतने ही दुःख एवं त्रास की अनुभूति होनी चाहिये, जितना कष्ट तथा दुःख किसी को देह से पंचव्रतों का भंग होने पर हुआ करता है. ऐसा होने पर ही परमेश्वर तथा सन्त को उस पर परिपूर्ण विश्वास हो सकता है कि 'यह

भक्त कभी भी सत्संग से विचलित नहीं होगा.'

भगवदानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जिस भक्त के मन में भगवान तथा उनके भक्तों की अखंड महिमा का भाव रहता है, वह दूसरों को कैसे प्रतीत हो सकता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसके मन में भगवान तथा भगवद्भक्तों की अखंड महिमा समायी रहती है, वह भगवान और उनके भक्तों की निष्कपट भाव से प्रीतिपूर्वक सेवा करता रहता है. वह समस्त सन्तों के चरणों में प्रणाम करता है. यदि कोई सन्त बीमार हो जाता है तो वह उनका सिर और पैर दबाता है और उनके खाने-पीने का ध्यान रखता है. उसके पास जब कभी कोई रुचिकर वस्तु आ जाती है, तब वह उसे सर्वप्रथम सन्त की सेवा में अर्पित करता है और इसके बाद ही उसे अपने काम में लेता है. इस प्रकार मन, कर्म तथा वचन द्वारा आचरण करनेवाले भक्त के *अन्तःकरण में ही भगवान तथा सन्त की महिमा अखंड रूप से बनी रहती है*, ऐसा समझना चाहिये.'

श्रीजीमहाराज ने सन्तों से प्रश्न पूछा कि '[१]धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्तिपूर्वक पूर्ण आचरण करने पर भी यदि धार्मिक व्यवहार में कोई शिथिलता रह जाय और वैराग्य में किसी जगह राग (आसक्ति) रह जाय, भक्ति में कुछ शिथिलता हो जाय तथा ज्ञान में भी कुछ देहासक्ति रह जाय, तो इसका क्या कारण हो सकता है ?'

गोपालानन्द स्वामी तथा ब्रह्मानन्द स्वामी ने कहा कि 'धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति का पूर्ण रूप से आचरण करनेवाले ईश्वरमूर्ति समर्थ पुरुष में भी अगर कोई खामी जैसी बात प्रतीत होती है, तो वह केवल दयार्द्रता के कारण रहती है, किन्तु दूसरी कोई कमी नहीं रहती. ऐसे महापुरुष यदि बाह्य दृष्टि रखकर बर्ताव करें, तो वे कितने ही जीवों को जड़भरत तथा शुकजी जैसा स्वरूप प्रदान कर सकते हैं. वस्तुतः ऐसे महापुरुष जीवों के प्रति दयाभाव रखने के कारण ही व्यावहारिक दृष्टि को अपनाये रहते हैं.' श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'इस प्रश्न का यही उत्तर है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१४॥ ॥२३७॥

---

१. परमात्मा के किसी भी एकान्तिक भक्त के लिये.

वचनामृत १५ : मानसी पूजा

सम्वत् १८८४ में आषाढ़ कृष्ण *त्रयोदशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने ठहरने के कक्ष के झरोखे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे और कंठ में मोगरा पुष्पों के हार पहने थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने मुक्तानन्द स्वामी से कहा कि 'आज तो हमने अपने रसोइया हरिभक्त के साथ बहुत बातचीत की.' मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज! क्या बात की ?' श्रीजीमहाराज बोले कि 'बात तो इस प्रकार की कि 'भगवद्भक्त जब भगवान की मानसी पूजा और ध्यान करने को बैठता है, उस समय सत्संग में आने से पूर्व उसके जीव को अशुभ देशकालादि के योग से पंचविषयों अथवा काम, क्रोध, लोभादि द्वारा पराजित होने के कारण उन विषयों की स्मृति [1]आ जाती है. जैसे कोई शूरवीर पुरुष संग्राम में घाव लगने के कारण घायल होकर लौटता है और खाट पर सो जाता है, किन्तु उसे घावों से होनेवाली पीड़ा तब तक दूर नहीं होती और नींद नहीं आती, जब तक उसके घावों पर लगायी गयी पट्टियों का अच्छा असर नहीं पड़ जाता. जब बाँधी गयी पट्टियों से आराम मिल जाता है तब घावों से होनेवाली पीड़ा मिट जाती है और नींद भी आती है.

उसी तरह अशुभ देश, काल, संग और क्रिया के योग से जीव को लगे पंचविषयों के घावों में नवधा भक्ति में से जिस भक्ति के करने से पंचविषयों के दर्द का स्मरण भी नहीं होने पावे, तब यही समझ लेना चाहिये कि घावों की पट्टियाँ कारगर हैं. तब उस भक्ति को ही दृढ़ कर लेना चाहिये. ऐसी मानसी पूजा और नामस्मरण अपने इस भाव में रहकर ही करना चाहिये. उससे उसे अत्यन्त लाभ होता है.

यदि अपने को इस भाव से नहीं पहचाना गया, तो उसे उस घायल आदमी के समान ही, जिसे पट्टियों का मन चाहा असर नहीं पड़ने से आराम

---

* रविवार, २१ जुलाई, १८२७.

१. ९ प्रकार की इस भक्ति में से स्वयं को अतिप्रिय जिस भक्ति से जब असत्स्मृति का नाश हो जाता है, तभी ध्यान–पूजा का सुख प्राप्त होता है.

नहीं मिल पाता, भजनस्मरण में किसी भी प्रकार की सुखानुभूति नहीं हो सकती तथा पंचविषयों के भावों की पीड़ा भी नहीं मिट सकती. इसलिये, उस नवधा भक्ति में से जिस भक्ति के करने पर अपना मन भगवान में लग जाय और परमेश्वर के सिवा दूसरा कोई भी संकल्प नहीं रहे, तो उस हरिभक्त को समझ लेना चाहिये कि 'मेरा तो भक्ति का यही प्रकार है.' इसके पश्चात् उसे इस तरह की भक्ति को ही महत्त्व प्रदान करना चाहिये. यह सिद्धान्त वार्ता है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥१५॥ ॥२३८॥

वचनामृत १६ : पतिव्रता स्त्री

सम्वत् १८८४ में आषाढ़ कृष्ण *अमावास्या को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढड़ा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कंठ में मोगरा-पुष्पों के हार पहने थे और पाग में झुके हुए तुर्रे लगे हुए थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'समस्त मुनिमंडल तथा सभी गृहस्थ हरिभक्तों से हम प्रश्न पूछते हैं. जो भक्त उत्तर दे सकते हों उन्हें इसका जवाब देना चाहिये. प्रश्न यह है कि 'भगवान के भक्त को अवगुणी पुरुष का परित्याग करने में कुछ भी देर नहीं लगती, परन्तु जिसमें अधिकाधिक सद्गुण हों, उसका किस प्रकार परित्याग किया जाय. जिस पुरुष में सद्गुण होते हैं, भले ही वह अपना सम्बन्धी हो या अन्य कोई गुणवान व्यक्ति, उसके साथ सहज ही प्रीति हो जाती है. उन गुणों के योग से होनेवाला प्रेम कभी भी मिटाये नहीं मिट सकता. इसलिये, भगवद्भक्त को भगवान के सिवा दूसरी जगह कहीं किसी भी गुणवान के साथ प्रीति न हो सके, ऐसा कौन-सा उपाय है ?' तब बड़े-बड़े सन्तों ने अपने-अपने विवेक के अनुसार उसका उत्तर दिया, परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान नहीं हुआ.

श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'इसका हम उत्तर देते हैं कि कोई भी पतिव्रता स्त्री अपने कंगाल, कुरूप, रोगी या वृद्ध पति के होने पर भी अन्य

---

* मंगलवार, २३ जुलाई, १८२७.

धनी, रूपवान और यौवनवान पुरुष को देखकर उसके प्रति तनिक भी आकृष्ट नहीं होती. यदि कोई पतिव्रता स्त्री परपुरुष के सामने भावुकतापूर्वक देखती है अथवा उससे हँसकर बोलती है, तो उस कारण उसका पतिव्रत धर्म नष्ट हो जाता है. यदि उस पतिव्रता के घर पर कोई अतिथि आया हो तो उसे और अपने पति के सम्बन्धीजनों को पति से सम्बन्धित समझकर ही अन्न-जल प्रदान करती है, किन्तु वह अपने पति के समान परपुरुषमात्र के साथ लेशमात्र भी प्रीति नहीं करती तथा अपने पति के सदृश अन्य पुरुष का गुण भी ग्रहण नहीं करती और पति की इच्छा के अनुसार आचरण करती है. इस प्रकार, पतिव्रता स्त्री की अपने पति के प्रति दृढ़ निष्ठा बनी रहती है.

इसी प्रकार, भगवद्भक्त को भी भगवान में दृढ़ निष्ठा रखनी चाहिये और जिस रूप में स्वयं को भगवान के दर्शन हुए हों, उनके साथ जिसे पतिव्रता जैसी दृढ़ प्रीति हो गयी हो, वह तो उन भगवान के अतिरिक्त अन्य बड़े-बड़े साधुओं और अपने इष्टदेव भगवान के अन्य अवतारों के प्रति श्रद्धा नहीं करता. उसे तो केवल भगवान के उस स्वरूप में ही तन्मयता बनी रहती है, जिसकी उसे प्राप्ति हुई है और वह उनकी इच्छा के अनुसार ही आचरणशील रहता है.

यदि वह दूसरों को कुछ मानता भी है, तो केवल इसी दृष्टि से कि वे भी भगवान के हैं. जिस पुरुष को अपने इष्टदेव भगवान में पतिव्रता-जैसी भक्ति रहती है, उसे तो अन्य गुणवान को देखने पर भी उसके साथ स्नेह नहीं रहता. हनुमानजी रघुनाथजी के भक्त रहे हैं. यद्यपि रामावतार के बाद भगवान के अन्य कितने ही अवतार हुए हैं, फिर भी हनुमानजी पतिव्रता के समान रामचन्द्रजी की ही भक्ति करते रहते हैं. इसलिये, हनुमानजी की भक्तिनिष्ठा पतिव्रता जैसी है. भगवान के जिस भक्त की ऐसी आस्था बनी रहती है, उसे पतिव्रता सदृश भक्ति कहा जाता है. जिसका ऐसा स्वरूप न हो उसे तो व्यभिचारिणी-जैसी भक्ति कहा जाता है. अतएव, ऐसी भक्ति नहीं करनी चाहिये, जिससे अपने पर कलंक लगे. भगवान के भक्त को तो पतिव्रता स्त्री के समान ही दृढ़ भक्ति करनी चाहिये.' ।। इति वचनामृतम् ।।१६।। ।।२३९।।

वचनामृत १७ : भरतजी का आख्यान

सम्वत् १८८४ में श्रावण शुक्ल *षष्ठी को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे और पुष्पों का हार पहना था. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'श्रीमद्भागवत में वर्णित भरतजी का आख्यान जितना चमत्कारी है वैसी कोई अन्य कथा चमत्कारपूर्ण नहीं है, क्योंकि भरतजी ऋषभदेव भगवान के पुत्र थे और भगवान के लिये समस्त राज्य का परित्याग करके वन में चले गये थे. वहाँ भगवान का भजन करते समय उन्हें मृगी के बच्चे से स्नेह उत्पन्न हो गया. तब उनकी मनोवृत्ति मृग के आकारवाली हो गयी. यद्यपि वे महापुरुष थे, तो भी पापवश उनका जन्म मृग के रूप में हुआ.

यद्यपि अनेक प्रकार के पाप हैं, फिर भी इन सब पापों में घोरतम पाप भगवद्भक्त द्वारा भगवान को छोड़कर अन्यत्र स्नेह करना है. यह अत्यन्त जघन्य पाप है. इस कारण, विवेकशील भक्त जब भरतीजी की कथा पर विचार करेगा तब वह भयाक्रान्त हो जायगा कि 'कदाचित् भगवान को छोड़कर कहीं दूसरे स्थान पर स्नेहासक्ति न हो जाय.'

भरतजी महाराज ने जब मृग-शरीर को छोड़कर ब्राह्मण के घर में जन्म लिया, तब उन्होंने इस भय के कारण कि भगवान का त्याग करके कहीं दूसरे स्थान से मोह न हो जाय, न केवल सांसारिक व्यवहार में ही दिलचस्पी नहीं ली, वरन् वे जानबूझकर पागल आदमी के समान बर्ताव भी किया करते थे. फिर भी, भगवान के प्रति उनकी श्रद्धा अखंड ही बनी हुई थी.' इतनी बात कहने के बाद श्रीजीमहाराज वहाँ पधारे, जहाँ ठाकुरजी की आरती हो रही थी.

॥ इति वचनामृतम् ॥१७॥ ॥२४०॥

---

* मंगलवार, ३० जुलाई, १८२७.

वचनामृत १८ : पूर्वजन्म के कर्म

सम्वत् १८८४ में श्रावण कृष्ण *दशमी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. पाग में फूलों के तुर्रे लटक रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज के भतीजे रघुवीरजी ने प्रश्न पूछा कि 'जाग्रत अवस्था में जीव की जैसी स्थिति रहती है, वैसी दशा स्वप्नावस्था में क्यों नहीं रहती ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जाग्रत अवस्था में जीव जिस रूप में रहता है, वैसी ही स्थिति स्वप्नावस्था में भी रहती है, क्योंकि जाग्रत अवस्था में जीव की वासना जिस प्रकार की रहती है, उसी की [१]स्फुरणा स्वप्नावस्था में भी होती है.'

निर्लोभानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! स्वप्नावस्था में तो ऐसे तत्त्व स्फुरित होते रहते हैं, जो जाग्रत अवस्था में न तो कभी भी दिखायी ही पड़ते हैं और न उनके सम्बन्ध में कुछ सुनायी ही पड़ता है. उसका क्या

---

* शनिवार, १७ अगस्त, १८२७.

१. अभिप्राय यह है कि जीव की तीनों ही अवस्थाएँ त्रिगुणात्मक हैं तथा सतोगुण आदि में से प्रत्येक गुण भी पृथक्-पृथक् अन्य गुणों से मिश्रित रहता है, अर्थात् सतोगुण रजोगुण एवं तमोगुण से, रजोगुण तमोगुण तथा सतोगुण से और तमोगुण सतोगुण एवं रजोगुण से मिला हुआ है. स्वप्नसंज्ञित अवस्था रजोगुणात्मक होती है, जिसमें तमोगुण एवं सतोगुणमिश्रित रजोगुण का प्राधान्य रहता है. इस प्रकार, जिसमें तमोगुण सतोगुणमिश्रित रजोगुण की प्रधानता रहती है, वहाँ स्वप्नावस्था में कदाचित् तमोगुण का आधिक्य सतोगुण की अपेक्षा अत्यन्त घनीभूत रहता है. इसके फलस्वरूप जीव अनुभूत स्वप्न का भी वर्णन नहीं कर सकता. कदाचित् स्वप्नावस्था में सतोगुण की अधिकता रहने से जीव की स्थिति जाग्रत अवस्था सदृश रहती है, किन्तु स्वप्न में अनुभूत अर्थ की स्मृति क्रमिक रूप से होती है. स्वप्नावस्था में प्रायः रजोगुण की प्रबलता रहने के कारण भ्रान्तिमय स्थिति बनी रहती है, जिसके परिणामस्वरूप जीव की जाग्रत अवस्था-सदृश दशा नहीं रहती.

कारण होगा ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो अनदीखे-अनसुने तत्त्व स्फुरित होते रहते हैं, उनका सम्बन्ध पूर्वजन्म में किये गये कर्मों की वासना के साथ है.'

अखंडानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! इस जीव के भगवद्भक्त हो जाने पर भी पूर्वजन्म के कर्मों की प्रबलता कब तक बनी रहती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'सत्पुरुषों के साथ जब इस जीव का संग हो जाता है तथा जैसे-जैसे समागम होता जाता है, वैसे-वैसे पूर्वकर्मजन्य वासना क्षीण होती जाती है. इसके पश्चात् उसमें वह वासना ही नहीं रहती, जो जीव को जन्म-मरण के बन्धन में डाले रहती है. जिस प्रकार तीन-चार वर्ष पुराना धान खाया तो जा सकता है, किन्तु उसे यदि बोया जाय तो वह उग नहीं सकता, वैसे ही पूर्वकर्म सम्बन्धी वासना जब जीर्ण हो जाती है तब उसमें जीव को जन्म-मरण के बन्धन में डालने की क्षमता ही नहीं रहने पाती.

तब कोई भी पुरुष यह पूछ सकता है कि 'वासना जीर्ण हो गयी, यह बात समझ में कैसे आ सकती है ?' इसके लिये यह दृष्टान्त है कि जब तक कई पुरुष ढाल-तलवारें लेकर आमने-सामने लड़ते रहेंगे और एक दूसरे के सम्मुख ज्यों के त्यों खड़े रहेंगे तब तक उन दोनों का बल बराबर दिखायी पड़ेगा, किन्तु जब किसी भी एक पुरुष का पैर पीछे हटता दीख पड़ेगा तब उसे हारा हुआ समझा जायगा, वैसे ही भगवद्भक्त में जब तक भगवान तथा विषय सम्बन्धी संकल्प समान रूप से बने रहेंगे तब तक यही समझना चाहिये कि वासना बलवती है, परन्तु जब भगवान सम्बन्धी संकल्प विषयमूलक संकल्पों को हटा देंगे तब ऐसा समझ लेना चाहिये कि 'वासना जीर्ण हो गयी है.'

श्रीजीमहाराज ने परमहंसों से प्रश्न पूछा कि 'यह बात अन्य समस्त भक्तों को किस प्रकार प्रतीत हो सकती है कि भगवान का भक्त देहाभिमान से मुक्त हो चुका है और पंचविषयों का अभाव भी हो गया है ?' मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'हे महाराज ! आपके इस प्रश्न का उत्तर हम नहीं दे सकते. इसलिये कृपया आप ही उत्तर दीजिये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि भगवान के गृहस्थाश्रमी अथवा त्यागी भक्त का देहाभिमान नष्ट हो गया हो और उसे पंचविषयों में भी आसक्ति

नहीं रह गयी [१]हो, तो भी उसे परमेश्वर की आज्ञा से यथोचित् देहाभिमान भी रखना चाहिये और यथेष्ट रूप से पंचविषयों का उपभोग भी करना चाहिये. यहाँ दृष्टान्त है-जैसे किसी अत्यन्त दुर्बल पशु को लकड़ियों का टेका लगाकर और सींग-पूँछ पकड़ कर खड़ा कर दिया जाय तो वह मनुष्य द्वारा सहारा दिये जाने तक खड़ा रह सकता है, किन्तु ज्यों ही वह आदमी उस जानवर को छोड़कर हट जायगा, त्यों ही वह जानवर जमीन पर गिर पड़ेगा, वैसे ही वासनारहित भक्त को परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार जितनी क्रिया करने की प्रेरणा प्राप्त हो तब तक वह उसमें प्रवृत्त रहता है और बाद में उसे छोड़ देता है.

जैसे किसी पुरुष के हाथों में तीर-कमान हो और वह जब तक उसे खींचता रहेगा तब तक यह धनुषबाण तना रहेगा और इसके बाद अगर उसने उसे खींचने में शिथिलता दिखायी तो वह ढीला पड़ जायगा, वैसे ही वासनारहित (निर्वासनिक) पुरुष परमेश्वर की यथेष्ट आज्ञा के अनुसार ही व्यावहारिक कार्य करता रहता है, किन्तु उनकी आज्ञा का उल्लंघन करके कोई भी कार्य नहीं करता, उधर वासनामग्न (सवासनिक) भक्त उस व्यवहार से स्वयं को मुक्त नहीं रख सकता, जिसमें वह स्वयं लगा हुआ है. इस स्थिति में वह परमेश्वर की आज्ञा से भी उससे नहीं छूट सकता. निर्वासनिक तथा वासनामग्न पुरुषों के यही लक्षण हैं.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१८॥ ॥२४१॥

वचनामृत १९ : त्यागी हरिभक्तों के दो कुलक्षण

सम्वत् १८८४ में श्रावण कृष्ण *त्रयोदशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया रखवा कर विराजमान थे. उनके कंठ में मोगरा और कर्णिकार पुष्पों के हार सुशोभित लग रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

---

* मंगलवार, २० अगस्त, १८२७.

१. उस भक्त की जो-जो क्रियाएँ हों, वे सभी भगवान की आज्ञा से ही होती है. इसलिये, उसे भगवान की आज्ञा के अनुसार ही समस्त क्रियाएँ करनी चाहिये, किन्तु अपनी इच्छा से कोई भी काम नहीं करना चाहिये.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिन हरिभक्तों ने संसार का त्याग कर दिया है, उनके दो कुलक्षण हैं, जो इस सत्संग में शोभा नहीं देते. इनमें से एक तो कामना है तथा अन्य कुलक्षण अपने कुटुम्बियों के प्रति स्नेह है. जिस पुरुष में ये दो कुलक्षण हों वह तो हमें पशु के समान प्रतीत होता [1]है.

उनमें भी जिसे अपने सम्बन्धियों के प्रति विशेष स्नेह रहता है, वह व्यक्ति हमें प्रिय नहीं लगता इसलिये, संसार का त्याग करनेवाले पुरुष को अपने सम्बन्धियों के साथ लेशमात्र भी स्नेह नहीं करना चाहिये, क्योंकि पंचमहापापों से भी बढ़कर घोर पाप सम्बन्धियों से स्नेह रखना है. अतएव, भगवान के त्यागी भक्त को देह तथा देह के सम्बन्धी से अपनी आत्मा भिन्न समझनी चाहिये कि 'मैं तो आत्मा हूँ और किसी के साथ मेरा लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है.' देह के सम्बन्धियों को चौरासी लाख योनियों में भटकते हुए जीवों के समान समझना चाहिये. यदि इन सम्बन्धियों को सत्संगी समझकर उनके महत्व का मूल्यांकन करते जायँ तो सम्बन्ध का स्नेह रहता है और उनके हरिभक्त होने की गौरव-गरिमा को समझने के बाद भगवान तथा भगवद्भक्त की अपेक्षा सम्बन्धी के साथ ही अधिक स्नहे हो जाया करता है. जिनमें स्वाभाविक स्नेह रहा है, ऐसे अपने सम्बन्धियों को यदि हरिभक्त समझकर उनके साथ स्नेह किया जायगा तो उसका जन्म भ्रष्ट हो जाता है.

भले ही देह का सम्बन्धी न हो, परन्तु जो अपनी सेवा-चाकरी करता हो, उससे भी स्वाभाविक स्नेह हो जाता है. इसलिये, विवेकशील भक्त को उस पुरुष के साथ भी, जो अपनी सेवा करता हो तथा हरिभक्त भी हो, स्नेह नहीं करना चाहिये. जैसे 'चीनीमिश्रित दूध में अगर साँप ने मुँह डाल दिया हो, तो उसे भी जहर कहा जायेगा, वैसे ही जिसमें सेवा-चाकरी के रूप में स्वार्थ रहा हो, उसके हरिभक्त रहने पर भी अपनी स्वार्थ-भावना से उसके साथ स्नेह नहीं करना चाहिये, क्योंकि उससे अपने जीव का बन्धन हो जाता है. अपने स्वार्थ का भी ध्यान रहने लगे तो उस कारण परमेश्वर के भजन में विघ्न पड़ जाता है. जिस प्रकार भरतजी को मृगी का बच्चा अविद्यामायारूप सिद्ध हुआ, उसी तरह भगवान के भजन में जो-जो वस्तु

---

१. इसलिये, मुमुक्षु त्यागी को आठ प्रकार से स्त्री का परित्याग कर देना चाहिये.

बाधक बने, भगवद्भक्त को उसे अविद्यारूप समझकर उसका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये.

सन्तमंडल तथा सांख्ययोगी हरिभक्तों को इस प्रकरण की इस वार्ता को प्रतिदिन कहना और सुनना चाहिये. जिसके मंडल में जो अग्रणी हो उसे प्रतिदिन यह वार्ता करनी चाहिये और अन्य साधुओं को भी इसे सुनना चाहिये. जो अग्रणी साधु जिस दिन यह वार्ता न कर सके उस दिन उसे उपवास करना चाहिये. यदि श्रोता भी श्रद्धापूर्वक भगवान की इस कथा को सुनने के लिये नहीं आवे तो उसे भी उपवास करना चाहिये. इस वचन का अत्यन्त दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥१९॥ ॥२४२॥

वचनामृत २० : 'स्वभाव वस्तुतः क्या है ?'

सम्वत् १८८४ में श्रावण कृष्ण *अमावास्या को रात्रि के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने ठहरने के स्थान में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष साधुओं तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

दीनानाथ भट्ट ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! [१]काल तो भगवान की शक्ति है तथा कर्म जीव द्वारा किये जाते हैं, परन्तु स्वभाव वस्तुतः क्या है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जीव ने पूर्वजन्म में जो कर्म किये हैं, वे परिपक्व अवस्था को प्राप्त होकर उसके साथ घुलमिल जाते हैं. जैसे लोहे में अग्नि का प्रवेश हो जाता है, वैसे ही परिपक्व बने हुए ये कर्म जब जीव के साथ घुलमिल जाते हैं तब उन्हें ही स्वभाव, वासना तथा प्रकृति कहा जाता है.'

मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! आप यह बताते हैं कि जीव के साथ एकरसता को प्राप्त हुए इन कर्मों को ही स्वभाव तथा वासना कहा जाता है. अब कृपया बताइये कि इस वासना को मिटाने का

---

* गुरुवार, २२ अगस्त, १८२७.

१. काल, कर्म और स्वभाव ही जीवों को सुख-दुःख की प्राप्ति में निमित्त कारण बन जाते हैं, उनमें.

कौन-सा उपाय है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस वासना को टालने का उपाय तो यही प्रतीत होता है कि आत्मनिष्ठासहित श्रीकृष्ण भगवान की भक्ति करनी चाहिये. यदि आत्मनिष्ठा के बिना ही भगवान की एकमात्र भक्ति की जायगी, तो भगवत्प्रेम के साथ-साथ अन्य पदार्थों से भी लगाव हो जायगा. इसलिये, आत्मनिष्ठापूर्वक भक्ति करनी चाहिये. वासना को टालने का यही उपाय है. यदि आत्मनिष्ठावाले पुरुष को भी कभी किसी अशुभ देशकालादि के योग से अज्ञानी के समान क्षोभ हो जाय, तो वह अधिक समय तक नहीं टिक सकता.' ॥ इति वचनामृतम् ॥२०॥ ॥२४३॥

वचनामृत २१ : निवृत्ति एवं प्रवृत्ति-धर्म

सम्वत् १८८४ में भाद्रपद शुक्ल *नवमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. कंठ में चमेली-पुष्पों के हार पड़े थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष समस्त मुनिमंडलों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने गोपालानन्द स्वामी तथा शुकमुनि को प्रश्नोत्तर-कार्यक्रम प्रारम्भ करने की आज्ञा दी. शुकमुनि ने गोपालानन्द स्वामी से पूछा कि 'भगवान की भक्ति द्वारा जीव परमेश्वर की माया से तर जाता है तथा अक्षरधाम को प्राप्त होता है और धर्माचरण से देवलोक की प्राप्ति होती है, किन्तु पुण्यों का क्षय होने पर जीव देवलोक से गिर जाता है. जब-जब धर्म का ह्रास होता है, तब-तब उसकी (धर्म की) स्थापना के लिये भगवान का अवतार होता है, किन्तु उनका अवतार भक्ति की स्थापना के लिये ही नहीं होता. तथापि, जो प्राप्ति भक्ति द्वारा होती है, वह धर्म द्वारा मालूम नहीं पड़ती. अतएव, प्रश्न यह है कि भक्ति-सदृश महत्ता धर्म में किस प्रकार आ सकती है ?'

गोपालानन्द स्वामी इस प्रश्न का उत्तर देने लगे, परन्तु उन्होंने जो-जो

---

* शनिवार, ३१ अगस्त, १८२७.

बात कही उसमें यह बताया गया कि धर्म तो भक्ति का अंग हो जाता है, किन्तु किसी भी रीति से भक्ति के समान गौरव धर्म में नहीं आ पाता.

इस बात को सुनकर श्रीजीमहाराज बहुत हँसे और बोले कि 'इस प्रश्न का उत्तर अधिक कठिन है. इसलिये हम इसका उत्तर देते हैं कि [१]यह धर्म दो प्रकार का है. इनमें से एक निवृत्ति धर्म तथा दूसरा प्रवृत्ति धर्म है. दोनों प्रकार का यह धर्म भगवान के सम्बन्ध से युक्त तथा उनके सम्बन्ध से रहित भी है. भगवान के सम्बन्ध से संयुक्त धर्म नारदसनकादि, शुकजी, ध्रुव, प्रह्लाद तथा अम्बरीष आदि भक्तों का है. इसी धर्म को भागवत् धर्म तथा एकान्तिक धर्म कहा जाता है. वास्तव में यह धर्म और भक्ति दो नहीं, बल्कि इसका एक ही प्रकार है. जिस धर्म की स्थापना के लिये भगवान के अवतार होते हैं, वही इस धर्म को स्थापित करने के लिये भी होते हैं.

जो केवल वर्णाश्रम सम्बन्धी धर्म हैं, वे तो भागवत धर्म की अपेक्षा अत्यन्त गौण हैं. भागवत धर्म द्वारा जीव भगवान की माया से तरकर पुरुषोत्तम के धाम को प्राप्त होता है. इसलिये, भागवत धर्म तथा भक्ति का गौरव एकसमान है और प्राप्ति में भी समानता है. इस प्रकार भक्ति एवं धर्म की समान महत्ता है, किन्तु वर्णाश्रम सम्बन्धी जो धर्म हैं, वे तो उससे अत्यधिक दुर्बल हैं और उनका फल भी नाशवान होता है.

हमारा मत भी यही है कि 'भगवान तथा उनके एकान्तिक भक्त के बिना यदि किसीसे स्नेह किया जाय तो भी वह नहीं होता.' हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि 'जड़भरत, शुकदेव, दत्तात्रेय तथा ऋषभदेव भगवान के समान हमारी जीवनपद्धति के द्योतक हैं.' इसलिये, हमें भी वन में और पर्वतों पर रहना अच्छा लगता है, परन्तु बड़े-बड़े नगरों में निवास करना रुचिकर नहीं लगता. ऐसा हमारा सहज स्वभाव है. तथापि, भगवान और उनके भक्तों के लिये लाखों लोगों की भीड़ में रहने पर भी वहाँ हमारा वन-जैसा उन्मुक्त निवास होता है. हम अपने स्वार्थ के लिये नहीं, बल्कि भगवान तथा भगवद्भक्तों के लिये लाखों लोगों की भीड़ में रहते हैं. भगवान के भक्तों के लिये हमारी चाहे कितनी ही प्रवृत्ति रहे, तो भी उसे हम निवृत्ति ही मानते हैं.

---

१. जो धर्म है, वह जगत को धारण करनेवाला है. इसलिये, उसका रक्षण करने से समस्त जगत की रक्षा होती है.

भगवान के भक्त में चाहे कितने ही दोष हों, हम उसकी उपेक्षा नहीं करते. हम तो ऐसा जानते हैं कि भगवान के भक्त में यदि कुछ स्वाभाविक अल्प दोष हो तो भी उस पर ध्यान नहीं देना चाहिये. वह दोष यदि अपने में हो तो उसे मिटाने का उपाय करना चाहिये. किन्तु, भगवान के भक्त में यदि उस प्रकार का दोष है, तो भी उसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये. पंचव्रतो में जो मुख्य निष्काम व्रत है उसमें यदि किसीसे कोई त्रुटि हो जाय, तभी उसका दोष समझना चाहिये. भगवद्‌भक्त में केवल अल्पदोष होने पर ही उसे अवगुणों से परिपूर्ण नहीं समझना चाहिये.

भगवान के भक्तों को वादविवाद में जीतकर प्रसन्न नहीं होना चाहिये. उनसे तो हारकर ही खुश होना चाहिये. जो पुरुष वादविवाद द्वारा भगवान के भक्त को जीत लेता है, वह तो पंचमहापापों के करनेवालों से भी अधिक पापी होता है. यदि कोई भी पुरुष हमारे सामने भगवान के भक्त के प्रति निन्दावचन बोलता है, तो उसे देखना भी हमें अच्छा नहीं लगता. यदि कोई मनुष्य भगवद्‌भक्त को बुरा समझता है, तो हमें उसके हाथ का अन्न जल भी नहीं भाता. यदि दैहिक सम्बन्धी होने पर भी कोई पुरुष भगवान के भक्त को दोषमय देखता है, तो उससे भी अत्यन्त खिन्नता हो जाती है, क्योंकि हम तो जब आत्मा हैं तब देह और उसके सम्बन्धियों से स्नेह क्यों रखें ? हमने आत्मसत्तारूप रहकर भगवान तथा भगवद्‌भक्तों के साथ स्नेह किया है, परन्तु देहबुद्धि से प्रीति नहीं की है. जो भक्त आत्मसत्तारूप न रह सके, उसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरादि शत्रु पीडित करते रहते हैं. इसलिये, जो आत्मसत्तारूप रहकर भक्ति नहीं करते होंगे, उनके स्वरूप का तो इस सत्संग में रहस्योद्‌घाटन हुए बिना रहेगा ही नहीं, क्योंकि यह सत्संग तो अलौकिक है. जिस प्रकार श्वेतद्वीप, वैकुंठ तथा गोलोक में भगवान के पार्षद हैं. उसी तरह ये सब सत्संगी हैं. हम तो सबसे परे रहनेवाले दिव्य अक्षरधाम में भगवान के पार्षद हैं. यदि हम उनके समान इन सत्संगियों को नहीं मानते हों, तो हमें भगवान तथा उनके भक्तों की शपथ है.

जिसे ज्ञान, वैराग्य, धर्म तथा भक्ति में अत्यन्त दृढ़ता नहीं रहती, वह तो अन्त में जरूर शिथिल पड़ जायगा. जिस प्रकार मोममिश्रित डोरा शीतकाल तथा वर्षाकाल में कड़ा बना रहता है, किन्तु उष्णकाल के आने पर जरूर ढीला पड़ जाता है, उसी तरह यहाँ पर हरिभक्त के लिये सभी

प्रकार के सुख उपलब्ध रहने और सत्संग में भी सम्मान होते रहने के सदृश वर्षाकाल तथा शीतकाल में तो ज्ञान, वैराग्य, धर्म एवं भक्ति, सभी बहुत अच्छे दिखायी पड़ते हैं, किन्तु सत्संग में अपमानित तथा शारिरीक रूप से दुःखी होने के समान स्वरूपवाले उष्णकाल में ज्ञान, वैराग्य, धर्म और भक्ति, सभी यदि मोममिश्रित डोरे की तरह ढीले पड़ जायँ, तो भी हम उसका त्याग नहीं करते, परन्तु वही स्वयमेव निराश्रित होकर सत्संग से बाहर जाता है. इसके बाद भी वह यदि सत्संगी कहलाता हो तो भी उसे अन्तःकरण में सत्संग सम्बन्धी सुख नहीं मिलता.

इसलिये, आत्मसत्तारूप होकर सत्संग अत्यन्त दृढ़ता के साथ करना चाहिये. किन्तु, ऐसा सत्संग नहीं करना चाहिये कि देह और उसके सम्बन्धियों के साथ स्नेह बना रहे. जैसे बनाया हुआ सोने का तार सभी छह ऋतुओं में एकसमान रहता है और ग्रीष्मकाल की धूप से ढीला नहीं होता, वैसे ही दृढ़ सत्संग करनेवाले पर चाहे कैसे ही दुःख आ पड़ें और सत्संग में चाहे कितना ही अपमान हो, फिर भी किसी भी ढंग से उसका मन सत्संग विचलित नहीं होता. इस प्रकार के दृढ़ सत्संगी वैष्णव ही हमारे सगे-सम्बन्धी हैं. वे ही हमारी ज्ञाति के भी हैं. हमें इस देह से भी ऐसे वैष्णवों के संग में रहना है तथा श्रीकृष्ण भगवान के धाम में भी इन वैष्णवों के साथ ही निवास करना है. ऐसा हमारा निश्चय है. आपको भी इसी प्रकार का निश्चय करना चाहिये. चूंकि आप अब हमारे आश्रित हैं, इसलिये हमें भी आपके हित की बात कहनी चाहिये. वास्तव में मित्र भी उसीको समझना चाहिये, जो 'दुःखदायी होने पर भी अपने हित की बात कह दे.' मित्र का यही लक्षण है, यह समझ लीजिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥२१॥ ॥२४४॥

वचनामृत २२ : सखी-सखा भाव

सम्वत् १८८४ में भाद्रपद कृष्ण *चतुर्थी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. पाग में

* सोमवार, १ दिसम्बर, १८२७.

श्वेत पुष्पों के तुर्रे झुके हुए थे और कंठ में सफेद फूलों के हार सुशोभित हो रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. परमहंस दुक्कड़ और सरोद लेकर विष्णुपद गा रहे थे. उस समय श्रीजीमहाराज अन्तरसन्मुख दृष्टि करके विराजमान थे.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'प्रेमलक्षणाभक्तियुक्त इस कीर्तन में हरिभक्त का जैसा भाव बताया गया है वह तो झीणाभाई का भाव है तथा पर्वतभाई और मूलजी भी इसी प्रकार के भाववाले थे. इसलिये, हम अन्तरसन्मुख दृष्टि करके विचार कर रहे थे. सत्संग में दूसरे लोग भी ऐसे भाववाले होंगे. जिसे प्रेमलक्षणाभक्ति का भाव प्राप्त हो जाता है, उसकी पंचविषयों में प्रीति मिट जाती है तथा आत्मनिष्ठा रखे बिना ही बनी रहती है.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'नरसिंह मेहता तो सखीभाव से श्रीकृष्ण भगवान का भजन करते थे और नारद आदि कितने ही भगवद्भक्त तो दासभाव से भगवान का भजन करते हैं. दोनों प्रकार के इन भक्त में से किसकी भक्ति श्रेष्ठ समझी जानी चाहिये ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'नरसिंह मेहता, गोपियों और नारदसनकादि का भक्ति भाव दो प्रकार का नहीं, बल्कि एक ही तरह का [१]है. पुरुष तथा स्त्री, दोनों का शरीर मायिक और नाशवान है, किन्तु भजन करनेवाली जीवात्मा न तो पुरुष है और न स्त्री ही. वह तो आत्मसत्तामात्र चैतन्य है. जब वह देह का त्याग करके भगवान के धाम में जाती है तब परमेश्वर की इच्छा के अनुसार उसको आकार मिल जाता है अथवा ऐसे भक्त को भगवान की सेवा की जैसी रुचि मिलती है, तब वह वैसा आकार धारण करके भगवान की सेवा में तत्पर रहता है.

जिस भगवद्भक्त को भगवान से की जानेवाली प्रीति के समान अनुरक्ति यदि धन-स्त्री आदि में हो जाय तो उसे भगवान का दृढ़ भक्त नहीं कहा जा सकता.

यदि कोई पुरुष भगवान का भक्त होकर भी भक्ति करते समय जो पाप करता है और सत्संग में ही अगर दुर्वासना रखता है तो वह पाप

---

१. दोंनो प्रकार की भक्ति में क्रियाभेद होने पर ही प्रेम में भेद नहीं रहता.

उसके लिये वज्रलेप हो जाता है. यदि वह कुसंग में पड़कर परस्त्री का संग करता है, तो उसे उसकी भी अपेक्षा विशेष पाप सत्संग में भगवान के भक्त को कुदृष्टि से देखने के कारण लग जाया करता है. इसलिये, जिसे भगवान से दृढ़ प्रीति करनी हो, उसे तो किसी भी प्रकार की पाप-बुद्धि नहीं रखनी चाहिये, क्योंकि सत्संगी हरिभक्त अपनी माँ, बहन और पुत्री-जैसे हैं. वस्तुतः इस संसार में घोर पापी तो वह पुरुष है, जो अपने गोत्र की स्त्रियों के प्रति कुदृष्टि रखता है. इसलिये, हरिभक्त के प्रति कुदृष्टि रखनेवाला पुरुष निकृष्ट पापी है और उसका छुटकारा कभी भी नहीं हो सकता. जिसे रसिक भक्त होना हो, उसे इस प्रकार के पाप का परित्याग कर देना चाहिये. इसके बाद ही उसे रसिक भक्त होना चाहिये.

सब पापों में बड़ा पाप भगवान तथा उनके भक्तों के प्रति दोषबुद्धि है. उस दोषबुद्धि द्वारा भगवान और उनके भक्तों के साथ वैर-भाव उत्पन्न हो जाता है. कोटि गौहत्या, मद्यमांसभक्षण तथा असंख्य गुरुस्त्रीसंगजन्य पाप से तो कभी छुटकारा मिल भी सकता है, किन्तु भगवान तथा भगवद्‌भक्तद्रोही तो कभी भी पापमुक्त नहीं हो पाता. यदि वह पुरुष हो तो राक्षस हो जाता है और स्त्री राक्षसी हो जाती है. इसके बाद किसी भी जन्म में ऐसे जीव की असुरता नहीं मिटती, इस कारण वह भगवान का भक्त नहीं हो पाता. जिसने भगवान के भक्त का द्रोह करने की मनोवृत्ति अपनायी हो और यदि उसकी द्रोहबुद्धि परिपक्व हो गयी हो तो किसी भी स्थिति में यह नहीं मिटती. यदि वह द्रोह करने की प्राथमिक स्थिति में हो और यह मानता हो कि 'भगवान और उनके भक्त का द्रोह करके मैंने घोर पाप किया है, इस कारण मैं अत्यन्त नीच हूँ तथा भगवान एवं भगवद्‌भक्त तो बहुत बड़े हैं,' तो उसकी दशा में सुधार हो सकता है. इस प्रकार जो पुरुष भगवान और उनके भक्त की महत्ता को मान्य समझता है और अपने आप में दोष देखता है, तो उसके घोर से घोर पाप भी नष्ट हो जाते हैं.

भगवान अपने भक्त से द्रोह करनेवाले पर जितने क्रुद्ध और दुःखी होते हैं, उतना दुःख उन्हें किसी के अन्य पाप से नहीं होता. जब वैकुंठलोक में जय-विजय ने सनकादि का अपमान किया तब भगवान तत्काल सनकादि मुनियों के पास आये और वे उनसे इस प्रकार बोले कि 'आप-जैसे साधुओं का तिरस्कार करनेवाले तो मेरे शत्रु हैं. इसलिये, आपने जय-

विजय को शाप देकर बहुत अच्छा किया. यदि आप जैसे भगवदीय ब्राह्मणों का द्रोह मेरा हाथ भी करे तो मैं उस हाथ को भी काट डालूँगा, तब दूसरे की बात ही क्या कहनी है ?' वैकुंठनाथ भगवान ने सनकादि मुनियों को इस प्रकार संबोधित किया. उधर भगवदीय ब्राह्मणों का अपमान करने सम्बन्धी पाप के कारण जय-विजय दैत्य बन गये. इस प्रकार, जिन्होंने भगवान के भक्तों का द्रोह किया है, उन सबका उच्चपदों से पतन हो गया है, यह बात शास्त्रों में प्रसिद्ध है. इसलिये, आत्मकल्याण के इच्छुक पुरुष को भगवान के भक्त का द्रोह नहीं करना चाहिये. यदि जाने-अनजाने उसका कुछ भी तिरस्कार हो गया हो, तो उसके पैरों में पड़कर उससे प्रार्थना करनी चाहिये और जिस प्रकार वह प्रसन्न हो, वैसा आचरण करना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥२२॥ ॥२४५॥

वचनामृत २३ : पूजा-विधि

सम्वत् १८८५ में आश्विन शुक्ल *पूर्णिमा को रात्रि में स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने ठहरने के स्थान पर चौक में पलंग बिछवाकर उस पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज कृपा करके सब हरिभक्तों से बोले कि 'भगवान का जो भक्त हो उसे भगवान की नित्य मानसी पूजा करनी चाहिये. मानसी पूजा करने की विधि यह है कि ग्रीष्मकाल, शीतकाल तथा वर्षाकाल, इन तीनों ही ऋतुओं में भिन्न रूप से मानसी पूजा करनी चाहिये.

इनमें से ग्रीष्मकाल के चार मास तक पूजा करने का नियम यह है कि सर्वप्रथम अच्छे ठंड़े सुगन्धित पवित्र जल से भगवान को स्नान कराना चाहिये. इसके पश्चात् उन्हें धोया हुआ सफेद दुपट्टा (उपरणा), जो सुन्दर, महीन और अच्छी तरह बुना हुआ होना चाहिये, धारण करने के लिये अर्पित करना चाहिये. बाद में सुन्दर आसन पर विराजमान भगवान के प्रत्येक अंग में कटोरी में घिसकर रखा हुआ सुन्दर मलयगिरि-चन्दन लगाना चाहिये. यह

* गुरुवार, २२ अक्तूबर, १८२८.

चन्दन सबसे पहले भगवान के ललाट, करकमलों, हृदय, उदर, जांघ तथा पिंड़ली आदि अंगों में लगाना चाहिये. इसके पश्चात् इन समस्त अंगों के एकाग्र दृष्टि से दर्शन करने चाहिये. चरणारविन्दों के ऊपर और तलुओं में सुन्दर कुमकुम (रोली) लगानी चाहिये और दर्शन के बाद मोगरा, चमेली, गुलाब और चम्पा आदि सुगन्धित पुष्पों के हार, कंकण, बाजूबंद और टोपी आदि आभूषण उन्हें पहनाने चाहिये तथा मोगरे के पुष्पसमान सफेद, महीन, हलका वस्त्र उनके मस्तक पर धारण कराना चाहिये. इसके पश्चात् सफेद, महीन, हलकी, सुन्दर पिछौरी उन्हें ओढ़ानी चाहिये. बाद में भगवान से एक बार, दो बार और जिस प्रकार अपने अन्तःकरण में परमेश्वर की प्रेमभावना उत्पन्न हो वैसे आश्लेष (आलिंगन) करना चाहिये और भगवान के चरणारविन्दों को अपनी छाती में लगाना चाहिये तथा मस्तक के ऊपर धारण करना चाहिये. इस प्रकार, भगवान के अंगस्पर्श से उनके अंगों का चन्दन अपने अंगों में लग जाय तथा भगवान के चरणारविन्दों को अपनी छाती में लगाने और मस्तक पर धारण करने से जो कुमकुम (रोली) लगे तथा पुष्पहारों के चिह्न आदि अपने जिस-जिस अंग में लगें, उनकी धारणा करते हुए ऐसा समझना चाहिये कि 'भगवान का प्रसादी चन्दन, कुमकुम और हारों का स्पर्श मेरे अंगों से हुआ है.'

शीतकाल के चार महीने तक पूजा का क्रम इस प्रकार रखना चाहिये - सबसे पहले भगवान को गरम जल से स्नान कराना चाहिये. उसके बाद सफेद दुपट्टा धारण करने के लिये अर्पित करना चाहिये. बाद में पलंग पर मखमल का गद्दा फैलाकर सफेद चादर बिछानी चाहिये और वहाँ भगवान को विराजमान करना चाहिये तथा उन्हें पायजामा पहनाकर बगलबंडी पहनानी चाहिये. सुनहरे तारवाला कीमती कुसुम्भी रंगवाला साफा उनके मस्तक पर बाँधना चाहिये. कमर में करमबंद बाँधना चाहिये. कन्धे पर कीमती दुपट्टा धारण कराना चाहिये, हीरा-मोती, सोने और प्रवाल (मूँगा) के विभिन्न आभूषण प्रत्येक अंग में पहनाने चाहिये, मोतियों की माला पहनानी चाहिये तथा वस्त्र और अन्य गहने पहनाकर भगवान के इन अंगों के अच्छी तरह दर्शन करने चाहिये और उनके ललाट में कुमकुम का एक टीका लगाना चाहिये.

चौमासे के चार महीनों तक यह जानकर ऐसी पूजा करनी चाहिये कि

भगवान किसी गाँव से आये हैं और उनके सभी श्वेत वस्त्र भीग गये हैं अथवा वे परमहंसों के साथ स्नान के लिये जब नदी पर पधारे थे तब वहाँ से भीगकर आये हैं. इन भीगे वस्त्रों को उतार कर समस्त केशरिया रंगवाले वस्त्र पहनने के लिये अर्पण करने चाहिये और ललाट में पीले केशर-चन्दन का लेप करना चाहिये. यदि ग्रीष्मकाल हो तो ऐसी धारणा करनी चाहिये कि भगवान खुले चौक और बगीचे में विराजमान हैं, यदि शीतकाल तथा चातुर्मास हो तो मकान की अच्छी मंज़िल में या घर के भीतर विराजमान हैं.

भगवान को भोजन कराने के लिये उनकी सेवा में वे ही भक्षण, खाने, चाटने और चूसने योग्य पदार्थ ही अर्पित करने चाहिये और उनका चिन्तन करना चाहिये, जो अपने मन के लिये खाने में रुचिकर प्रतीत होते हों. यदि ये पदार्थ भगवान के लिये रुचिकर न लगते हों तो भी उन्हें अपने लिये पसन्द आनेवाला भोजन ही परोसने पर ध्यान देना चाहिये तथा धूप, दीप और आरति के उपचार द्वारा भगवान की यथेष्ट सेवा करनी चाहिये. इस प्रकार तीनों ऋतुओं में यदि भिन्न रूप से पूजा की जाय तो उस भक्त का भगवान के प्रति प्रेम बढ़ता है तथा उसका जीव परिपुष्ट होता है. जिसने यह वार्ता सुनी है उसे इसको हृदयंगम कर लेना चाहिये और नित्य इसी प्रकार भगवान की मानसी पूजा करनी चाहिये. ऐसी वार्ता हमने कभी भी नहीं की.'

श्रीजीमहाराज ने एक दूसरी बात यह कही कि 'जब भगवान तथा उनके भक्त अपने पर प्रसन्न हो जायँ तब उस भक्त को ऐसा मानना चाहिये कि 'मेरा यह सौभाग्य है कि मुझ पर भगवान तथा उनके भक्त प्रसन्न हुए हैं.' उपदेश के दरम्यान यदि भगवान और उनके भक्त उससे कटु वचन बोलें तो ऐसा समझना चाहिये कि 'मेरा सौभाग्य है कि मुझे भगवान और उनके भक्तों ने कटु वचन बोले. इससे तो मेरा अवगुण नष्ट हो जायगा.' इस तरह कटु वचन बोले जाने पर भी प्रसन्न रहना चाहिये, परन्तु दुःखी और खिन्न नहीं होना चाहिये. अपने जीव को अति पापी नहीं मानना चाहिये और प्रसन्न रहना चाहिये. यह बात भी मनन करने योग्य है.'

।। इति वचनामृतम् ।।२३।। ।।२४६।।

वचनामृत २४ : सोलह साधन

सम्वत् १८८५ में आश्विन कृष्ण *द्वादशी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष साधुजनों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज से मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'भगवान के भक्त अक्षरधाम में भगवान की सेवा में रहते हैं, उस सेवा की प्राप्ति के कौन-से साधन हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'श्रद्धा, स्वधर्म, वैराग्य, समस्त प्रकार से इन्द्रिय-निग्रह करना, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, साधु-समागम, आत्मनिष्ठा, माहात्म्यज्ञानयुक्त भगवान की निश्चल भक्ति, सन्तोष, निर्दम्भता, दया, तप, अपनी अपेक्षा अधिक गुणवाले भगवद्भक्तों के प्रति गुरुभाव रखना और उन्हें महत्व प्रदान करना, अपनी कोटि के भगवद्भक्तों में मित्रभाव रखना, अपने से कम उम्र के छोटे भगवद्भक्तों में शिष्यभाव रखना और उनका हितसाधन करना, ये सोलह साधन हैं, जिनके द्वारा भगवान के एकान्तिक भक्त अक्षरधाम में भगवान की सेवा को प्राप्त करते हैं.'

शुकमुनि ने प्रश्न पूछा कि 'अपने समस्त सन्त पंचव्रतों का पालन तो करते ही रहते हैं, फिर भी इनके सम्बन्ध में ऐसा कौन-सा लक्षण है, जिससे यह जानकारी मिल सके कि अपने आपत्तिकाल में भी वे धर्म से विचलित नहीं होंगे ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान के छोटे-बड़े वचनों पर जिसकी दृष्टि निरन्तर रहती है, किन्तु उनका (वचनों का) उल्लंघन करना अत्यन्त कठिन मालूम पड़े और आज्ञा-पालन करने में अतिरेकता न करे, उसके सम्बन्ध में यह जान लेना चाहिये कि वह आपत्तिकाल में भी धर्म से विचलित नहीं होगा.'

श्रीजीमहाराज ने कृपा करके पुनः यह वार्ता कही कि 'प्रकृति को टालना जीव के लिये अत्यन्त कठिन रहता है. फिर भी, सत्संग में यदि-

---

* बुधवार, ४ नवम्बर, १८२८.

स्वार्थ दिखायी पड़ता हो तो प्रकृति के टालने में कोई कठिनाई नहीं होती. जैसे दादाखाचर के घर में रहनेवाले मनुष्यों का हमको रखने में स्वार्थ है, इस कारण वे ऐसी प्रकृति नहीं रखते, जो हमें पसन्द न हो. वैसे ही, स्वार्थ द्वारा भी प्रकृति टल जाती है तथा भय द्वारा भी उसे टाल दिया जाता है, परन्तु वह बहुत ज्यादा नहीं टलती, क्योंकि जब कोई मनुष्य उपस्थित होता है तब उसका भय बना रहता है और उसके न रहने पर डर भी नहीं रहता, जिस प्रकार राजा के भय से चोर अपनी प्रकृति का परित्याग कर देता है.

जिसके स्वभाव में हमारे द्वारा कठोर वचनरूपी डंक मारे जाने पर जो असन्तुष्ट होने पर भी पीछे न रहा हो, उस पर तो हमारा इतना स्नेह बना रहता है कि जाग्रत और स्वप्नावस्था में वह ध्यान न देने पर भी यथावत् रहता है और किसी भी स्थिति में वह स्नेह नहीं मिटता.

हरिभक्तों के जो भाव हैं उनमें से एक उत्तम भाव का वर्णन हम करते हैं. दादाखाचर विश्वास के भाव, राजबाई त्याग के भाव, जीवुभाई श्रद्धा के भाव, लाडुबाई हमारी प्रसन्नता रखने के भाव, नित्यानन्द स्वामी हमें प्रसन्न करने के भाव, ब्रह्मानन्द स्वामी सत्संग की मर्यादा का किसी भी प्रकार से भंग न होने देने के भाव, मुक्तानन्द स्वामी हमें सन्तुष्ट रखने और हमारे प्रति विश्वास रहने देने के भाव, सोमला खाचर सदा एकसमान रहन-सहन के भाव, चैतन्यानन्द स्वामी किसी भी प्रकार से महाराज को प्रसन्न रखने के उपयुक्त आचरण करते रहने के भाव, स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी का भगवान के स्वरूप का दृढ़ निश्चय तथा माहात्म्य का भाव, ठाकुर झीणाभाई का 'भगवान को छोड़कर मेरा भाव अन्य पदार्थों से सम्बद्ध न हो जाय,' ऐसा भाव तथा बड़े आत्मानन्द स्वामी के हमारे वचनों का उल्लंघन न होने देने के भाव हैं.' इस प्रकार अनेक महान परमहंसों तथा हरिभक्तों के भाव कहे गये हैं.

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज इस प्रकार बोले कि 'यहाँ की अग्रणी तीन भक्त स्त्रियाँ तथा गोपालानन्द स्वामी, ब्रह्मानन्द स्वामी, मुक्तानन्द स्वामी, नित्यानन्द स्वामी, शुकमुनि, सोमलो खाचर तथा दादाखाचर आदि आप सब लोग पंचव्रतों का बहुत अच्छी तरह पालन करते हैं, तथापि देश, काल, संग एवं क्रिया में यदि विषमता उत्पन्न हो जाय तो वैसा का वैसा ही भाव नहीं रहने पाता, इस बात में कुछ भी सन्देह नहीं है. यदि मन कदाचित् विषयों

से आबद्ध हो गया हो तो भी जिसमें जितना अधिक ज्ञानांश रहता है उसके माध्यम से वह विषयों के बन्धन को तोड़कर निकल जाता है.

वह ज्ञानांश क्या है ? उसके सम्बन्ध में तो ऐसा ज्ञान होता है कि 'मैं जो जीव हूँ वह ऐसा हूँ तथा यह देह ऐसी है और देह के सम्बन्धी ऐसे हैं तथा प्रकृति, पुरुष, विराट, सूत्रात्मा एवं अव्याकृत का स्वरूप इस प्रकार का है और भगवान का धाम इस तरह का है.' इत्यादि ज्ञानांश की ग्रन्थि यदि अन्तःकरण में लग गयी हो और उसके पश्चात् यदि वैराग्य का उदय हो जाय तो उसे ही सच्चा वैराग्य कहा जा सकता है. ऐसे स्वरूपवाले वैराग्य से भिन्न अन्य वैराग्य तो दिखावटी ही रहता है, परन्तु उसमें बल नहीं रहता. बल तो ज्ञानांश से उत्पन्न वैराग्य में ही रहता है. जिस प्रकार दीपक की लौ (रोशनी) हवा लगने से बन्द हो जाती है तथा बड़वानल और मेघ में व्याप्त बिजली की अग्नि जल में रहने पर भी उससे अप्रभावित रहती है और प्रज्वलित होती रहती है, उसी तरह बिना ज्ञानांशवाला वैराग्य विषयों से सम्बद्ध रहने पर टिक नहीं पाता और ज्ञानांश द्वारा उत्पन्न वैराग्य विषयों से सम्बन्ध होने पर भी क्षीण नहीं पड़ता, किन्तु बड़वानल की अग्नि की तरह प्रज्वलित होकर कायम रहता है. आपके मन में इस प्रकार के ज्ञानांश की ग्रन्थि लग जाय, इसके लिये हम निरन्तर वार्ता करते रहते हैं, क्योंकि किसी वार्ता का प्रभाव पड़ने पर इस प्रकार की ग्रन्थि उत्पन्न हो सकती है. परन्तु, जो ऐसा न समझे और 'यह मेरी जाति, यह मेरी माँ, यह मेरा बाप, ये मेरे सम्बन्धीवाली अहंमन्यतायुक्त विचारधारा' रखे, उसे तो अतिप्राकृतमतिवाला नादान पुरुष ही समझा जाना चाहिये.'

श्रीजीमहाराज ने कृपा करके यह वार्ता कही कि 'मुमुक्षु को उत्कृष्ट गुण की प्राप्ति होने का क्या कारण है ?' उन्होंने बताया कि 'भगवान की कथा-वार्ता सुनने में जिसको जितनी प्रीति रहती है उसको जगत से उतना ही मोह हट जाता है तथा कामक्रोधलोभादि दोषों का नाश हो जाता है. किन्तु, जिसे कथा-वार्ता में आलस्य रहता है, उसके सम्बन्ध में तो ऐसी अटकलबाजी लगानी चाहिये कि 'उसमें महान गुण नहीं आयेंगे.' शास्त्रों में नव प्रकार की जो भक्ति बतायी गयी है, उसमें श्रवणभक्ति को प्रथम स्थान दिया गया है. इसलिये, श्रवणभक्तिवाले को प्रेमलक्षणापर्यन्त भक्ति के समस्त भाव प्राप्त हो जायेंगे.' श्रीजीमहाराज ने ऐसी वार्ता कही.

उसी दिन दोपहर के समय दादाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे के आगे जब समस्त परमहंस भोजन करने के लिये बैठे थे तब श्रीजीमहाराज नीमवृक्ष के नीचे पलंग बिछवाकर विराजमान थे.

श्रीजीमहाराज ने परमहंसों से यह वार्ता कही कि 'स्त्रियाँ हरिभक्त हैं, फिर भी उनका अधिक महत्व नहीं समझना चाहिये, क्योंकि इस महत्व के बहाने मन में उनका मनन होने से वे स्वप्न में आती हैं, इसलिये सबका समान रूप से महत्व समझा जाना चाहिये कि 'ये सब भगवान के भक्त हैं.' परन्तु, इस महत्व को न्यूनाधिक नहीं समझा जाय. यदि इस बात को न्यून महत्व दिया गया तो उससे विघ्न उत्पन्न हो जाता है. उसी प्रकार स्त्रियों को भी पुरुषों का महत्व समान रूप से समझना चाहिये. यदि वे ऐसा नहीं समझेंगी तो इस कारण स्त्रियों के लिये भी बड़ा विघ्न उपस्थित होता है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥२४॥ ॥२४७॥

वचनामृत २५ : भगवान की कृपा

सम्वत् १८८५ में कार्तिक शुक्ल *दशमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वारा के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने कृपा करके इस प्रकार वार्ता कही कि 'भगवान की भक्ति, उपासना, सेवा, श्रद्धा तथा धर्मनिष्ठा आदि के जो कार्य किये जायँ उनमें अन्य फल की इच्छा न रखी जाय.' ऐसी बात धर्मशास्त्रों में कही गयी है, सो तो ठीक है, परन्तु इतनी तो इच्छा रखनी चाहिये कि 'इसके द्वारा मुझ पर भगवान की कृपा हो जाय.' ऐसी इच्छा रखे बिना ही यदि कोई जीव भक्ति करेगा तो वह तमोगुणी कहलाता है. इसलिये, भगवान की भक्ति आदि गुणों द्वारा परमेश्वर के प्रसन्नतारूपी फल की इच्छा रखनी चाहिये. यदि कोई इसके बिना अन्य इच्छा रखता है तो उसे चतुर्धा मुक्ति आदि फल की प्राप्ति होती है.

---

* सोमवार, १६ नवम्बर, १८२८.

ऐसा भी नहीं समझना चाहिये कि जो अनेक उपचारों द्वारा भक्ति करता है उस पर भगवान प्रसन्न हो जाते हैं और गरीब पर प्रसन्न नहीं होते. यदि कोई गरीब श्रद्धापूर्वक जल, पत्र, फल, फूल भगवान के लिये अर्पित करता है तो वे इतने पर ही प्रसन्न हो जाते हैं, क्योंकि भगवान तो बहुत दयालु हैं. जिस प्रकार कोई पुरुष किसी राजा के नाम पर एक श्लोक की रचना करके उसके समक्ष प्रस्तुत करता है, तो राजा उसे गाँव दे डालता है, उसी प्रकार भगवान भी तुरन्त प्रसन्न हो जाते हैं.

भगवान का वास्तविक भक्त किसे कहा जाय ? अपनी देह में दीर्घकालीन रोग उत्पन्न होने तथा खाने के लिये अन्न और पहनने के लिये वस्त्र न मिलने आदि के रूप में चाहे कितना ही दुःख अथवा सुख प्राप्त होने पर भी जो पुरुष भगवान की उपासना, भक्ति, नियम तथा धर्म एवं श्रद्धा में लेशमात्र भी शिथिल नहीं पड़ता, किन्तु रत्तीभर आगे ही बढ़ जाता है. उसे ही सच्चा हरिभक्त कहा जाना चाहिये.'

इसके बाद श्रीजीमहाराज से राजबाई ने प्रश्न पुछवाया कि 'हे महाराज ! आप किस गुण के द्वारा प्रसन्न होते हैं और किस दोष के कारण अप्रसन्न हो जाते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इतने तो वचन में दोष हैं. वे कौन-से हैं ? यदि अपने अन्तःकरण में कुछ विशिष्ट आचरण की कोई बात हो तो उसके सम्बन्ध में हमसे एकबार कह देना कि 'हे महाराज ! आप कहें तो मैं इस प्रकार आचरणशील रहूँ.' परन्तु, यह बात बार-बार नहीं कहनी चाहिये कि 'हे महाराज ! मुझे इस प्रकार आचरणशील रहना चाहिये या इस तरह, यह आप मुझ से क्यों नहीं कहते ?' यह बात मुझे रुचिकर नहीं लगती. मुझे अपना इष्टदेव जानकर बार-बार मेरे वचनों पर प्रतिवचन कहें तो वह भी पसन्द नहीं आता. यदि किसी के साथ मेरे वार्तालाप के समय कोई बिना बुलाये ही बीच में बोल पड़ता है तो यह बात भी पसन्द नहीं लगती. भगवान का ध्यान, धर्मपालन तथा भक्ति आदि जो शुभ कार्य करने हैं उन्हें भी यदि भगवान पर डाल देता है, कि 'यदि भगवान ये कार्य करायेंगे तो होंगे,' तो उसे भी मैं नापसन्द करता हूँ. 'मैं ऐसा करूँगा, मैं इस तरह करूँगा,' इस प्रकार जो केवल अपने बल की ही डींग मारता है और भगवान का बल नहीं रखता, उसे हम पसन्द नहीं करते. जिस भक्त को अपनी वाणी

में निष्ठा की दृढ़ता न हो, वह तो हमें बिल्कुल पसन्द नहीं आता.

हमें ऐसा पुरुष भी पसन्द नहीं आता, जिसे व्यावहारिक कार्य सम्पन्न करने में लाज और आलस्य न रहे, किन्तु जो मनुष्य भगवान की वार्ता, कथा और कीर्तन करने में लज्जा अनुभव करता हो और आलस्य रखता हो तथा त्याग अथवा भक्ति या अपनी वाणी में किसी प्रकार का अहंकार रखता हो उसको भी हम पसन्द नहीं करते. हमें किसी भी जीव की यह बात भी पसन्द नहीं है कि जहाँ सभा हो रही हो वहाँ सबसे पीछे आकर बैठे, किन्तु उचित स्थान में न बैठे. हम उस भक्त को भी पसन्द नहीं करते, जो सभा में बैठे हुए प्रमुख लोगों को कोनी मारकर जगह करके स्वयं बैठ जाय.

हमें उन भक्त स्त्रियों का बर्ताव पसन्द है, जो अपने अंगों को ढाँक कर लज्जापूर्ण आचरण करती हैं और चलते समय नीची नज़र रखकर चलती हैं, परन्तु आँखें फाड़-फाड़कर नहीं देखतीं. यदि कोई स्त्रियाँ हमारे दर्शन करते समय आनेवाले किसी आदमी अथवा निकलनेवाले कुत्ते या ढोर (पशु) को, या होनेवाली खड़खड़ाहट की जगह को बार-बार दर्शन छोड़ कर देखती रहें, किन्तु एक ही दृष्टि से दर्शन न करें उन पर इतना क्रोध आता है कि 'क्या करें, साधु हो चुके हैं, नहीं तो इनकी किसी भी तरह भर्त्सना करते.' परन्तु, यह तो होता नहीं, क्योंकि किसी को प्रताड़ित करना साधु के लिये अत्यन्त अनुचित कार्य होता है.

जो पुरुष कपट रखता हो और अपने मन की बात को उपयुक्त व्यक्ति के सामने नहीं कहता हो, वह भी हमें पसन्द नहीं है. मान, क्रोध तथा किसी से दबकर क्यों रहना चाहिये ? अपने मन में जैसी विचारधारा हो वैसी बात दूसरे से दब करके नहीं कही जा सकती. ये तीनों बातें अत्यन्त बुरी हैं. हरिभक्तों में परस्पर समानता रहे, किन्तु एक-दूसरे की मर्यादा न रहें, यह भी बहुत खराब बात है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥२५॥ ॥२४८॥

वचनामृत २६ : भगवान की उपासना में तत्परता

सम्वत् १८८५ में कार्तिक शुक्ल *एकादशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के

* मंगलवार, १७ नवम्बर, १८२८.

मन्दिर में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने इस प्रकार वार्ता कही कि 'भगवान के समान सेवा करने योग्य सन्त कैसे होते हैं. जो सन्त इन्द्रियों तथा अन्तःकरण आदि के मायिक गुणों की क्रियाओं पर अंकुश रखते हैं, किन्तु उनसे पराभूत नहीं होते और भगवान सम्बन्धी क्रिया में जुटे रहते हैं तथा पंचव्रतों का दृढ़तापूर्वक पालन करके स्वयं को ब्रह्मरूप समझते हुए पुरुषोत्तम भगवान की उपासना में तत्पर रहते हैं, उन्हें मनुष्य और देव सदृश नहीं मानना चाहिये, क्योंकि वैसी क्रिया देवता और मनुष्य द्वारा नहीं हो पाती. ऐसे सन्त मनुष्य होने पर भी भगवान के समान सेव्य होते हैं. इसलिये, आत्म-कल्याण के इच्छुक भक्तों को ऐसे सन्तों की सेवा करनी चाहिये. स्त्रियों को इस प्रकार के साधुगुणोंवाली भक्त स्त्रियों की सेवा करनी चाहिये.'

श्रीजीमहाराज से आत्मानन्द स्वामी ने यह प्रश्न पूछा कि 'पंचव्रतों का पालन करने के इस सत्संग में चाहे कैसा भी जीव जब तक तल्लीन रहता है तब तक वह पंचविषयों के बन्धन में नहीं फँसता, तथापि देश-काल के किसी योग के कारण यदि उसे सत्संग से वंचित हो जाना पड़े, फिर भी पंचविषयों का बन्धन न रह सके, कृपया उसके लक्षण बताइये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसकी बुद्धि में धर्मांश विशेष रूप से विद्यमान हो तथा यह वास्तविकता रही हो कि 'इस लोक में जो पुरुष जिस प्रकार के शुभाशुभ कर्म करते हैं उन्हें उनके अच्छे-बुरे फल परलोक में अवश्य भोगने पड़ते हैं,' और जिसकी ऐसी दृढ़ मति एवं लज्जाशीलता हो कि 'इस लोक में अगर बुरे काम करेंगे तो लोगों के सामने क्या मुख दिखायेंगे,' ऐसा पुरुष चाहे जहाँ जावे तो भी उसे कोई पदार्थ और स्त्री आदि विषय बन्धन में नहीं रख सकते. यदि मायाराम भट्ट, मूलजी ब्रह्मचारी तथा निष्कुलानन्द स्वामी – जैसे भक्त हों तो स्त्रीधनादि का संयोग उपस्थित होने पर भी अपने मार्ग से विचलित नहीं हो सकते.

ऐसा भक्त हो और उसमें एकमात्र ऐसी आत्मनिष्ठा हो कि 'मैं तो आत्मा हूँ, ब्रह्म हूँ, इसलिये मुझे शुभ-अशुभ क्रिया बन्धनकारी नहीं हो सकती, मैं तो असंग हूँ, ऐसी समझ हो तथा ऐसी भी विचारधारा हो कि

वह 'भगवान की महिमा को बहुत समझता है और उसके सम्बन्ध में बहुत बातें करता है और ऐसा कहता है कि धर्म के विरुद्ध यदि कोई आचरण किया जायगा तो उसकी क्या मजाल है ? भगवान की बहुत बड़ी महिमा है.' (इस महिमा से धर्म के विरुद्ध किये हुए कर्म का नाश हो जायगा.) दो तरह के ऐसे जो भक्त होते हैं, उनमें दो प्रकार की जो कुत्सित विचारधारा है, वह धर्म का पालन करने में बड़ी विघ्नरूपी होती है.

इसलिये, इस प्रकार समझना उचित होगा कि 'आत्मनिष्ठा की भावना यथार्थ होनी चाहिये तथा भगवान के माहात्म्य को भी अच्छी तरह समझा जाना चाहिये और दृढ़ता के साथ निष्काम, निर्लोभ, निःस्वाद, निःस्नेह तथा निर्मान आदि धर्मों का पालन भगवान की प्रसन्नता के लिये किया जाना चाहिये.' यह भी समझना चाहिये कि 'यदि मैं इन धर्मों का पालन करूँगा तो मुझ पर भगवान अत्यन्त प्रसन्न हो जायेंगे. यदि धर्मपालन में किसी प्रकार की बाधा पड़ेगी तो मुझ पर भगवान अत्यधिक अप्रसन्न हो जायेंगे.' जिसके अन्तःकरण में इस प्रकार की दृढ़ ग्रन्थि हो जायगी तो वह भक्त कभी भी धर्मच्युत नहीं होगा. जो ऐसा भक्त होगा उसे कोई भी मायिक पदार्थ बन्धन में नहीं डाल सकता. यदि वह इस प्रकार की समझवाला न हो और दूसरा चाहे कैसा भी ज्ञानी हो अथवा भक्तिमान हो तो उसके द्वारा किये जानेवाले धर्मपालन में भी कोई न कोई व्यवधान अवश्य पड़ जायगा और मायिक पदार्थ बन्धनकारी अवश्य हो जायेंगे. यह एक सिद्धान्त-वार्ता है.'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने पुनः कृपा करके ऐसी वार्ता कही कि 'हमें अहंकार रुचिकर नहीं लगता, भले ही वह अहंकार भक्ति, त्याग, वैराग्य, ब्रह्म, ज्ञान तथा पंचव्रतों के पालन की भावना का ही क्यों न हो. हम इस प्रकार के अहंकार और दम्भ को पसन्द नहीं करते. इस दम्भ का स्वरूप यह है कि भले ही अपने हृदय में भगवान के स्वरूप का निश्चय, भक्ति और धर्म थोड़ा हो, किन्तु दूसरों के आगे अपनी महत्ता बढ़ाने की दृष्टि से इन सबको बढ़ाचढ़ा कर दिखाया जाय, तो यह बात हमें रुचिकर नहीं लगती.

हमें यह बात भी पसन्द नहीं है कि स्वयं को और भगवान को अभेदरूप में समझें. यह बात भी रुचिकर नहीं लगती कि कोई भी मनुष्य निर्धारित नियम को घड़ीभर में छोड़ दे और घडीभर तक उसका पालन

करता रहे. ऐसा शिथिल आचरण सह्य नहीं जाता. हमें यह बात भी पसन्द नहीं है कि कोई भी पुरुष भगवान की महिमा को तो बहुत बड़ा समझे और स्वयं को तुच्छ भी माने परंतु देह से भिन्न आत्मारूप स्वयं को न समझे.

अब हम उन बातों को बताते हैं, जो हमें रुचिकर लगती हैं. जो पुरुष भगवान की महिमा को तो यथार्थ रूप से समझता हो और अपनी देह से व्यतिरिक्त स्वयं की आत्मा को ब्रह्मरूप समझकर धर्म में दृढ़ निष्ठा रखता हो तथा भगवान की अचल भक्ति करता हो, फिर भी सत्संग में किसी सामान्य भक्त को, जिसे भगवान के सम्बन्ध में निश्चय तो हो, अपने से बड़ा समझे और स्वयं को उसके आगे अति तुच्छ मानता हो तथा वार्ता करने में अपने ज्ञान की महत्ता को किसी के भी आगे बिल्कुल प्रकट न करता हो, उसे हम बहुत ज्यादा पसन्द करते हैं.' इस प्रकार वार्ता करने के पश्चात् श्रीजीमहाराज अपने ठहरने के स्थान में पधारे.

॥ इति वचनामृतम् ॥२६॥ ॥२४९॥

वचनामृत २७ : सुखानुभूति

सम्वत् १८८५ में कार्तिक शुक्ल *पूर्णिमा को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने यह वार्ता कही कि 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध सन्बन्धी पंचविषयों से सम्बन्धित सुख दिव्यमूर्ति भगवान पुरुषोत्तम के सुखमय स्वरूप में से ही प्राप्त रहता है. भगवान की मूर्ति के दर्शन करते समय इस रूप का सुख प्राप्त होता है तथा स्पर्श आदि अन्य चार विषयों का आनन्द भी मिलता है. इनकी सुखानुभूति एक ही समय में होती है.

अन्य मायिक पाँच विषयों मे से एक विषय के साथ सम्बन्ध होने पर उसका ही सुख प्राप्त होता है, परन्तु अन्य विषयों का आनन्द नहीं मिल पाता, मायिक विषयों में तो भिन्न-भिन्न रूप का सुख रहता है. वह सुख तो तुच्छ तथा नाशवन्त है और अन्त में अपार दुःख का कारण बन जाता है.

---

* शनिवार, २१ नवम्बर, १८२८.

भगवान में तो समस्त विषयों का सुख एककालावच्छिन्न में ही प्राप्त हो जाता है. यह सुख महान अलौकिक, अखंड तथा अविनाशी है. अतएव, मुमुक्षु के लिये यही उचित है कि उसे मायिक विषयों से समस्त प्रकार का सर्वथा वैराग्य धारण करके भगवान की अलौकिक सुखमय दिव्य मूर्ति में ही सभी तरह से तन्मय हो जाना चाहिये.'

श्रीजीमहाराज ने ऐसी वार्ता कही कि 'जो हरिभक्त भगवान की भक्ति तथा सन्त-समागम करने को इच्छुक हो और उसका चाहे जैसा स्वभाव हो, उसको टाल कर उसे सन्त के कथन तथा इच्छा के अनुसार आचरण करना चाहिये. यह स्वभाव तो ऐसा होता है कि 'चैतन्य के साथ ओतप्रोत हो जाने पर भी उसे सत्संग का तीव्र अभिलाषी टाल देता है.' इस पर श्रीजीमहाराज ने अपनी वार्ता कही कि पहले हमारा त्याग का स्वभाव था और हमें श्रीरामानन्द स्वामी के दर्शनों की इच्छा थी, इसलिये, हमने श्रीमुक्तानन्द स्वामी की आज्ञा के अनुसार आचरण किया, किन्तु स्वेच्छापूर्वक कोई भी कार्य नहीं किया.

हरिभक्त को किसी तरह की ग्रन्थि बाँधनी हो तो निष्कामादिक व्रतपालन की ग्रन्थि को दृढ़ता से रखना ही उचित है और इस तरह की ग्रन्थि अनुचित एवं तुच्छ है कि इस स्थान पर यदि आसन लगाऊँगा तो निद्रा आयगी और दूसरी जगह नहीं आयगी. यदि इस प्रकार के तुच्छ स्वभाव की ग्रन्थि हो तो इन दोनों को एक ही प्रकार का न समझा जाय. व्रतपालन का बन्धन तो अपना जीवनरूप है तथा उसमें अधिक सार है. इस प्रकार माहात्म्यसहित उसकी दृढ़ता रखनी चाहिये. यदि दूसरे प्रकार के स्वभाव की ग्रन्थि हो तो उसे तुच्छ समझना चाहिये और सन्त यदि उसे छुड़वावें तो उसे छोड़ देना चाहिये, परन्तु पहले की (पंचव्रतों की) ग्रन्थि को नहीं छोड़ना चाहिये.

यदि इन दोनों को एकसमान माना जाय तो इस बात को मूर्खता समझना चाहिये. जैसे बालक अपनी मुट्ठी में बादाम पकड़े हुए हो और कोई उसे छुड़वावे तो वह उसे नहीं छोड़ता है. इसी प्रकार बालक की मुट्ठी में रुपया हो या उसने अपनी मुट्ठी में सोने की मोहर रखी हो तो किसी के द्वारा छुड़वाने पर भी वह उसे नहीं छोड़ता. इस प्रकार उस बालक ने बादाम, रुपया और सोने की मोहर के बीच समान मूल्य समझा.

इसका कारण यह है कि बालक में मूढ़ता है. जैसे किसी के हाथ में बादाम हो और चोर आकर उससे यह कहे कि 'तू इसे छोड़ दे नहीं तो मैं तलवार से माथा काट डालूँगा.' ऐसी स्थिति में यदि चतुर मनुष्य हुआ तो वह उसे दे डालेगा और मूर्ख हुआ तो नहीं देगा.

इस प्रकार इन दो प्रकार की ग्रन्थियों में न्यूनता और अधिकता समझनी चाहिये. यदि कोई ऐसा न समझे और इन दोनों बातों को सामान्य माने तो उसका स्वभाव दुराग्रही समझना चाहिये और उसे अभिमानी समझा जाय. यदि वह इस प्रकार के मान के योग से व्रतों का पालन करता हो और उन्हें मरणपर्यन्त निभाता रहे तब तो ठीक है, परन्तु उसका विश्वास पूरी तरह नहीं जमता, क्योंकि उसे यदि किसी प्रकार के वचनों की चोट लग जाय अथवा उसके मान का खंड़न हो तो उसका वैसा स्वरूप नहीं रहेगा. यदि वह दुराग्रहवश व्रतों का पालन और भक्ति करता हो तो वह राजर्षि कहलाता है. यदि वह भगवान की प्रसन्नता के लिये भगवद्भक्ति और व्रतों का पालन करता हो तो उसे ब्रह्मर्षि तथा साधु कहा जाता है. इस प्रकार इन दोनों में फलका भेद भी है.'

श्रीजीमहाराज ने और भी इस प्रकार वार्ता कही कि 'मान, ईर्ष्या तथा क्रोध, ये तीनों दोष काम की भी अपेक्षा अत्यन्त बुरे हैं, क्योंकि कामी पर तो सन्त दया कर भी देते हैं, परन्तु वे मानी के प्रति दयाभाव नहीं रखते, क्योंकि मान से ईर्ष्या तथा क्रोध उत्पन्न होता है. इसलिये, मान एक बड़ा दोष है. मान रखने के कारण सत्संग से पतन हो जाता है. कामभावना द्वारा उस प्रकार पतन नहीं होता, क्योंकि इस सत्संग में अनेक गृहस्थ हरिभक्त रहे हैं, इसलिये मान, ईर्ष्या और क्रोध के प्रति हमारा अत्यन्त अपभाव रहता है और हमारे जो-जो वचन लिखे हुए होंगे उनमें भी ऐसा ही होगा. उन पर यदि विचार करके देखियेगा तो मालूम हो जायगा. इसलिये, भगवान के माहात्म्य को समझकर मान को मिटा देना चाहिये.'

श्रीजीमहाराज ने और भी ऐसी वार्ता कही कि 'भगवान में निष्ठा किसे कहा जाता है.' उन्होंने बताया कि 'बाल्यावस्था से माँ-बाप, वर्ण, आश्रम, जातपाँत, पशु, मनुष्य, जल, अग्नि, पृथ्वी, वायु तथा आकाश इत्यादि जिन्-जिन तत्त्वों का निश्चय हुआ है, वह शास्त्रानुसार किया गया है. यदि शास्त्रों का श्रवण न किया हो तो यह समझ लेना चाहिये कि लोक में

व्यवहृत शब्दों का प्रवर्तन शास्त्रों में से ही हुआ है तथा उनके अनुसार ही उनके सम्बन्ध में निश्चय किया गया है. उसी प्रकार शास्त्रों में वर्णित निष्काम, निर्लोभ, निर्मान, निःस्वाद और निःस्नेह आदि सन्त के लक्षणों का वर्णन किया गया है. इन लक्षणों को सुन लेना चाहिये और यह मान लेना चाहिये कि ऐसे लक्षणवाले सन्त के साथ भगवान का साक्षात् सम्बन्ध रहता है. अतएव, ऐसे सन्त के वचनों द्वारा भगवान के सम्बन्ध में निश्चय करना चाहिये. उनके वचनों में दृढ़ विश्वास रखने को ही निश्चय कहा जाता है.'

इसके पश्चात् वड़ोदरा-निवासी नाथभक्त ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'जिसे भगवान के स्वरूप का दृढ़ निश्चय है, ऐसे भगवद्भक्त के सम्बन्धीजनों का कल्याण उस भक्त के सम्बन्ध द्वारा होता है कि नहीं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि उसके सम्बन्धियों तथा पितरों को उसमें स्नेह हो तो उनका कल्याण होता है. यदि स्नेह न हो तो कल्याण नहीं हो सकता. यदि कोई पुरुष भक्त का सम्बन्धी न हो, फिर भी उसके प्रति स्नेह रखता हो तो उसका भी कल्याण हो जाता है. जब उसकी मृत्यु होने का समय आवे तब उसे यदि उस भक्त का स्मरण हो जाय तो उसकी स्मृति से ही उसका कल्याण हो जाता है, क्योंकि भक्त की वृत्ति तो भगवान में निरन्तर लगी ही रहती है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'हम आत्मा के स्वरूप तथा भगवान के स्वरूप की वार्ता करते हैं, किन्तु उस वार्ता द्वारा उनका वास्तविक सुख तो नहीं मिल पाता. उनके यथार्थ सुख की अनुभूति तो समाधि द्वारा ही होती है और देह छोड़ने के बाद उसका अनुभव होता है, परन्तु केवल वार्ता द्वारा ही उसकी प्रतीति नहीं होती. रूप का सुख नेत्रों द्वारा प्राप्त होता है. यदि उस सुख का मुख से वर्णन किया जाय कि बहुत अच्छा रूप दिखायी पड़ा, तो मुख को नेत्रों जैसा सुख का अनुभव नहीं होता.

श्रवणेन्द्रिय द्वारा शब्दों को सुनने, नासिका से गन्ध को सूँघने, त्वचा से स्पर्श किये जाने और जिह्वा द्वारा रसास्वादन करने से अलग-अलग जो सुख प्राप्त होता है, उसका वचनों द्वारा वर्णन किया जाता है कि 'गन्ध, रस, स्पर्श तथा शब्द बहुत अच्छा था.' यद्यपि यह कथन बिल्कुल यथार्थ है, फिर भी जिस प्रकार जिन-जिन इन्द्रियों द्वारा उनके सुख का जो अनुभव हुआ, वह वचनों द्वारा नहीं हो सका. उसी प्रकार समाधि द्वारा तथा देह

छोड़ने के बाद जिस भगवदीय आनन्द का अनुभव और आनन्द प्राप्त होता है तथा आत्मा सम्बन्धी सुख की जो अनुभूति होती है और आनन्द मिलता है, वैसे सुख और आनन्द का अनुभव, उनकी केवल बात करने से नहीं मिल पाता. यदि इन दोनों की वार्ता सुनकर उसका मनन और निदिध्यासन किया जाय तो उनका साक्षात्कार हो जाता है. साक्षात्कार होने पर इन दोनों का (आत्मा एवं परमात्मा का) वही अनुभव तथा आनन्द मिलता है, जो समाधि द्वारा प्राप्त होता है. अतएव, इन दोनों की वार्ता सुनकर उनका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये.' ।। इति वचनामृतम् ।।२७।। ।।२५०।।

वचनामृत २८ : जीव का दो प्रकार से पतन

सम्वत् १८८५ में कार्तिक कृष्ण *प्रतिपदा को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपिनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान की भक्ति से जीव का दो प्रकार से पतन होता है, इनमें से एक तो यह है कि शुष्क वेदान्तग्रन्थों को सुनकर कोई पुरुष अन्य आकारों को असत्य ठहराता है और भगवान के श्रीकृष्ण आदि आकारों को भी मिथ्या सिद्ध कर डालता है. ऐसे शुष्क वेदान्तियों को अत्यन्त अज्ञानी समझा जाना चाहिये. दूसरा प्रकार यह है कि कोई पुरुष यह समझता है कि 'यदि भगवान की उपासना करेंगे तो गोलोक एवं वैकुंठलोक में स्त्रीभोग और खानपान आदि पंचविषयों का सुख प्राप्त होगा.' उस सुख में आसक्ति रहने के कारण वह भगवान को भी भूल जाता है और कुबुद्धिवाला बनकर ऐसा मानने लगता है कि 'ऐसा सुख न हो तो इस धाम में भगवान भी राधिका, लक्ष्मी आदि स्त्रियों के साथ क्यों रमण करते हैं ! इसलिये यह सुख वहाँ भी है.' परन्तु, वह भगवान को पूर्णकाम तथा आत्माराम भी नहीं समझता है. वस्तुतः भगवान की ऐसी क्रियाएँ तो भगवद्भक्तों के सुख के लिये हैं. इसलिये, ज्ञानवैराग्यसहित भगवान की भक्ति करनी चाहिये.

---

* रविवार, २२ नवम्बर, १८२८.

जिसने भगवान के स्वरूप को ऐसा समझा हो कि 'सर्वसुखमय मूर्ति तो भगवान ही हैं तथा अन्य पंचविषयों का सुख तो भगवान की भक्ति से प्राप्त होनेवाले सुख की अपेक्षा किंचित् लेशमात्र है.' और जिसने माहात्म्यसहित भगवान को इस प्रकार समझा हो, वह किसी भी पदार्थ के बन्धन में नहीं बंध सकता. वास्तव में 'भगवान के धाम के सुखों के आगे अन्य लोकों के सुख नरक-जैसे हैं.' ऐसा मोक्षधर्म में बताया गया है. भगवान के भक्त को इस प्रकार समझना चाहिये. यदि उसे ऐसा ज्ञान नहीं हो सका तो उसको उपर्युक्त दोनों प्रकार की दुर्बुद्धि के कारण भगवद्‌भक्ति से वंचित होना पड़ता है.'

सुराखाचर ने श्रीजीमहाराज से यह प्रश्न पूछा कि 'भगवान और सन्त में यथार्थ रूप से निष्ठा रखने पर भी किसी भक्त का अन्तःकरण क्यों विचलित हो जाता है, उसका क्या कारण है ?'

श्रीजीमहाराज ने उत्तर दिया कि 'जब इसने भगवान के स्वरूप का निश्चय किया था, तभी से इसमें अपरिपक्वता रह गयी है. वह क्या है ? किसी को स्वाद के कारण अच्छे-अच्छे खाद्यपदार्थों की इच्छा रहती है. ऐसी स्थिति में यदि भगवान और सन्त जब उसका खंडन करते हैं तब उसका हृदय उदासीन हो जाता है. यदि उसके काम के संकल्प का खंडन किया जाय और लोभ छोड़ने के लिये कहा जाय कि 'तू अपना धन-माल और खेतीबाड़ी किसी को दे दे,' तो वह इस वचन का पालन नहीं करता. इसी कारण वह उदासीन हो जाता है. यदि उसमें मान रहने के कारण सन्त तथा भगवान द्वारा उसकी भर्त्सना और अपमान किया जाता है, तो उस कारण भी वह उद्विग्न हो जाता है. इस प्रकार का निश्चय रहने तथा स्वयं के अवगुणों के कारण भी उसका पतन हो जाता है. जिसने भगवान के स्वरूप का निश्चय उस समय इन अवगुणों को मिटाकर किया हो, तो उसका पतन नहीं हो सकता. ये अवगुण यदि अब भी जिस-जिस में होंगे और यदि वह विचारपूर्वक आत्मनिरीक्षण करेगा तो उसको पता चल जायगा कि 'इस प्रकार से मैं अपरिपक्व हूँ. ऐसी स्थिति में यदि मुझ से उसका पालन करने के लिये कहा जायगा तो मैं विमुख हो जाऊँगा.' इस प्रकार, यथार्थ को समझना चाहिये.'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने ब्रह्मानन्द स्वामी, शुकमुनि तथा

सुराखाचर से यह पूछा कि 'जिसके कारण आप विचलित हो जायँ, आपमें ऐसा अवगुण कौन-सा है ?' तब इन तीनों साधुओं ने कहा कि 'हे महाराज ! यह मानरूपी दोष है. इसलिये, समानकोटिवाला कोई सन्त यदि अपमान करता है तो कुछ उद्विग्नता हो जाती है.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'हम यह पूछते हैं कि 'द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया' इस प्रकार के माहात्म्यसहित भगवान को यदि समझा हो, तो भगवान के ऐसे सन्त के प्रति 'मान, ईर्ष्या तथा क्रोध की भावना क्यों होनी चाहिये ?' यदि ऐसा होता है तो समझ में कुछ खामी है, क्योंकि गवर्नर साहब को जान लेने पर कि वे समग्र पृथ्वी के शासक और बलवान हैं, इसलिये यदि उनका एक गरीब-सा सन्देशवाहक भी आ जाय, तो उसका हुकुम बड़े राजा को भी मानना पड़ता है और वह जैसा कहे वैसा ही उसे चलना पड़ता है. इसका कारण यह है कि उस राजा ने यह समझ रखा है कि यह बलशाली गवर्नर साहब का सन्देशवाहक है. इसका कारण यह है कि 'जिससे जो बलवान होता है, उसके आगे मान नहीं रहने पाता.'

वैसे ही जिसने भगवान को समग्र ऐश्वर्य तथा समृद्धि का स्वामी समझा हो, उसका सन्त के समक्ष मान कैसे रह सकता है ?'

ब्रह्मानन्द स्वामी ने कहा कि 'हे महाराज ! आप ठीक कहते हैं कि जिसने इस प्रकार के माहात्म्यसहित भगवान को समझा है तो सन्त के सामने उसका मान, ईर्ष्या और क्रोध नहीं रह सकता.'

श्रीजीमहाराज बोले, 'देखिये, उद्धवजी कितने बड़े और चतुर थे, फिर भी वे भगवान की महत्ता को जानते थे. इसीलिये, उन्होंने भगवान से स्नेह रखनेवाली व्रजवासिनी गोपियों की चरणरज को प्राप्त करने के लिये वनलता का जन्म माँगा था. यह कहा भी गया है :-

'[१]आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥'

१. अर्थ : 'गोपियाँ किसी से भी अत्याज्य सम्बन्धीजनों को छोड़कर और आर्यों के धर्ममार्ग का परित्याग करके वेदों द्वारा भी खोजो जाने योग्य मुकुन्द भगवान का भजन करती थीं, अर्थात् भगवान के ध्यान में ही परायण रहती

इसी प्रकार ब्रह्माने भी कहा है :

'[१]अहो भाग्यमहो ! भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥'

इस प्रकार ब्रह्मा भी भगवान का माहात्म्य जानते थे.' श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि भगवान तथा सन्त की ऐसी महत्ता को समझ लिया जाय तो मान, ईर्ष्या और क्रोध रहता ही नहीं है. उनके समक्ष दासानुदास होकर ही रहना चाहिये. वे चाहे कितना ही अपमान क्यों न करें, तो भी उनका संग छोड़कर उनसे दूर जाने की इच्छा नहीं करनी चाहिये, तथा मन में भी ऐसी भावना नहीं रखनी चाहिये कि 'अब तो कहाँ तक सहन करें. अब तो हम घर पर बैठकर ही भजन करेंगे.' यदि इस प्रकार माहात्म्य समझा लिया जाय, तो मान मिट सकता है.' उन्होंने इस प्रकार की वार्ता कही.

श्रीजीमहाराज ने यह वार्ता भी कही कि 'यदि भगवान के किसी भक्त को किसी कर्मयोग के कारण सूली पर चढा दिया जाय और उस समय यदि हम भी उसके पास खडे हों, तो भी उस भक्त के हृदय में ऐसा संकल्प नहीं होना चाहिये कि 'भगवान यदि मुझे सूली के कष्ट से छुड़वा दें तो ठीक रहेगा.' उसे इस प्रकार अपनी देह के सुख का संकल्प ही नहीं करना चाहिये और जो कष्ट पड़े, उसे सहन कर लेना चाहिये. ऐसे निष्काम भक्त पर भगवान की बडी प्रसन्नता होती है.'

फिर भी, श्रीजीमहाराज ने यह वार्ता कही कि 'भगवान सम्बन्धी सुख किसे प्राप्त होता है. वही बात कहते हैं. जिस प्रकार जल मछली को जीवनरूप होता है और जब तक जल का योग रहता है तब तक मछली पानी में चलती-फिरती और क्रीडा करती रहती है, किन्तु जल का वियोग होते ही उसकी चंचलता समाप्त हो जाती है और वह मर जाती है, उसी

थीं. ऐसी इन गोपियों की चरणरज को स्पर्श करनेवाली वृन्दावन की वृक्षलता तथा वनस्पतियों के बीच में भी किसी भी रूप में उत्पन्न हो जाऊँ, ताकि किसी तृण या कीटादि के रूप में गोपियों की चरणरज का स्पर्श करने में समर्थ हो सकूँ. मैं ऐसी कामना करता हूँ.'

१. अर्थ : नन्दगांव आदि में रहनेवाले ग्वालों व्रजवासियों का यह अहोभाग्य है कि परमानन्दरूप, पूर्णब्रह्म, सनातन भगवान उनके मित्र है. उनके भाग्य का वर्णन नहीं किया जा सकता.

तरह जिस पुरुष ने पंचविषयों द्वारा जब तक जीवनयापन किया हो और उसमें सुख माना हो, किन्तु उसका वियोग होने पर जो मृतप्राय हो जाता है, उसके लिये भगवान की प्राप्ति कभी भी नहीं हो सकती. परन्तु, जिसने पंचविषयों द्वारा जीवननिर्वाह करना समाप्त कर दिया है, उसे ही भगवान सम्बन्धी सुख की अनुभूति होती है तथा वह उस सुख को भोगता भी है. वस्तुतः ऐसे भक्त को ही भगवान के स्वरूपजन्य सुख की प्राप्ति होती है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥२८॥ ॥२५९॥

वचनामृत २९ : २० वर्षीय दो हरिभक्त

सम्वत् १८८५ में पौष शुक्ल *द्वितीया को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में हवेली के आगे चबूतरेपर पलंग बिछवाकर रात्रि के समय विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविंद के समक्ष साधुओं तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने शुकमुनि से प्रश्न पूछा कि 'दो सत्संगी हैं, जिनकी आयु २०-२० वर्ष की है. इन दोनों सत्संगियों में निश्चय, स्नेह-भक्ति, वैराग्य और धर्म समान रूप से विद्यमान हैं. इनमें से एक सत्संगी को प्रारब्धयोग से विवाह द्वारा स्त्री मिली, परन्तु दूसरे सत्संगी को स्त्री न मिल सकी. यद्यपि वह सांख्ययोगी रहा, फिर भी उसे विवाह करने की इच्छा तो थी, किन्तु स्त्री नहीं मिली. इन दोनों में तीव्र वैराग्य पहले से ही नहीं था. इस कारण विषयभोग में दोनों की तीक्ष्ण वृत्ति बनी रही. अब यह बताइये कि यह तीक्ष्ण वृत्ति गृहस्थ में कम होगी या सांख्ययोगी में ? वेदों में तो ऐसा कहा गया है कि जिसे तीव्र वैराग्य हो उसे ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके ही संन्यास ग्रहण करना चाहिये. जिसे मन्द वैराग्य हो उसे विषयभोग की तीक्ष्णता को मिटाने के लिये गृहस्थाश्रम में चला जाना चाहिये. उसके पश्चात् वानप्रस्थाश्रम में, इसके बाद उसे संन्यास ग्रहण करना चाहिये. अतएव, विचार करके उत्तर दीजिये.'

शुकमुनि इस प्रश्न का उत्तर देने लगे, किन्तु यथेष्ट उत्तर न दे सके.

* गुरुवार, ७ जनवरी, १८२९.

तब श्रीजीमहाराज ने इस प्रकार उत्तर दिया कि 'गृहस्थाश्रमी अच्छा है, किन्तु वह सांख्ययोगी बुरा है, क्योंकि उसे तीव्र वैराग्य नहीं है. इसलिये, वह विषयों को तुच्छ और असत्य नहीं मानता. उसमें आत्मनिष्ठा भी दृढ़ नहीं है. इस कारण सत्संग से बाहर जाने पर वह विषयों के योग से उनके बन्धन में फँस जाता है. यदि विषयों का योग न हो तो वह पुनः सत्संग का लालच रखकर इसमें भाग लेने के लिये आ जाता है. जो गृहस्थ है, उसे यदि ६ मास में भी सन्त के दर्शन हों तो भी उसकी दृढ़ता बनी रहती है. अतएव, मन्द वैराग्यवाले के लिये त्याग करना ठीक नहीं है. त्याग तो तीव्र वैराग्यवाले के लिये करना उचित है. यदि मन्द वैराग्यवाला त्याग करता है तो जीवनपर्यन्त उसका त्याग टिक नहीं सकता. एक-दो वर्ष अथवा दस वर्ष के भीतर उसके त्याग में अवश्य ही विघ्न पड़ जाता है.'

तब शुकमुनि ने आशंका प्रकट की कि 'हे महाराज ! यह मन्द वैराग्यवाला त्यागी यदि सन्त द्वारा भगवान के माहात्म्य की बात सुन ले और उसके बाद उस पर विचार करता रहे, तो क्या उसे तीव्र वैराग्य नहीं होगा ? पहले से ही तीव्र वैराग्य तो किसी को प्रारब्ध के योग से होगा. बहुधा प्रत्यक्ष रूप से तो यही दिखायी पड़ता है कि इसे वैराग्य नहीं था, किन्तु बाद में हुआ. इसे क्या समझा जाय ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका तो यह उत्तर है कि अपने विचार से तथा अन्य किसी कारणवश तीव्र वैराग्य नहीं होता, परन्तु उसका स्नेह यदि धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति के गुणों से सम्पन्न महान साधु के साथ हो जाय, जैसा स्नेह भगवान के साथ रहता है, तो वह देखने, सुनने और बोलने आदिकी जिस-जिस क्रिया को करता है, तो वह उसे अपने बड़े सन्त की, जिनके साथ उसे स्नेह होता है, इच्छा के अनुसार ही करता है. परन्तु उनकी इच्छा न होने पर वह वैसी कोई भी क्रिया नहीं करता. यदि वह सन्त की इच्छा के विपरीत आचरण करता है तो उसके मन में निरन्तर यह भय समाया रहता है कि 'यदि मैं इनकी इच्छा के अनुसार आचरण नहीं करूँगा तो वे मेरे साथ स्नेह नहीं रखेंगे.' इस कारण वह उनकी इच्छा के अनुसार ही निरन्तर आचरण करता रहता है. इसलिये, सन्त के साथ यदि वैसा स्नेह हुआ तो वैराग्य न होने पर भी उसके त्याग से कार्यसिद्धि हो जाया करती है.

हमारे सत्संग में भक्त स्त्रियाँ, पुरुष तथा परमहंस हैं. ये सभी हम से

स्नेह करते हैं. जो दो-तीन अग्रगण्य स्त्रियाँ हैं, उनके समान ही अन्य समस्त स्त्रियाँ पंचव्रतों का पालन करती हैं, क्योंकि वे मन में ऐसा समझती हैं कि 'यदि हमने सावधानी के साथ व्रतों का पालन नहीं किया तो हम पर महाराज का स्नेह नहीं रहेगा और वे हमसे अप्रसन्न हो जायेंगे.' परमहंसों, अन्य सत्संगियों, ब्रह्मचारियों तथा पार्षदों में भी वैसी ही भावना है. देश-देशान्तर की जो हरिभक्त स्त्रियाँ और भाई दूरवर्ती स्थानों में रहते हैं, वे भी सतर्कतापूर्वक व्रतों का पालन करते हैं और यह समझते हैं कि 'हम लोग यदि अच्छी तरह आचरण नहीं करेंगे, तो महाराज अप्रसन्न हो जायेंगे.' इसलिये, हमारे स्नेहबन्धन में बंधे हुए ये सब लोग दृढ़ता के साथ धर्माचरण करते रहते हैं. भले ही किसी को वैराग्य थोड़ा होगा और किसी को ज्यादा, इसका कोई मेल नहीं है.

हम पंचाला में पहले जब बीमार पड़े थे और उस बीमारी के कारण यदि हमारा देहावसान हो गया होता तो अभी जैसी शुद्ध वृत्तियाँ हैं वैसी नहीं रहतीं. जो तीव्र वैराग्यवाला है वह धर्मरत रहता है तथा उसके साथ जिसने अपने जीव को स्नेहपूर्वक जोड़ रखा हो, वह भी धर्माचरण करता रहता है. जो सत्संग का योग रखते हैं और भगवान को अन्तर्यामी जानकर अपने-अपने नियमों के अनुसार आचरण करते हैं, वे भी धर्मनिष्ठ रहते हैं. इनके सिवा, दूसरों का तो कुछ ठिकाना नहीं रहता. इसलिये, हमने जो प्रश्न पूछा था, उसका हमारे कथनानुसार यही उत्तर है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥२९॥ ॥२४२॥

वचनामृत ३० : पाँच बातें

सम्वत् १८८५ में पौष शुक्ल *पूर्णिमा को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपिनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनिजनों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'हमें दो वार्ताएँ रुचिकर लगती हैं और उनमें मन लगता है. इनमें से एक तो यह है कि जिसे ऐसा लगता हो कि 'चैतन्य..

---

* मंगलवार, १९ जनवरी, १८२९.

का तेजपुंज है, उसके मध्य श्रीपुरुषोत्तम भगवान की मूर्ति सदा विराजमान रहती है,' ऐसा दृढ़ निश्चय होना चाहिये और वह भगवान की उपासना-भक्ति करता हो, यह बात हमें पसन्द है. यदि वह पुरुष केवल चैतन्य तेज को मानता हो, उसकी उपासना करता हो, भगवान को सदा साकार न मानता हो तथा उनकी उपासना न करता हो, तो हमें वह बात रुचिकर नहीं लगती.

दूसरी वार्ता यह है कि उन भगवान की प्रसन्नता के लिये जो भक्त तप तथा योग साधना करता हो, पंचविषयों से उदासीन रहता हो तथा वैराग्यवान हो, आदि जिन-जिन साधनों का उपयोग भगवान की प्रसन्नता के लिये दम्भरहित होकर करता है, तो वह आचरण हमें पसन्द है. ऐसे भक्त को देखकर हमारा मन प्रसन्न होता है कि इसे धन्यवाद है कि यह इस प्रकार आचरण करता है.

और भी इन पाँच वार्ताओं का हमें नित्य निरन्तर अनुसन्धान रहता है. उनमें से एक तो यह है कि हमें इस देह को त्याग कर जरूर मर जाना है और उसका विलम्ब नहीं मालूम होता. यह तो ऐसे ही निश्चित प्रतीत होता है कि 'इस घड़ी, इस क्षण में हमें मरना है और सुख-दुःख, प्रसन्नता तथा अप्रसन्नता जैसी समस्त क्रियाओं में वैसा आचरण करते हैं. ऐसा वैराग्य होना चाहिये.

दूसरी बात यह है कि हमें मरना तो जरूर है, किन्तु हमने इतना काम (मोक्ष सम्बन्धी) तो कर लिया है और इतना काम बाकी है, उसे निपटाना है, ऐसा निरन्तर अनुसन्धान रहता है.

तीसरी बात यह है कि हमारे मन में से पंचविषयों की वासना टल जाती है या नहीं ? और, यदि ऐसा समझा जाय कि वासना तो टल गयी है, तब पंचविषयों की जो क्रिया है, वह किस प्रकार होती है ? कदाचित् वह न टली हो ? ऐसे अविश्वास का सदैव अनुसन्धान रहता है.

चौथी बात यह है कि मुक्तानन्द स्वामी आदि बड़े-बड़े साधुओं तथा अन्य बड़े बड़े हरिभक्तों में से पंचविषयों की वासना टल गयी या नहीं ? इसकी वासना टली है और इसमें इसकी वासना नहीं टली है, इस प्रकार सबके हृदय के सामने देखते रहने का अनुसन्धान बना रहता है.

पाँचवीं बात यह है कि यदि मैं अपने मन में उदासीनता रखने लगूँ, तो कौन जाने, कहाँ चला जाऊँ और देह भी छूट जाय. इसलिये, ऐसा जानते

हैं कि 'मन में उदासीनता नहीं रखनी चाहिये.' क्योंकि हमारे योग से ये सब स्त्री-पुरुष, परमहंस प्रसन्न होकर भगवद्‌भक्ति करते रहते हैं. यह उचित है. इन्हें भगवद्‌भक्ति करते देखकर मन में बड़ी प्रसन्नता होती है कि मरना तो सबको है, परन्तु इस प्रकार भक्ति करना जीवन का यही बड़ा लाभ है. ऐसा अनुसन्धान निरन्तर बना रहता है.'

इस प्रकार, श्रीजीमहाराज ने अपने भक्तों की शिक्षा के लिये अपना आचरण प्रस्तुत करके यह वार्ता कही. वास्तव में वे तो साक्षात् श्रीपुरुषोत्तम नारायण हैं. ।। इति वचनामृतम् ।।३०।। ।।२५३।।

वचनामृत ३१ : पुरुषोत्तमस्वरूप का निरूपण

सम्वत् १८८५ में माघ शुक्ल *चतुर्थी को सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढडा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने माथे पर सफेद फेंटा बाँधा था, श्वेत दुपट्टा धारण किया था और लाल पल्ले की विलायती सफेद धोती ओढ़ी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस समय परमहंस वाद्ययन्त्रों के साथ 'हरि मेरे हारलकी लकरी' [१]कीर्तन कर रहे थे. श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'जमुना के तीर ठाड़ो'[२] यह कीर्तन करिये.' जब परमहंस यह कीर्तन करने लगे उस समय श्रीजीमहाराज बहुत देर तक विचार मग्न रहे. इसके पश्चात् वे यह बोले कि 'अब कीर्तन बन्द कर दें. हम एक वार्ता कहते हैं. वह है तो छोटी-सी, परन्तु ध्यान करनेवाले के लिये वह बहुत अच्छी लगेगी. यह बात हमने कभी भी नहीं कही है.'

इसके पश्चात् उन्होंने नेत्रकमलों को फिर मींच लिया और विचारमग्न रहने के बाद बताया कि 'कोटि-कोटि चन्द्रों, सूर्यों तथा अग्नि का तेजसमूह है. वह तेजसमूह समुद्र-जैसा दिखायी पड़ता है. ऐसे ब्रह्मरूप, तेजोमय भगवान के धाम में पुरुषोत्तम भगवान की आकृति रही है. इस आकृति में

---

* रविवार, ७ फरवरी, १८२९.

१. सूरदासकविविरचित, देखिये परिशिष्ट ३

२. प्रेमानन्दमुनि विरचित, देखिये परिशिष्ट ३

से ही भगवान स्वयं अवतार धारण करते हैं. ये भगवान क्षर-अक्षर से परे हैं और समस्त कारणों के भी कारण हैं. ऐसे अनन्तकोटि अक्षररूप मुक्तजनों द्वारा सेवित चरणकमलवाले भगवान ही स्वयं दया करके जीवों का परम कल्याण करने के लिये अभी प्रकटप्रमाणरूप में आप सबके सामने दृष्टिगोचर होकर साक्षात् विराजते हैं. इसलिये, उस धाम में स्थित मूर्ति तथा श्रीकृष्ण की इस प्रकटमूर्ति में अधिकतर सादृश्य है.

श्रीकृष्ण की ऐसी मनुष्याकार मूर्ति का ध्यान करनेवाले भक्तों की दृष्टि भगवान के स्वरूप के सिवा अन्य रूप विषयमात्र में अतिशय वैराग्य रखकर जब भगवान के स्वरूप में ही लुब्ध हो जाती है तब उसे प्रत्यक्ष भगवान की मूर्ति और धाम की मूर्ति में लेशमात्र भी अन्तर प्रतीत नहीं होता. उस मूर्ति तथा इस मूर्ति का रूप एवं अवस्था एकसमान दिखायी पड़ती है. वह मूर्ति जितनी ऊँची और पुष्ट है, वैसी की वैसी ही यह मूर्ति भी दीखती है. उसमें और इसमें लेशमात्र भी अन्तर नहीं दिखायी पड़ता, प्रत्युत अतिशय एकत्व ही दिखायी पड़ता है. इस प्रकार उसमें और इस मूर्ति में तनिक भी अन्तर नहीं है, वह मूर्ति तथा यह मूर्ति एक ही है.

ऐसी प्रत्यक्षमूर्ति का ध्यान नेत्रों के आगे करने पर उसमें और इसमें लेशमात्र भी अन्तर नहीं दीखता. उसी मूर्ति का ध्यान करनेवाला जब प्रतिलोम उसे अपने नेत्रों में देखता है तब इससे पहले दीखनेवाली वही मूर्ति वैसी ही नहीं दिखायी पड़ती. तब तो वह नेत्र की पुतली (कनीनिका) जैसी प्रतीत होती है. यदि ध्यान करनेवाला पुरुष प्रतिलोम कंठ से नीचे तक भीतर ध्यान करके देखेगा, तो उसे वही मूर्ति, जो पहले दो प्रकार से दिखायी पड़ती थी, वैसी ही नहीं दिखायी पड़ेगी. तब वह उसी मूर्ति को बहुत बड़ी, बहुत ऊँची, बहुत मोटी और बहुत भयंकर देखेगा. जब सूर्य मध्याह्नकाल में आता है, तब पुरुष के शरीर की छाया उसके शरीर के बराबर होती है. वही सूर्य जब अस्त होने लगता है, तब छाया बड़ी लम्बी हो जाती है, परन्तु पुरुष के शरीर के समान नहीं रहती. उसी प्रकार वह मूर्ति भी पूर्वकथनानुसार बड़ी होती है. इसके पश्चात् उस मूर्ति को हृदयस्थ बुद्धि और बुद्धि में रहनेवाले अपने जीव में देखना चाहिये. तब उसी मूर्ति को अंगुष्टमात्र परिमाण में देखा जाय. तब वह द्विभुज या चतुर्भुज दिखायी पड़ती है, परन्तु पहले तीन प्रकार से जैसी दिखायी पड़ी थी वैसी नहीं

दीखती. इसके पश्चात्, ध्यान करनेवाले उस पुरुष को प्रतिलोम अपने जीव से परे कोटि-कोटि सूर्यों, चन्दों और अग्नि के तेजसमूह में वह मूर्ति दिखायी पड़ती है. वह दृष्टि के आगे जैसी मालूम पड़ती थी वैसी ही दीखती है, किन्तु लेशमात्र भी अन्तर नहीं प्रतीत होता. वास्तविकता तो यह है कि गुणातीत अक्षरधाम में जो मूर्ति विराजमान है, वही मूर्ति प्रत्यक्ष है. इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है. जिस प्रकार अक्षरधाम की मूर्ति गुणातीत है वैसे ही मनुष्याकारवाली मूर्ति भी गुणातीत है. यह मूर्ति पूर्वोक्त प्रकार के ध्यान में जिस प्रकार पृथक् भाव से दिखायी पड़ती थी, इसके कारण ध्यान के अलग स्थान थे. नेत्र में सतोगुण तथा कंठ में रजोगुण है और बुद्धि में स्थित जीव भी गुणमय है.'

इस प्रकार वार्ता कहने के पश्चात् उन्होंने कहा कि 'आप लोग पहले जो कीर्तन कर रहे थे, वही कीर्तन अब करिये.' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने अपने पुरुषोत्तम स्वरूप के निरूपण की वार्ता परोक्ष रूप से कही.

॥ इति वचनामृतम् ॥३१॥ ॥२५४॥

वचनामृत ३२ : 'विषयाः विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः'

सम्वत् १८८५ में माघ शुक्ल *पंचमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. उस समय गवैये परमहंस वसन्तकालीन कीर्तन कर रहे थे.

श्रीजीमहाराजने मुक्तानन्द स्वामी आदि साधुओं से कहा कि '[१]विषयाः विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।' इस श्लोक का अर्थ बताइये.' तब उन्होंने रामानुजभाष्यसहित उसका अर्थ बताया.

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसके सम्बन्ध में तो हमने ऐसा निश्चय किया है कि युवा-अवस्थावाले को आहार कम करना चाहिये और युक्ताहारविहारपूर्वक रहना चाहिये. आहार के कम होने के बाद ही देह का बल क्षीण होता है. तभी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है. उसके बिना

* सोमवार, ८ फरवरी, १८२९.

१. आहार न करने पर विषय निवृत्त हो जाते हैं.

इन्द्रियों को नहीं जीता जा सकता. ऐसा आचरण करके अपने मन को भगवान की नवधा भक्ति में रुचिपूर्वक लगाना चाहिये तथा भक्ति में प्रीति रखनी चाहिये.

यदि वह इस तरह दो प्रकार से आचरणशील रहता है तो सत्संग द्वारा उसका उद्देश्य पूर्ण हो जाता है. यदि ऐसा न हुआ तो वह जब-तब निश्चय ही इन्द्रियों के वश में रहने के कारण कर्तव्यविमुख हो जाता है. जब [1]गोवर्द्धन जैसे समाधिनिष्ठ को भी इससे भय रहता है, तब दूसरों की तो बात ही क्या है ? आहार नियमानुसार करना चाहिये, किन्तु अनेक उपवास निरन्तर करते रहने से नियम का पालन नहीं हो पाता, बल्कि तृष्णा बढ़ जाती है तथा वास्तविक आहार भी बढ़ जाता है और उपवास का पारणा करने पर दूना भोजन किया जाता है. इसलिये, आहार को धीरे धीरे घटाने पर ही उसे नियमबद्ध किया जा सकता है. जैसे मेघमंडल से यद्यपि बारीक बूँदे पड़ती हैं, फिर भी बहुत पानी हो जाता है, उसी प्रकार आहार का नियमन कर लेना चाहिये. ऐसा करने पर ही इन्द्रियाँ नियमबद्ध हो जाती हैं और भक्ति में प्रीति होने पर सत्संग में प्रगति निर्विघ्न होती रहती है, यह निश्चित वार्ता है.'

श्रीजीमहाराज ने यह वार्ता भी कही कि 'भगवान के सच्चे भक्त को भगवान का माहात्म्य कैसे समझना चाहिये ? वह इस प्रकार है कि भगवान अपने तेजोमय अक्षरधाम में साकार मूर्ति से विराजमान रहते हैं. वे सबके कारण, सबके नियन्ता तथा सबके अन्तर्यामी हैं. वे अनेक कोटि ब्रह्मांडों के राजाधिराज हैं, अलौकिक दिव्य सुखमय मूर्ति हैं तथा माया के गुणों से रहित हैं. इस प्रकार प्रत्यक्ष भगवान को जान कर बिना भगवान के अन्य समस्त मायिक वस्तुमात्र को अतिशय तुच्छ तथा नाशवन्त समझना चाहिये और एकमात्र भगवान में ही प्रीति रखनी चाहिये. भगवान की नवधा भक्ति करनी चाहिये और यह समझ लेना चाहिये कि 'ऐसे अत्यन्त महान भगवान की मर्यादा का पालन काल, माया, ब्रह्मा, शिव, सूर्य तथा चन्द्रमा आदि समर्थ होने पर भी निरन्तर करते रहते हैं.' ऐसा समझकर भगवान द्वारा प्रतिपादित धर्ममर्यादा के सम्बन्ध में भक्त को भगवान की प्रसन्नता के

---

१. मांगरोल निवासी समाधिनिष्ठ श्रीगोवर्द्धन सेठ.

लिये स्वयं निरन्तर कर्तव्यपालन करते रहना चाहिये, किन्तु उसे धर्ममर्यादा का कभी भी लोप नहीं करना चाहिये.

जिसकी कुबुद्धि हो, वह तो ऐसा समझता है कि 'ऐसे महान भगवान तो पतितपावन हैं और अधमों का उद्धार करते हैं. इसलिये, धर्म के विरुद्ध यदि कोई अनुचित आचरण हो जायगा, तो उसकी क्या चिन्ता है, भगवान तो समर्थ हैं.' इस प्रकार माहात्म्य का आश्रय लेकर जो पुरुष पाप करने से बिल्कुल नहीं हिचकते वे तो दुष्ट और पापी हैं. जो ऐसी समझवाला हो और भक्त-जैसा दिखायी पड़ता हो, तो भी उसे भक्त नहीं समझना चाहिये और उसका संग कभी भी नहीं करना चाहिये. पूर्ण भक्त तो उसे ही समझना चाहिये, जिसके सम्बन्ध में पहले बताया गया और उसीका संग करना चाहिये.' ॥ इति वचनामृतम् ॥३२॥ ॥२५५॥

वचनामृत ३३ : सोना, मोहरें और रूपवती स्त्रियाँ

सम्वत् १८८५ में फाल्गुन शुक्ल *एकादशी को स्वामी श्रीसहजान्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने समस्त परमहंसों से यह वार्ता कही कि 'धन-दौलत और स्त्री-पुत्रों आदि कि कामना से जिसकी बुद्धि विचलित हो और इनके निमित्त किसी में प्रतीति भी हो, ऐसे हरिभक्त तो सत्संग में गिनती के ही रहते हैं, परन्तु उनकी संख्या अधिक नहीं होती.' इतना कहने के बाद श्रीजीमहाराज पुनः बोले कि 'ऐसे तो ये मुक्तानन्द स्वामी तथा गोपालानन्द स्वामी हैं, जिन्हें कोई अन्य पुरुष चाहे कैसा ही समर्थ हो और वह चमत्कार दिखावे, तो भी उन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता.

वह पुरुष कैसा होना चाहिये, जिस पर किसी का प्रभाव न पड़े ? ऐसा पुरुष तो वही हो सकता है, जो यह समझता हो कि 'इस देह से भिन्न जो आत्मा है, वह मैं हूँ तथा प्रकाशमान एवं आत्मसत्तारूप हूँ. मेरे इस

---

* मंगलवार, १६ मार्च, १८२९.

स्वरूप में प्रत्यक्ष भगवान अखंड रूप से विराजमान हैं. भगवान के स्वरूप के बिना अन्य प्राकृत आकारमात्र असत्य तथा अनन्त दोषयुक्त हैं. जिसमें ऐसा वैराग्य हो और जो भगवान के माहात्म्य को यथार्थ रूप से जानता हो, उसकी बुद्धि में किसी भी प्रकार का भ्रम नहीं हो सकता. परन्तु, यह बात अति कठिन है, क्योंकि वे इतने बड़े हैं, फिर भी यदि कोई इनका अधिक सम्मान करे, उनके सामने रुपयों और सोना-मोहरों के ढेर लग जायँ तथा रूपवती स्त्रियों का योग हो जाय, तो वे इतने बड़े त्यागी होने पर भी उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते. यदि ऐसा योग आ जाय, तो आज अपने त्यागियों में जो निकृष्ट हैं, वे वैसे ही रह सकेंगे या नहीं, इसमें भी संशय है, क्योंकि इन वस्तुओं का तो योग ही ऐसा है. जैसे हम सब लोग यहाँ सयाने बनकर तो बैठे हैं, किन्तु यदि मद्यपान किये हुए हों, तो अपनी स्थिति से विचलित हो जाते हैं, वैसे ही इन वस्तुओं का संग जरूर लगे बिना रहता ही नहीं है. इसलिये, यदि इन वस्तुओं का योग उपस्थित न होने दिया जाय, तो वे इनसे बच सकते हैं और उनका योग होने से पहले ही उनका भय रखा जाय तो वे उनसे बच सकते हैं. यह वार्ता शास्त्रों में प्रसिद्ध है कि 'इनका संग तो एकमात्र भगवान को नहीं लगता.' इसलिये, यही कहा गया है – '**ऋषिं नारायणमृते**' तथा '**येऽन्ये[१] स्वतः परिहृतादपि बिभ्यति स्म ।**'

इसके पश्चात्, श्रीजीमहाराज इस प्रकार बोले कि 'वासुदेव भगवान का एकान्तिक भक्त किसे कहते हैं ? जिसमें स्वधर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा माहात्म्ययुक्त वासुदेव भगवान की अनन्य भक्ति हो, उसे एकान्तिक भक्त कहा जाता है. उसकी गति इस प्रकार कही गयी है कि 'उसका वासुदेव भगवान में प्रवेश होता है.' वह प्रवेश क्या है ? तेजमंडल में जो दिव्यमूर्ति वासुदेव भगवान हैं, उनसे उस भक्त का स्नेह होता है. उस स्नेह द्वारा वासुदेव भगवान की मूर्ति में उसके मन का निरन्तर अनुसन्धान रहता है तथा आसक्त होकर रहने पर भी उन वासुदेव भगवान की सेवा में बाहर से भी प्रवृत्त रहता है. जैसे लक्ष्मीजी वासुदेव भगवान के हृदय में स्नेह का

---

१. नारायण के सिवा अन्य जीव स्वयं त्यागे हुए विषयों से भी भयभीत होते हैं और उनके सेवन से बन्धनयुक्त हो जाते हैं.

आधिक्य होने से चिह्नरूप से रही हैं और स्त्रीरूप द्वारा सेवा में भी रही हैं, वैसे ही वासुदेवनारायण में एकान्तिक भक्त का प्रवेश (आसक्तिरूप से) जानना चाहिये. अभी भी जिस भक्त को कथाकीर्तन, नामस्मरण आदि दस प्रकार की भगवद्भक्ति, भगवान के माहात्म्य, स्वधर्म, वैराग्य, आत्मनिष्ठा तथा सन्त-समागम का व्यसन हो, तो वह ऐसा होना चाहिये कि 'उसके बिना किसी भी तरह कार्य चले ही नहीं,' जिस प्रकार अफीम जैसे मादक पदार्थों के व्यसनी का उनके बिना काम चलता ही नहीं है. यद्यपि अफीम तो जहर-जैसी कड़वी है, फिर भी अफीम के व्यसनी का काम उसके बिना नहीं चलता. इसी प्रकार यदि किसी को शराब का व्यसन हो और मद्यपान करने पर गला जलता हो तो भी उसके बिना उसका काम नहीं चलता. यदि ऐसे पुरुष को बहुत-से रुपये दिये जायँ, तो भी वे इस व्यसन से प्रिय नहीं लगते और वह उन्हें लेता भी नहीं है, क्योंकि यह व्यसन उसके जीवन के साथ घुलमिल गया है.

उसी प्रकार, जिसे भगवद्भक्ति आदि क्रियाओं का व्यसन हो गया हो, उसका चाहे कैसा ही कुसंग रहे, उसका कार्य उसके बिना चलता ही नहीं है और उसके बिना अन्य कार्य में भी उसका मन प्रसन्न नहीं रहता. यदि भगवद्भक्ति आदि क्रियाओं में उसका जीव तन्मय हो गया हो और उसे उसी की अत्यधिक आसक्ति हो, तो वासुदेव भगवान में ऐसे भगवद्भक्त का भी प्रवेश हो जाता है, ऐसा समझना चाहिये.

वह भगवद्भक्त ऐसा होना चाहिये कि भगवान की सेवा के सिवा चतुर्धा मुक्ति की भी इच्छा न करे, तो अन्य पदार्थों की बात ही क्या है? ऐसा होने पर ही उसे एकान्तिक भक्त समझा जाना चाहिये. उसे किसी भी वस्तु से आसक्ति नहीं होती. यदि वह ऐसा न हो और कभी भगवान की भक्ति में आनन्द का अनुभव करता हो, फिर भी कुसंग का योग होने पर भक्ति को भूल जाय और दूसरी तरह का चस्का लग जाय, तो उसे प्राकृत देहाभिमानी कहते हैं, परन्तु वह सच्चा भक्त नहीं है और वह अपनी भक्ति में निर्विघ्न प्रवृत्त रह सकेगा या नहीं, इस बात का विश्वास नहीं रहता.'

श्रीजीमहाराज ने इस प्रकार वार्ता कही कि 'भगवान के भक्त ने स्त्री, धन, देहाभिमान तथा स्वभाव, इन चारों विषयों का दृढ़तापूर्वक त्याग नहीं किया हो और इस अपरिपक्व दशा में यदि वह भगवान की भक्ति करता

हो, तो भी उसकी भक्ति विश्वसनीय नहीं होती तथा उसमें विघ्न अवश्य पड़ जाता है, क्योंकि जब कभी उसे स्त्री और धन का योग हो जाय, तो भक्ति का स्थान नहीं रह जाता और वह उसीमें आसक्त हो जाता है तथा देहाध्यास होने पर जब देह में रोगादि कष्ट बने रहते हैं और उसे अन्नवस्त्रादि नहीं मिल पाते अथवा कठिन व्रतों का पालन करने की आज्ञा हो तब भी उसकी भक्ति में बाधा उपस्थित हो जाती है तथा वह व्याकुल हो जाता है और विवेकभ्रष्ट होकर मनमाने ढंग से बर्ताव करने लगता है. यदि किसी तरह का कोई स्वभाव हो और सन्त उसे टोकने लगें तथा उस स्वभाव के अनुसार उसे व्यवहार न करने दें और अन्य प्रकार से आचरण करवावें, तो भी वह उद्विग्न हो जाता है और सन्त-समागम में नहीं रहता, तब भक्ति कहाँ रह सकती है ? इसलिये, दृढ़ भक्ति के इच्छुक पुरुष को इन चार बातों में अपरिपक्वता नहीं रखनी चाहिये. यदि इन चार बातों में अपरिपक्वता रहे, तो भी विवेकपूर्वक धीरे-धीरे उनका त्याग कर डालना चाहिये. तभी वासुदेव भगवान की निश्चय भक्ति हो सकती है. यह वार्ता तो ऐसी ही है, परन्तु उसमें कोई सन्देह नहीं है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥३३॥ ॥२५६॥

वचनामृत ३४ : भगवान के प्रति वासना

सम्वत् १८८५ में चैत्र शुक्ल *तृतीया को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज से शुकमुनि ने प्रश्न पूछा कि 'भगवान के सिवा अन्य मायिक वस्तुमात्र में वासना न रहे, एकमात्र भगवान में ही वासना रहे, इसके लिये दो साधन दिखायी पड़ते हैं, जिनमें से एक तो भगवान में प्रीति रहना और दूसरा ज्ञानसहित वैराग्य है. ये ही दो साधन हैं. यदि कोई इन दोनों साधनों का दृढ़तापूर्वक उपयोग न कर सके तथा ऐसे भक्त के लिये, जिसे भगवान के सम्बन्ध में निश्चय और विश्वास तो हो, फिर भी उसमें

* मंगलवार, ६ अप्रैल, १८२९.

एकमात्र भगवान की ही वासना बनी रहे और अन्य वस्तुओं की वासना न रहने पावे, क्या ऐसा कोई तीसरा उपाय है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह प्रश्न यथार्थ है. इन दोनों साधनों द्वारा केवल भगवान की ही एक वासना रहे, किन्तु अन्य पदार्थों की वासना न रहने पावे, यह भी सच है. यदि वे दोनों साधन नहीं रहे, तो उसके लिये भगवान के सिवा अन्य वस्तुओं की वासना नहीं मिटती. इसलिये, ऐसे पुरुष के जीवित रहने तक उसका जीवन दुःखमय रहता है. परन्तु, भगवान के स्वरूप का निश्चय रहने से उसके देहान्त के बाद भगवान उसका कल्याण करते हैं.

भगवान के सिवा अन्य वस्तुओं की वासना को टालने के लिये जैसे वे दो साधन हैं, वैसे तीसरा भी साधन है और वह यह है कि जिनके लिये जैसे नियम बताये गये हैं, उनका सावधानी के साथ पालन करना चाहिये. वे नियम कौन-से हैं ? इनमें से प्रथम स्वधर्म सम्बन्धी नियम है. जिस प्रकार आत्मनिवेदन करनेवाले साधुओं और ब्रह्मचारियों का नियम है, वैसे ही आत्मनिवेदन न होने पर भी स्त्रियों को न देखने तथा उनकी बात न सुनने का भी नियम रखना चाहिये. इस प्रकार पंचविषयों का त्याग करने सम्बन्धी नियम का पालन दृढ़ता के साथ सावधान होकर करना चाहिये. उसे भगवान तथा भगवद्भक्त की देह से सेवा करनी चाहिये और भगवान की कथा सुननी चाहिये, आदि. नवधा भक्ति के सम्बन्ध में जो नियम हैं, उनका पालन किया जाना चाहिये. तब उसके मन में भी शुभ संकल्प रहने लगते हैं. इस तरह, जिसने दो प्रकार के नियमों का पालन किया हो तो उसे वैराग्य और भगवान में प्रीति, ये दोनों बातें न हों तो भी वे हो जाती हैं तथा भक्त में दृढ़ता हो जाती है. तब अन्य पदार्थों में उसकी अशुभ वासना मिट जाती है और भगवान के प्रति ही एक वासना दिन-प्रतिदिन बढ़ती रहती है.'

श्रीजीमहाराज से शुकमुनि ने पुनः यह प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! क्रोध किसमें उत्पन्न होता है ? स्वयं को जिस वस्तु की कामना हो, और जिसमें ममत्व हो, उसे यदि कोई तोड़ डाले, तो उस कारण क्रोध उत्पन्न होता है और कामभाव की इच्छा टूट जाने पर वही क्रोधरूप में परिणत हो जाता है. इसलिये, ऐसा ही स्वभाव हुआ कि क्रोध उत्पन्न हो जाय, किन्तु

ऐसी स्थिति होने पर भी क्रोधोत्पत्ति न हो, ऐसी बात है या नहीं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो बड़े साधु हैं उन्होंने भगवान की आज्ञा अथवा शास्त्रदृष्टि द्वारा माहात्म्य जानकर स्वेच्छा से अनेक जीवों को धर्ममर्यादा में रखने तथा भगवान के मार्ग की दिशा में आगे बढ़ाने के लिये ऐसा शुभ संकल्प किया हो और उसमें प्रवृत्त हों, तो ऐसी स्थिति में यदि कोई भी जीव धर्ममर्यादा को भंग करके अधर्म करने में लग जाता है, तब सत्पुरुष को उस जीव पर क्रोध उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि उसने उनके शुभ संकल्प को भंग किया. इसलिये, उसे धर्ममर्यादा में रहने की शिक्षा देने के लिये अगर उस पर गुस्सा न किया गया और क्रोधपूर्वक उसे पाठ न सिखाया गया, तो मर्यादा भंग होती रहती है और उस जीव का भी कल्याण नहीं होता. इसलिये, इस प्रकार का क्रोध हो तो ठीक है. इसमें कोई बाधा भी नहीं है, क्योंकि ऐसे मार्ग में यदि बड़े साधु प्रवृत्त रहे और उनके आश्रय में हज़ारों भक्त रहे, तो कुछ गुस्सा न किये बिना उनका काम कैसे चल सकता है ?

क्रोध तो तब उत्पन्न नहीं होता, जब 'उसका परित्याग कर दिया जाय, जिसमें से वह उत्पन्न हुआ है.' अकेले वन में फिरते रहने पर भी क्रोध नहीं रहता, परन्तु ऐसा कार्य उससे कैसे हो सकता है ? सत्पुरुष का उद्देश्य तो वार्ता के माध्यम से अनेक जीवों को भगवान के सम्मुख ले जाना है. उन्होंने शास्त्रदृष्टि द्वारा यह बात भी जान ली है कि जीवों का कल्याण होने के फलस्वरूप कैसा महाफल प्राप्त होता है. उन्होंने भगवान की इस प्रकार की आज्ञा का माहात्म्य जान लिया है. इसलिये, क्रोध होने पर भी वे अपने शुभ संकल्प का परित्याग नहीं करते.

जिसे किन्हीं बड़े साधुओं के साथ स्नेह हुआ है और प्रीति में उन्होंने अपना कल्याण माना हो और यह समझ लिया हो कि 'इन साधु से मेरा कल्याण होगा' तो वह क्रोधी स्वभाव होने पर भी उन बड़े साधुओं पर कभी भी क्रोध नहीं करेगा और अपने रोष को छोड़ देगा. ऐसा करने पर भी क्रोध समाप्त हो जाता है. पदार्थों के लेनदेन और तुच्छ वस्तुओं की प्राप्ति के लिये यदि कोई साधु से कुपित होता है, तो यह मानना पड़ेगा कि उसने वास्तव में साधु के माहात्म्य और उनके इस पद्धतिवाले मार्ग को समझा ही नहीं है. यदि उसने यह बात समझ ली होती, तो वह तुच्छ

पदार्थों के लिए क्रोध नहीं करता. यदि कोई बुद्धिमान पुरुष विवेकशील हो और तुच्छ पदार्थों के लिए साधु के प्रति क्रोध करता हो तो उसकी बुद्धि राजाओं के कर्मचारियों जैसी मानी जानी चाहिये, परन्तु साधु जैसी बुद्धि और विवेक उसमें आया ही नहीं है, ऐसा समझना चाहिये.'

॥ इति वचनामृतम् ॥३४॥ ॥२५७॥

वचनामृत ३५ : साधु से द्रोह घोर पाप

सम्वत् १८८५ में चैत्र शुक्ल *नवमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष साधुओं तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज से शुकमुनि ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! जिसके हृदय में भगवान और भगवद्भक्त का दृढ़ आश्रय हो तथा वह आश्रय कैसा ही आपत्तिकाल उपस्थित होने और देह को सुख-दुःख, मान-अपमान होते रहने तथा देश-काल की विषमता रहने पर भी न टल जाय, यह बात कैसे मालूम हो सकती है और यह कैसे विदित हो सकता है कि 'उसे ऐसा आश्रय है.' ऐसी स्थिति में उसके मन का अभिप्राय एवं देह का आचार कैसा होना चाहिये, यह भी बताइये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस भक्त को एकमात्र भगवान में ही महिमा प्रतीत होती हो, भगवान से भिन्न अन्य वस्तुएँ अधिक महत्वपूर्ण दिखायी न पड़ें और जो भगवान के सिवा अन्य वस्तुओं को तुच्छ मानता हो तथा भगवान और साधुओं द्वारा प्रकृति के प्रतिकूल आचरण कराने, प्रकृति अनुसार न चलने देने और उसके विपरीत बर्ताव कराये जाने पर भी उद्विग्न न हो तथा प्रकृति की कठोरता को छोड़कर जो पुरुष भगवान और साधुओं की आज्ञा के अनुसार सरलतापूर्वक कार्य करता रहता हो, जिसकी ऐसी दो प्रकार की बुद्धि हो तो उसके समक्ष किसी भी तरह का आपत्काल आने पर भी भगवान का आश्रय नहीं टलता.'

शुकमुनि ने पुनः प्रश्न पूछा कि 'प्रकृति के प्रतिकूल आचरण कराये

---

* सोमवार, १२ अप्रैल, १८२९.

जाने पर जीव को व्यग्रता तो होती है, परन्तु उस व्यग्रता के प्रकार में कोई फर्क रहता है या नहीं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'प्रकृति को छेड़े जाने से व्यग्रता होने पर भक्त को इसके लिये अपने अवगुणों को ही दोषी मानना चाहिये, परन्तु भगवान और साधुओं पर दोष नहीं मढ़ना चाहिये. किन्तु, जो भक्त अपने अवगुणों को दोषी न मानकर भगवान और साधुओं पर दोष मढ़ता है, उसकी भक्ति पर विश्वास नहीं किया जा सकता. जो भक्त ऐसा होता है, उसका आश्रय सुदृढ़ नहीं रहता.'

शुकमुनि ने पुनः पूछा कि 'जिसकी जो प्रकृति है, उसे यदि भगवान तथा साधुओं ने कभी भी न छेड़ा हो, तब वह अपने मन में यह कैसे समझ सकता है कि यदि 'मेरी प्रकृति को छेड़ा गया तो मेरा कल्याण नहीं होगा,' क्योंकि जिस बात पर स्वयं अनुभव न किया गया हो उस पर उसका विश्वास कैसे हो सकता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'उस पुरुष को तो अपने मन के संकल्पों पर गहरी दृष्टि रखनी चाहिये कि 'मेरे मन में भगवान के सिवा अन्य पंचविषयों के भोग के सम्बन्ध में कौन-से विषय की वासना प्रबल है और किस विषय का बलवत्तर संकल्प होता है ?' गहरी दृष्टि रखने पर जिस विषय की वासना रहती है उसका आभास होता है, परन्तु दूसरे प्रकार से ऐसा नहीं मालूम पड़ता. जब ऐसा भक्त इस बात पर ध्यान देता है, तब वह यह विचार करने लगता है कि 'इस पदार्थ के सम्बन्ध में मेरा संकल्प प्रबल है और उसमें मेरी प्रवृत्ति भी बनी हुई है, किन्तु उस विषय का निषेध जब साधु करेंगे, तब मेरा आश्रय शिथिल हो जायगा.' उसको ऐसा विश्वास हो जाता है. उसकी वासना प्रबल होने पर भी भगवान और साधु यदि उसका निषेध नहीं करते, तब तक सत्संग में उसका स्थान अन्त तक बना रहता है. यदि उसकी वासना का निषेध किया गया हो तो वह सत्संग में से विचलित हो जाता है.'

श्रीजीमहाराज ने पुनः ऐसी वार्ता कही कि साधु से द्रोह करने की बात को शास्त्रों में अन्य पापों की अपेक्षा घोर पाप बताया गया है. उन्होंने कहा कि साधु के हृदय में साक्षात् श्रीकृष्ण भगवान रहते हैं. इसलिये, साधु के

साथ द्रोह करने से भगवान से द्रोह हो जाता है, क्योंकि उन साधु का द्रोह करने से उनके हृदय में निवास करनेवाले भगवान दुःखित होते हैं. इस प्रकार, भगवान के साथ द्रोह करना अधिक पापद्योतक बताया गया है. इसलिये, सन्त से किये गये द्रोहजन्य पाप को अन्य पापों की अपेक्षा घोर पाप बताया गया है.

कंस, शिशुपाल तथा पूतना आदि दैत्यों ने यद्यपि भगवान से द्रोह किया था, फिर भी भगवान ने भक्तों के समान ही उनका कल्याण किया, इसका क्या अभिप्राय है ? इसका अभिप्राय यह है कि इन दैत्यों ने वैरबुद्धि से भी जब भगवान का चिन्तन किया, तब भगवान ने यह समझा कि 'इन दैत्यों ने वैरबुद्धि रखकर भी मेरा चिन्तन किया है, अतएव मुझे इनका कल्याण करना चाहिये.' इस प्रसंग में इन पर भगवान की दया का आधिक्य समझना चाहिये.

इस बात पर भी ध्यान देना चाहिये कि 'इन दैत्यों ने वैरबुद्धि द्वारा भी जब भगवान का आश्रय ग्रहण कर लिया तब भगवान ने उनका भी कल्याण कर दिया, तब जो भक्त भक्तिभाव से उनका आश्रय ग्रहण करेगा और उन्हें प्रसन्न करेगा, तो भगवान उसका कल्याण क्यों नहीं करेंगे ? अवश्य करेंगे.' इस प्रकार भगवान की अतिदयालुता का परिचय देकर मनुष्यों को भगवान की भक्ति में लगा देना चाहिये, ऐसा अभिप्राय शास्त्रकारों का है. परन्तु, इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि 'दैत्यों के समान ही कर्म करना चाहिये, जो भगवान को अप्रिय लगता है.' इस दृष्टि से जो पुरुष भगवान के प्रति वैरभाव रखकर उनसे द्रोह करते हैं और अवांछनीय कर्म करते हैं उन्हें तो दैत्य ही समझना चाहिये. यह पक्ष तो दैत्यों का है. किन्तु, भगवान की इच्छा के अनुसार सदाचरणपूर्वक भक्ति तथा भगवान एवं उनके भक्तों को प्रसन्न करना भगवान के भक्तों का पक्ष है.'

शुकमुनि ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! साधु के हृदय में भगवान निवास करते हैं तथा उनके साथ द्रोह करने से भगवान से द्रोह होता है और उनकी सेवा करने से भगवान की सेवा होती है, ऐसे साधु के कैसे लक्षण हैं, यह बताइये.'

श्रीजीमहाराज कुछ समय तक विचारमग्न रहने के पश्चात् कृपा करके बोले कि 'ऐसे साधु का मुख्य लक्षण तो यह है कि वह भगवान को कभी

निराकार न समझे, बल्कि उन्हें तो सदैव दिव्य साकार मूर्ति माने. वह साधु चाहे कितने ही पुराणों, उपनिषदों तथा वेदों आदि ग्रन्थों का श्रवण करे और उनके मध्य यदि भगवान के निराकार स्वरूप की कुछ बातें सुनने में आवें तो भी यही समझे कि 'या तो हमें इन शास्त्रों का अर्थ समझ में नहीं आता, अथवा इनमें इस प्रकार कैसे कहा गया होगा. फिर भी, भगवान तो सदैव साकार ही है.' यदि वह भगवान को साकार नहीं समझता तो उसकी उपासना दृढ़ नहीं हो सकती. यदि भगवान का स्वरूप साकार न हो तो उनको कर्ता नहीं कह सकते, जिस प्रकार आकाश अरूप रहने से कर्ता नहीं होता तथा भगवान को एकदेशस्थ भी नहीं कह सकते. इसलिये, भगवान तो सदैव साकार ही हैं तथा अनेक ब्रह्मांडों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कर्ता हैं. वे सर्वदा अपने अक्षरधाम में विराजमान रहते हैं तथा राजाधिराज हैं. वे ही प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होते हैं. इस प्रकार के ज्ञान को सुदृढ़ रखना चाहिये. यह प्रथम लक्षण है.

जो ऐसे साधु भगवान की एकान्तिक भक्ति करते हैं और यदि कोई उन भगवान का नामस्मरण तथा कीर्तनादि करता हो, तो वे उसे देखकर मन में अति प्रसन्न होते हैं, यह दूसरा लक्षण है. भगवान के भक्तों के मध्य रहना हो, तो उसके लिये अपना स्वभाव बाधक न बने, यदि ऐसा स्वभाव हो तो उसका त्याग कर देना चाहिये, किन्तु भगवद्भक्तों के संग का परित्याग नहीं करना चाहिये. यदि अपने स्वभाव की आलोचना साधु द्वारा की जाय, तो भी उनके सम्बन्ध में अनुचित धारणा नहीं रखनी चाहिये, वरन् अपने स्वभावजन्य दोष को ही इसके लिये जिम्मेदार समझना चाहिये और उद्विग्न होकर भक्तों के समूह से दूर रहने का संकल्प मन में कभी भी नहीं करना चाहिये, परन्तु भक्तों के समुदाय में इसी प्रकार रहना चाहिये. यह तृतीय लक्षण है.

यदि उसे अच्छा वस्त्र, स्वादिष्ट भोजन, निर्मल जल तथा जो-जो अन्य अच्छे पदार्थ प्राप्त हों, तो वह मन में ऐसा संकल्प करें कि 'इन पदार्थों को यदि मैं भगवान के भक्त को अर्पित कर दूँ तो ठीक रहेगा.' इस प्रकार इन पदार्थों को भगवद्भक्त की सेवा में अर्पित करके प्रसन्न रहे. यह चतुर्थ लक्षण है.

भक्तों के समुदाय में वह रहता हो, परन्तु उसमें ऐसी धारणा नहीं

बननी चाहिये कि 'यह तो कितने ही वर्षों तक साथ में रहा है, फिर भी इसके हृदय की कुछ भी थाह नहीं लग पायी, कौन जाने यह कैसा होगा ? इसका तो कोई भी भेद नहीं मालूम पड़ता,' ऐसा न हो और आन्तरिक एवं बाह्य रूप से वह जैसा हो, उसे सब लोग जानते हों कि 'यह तो ऐसा है', इस प्रकार का सरल स्वभाववाला हो. यह पाँचवा लक्षण है.

शान्त स्वभाववाला हो, फिर भी कुसंगी का संग पसन्द न हो. यदि यह हो जाय, तो वह तप्त-क्रुद्ध-हो जाय, और इस प्रकार विमुख के संग के सम्बन्ध में स्वाभाविक रूप से अरुचि रहे. यह छठा लक्षण है. इन छह लक्षणों से युक्त साधु के हृदय में भगवान बिराजमान रहते हैं, ऐसा समझना चाहिये. यदि कोई ऐसे साधु से द्रोह करता है तो उसे भगवान के साथ द्रोह करने के सदृश पाप लगता है. यदि कोई इन साधु की सेवा करता है, तो भगवान की सेवा करने तुल्य उसका फल होता है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥३५॥ ॥२५८॥

वचनामृत ३६ : कल्याण का असाधारण साधन

सम्वत् १८८५ में वैशाख शुक्ल *प्रतिपदा को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन से घोड़ी पर सवार होकर श्रीलक्ष्मीवाड़ी में पधारे थे और बाड़ी के मध्य में स्थित चबूतरे पर विराजमान हुए थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने समस्त परमहंसों तथा हरिभक्तों से प्रश्न किया कि 'इस जीव के कल्याण का असाधारण साधन क्या है कि जिसमें उसके प्रवृत्त रहने से निश्चय ही उसका कल्याण हो जाय और उसमें अन्य कोई भी विघ्न-बाधा न डाल सके ? यह भी बताइये कि ऐसे कल्याण के साधन में बड़ा विघ्न कौन-सा है, जिसके कारण उसमें से निश्चय ही पतन हो जाता है ?'

सभी परमहंसों तथा हरिभक्तों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार उत्तर दिया, किन्तु इस प्रश्न का समाधान नहीं हुआ. तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'कल्याण का असाधारण साधन तो यह है कि पुरुषोत्तम भगवान को

---

* मंगलवार, ४ मई, १८२९.

ब्रह्मज्योति के मध्य में अनादि साकार मूर्ति समझना चाहिये. उनके ही सब अवतार हैं, यह समझकर उन प्रत्यक्ष भगवान का भक्तिभावपूर्वक आश्रय ग्रहण करना चाहिए और धर्म सहित भगवान की भक्ति करनी चाहिये, तथा ऐसी भक्तिवाले साधु का संग भी करना चाहिये. यही कल्याण का असाधारण साधन है. उसमें दूसरे कोई विघ्न रुकावट नहीं डालते.

फिर भी, उस साधन में बड़ा विघ्न 'शुष्क वेदान्ती का संग करना है.' जो पुरुष उसका संग करता है, उसके साथ उस पुरुष का स्नेह हो जाता है. यह स्नेह गुण द्वारा होता है. जैसे कोई पुरुष किसी मनुष्य को दुर्भिक्ष की स्थिति में खाद्यान्न प्रदान कर उसे जीवित रखता है तो उससे स्नेह हो जाता है, वैसे ही गुण प्रकट करनेवाले के साथ प्रेम बना रहता है. उसी प्रकार, जब वह शुष्क वेदान्ती उस पुरुष के समक्ष यह गुण दिखलाता है कि आत्मा का जन्म-मरण नहीं होता, वह तो निराकार है, चाहे वह कितने ही पाप करे तो भी उसे दोष नहीं [१]लगता, ऐसा गुण उसे बताकर जब भगवान की मूर्ति के आकार का खंडन किया जाता है, तो वही बड़ा विघ्न बन जाता है. इस कारण भगवान की मूर्ति के आकार की आलोचना करनेवाले उस शुष्क वेदान्ती का कभी भी संग नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह शुष्क वेदान्ती तो घोर अज्ञानी है और भगवान की भक्ति के मार्ग में ऐसा बड़ा कोई अन्य विघ्न नहीं है.'

इतनी वार्ता कहने के पश्चात् श्रीजीमहाराज पुनः दादाखाचर के राजभवन में पधारे. वहाँ उन्होंने पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर बैठकर इस प्रकार वार्ता कही कि 'हमने सभी शास्त्रों का श्रवण करके यह सिद्धान्त निर्धारित किया है. हमने इस पृथ्वी के सभी स्थानों का भ्रमण किया है और वहाँ अनेक सिद्धपुरुष देखे हैं.' इतना कहकर उन्होंने [२]गोपालदासजी आदि साधुओं की वार्ता कही. इसके पश्चात् वे इस प्रकार बोले कि 'मैं तो यह जानता हूँ कि भगवान की मूर्ति की उपासना तथा उसका ध्यान किये बिना आत्मा तथा [३]ब्रह्म को देखा ही नहीं जा सकता.

---

१. परमात्मा भी नित्य निर्विकारी गुणयुक्त हैं. उन परमात्मा और जीवात्मा में वास्तविक भेद कभी भी नहीं रहता.

२. गोपालदासजी नामक अष्टांगयोगी, जो श्रीजीमहाराज को नेपाल में मिले थे.

३. परमात्मा के लिये.

केवल उपासना द्वारा ही आत्मा एवं ब्रह्म के दर्शन हो सकते हैं. उपासना किये बिना आत्मा और ब्रह्म को देखने की इच्छा कैसी है ? जिस प्रकार आकाश को जीभ से सौ वर्ष तक चाटा जाय, तो भी उससे कभी भी खट्टा-खारा स्वाद नहीं आता, उसी तरह भगवान की मूर्ति की उपासना किये बिना आत्मा और ब्रह्म दृष्टिगोचर हो ही नहीं सकते. इसके लिये चाहे कितना ही यत्न किया जाय, तो भी नहीं [१]दिखायी पड़ते. निर्बीज (निरीश्वर) सांख्य तथा योग द्वारा आत्मा के दर्शन की जो बात शास्त्रों में कही गयी है, वह भले ही वहाँ हो, परन्तु हमें तो ऐसा कोई भी व्यक्ति या योगी दिखायी नहीं पड़ा और ऐसी वार्ता का अनुभव भी नहीं हुआ. इसलिये, वह वार्ता मिथ्या है.' ॥ इति वचनामृतम् ॥३६॥ ॥२५९॥

वचनामृत ३७ : दरिद्रता की स्थिति

सम्वत् १८८५ में वैशाख शुक्ल *तृतीया को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में गद्दी पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने समस्त साधुओं तथा हरिभक्तों से यह वार्ता कही कि 'जिसे भगवान के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान एक बार हो गया हो और बाद में यदि उसके लिये देश, काल, क्रिया और संग विषम हो जायँ, तो भी वह ज्ञान लेशमात्र भी नहीं मिट पाता. यहाँ एक दृष्टान्त है-जैसे कोई बड़ा राजा अथवा कोई बड़ा लखपति साहूकार हो और प्रारब्ध के अनुसार यदि वह ऐसे वैभव से वंचित हो जाय तथा दरिद्रता की स्थिति उत्पन्न होने पर उसे रूखा-सूखा या डोडी की भाजी, कैथ, बेर तथा पकाये हुए करौंदे आदि मामूली चीज़ें खाने को मिलें तो वह उन्हें खाता तो जरूर है, फिर भी जब उस पहले खायी हुई बढ़िया मेवा और खाये हुए मूल्यवान खाद्यपदार्थों की याद आ जाती है, तो वह अपने मन में यह विचार करने लगता है कि

---

* गुरुवार, ६ मई, १८२९.

१. इसलिये, आत्मा और परमात्मा के दर्शन करने के इच्छुक भक्तों को मनुष्याकृतिवाले भगवान का ध्यान करना चाहिये, ऐसा हमारा सिद्धान्त है.

'पहले मैं बहुत अच्छे स्वादिष्ट खाद्यपदार्थ खाया करता था, किन्तु अब रूखा-सूखा खाता हूँ.' इस प्रकार जब-जब वह ऐसी चीजें खाता है, तब-तब उसे अपने पहले के सुखमय जीवन की याद आ जाती है. परन्तु, इसने पहले से ही रूखा-सूखा खाया होता और घोर दरिद्रता आने पर भी यदि वह वैसा ही खाना खाता रहता तो उसे किस बात का स्मरण होता ?

उसी प्रकार, जिसने भगवान के स्वरूप और भगवद्भजन के सुख को अपने मन में एक बार यथार्थ रूप से जान लिया है और बाद में जो समागम का योग न रहने से बाहर निकल गया हो तो भी वह उस सुख का स्मरण करके प्रारब्धानुसार सुख-दुःख को भोग सकता है, किन्तु उस सुख को नहीं भूलता. जिसने भगवान की भक्ति से मिलनेवाले सुख को नहीं जाना और जिसकी अनुभूति जिसे नहीं हुई है उसका स्मरण वह कैसे कर सकता है ? वह तो पशु के समान है.

अब भगवान के स्वरूप का ज्ञान बताते हैं और वह यह है कि भगवान का जो आकार है वैसे आकार अन्य देवों एवं मनुष्यों आदि में से किसी का भी नहीं है, जिनके स्वरूप प्रकृति में से प्रकट हुए हैं. काल तो भगवान के सिवा अन्य सभी लोगों का भक्षण करता रहता है. भगवान के स्वरूप में काल की सामर्थ्य काम में नहीं आती, ऐसे ये भगवान हैं. उन भगवान के समान केवल भगवान ही हैं, दूसरा कोई नहीं है. भगवान के धाम में, भगवान के साधर्म्यभाव को प्राप्त हुए जो भक्त हैं, उनका आकार भी भगवान के सदृश है, फिर भी वे पुरुष हैं. भगवान तो पुरुषोत्तम हैं और उनमें सर्वश्रेष्ठ हैं. वे उनके उपास्य हैं और सबके स्वामी भी हैं. उन भगवान की महिमा का कोई भी पार नहीं पाता. ऐसे दिव्यमूर्ति भगवान निर्गुण एवं ध्येय हैं. जो पुरुष उनका ध्यान करता है, वह निर्गुण हो जाता है. भगवान का ऐसा स्वरूप है. वे भगवान स्वयं अपने धामरूप एकदेशस्थ होकर अन्वयभाव से अनेक ब्रह्मांडों में रहे हैं. समस्त जीवों के समूह में वे उन्हें उनके कर्मों के अनुसार फल प्रदान करने के भाव से अन्तर्यामी रूप द्वारा रहे हैं. वे सब जीवों के जीवन हैं. उनके बिना यह जीव कुछ भी करने और भोगने में समर्थ नहीं हो पाता. वे भगवान स्वयं सिद्धेश्वर हैं. जैसे कोई सिद्ध पुरुष पृथ्वी पर बैठा होने पर भी ब्रह्मलोक के पदार्थ को इस हाथ द्वारा ग्रहण कर लेता है, वैसे ही एकदेशस्थ होने पर भी भगवान

अपनी योगकला की सामर्थ्य से समस्त क्रियाओं को करते रहते हैं.

जिस तरह काष्ठ और पाषाण में रहनेवाली अग्नि का स्वरूप अन्य प्रकार का है और काष्ठ तथा पाषाण का स्वरूप दूसरी तरह का है, वैसे ही सब जीवों में रहनेवाले भगवान का स्वरूप अन्य प्रकार का है और उस जीव का स्वरूप दूसरी तरह का है. ऐसे अनन्त ऐश्वर्यवाले ये भगवान ही स्वयं जीवों का कल्याण करने के लिये मनुष्य सदृश हो जाते हैं. जिसे उन भगवान के स्वरूप का ज्ञान इस प्रकार का हुआ हो, उनकी भक्ति की हो तथा उस ज्ञान-भक्ति के सुख का अनुभव अपने जीव में एक बार यथार्थ रूप से किया हो, तो उसकी विस्मृति कभी भी नहीं होती. चाहे कितने ही सुख-दुःख भोगने पड़ें, तो भी उनमें उन भगवान के स्वरूप की सुखानुभूति का विस्मरण ठीक उसी प्रकार नहीं होता, जैसे वह राजा अपने पूर्वसुख को दरिद्रता की स्थिति में भी नहीं भूलता.

यह वार्ता किसलिये करते हैं ? इसका कारण यह है कि ऐसे सत्संग का योग अभी तो है, परन्तु यह कदाचित्, देश, काल तथा प्रारब्ध की विषमता से पुनः उपस्थित न हो सके तब यदि ऐसी वार्ता का ज्ञान रखा हो तो उस जीव का कल्याण हो जाता है. यदि उसे ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाय, तो वह ऐसा कभी भी नहीं समझ सकता कि कभी मेरा कल्याण होगा. ऐसा योग दुर्लभ है, क्योंकि कभी यदि सत्संग से निकलना पड़े और देह द्वारा इस प्रकार का आचरण न हो सके, फिर भी उसने यदि इस वार्ता को समझ रखा हो तो उसका कल्याण हो जाता है. इसलिये, यह वार्ता कही है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥३७॥ ॥२६०॥

वचनामृत ३८ : मुक्तजनों का आकार

सम्वत् १८८५ में वैशाख शुक्ल *चतुर्दशी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'हमने सांख्यादि शास्त्रों पर विचार करके ऐसा

---

* सोमवार, १७ मई, १८२९.

निश्चय किया है कि माया के कार्य में से उत्पन्न सभी आकार मिथ्या हैं, क्योंकि ये समस्त आकार काल के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं. किन्तु, भगवान के अक्षरधाम में स्थित भगवान का आकार तथा उनके पार्षद मुक्तजनों के आकार सत्य, दिव्य और अतिशय प्रकाशयुक्त हैं. वहाँ उन भगवान तथा मुक्तजनों का आकार पुरुष के समान द्विभुज और सच्चिदानन्दरूप है. उस अक्षरधाम में निवास करनेवाले भगवान की सेवा उन मुक्तपुरुषों द्वारा नाना प्रकार के दिव्य उपचारों द्वारा की जाती है, तथा वे भगवान भी उन मुक्तपुरुषों को परम आनन्द प्रदान करते हुए वहाँ सदैव विराजमान रहते हैं. ऐसे सर्वोपरि पुरुषोत्तम भगवान ही दया करके जीवों के कल्याण के लिये इस पृथ्वी पर प्रकट होकर सभी भक्तजनों के समक्ष दृष्टिगोचर होते हैं. वे सबके इष्टदेव हैं और उनकी सेवा को अंगीकार करते हैं. ऐसे पुरुषोत्तम भगवान के स्वरूप और अक्षरधाम में स्थित भगवान के स्वरूप में कोई भी भेद नहीं है. वे दोनों एक ही हैं. ये प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम भगवान अक्षरादि के नियन्ता तथा ईश्वरों के भी ईश्वर हैं और सब कारणों के भी कारण हैं. वे सर्वोपरि हैं और समस्त अवतारों के अवतारी पुरुष हैं. ये भगवान ही आप सबके लिये एकान्तिक भाव से उपासना करने योग्य हैं. इन भगवान के इससे पहले अनेक अवतार हो चुके हैं और वे पूर्णतः वंदनीय एवं अर्चनीय हैं.'

श्रीजीमहाराज ने यह वार्ता भी कही कि 'जिस पुरुष को द्रव्यादि का लोभ, स्त्रियों के बीच बैठने-उठने की वासना, स्वादिष्ट पदार्थों मे जिह्वा की आसक्ति, देहाभिमान, कुसंगी से स्नेह तथा सम्बन्धियों से प्रेम बना रहता है, उसे जीवन में और मरने के बाद कभी भी सुख नहीं मिल पाता. इसलिये, सुख की इच्छा रखनेवाले पुरुष को इन ६ बातों में लगाव रहने के स्वभाव का परित्याग कर देना चाहिये, तथा निवृत्तिपरायण होना चाहिये, किन्तु समवयस्क व्यक्तियों के साथ सोबत नहीं रखनी चाहिये. वास्तव में अपने जीव का सम्बन्ध तो उन देहाभिमानरहित, वैराग्यवान महान भगवद्भक्त साधु के साथ जोड़ देना चाहिये, जो भगवान के अल्पवचन के पालन का भंग होने की बात को बड़े वचन के पालन (निष्काम व्रत) का भंग होने समझते हों तथा उनके वचनों का पालन मन, कर्म और वाणी द्वारा करना चाहिये. विषयों के सम्बन्ध से तो दूर ही रहना चाहिये, परन्तु उनका

सम्बन्ध अपने नियमों का त्याग करके नहीं होने देना चाहिये. यदि विषयों से सम्बन्ध रखा गया, तो उसकी कोई स्थिति नहीं रहेगी. यह सिद्धान्त-वार्ता है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥३८॥ ॥२६१॥

वचनामृत ३९ : 'भगवान की माया क्या है ?'

सम्वत् १८८६ में आषाढ़ कृष्ण *दशमी को श्रीजीमहाराज श्रीगढडा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने समस्त परमहंसों और सत्संगियों के सामने यह वार्ता कही कि 'भगवान की माया क्या है ? उन्होंने बताया कि 'देह में अहंबुद्धि तथा शरीर सम्बन्धी पदार्थों में ममत्वबुद्धि' ही माया है. इस माया से मुक्त होना चाहिये. जिसने इस माया को नष्ट किया है, वह इस माया से तर गया कहलाता है. 'इस माया से मुक्त होकर भगवान से प्रीति करनी चाहिये.' समस्त शास्त्रों का यही सिद्धान्त है. भले ही इसे आज समझ लें या अनेक दिनों के बाद [१]समझें. हनुमान, नारद तथा प्रह्लाद-जैसे जो महान भगवद् भक्त हैं, उन्होंने [२]भी भगवान से यही माँगा है कि 'अहंममत्वरूपी माया से रक्षा करियेगा और आपसे प्रीति बनी रहे तथा उन साधुओं का संग बना रहना चाहिये, जो इस माया से तर गये हैं और आपसे प्रीति रखे हुए हैं. ऐसे साधु से ही हमारा स्नेह तथा ममत्व बना रहना चाहिये.' अतएव, हमें भी ऐसा करना और माँगना चाहिये तथा इनका श्रवण, मनन एवं निदिध्यास करना चाहिये.

भगवान के भक्त को आत्मनिष्ठा तथा भगवान के माहात्म्य का बल चाहिये. आत्मनिष्ठा क्या है ? अपनी आत्मा को देह से पृथक् जानना ही आत्मनिष्ठा है. यदि साधु के साथ रहने पर उनसे परस्पर किसी निमित्त बोलचाल हो जाय, किसी प्रकार का अहंता-ममता हो तथा मान, क्रोध,

---

* रविवार, २५ जुलाई, १८२९.

१. परन्तु, यह बात समझकर जो भक्त इस प्रकार का आचरण करेगा. वही सुखी होगा, अन्य पुरुष को सुख नहीं मिलेगा.

२. अहंममत्वरूपी माया का परित्याग कर भगवान से दृढ़ प्रीति रखी है और.

स्वाद, लोभ, काम, मत्सर और ईर्ष्या आदि दुर्गुणों की प्रवृत्ति बनी रहे, तब स्वयं को अपनी आत्मा न जानने की स्थिति होने पर साधु के प्रति दुर्बुद्धि हो जाती है, जिसके फलस्वरूप इस जीव का अत्यन्त अनिष्ठ हो जाता है. इसलिये, आत्मा को अपनी देह से पृथक् जानना चाहिये.

वह आत्मा न तो ब्राह्मण है, न क्षत्रिय है और न कुनबी ही है. वह किसी का लड़का और किसी का बाप भी नहीं है तथा न उसकी कोई जाति और न उसका कोई रिश्ता ही है. वह आत्मा ऐसी है. यह आत्मा सूर्य एवं अग्नि के समान तेजस्वी तथा ज्ञातृत्व की भावना से युक्त है. अग्नि की ज्वाला तथा सूर्य की किरण तो जड़ हैं, क्योंकि वे उँगली से छूने पर भी खिसकती नहीं हैं. किन्तु, चींटी को यदि उँगली से छू दिया जाय तो वह खिसक कर उलटी चल पड़ती है. इसलिये आत्मा को ज्ञातृत्वभाव से युक्त बताया गया है. उसे सूर्य और अग्नि के सदृश तेजोमय बताया गया है, क्योंकि इसका आकार ऐसा तेजस्वी है. इसलिये, इस प्रकार कहा जाता है.

यह आत्मा अनेक योनियों को प्राप्त हुई है. ऐसा कहा जाता है कि 'समुद्र में जितना पानी है उतने परिमाण में इस जीवने अपनी माता का दूध पिया है.' यद्यपि उन विभिन्न योनियों में उसका देहान्त तो हुआ है, फिर भी उसकी आत्मा का नाश नहीं हुआ. अज्ञानावस्था में जब वह स्वयं को देहरूप मानता रहा था, तब भी यह नहीं मरी, तो अब हमें उसका (आत्मा के स्वरूप का) ज्ञान होने पर यह कैसे मरेगी ? ऐसी जो आत्मा है, उसे अपना स्वरूप मानना चाहिये.

अब भगवान का माहत्म्य कैसे जानना चाहिये ? वास्तव में भगवान तो अनेक ब्रह्मांडों के राजाधिराज हैं और जिन ब्रह्मांडों के ये अधिपति हैं, उन ब्रह्मांडों की भी कोई गणना नहीं है. इसीलिये, कहा गया है :–

'द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया,
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः ॥'

उस एक-एक ब्रह्मांड में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सात द्वीपों, सात समुद्रों, मेरु, लोकालोकादि पर्वतयुक्त पृथ्वी, चौदह लोकों तथा अष्ट आवरण की रचना आदि सामग्री सहित जो अनेक ब्रह्मांड हैं उनके अधिपति भगवान हैं. जैसे इन पृथ्वी के चक्रवर्ती राजा के जितने गाँव हों उनकी यदि गणना की जाय तो उसकी कितनी महत्ता जान पड़ती है ? किन्तु, भगवान के अधीनस्थ

जो ब्रह्मांड हैं, उनके लिये उनकी तो कोई गणना ही नहीं है, अतएव भगवान की तो अत्यधिक महिमा है. उन ब्रह्मांडों में यह जीव है, तब भगवान के समक्ष उसकी गिनती क्या हो सकती है ? ऐसी स्थिति में उसका अस्तित्व कुछ भी नहीं है और वह अतितुच्छ है.

उन भगवान ने इन ब्रह्मांडों में पंचविषय सम्बन्धी सुख जीवों को दिया है. वह सुख कैसा है ? उस सुख के लिये तो कितने ही पुरुष अपने सिर कटवाते हैं. जब यह सुख ऐसा महादुर्लभ-जैसा प्रतीत होता है तब भगवान की स्वयं की मूर्ति और उनके निजी धाम में जो सुख उपलब्ध होता है, वह तो अत्यन्त अपरिमित है. प्राकृत विषयों का जो सुख है, वह तो अन्य पदार्थों पर आधारित रहता है तथा वह पृथक्-पृथक् है. परन्तु, भगवान तो समस्त सुखों की राशि हैं. वस्तुतः भगवान सम्बन्धी सुख अविनाशी और अत्यन्त अलौकिक है. जैसे कोई बड़ा धनी गृहस्थ हो और अपने घर में अनेक प्रकार के भोजन करता हो, भोजन के बाद यदि वह अपनी बची हुई उच्छिष्ट रोटी का कुछ टुकड़ा कुत्ते के आगे डाल दे, तो उसे अत्यन्त तुच्छता द्योतक माना जाता है, और स्वयं भोजन करता हो, उसे तो महासुखमय कहा जाता है, वैसे ही भगवान ने ब्रह्मांडों में अनेक जीवों को जो पंचविषय सम्बन्धी सुख दिया है, वह तो कुत्ते को डाले गये रोटी के टुकड़े के समान अत्यन्त तुच्छ है, तथा भगवान सम्बन्धी जो सुख है, वह तो महाश्रेष्ठ है.

सुषुप्ति-अवस्था में इस जीव को भगवान प्रचुर सुख प्रदान करते हैं. वह कैसा प्रतीत होता है ? उसे चाहे कितनी ही शारीरिक वेदना होती हो, सुषुप्ति-अवस्था में वह सुखी हो जाता है. भगवान के चरणकमलों की रज को ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मीजी, राधाजी, नारद, शुक एवं सनकादिक नौ योगेश्वर भी, जो इतने महान हैं, निर्मान होकर अपने मस्तक पर लगाते हैं और अपनी मान-मर्यादा को छोड़कर इन भगवान की निरन्तर भक्ति करते रहते हैं.

भगवान ने जगत में कैसी विचित्र सृष्टि की रचना की है और किस प्रकार की चतुरता प्रकट की है कि वही देखिये कि मनुष्य में से मनुष्य, पशु में से पशु, वृक्ष में से वृक्ष और कीड़े में से कीड़ा उत्पन्न होता है. मनुष्य के अंगों में से यदि कोई अंग भंग हो गया हो, तो कोई भी चतुर व्यक्ति उसे यथावत् करने में किसी भी प्रकार से समर्थ नहीं हो पाता. ऐसी

अनेक कलाएँ भगवान में रही हैं. इस प्रकार भगवान का माहात्म्य समझकर तथा उन्हें सुखमय मूर्ति जानकर मनुष्य को अन्य समस्त पदार्थों से वैराग्य हो जाता है और एकमात्र भगवान से ही प्रीति होती है.

इस प्रकार पूर्वोक्त अपनी जीवात्मा तथा भगवान के माहात्म्य के ज्ञान की सिद्धि जिसे हो गयी है, वह चाहे कैसे भी पंचविषय सम्बन्धी सुख के बन्धन में कभी फँस गया हो, तो भी वह उससे बंधा नहीं रह सकता और उसे तोड़कर निकल ही जाता है, तब उस पुरुष की बात ही क्या है, जो विषयों के सुख का परित्याग करके आचरण-शील बना हुआ है. ऐसा पुरुष यदि बन्धन में न बंधे, तो इसमें क्या आश्चर्य है !

अतएव, इन दोनों प्रकार के ज्ञान का श्रवण करके उन्हें इसे अपने मन में दृढ़तापूर्वक स्थिर कर लेना चाहिये. जैसे कोई शूरवीर तथा तामसी मनुष्य हो और उसके किसी प्रतिद्वन्द्वी पुरुष ने उसके बाप को मार डाला हो तो उसे उससे भीषण वैर हो जाता है और तब वह उसके लड़के को मार डालता और उसके भाई की हत्या कर डालता है तथा स्त्री को छीन लेता है और माँ को मुसलमान के सिपुर्द कर देता है तथा गाँव और खेत लूट लेता है. इस प्रकार, जैसे-जैसे वह उसे पराजित करता है, वैसे-वैसे उसके मन में प्रतिशोध की भावना और तीव्र होती जाती है तथा जाग्रत एवं स्वप्नावस्था में उसे इस बात का विचार बना रहता है. वैसे ही जिसे इन दोनों बातों का निरन्तर ध्यान बना रहता है और उसे उस ज्ञान की सिद्धि हो जाती है, तब उस पुरुष को कैसा ही आपत्काल उपस्थित होने पर उसमें सहायता मिल जाती है.

जैसे हनुमानजी द्वारा विशल्यकारिणी(संजीवनी) औषधि लाने और उसे रामचंद्रजी(लक्ष्मणजी) को पिलाने से उनकी देह में लगे बाण अपने आप उसमें से बाहर निकल गये थे, वैसे ही जिस पुरुष के मन में ये दोनों बातें दृढ़ता से स्थिर हो गयी हैं, उनके फलस्वरूप उसके शरीर में से विषयभोगेच्छारूपी समस्त शल्य निकल जाते हैं यानी विषयभोग में से उसकी इन्द्रियों की वृत्तियाँ निकल जाती हैं ओर एकमात्र भगवान की ओर उन्मुख हो जाती हैं.

इसी प्रकार, सत्संगी भी उसे ही कहा जाता है, जिसे सत्यरूपी निजात्मा और सत्यरूप भगवान का ऐसा संग हो गया हो. दो प्रकार की इस वार्ता

को जो दैवी जीव सुनता है, उसके हृदय में जमकर वह रग-रग में फैल जाती है. जो आसुरी जीव इस वार्ता को सुनता है, उसके कान से तो वह बाहर ही निकल पड़ती है, किन्तु हृदय में नहीं उतरती, जैसे कुत्ता अगर खीर को खा जाय, तो वह उसके पेट में टिक ही नहीं सकती और उल्टी के रूप में निकल जाती है. यद्यपि खीर से भिन्न किसी भी अन्य खाद्यपदार्थ को स्वादिष्ट नहीं माना जाता, फिर भी वह (खीर) श्वान के पेट में रहकर नस-नस में नहीं फैल पाती. किन्तु, उसी खीर को यदि मनुष्य खा लेता है, तो वह उसके पेट में बनी रहती है और उसकी नस-नस में भी समा जाती है तथा उसे अत्यन्त स्वादिष्ट भी लगती है. उसी तरह, कुत्ता सदृश आसुरी जीव के हृदय में तो यह बात ही नहीं जम सकती, परन्तु मनुष्य सदृश दैवी जीव के हृदय में तो यह न केवल उतर ही जाती है वरन रग-रग में भी व्याप्त हो जाती है.

यह बात भी है कि भगवान तो केवल एक ही हैं. उन भगवान का भजन करके अनेक भक्त उनके साधर्म्यभाव को प्राप्त हो चुके हैं. फिर भी वे भगवान के समान तो नहीं हो सकते. यदि वे उन भगवान के तुल्य ही हो जायँ तब तो बहुत-से भगवान हो जायेंगे. उस दशा में जगत की स्थिति एक समान नहीं रह सकती, क्योंकि एक भगवान कहेंगे कि मैं जगत की उत्पत्ति करूँगा, दूसरे भगवान बोलेंगे कि मैं जगत का प्रलय करूँगा, तीसरे भगवान कहेंगे कि मैं पानी नहीं बरसाऊँगा, पाँचवें भगवान बतायेंगे कि मैं मानवधर्मों का प्रचलन पशुओं में भी करूँगा, जबकि इन से भिन्न अन्य भगवान यह बोलेंगे कि मैं पशुओं के धर्मों को मनुष्यों के बीच प्रचलित करूँगा. इस प्रकार जगत की समान स्थिति नहीं रह सकती.

यह भी जानना चाहिये कि संसार में किस प्रकार समस्त क्रियाएँ निरन्तर नियमानुसार होती रहती हैं, किन्तु उसमें तिलमात्र भी अन्तर नहीं पड़ने पाता. इसलिये, समस्त क्रियाओं के प्रवर्तक तथा सबके स्वामी मात्र एक ही भगवान हैं. ऐसा भी नहीं लगता कि भगवान के साथ किसी दूसरे का दाव लग जायगा. अतएव, भगवान तो एक ही हैं, फिर भी इनमें सब बातें आ गयी हैं. इस बात का जो रहस्य है, उसे केवल चतुर व्यक्ति ही समझ सकता है, किन्तु यह अन्य मनुष्य की समझ में नहीं आ सकती. इतनी बात समझकर जिसने इसे सुदृढ़ बना लिया है, उसकी सब बातें

सम्पूर्ण हो जाती हैं और उसके लिये कुछ भी करना बाकी नहीं रह जाता.'

श्रीजीमहाराज ने बताया कि 'हमने जो बात कही है, उसे सुनकर उसकी दृढ़ता भगवान के जिस भक्त में दिखायी पड़े, उसका ही संग करना चाहिये, तो इसे दिन-प्रतिदिन इस वार्ता पर दृढ़ता होती जायगी. इस प्रकार की जो बात हम करते हैं, वह बुद्धि की कल्पना से नहीं करते और अपनी सिद्धता दिखलाने के लिये भी नहीं करते. यह हमारी अनुभूत बात है. वास्तविकता तो यह है कि हम स्वयं जैसा आचरण करते हैं वैसी ही बात भी करते हैं, क्योंकि हमारे लिये स्त्रीधनादि पदार्थों तथा पंचविषयों का भारी योग है. जब कभी हम सूरत, अहमदाबाद, वड़ोदरा और वरताल जाते हैं, तब हज़ारों मनुष्य इकट्ठे होते हैं और हमारे प्रति आदर भावना प्रकट करते हैं. वे गाजेबाजे के साथ अतिसम्मानपूर्वक हमारा स्वागत करते हैं. वहाँ हमने बहुत बड़े-बड़े स्थान देखे हैं और हमारे लिये अधिकाधिक वस्त्रों तथा वाहनादि का योग भी उपस्थित होता है. फिर भी, हम अपनी आत्मा तथा भगवान के माहात्म्य के सम्मुख ही अपनी दृष्टि रखते हैं. तब इन समस्त वस्तुओं की अतितुच्छता सिद्ध हो जाती है. इनमें किसी भी स्थान पर बन्धन नहीं होता तथा पूर्वदेह की विस्मृति के समान इन सब वस्तुओं का भी विस्मरण हो जाता है. अतएव, ये दो बातें हमारे सामने सिद्ध हुई हैं. इस कारण, हम अपनी ओर से ऐसा आचरण करते हैं. दूसरा भी कोई कारण यदि इन दो बातों को सिद्ध करता हो, तो कदाचित् उसका भी योग उपस्थित हो सकता है. तब, उसके सम्बन्ध में भी ऐसा आचरण हो सकता है. इसलिये, यह बात अवश्य समझ लेनी चाहिये.'

इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने कृपा करके भक्तों को समझाने के लिये अपने आचरण के आधार पर यह वार्ता कही. स्वयं तो वे साक्षात् श्रीपुरुषोत्तमनारायण हैं. ।। इति वचनामृतम् ।।३९।। ।।२६२।।

इस प्रकार, श्रीजीमहाराज के इन वचनामृतों को मुक्तानन्द स्वामी, गोपालानन्द स्वामी, नित्यानन्द स्वामी तथा शुकमुनि नामक चार साधुओं ने मिलकर जैसा सुना है वैसा ही अपनी बुद्धि के अनुसार लिखा है. श्रीजीमहाराज दिन-प्रतिदिन इस प्रकार अनेक वार्ताएँ करते हुए और अपने भक्तों में आनन्द उमड़ाते हुए श्रीगढ़डा में विराजते थे.

मुक्तानन्दश्च गोपालानन्दो मुनिरुदारधीः ।
नित्यानन्दशुकानन्दौ चत्वारो मुनयस्तु ये ॥१॥

एतैः सङ्गत्य लिखितानीत्थं धर्मजनैर्हि ः ।
वचोऽमृतानि सर्वाणि यथामति यथाश्रुतम् ॥२॥

तत्रादौ दुर्गनगरे स्वामिनोक्तानि तेन तु ।
अष्टसप्ततिसङ्ख्यानितानि सन्तीष्टदानि हि ॥३॥

प्रोक्तानि च ततस्तेन सारंगपुरसंज्ञके ।
ग्रामेऽष्टादशसङ्ख्यानितानीष्टानि भवन्ति हि ॥४॥

तेनोक्तानि ततस्तानि ग्रामे कार्यायनाभिधे ।
सन्ति द्वादशसङ्ख्यानि सर्वसौख्यकराणि हि ॥५॥

लौहाभिधे ततो ग्रामे तानि प्रोक्तानि तेन च ।
सन्त्यष्टादशसङ्ख्यानि भक्ताभीष्टप्रदानि हि ॥६॥

ग्रामे पञ्चालसंज्ञेऽथ तेन तान्युदितानि वै ।
सन्त्येकान्तिकभक्तानां प्रेष्टानि सप्तसङ्ख्यया ॥७॥

पुनर्दुर्गपुरे तेन स्वामिना कथितान्यथ ।
सन्ति तानि सप्तषष्टिसङ्ख्यातानि हि तत्त्वतः ॥८॥

ततो वृत्तालयपुरे तेन धर्मसुतेन च ।
तानि विंशतिसङ्ख्यानि कथितानि भवन्ति हि ॥९॥

ततः श्रीनगरे तानि प्रोक्तानि त्रीणि तेन च ।
श्रीभक्तिधर्मपुत्रेण सन्ति भक्तप्रियाणि हि ॥१०॥

कथितानि पुनस्तेन स्वामिना दुर्गपत्तने ।
तानि सन्त्येकोनचत्वारिंशत्सङ्ख्यानि तत्त्वतः ॥११॥

एवं हि तानि सर्वाणि मितानि द्विरसाक्षिभिः ।
सन्ति संलिखितानि श्रीमहाराजनिदेशतः ॥१२॥

इमानि ये पठिष्यन्ति श्रोष्यन्ति चादराज्जनाः ।
भविष्यति हरौ तेषां भक्तिरेकान्तिकी ध्रुवम् ॥१३॥

आप्याययन्निजजनान् स्वकीयवचनामृतैः ।
जयति श्रीहरिः स्वामी श्रीमद्दुर्गपुरे प्रभुः ॥१४॥

स्वधर्मस्य च जीवात्मज्ञानस्य विरतेस्तथा ।
माहात्म्येन सह स्वीयज्ञानभक्त्योर्यथार्थतः ॥१५॥

लक्षणानि स्वभक्तेभ्यो य उवाच दयानिधिः ।
नानाविधैः प्रसङ्गैस्तं नमामो भक्तिनन्दनम् ॥१६॥

निजैर्वचोऽमृतैर्लोकेऽतर्पयद्यो निजाश्रितान् ।
प्रीतो नः सर्वदा सोऽस्तु श्रीहरिर्धर्मनन्दनः ॥१७॥

तद्वचोऽमृतपातारो ये स्तुस्तत्पदसंश्रयाः ।
सत्सङ्गिनः प्रसन्नास्ते भवन्त्वस्मासु सर्वदा ॥१८॥

॥ श्रीगढडा-अन्त्यप्रकरणं समाप्तम् ॥

॥ इति श्रीभक्तिधर्मात्मजश्रीसहजानन्दस्वामिनावचनामृतानि सम्पूर्णानि ॥

श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ।

भूगोलखगोलवचनामृतम्

श्रीजीमहाराज ने आषाढ़ी वर्ष १८७६ में भाद्रपद शुक्ल *एकादशी को श्रीगढडा के भक्तिबाग में हरमावृक्ष के नीचे बैठकर शुकानन्दमुनि द्वारा हरिभक्तों के लिये जो पत्र लिखवाया, उसका उद्देश्य भूद्वीप खंड युगपरिमाण तथा प्रलयवर्णनपूर्वक भरतखंड में मनुष्यजन्म की दुर्लभता का वर्णन करते हुए भी उससे अन्य लौकिक प्रवृत्ति का आग्रह न करके मोक्षरूपी कार्य सिद्ध कर लेने पर जोर देना था. उस बात का वर्णन हरिलीलामृत के छठे कलश के ११-१२ विश्राम में किया गया है. यह पत्र उसके अनुरूप होगा या उसका भिन्न प्रकार होगा, इसका विचार किये बिना इसे उपयोगी समझ कर ही इसको पृथक् रूप से मुद्रित कराया गया है.

श्रीमद्भागवत आदि सद्ग्रन्थों में लिखा हुआ है कि भरतखंड में मनुष्यदेह प्राप्त करना अतिदुर्लभ है तथा चिन्तामणि तुल्य है. यह एक ऐसी देह है, जिसे पाने की इच्छा इन्द्रादि देवता तक किया करते हैं. यद्यपि इन देवताओं के विषय, वैभवविलास तथा आयुष्य मनुष्यों की अपेक्षा अत्यधिक हैं, परन्तु वहाँ मोक्ष का साधन नहीं रहता. मोक्ष का साधन तो भरतखंड में मनुष्यदेह प्राप्त करने से ही होता है. उसके सिवा यह साधन किसी अन्य स्थान में कोई दूसरी देह धारण करने से नहीं होता. इस कारण समस्त देशों की अपेक्षा मृत्युलोक के भरतखंड में मनुष्यदेह प्राप्त करना अधिक उत्कृष्ट माना गया है. उसके तुल्य कोई अन्य स्थान चौदह लोकों तक में नहीं है.

उन चौदह लोकों के नाम इस प्रकार है. यह मृत्युलोक है, उसके ऊपर छह लोक हैं, जिनमें प्रथम भुवर्लोक है. उसमें मलिन देव रहते हैं. उससे ऊँचा दूसरा लोक स्वर्गलोक है. उसमें इन्द्रादि देव निवास करते हैं. उससे ऊँचा तीसरा लोक महर्लोक है, जिसमें अर्यमादि पितृदेव रहते हैं. उससे ऊँचा चौथा लोक जनलोक तथा पाँचवाँ लोक तपलोक है. इन दोनों लोकों में भृगु आदि ऋषि रहते हैं. उससे ऊपर छठा लोक सत्यलोक है. उसमें

* ११ नवम्बर, १८०६ से २१ नवम्बर, १८०६ तक.

ब्रह्मा रहते हैं. इस प्रकार सत्यलोकसहित सात लोक हैं.

मृत्युलोक से नीचे जो सात लोक हैं, उनमें प्रथम अतल, दूसरा वितल और तीसरा सुतल है. इन तीनों लोकों में दैत्य रहते हैं. सुतल से नीचे तलातल, दूसरा महातल और तीसरा रसातल है. इन तीनों लोकों में निशाचर रहते हैं. इन निम्न छह लोकों से नीचे सातवाँ लोक पाताल है, जिसमें सर्प रहते हैं. ये सातों लोक मृत्युलोक से नीचे हैं. इन्हें मिलाकर कुल चौदह लोक हुए. उनमें मृत्युलोक श्रेष्ठ है.

उस मृत्युलोक के सात द्वीप हैं, जो चक्राकार है. उनके मध्य जंबुद्वीप है. वह एक लक्ष योजनावाला है. उसकी चारों तरफ खारे जल का समुद्र है. वह भी एक लाख योजन तक फैला हुआ है. उससे दूसरा प्लक्ष नामक द्वीप है. वह दो लक्ष योजन का है. उसकी चारों ओर समुद्र भी दो लाख योजन का है. उसका जल ईक्षु (गन्ना) के रस के समान है. उससे तीसरा शाल्मलि द्वीप है. वह चारों ओर है और चार लाख योजन का है. उसकी चारों तरफ समुद्र है तथा वह चार लाख योजन का है. उसका जल सुरा (मद्य) के समान है. उससे चौथा कुशद्वीप है. वह चारों ओर है और आठ लाख योजन का है. उतना ही बड़ा समुद्र चारों ओर है. उसका जल घृत (घी) के सदृश है. उससे पाँचवाँ क्रौंचद्वीप है. वह सोलह लाख योजन का है. उतना ही बड़ा समुद्र चारों ओर है और वह सोलह लाख योजन का है. उसका जल क्षीर (दूध) के समान है. उससे छठा शाकद्वीप है. वह बत्तीस लाख योजन का है. उसकी चारों ओर का समुद्र भी उतना ही बड़ा है. उसका जल दधिमंडोद (दही के घोल) के समान है. उससे सातवाँ पुष्करद्वीप है. वह चौसठ लाख योजन का है. उसका जल सुधा (अमृत) के समान मधुर है. इस प्रकार के सात द्वीप हैं. उनमें यह द्वीप श्रेष्ठ है.

इस जम्बुद्वीप के नौ खंड हैं. द्वीप के मध्यभाग में सुवर्ण का मेरुपर्वत है. उस पर्वत की तराई में चारों तरफ फैला हुआ ईलावर्त नामक एक खंड है. वहाँ संकर्षण की उपासना होती है. वहाँ शिवजी मुख्य भक्त हैं. उस मेरुपर्वत से पश्चिम दिशा में केतुमाल नाम का खंड है. उसका दूसरा नाम 'सुभग' भी है. वहाँ प्रद्युम्न की उपासना होती है. और लक्ष्मीजी मुख्य भक्त हैं. उस मेरुपर्वत से उत्तर दिशा में तीन खंड हैं. उनमें प्रथम 'रम्यक' नामक खंड है, जिसमें मत्स्य भगवान की उपासना होती है. वहाँ सावर्णिमनु

मुख्य भक्त हैं. उससे उत्तर में दूसरा 'हिरण्यमय' खंड है. उसमें कूर्मजी की उपासना होती है. वहाँ अर्यमा मुख्य भक्त हैं. उससे उत्तर में तीसरा 'कुरुखंड' है, जिससे वाराह की उपासना की जाती है. वहाँ पृथ्वी मुख्य भक्त है. इस प्रकार ये पांच खंड हुए. उस मेरुपर्वत से पूर्व दिशा में 'भद्राश्व' नामक खंड है. वहाँ हयग्रीव की उपासना होती है. वहाँ भद्रश्रवा मुख्य भक्त हैं. उस मेरुपर्वत से दक्षिण दिशा में तीन खंड हैं. उनमें प्रथम 'हरिवर्ष' खंड है. वहाँ नृसिंहजी की उपासना की जाती है और प्रह्लादजी मुख्य भक्त हैं. उससे दक्षिण दिशा में दूसरा किंपुरुष नामक खंड है, जहाँ रामजी और लक्ष्मणजी की उपासना की जाती है तथा हनुमानजी मुख्य भक्त हैं. उससे दक्षिण दिशा में भरतखंड है. वहाँ नरनारायण देव की उपासना की जाती है और नारदजी मुख्य भक्त हैं.

इस प्रकार इस जम्बुद्वीप के ९ खंड हुए. उनमें 'भरत' खंड अतिश्रेष्ठ है. इसका कारण क्या है ? वह यह है कि अन्य आठ खंडों में भोगविलास के सुख तो अत्यधिक हैं, किन्तु मोक्ष का साधन नहीं रहता. मोक्ष का साधन तो एकमात्र भरतखंड में भी रहता है. इस कारण चौदह लोकों में इस भरतखंड तुल्य कोई अन्य स्थल नहीं है. भरतखंड में भी तेरह देश हैं. वे अनार्य अर्थात् कठोर है. इनमें (१) बंगाल, (२) नेपाल, (३) भूतान, (४) कामाक्षी, (५) सिन्ध, (६) काबुल, (७) लाहौर, (८) मुलतान, (९) ईरान, (१०) इस्तम्बुल, (११) अरबस्तान, (१२) स्वाल तथा (१३) पिलपिलाम है. ये तेरह देश मलिन हैं. इनमें जो मनुष्य देह पाता है, उसके लिये मोक्षदाता सद्गुरु का योग मिलना तथा मोक्षधर्म को समझना अत्यन्त दुष्कर रहता है.

दूसरे साढ़े बारह देश भी हैं. वे आर्य अर्थात् उत्तम हैं. इनके नाम इस प्रकार हैं. (१) पूर्व, (२) व्रज, (३) मालव, (४) मारु, (५) पंजाब, (६) गुजरात, (७) दक्षिण, (८) मलबार, (९) तिलंग, (१०) द्राविड़, (११) बारमलार, (१२) सोरठ तथा आधा कच्छ. ये साढ़े बारह देश उत्तम हैं. इनमें सद्गुरु तथा ब्रह्मवेत्ता हैं. इनका प्राकट्य अधिक रहता है. इन देशों में जो पुरुष मनुष्य देह पाते हैं, उन्हें धर्म, भक्ति, वैराग्य तथा ज्ञान का बोध हो जाता है और मोक्षमार्ग का भी ज्ञान मिल जाता है.

इन बातों की जानकारी कैसे होती है ? सुनिये, इन उत्तम देशों में भगवान के अनेक अवतार होते हैं. इसीलिये इन देशों की श्रेष्ठता बनी हुई

है. यदि भरतखंड के सभी मनुष्य उपाय करते हैं, तो मोक्ष होता है. यदि वे ऐसा उपाय नहीं करते, तो मोक्ष नहीं हो सकता. विवेकी पुरुषों को हिंसादोषरहित होकर और कुसंग का परित्याग करके सद्गुरु एवं ब्रह्मवेत्ता सन्त का आश्रय ग्रहण करना चाहिये तथा उनकी सेवा करनी चाहिये. उन सद्गुरु और सन्त के लक्षण सद्ग्रन्थों में लिखे हुए हैं. यदि वे धर्म, भक्ति, वैराग्य तथा ज्ञान से सम्पन्न हों तो उनकी पहचान करके ही उनका आश्रय ग्रहण करना चाहिये और उनकी आज्ञा के अनुसार उनके वचनों के प्रति अपनी देह, इन्द्रियों और अन्तःकरण द्वारा ध्यान देना चाहिये तथा भगवान का भजन करना चाहिये. मोक्ष का यही साधन है. जिसने भूतकाल में इस मोक्षसाधन को अपना लिया, वर्तमानकाल में भी इसका उपयोग करता रहता है और भविष्यकाल में भी यदि वह इसको अपनाता रहता है, तो उसने मनुष्यदेह का अमूल्य लाभ ले लिया, यह समझना चाहिये. उसे ही विवेकशील और महान मानना चाहिये.

जो पुरुष ऐसा नहीं समझता, वह वस्तुतः संसार के तुच्छ सुख के लोभ में पड़कर तथा कालकवल मिथ्यामतवादी गुरुओं के वचनों का पालन करके ऐसी अमूल्य मनुष्य-देह को खो बैठता है. जगत में जो पुरुष चतुर, समझदार और महान कहलाते हों तथा उनकी यश-कीर्ति अधिक फैली हुई हो, तो भी वह स्वप्न-तुल्य है, जिसे सच्चा मानकर वे उससे मोहित हो चुके हैं और उन्हें मोक्ष का उपाय नहीं सूझ पड़ता. ऐसे पुरुषों को ब्रह्मवेत्ता सन्त तथा सद्ग्रन्थ मूर्ख और आत्मघाती बताते हैं. उन्हें ऐसे मोक्षक्षेत्र में फिर से मनुष्यदेह पाने में अधिकाधिक विलम्ब होता रहता है. यही बात सद्ग्रन्थों के अनुसार लिखी गयी है.

जब हमारे ६६६ वर्ष तथा ८ मास बीत जाते हैं तब ब्रह्मा का एक लव होता है. ६० लव का एक निमिष होता है. हमारे चालीस हज़ार वर्ष बीत जाने पर ब्रह्मा का एक निमित्त होता है. ऐसे साठ निमिषों का एक पल होता है. हमारे चौबीस लाख वर्ष बीतने पर ब्रह्मा का एक पल होता है. ऐसे ६० पलों की एक घड़ी होती है. हमारे चौदह करोड़ चालीस लाख वर्ष व्यतीत होने पर ब्रह्मा की एक घड़ी होती है. ऐसी तीस घड़ियों का एक दिन होता है. हमारे चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष होने पर ब्रह्मा का एक दिन होता है. इस प्रकार चार युगों की एक चौकड़ी होती है. सतयुग के

सत्रह लाख अट्ठाईस हज़ार, त्रेतायुग के बारह लाख छियानवे हज़ार, द्वापर के आठ लाख चौंसठ हज़ार तथा कलियुग के चार लाख बत्तीस हज़ार वर्षों को जोड़ने से जब तैंतालीस लाख बीस हजार वर्ष होते हैं, तब एक चौकड़ी होती है. ब्रह्मा के एक दिन में युगों की एक हज़ार चौकडियाँ होती हैं. ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनुओं और चौदह इन्द्रों का समान रूप से राज्य करने के बाद विनाश हो जाता है. एक मनु तथा एक इन्द्र हमारे तीस करोड़, पचासी लाख, इकहत्तर हज़ार, चार सौ अट्ठाईस वर्ष, छह मास, पच्चीस दिन, बयालीस घड़ी, इक्यावन पल, पच्चीस निमिष, बयालीस लव तथा बारह लव के चौदहवें भाग में एक-एक रहकर चौदह इन्द्र हो जाते हैं. वे ब्रह्मा के लवनिमिषादि समस्त दिनों में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं. उसका नाम है नित्यप्रलय.

वह ब्रह्मा की एक रात्रि होती है. तब ब्रह्मा शयन करते हैं. तभी स्वर्गलोक, मृत्युलोक एवं पाताललोक, अर्थात् त्रिलोकी का नाश हो जाता है. जितना बड़ा दिन होता है उतनी ही बड़ी रात्रि होती है. जब हमारे आठ अरब, चौसठ करोड़ वर्ष होते हैं, तब ब्रह्मा का अहोरात्र होकर एक दिन होता है. उसका दिन-प्रतिदिन नाश होता है. दिवसान्तर में पुनः ऐसा होता है. उसका नाम निमित्तप्रलय कहलाता है. इसे ब्रह्मा के एक दिन की अवधि कहा गया है.

ऐसे तीस दिनों के एक मास, ऐसे बारह मासों के एक वर्ष तथा ऐसे एक सौ वर्षों तक ब्रह्मा देह रखते हैं. वे ब्रह्म जब देहोत्सर्ग करते हैं, तब उन चौदह लोकों सहित ब्रह्मांड का नाश हो जाता है. तब प्रकृति से उत्पन्न सबकुछ कार्य प्रकृति में विलीन हो जाता है. यह प्राकृत प्रलय कहलाता है. चौथा आत्यन्तिक प्रलय होता है. इस प्रलय में तो अनन्तकोटि ब्रह्मांडों का नाश हो जाता है. उस दिन प्रधानपुरुष के कारण प्रकृतिपुरुष अपने में अनन्त ब्रह्मांडों को प्रतिलोम करके स्वयं अक्षरपुरुष के तेज में लीन हो जाते हैं. इसे आत्यन्तिक प्रलय कहा जाता है.

प्रलयकाल में जैसे प्रतिलोम होते हैं वैसे ही उत्पत्तिकाल में अनुक्रमानुसार उनके द्वारा अनुलोम उत्पन्न होते हैं. ये तो चार प्रकार के प्रलय बताये गये हैं, परन्तु तीसरा प्राकृत प्रलय ब्रह्मा की आयुष्य-अवधि का कहा गया है. ऐसे साढ़े तीन करोड़ प्राकृत प्रलय हो जाते हैं. तब यह

जीव ऐसे मनुष्य शरीर को प्राप्त होता है. उस देह को वह वृथा मिथ्या मायिक सुख तथा मिथ्यामतवादी गुरु के आश्रय में रहने के कारण गँवा बैठता है. उस जीव को यमयातना, नरककुंडों के दुःखों तथा चौरासी लाख योनिजन्य शरीरों के कष्टों को भोगना पड़ता है. इसके पश्चात् पुनः साढ़े तीन करोड़ प्राकृत प्रलय होंगे. इसके पश्चात् जीव को फिर मोक्ष-क्षेत्र में ऐसा मनुष्य-शरीर प्राप्त होता है. इतना चक्कर काट कर उसे मनुष्य देह पाने में विलम्ब हो जाता है.

इसलिये, हे भाई ! चाहे तो आज समझकर मोक्षदाता सद्गुरु एवं सन्त का आश्रय ग्रहण करके उनकी आज्ञा के अनुसार अपने शरीर, इन्द्रियों एवं अन्तःकरण से काम लो तथा इस प्रकार अपनी आत्मा का कल्याण करके भगवान के धाम में पहुँच जाओ. यदि आज यह बात नहीं समझोगे तो तुम ऐसे मनुष्यशरीर को व्यर्थ ही गँवा बैठोगे, जो मोक्षसाधन का धाम है. यदि ऐसा हुआ, तो पुनः इस प्रकार का योग मिलने में पूर्वोक्त विलम्ब हो जायगा और तदनुसार कष्टों को भोगने की अवधि पूरी होने के बाद ही मोक्ष होने का योग आयगा. यदि विवेकपूर्वक चिन्तन नहीं करोगे, तो उस दिन भी मोक्ष नहीं हो पायगा. यह सिद्धान्तवार्ता है. जो विवेकशील हों, उन्हें इस बात पर विचार करना चाहिये. मूर्ख पुरुष तो श्रुति-स्मृति के मर्म को नहीं समझते. इसलिये, वे इस बात को नहीं समझ पायेंगे.

श्रीमस्तु

॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ॥

अहमदाबाद प्रदेश के अधिक वचनामृत

सम्वत् १८८२ में फाल्गुन कृष्ण *तृतीया को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीअहमदाबाद स्थित श्रीनरनारायण मन्दिर के समक्ष वेदिका पर गद्दी तकियायुक्त पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. मस्तक पर गुलाबी रंग की पाग सुशोभित थी. उस पाग में गुलाब के तुर्रे झुके हुए थे. कानों पर गुलाब के गुच्छे खोंसे हुए थे. गुलाब के अनेक हार कंठ में शोभायमान हो रहे थे. दोनों बांहों में गुलाब के बाजूबन्द थे. श्रीजीमहाराज के मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस समय श्रीजीमहाराज मुनिमंडल तथा हरिभक्तों से बोले, 'आप सब सुनिये. एक वार्ता करते हैं. सर्वप्रथम भगवान के स्वरूप का दृढ़ निश्चय करना चाहिये. वे भगवान कैसे हैं ? भगवान अपनी इच्छा से ही जीवों के कल्याण के लिये जन्म धारण करते हैं. वे जन्म धारण करते हुए भी अजन्मा हैं तथा देह-त्याग करते हुए भी अजर-अमर हैं, निरंजन हैं, अर्थात् माया के अंजन से रहित और मूर्तिमान हैं तथा स्वयंप्रकाश, परब्रह्म, अक्षरातीत, अन्तर्यामी हैं और अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के आधार हैं. मनुष्य-शरीर धारण करने और उसे त्याग देने की उनकी लीला तो एक नट के इन्द्रजाल जैसी है. वे अनन्तकोटि अक्षरादिक मुक्तों के नियन्ता तथा सबके स्वामी हैं. ऐसे श्रीपुरुषोत्तमनारायण पहले धर्मदेव और मूर्ति द्वारा श्रीनरनारायण के रूप में प्रकट होकर बदरिकाश्रम में तप करते हैं.

वे ही श्रीनरनारायण पृथ्वी में किसी प्रकार के विशिष्ट कार्यों को सम्पन्न करने के लिये मत्स्य, कच्छप, वाराह, वामन, राम एवं कृष्ण आदि देहों को ग्रहण करके तथा अपनी उन देहों द्वारा अन्य जीवों के देहाभिमान का त्याग कराकर और ब्रह्म-अभिमान को ग्रहण करवाकर अपनी देह तथा अन्य जीवों की देहों में सादृश्य दिखलाते हैं. जिस तरह काँटे द्वारा काँटे को

* सोमवार, २६ मार्च, १८२९.

निकाल कर काँटे का त्याग कर दिया जाता है, उसी प्रकार भगवान भी अन्य जीवों की देहों के समान अपनी देह का परित्याग कर डालते हैं. यही आख्यान महाभारत पुराण में है कि जब नृसिंहजी को देह-त्याग करने की इच्छा हुई, तब उन्होंने अन्तर्यामी रूप द्वारा शिव के हृदय में प्रेरणा करके शिव को शरभ की देह धारण करायी. इसके बाद उस शरभ तथा नृसिंहजी के बीच युद्ध हुआ. इसके पश्चात् नृसिंहजी ने अपनी देह का परित्याग कर दिया. इस प्रकार भगवान स्वतन्त्र रूप से अपनी इच्छा के अनुसार कोई भी देह ग्रहण करते हैं और उसका परित्याग कर डालते हैं. उदाहरणार्थ ऋषभदेव की देह दावानल में जल गयी तथा श्रीकृष्ण भगवान ने अपने पैर में तीर लगने पर अपना शरीरोत्सर्ग कर दिया. उस चरित्र को देखकर नास्तिक बुद्धिवालों तथा अभक्तों की मति भ्रमित हो जाती है और वे अपनी तरह भगवान में भी जन्म-मृत्यु का आरोपण करते हैं. तब उनकी बुद्धि में ऐसी धारणा होती है कि भगवान भी अपने कर्मानुसार देह धारण करते और छोड़ते हैं तथा यह कि नैष्कर्म्य कर्म करने पर ही कर्मों के मिटने से मुक्त हो जायेंगे.

इसके विपरीत आस्तिक बुद्धिवाले तथा हरिभक्त तो यह मानते हैं कि नास्तिक की समझ मिथ्या है. भगवान की देह तो नित्य है तथा भगवान में जन्म, शैशव, यौवन, वृद्धावस्था एवं मृत्यु आदि के रूप में देह के जो भाव बने रहते हैं, वह तो भगवान की लीला है. इसीलिये, काल तथा माया भगवान की देह में चेष्टा करने में समर्थ नहीं हो पाते. भगवान की देह में जो परिणामभाव (जन्म, मरण आदि भाव) दिखायी पड़ता है, वह तो भगवान की योगमाया से दीखता है. उसमें भगवान के भक्त मोह में नहीं पड़ते किन्तु अभक्तों की मति भ्रमित हो जाती है. जैसे नट के चरित्र को देखकर जगत के जीवों की मति भ्रमित हो जाती है, किन्तु नटविद्या को जाननेवालों का मतिभ्रम नहीं होता, वैसे ही पुरुषोत्तम श्रीनरनारायण अनेक देहों को धारण करने के पश्चात् उन्हें नट की तरह छोड़ देते हैं.

वे श्रीनरनारायण समस्त अवतारों के कारण हैं. श्रीनरनारायण में जो पुरुष मरणभाव की कल्पना करते हैं, उन्हें अनेक शरीर धारण करने पड़ते हैं. तब वे चौरासी लाख योनियों तथा यमपुरी के दुःखों के जाल में फँस जाते हैं और उनके लिये इन दुःखों का पार नहीं आता. जो पुरुष

श्रीनरनारायण में अजर-अमरभाव समझते हैं, वे कर्मों तथा चौरासी लाख योनियों से मुक्त हो जाते हैं.

इसलिये, अपने उद्धव-सम्प्रदाय के समस्त सत्संगी साधुओं को भगवान के अवतारों में, जो हो चुके हैं, अभी विद्यमान हैं और भविष्य में होंगे, कभी भी मरणभाव की कोई कल्पना नहीं करनी चाहिये. इस वार्ता को आप सब लोग लिख लेना.' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज ने अपना प्राकट्यभाव दिखलाया. इस वार्ता को सुनकर सबने उसी प्रकार श्रीजीमहाराज के स्वरूप के सम्बन्ध में निश्चय किया. ।। इति वचनामृतम् ।।४।।

५

सम्वत् १८८२ में फाल्गुन कृष्ण *चतुर्थी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीअहमदाबाद-स्थित श्रीनरनारायण मन्दिर से उत्तरवर्ती वेदिका पर बिछाये गये पलंग पर गद्दी-तकिया का टेका लगाकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. कंठ में गुलाब का बड़ा हार सुशोभित हो रहा था, पाग में पुष्पों का तुर्रा लटक रहा था. श्रीजीमहाराज दाहिने हाथ में तुलसी की माला फेर रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष बड़े-बड़े मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस समय कुबेरसिंहजी छड़ीदार ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! श्रीपुरुषोत्तम भगवान का असाधारण लक्षण क्या है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो अनेक जीवों के प्राण एवं नाड़ी को खींचकर उन्हें तत्काल समाधिस्थ कराने, लक्षावधि मनुष्यों से नियमों का पालन कराकर अपने वश में रखने तथा अक्षरादि मुक्तों को भी नियमबद्ध रखने की क्षमता रखता हो, उन्हीं लक्षणों को श्रीपुरुषोत्तम भगवान के असाधारण लक्षण बताया गया है, क्योंकि अन्यों में ऐसे कार्यों को सम्पन्न कराने का बिल्कुल सामर्थ्य नहीं रहता है.'

कुबेरसिंहजी ने दूसरा प्रश्न भी पूछा कि 'हे महाराज ! ब्रह्मांड तो असंख्य कोटि हैं तथा भगवान का अवतार तो इस ब्रह्मांड में जम्बुद्वीप के भरतखंड में ही होता है, तब अन्य ब्रह्मांडों में रहनेवाले असंख्य जीवों का उद्धार भगवान किस रीति से करते होंगे ?' कृपया यह बताइये.'

---

* मंगलवार, २७ मार्च, १८२९.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो भगवान इन ब्रह्माण्डों में विराजते हैं. वे ही भगवान सबके स्वामी हैं, तथा अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों में असंख्य जीवों के कल्याण के लिये प्रत्येक ब्रह्माण्ड में वे ही भगवान स्वयं देह-धारण करते हैं. उनकी शरण में असंख्य जीव होते हैं. इसके फलस्वरूप अनेक जीव अक्षरधाम में श्रीपुरुषोत्तम भगवान के चरणारविन्दों को प्राप्त होते हैं.' इस प्रश्न का यही उत्तर है.'

कुबेरसिंहजी ने यह भी पूछा कि 'हे महाराज ! भगवान को जाननेवाले सत्संगीजनों को क्या-क्या छोड़ देना चाहिये और क्या-क्या ग्रहण करना चाहिये ?' यह बताइये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इन मायिक पदार्थों की आशा सब प्रकार से छोड़ देनी चाहिये तथा भगवान सम्बन्धी आशा ग्रहण करनी चाहिये. यदि धनलिप्सा हो, तो ऐसी आशा करनी चाहिये कि भगवान के धाम में सोना, मोहरों और हीरा, रत्न, माणिक आदि अमूल्य पदार्थ उपलब्ध हैं. यदि हम भगवान का भजन करेंगे, तो ये सब पदार्थ हमें प्राप्त हो जायेंगे. किन्तु, मायिक पदार्थों की आशा नहीं रखनी चाहिये. यदि स्त्री-सम्बन्धी कामना हो, तो यह विचार करना चाहिये कि पर-स्त्री के प्रति यदि कुदृष्टि रखेंगे, तो चौरासी लाख योनियों में भटकना पड़ेगा और वहाँ घोर यातनाएँ सहन करनी पड़ेंगी. विषयभोगों में तो कुत्ते-गधे भी लिप्त रहते हैं. मुझे तो प्रकटपुरुषोत्तम मिले हैं. यदि वे अप्रसन्न होंगे, तो बड़ी हानि होगी. ऐसा विवेक रखकर कामवासना का परित्याग कर डालना चाहिये और भगवान सम्बन्धी सुख ग्रहण करना चाहिये.

यदि सम्बन्धीजनों में प्रीति रही हो, तो उसे छोड़ देना चाहिये और भगवान के दास सन्तजनों के साथ प्रीति रखनी चाहिये. देह में यदि अहंबुद्धि रहे, तो उसे छोड़कर भगवान के प्रति दासत्व बुद्धि रखनी चाहिये.

यदि भगवान अथवा सन्त अपने से किसी भी रीति से अप्रसन्न हुए हों, उन्होंने अपना तिरस्कार किया हो और इस कारण भगवान एवं सन्त के प्रति अपने हृदय भ कोई दुर्भावना उत्पन्न हो गयी हो, तो मन में से उसका त्याग कर देना चाहिये और अपनी भूल स्वीकार कर लेनी चाहिये तथा भगवान और सन्त का गुण ग्रहण करना चाहिये. इस प्रकार सीधे ढंग से चिन्तन करना चाहिये, किन्तु विपरीत रूप से कभी भी विचार नहीं करना

चाहिये. यह इस प्रश्न का उत्तर है.'

कुबेरसिंहजी ने पुनः प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! कृपया यह बताइये कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का कैसा स्वरूप रहता है ?'

श्रीजीमहाराज मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए बोले कि 'अर्थ का स्वरूप यह है कि जिसके द्वारा धन एकत्र किया जाय, अथवा मोक्ष सम्बन्धी अपना अर्थसाधन करना हो, यही अर्थ का स्वरूप है. धर्म का स्वरूप तो यह है कि धन का व्यय धर्म के लिये सत्संग में ही किया जाय, किन्तु कुमार्ग में कहीं भी इसे खर्च नहीं करना चाहिये. काम का स्वरूप यह है कि एक ही विवाहित स्त्री रखनी चाहिए और उसका केवल ऋतुकाल में ही संग करना चाहिये. जगत की अन्य स्त्रियों को माता, बहन और पुत्रीतुल्य मानकर मन में त्यागवृत्ति रखनी चाहिये. मोक्ष का स्वरूप यह है कि सत्संग सम्बन्धी व्रतों का पालन सावधान रहकर करना चाहिये तथा भगवान के स्वरूप के सम्बन्ध में अचल निश्चय रखना चाहिये. इन चारों का यही उत्तर है.' ऐसा कहने के पश्चात् श्रीजीमहाराज ने शयन किया. ॥ इति वचनामृतम् ॥५॥

सम्वत् १८८२ में फाल्गुन कृष्ण *षष्ठी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीअहमदाबाद स्थित श्रीनरनारायण मन्दिर के समक्ष वेदिका पर बिछाये गये पलंग पर, जिस पर गद्दी बिछी हुई थी और तकिया रखा हुआ था, उस पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे और कंठ में गुलाब के हार पहने थे. दोनों कानों पर गुलाब के गुच्छे लगे हुए थे और वे गुलाब का बड़ा गुच्छा करकमल में लेकर अपने मुखारविन्द पर घुमा रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

संध्या-आरती हो चुकने के बाद कुबेरसिंहजी ने श्रीजीमहाराज से यह प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! कोई ऐसा उपाय बतलाइये कि जिस पुरुष को हृदय में भगवान के स्वरूप के सम्बन्ध में यथार्थ निश्चय हो चुका हो, वह कभी भी न डिगने पाये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह बात तो सबके लिये सुनने योग्य है.

* गुरुवार, २९ मार्च, १८२९.

इसलिये, सब सावधान होकर सुनिये. यदि प्रत्यक्ष भगवान का इस रीति से माहात्म्य-ज्ञान हो जायगा, तो निश्चय नहीं डिग सकेगा. वही माहात्म्य कहते हैं कि जो भगवान इस सत्संग में विराजमान हैं, उन्हीं भगवान में से समस्त अवतार हुए हैं. वे तो स्वयमेव अवतारी हैं और वे ही सबके अन्तर्यामी भी हैं. वे ही अक्षरधाम में तेजोमय हैं, सदैव साकार रूप हैं तथा अनन्त ऐश्वर्ययुक्त हैं. वे ही अनन्त ब्रह्मांडों के राजाधिराज तथा अक्षरब्रह्म के भी कारण हैं.

वे भगवान जब प्रगट होकर ऋषभदेव का क्रियाकलाप करे, तब यह जान लेना चाहिये कि वे ऋषभदेव हैं, जब रामावतार का चरित्र करें, तब यह जानना चाहिये कि वे रामचन्द्रजी हैं तथा जब भगवान श्रीकृष्णावतार की लीला करें, तब यह समझ लेना चाहिये कि वे श्रीकृष्ण हैं. इसी प्रकार, जिस-जिस अवतार की क्रिया का ज्ञान हो जाय, तब ऐसा समझना चाहिये कि पहले भगवान के जितने अवतार हुए हैं, वे सब इनमें से ही हुए हैं और ये ही भगवान सभी अवतारों के कारण हैं. ऐसा विवेक रखने से उसका निश्चय नहीं डिगेगा. यदि ऐसी विवेक-बुद्धि नहीं रही, तो कुछ डगमगाहट जरूर हो जाती है. इस प्रश्न का यही उत्तर है.

वे ही श्रीकृष्ण भगवान स्वयं श्रीनरनारायण रूप से धर्म एवं भक्ति द्वारा प्रकट हुए हैं. इसलिये, इन श्रीनरनारायण को हमने अपना स्वरूप जानकर अति-आग्रह करके सर्व प्रथम इस श्रीनगर (अहमदाबाद) में प्रतिष्ठापित किया है. अतएव, इन श्रीनरनारायण और हमारे में तनिक भी भेदभाव नहीं रखना चाहिये. ये ही ब्रह्मधाम के निवासी भी हैं.'

इस प्रकार, श्रीजीमहाराज के वचन सुनकर कुबेरसिंहजी ने यह प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! कृपया यह बताइये कि यह ब्रह्मपुर कैसा है ? उसका स्वरूप कैसा है ? यह भी बताइये कि ब्रह्मपुर में भगवान के जो भक्त हैं, उनका कैसा स्वरूप है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'अक्षररूप जो ब्रह्म हैं वे ही श्रीपुरुषोत्तमनारायण के निवास के लिये धामरूप हुए हैं. सर्व [१]अक्षरब्रह्म की अपेक्षा भगवान के

---

१. सर्व अक्षरब्रह्म, अर्थात् ब्रह्मसंज्ञित अनन्तमुक्तों से भगवान का धामरूप जो अक्षरब्रह्म है, वह अनादि तथा सर्वश्रेष्ठ है । वे अक्षर मूर्त एवं अमूर्त स्वरूपधारी हैं ।

धामरूप जो अक्षरब्रह्म हैं वे अनादि हैं. उस अक्षरधाम में अनेक प्रकार के प्रासाद हैं. उन प्रसादों में कई प्रकार के झरोखे हैं. कितनी ही तरह की अटारियाँ है. उनमें अधिक चित्रविचित्रता है. वहाँ कई प्रकार के फव्वारे हैं, तरह-तरह के बाग-बगीचे हैं, उनमें अनेक तरह के फूल भी हैं. वह धाम तेजोमय तथा अनन्त है. उसका स्वरूप इतना दिव्य है कि उसकी उपमा किसी अन्य धाम के साथ नहीं की जा सकती. उसे गोलोक भी कहते हैं. अन्य धामों में जो अनन्त विभूतियाँ होती है उनकी अपेक्षा वहाँ असंख्यकोटि प्रकारों की अधिक शोभा बनी हुई है, जो अपार है.

इस प्रसंग में एक दृष्टान्त है कि जिस प्रकार आकाश अपार है और उसकी चारों ओर देखने पर भी उसका किसी भी दिशा में अन्त नहीं आता, वैसे ही उन भगवान के धाम का नीचे-ऊपर चारों तरफ कहीं भी अन्त नहीं है, क्योंकि वह अपार है. उसका पार पाने का प्रयास यदि किया भी जाय, तो भी उसका पार नहीं मिल सकता. ऐसा महान है वह ब्रह्मपुर. उस ब्रह्मपुर में जो पदार्थ हैं, वे सब दिव्य चैतन्यमय हैं. उस धाम में असंख्य पार्षद रहे हैं. वे दिव्य आकारसहित तेजोमय हैं तथा समस्त भूतप्राणीमात्र के अन्तर्यामी हैं. वे सब भगवान की सेवा में निरन्तर तत्पर रहे हैं. उसी धाम तथा अक्षरादिमुक्तों के स्वामी परब्रह्म पुरुषोत्तम ही इस सत्संग में विराजमान हैं. जिनका ऐसा निश्चय हो चुका है, वे ही ब्रह्मधाम को पाते हैं.' ॥ इति वचनामृतम् ॥६॥

सम्वत् १८८२ में फाल्गुन कृष्ण *सप्तमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीअहमदाबाद स्थित श्रीनरनारायण के मन्दिर में द्वार के समीप वासुदेव माहात्म्य ग्रन्थ का वाचन करा रहे थे. इसके पश्चात् वे उठे और द्वार के निकटवर्ती नीमवृक्ष के नीचे पलंग पर विराजमान हो गये. उस समय सायंकाल हो चुका था. उन्होंने मस्तक पर गुलाबी रंग की पाग बाँधी थी, उसमें गुलाब के तुर्रे खोंसे थे. उनके कंठ में गुलाब के अनेक हार पड़े हुए थे. उन्होंने श्वेत पिछौरी ओढ़ रखी थी और सफेद चूड़ीदार पायजामा पहना था. वे पूर्व की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे. उनके मुखारविन्द के

* शुक्रवार, ३० मार्च, १८२९.

समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस समय प्रागजी दवे ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज! कृपया यह बताइये कि आपके स्वरूप में मन किस प्रकार स्थिर हो सकता है, और वह वृत्ति कभी भी विच्छिन्न न हो सके.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'आपके प्रश्न का उत्तर देते हैं, उसे आप सुनिये.' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान के माहात्म्य का ज्ञान होने से भगवान के स्वरूप में मन की वृत्ति स्थिर हो जाती है. उस माहात्म्य को जानने की रीति कहते हैं.' पहले हमने पीपलाणा ग्राम में लाधा विप्र के घर रामानन्द स्वामी से यह पूछा था कि 'आप सनातन ईश्वर हैं या आधुनिक ईश्वर?' तब रामानन्द स्वामी तो बोले ही नहीं. जब हम १८६९ के दुर्भिक्ष के समय बीमार पड़े थे, तब हम क्षीरसागर में शेष-शय्या पर शयन करनेवाले शेषशायी नारायण के पास गये. वहाँ हमने रामानन्द स्वामी को देखा. उस समय उन्होंने सफेद धोती पहनी थी और पिछौरी ओढ़ी थी. ऐसे ही अन्य अनेक भक्तों को भी हमने शेषशायी नारायण के चरणारविन्दों के समीप बैठा हुआ देखा. तब हमने नारायण से पूछा कि 'ये रामानन्द स्वामी कौन हैं?' नारायण ने बताया कि 'ये तो ब्रह्मवेत्ता हैं.' नारायण के ऐसे बोलते-बोलते ही रामानन्द स्वामी तो नारायण के शरीर में लीन हो गये.

इसके पश्चात् हम देह में जाग्रत हुए. तत्पश्चात् जब हमने अन्तर्दृष्टि की तब प्रणवनाद को देखा. उसे देखते ही देखते भगवान शंकर का वाहन नन्दीश्वर आ गया. उस पर सवार होकर हम कैलास पर्वत पर शिवजी के पास गये. वहाँ गरुड़ आ गया. उस पर बैठकर हम वैकुंठ तथा ब्रह्मधाम में गये. वहाँ गरुड़ भी नहीं उड़ सका, इस कारण हम अकेले ही उन सबसे आगे की ओर श्रीपुरुषोत्तमधाम में गये. वहाँ भी मैं ही पुरुषोत्तम हूँ. मैंने अपने सिवा दूसरा कोई बड़ा नहीं देखा. इतने स्थानों पर घूमने के बाद हम देह में आये, और पुनः अन्तर्दृष्टि करने पर हमें ऐसा प्रतीत हुआ कि समस्त ब्रह्मांडों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कर्ता भी मैं ही हूँ तथा असंख्य ब्रह्मांडों के असंख्य शिव, असंख्य ब्रह्मा, असंख्य कैलास, असंख्य वैकुंठ और गोलोक, ब्रह्मपुर एवं असंख्य करोड़ अन्य स्थल मेरे ही तेज से तेजोद्दीप्त बने हुए हैं.

मैं कैसा हूँ? यदि मैं अपने पैर के अँगूठे से पृथ्वी को हिला दूँ, तो

असंख्य ब्रह्मांडों की पृथ्वी डिगने लग जायगी. मेरे तेज द्वारा ही सूर्य, चन्द्रमा तथा तारागण आदि तेजोमय बने हुए हैं. ऐसा जो मैं हूँ वैसा मेरे सम्बन्ध में समझकर यदि निश्चय किया जाय, तो भगवान में (मुझ में) मन की वृत्ति स्थिर हो जायगी और वह कभी भी विच्छिन्न नहीं होगी.

जो-जो जीव मेरी शरण में आये हैं, वे यदि ऐसा समझ लेंगे, तो मैं उन सबको अपना सर्वोपरि धाम प्राप्त करा दूँगा तथा उन्हें अन्तर्यामी जैसा कर दूँगा, और उन्हें इतना सामर्थ्यवान बना दूँगा कि वे ब्रह्मांडों की उत्पत्ति आदि करने में समर्थ हो जायँ. परन्तु, सामर्थ्य प्राप्त करने के पश्चात् कोई स्वयं को इतना बड़ा जानने लगे कि मैं ही बड़ा हूँ और ऐसा जानते हुए ऋषिरूप प्रत्यक्ष श्रीनारायण की गणना ही न करे, ऐसा अहंकार नहीं आने देना चाहिये और यह समझ लेना चाहिये कि श्रीनरनारायण की करुणा द्वारा ही मैं इस महत्ता को प्राप्त हुआ हूँ.' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने इस प्रश्न का यह उत्तर दिया. ॥ इति वचनामृतम् ॥७॥

सम्वत् १८८२ में फाल्गुन कृष्ण *अष्टमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीअहमदाबाद-स्थित श्रीनरनारायण के मन्दिर से उत्तरदिशावर्ती धर्मशाला में साधुओं को भोजन कराते थे. उन्होंने सुन्दर श्वेत रुमाल मस्तक पर बाँधा था, सफेद दुपट्टा धारण किया था और बायें कन्धे पर दुपट्टा डालकर कमर बाँधी थी. उनके कंठ में गुलाब का बड़ा हार सुशोभित हो रहा था.

श्रीजीमहाराज ने पंक्ति में बैठे हुए साधुओं को लड्डू परोसते-परोसते यह वार्ता कही कि 'साधु को सर्व प्रकार से क्रोध जीत लेना चाहिये. वह क्रोध जब, तप, ज्ञान आदि समस्त शुभ गुणों का नाश कर डालता है. जिस निमित्त क्रोध उत्पन्न होता है, वह निमित्त अब बताते हैं. साधुओं में परस्पर प्रश्नोत्तर के समय, वाद-विवाद के अवसर पर, कोई पदार्थ लेने-देने में, किसी को शिक्षा देते समय, अपनी शुश्रूषा में रहनेवाले साधु के प्रति पक्षपातवश, उस साधु का अपमान किये जाने से, ईर्ष्या उत्पन्न होने पर, आसन लगाते समय तथा भगवान का प्रसाद बाँटने में न्यूनाधिकता रहने पर

---

* शनिवार, ३१ मार्च, १८२९.

क्रोध उत्पन्न हो जाता है. इस प्रकार क्रोध उत्पन्न होने के अनेक निमित्त होते हैं. यदि बड़ा साधु अथवा छोटा साधु किसी पर कुपित हो जाय, तो भी उस कोपभाजन बने पुरुष को उसके समक्ष साष्टांग दंडवत् प्रणाम करना चाहिये तथा गद्‌गदचित्त एवं दीनतायुक्त निष्कपटभाव से मधुर वचन द्वारा उसे प्रसन्न करना चाहिये, यह हमारी आज्ञा है.

यदि किसी साधु के सम्बन्ध में अपनी द्रोहबुद्धि के कारण कोई कुसंकल्प हो जाय, तो उसे उस साधु के सामने निष्कपट होकर अपने मुख से यह स्वीकारोक्ति करनी चाहिये कि 'हे महाराज ! इस तरह का बुरा संकल्प आपके सम्बन्ध में हुआ है. इसके बाद उस कुसंकल्प के दोष-निवारण के लिये उसे हाथ जोड़कर उससे क्षमा-प्रार्थना करनी चाहिये. यदि कोई साधु हरिभक्त पर कुपित हो जाय, तो उस साधु को वचन द्वारा उस गृहस्थ से क्षमा प्रार्थना करनी चाहिये और बैठकर नमस्कार करना चाहिये, परन्तु साष्टांग दंडवत् अभिवादन नहीं करना चाहिये. यदि सांख्ययोगी स्त्रियों में भी परस्पर कोपोत्पत्ति हो जाय तथा कर्मयोगी स्त्रियों के प्रति क्रोध हो जाय, तो वचन द्वारा क्षमा-प्रार्थना करनी चाहिये और बैठकर नमस्कार करना चाहिये. सांख्ययोगी पुरुष तथा साधु की तो एक ही रीति है.' जिस पर क्रोध उत्पन्न हो जाय, उसे अपने स्वामी श्रीनरनारायण का भक्त जानकर तथा तत्काल मान त्याग कर नमस्कार करना चाहिये और क्षमा-प्रार्थना करनी चाहिये, परन्तु देहदृष्टि नहीं रखनी चाहिये कि 'मैं बड़ा हूँ तथा उत्तम हूँ. यह तो बड़ा नहीं है, छोटा है.' अपने इष्टदेव श्रीनरनारायण भी क्रोध नहीं करते तथा मान नहीं रखते हैं. इसलिये, श्रीनरनारायण के आश्रित उद्धव-सम्प्रदायमतानुयायी हम सब लोगों को क्रोध तथा मान का समस्त प्रकार से त्याग कर डालना चाहिये. हमने क्रोध के लिये जो प्रायश्चित्त बताया है, उसे जो भी पुरुष करेगा, उस पर श्रीनरनारायण प्रसन्न होंगे और उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा तथा उसके काम, क्रोध, मान, लोभ, मद, मत्सर नष्ट हो जायेंगे. क्रोध उत्पन्न होने पर यदि कोई इस प्रायश्चित्त को न करे, तो उसे सर्पतुल्य ही जानना चाहिये, किन्तु उसे भगवान का भक्त नहीं मानना चाहिये.' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने वार्ता की उसे सुनकर साधु, समस्त हरिभक्त पुरुष एवं स्त्रियाँ, सभी परम आनन्द को प्राप्त हुये.

॥ इति वचनामृतम् ॥८॥

श्रीअश्लाली-वचनामृतम्

सम्वत् १८८२ में चैत्र शुक्ल *द्वितीया को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज ने श्रीअहमदाबाद नगर से गाजेबाजे के साथ प्रस्थान किया और सायंकाल वे श्रीअश्लाली ग्राम में पधारे तथा उस ग्राम से उत्तर दिशा में स्थित आम्रकुंज में उतरे और वहाँ मंच पर विराजमान हुए, उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कंठ में सुन्दर पुष्पों के हार पहने थे और पाग में फूलों के तुर्रे लटक रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

उस समय श्रीजीमहाराज मुक्तानन्द स्वामी तथा ब्रह्मानन्द स्वामी आदि समस्त साधुओं को सम्बोधित करते हुए इस प्रकार बोले कि 'आप सब सुनिये, एक बात कहते है कि जिस भक्त को भगवान का स्वरूप जानने में कोई भी न्यूनता रह जाती है तो, उससे उसमें बड़ा दोष रह जाता है, और उसे भगवान पुरुषोत्तम, जिन्हें श्रीकृष्ण, श्रीवासुदेव, श्रीनरनारायण, परब्रह्म तथा श्रीनारायण कहते हैं, के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता, यथार्थ सुख भी नहीं मिल पाता और वह एकान्तिक भक्त भी नहीं होता. अतएव, भगवान के एकान्तिक ज्ञानी भक्त का समागम करके ज्ञान की दृढ़ता कर लेनी चाहिये, क्योंकि भगवान के स्वरूप के ज्ञान को सुदृढ़ किये बिना क्या नही होता प्रजापति आदि जगत् के स्रष्टा भी बार-बार सृष्टि के साथ उत्पन्न होते हैं और अन्त में पुनः माया में लीन हो जाते हैं. परन्तु, श्रीपुरुषोत्तम भगवान के अक्षरधाम को तो वे प्राप्त नहीं होते, क्योंकि उनकी समझ में दोष है.'

तब सभी मुनि बोले कि 'हे महाराज ! कृपया बताइये कि यह किस प्रकार का दोष है ?'

श्रीजीमहाराज बोले, 'अच्छा सुनिये ! पहली बात तो यह है कि उनकी जो मुक्ति होती है उसके लिये वे अपनी क्रिया के बल (पुरुषार्थ) का ही आश्रय लेते हैं, परन्तु भगवान के आश्रय को ग्रहण नहीं करते. दूसरी बात यह है कि अक्षररूप होकर श्रीपुरुषोत्तमनारायण की सेवा करना ही मुक्ति है, ऐसा वे नहीं मानते. तीसरी बात यह है कि भगवान के राम, कृष्ण आदि

* सोमवार, ९ अप्रैल, १८२९.

अनेक अवतारों को तो वे अंशरूप जानते हैं. यही उनका बड़ा दोष है. चौथी बात यह है कि पूर्वजन्म में उनकी मृत्यु के समय उनके मन में ऐसा संकल्प रहा था कि इस ब्रह्मांड की उत्पत्ति किस प्रकार होती होगी, यह एक बार देखें तो सही. उनके उस संकल्प को देखकर ही भगवान ने उन्हें ब्रह्मांड की उत्पत्ति आदि कर्मों में संयोजित किया है. इसलिये, जब वे भगवान के एकान्तिक भक्त के समागम द्वारा सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेंगे, तभी ब्रह्मरूप होकर भगवान के धाम को पा जायेंगे और महासुखी हो जायेंगे.

अतएव, भगवान के भक्तों को भगवान की सेवा के सिवा दूसरी कोई इच्छा ही नहीं रखनी चाहिये. भगवान के भक्त भी तीन प्रकार के हैं, जिन्हें लक्षणों द्वारा पहचानना चाहिये. उनमें जो भक्त भगवान का भजन कर विश्व की उत्पत्ति आदि सामर्थ्य को प्राप्त करने की इच्छा करता है, उस भक्त को ऐश्वर्यार्थी समझना चाहिये. वह भक्त कनिष्ठ है. जो भक्त केवल आत्मा के स्वरूप को जानने के लिये ही भगवान के भजन में तन्मय रहता है, उस भक्त को कैवल्यार्थी तथा मध्यम कोटि का मानना चाहिये. अब तीसरा भक्त वह रह जाता है, जो निरन्तर अनन्यभाव से प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम भगवान की सेवा में निष्ठा रखता है. उसे भगवन्निष्ठार्थी तथा सर्वोत्तम भक्त समझना चाहिये. हम सब तो प्रकटप्रमाण श्रीनरनारायण के प्रति निष्ठा रखते हैं, इसलिये उत्तम हैं. इसमें कोई संशय नहीं है.'

इस प्रकार श्रीजीमहाराज के वचनों को सुनकर सब लोग परम आनन्द को प्राप्त हुए. ॥ इति वचनामृतम् ॥१॥

श्रीजेतलपुर-वचनामृतम्

सम्वत् १८८२ में चैत्र शुक्ल *तृतीया को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीजेतलपुर ग्राम-स्थित प्रासाद के चौक में अशोकवृक्ष के नीचे बिछाये गये पलंग पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कंठ में गुलदावदी के अनेक हार पहने थे. पाग में मोगरा के तुर्रे झुके हुए थे. उन्होंने दोनों कानों पर कर्णिकार के पुष्प खोंसे थे तथा करकमल में सुन्दर नीबूफल को फिरा रहे थे. उस समय चार घड़ी दिन चढ़ा था. उनके

---

* मंगलवार, १० अप्रैल, १८२९.

मुखारविन्द के समक्ष सन्तों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज ने सभा में उपस्थित सभी हरिभक्तों से यह प्रश्न पूछा कि 'इस लोक में तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में वादविवाद करनेवालों के दो मत हैं. एक तो द्वैत मत है तथा दूसरा अद्वैत मत है. अब यह बताइये कि मुमुक्षु भक्त को इनमें से कौन-से मत को ग्रहण करना चाहिये ?'

पुरुषोत्तम भट्ट बोले कि 'हे महाराज ! अद्वैत मतानुसार अपनी आत्मा को ही भगवान जानकर चाहे कैसा भी आचरण किया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप भक्त मोक्षमार्ग से गिर जाता है. इसलिये मुमुक्षु को तो द्वैतमत ही ग्रहण करना चाहिये.'

श्रीजीमहाराज ने यह आशंका प्रकट की कि 'द्वैतमत में तो जीव, ईश्वर और माया को सत्य बताया गया है – ऐसी स्थिति में जब माया बनी रहेगी तब जीव का मोक्ष कैसे होगा ?' पुरुषोत्तम भट्ट बोले कि 'शुभकर्म करने पर मोक्ष हो जाता है.'

श्रीजीमहाराज ने पुनः यह आशंका की कि 'निवृत्ति तथा प्रवृत्ति नामक जो दो प्रकार के कर्म हैं, वे तो सुषुप्तिरूपी माया में लीन हो जाते हैं. वह सुषुप्ति कैसी है ? जिस प्रकार लोकालोक पर्वत को लाँघने में कोई भी समर्थ नहीं होता, वैसे ही सुषुप्ति का उल्लंघन करने में कोई भी जीव समर्थ नहीं होता. उससे परे साम्यावस्थारूपी माया तो बहुत बड़ी है. उसका तो किसी भी जीव द्वारा उल्लंघन नहीं किया जा सकता. अतएव, उस माया से मुक्त होने का उपाय यह है कि जब जीव को समस्त कर्मों और माया के नाशकर्ता तथा माया से परे रहनेवाले साक्षात् श्रीपुरुषोत्तम भगवान और उन भगवान से मिले हुए सन्त की प्राप्ति होती है, तब उनके आश्रय से माया का उल्लंघन किया जा सकता है.' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज प्रासाद में भोजन करने के लिये पधारे.

भोजन करने के पश्चात् श्रीजीमहाराज पुनः अशोकवृक्ष के नीचे पलंग पर विराजमान हुए. श्रीजीमहाराज समस्त सन्तों तथा हरिभक्तों को अमृतदृष्टि से देखते हुए बोले कि 'इस जीव का जब कोई अनुयायीगण न हो तब उसकी मनोवृत्ति दूसरे प्रकार की रहती है और इसके बाद जब सौ मनुष्य उसको मानने लगते हैं तब उसका अहंकार भी बढ़ जाता है. जब

हज़ार, लाख और करोड़ मनुष्य उसे मानने लग जाते हैं, तब उसका अहंकार भी भिन्न रूप धारण कर लेता है. विवेकशील पुरुष तो कभी ब्रह्मा, कभी शिव और कभी इन्द्रतुल्य होने पर भी यही समझता रहता है कि मेरी यह महत्ता इन स्वरूपों द्वारा नहीं, बल्कि आत्मज्ञान के फलस्वरूप बनी हुई है. इसके अतिरिक्त सन्त-समागम द्वारा भी महत्ता बनी रहती है, क्योंकि ब्रह्मादि जैसे बड़े देव भी सन्त के चरणरज के इच्छुक रहते हैं. तब सन्त में कौन-सी महत्ता है ?

द्रव्य, पदार्थ अथवा राज्यप्राप्ति से सन्त की महत्ता नहीं रहती. वास्तव में सन्त की महत्ता तो भगवान की उपासना तथा भक्ति द्वारा ही रहती है. सन्त में आत्मनिष्ठा है, इसलिए भी इनकी महत्ता बनी हुई है. यदि ऐसा ज्ञान न हो पावे, तो आत्मा के सम्बन्ध में ऐसा निश्चय कर लेना चाहिये कि प्रकट भगवान जिन्हें मिले हैं. ऐसे सन्त में आत्मबुद्धि रखनी चाहिये और उन्हें ही अपना स्वरूप मानना चाहिये. तब तो कोई आशंका कर सकता है कि जब सन्त को अपना स्वरूप समझने लगते हैं तब यह सन्त मेरा स्वामी अर्थात् गुरु है और मैं उनका सेवक अर्थात् शिष्य हूँ, यह भाव कैसे रह सकता है ?

इस प्रसंग में यह दृष्टान्त मनन करने योग्य है कि गालव राजा को यज्ञ करना था और इस प्रयोजन से उन्हें श्यामकर्ण घोड़े लाने थे. श्यामकर्ण घोड़े तो वरुण लोक में थे. उनके लिये वहाँ जाना सम्भव नहीं था. इसलिये, गालव राजा ने गरुड़जी को बुलवाया. वे गरुड़ पर बैठकर घोड़े वहाँ से ले आये. तब क्या गरूड़जी के प्रति गालव राजा का दासभाव मिट गया ? नहीं मिटा. इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता में आत्मबुद्धि माननी चाहिये, क्योंकि ब्रह्मवेत्ता सद्गुरु को 'अष्ट[1] आवरण बेधने का सामर्थ्य है. इसलिये उनमें आत्मबुद्धि रखनी चाहिये.'

इसके पश्चात् उन्होंने यह कहा कि आप सब इस बात का स्मरण करते रहना. यह बात सबके जीवन के लिये उपयोगी है.

॥ इति वचनामृतम् ॥१॥

---

१. पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, महतत्त्व, प्रधानपुरुष और मूलप्रकृति-मूलपुरुष.

सम्वत् १८८२ में चैत्र शुक्ल *चतुर्थी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीजेतलपुर ग्राम में सायंकाल श्रीबलदेवजी के मन्दिर के चौक में बिछाये गये पलंग पर विराजमान थे. उन्हों ने श्वेत वस्त्र धारण किये थे. पाग में मोगरा पुष्पों के तुर्रे लगे हुए थे. बायें हाथ में वे रूमाल रखे हुए थे और दायें हाथ में तुलसी की माला फेर रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

ब्रह्मानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज को प्रणाम करके यह प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! यति किसको कहते हैं ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे दृढ़ ब्रह्मचर्य हो और समस्त इन्द्रियाँ जिसके वश में रहें, उसे यति जानना चाहिये. जो पुरुष हनुमानजी तथा लक्ष्मणजी जैसा हो, उसे यति समझना चाहिये. जब हनुमानजी रामचन्द्रजी की आज्ञा से सीताजी की खोज में लंका गये, तब जानकीजी को पहचान ने के लिए लंका की सभी स्त्रियों दो देख डाला. उन्हें देखते-देखते वे स्वतः यह भी कहते रहे कि 'ये तो जानकीजी नहीं हैं, ये तो जानकीजी नहीं हैं !' ऐसा विचार करते-करते हनुमानजी ने मन्दोदरी को देखा, तब उन्होंने ऐसी कल्पना की कि ये जानकीजी होंगी ? बाद में उन्होंने मन में ऐसा विचार किया कि जानकीजी को तो भगवान रघुनाथजी का वियोग है, इस कारण उनका शरीर इतना पुष्ट नहीं हो सकता तथा ऐसी निद्रा भी नहीं आ सकती. ऐसा विचार करते-करते हनुमानजी पुनः लौट गये. बाद में उनके मन में ऐसा संकल्प हुआ कि मैं यति हूँ और मैंने इन सब स्त्रियों को देखा है. इस कारण क्या मेरे लिए कोई बाधा होगी या नहीं ? इसके पश्चात् उन्होंने पुनः ऐसा विचार किया कि मैं तो रघुनाथजी की आज्ञा से जानकीजी की खोज कर रहा हूँ, इसलिये, यदि मैंने स्त्रियों को देख भी लिया, तो इस कारण क्या बाधा होगी ? इसके बाद उन्होंने पुनः विचार किया कि मेरी वृत्ति तथा इन्द्रियों में रघुनाथजी की कृपा से किसी भी प्रकार का मनोविकार उत्पन्न नहीं हुआ है. यह विचार कर वे निःसंशय होकर पुनः घूम-घूमकर सीताजी को खोज करने लगे.' विकार का हेतु होने पर भी जिसका अन्तःकरण हनुमानजी की तरह निर्विकार बना रहता है, उसे ही यति कहा

* बुधवार, १२ अप्रैल, १८२९.

जाता है. जब जानकीजी का हरण हुआ तब रघुनाथजी और लक्ष्मणजी सीताजी को खोजते-खोजते उस स्फटिक शिला पर गये, जहाँ सुग्रीव था. उन्होंने सुग्रीव को बताया कि 'जानकी जी का हरण हो चुका है, इसलिये, वे उनकी खोज करते-करते यहाँ आये हैं. यदि आपको कोई खबर हो तो बताइये.' तब सुग्रीव ने बताया कि 'हे महाराज ! आकाश में मैंने किसी को हे राम ! हे राम ! शब्द करते हुए सुना था. आकाश में से ही वस्त्र में बाँधकर कुछ आभूषण भी गिराये गये थे, जो मेरे पास रखे हुए हैं, रघुनाथजी ने कहा कि लाइये, उन्हें देख लें.' वे आभूषण सुग्रीव ने रघुनाथजी को दे दिये. रघुनाथजी ने वे आभूषण लक्ष्मणजी को दिखाये. पहले उन्होंने उन्हें कान के आभूषण दिखाये, बाद में हाथों के बाजूबंद आदि आभूषण दिखलाये, किन्तु लक्ष्मणजी उन्हें नहीं पहचान सके. इसके पश्चात् पैरों के झाँझर दिखाये, जिन्हें देखकर लक्ष्मणजी बोले कि 'हे महाराज ! ये तो जानकीजी के झाँझर हैं.' तब रघुनाथजी ने पूछा कि 'हे लक्ष्मणजी ! आपने दूसरे आभूषण तो नहीं पहचाने, किन्तु पैरों के झाँझर कैसे पहचान लिये ?' लक्ष्मणजी ने कहा कि 'हे महाराज ! जानकीजी का स्वरूप तो मैंने नहीं देखा. वास्तव में मैंने तो सीताजी के चरणारविन्दों के सिवा उनका कोई भी अन्य अंग नहीं देखा. प्रतिदिन सायंकाल जब मैं सीताजी के श्रीचरणों में प्रणाम करने के लिये जाता था, तब मैं उनके झाँझर देखा करता था. इसलिये, मैंने उनके झाँझर पहचान लिया.' इस प्रकार वे चौदह वर्षों तक सेवा में रहे, फिर भी उन्होंने जानकीजी के चरणारविन्दों के सिवा उनके रूप और किसी अन्य अंग को बिल्कुल नहीं देखा. जो ऐसा हो, उसे ही यति समझना चाहिये.'

ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'ये ब्रह्मानन्द स्वामी भी उनके समान हैं.' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने सभा में उपस्थित सभी लोगों के सुनते-सुनते ब्रह्मानन्द स्वामी के यतिभाव की भूरि-भूरि प्रशंसा की.

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज गाँव के बाहर पधारे. वे वहाँ यज्ञस्थल के बरामदे में बिछाये गये पलंग पर विराजमान हुए. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज बोले कि 'कुछ प्रश्नोत्तर करिये !' पटेल आशजीभाई ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! इस जीव का स्वरूप कैसा है, ये मुझे यथार्थ

रूप से बताइये.'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जीव तो अछेद्य, अभेद्य, अविनाशी, चैतन्यरूप एवं मात्र अणुसदृश है. तब आप कहेंगे कि वह जीव कहाँ रहता है ? सुनिये, जीव तो हृदयावकाश में रहता है और वहाँ रहकर वह विविध क्रियाओं को करता रहता है. उनमें से जब उसे रूप देखना होता है तब वह नेत्रों द्वारा देखता है, शब्द सुनने हों तब वह कर्णद्वार में आकर उन्हें सुनता है, नासिका द्वारा वह अच्छी-बुरी गंध सूँघता है, रसना द्वारा वह रसास्वादन करता है, त्वचा द्वारा वह स्पर्शसुख का आनन्द लेता है, मन द्वारा वह मनन करता है, चित्त द्वारा वह चिन्तन करता है तथा बुद्धि द्वारा वह निश्चय भी करता है. इस प्रकार दस इन्द्रियों और अन्तःकरणों द्वारा वह समस्त विषयों को ग्रहण करता है तथा वह नख से लेकर शिखापर्यन्त शरीर में व्याप्त होकर रहता है. वह उससे अलग भी रहता है. ऐसा है जीव का स्वरूप. उसे भक्त प्रकटप्रमाण पुरुषोत्तम श्रीनरनारायण के प्रताप द्वारा यथार्थ रूप से देखता है. दूसरे लोग तो इस जीव के स्वरूप को जान भी नहीं पाते.'

इस प्रकार प्रश्न का उत्तर देकर और सबको प्रसन्न करके श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर प्रासाद में शयन के लिये पधारे.

॥ इति वचनामृतम् ॥३॥

सम्वत् १८८२ में चैत्र शुक्ल *पंचमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीजेतलपुर ग्राम-स्थित प्रासाद में अपने निवासस्थान के पश्चिम की ओर समीपवर्ती पुष्पवाटिका में प्रातःकाल पधारे थे. वहाँ वे बड़े बोरसली वृक्ष के नीचे वेदिका पर बिछाये गये गद्दीतकियायुक्त पलंग पर पूर्वाभिमुख होकर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कंठ में चम्पा, बोरसली और गुलदावदी के हार पहने थे, पाग में चमेली तथा मोगरा के तुर्रे लटकाये रखे थे, दोनों कानों पर हज़ारी पुष्पों के गुच्छे खोंसे थे तथा वे दोनों करकमलों में अनार और नीबू के फलों को फिरा रहे थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुक्तानन्द स्वामी तथा ब्रह्मानन्द स्वामी आदि मुनियों और देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

---

* गुरुवार, १२ अप्रैल, १८२९.

श्रीजीमहाराज थोड़ी देर विचार कर के बोले, 'आप सब सुनिये. एक वार्ता करते हैं कि भगवान का भक्त यदि दुर्वासना रखता है, तो इससे बढ़कर दूसरी कोई बुराई नहीं हो सकती. दुर्वासनावाले भक्त हमारे समीप रहने पर भी सुखी नहीं रहते, क्योंकि उन्होंने प्रभु का भजन करते समय उनसे यह माँगा था कि 'हे महाराज ! हमें अपने समीप रखियेगा. किन्तु, उन भक्तों ने अपनी दुर्वासना को नहीं मिटाया, इस कारण दुःखी बने हुए हैं.'

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! यह दुर्वासना किस प्रकार मिट सकती है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'दुर्वासना को मिटाने का उपाय तो यह है कि हमारे द्वारा निर्दिष्ट धर्ममर्यादा से भिन्न कोई संकल्प जब हो जाय, तथा किसी हरिभक्त और सन्त के विरुद्ध दुर्भाव का संकल्प हो जाय, तब 'नरनारायण' 'स्वामिनारायण' के नामों का बार-बार उच्च स्वर से उच्चार करना चाहिये. दूसरी बात यह है कि माहात्म्यसहित तथा भक्तिभाव से भगवान की नवधा भक्ति करनी चाहिये. तब भगवान उस भक्त के हृदय में निवास करके दुर्वासना को नष्ट कर डालते हैं. जिस प्रकार भगवान ने ग्राह के मुख से गज को छुड़ाया, वैसे ही दुर्वासना को मिटाने का यह उपाय बताया है.

आप सबके लिये हितकारी अन्य उपाय भी बताता हूँ, उसे सुनिये. वह यह है कि पंचव्रतों का पालन करने सम्बन्धी अपनी धर्ममर्यादा का जानबूझकर कभी भी उल्लंघन नहीं करना चाहिये. यदि अज्ञानवश उसका उल्लंघन हो जाय, तो उसके लिये तत्काल प्रायश्चित्त कर डालना चाहिये तथा अपने स्वरूप को साक्षी मानना चाहिये कि संकल्प और नाना प्रकार के तर्कों से परे रहनेवाला चैतन्यरूप आत्मा मैं ही हूँ, किन्तु मनसहित देहवाला मैं नहीं हूँ. इस प्रकार विचार करना चाहिये. यदि भगवान किसी के सामने देखकर हँसते हों, या किसी को बुलाते हों या चाहे किसी प्रकार का अन्य चरित्र करते हों, तो भी उसके सम्बन्ध में कभी भी दुर्भाव नहीं रखना चाहिये. इस प्रकार का विवेक रखना चाहिये.

कोई भक्त तो ऐसा समझ बैठता है कि मैंने तो महाराज का अधिकाधिक भजन किया और सेवा की, फिर भी महाराज मुझे तो नहीं बुलाते, दूसरों को ही बहुत बुलाते हैं, तो अपने घर बैठकर ही भजन कर

लूँगा. वह ऐसी दुर्भावना रखता है. तब हम भी यदि ऐसी धारणा बना ले कि इस जीव से हमारा क्या सम्बन्ध है, तब इस जीव का कोई ठिकाना नहीं रहेगा. परन्तु, हम तो किसी के भी प्रति दुर्भाव नहीं रखते. हमारा स्वभाव तो सदैव गुणग्राहक ही रहता है.

अब हम इस भक्त के लिये गुण ग्रहण करने और अवगुण को मिटाने का उपाय बताते हैं. इस भक्त को ऐसा विचार करना चाहिये कि मैं यह सत्संग करने के पहले कैसा था ! उस समय तो मैं काल, कर्म, जन्म, मरण और चौरासी लाख योनियों का भोक्ता था. उस समय भगवानने मुझे इन सबसे छुड़ाकर निर्भय किया तथा अच्छे गुण देकर बड़ा किया. मैं ऐसे उन भगवान के प्रति दुर्भावना क्यों रखूँ, तथा प्रभु की रुचि की उपेक्षा करके अपनी ही रुचि की बात क्यों करूँ ? ऐसा विचार कर उसे भगवान के प्रति दुर्भाव नहीं रखना चाहिए. तभी वह सुखी हो सकता है. इस देह द्वारा भगवान के लिए रुचिकर कार्य करने से बढ़कर और कोई दूसरी बात नहीं हो सकती. ऐसी क्रिया को ही भक्ति कहा जाता है. उसी के द्वारा भगवान प्राप्त होते हैं. इसलिये, मान, ईर्ष्या तथा काम, क्रोध एवं लोभ आदि सभी बुराइयों को छोड़ देना चाहिये, क्योंकि ये सभी बुराइयाँ कल्याणविरोधी हैं. उनमें मान सम्बन्धी बुराई तो सबसे खराब बुराई है. देखिये, अन्य व्रतों के पालन में यदि किसी में कुछ थोड़ी बहुत शिथिलता रह जाय, तो भी सत्संग में उसे निभा लिया जाता है, परन्तु मान रखनेवाले तो नहीं निभ सकते. इसलिये, हे सन्तो ! निर्मान आदि व्रतों के पालन में कभी भी विक्षेप नहीं रहने देना, अतिकुशल बने रहना और अपने स्वरूप को देह से भिन्न समझते रहना. श्रीपुरुषोत्तम श्रीनरनारायण की निरन्तर सावधानी के साथ भक्ति करनी चाहिए तथा भगवान का अखंड स्मृतिसहित भजन भी करते रहना चाहिए. यह तो भगवान के प्रकट दर्शनजन्य सुख के सदृश है.

दूसरी बात यह है कि इस सत्संग में यदि कोई शास्त्रज्ञ हो, तो भी वह बड़ा नहीं है. तब कौन बड़ा है ? चौदह लोकपर्यन्त समस्त पदार्थों को तृणवत् समझनेवाला, अनवधिकातिशय वैराग्ययुक्त तथा देह में जैसी आत्मबुद्धि की दृढ़ता है वैसे ही परमात्मा जो पुरुषोत्तम हैं उनके स्वरूप की भी दृढ़ता का साक्षात्कार हो तथा सुषुप्ति-अवस्था में जिस प्रकार जगत की विस्मृति हो जाती है उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में भी जगत की विस्मृति

रखने जैसा आचरण करनेवाला ही अपने सत्संग में बड़ा है.'

॥ इति वचनामृतम् ॥३॥

सम्वत् १८८२ में चैत्र शुक्ल *षष्ठी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीजेतलपुर ग्रामस्थित प्रासाद के दक्षिणवर्ती झरोखे में गद्दी-तकिया का टेका लगाकर विराजमान थे. उनके मस्तक पर पुष्पों की सेहरावाली श्वेत पाग सुशोभित हो रही थी. उन्होंने श्वेत पुष्पों की पिछौरी ओढ़ी थी, समस्त अंगों में केसरयुक्त चंदन लगाया था, श्वेत रेशमी किनारवाला दुपट्टा धारण किया था और कंठ में गुल्दावदी के हार पहने थे. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी.

श्रीजीमहाराज सभा में उपस्थित सभी लोगों से इस प्रकार बोले कि 'इस लोक में जीव का कल्याण तो प्रत्यक्ष भगवान के स्वरूप के सम्बन्ध में निश्चय, उनके दर्शन तथा उनकी अखंड स्मृति द्वारा ही होता है. श्रीमद्भागवत में ऐसा कहा गया है कि कंस, शिशुपाल और दन्तवक्र आदि जो दैत्य भगवान की निन्दा किया करते थे, उनको भी भगवान की अखंड स्मृति रही, जिसके परिणामस्वरूप उनका कल्याण हो गया. अतएव, भगवान की निरन्तर स्मृति द्वारा ही कल्याण होता है. ऐसी स्मृति आप सबको भी है, इसलिये आप लोगों का भी कल्याण हो चुका है. फिर भी, देह की स्मृति रहने तक आप सब हमारे द्वारा निर्धारित धर्ममर्यादा का समस्त प्रकार से पालन करते रहना.

तब आप यह कहेंगे कि भगवान की प्राप्ति तो हुई है, उनकी स्मृति भी निरन्तर रहती है, ऐसी स्थिति में पंचव्रतों (धर्म-नियमों) के पालन का क्या प्रयोजन हो सकता है ? इसका अर्थ तो यह है कि एक भक्त तो व्रतों के पालन में दृढ़ता रखता है तथा दूसरा भक्त व्रतों के पालन में शिथिल रहता है. इन दोनों की स्थिति में कितना अन्तर है, यहि बताते हैं. स्मृति तो दोनों को है, परन्तु जो नियम-धर्मरहित है, उससे तो अपना ही कल्याण होता है, किन्तु उसके द्वारा अन्य जीव का कल्याण नहीं होता तथा वह एकान्तिक भक्त भी नहीं हो सकता, और भगवान के निर्गुण धाम को भी नहीं प्राप्त

---

* शुक्रवार, १३ अप्रैल, १८२९.

होता. यद्यपि वह जन्म-मरण से रहित तो हो जाता है, किन्तु फिर भी वह सत्संग में नहीं बैठ पाता. आप सब तो उत्तम भक्त हैं. धर्मनियमयुक्त आप जैसे साधुजनों की तो बात ही निराली है. इसलिये, आपको जो कोई सद्भावपूर्वक भोजन करायगा, उसे कोटियज्ञों का फल मिलेगा, और अन्त में उसका मोक्ष हो जायगा. जो कोई आपके चरणों का स्पर्श करेगा, उसके कोटिजन्मों के पाप नष्ट हो जायेंगे. जो कोई भक्त आपको भावपूर्वक वस्त्र ओढ़ायगा, उसका भी परमकल्याण हो जायगा. आप जिस-जिस नदी और तालाब में चरण रखते हैं, वे सब तीर्थरूप हो जाते हैं. आप जिस-जिस वृक्ष के नीचे बैठते हों तथा जिस-जिस वृक्ष के फल खाते हों, उन सबका कल्याण हो जाता है. जो कोई भावपूर्वक आपके दर्शन करता है तथा जो कोई आपको भावपूर्वक प्रणाम करता है, उसके सभी पापों का क्षय हो जाता है. आप जिससे भगवान की बात कहते हैं, तथा जिस किसी को धर्म सम्बन्धी नियमों की दीक्षा देते हैं, उसका मोक्ष हो जाता है. इस प्रकार के धर्मनियमवाले आप जैसे सन्तों की समस्त क्रियाएँ कल्याणरूप होती हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष श्रीनरनारायण ऋषि का आपको दृढ़ आश्रय है. वे श्रीनरनारायण ऋषि आपकी सभा में निरन्तर विराजमान रहते हैं. इन दोनों बातों का यही उत्तर है.

आप यह कहेंगे कि जब भगवान का दृढ़ आश्रय है, तब मायिक गुण क्यों व्याप्त रहते हैं ? तो, सुनिये, वही बात बताते हैं कि सबको [1]षडूर्मि रहित तथा मायिक गुणरहित करने में कोई देर नहीं लगती और असंख्य जन्मों की स्मृति होने के साथ ही अनन्त ब्रह्मांडों की उत्पत्ति आदि क्रिया को सम्पन्न करने के निमित्त सक्षम बनाने में भी कोई विलंब नहीं हो सकता, परन्तु हमने अपनी इच्छा से आप सबको इस स्थिति में रखा है और आप के सामर्थ्य को भी अवरुद्ध कर दिया है. यह उपाय प्रत्यक्ष भगवान द्वारा प्रवृत्त किये जानेवाले सुख की प्राप्ति के लिये ही किया गया है. स्वयमेव श्रीपुरुषोत्तम श्रीनरनारायण ऋषि के रूप में प्रकट होकर आपको आज मिले हैं. अतएव, निःसंशय होकर आप सानन्द भजन करना.' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज मौन हो गये.

---

१. जन्म, मरण, हर्ष, शोक, क्षुधा, पिपासा.

आशजीभाई ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज ! कृपया यह बताइये कि वैरभाव से जो कल्याण होता है वह कैसे होता है ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'द्रुपद राजा थे. उन्हें अपनी पुत्री द्रौपदी का विवाह करना था. इसलिये, उन्होंने स्वयंवर रचा. उसमें भाग लेने के लिए उन्होंने सभी राजाओं को आमंत्रित किया था. इस अवसर पर द्रोणाचार्य और पांडव भी आये थे. बाद में दूसरे सभी राजाओं ने मिलकर मत्स्यवेध करने का प्रयास किया, किन्तु कोई भी राजा मत्स्यवेध न कर सका. तब युधिष्ठिर ने कहा कि 'मैं मस्यवेध करूँगा.' ऐसा कहकर युधिष्ठिर ने अपने धनुष पर बाण लगाया. तब द्रोणाचार्य ने उनसे पूछा कि 'क्या आपको यह सभा दिखायी पड़ती है ?' उन्होंने कहा कि 'यह दीखती है.' उन्होंने फिर पूछा कि 'क्या आपको अपना शरीर दिखायी पड़ता है.' युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि 'मैं इसे भी देखता हूँ.' तब द्रोणाचार्य ने कहा कि 'आप मत्स्यवेध न कर सकेंगे.' इस प्रकार चार भाई मत्स्यवेध करने में समर्थ न हो सके.

बाद में अर्जुन आये और उन्होंने अपने धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ायी. तब द्रोणाचार्य ने उनसे पूछा कि 'क्या आप इस सभा को देखते हैं ?' अर्जुन ने उत्तर दिया कि 'न तो मैं इस सभा को देखता हूँ और न मुझे मत्स्य ही दिखायी पड़ रहा है, किन्तु मैं मत्स्य पर के पक्षी को देखता हूँ.' तब द्रोणाचार्य ने कहा कि 'पक्षी के मस्तक की ओर अपनी दृष्टि स्थिर करो.' अर्जुन ने अपनी दृष्टि स्थिर करके कहा कि 'मैं अभी पक्षी को पूरी तरह नहीं देख सकता. मैं तो केवल उसके मस्तक को ही देख पा रहा हूँ.' द्रोणाचार्य ने कहा कि 'अब मत्स्यवेध करो.' तब अर्जुन ने मत्स्य का मस्तक बींध डाला.

ऐसे ही एकमात्र केवल भगवान के स्वरूप में ही वृत्तियों का निरोध हो जावे, तो उस वैरभाव से मुक्त मिल जाती है. जिस प्रकार श्रीकृष्ण के स्वरूप में शिशुपाल तथा कंस आदि की वृत्तियाँ तदाकार हो गयी थीं, तभी उनका कल्याण हुआ. यदि इस प्रकार का द्रोह न रहे, तो वह द्रोह करनेवाला नारकी होता है. इससे तो भगवान की भक्ति करना ही सुलभ है. द्रोहबुद्धि रखकर भगवान का भजन करनेवाले का असुरनाम कभी भी नहीं मिट सकता और वह भक्त भी नहीं कहलाता. इसलिये, जिसे आसुरी रीति का परित्याग कर ध्रुव, प्रह्लाद, नारद और सनकादि की पंक्ति में सम्मिलित होना हो, उसके लिये तो भक्तिपूर्वक भगवान का भजन करना ही अतिश्रेष्ठ

कार्य रहेगा.' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने वार्ता कही, जिसे सुनकर सभी मुनियों आदि को परम आनन्द प्राप्त हुआ. ॥ इति वचनामृतम् ॥४॥

सम्वत् १८८२ में चैत्र शुक्ल *सप्तमी को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीजेतलपुर ग्राम-स्थित प्रासाद के दक्षिणवर्ती स्थान के चौक में उत्तराभिमुख होकर चौकी पर विराजमान थे. उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, मस्तक पर महीन पोतदार श्वेत पाग धारण की थी, सफेद महीन चादर ओढ़ी थी और श्वेत धोती पहनी थी. उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनियों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी. उस समय रात्रि का डेढ़ प्रहर व्यतीत हो चुका था.

श्रीजीमहाराज थोड़ी देर तक विचार करने के बाद बोले कि 'आप सब सुनिये. आज तो हम वही बात करनेवाले हैं, जो हमें रुचिकर लगती है कि भगवान का भजन करने के सिवा दूसरी कोई भी बड़ी बात नहीं है, क्योंकि भगवान ही सर्वकर्ता हैं. इस समय तो भगवान के प्रताप से इस सभा की इच्छानुसार भी होता है. श्रीनरनारायण के प्रताप से हमारी इच्छानुसार भी होता है. वही बात बताते हैं कि हम मन में जैसा संकल्प करते हैं, वैसा ही इस जगत में प्रवृत्त हो जाता है. हम जैसी धारणा करते हैं वैसा ही यथार्थ रूप से हो भी जाता है. जब हम यह इच्छा करते हैं कि अमुक मनुष्य को राज्य मिलना चाहिये तब उसे राज्य मिल जाता है. जब हम यह चाहते हैं कि इसका राज्य समाप्त हो जाना चाहिये, तब उसका राज्य खत्म हो जाता है. जब हम यह धारणा करते हैं कि इस पल में यहाँ इतनी वर्षा हो जानी चाहिये, तो उतने परिमाण में वर्षा वहाँ अवश्य हो जाती है. यदि हम यह चाहते हैं कि यहाँ वर्षा नहीं होनी चाहिये, तो वहाँ वर्षा नहीं होती. जब हम यह धारणा करते हैं कि अमुक पुरुष को धन प्राप्त हो जाय, तो उसे धन मिल जाता है. जब हम यह चाहें कि अमुक पुरुष को धन न मिले, तो उसे धन नहीं मिल पाता. जब हम यह चाहते हैं कि इसको पुत्र प्राप्त हो जाय, तो उसको पुत्र मिल जाता है और हमारे न चाहने पर अन्य किसी को पुत्र की प्राप्ति नहीं होती. जब हम यह चाहते हैं कि इस पुरुष को रोग होना

* शनिवार, १४ अप्रैल, १८२९.

चाहिये, तो उसे रोग हो जाता है. जब हम यह चाहें कि अमुक पुरुष को रोग नहीं होना चाहिये, तो उसे रोग नहीं होता. इस प्रकार हम जैसी धारणा करते है, वैसा अवश्य हो जाता है.

तब आप कहेंगे कि सत्संगी को सुख-दुःख होता है और रोगादि प्राप्त होता है तथा उसकी धनसमृद्धि की कुछ हानि होती है और वह मेहनत करके मर जाता है, तो भी दरिद्री-जैसा ही रहता है. तो सुनिये, इसका कारण यह है कि उसके द्वारा भगवान का भजन करने में जितनी कसर रह जाती है, उतनी ही मात्रा में उसकी स्थिति में बरकत नहीं हो पाती. भगवान को तो वस्तुतः उसका कल्याण ही करना है. भगवान स्वाश्रित जनों का सूली का दुःख भी काँटे द्वारा मिटाते हैं.

हम तो ऐसा जानते हैं कि 'सत्संगी को एक बिच्छू के काटने से जितनी पीड़ा होती हो, तो हमें वही पीड़ा हजारगुनी हो जाय, परन्तु उस पीड़ा से वह हरिभक्त मुक्त हो जाय और सुखी रहे.' ऐसा वरदान हमने रामानन्द स्वामी से माँग लिया है. वास्तव में हमारा दृष्टिकोण तो यही रहता है कि सबका कल्याण हो तथा हम भगवान में जीव की मनोवृत्ति लगाये रखने का उपाय भी निरन्तर करते रहते है. इसका कारण क्या है ? सुनिये, हम तो भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों की समस्त क्रियाओं को जानते रहते हैं और यहाँ बैठे हुए भी सबको जानते हैं. जब तक माता के उदर में थे, उस समय भी यह जानते थे, जब उदर में नहीं आये थे, तब भी यह जानते थे, क्योंकि हम तो भगवान नरनारायण ऋषि हैं, घोर पाप करनेवाला जीव भी यदि हमारे आश्रय में आ जायगा, और धर्म-नियम का पालन करता रहेगा, उसे भी हम अन्तकाल में दर्शन देकर भगवान के अक्षरधाम की प्राप्ति करा देंगे.

उस अक्षरधाम के स्वामी श्रीपुरुषोत्तम भगवान सर्वप्रथम धर्मदेव और मूर्ति देवी द्वारा, जिन्हें भक्ति कहते हैं, श्रीनरनारायण ऋषि के रूप में प्रकट हुए थे और बाद में उन्होंने बदरिकाश्रम में तप किया था. वे ही श्रीनरनारायण ऋषि इस कलियुग में पांखडियों के मत का खंडन करने, अधर्म के वंश का नाश करने, धर्म के वंश को पुष्ट करने तथा पृथ्वी पर धर्म, ज्ञान, वैराग्य हित भक्ति का विस्तार करने के लिए इस सभा में विराजमान रहते हैं.' ऐसा कहकर उन्होंने अपने आश्रितजनों को अतीव

आनन्दमग्न कर दिया.

श्रीजीमहाराज पुनः बोले कि 'हम बार-बार श्रीनरनारायणदेव की प्रधानता बताते हैं. इसका अभिप्राय तो यही है कि श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम अक्षरधाम के धामी श्रीनरनारायण ही इस सभा में नित्य विराजमान रहते हैं. इसलिये, हम उनका महत्व प्रतिपादित करते रहते हैं. हमने अपने इस स्वरूप को दृष्टिगत रखते हुए श्रीअहमदाबाद में लाखों रुपये खर्च करके एक शिखरयुक्त मन्दिर स्थापित कराया और उसमें सर्वप्रथम श्रीनरनारायण की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित कीं. वे श्रीनरनारायण तो अनन्त ब्रह्मांडों के अधिपति हैं, उनमें भी इस भरतखंड के तो मुख्यरूप से अधिपति हैं. इस भरतखंड के मनुष्य प्रत्यक्ष श्रीनरनारायण को छोड़कर अन्य देवों का भजन करते रहते हैं. इन मनुष्यों की तुलना तो उन व्यभिचारिणी स्त्रियों-पुरुषों के साथ की जा सकती है, जो अपने पतियों को छोड़कर अन्य व्यभिचारी पुरुषों के प्रति आकृष्ट हो जाती हैं. श्रीनरनारायण ही भरतखंड के अधिपति हैं. इसका उल्लेख श्रीमद्भागवत में किया गया है. हम इन सन्तसहित जीवों के कल्याण के लिये प्रकट हुए हैं. अतएव, यदि आप हमारे वचनों को मानेंगे, तो हम आप सबको भी उस धाम में ले जायेंगे, जहाँ से हम आये हैं. आपको भी ऐसा समझ लेना चाहिये कि आप का कल्याण हो चुका है. आप हमारे में दृढ़ विश्वास बनाये रखें और हम जैसा कहें वैसा करते रहें. यदि आप पर कोई भारी कष्ट आ पड़ेगा, तो उससे अथवा सात दुर्भिक्षों-जैसी भीषण विपत्तियों से भी हम आपकी रक्षा करेंगे. हम आपकी ऐसे कष्ट से भी रक्षा करेंगे, जिससे उबरने का कोई उपाय न सूझता हो, बशर्ते आप हमारे सत्संग के धार्मिक नियमों का अधिकाधिक पालन करते रहें और सत्संग में भाग लेते रहें. यदि आप ऐसा नहीं करेंगे, तो आप भीषण दुःखों के फन्दे में जायेंगे, जिससे हमें कुछ लेना-देना नहीं है. हमने तो इस समय किसी भी बात की खामी नहीं रखी है. आप इस बात पर ध्यान दीजिए कि इस जेतलपुर ग्राम में हमने कितने यज्ञ किये हैं और कितने ही वर्षों से यहाँ रहते हैं, तालाब में हमने समस्त सन्तों के सहित हज़ारों बार स्नान किया है तथा इस जेतलपुर ग्राम के घर-घर में सौ बार फिरे हैं. और घर-घर जाकर भोजन भी किया है. इस ग्राम की सीमा और ग्राम को हमने वृन्दावन से भी बढ़कर रमणीय स्थल बना दिया है.'

जब महाराज ऐसी बात कर ही रहे थे कि इतने में ही आकाश में एक विशाल तेजपुंज दिखायी पड़ा और उसमें से तीन गोले हो गये, जो प्रासाद के ऊपर आकाश में थोड़ी देर तक दिखायी पड़े और फिर वे वहाँ से अदृश्य हो गये. तब सब लोग इस प्रकार बोले कि 'हे महाराज ! यह क्या था ?' तब श्रीजीमहाराज ने बताया कि 'ब्रह्मा, विष्णु, एवं शिव प्रतिदिन इन सन्तों की सभा तथा हमारे दर्शन करने आते रहते हैं, परन्तु, आज तो हरि की इच्छा से ये तीनों देव अपने विमानों सहित आप सबके लिए दिखायी पड़ गये.' ॥ इति वचनामृतम् ॥५॥

वचनामृत के कृपावाक्य तथा प्रश्न संख्या

वचनामृत किस गाँव के	भगवान के कृपावाक्य	भगवान के प्रश्न	मुक्तानंद स्वामी के प्रश्न	गोपालानंद स्वामी के प्रश्न	नित्यानंद स्वामी के प्रश्न	शुकानंद स्वामी के प्रश्न	ब्रह्मानंद स्वामी के प्रश्न	अन्य संत के प्रश्न	अयोध्याप्रसादजी महाराज का प्रश्न	रघुवीरजी महाराज का प्रश्न	हरिभक्तों का प्रश्न	
गढडा प्रथम प्रकरण	४०	२२	३२	५	४	३	८	४१	०	०	१७	१७२
सारंगपुर	६	४	१२	०	४	०	०	१५	०	०	२	४३
कारियाणी	५	७	५	२	३	०	२	८	०	०	२	३४
लोया	३	४७	८	२	११	३	३	१५	०	०	१	९३
पंचाला	५	१	०	०	०	०	०	२	०	०	२	१०
गढडा मध्य प्रकरण	४५	२९	१७	०	०	२	२	८	१	१	३	१०८
वरताल	५	८	४	१	२	१	१	०	०	०	११	३३
अहमदाबाद	३	२	१	०	१	१	०	०	०	०	७	१५
अश्लाली	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
जेतलपुर	५	१	१	०	०	०	१	०	०	०	२	१०
गढडा अन्त्य प्रकरण	४४	१७	११	१	०	११	०	७	१	१	६	९९
	१६२	१३८	९१	११	२५	२१	१७	९६	२	२	५३	६१८

श्रीस्वामिनारायण मंदिर, कालुपुर, श्रीअमदावाद
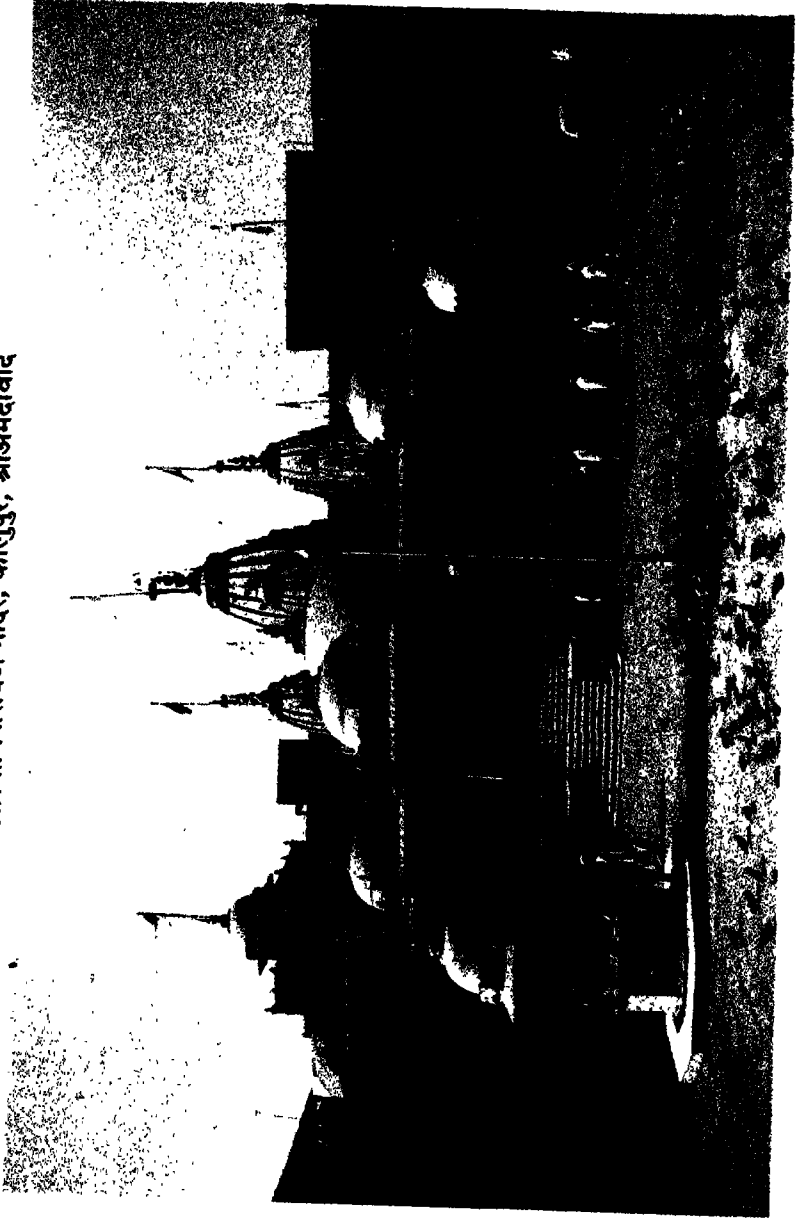
यहाँ पर विराजमान होकर श्रीजीमहाराज ने वचनामृत उद्‌बोधित किये थे ।

तालाब के तीर पर स्थित ऊँचा महाल, श्रीजेतलपुर

यहाँ पर विराजमान होकर श्रीजीमहाराज ने वचनामृत उद्बोधित किये थे ।

परिशिष्ट : २

भगवान स्वामिनारायण ने उपनिषद्, भागवत, गीता, महाभारत एवं इतर संस्कृत ग्रंथों के अवतरण अपने श्रीमुख-उपदेश में दिये थे, जो यहाँ प्रस्तुत है।

इन अवतरणों से मुमुक्षु जब इस वचनामृत ग्रंथ का अभ्यास गहनता से कर सकेंगे एवं अन्य शास्त्रों के साथ वचनामृत की महत्ता हृदय में प्रस्थापित करेंगे।

योऽक्षरात्परतरः परेश्वरो ब्रह्मरूपमुनिभिः सुपूजितः।
सर्वजीवदया-नराकृतिः श्रीहरिं तमहमानतोऽस्मि हि ॥१॥

वचनामृतम्	प्रमाणवचनानि	आकरः
ग.प्र.१, म.३	अन्यक्षेत्रे कृतं पापं तीर्थक्षेत्रे विनश्यति। तीर्थक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति ॥	स्कन्दपुराणम्
ग.प्र.१४	अन्ते या मतिः सा गतिः	हिरण्यकेशीयशाखाश्रुतिः
ग.प्र.१५, सा.११ ग.म.१,८,१६	अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।	गीता-६/४५
ग.प्र.३८	मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन।	महाभारते मोक्षधर्मः
ग.प्र.४०	श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥	भाग.७/५/२३
ग.प्र.४१	तदैक्षत (एकोऽहं) बहु स्यां प्रजायेय।	छां.६/२/३
ग.प्र.४१	स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया तरतमतश्चकास्स्यनलवत् स्वकृतानुकृतिः।	भाग.१०/८७/२६
ग.प्र.४२	भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।	चर्पटपंजरी
ग.प्र.४३	मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्। नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम् ॥	भाग.९/४/६७
ग.प्र.४३	सालोक्य-सार्ष्टिसामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥	भाग.३/२९/१३
ग.प्र.४३	अथो विभूतिं मम मायाविनस्तामैश्वर्यमष्टाङ् गमनुप्रवृत्तम्। श्रियं भागवतीं वास्पृहयन्ति भद्रां परस्य मे तेऽश्नुवते तु लोके ॥	भाग.३/२५/३७
ग.प्र.५० ग.म.२०	या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥	गीता-२/६९
ग.प्र.५४	प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः। स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥	भाग.३/२५/२०

ग.प्र.६२	सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम् ।	भाग.१/१६/२६
	शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम् ॥	
	ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः ।	भाग.१/१६/२७
	स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च ॥	
	प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः ।	भाग.१/१६/२८
	गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहंकृतिः ॥	
ग.प्र.७०	यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।	गीता-१८/७८
	तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥	
सा.१	जितं जगत्केन ? मनो हि येन ।	मणिरत्नमाला
सा.११, का.१	निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।	मुण्डक.३/१/३
का.१	बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत्प्रभुः ।	भाग.१०/८७/२
	मात्रार्थं च भवार्थं च ह्यात्मनेऽकल्पनाय च ॥	
का.१, पं.२	यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।	तै.आन.९
का.१	बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।	गीता-४/१०
लो.७	तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः	श्वेता.४/१०
	पन्था विद्यतेऽयनाय ।	
लो.७, पं.६	यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।	गीता-१५/१८
	अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥	
लो.७	विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।	गीता-१०/४२
लो.७	मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ! ।	गीता-७/७
	मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥	
लो.७, पं.६	पश्य मे पार्थ ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।	गीता-११/५
	नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥	
लो.७	नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं	भाग. १/५/१२
	न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।	
लो.७	कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।	गीता-४/१७
	अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥	
लो.७, पं.२	ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।	गीता-१८/५४
अं.३	समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥	
लो.७	भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।	गीता-७/४-५
	अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥	
	अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।	
	जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्यते जगत् ॥	

लो.७	अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा ।	यजु.आ. ३-११
लो.७	यस्याक्षरं शरीरं एष सर्वभूतान्तरात्माऽ- पहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः ॥	सुबालोपनिषत् खं.७
लो.७	यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।	बृह.अ.३, ब्रा.७-२२
लो.७	ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।	
लो.७	यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।	बृह.अ.३, ब्रा.७-३
लो.७	आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ! ॥	गीता-७/१६
लो.७, पं.३	तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।	गीता-७/१७
लो.१०, अन्त्य.२८,३९	द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया त्वमपि यदन्तराऽऽण्डनिचया ननु सावरणाः ।	भा.१०/८७/४१
लो.१०	यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः । तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥	भाग.३/७/१७
लो.१०	विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥	गीता-२/५९
लो.१०	सत्त्वं यद् ब्रह्मदर्शनम् ।	भाग.१/२/२४
लो.१०	विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव ! शरीरिणाम् । बन्धमोक्षकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ॥	भाग.११/११/३
लो.१३, अन्त्य.३३	तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु कोऽन्वखण्डितधीः पुमान् । ऋषिं नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया ॥	भाग.३/३१/३७
लो.१३	एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः ॥ न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया ॥	भाग.१/११/३८
लो.१३, व.५	दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥	गीता-७/१४
लो.१३	मम साधर्म्यमागताः ।	गीता-१४/२
लो.१३	अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता- स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव ! नेतरथा ।	भाग.१०/८७/३०
लो.१३	एकमेवाद्वितीयं (ब्रह्म) ।	छांदो.६/२/१
लो.१४	न कुर्यात्कर्हिचित्सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते । यद्विश्रंभाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम् ॥ नित्यं ददाति कामस्य छिद्रं तमनु येऽरयः । योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली ॥	भाग.५/६/३-४

लो.१५	त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज ।	भार.मोक्ष.३३/४०
	उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ॥	
लो.१५,	मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात् ।	भाग.३/२५/४२
अन्त्य.५	वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात् ॥	
लो.२८	भूभारः क्षपितो येन तां तनुं विजहावजः ।	भाग.१/१५/३४-३५
	कण्टकं कण्टकेनैव द्वयं चापीशितुः समम् ॥	
लो.१८	तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन	गीता-११/४६
	सहस्रबाहो । भव विश्वमूर्ते ।	
लो.१८, पं.७	अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।	गीता-९/११
	परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥	
पं.२	सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।	छांदो.३/१४/१
पं.२	नेह नानास्ति किञ्चन ।	बृहदा.४/४/१९
पं.२	इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो	भाग.१/५/२०
	यतो जगत्स्थान-निरोधसम्भवाः ।	
पं.२, अन्त्य.३	आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।	भाग.१/७/१०
	कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थं भूतगुणो हरिः ॥	
पं.२,३, म.३९	परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया ।	भाग.२/१/९
अन्त्य.३	गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥	
पं.३	नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः ।	भाग.२/१/७
पं.३	तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।	गीता-७/१७
पं.४	अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।	गीता-१५/१४
	प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥	
पं.४	दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ! ।	गीता-११/५१
	इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥	
पं.७	जन्माद्यस्य...यत्र त्रिसर्गो मृषा ।	भाग.१/१/१
	धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥	
पं.७	स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य	भाग.१/३/३८
	रथाङ्गपाणेः । योऽमायया सन्ततयानुवृत्त्या	
	भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ॥	
पं.७	स ईक्षत ।	ऐतरेय.१/१
पं.७	पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान् ।	भाग.३/५/२६
ग.म.१	ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।	गीता.२/६२-६३
	सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥	

	क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।	
	स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥	
ग.म.१	समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।	गीता.१४/२४
ग.म.१	प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।	गीता-७/१८
	उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥	
ग.म.८	ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।	गीता.१४/२८
	मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥	
म.९,१७,	सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।	गीता.१८/६६
व.५	अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥	
ग.म.९	स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।	गीता-२/४०
ग.म.१०, व.१८	जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।	गीता-४/९
	त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन! ॥	
ग.म.११	आमयो येन भूतानां जायते यश्च सुव्रत! ।	भाग.१/५/३३-३४
	तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम् ॥	
	एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः ।	
	त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे ॥	
ग.म.११	कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।	गीता-४/१८
	स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥	
ग.म.१३	न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।	गीता-१५/६
	यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥	
ग.म.१६	श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।	गीता-४/३९
	ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥	
ग.म.५४	यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके	भाग.१०/८४/१३
	स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।	
	यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचित्	
	जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥	
वर.१	अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः ।	भाग.२/१०/१
	मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥	
वर.२	नारायणपरा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः ।	भाग.२/५/१५-१६
	नारायणपरा लोका नारायणपरा मखाः ॥	
	नारायणपरो योगो नारायणपरं तपः ।	
	नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरा गतिः ॥	
वर.२	वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः ।	भाग.१/२/२८-२९
	वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ॥	

	वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः । वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ॥	
वर.१२	अहो अमी देववरामर्चितं पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम् । नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन- स्तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम् ॥	भाग.१०/१५/५
अन्त्य.३	हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः ॥ अध्यगान् महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥	भाग.१/७/११
अन्त्य.३	प्रायेण मुनयो राजन् ।	भाग.२/१/७
अन्त्य.५	यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्यत्प्रवणाद्यत्स्मरणा- दपि क्वचित् । श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कथं पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥ अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् । तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥	भाग.३/३३/६-७
अन्त्य.२८	आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् । या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥	भाग.१०/४७/६१
अन्त्य.२८	अहो ! भाग्यमहो ! भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् । यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥	भाग.१०/१४/३२
अन्त्य.३३	येऽन्ये स्वतः परिहृतादपि बिभ्यति स्म ।	भाग.११/६/१७

शिक्षावाक्यामृतैः स्वीयैः स्वाश्रितानां सतां हृदि ।
विदधे हितपुष्टिं यः स्युस्तस्यैतानि मद्धृदि ॥१॥

वचनामृत - विषयानुक्रमणिका

गढडा प्रथम प्रकरणम्

(१६) आत्मादि सत्यार्थ तथा मायादि असत्यार्थ के यथार्थ विवेक का लक्षण.
(१७) सत्संगी में विद्यमान अल्प भी कुसंग का स्वरूप तथा उसके त्याग का उपदेश.
(१८) आन्तरिक शुद्धि अशुद्धि के हेतुभूत शुभाशुभ पाँच विषयों के लक्षण.
(१९) स्वधर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति की पारस्परिक सापेक्षता तथा उनकी सिद्धि के लिये अभिप्राय व्यक्त करके उन चारों की सम्पूर्णता से भक्त की सम्पूर्णता का वर्णन.
(२०) आत्मा से अनभिज्ञ रहनेवाले को अति अज्ञानी बताकर आत्मा-परमात्मा के दर्शनादि में महाशत्रु प्रमाद का परित्याग करके सदा उद्योगी रहने का विधान.
(२१) स्वधर्मादि अंगसहित निष्काम भक्ति की ही श्रीहरि से प्रीति में में हेतुता, वैसी भक्ति की ही एकान्तिकधर्मता, उसके सम्पादन में हेतु तथा वैसे भक्तों को ही अर्चिमार्ग में अक्षरधाम की प्राप्ति.
(२२) भगवत्स्मृतिपूर्वक नामपद्यगानादि की सहेतुक कर्तव्यता तथा ध्यानसिद्धि का सदुपाय.
(२३) वासुदेवमाहात्म्य की सहेतुक स्वातिप्रियता तथा एकान्तिकता की सिद्धि में आत्मनिष्ठा से देहात्मबुद्धि का त्याग करके भगवान की मूर्ति में अखंड मनोधारण की कर्तव्यता.
(२४) माहात्म्यज्ञान से भगवान में प्राप्य एकान्तिक ज्ञानस्थिति का स्वरूप, माहात्म्यज्ञान की सफल तारतम्यता तथा भक्त के लिये अपूर्णता में हेतु.
(२५) धर्मिष्ठ भक्त के लिये अपूर्णता में हेतु, उसकी निवृत्ति के साधन तथा समाधि होने में दो प्रकार.
(२६) सच्चे रसिक भक्तों के लिये अन्य विषयों में रसिकता का परित्याग करके भगवत्संबंधी शब्दादि विषयों में ही सर्वदा रसिकता रखने का विधान.
(२७) भक्त के हृदय में जिस प्रकार भगवान साक्षात् निवास करते रहें, ऐसे आत्मा एवं परमात्मा संबंधी ज्ञान का स्वरूप बताकर वैसी ज्ञानस्थितिवाले एकान्तिक का लक्षण.
(२८) सत्संग में से भ्रष्ट होनेवाले और भ्रष्ट न होनेवाले उन्नतिशील भक्तों के लक्षण.
(२९) सांग भक्ति के बल की वृद्धि एवं अवृद्धि में शुभाशुभ चार देशादि की हेतुता तथा अन्तःशुद्धि में तीनों संस्कारादि की हेतुता और उनके लक्षण.
(३०) जिन मानसकि संकल्पों से दृढ़ वासना बनी रहती है, उनकी निवृत्ति का उपाय.
(३१) वाणी से भी अन्य के लिये अपीड़क निवृत्ति पर असेवक की अपेक्षा पीड़क भी हरि-हरिभक्त, सेवावृत्तिवाले की सहेतुक श्रेष्ठता, हरि-हरिभक्तों के गुणों में दोषदर्शिनी असुरता तथा भक्तों का महानतासूचक लक्षण.
(३२) भक्त और अभक्त के विषयों में महान भेद तथा क्वचित् हरिस्मृति की सिद्धि

एवं असिद्धि में हेतु.

(३३) 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' के अनुसार भगवान की प्रसन्नता में उनके दृढ़ आश्रयरूप फलवत् साधन, आश्रय का एकमात्र सर्वोत्तम स्वरूप तथा उनके भेदसहित लक्षण.

(३४) सुखसागर श्रीहरि का परित्याग कर अन्य तुच्छ विषयों में चित्तवृत्ति की आसक्ति में हेतु तथा साक्षात् भगवत्प्राप्ति करनेवाले को तुच्छ वस्तु के लिये क्लेशप्राप्ति में कारण.

(३५) अल्पबुद्धिवाले की मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति तथा अधिक बुद्धिवाले की अप्रवृत्ति में हेतु और वैसी दुर्बुद्धि के परित्याग का उपाय.

(३६) त्यागी भक्तों के लिये तुच्छ वस्तुओं में से प्रीति का परित्याग कर श्रीहरि में ही प्रीति बनाये रखने की आवश्यकता.

(३७) आत्मज्ञान से देहात्मबुद्धि का परित्याग कर भक्त के लिये एकान्तिक धर्म की सम्पाद्यता, साकार निष्ठा रखनेवाले की समहिम स्वातिप्रियता, महिमाबल को छोड़कर केवल पुरुषार्थ से मोक्ष की आकांक्षा करनेवाले की सदृष्टान्त मूर्खता.

(३८) हरिचरित्रचिन्तन से मन को निर्वासनिक करने का विधान तथा देहविलक्षण जीवात्मा का स्वरूप.

(३९) सविकल्प एवं निर्विकल्प स्थिति भेद से जीवात्मा के सत्यत्व तथा असत्यत्व का सदृष्टान्त प्रतिपादन करते हुए शुष्कज्ञानियों के अभिमत अपसिद्धान्त का स्पष्ट रूप से खंडन.

(४०) निर्विकल्प तथा सविकल्प समाधि को प्राप्त भक्तों के भिन्न-भिन्न लक्षण तथा भक्ति एवं उपासना में कुछ भेद.

(४१) 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' श्रुति के सम्बन्ध में शुष्कज्ञानियों द्वारा किये गये अर्थ में दोषप्रदर्शनपूर्वक उसका खंडन करते हुए किया हुआ स्वाभिमत निर्बाध अर्थ.

(४२) शुष्कज्ञानियों द्वारा विधिनिषेध के किये गये खंडन का सहेतुक स्थापन.

(४३) 'मत्सेवया प्रतीतम्' के अनुसार चतुर्धा मुक्ति के इच्छुक को सकाम भक्त कहकर उसकी इच्छा का परित्याग कर केवल भगवत्सेवा की ही इच्छा रखनेवाले निष्काम भक्त की श्रेष्ठता.

(४४) भगवान में परिपूर्ण प्रेमप्राप्ति के संसाधनस्वरूप तथा देह एवं दैनिक सम्बन्धियों में से अहंता-ममता के त्याग तथा उसके संकल्प-नाश का साधन.

(४५) भगवान के साकार तथा निराकार होने का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों का विषयभेद से विरोधरहित वर्णन करके निराकारता का खंडन करके भगवान का दिव्य आकार होने का सप्रमाण स्थापन.

(४६) चिदाकाश की लयोत्पत्ति के निषेध के साथ उसके स्वरूप तथा भूताकाश के

स्वरूप का कथन करते हुए भक्तों के लिये समाधि में उसकी लयोत्पत्ति का प्रकार.

(४७) धर्मादि चार निष्ठावाले एकान्तिक भक्त की सुदुर्लभता, धर्मादि निष्ठाओं से एक-एक निष्ठाप्रधान गुणयुक्त भक्तों के लक्षण, अपने-अपने मुख्य गुण की दृढ़ता का विधान तथा चार निष्ठावालों के अपने-अपने अंगों में रहनेवाले गुणदोष.

(४८) प्रतिदिन भगवान का पूजन करने के पश्चात् भगवान के चार प्रकार के कुसंगियों तथा कामादि अन्तः शत्रुओं से रक्षा के लिये प्रार्थना का विधान.

(४९) भगवान के सिवा अन्य विषयों में मनोवृत्ति न रखनेवाले भक्त का लक्षण बताते हुए भक्त के लिये भगवान में ही सदैव सहज मनोवृत्ति बनाये रखने का प्रकार.

(५०) कुशाग्रबुद्धिवाले तथा स्थूलबुद्धिवाले के भिन्न-भिन्न लक्षण.

(५१) मायिक इन्द्रियों से भगवान की अग्राह्यता तथा अमायिक इन्द्रियों से उनकी (भगवान की) ग्राह्यता.

(५२) सांख्यादि चार शास्त्रों से भगवान सम्बन्धी ज्ञान की पूर्णता तथा उसके कम होने पर रहनेवाली न्यूनता तथा शास्त्रान्तर के ज्ञान से अपूर्णता के पूर्ण होने का विधान और चार शास्त्रों का प्रतिपाद्य संक्षिप्त अर्थ.

(५३) सत्संग में रहकर प्रतिदिन ज्ञानादि गुणों की वृद्धि तथा गुणक्षय में हेतु.

(५४) भागवतधर्मों की पुष्टि तथा मोक्षद्वार के उद्घाटन में सत्समागमरूप साधन तथा भीषण विपत्ति में भी स्वधर्म से अविचलित रहनेवाले भक्त का लक्षण.

(५५) धर्मभक्ति की सदा दृढ़ अदृढ़ स्थिति में शुभाशुभ देशादिक के सेवन का प्रयोजन.

(५६) ज्ञानी भक्त की श्रेष्ठता तथा अन्य भक्त की न्यूनता में हेतु, मानकी दुष्टता और उसके त्याग का सफल साधन, निर्मान की बलिष्ठता, आत्मनिष्ठादि की प्राप्ति में उपासना का हेतु, उपासना सिद्धि में माहात्म्यज्ञान का प्रयोजन और वैसे ज्ञान का विस्तृत प्रकार.

(५७) मोक्ष में मुख्य हेतु माहात्म्यसहित स्नेह की लक्षणयुक्त द्विविधता तथा स्नेह में महाविघ्न दुःखभाव की निवृत्ति का उपाय.

(५८) ध्यान के समय रजोगुण, तमोगुण आदि का वेग बढ़ने में तीन कारण, उनका निवारण करने के भिन्न-भिन्न साधन, महासन्तों की प्रसन्नता के उपाय, कामादि दोषों के नाश तथा भक्ति में वृद्धि करने के उपाय.

(५९) भगवान में असाधारण प्रेम होने में सनिश्चय माहात्म्यज्ञान की हेतुता के साथ उसका प्रकार, स्थित प्रेम के ज्ञान में सदृष्टान्त हेतु तथा शुभाशुभ देशादिक की प्रवृत्ति में शुभाशुभ पुरुष की ही मुख्य हेतुता.

(६०) विषयवासना एवं उसके क्षय का प्रकार तथा वासना का विनाश करने के मुख्य

उपाय, एकान्तिक भक्त का निर्वासनिकरूपी परमधर्म और उससे एकान्तिक धर्म की प्राप्ति.

(६१) कामादिक से धैर्यलोप न हो. वैसे भक्त का लक्षण तथा जैसे भक्त को सिद्धियाँ प्राप्त हों, उस कोटि के भक्त का लक्षण.

(६२) जैसे भक्तों में भगवान के सत्य, शुचिता आदि गुण आवें और जिनमें बिल्कुल नहीं आवें, ऐसे भक्तों के लक्षणों के साथ गुणागमनप्रकार.

(६३) न्यूननिश्चयी तथा दृढ़निश्चयी भक्त के हृदय में होनेवाले संकल्पों का प्रकार, प्रत्यक्ष नराकार भगवान के तात्त्विक दृढ़ निश्चय का सफल स्वरूप, वैसे निश्चयी भक्त का लक्षण और अवतारधारण का प्रकार.

(६४) 'यस्मात्मा शरीरम्' इत्यादि के अनुसार अक्षरात्मा तथा परमात्मा का शरीरशरीरीभाव सम्बन्ध, शरीर का सार्थ लक्षण, भेदाभेद श्रुतियों के निर्वहण प्रकार के साथ अक्षरात्मा परमात्मा का वास्तविक भेद, दूर रहनेवाले भगवान की प्राप्ति एवं उपासनाप्राप्ति का प्रकार, भगवान को दिव्याकार निराकार जानकर उपासना करनेवाले को मिलनेवाले शुभाशुभ फलाफल का वर्णन.

(६५) शरीर में आकाशोत्पत्ति लय का प्रकार, सुषुम्णा नाड़ी का अन्तर्बाह्य स्थिति का प्रकार, समाधि में तीनों अवस्थाओं का लयप्रकार तथा भगवान में तीनों ज्ञानशक्त्यादि स्थिति का प्रकार.

(६६) श्रुतियों, स्मृतियों में प्रतिपादित निर्गुण निराकारादि शब्दों के निर्बाध अर्थ बताने के साथ ही भगवान की दिव्यगुणता तथा दिव्याकारता का प्रतिपादन.

(६७) मुमुक्षु में एकान्तिक भक्त के ज्ञानादि सद्‌गुणों के आने और न आने में कारण.

(६८) हरिप्रतिमा तथा एकान्तिक साधु में हरिबुद्धि तथा मर्यादा रखने का विधान, मर्यादा न रहने में साक्षात् हरिनिश्चय के अभाव की हेतुता, ऐसे लोगों का अकल्याण और नास्तिक शब्दवाच्यता तथा नास्तिक-आस्तिक-भाव के हेतु.

(६९) हिंसायुक्त धर्म, अर्थ एवं काम पर धर्म की अपेक्षा श्रेयस्कर अहिंसा धर्म की श्रेष्ठता, हिंसामय धर्मकथन का प्रयोजन, साधु का सर्वथा अहिंसामय धर्म, वैसे शान्तस्वभाववाले साधु की सुदुर्लभता.

(७०) बुद्धि में सत्संगी कुसंगी के शब्दों से परस्पर होनेवाले युद्ध का सदृष्टान्त विवरण, उसमें भी उसकी ही विजय, जिसके पक्ष में सन्त मण्डल है, हृदय में सन्त असन्त का बल बढ़ने और घटने का उपाय, चालू युद्ध में मरनेवाले शूर की भी सुगति तथा प्रत्यक्ष श्रीहरि के अटल निश्चय का हेतु.

(७१) भक्त के विरुद्ध किये गये अपराध के सम्बन्ध में दयानिधि भगवान के लिये असह्यता, भगवान के प्रति महापराधरूप आकारखंडन की अकार्यता, निराकारवाद का खंडनपूर्वक दिव्य साकार सिद्धान्त का समर्थन, दिव्यभाव तथा मनुष्यभाव की

सहेतुक एकता तथा ईर्ष्या का लक्षण.

(७२) उत्तम राजा के समक्ष की गयी हरि-हरिभक्तों के माहात्म्यज्ञानवाली वार्ता का सन्तों के सामने अनुवाद. समस्त शुभाशुभ भगवत् क्रिया की निर्दोषता सदोषता में शुक-परीक्षित का सहेतुक दृष्टान्त, माहात्म्यज्ञान सहित निश्चयवाले तथा अनिश्चयवाले के लक्षण और उत्तमादि त्रिविध भक्तों के लक्षण.

(७३) काम के वीर्यरूप का ही स्वरूप होने का वर्णन करने के साथ ही उसके अवरोधरूप ब्रह्मचर्य के लक्षण के कथन द्वारा ऊर्ध्वरेता का लक्षण, काम पर विजय का साधन दुःसाध्य होने की बात बताकर उस पर जय होने का भी सुदृढ़ साधन, वासना पर विजय की दुःसाध्यता का कथन करने के साथ ही निर्वासनिकता में साधन तथा भगवान के लिये अर्पितमन एवं अनर्पितमनवाले भक्तों के लक्षण.

(७४) महात्म्यज्ञान की न्यूनाधिकता से वैराग्य की अदृढ़ता, सुदृढ़ता, आपत्काल में उसकी परीक्षा तथा भक्तों के लिये श्रीहरि की इच्छा के अनुसार ही सर्वथा आचरण करने का विधान.

(७५) भक्त के गोत्रियों तथा अगोत्रियों के उद्धार एवं अनुद्धार की रीति और अल्प निश्चय तथा पूर्ण निश्चय का लक्षण.

(७६) भगवान के लिये अतिशय प्रिय भक्त तथा अप्रिय भक्त के लक्षण.

(७७) स्वधर्माचरण की अतिदृढ़ता का सहेतुक प्रतिपादन, भक्त के अन्त समय में अच्छी तरह मृत्यु होने तथा कष्टप्रद मरण में हेतु और उत्कृष्ट एवं अपकृष्ट गति में मुख्य हेतु.

(७८) छोटेछोटे विद्यार्थी परमहंसों द्वारा दिये गये २२ प्रश्नों के उत्तर तथा मुख्य हेतु 'त्रिविधं नरकस्येदम्' के कथनानुसार काम, क्रोध, लोभ के परिणामस्वरूप नरकद्वार पर जाने तथा उस पर जय का विधान.

सारंगपुर प्रकरणम्

(१) मन को जीत लेने पर जगत पर विजय प्राप्त होने की बात कहते हुए स्वमनोजय का लक्षण, अपने-अपने विषयों से इन्द्रियों का प्रत्याहार करने मे साधनभूत आत्मनिष्ठा एवं माहात्म्यज्ञान का प्रकार.

(२) हरि एवं हरिभक्तों के लिये प्रगाढ़ स्नेह होने में कारणभूत आन्तरिक सद्गुण.

(३) प्रेममग्न होकर बाह्य-आन्तरिक उपचारों द्वारा भगवत्पूजा करनेवाले की ही श्रेष्ठता तथा उसका लक्षण और प्रेम की प्राप्ति में हेतुभूत श्रवणादि चार बातों के लक्षण.

(४) अत्यन्त निर्वासनिक होने में दृढ़ आत्मनिष्ठारूप साधना उसमें उपयोगी आत्मा का आत्मविवेक बताने के साथ ही आत्मनिष्ठा का स्वरूप बताकर उसकी

अवश्य सम्पाद्यता का विधान तथा अनिर्वासनिक भक्त का देहान्त होने पर दुर्गति नहीं किन्तु सुगति होना.

(५) अत्यन्त निर्वासनिक होने में सामान्यतः चार उपाय, उनमें माहात्म्यज्ञान का एक अचल मुख्य उपाय, जीवादि की अन्वयव्यतिरेकता तथा नामस्मरणदर्शनादि समस्त क्रियाओं को मनसहित करने का सहेतु विधान.

(६) तीन अवस्थाओं का शब्दार्थ के साथ स्वरूप. एक-एक में दूसरी दो-दो अवस्थाओं की स्थिति का प्रकार, वैराग्य की परादि चार वाणियों का स्वरूप तथा जीव की वैखरी वाणी में ही चार भेद.

(७) नैमिषारण्यसंज्ञित सद्धर्महेतु क्षेत्र का अपने अनुभव से यथार्थ अर्थ बताते हुए सत्संगरूप तीर्थ में किये हुए सत्कर्मों की शीघ्र सिद्धि होने की बात कहकर सत्संग महिमा.

(८) भक्तों के लिये सर्वथा त्याज्य मानजन्य ईर्ष्या तथा ईर्ष्यालु का लक्षण.

(९) जीव के हृदय में युगप्रवृत्ति हेतु उसमें गुणी नरद्वारा करने योग्य विशेष भक्ति, कलिनिवृत्ति का उपाय तथा स्थान शब्दार्थ सहित उसमें रहकर ही भक्ति करने की उपयोगिता.

(१०) धार्मिक एवं अधार्मिक के लक्षण, जिनके लिये अक्षरादिधाम दूर और जिनके लिये समीप में हैं, ऐसे दोनों बाह्यदृष्टि तथा अन्तर्दृष्टिवालों के लक्षण.

(११) भक्तों द्वारा पुरुषार्थ से प्राप्त तथा श्रीहरिकृपा से प्राप्त होनेवाले भिन्न-भिन्न गुण.

(१२) साधु में अखंड रूप से रहनेवाले गुणों तथा गतागत गुणों का सहेतुक निरूपण एवं आत्मस्वरूप का कर्तव्य-विचारप्रकार.

(१३) शास्त्रमूलक यथार्थ भगवन्निश्चय की सहेतुक अचलता.

(१४) भगवद्धाम को प्राप्त भक्त की अपुनरावृत्ति (पुनः भावबन्धन में न पड़ने) का प्रकार, शत्रुभूत प्रमादमोह के त्याग में दृढ़तापूर्ण सतर्कता (सावधानी) रखने का विधान, स्थूल-सूक्ष्म देहों में रहनेवाले तत्त्वों की गणना, स्थूल-सूक्ष्म देहों से किये हुए कर्मों की तुल्यता तथा भक्त के लिये कर्मबन्धन का अभाव और अभक्त के लिये उसका भाव.

(१५) आत्मनिष्ठा अवं वैराग्ययुक्त प्रेमी भक्त की सहेतुक श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के साथ ही इन दोनों से रहित केवल प्रेमी भक्त होने से न्यूनता.

(१६) भक्तों के ही निर्विघ्न मोक्ष के लिये नरनारायण की धर्मादि गुणयुक्त तपश्चर्या.

(१७) भगवान की उपासना करने से भक्त की ज्यों-ज्यों शुद्धता होती जाय त्यों-त्यों भगवान के सूक्ष्मत्व, परतत्त्व, महत्त्व तथा स्वामिसेवक भाव की अधिकाधिक प्रतीति होने की बात करते हुए उसमें उपयोगी अनेक प्रकार के उदाहरणों से उक्तार्थ कहकर भक्तों के भेद का कथन.

(१८) श्रद्धालु के लिये गुणदोषों की प्राप्ति में सत्-असत् पुरुष के प्रसंग की हेतुता बताकर कुसंगत्यागपूर्वक सत्संग की कर्तव्यता, कामादि दोषों के निवारण का उपाय, सत्संग करनेवाले के लिये भी दोषों की उत्पत्ति होने में हेतु तथा उनके निवारण का उपाय और रजतमादि स्वाभाविक दोषों के भी नाश का उपाय.

कारियाणी प्रकरणम्

(१) इन्द्रियों, अन्तःकरण तथा जीव में भगवान सम्बन्धी निश्चय होने का प्रकार, अभक्त के मन और वाणी के लिये भगवान की अगोचरता बताते हुए भक्त के मन एवं वाणी के लिये तो गोचरता तथा इस लोक में लोककल्याण के लिये भगवान के अवतार का प्रकार.

(२) सन्तों के प्रति दोषदृष्टि रखने तथा पीड़ित, दीन एवं असेवित मातापिता के शाप से हुई दूषित बुद्धि को विशुद्ध करने के साधन तथा कर्म की सहेतुक अमूर्तता के साथ उसके फल की मूर्तता.

(३) गुणदोषों की परीक्षा का प्रकार दोषवर्णन सहित उस पर जय प्राप्त करने में हेतुभूत शम-दम का लक्षण तथा साधुत्वसाधक शम-दम की सबके लिये अत्यावश्यकता.

(४) जीव तथा साक्षी के सम्बन्ध में बोध होने का विवेचन, मूर्तिमान साक्षी की व्यापकता का प्रकार.

(५) भूतल में भगवान का नराकार के रूप में आविर्भाव होने में मुख्य साधुरक्षण प्रयोजन.

(६) दिवबंदर के प्रेमी भक्त की प्रशंसा, भगवत्प्रीति में हेतुभूत भक्त के गुण, मत्सर की सहेतुक अतिदुष्टता बताने के साथ ही उसके निवारण के उपाय, मत्सर की उत्पत्ति के निमित्त की चर्चा करते हुए उसके स्वरूप का विवेचन तथा स्वयं के आचरण एवं कथन द्वारा निर्मत्सर सत्पुरुष की रीति.

(७) भगवान में गृहस्थों की भी मनोवृत्ति स्थिर रखने के उपाय, निर्बल गृहस्थों के लिये भी मोक्ष का सुगम उपायान्तर, श्रेयहेतु वैराग्य के उदय में हेतु, आत्यन्तिक श्रेय का लक्षण तथा उसे प्राप्त सिद्धदशावाले पुरुष का लक्षण.

(८) 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' की उक्ति के अनुसार भगवान के अतिसूक्ष्म निर्गुण स्वरूप एवं अतिस्थूल सगुण स्वरूप को समझने की रीति तथा उसके ज्ञान से प्राप्त होनेवाला फल.

(९) क्रोध की अतिदुष्टता, त्यागीजनों को उस पर सर्वथा विजय प्राप्त करने की अत्यावश्यकता, उसको जीतने के उपाय तथा भक्त के प्रति अवगुण-दृष्टि नहीं रखने के लिये सहेतुक विधान.

(१०) त्यागी भक्तों को पदार्थों का संग छोड़कर, भगवान को सर्वकर्ता समझते हुए भगवत्प्राप्ति के लिये ही सप्रेम तप करने का सदृष्टान्त विधान.

(११) भगवान में सच्ची प्रीति रखनेवाले भक्त का सदृष्टांत लक्षण तथा ऐसे भक्त के लिये भी भगवान की आज्ञा के अनुसार चलने की सहेतुक अत्यावश्यकता, भगवान के साथ अखंड सम्बन्ध रहने में हेतु.

(१२) जीव के कारणशरीर का स्वरूप, उससे आत्मा के पृथक् होने के सदृष्टान्त उपाय, सत्त्वात्मक जाग्रत में श्रुतार्थ का यथार्थ ज्ञान न होने पर रजोगुणप्रधान स्वप्नावस्था में उसके मनन से यथार्थ ज्ञान न होने में हेतु तथा अपनी दिव्य वार्ताओं का सर्वाधिक माहात्म्य.

लोया प्रकरणम्

(१) क्रोध का दुष्ट स्वरूप, त्यागीजनों के लिये उसका सर्वथा परित्याग करने का सहेतुक विधान, काम का उन्मूलन करने के उपाय, त्रिविध निश्चयज्ञान का लक्षण, दृढ़निश्चयी ज्ञानी के लिये भी अकृतार्थता मनाने में कारण, वैराग्य का लक्षण, त्रिविध कामादि अन्तःशत्रुओं का नाश करने के उपाय, सम्पूर्ण सत्संगी को परखने के लक्षण, भक्त की महिमा को क्वचित जानने और न जानने में कारण तथा हृदय में सन्तों के प्रति आनेवाले अवगुणों को दूर करने के लिये श्रद्धालु द्वारा साध्य उपाय.

(२) विश्वासी, ज्ञानी, शूरवीर, आदि चतुर्विध निर्भय भक्तों के लक्षणों का वर्णन तथा उनकी अवश्य सम्पाद्यता एवं कार्य की अपेक्षा से कारण की सबलता.

(३) श्रीहरि एवं हरिभक्तों के सम्बन्ध में माहात्म्यज्ञान सहित निश्चय रखनेवालों के लक्षण तथा ऐसे भक्तों के बारे में श्रीमुखकृत नामवार भिन्न-भिन्न वार्ताएँ.

(४) अनन्त ब्रह्मांडों में भगवान के अनन्त अवतारों का सहेतु सद्भाव, सदैव एकरूप श्रीहरि के कार्यवश मत्स्यादि आकार धारण करने की सम्भावना, प्रत्येक ब्रह्मांड में कल्याणरीति तथा भगवान की मूर्ति की एक-प्रकारता और निराश होकर शोकवश प्रेमादि क्रियाएँ नहीं करने का सहेतु विधान.

(५) सन्त के समक्ष सकपट एवं निष्कपट होने का प्रकार, सकपट दम्भी की परिकलता का प्रकार, धर्म एवं निश्चय से भ्रष्ट तथा अभ्रष्ट करनेवाला संकल्प और उसकी अवधि, सत्संग में बद्धमूल तथा अबद्धमूल भक्तों का लक्षण, इन्द्रियजय के लिये साधु से प्राप्त युक्तियाँ तथा इन्द्रिय एवं मन पर विजय के लिये पृथक् उपाय.

(६) स्वयं श्रीहरि द्वारा पूछे गये ११ प्रश्नों के स्वयमेव प्रदत्त यथास्थित उत्तर.

(७) माहात्म्यसहित साक्षात् दर्शनयुक्त भागवत्-ज्ञान का वर्णन करते हुए अनुभवात्मक

ज्ञान की ही मुक्ति के प्रति साक्षात् हेतुता का समर्थन.

(८) बहुश गुणी के लिये भी सन्त के प्रति अवगुण आने में कारण, अन्तःशत्रु के वेग की मन्दता एवं तीव्रता का हेतु तथा उसका निवारण करने के उपाय, विविध व्यसन छोड़ने के उपाय, शुभाशुभ प्रकृति होने में हेतु, प्राचीन तथा आधुनिक दुःखभावों को ज्ञानपूर्वक दूर करने के उपायभेद, इन्द्रिय-चंचलता को मिटाने के उपायभेद, जीभ (जिह्वा) को जीत लेने से समस्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होने की सुशक्यता, कामातुर को पहचानने का प्रकार, चंचल के शान्त होने तथा शान्त के चंचल हो जाने का विचारप्रकार, वेदादि अष्ट सत् शास्त्रों में से अपने अंग में यथोपयुक्त शास्त्रों के ग्रहण का प्रकार, गुरु के उपदेशादि सर्वथा तुल्य होने पर भी साधुवर्ग में न्यूनाधिकता रह जाने में कारण.

(९) भक्ति के अंगभूत धर्म, ज्ञान वैराग्य तथा भक्ति की उत्पत्ति के पृथक् पृथक् हेतु.

(१०) साधारण, असाधारण स्नेह का हेतु, त्रिविध जीववृत्ति के वेग, त्रिविधता में हेतु तथा उसके लक्षण, वेगप्रसंग में आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी ज्ञाननिष्ठा की दृढ़ता का विधान तथा माया जिसके लिये जिस रीति से सुखदा एवं दुःखदा हो, उसका सदृष्टान्त प्रकार.

(११) सत्-शास्त्र का सिद्धान्त सन्त एवं असन्त किस रीति से जानते हैं, उसका प्रकार भेद.

(१२) भगवान के सविकल्प-निर्विकल्प भेद से निश्चय की द्विविधता, द्विविध निश्चय की भी उत्तमादि भेद से षड्विधता, षड्विध निश्चय के भिन्न-भिन्न लक्षण, ऐसे भेद के हेतु तथा भगवान सम्बन्धी निर्विकल्प निश्चय के उत्तम भेद की सर्वाधिकता.

(१३) जैसे पुरुष के लिये अशुभ देशादिक से बाधा हो और न हो वैसे पुरुष का भेद तथा अक्षरधामस्थ मुक्त एवं भगवान में अत्यन्त भेद का प्रकार. 'एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म' इस श्रुति का अर्थ.

(१४) अपने भक्तों की शिक्षा के लिये रामानुज, शंकर आदि अन्य आचार्यों का अभिप्राय बताते हुए श्रीजीमहाराज द्वारा अपने स्पष्ट अभिप्राय तथा रुचि का विस्तृत रूप से वर्णन.

(१५) देह में जीव की व्यापकता तथा जीव में परमात्मा की अन्तर्यामीभाव से अवस्थिति का प्रकार बताते हुए प्रकारान्तर से श्रीकृष्ण का वर्णन करनेवाले सांख्यादिक का अभिप्राय.

(१६) तीक्ष्ण, कुंठित, निर्मूल विषयवासनावाले भक्त के भिन्न-भिन्न लक्षण, कुंठित वासना की निर्मूलता के चार उपाय, भगवत्प्रीति का (माहात्म्यरूप) असाधारण साधन, कपटी को पहचानने के लक्षण, समस्त सद्गुणों को दोषरूप करनेवाला

एक महादोष, सन्तों का अभाव आने में मान की हेतुता, माननाश में माहात्म्यज्ञान की हेतुता तथा माहात्म्यज्ञान से नष्टमानी के दृष्टान्त.

(१७) देशादिक की विषमता में भी हरि एवं हरिभक्त से विपरित मति न होने के चार उपाय तथा विपरित मति होने के हेतु, सत्संग में से कभी भी भ्रष्ट न होने और भ्रष्ट होने के पृथक् प्रकार, पंचविषयों में अभाव रहनेवाले के लक्षण तथा विषयाभाव में माहात्म्य की मुख्य हेतुता बताते हुए उसका प्रकार कहकर उसके फल का कथन.

(१८) भक्ति से ही निःश्रेयस प्राप्ति, उसमें प्रत्यक्ष भगवान के सम्बन्ध में सुदृढ़ निश्चय की मूलकारणता, निश्चय का स्वरूप, मानवभाव में भी दिव्य भावना की दृढ़ता रखने की बात बताते हुए वैसा निश्चयपूर्वक भक्ति करनेवाले की सम्पूर्ण ज्ञानिता का कथन.

पंचाला प्रकरणम्

(१) मायिक विषयों की तुच्छता तथा आनन्दमूर्ति श्रीहरि के आनन्द की निरतिशयता के विचार से मायिक रम्य पाँच विषयों की तुच्छता होने का कथन.

(२) सांख्ययोग में रहनेवाले दोषों का निरूपण करके उनकी निवृत्ति के लिये सन्तों से ज्ञातव्य युक्तियाँ बताते हुए, सांख्ययोग के लिये परस्पर सापेक्षता बताकर उन दोनों के निश्चित सिद्धान्त को कहते हुए आधुनिक सांख्ययोग की की गयी सहेतुक गर्हणा.

(३) ईर्ष्यामानादि दोषों की निवृत्ति का उपाय तथा शुद्धात्मरूप होकर बुद्धिमान भक्तों के लिये भगवान से दृढ़ प्रीति करने की रीति तथा ऐसे भक्तों की सप्रमाण श्रेष्ठता.

(४) अक्षरधामस्थ दिव्य स्वरूप तथा भूमिस्थ मनुष्यरूप के अभेदज्ञान से सम्बन्ध में निश्चय की निःसंशयता करने का प्रकार.

(५) जिसके आगे मान रखना तथा जिसके समक्ष इसे न रखना, इन दोनों का विवेचन.

(६) समस्त दिव्य स्वरूपों तथा समग्र दिव्य ऐश्वर्यों के आविर्भाव से वसुदेवसुत श्रीकृष्ण भगवान की सभी अवतारों की अपेक्षा अधिकता.

(७) मायिक आकार का निषेध करते हुए भगवान के दिव्य आकार का प्रतिपादन करके, अक्षरस्थ तथा भूमिस्थ प्रत्यक्ष रूप का अभेद बताकर उसमें दृढ़निष्ठा रखने की बात कहते हुए उक्तार्थ के समर्थन में नानाविध दृष्टान्तों का विवरण.

गढडा मध्य प्रकरणम्

(१) मोह का स्वरूप तथा उसकी निवृत्ति के लिय विशिष्ट उपाय, साधन तथा

सिद्धदशा के लक्षण.

(२) आत्यन्तिक कल्याण तथा नारदादि-जैसी साधुता की प्राप्ति के साधन.

(३) रसिक भक्तिमार्ग तथा ब्रह्मज्ञानमार्ग जिस रीति से समझते हुए संसारहेतु हो तथा जिस रीति से समझते हुए मोक्षहेतु हो उस रीति का कथन.

(४) आपत्काल में धर्मभक्ति के साथ संरक्षण का उपाय, पतितपावनत्वादिरूप अतिशय माहात्म्य को जाननेवाले के लिये भी धर्म में दृढ़ स्थिति तथा अखंड चिन्तन का उपाय.

(५) भक्तों द्वारा पालनीय पतिव्रता धर्म तथा शूरवीरधर्म की रीति.

(६) नास्तिकों की निन्दा के साथ ही सत्-शास्त्र में दृढ़ आस्तिकता का विधान तथा दुस्त्यज चित्तधर्मों से ग्लानि नहीं होने देने के लिये करणीय आत्मविचार.

(७) इच्छा होने पर भी लोभादि दोषों को नहीं छोड़ने में कारण तथा उनके नाश का उपाय.

(८) एकादशी की पुराणोक्त प्रवृत्तिकथा का वर्णन करते हुए एकादशीव्रत तथा सर्वश्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ का लक्षण और उसकी अवश्य कर्तव्यता तथा भक्तों की भगवदंशता तथा उसका लक्षण

(९) दिव्याकार सर्वावतारी भगवान के दृढ़ आश्रयबल की गीतोक्त प्रकार से सर्वाधिकता.

(१०) भगवान को सदा दिव्याकार जानकर उनके दृढ़ आश्रय की कर्तव्यता, भगवान में परा प्रीति रखने में साधनभूत ज्ञान, वैराग्य, भक्ति का स्वरूप तथा उसमें भक्ति की अधिकता तथा दुर्लभता.

(११) समानता दिखायी पड़ने पर भी भक्त-अभक्त की क्रियाओं में संकल्पभेद से महाफल भेद

(१२) मोक्ष के लिये पुरुषार्थरूप प्रबल साधन की राजनीति के दृष्टांत से सर्वाधिकता.

(१३) अपने भक्तों को शिक्षा देने के लिये अक्षरधामी दिव्यमूर्ति अवतारी स्वस्वरूप का समाहात्म्य सर्वोत्कृष्ट ज्ञान.

(१४) १३ वें वचनामृत में दिये गए उपदेशानुसार स्वस्वरूप ज्ञान की सर्वाधिक महत्ता

(१५) कामक्रोधादि दु-स्वभाव का नाश करने में हेतुभूत एक सर्वोत्तम स्वस्वभाव पर परिपक्व शत्रुबुद्धिरूप विचार तथा सांग भक्ति से पथभ्रष्ट न होनेवाले भक्त का लक्षण.

(१६) धर्मनिष्ठा से भगवतस्वस्वरूपनिष्ठा की श्रेष्ठता, विषयों पर विजय प्राप्त करने का साधन, इन्द्रियों की तीक्ष्णता टालने का साधन, तीव्र श्रद्धालु भक्त का लक्षण तथा श्रद्धावृद्धि का उपाय.

(१७) ध्यानी भक्त के लिये भगवत्स्वरूप को सर्वाधार, निर्दोष, निर्विकार, असंग जानने

(३०) भागवतादि सत्शास्त्रों में प्रतिपादित अर्थों की सत्यता बताते हुए अतिबन्धनकारी कनक-कान्ता के चंगुल से मुक्ति का आत्मज्ञान, वैराग्य आदि महासाधन.

(३१) ब्रह्मांडसृष्टिकथन द्वारा जीवादि पाँच अनादि भेदों का अनेक दृष्टान्त युक्ति से निरूपण.

(३२) भक्ति में अन्तराय डालनेवाले कुटुम्बियों में स्नेहानुबन्ध की सदुस्त्यजता, उसकी समूल निवृत्ति का उपाय, सांग भक्ति का सहेतुक दृढ़ता विधान तथा शुभ देशादिक का सेवन विधान.

(३३) भक्तों को शिक्षा देने के लिये अपने अंग (स्वभाव) को बताने के साथ ही कही गयी ब्रह्मचर्यव्रत की श्रेष्ठता एवं स्वातिप्रियता, उसकी दृढ़ता के लिये बताये गये तीन मुख्य उपाय तथा अभ्यासादि से उनकी सुकरता.

(३४) कार्यकारण भेद से तत्त्वों की जड़ाजड़रूप में बतायी गयी द्विविधता.

(३५) आत्मज्ञान से मुक्ति की दुष्करता बताते हुए धर्मसहित स्वभक्ति से ही उसकी सुकरता का प्रतिपादन तथा सधर्म भक्ति की पुष्टि के लिये आठ सद्ग्रन्थों के ही श्रवणादि की आवश्यकता.

(३६) भगवान में मन की अखंड स्थिर वृत्ति रखने के लिये चार सदुपाय.

(३७) ज्ञानी के लिये भी सुदुस्त्यज स्वाभाविक प्रकृति को टालने के उपाय.

(३८) मांचा भक्त के उदाहरण से एकान्तिक भक्तों का लक्षण तथा भगवान में उनका ही प्रवेश होने की बात बताते हुए प्रवेश शब्द से निर्बाध अर्थ कथन.

(३९) भक्तों की शिक्षा के लिये बताये गये अपने चार दिव्य महागुण, अग्रगामी के लिये समस्त सद्गुणों के संजीवनरूप ब्रह्मचर्यव्रत की अत्यावश्यकता, भागवत के स्वामिमत दशम पंचम स्कन्धों के रहस्य एवं शुकादि के दृष्टान्त से उनकी ऐक्यता तथा भगवान का सदा साकारताज्ञान.

(४०) जाने-अनजाने मन, वचन एवं कार्य से भक्तों के विरुद्ध किये जानेवाले अपराधों के निवारण के लिए भगवान के नित्य एक अधिक साष्टांग प्रणाम का स्वाचार से सहेतुक विधान.

(४१) श्रीहरि एवं हरिभक्तों की सेवारीति बताते हुए मान की अतिदुष्टता का उद्धरण, निर्मानी भक्त की सोदाहरण सुदुर्लभता तथा महाभाग्यशाली के लिये श्रीहरि एवं हरिभक्तों की सेवाप्राप्ति.

(४२) भगवान के एक-एक रोम में ब्रह्मांडकोटियों की स्थितिरीति तथा उसमें अनन्तरूप से भगवान की स्थितिरीति का निरूपण.

(४३) गुणातीत ब्रह्मरूप भक्त की भगवान में ब्रह्मरूपप्रीति का आचार्यों के सिद्धांतों के सहित स्वरूप.

(४४) श्रीहरि-हरिभक्तों के गुणों का परित्याग करके दोषों को ही ग्रहण करनेवाले

आसुरी स्वभाववालों के पापकारी पुण्यहारी संग को छोड देने की बात बताते हुए सन्तों के संग की कार्यता का विधान.

(४५) गुरुरूप श्रीहरि के शिष्यों के प्रति कहे गये निर्दोषत्वादि शिक्षावचन तथा कर्मों की विविधता का सफल वर्णन करते हुए श्रीहरि-हरिभक्तों के विपरीत अरोचक कर्म नहीं करने के कथन के साथ रोचक कर्म ही करने का फलसहित विधान.

(४६) अवतार धारण में प्रधान प्रयोजनभूत एकान्तिक धर्म की श्रेष्ठता, स्वातिप्रियता अवश्यपाल्यता तथा उससे पतन में हेतु और उसका दुःखदायी फल.

(४७) विषयवासना के त्याग के लिये साधुओं को दिया गया सहेतुक सोपाय शिक्षण.

(४८) प्रेमानन्द मुनि के कीर्तन के बहाने भगवान का अखंड चिन्तन करनेवाले भक्तों का माहात्म्य.

(४९) अमायिक भगवन्मूर्ति तथा मायिक पदार्थों का स्मरण करनेवाले क्रमशः भक्तों तथा अभक्तों के लिये मोक्ष एवं बन्धनरूप महान फलभेद की प्राप्ति का कथन.

(५०) भक्तों को शिक्षा देने के लिये अपने सद्वृत्तान्त द्वारा स्वरहस्य का कथन.

(५१) त्रिगुणसम्बन्ध से दुःख तथा उसका त्याग कर आत्मसत्तारूप से आचरण में सुखप्राप्ति, वैसे आचरण की दुष्करता बताकर भगवान द्वारा प्रतिपादित मर्यादा में रहने की सुखहेतुता आदि.

(५२) त्यागी एवं गृही भक्तों के धर्मों की परस्पर सर्वथा विरुद्धता तथा त्यागियों के लिये करने योग्य विचार और भगवान की प्रसन्नता में स्वधर्म, श्रद्धा तथा अनीर्ष्या की हेतुता.

(५३) मोह का स्वदोषादर्शन तथा परदोषदर्शनरूप लक्षण और उसके निवारण का उपाय.

(५४) जिसे अन्य सभी बातों की अपेक्षा सत्संग की सर्वाधिक प्रतीति होती हो ऐसे भक्त का सन्तों में आत्मबुद्धिरूप लक्षण.

(५५) स्वभक्ति की शिक्षा के लिये अनेक दृष्टान्तों द्वारा अपने अलौकिक अंग का कथन.

(५६) भक्तों द्वारा भगवान से की जानेवाली निर्विघ्न सत्य प्रीति का स्वोद्देश्य से स्वरूप.

(५७) शुद्धात्मस्वरूप होकर एकमात्र भगवान से ही प्रीति करने की आवश्यकता.

(५८) स्वसम्प्रदाय की चिरकालतक सम्पुष्टि होने के उपायों का कथन.

(५९) हरि-हरिभक्तों का सर्वाधिक माहात्म्य बताते हुए उनसे अधिकाधिक निर्दोष प्रीति रखने का सहेतुक कथन, विशेषतः इस जन्म के भक्तों की अपेक्षा पूर्वजन्म के भक्तों के साथ प्रीति रखने पर ऐसा बल.

(६०) हरिभक्ति में विक्षेप के अभाव में हेतुभूत विचार, भक्तों का महान माहात्म्य और

उनसे व्यवहार करने की सुरीति.

(६१) भक्तों के लिये तीन गुणों की सुदुर्लभता, श्रेष्ठ गृही-त्यागी भक्त के लक्षण, सामाजिक क्षेत्र के प्रतिष्ठित पुरुषों का सभा में सम्मान करने का सहेतुक विधान.

(६२) अयोध्याप्रसादजी तथा रघुवीरजी के प्रश्नों के उत्तर, कल्याणकारी आत्मनिष्ठा आदि तीन दुर्लभ अंगों के सफल लक्षण, भक्तों को इनमें से एक अंग को सुदृढ़ बनाये रखने का विधान, अशक्त पुरुष के लिये कल्याणार्थ सरल साधन और सत्पुरुष की महिमा.

(६३) जीव, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण को परखने के पृथक्-पृथक् लक्षण, आत्मज्ञानबल के सम्पादन का साधन, साधु की सेवा करने का पुण्यफल तथा उनसे द्रोह करने का महापापफल.

(६४) समस्त अवतारों की अपेक्षा अवतारी श्रीकृष्ण भगवान के दिव्य अद्भुत ऐश्वर्यों का विशद वर्णन करते हुए उनके विशिष्ट माहात्म्य का विश्लेषण.

(६५) 'अवजानन्ति मां मूढा', इस उक्ति के अनुसार मूढ़जनों द्वारा साक्षात् भगवान को आत्मसदृश जानने, अर्थात् मनुष्यभाव रखने की बुद्धि के कारण उत्पन्न होनेवाले मोह को सर्वथा त्याग देने पर बल, स्वधर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा माहात्म्यज्ञान सहित भगवान की भक्ति करने की महत्ता तथा ऐसी भक्ति करनेवाले भक्त को ही एकान्तिक भक्त मानने की व्याख्या.

(६६) बड़े साधुओं से पूछे गये ६ प्रश्नों के उत्तर श्रीहरि द्वारा स्वयमेव दिये गये.

(६७) भगवान के साधर्म्य को प्राप्त अक्षरधामस्थ ब्रह्मरूप मुक्तों की स्थिति तथा भगवान में सेव्यसेवकभाव रहने में हेतुभूत वास्तविक अनादि भेद का निरूपण.

वरताल प्रकरणम्

(१) निर्विकल्प स्थितिवाले का लक्षण तथा मन रूपी शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिये अवश्य उद्यम करने की जरूरत.

(२) भगवान की प्रसन्नता में उनके सदा साकारताज्ञान की हेतुता तथा वेदादि समग्र सत्शास्त्रों की उनमें ही तात्पर्यता और ऐसे ज्ञानवाले की ही सम्पूर्ण ज्ञानिता.

(३) धर्मादि तीनों अंगों की प्राप्ति में माहात्म्यज्ञानसहित भक्तिगुण की मुख्य हेतुता, परा-अपरा भक्ति का लक्षण तथा परा भक्ति की प्राप्ति में हेतुभूत सन्तों के लक्षण.

(४) तीस लक्षणवाले सन्तों के समागमरूप एक ही प्रधान साधन में समग्र कल्याण-साधनों का समावेश तथा भक्त-योगी की भगवत्मूर्ति में ध्यानस्थिति का स्वरूप.

(५) भगवान की माया से तर जाने का शरणागतिरूप सदुपाय, हरिशरणागत का लक्षण, दम्भी भक्त का लक्षण तथा कनिष्ठ भक्त के उत्तम होने के साधन.

अहमदाबाद प्रकरणम्

(३) संसृतिहेतु सुदुस्त्यज विषयासक्ति के विनाश का उपशमरूप उपाय, उपशम का लक्षण, उसकी महिमा तथा उसकी प्राप्ति के लिये श्रेष्ठ सरल सदृष्टान्त उपाय.

गढडा अंत्य प्रकरणम्

(१) अशुभ देशादि के योग में भी निर्विघ्न भक्ति रहने में साधन, ज्ञानभक्ति के अंगवालों के समान लक्षण तथा प्रतिदिन शिक्षापत्री के पाठादि की आवश्यकता.

(२) मायिक पदार्थों में अप्रीति तथा भगवान में सर्वथा प्रीति होने के उपाय.

(३) ब्रह्मरूप भक्त के लिये भी हरि-हरिभक्तों में दया तथा स्नेह रहने और कैवल्यार्थी के लिये दया स्नेह नहीं रहने में सदृष्टान्त कारण.

(४) भक्त के अन्तःकरण में रहनेवाली बाधितानुवृत्ति की निवृत्ति का सलक्षण उपाय तथा देहविलक्षण जीव की सामान्य विशेष सत्ता से हृदय में सदृष्टान्त स्थिति.

(५) निर्विघ्न तथा सविघ्न भक्ति का सहेतु के लक्षण और सकाम भक्त के लिये देहान्त होने पर न्यून सुख प्राप्ति तथा निष्काम भक्त के लिये महासुख प्राप्ति और अन्य कामना नहीं रखने का उपदेश.

(६) कल्याण के लिये दम्भ-ईर्ष्यारहित भक्ति की ही भगवान की प्रसन्नता में हेतुता तथा भक्ति करते समय कदाचित् अपराध होने पर अन्य पुरुष के मन आदि का दोष न बताकर अपना ही दोष मानने का विधान.

(७) भक्तों के लिये अवश्य ज्ञातक अपने सिद्धान्त का स्वयं कथन.

(८) भक्त के लिये सर्वदा सुखदायी ६ साधन तथा भक्ति में महाविघ्नरूप तीन दोष.

(९) भक्तों के लिये अवश्य ज्ञातव्य महासाधुओं की सदृष्टान्त ज्ञानस्थिति.

(१०) श्रीहरि द्वारा माध्वमार्गीय विप्र से पूछे गये प्रश्न का उत्तर तथा इस प्रसंग में उसे बताया गया अपना सिद्धान्त.

(११) मन और इन्द्रियों पर विजय के लिये पृथक् साधन, निर्विकल्प स्थिति के बिना भी अन्तःशान्ति तथा भीषण आपत्काल में भी मोक्षमार्ग से पतन न होने में हेतु तथा भगवान में निर्दोष स्नेह का निरूपण.

(१२) ऐसा नहीं समझना चाहिये कि हरि एवं हरिभक्तों में अवगुण रहते हैं, क्योंकि ऐसा समझने से घोर अनिष्ट होता है और महापाप लगता है. भक्त को अपने दैहिक सम्बन्धियों से स्नेह नहीं रखना चाहिये.

(१३) विषम देशकालादि में भी एकान्तिक स्थिति की निश्चलता के उपायों का निरूपण.

(१४) मुक्तानन्दादि मुनियों के पूछे गये बारह प्रश्नों के उत्तर देने के बाद श्रीजीमहाराज ने स्वयं एक प्रश्न पूछा और सन्तों से उसका उत्तर दिलाकर उसकी यथार्थता को स्वीकार किया.

समाप्ता विषयानुक्रमणिका ।

परिशिष्ट : ३

वचनामृत ग.प्र. १४ – संत महिमा

पद–१ (राग : धोळ)

सुखदायक रे (२), साचा संतनो संग,
संत समागम कीजिए....०टेक

जी रे संतसमागमथी टळे, आशा तृष्णा रे (२),
ईर्ष्या अभिमान मोह, मत्सर ममता बळे,
प्रगटे उरमां रे (२), प्रभुनुं दृढ ज्ञान....संत ०१

जी रे संतसमागमथी थया, मुनि नारद रे (२),
हरिनुं मन आप, अनेक पतित उद्धारियां,
तेना जशनो रे (२), मोटो परताप....संत ०२

जी रे सिद्ध थया सत्संगथी, शुकआदिक रे (२),
मुनिवर सुखरूप, चित्त चोट्‌युं हरिचरणमां,
जाण्यो संतथी रे (२), मोटो मर्म अनूप....संत ०३

जी रे महिमा मोटो छे महंतनो, जेने सेवे रे (२),
छूटे मायानुं जाळ, प्रीत वधे परब्रह्ममां,
मुक्तानंद कहे रे (२), तजी आळपंपाळ....संत ०४

पद–२

बड़भागी रे (२), पामे संतनो संग,
संतथी महासुख पामीए....०टेक

जी रे सन्त बड़ा परमारथी, टाळे उरथी रे (२),
अविद्या अभिमान, जन्म सुफल करे जंतनो;
आपे अनुभवी रे (२), प्रभु प्रगटनुं ज्ञान....संतथी ०१

जी रे प्रभुसंगे प्रीत वधारवा, फरे जगमां रे (२),
साचा सन्त सुजाण, परमात्मा पिछाणवा;
परमारथी रे (२), आपे पद निर्वाण...संतथी ०२

जी रे सन्तना जश श्रीमुखे कह्या, गीता मध्ये रे (२),
गोविंद सुखधाम, अनुभवी मारो आत्मा;
जेना मनथी रे (२), टळ्या क्रोध ने काम....सन्तथी ०३

जी रे सन्त वचन भावे सुणे, तेनां पातक रे (२),
पामे सर्वे नाश, प्रीत वधे परब्रह्ममां;
मुक्तानंद कहे रे (२), पामे पद अविनाश....सन्तथी ०४

पद-३

साचा साधु रे (२), सुंदर गुणधाम,
समजीने सत्संग कीजिए....०टेक

जी रे सन्त सुलक्षणना भर्या, अवगुणनो रे (२),
उरमां नहि लेश, महानुभवी मुनि ते खरा;
आपे सहुने रे (२), साचो उपदेश....समजीने ०१

जी रे सन्त सदा शीतळ रहे, क्यारे न तपे रे (२),
काम क्रोधनी जाळ, लोभ तजी हरिने भजे;
धारे उरमां रे (२), दृढ करी श्रीगोपाळ....समजीने ०२

जी रे त्रिभुवननी संपत मळे, तोय न तजे रे (२),
अर्ध पळ हरिध्यान, ब्रह्मरूप थई हरिने भजे;
एवा सन्तने रे (२), कीच कनक समान ...समजीने० ३

जी रे एम शुभ लक्षण ओळखी, सदा करवी रे (२),
हरिजननी सेव, हरिसम हरिजन जाणवा;
मुक्तानंद कहे रे (२), ते तरे ततखेव....समजीने ०४

पद-४

सदा करवो रे (२), हरिजननो संग,
दुर्लभ दर्शन संतनां....०टेक

जी रे सन्तसभा मध्ये श्रीहरि, सदा रहे छे रे (२),
वा'लो अक्षरनाथ, अडसठ तीरथ एना चरणमां;
एवा सन्तथी रे (२), वेगे थईए सनाथ....दुर्लभ ०१

जी रे सन्त मळ्या तेने हरि मळ्या, एनो महिमा रे (२),
वदे वेद पुराण, साख्य प्रगट संसारमां;
शुक नारद रे (२), पाम्या पद निर्वाण....दुर्लभ ०२

जी रे सन्तवचन साचा गणी, गयो वनमां रे (२),
ध्रुव नानकडो बाळ, प्रगट प्रभुने ते पामीयो,
थयो अविचळ रे (२), जश वाध्यो विशाळ....दुर्लभ ०३

जी रे एवुं जाणी अहंता तजी, शुद्ध भावे रे (२),
करवी सन्तनी सेव, मनुष्यभाव मनथी तजो;
मुक्तानंद कहे रे (२), साचा सन्त छे देव....दुर्लभ ०४

वचनामृत पंचाळा ३ – प्रेमानंद स्वामी कृत गरबी

सखी आज मोहनने दीठा रे, शेरीए आवता;
मोरलीमां गीत मधुरौं रे, चाल्या आवे गावता.... ०१

आवे वा'लो हसता रे, गोवाळाना साथमां;
उछाळता आवे मोहन रे, फुलदडो हाथमां.... ०२

रंगडामां राता माता रे, चाल्या आवे शोखमां;
रसियो जोवाने काजे रे, ऊभी रही छुं गोखमां.... ०३

मोहनजीनुं मुखडुं जोयुं रे, घुंघटनी ओटमां;
जोईने घायल थई छुं रे, नेणां केरी चोटमां.... ०४

हैया पर हार जोई रे, रह्युं छे मन मोइने;
बेनी प्रेमसखीना नाथने रे, रही छुं जोईने.... ०५

वचनामृत ग. म. ५७ – तुलसीदासजी कृत तीन पद

पद–१ (राग : धनाश्री)

जो मैं लगन रामसों नाहिं ।
तौ नर खर कुकर शूकर सम, बृथा जिअत जग माँही ॥१॥

काम क्रोध मद लोभ नींद भय, भूख प्यास सबही के ।
मनुज देह सुर-साधु सराहत, सो सनेह साधे परके ॥२॥

सूर सुजान सुपूत सुलच्छन, गनियत गुन गुरुआई ।
बीन हरिभजन इन्दारनुं के फल, तजत नहिं करुआई ॥३॥
कीरति फल करतूति भूति, भमर सील सरूप सलोने ।
तुलसी प्रभु-अनुराग रहित जस, सालन साग अलोने ॥४॥

पद–२

जाके प्रिय न राम बैदेही ।
[१]सों छौंडिये, कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥१॥

तज्यो पिता प्रहलाद विभिषण बंधु भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यो कंत व्रज-बनितन्हि, भये मुद-मंगलकारी ॥२॥

नाते नेह रामके मनियत, सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं ।
अंजन कहाँ आँखि जेहि फूटैं, बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥३॥

तुलसी सो सब भाँति परम हित, पूज्य प्रानतें प्यारो ।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो ॥४॥

पद–३

[२]इहे कह्यो सुनु ! बेद चहुँ ।
श्रीरघुवीर चरन चिंतन, तजी नाहिन ठौर कहुँ ॥१॥

जाके चरन बिरंचि सेई, सिधि पाई शंकर हुँ ।
शुक सनकादिक मुक्त बिचरत, तेऊ भजन करत अज हुँ ॥२॥

जद्यपि परम चपल श्रीसन्तत, थिर न रहती कत हुँ ।
हरि-पद-पंकज पाई अचल भई, करम-बचन-मन हुँ ॥३॥

करुणासिंधु भगत-चिंतामनि, शोभा सेवत हुँ ।
और सकल सुर असुर-ईस, काल खाये उरग छहुँ ॥४॥

सुरुचि कह्यो सोई सत्य बात, अति परुष बचन जब हुँ ।
तुलसीदास रघुनाथ बिमुख नहिं, मिटाई बिपति कब हुँ ॥५॥

---

१. 'तजीये ताहि' – पाठान्तरम्.
२. 'एहि कह्यो सुनु बेद चहुं' – पाठान्तरम्.

वचनामृत ग. म. २१, ६७ तथा ग.अं. २२

विष्णु पद

राग : माळीगडो

शामळीये वा'ले सायर वलोयो रे वा'ला, मेरुनो कीधो रवायो रे वा'ला,
वासंगी नागनां वा'ले नेतरां कीधां, जोज्यो मारा नाथनी नवायुं रे वा'ला,
...शामळीये ०१

गिरिवरधारी धरीने बेठा रे वा'ला, भूधर भले भले आव्या रे वा'ला,
वलोणाना संच सर्वे लाव्या रे वा'ला, आपे असुरने तेडी लाव्या रे वा'ला,
...शामळीये ०२

सायर वलोव्यो ने रतन निपजाव्यां रे वा'ला, नीकळ्यां लक्ष्मी नारी रे वा'ला,
सुरने पातां असुरने पायुं रे वा'ला, चरणामृत मोरारी रे वा'ला,
...शामळीये ०३

उत्तरनां जळ मेरु डूबवा लाग्या रे वा'ला, कानुडो कामण जाणे रे वा'ला,
काचबानुं रूप धर्युं मारे वा'ले रे वा'ला, वलोणुं सुतर आव्युं रे वा'ला.
...शामळीये ०४

हरिनुं वलोणुं हरखेथी गावुं रे वा'ला, वीख तो भोळा महादेवने पायुं रे वा'ला,
भणे नरसैयो नथी हमणांनुं रे वा'ला, वेद पुराणे वखाणुं रे वा'ला.
...शामळीये ०५

वचनामृत वरताल ११ – नरसिंह मेहता कृत

राग : मल्हार

मारा हरजीशुं हेत न दीसे रे, तेने घेर शीद जईए,
तेने संगे शीद रहीए रे....०टेक

हेत विना हुंकारो न दैवो, जेनुं हरखेशुं हैडुं न हीसे रे;
आगळ जईने वात विस्तारे, जेनी आंख्युमां प्रेम न दीसे रे....तेने संगे ०१

भक्तिपावनो भेद न जाणे, ने भूरायो थईने भाळे रे,
ललित लीलाने रंगे न राचे, पछी ऊलेची अंधारुं टाळे रे....तेने संगे ०२

नामतणो विश्वास न आवे, ने ऊंडुं ते ऊंडुं शोधे रे,
जाह्नवी तीरे तरंग तजीने, पछी तटमां जईने कूप खोदे रे....तेने संगे ०३

पोताना सरखी करीने जाणे, पुरुषोत्तमनी काया रे,
नरसैंयाना स्वामीनी लीला, ओल्या मतिया कहे छे माया रे....तेने संगे ०४

वचनामृतम् वरताल ११ – मुक्तानंद स्वामी कृत

राग : मलार

मारा वहालाजी-शुं वहालप दीसे रे, तेनो संग शीद तजीए,
ते विना केने भजीए रे....०टेक

सन्मुख थातां शंका न कीजे, मर भालातणा मेह वरसे रे,
हंस जई हरिजनने मळशे; पछी काची ते काया पडशे रे....तेनो संग ०१

शूळी उपर शयन करावे, तोये साधुने संगे रहीए रे;
दुरिजन लोक दुर्भाषण बोले, तेनुं सुखदुःख सर्वे सहीए रे....तेनो संग ०२

अमृतपें अति मीठां मुखथी, हरिनां चरित्र सुणावे रे;
ब्रह्मा भव सनकादिक जेवा; जेनां दर्शन करवाने आवे रे....तेनो संग ०३

नरक कुंडथी नरसुं लागे, दुरिजननुं मुख मनमां रे;
मुक्तानंद मगन थई मागे वहाला, वास देजो हरिजनमां रे....तेनो संग ०४

वचनामृत वरताल १२ – नरसिंह मेहता कृत

राग : सोरठा

धन्य वृन्दावनवासी वटनी छाया रे ज्यां हरि बेसता;
श्रीजमुनाजी पुण्यतणो गत नहि पार रे नावा हरि पेसता....०टेक

धन्य धन्य ते व्रजना साथने, धन्य धन्य ए नंदजी तातने;
धन्य धन्य ते जशोदा मातने, धन्य धन्य ते व्रजना साथने....धन्य ०१

धन्य धन्य ते व्रजनी वृक्षवेली, धन्य धन्य ए सरखी साहेली;
धन्य हरि वळगी जेनी बेली, धन्य धन्य ते व्रजनी वृक्षवेली....धन्य ०२

धन्य धन्य गोकुळनी धेनुने, धन्य धन्य वा'लानी वेणुने;
धन्य धन्य कामणगारी नेणुने, धन्य धन्य गोकुळनी धेनुने....धन्य ०३

धन्य धन्य करुणा पुतना मासी, धन्य धन्य मृत्युनी टाळी फांसी;
वांले मुक्त पमाड्यां गोकुळवासी, धन्य धन्य करुणा पुतना मासी... धन्य ०४

धन्य धन्य ए गोकुळ गामने, ते ते पाम्यां हरिना धामने;
वारी जाउं शामळा श्यामने, धन्य धन्य ए गोकुळ गामने....धन्य ०५

धन्य कंसरायना कारज कर्यां राजा उग्रसेनने शीर छत्र धर्यां;
महेता नरसैयाने अखूट भर्यां, धन्य कंसरायनां कारज कर्यां....धन्य ०६

वचनामृत ग.अं. ३१ – सूरदास कृत

राग : मलार

हारलकी लकरी, हरि मेरे हारलकी लकरी, पकरी सो पकरी....हरि ०१

मन कर्म वचने श्रीनंदनंदन-शुं, दृढ करी के पकरी....हरि ०२

जागत सोवत हरि सपननमें, कान कान जकरी....हरि ०३

जोग ओधाजी ऐसी लागत है, ज्युं कडवी ककरी....हरि ०४

तुम तो ओधाजी बोध लई आवे, शीखी सुनी नकरी....हरि ०५

सूरदास प्रभु शुं जई कहियो, जाको मत जकरी....हरि ०६

वचनामृत ग.अं. ३१ – प्रेमानंद स्वामी कृत

पद-१ (राग : जंगलो)

जमुना के तीर ठाडो, जमुना के तीर,
बाँको बलवीर ठाडो, जमुना के तीर....०टेक

हो नैना बैनां बाँके बाँधे बाँकी पाघ शिर;
चंदनकी खोर कीने सांवरे शरीर....ठाडो ०१

हो बाँकी भौंहे सोहे चीत मोहे नासा कीर;
देखत चकित रतिपति हतधीर....ठाडो ०२

हो बाँके लाल बाँके ग्वाल लिये संग भीर;
बाँसुरी बजावे बाँकी फिर फिर फिर....ठाडो ०३

हो भरवा गईथी हुं जमुना को नीर;
प्रेमानन्दको नाथ देखी गई पीर....ढाडो ०४

पद : २

(राग : जंगलो)

राजीव नैन रसियो राजीव नैन,
उपजत चैन देखी, राजीव नैन....०टेक

हो विकसे वारिज सम अति छबी एन;
भ्रुकुटी भ्रमर झुके मानुं रस लैन....रसियो ०१

हो चारु चितवनी मुसकनी सुखदेन;
कुटिल कटाक्ष उमें सुचवत सैन....रसियो ०२

हो जमुना पुलिनपर चारत है धेन;
मोहन बजावत मधुरी-सी बैन....रसियो ०३

हो माई ब्रजनारी संग खेलो दिन रैन;
प्रेमानंद छबी पर वारी कोटि मैन....रसियो ०४